

The Department of Public Instruction, Bombay.

THE

VAIYÂKARANABHÛSHANA

OF

KONḌABHAṬṬA

WITH THE VAIYÂKARANABHÛSHANASÂRA AND

THE COMMENTARY KÂS'IKÂ OF HARIRÂMA

SURNAMED KÂLA

AND

WITH A CRITICAL NOTICE OF MANUSCRIPTS, INTRODUCTION, AND

CRITICAL AND EXPLANATORY NOTES

BY

RÂO BAHÂDUR KAMALÂS'AÑKARA PRÂÑAS'AÑKARA TRIVEDI,

B. A., HONORARY FELLOW OF THE UNIVERSITY OF BOMBAY,

RETIRED PRINCIPAL PREMACHAND RÂICHAND TRAINING

COLLEGE, (FORMERLY PROFESSOR OF ORIENTAL

LANGUAGES, SÂMALDÂS COLLEGE, BHÂVA-

NAGAR, AND ACTING PROFESSOR OF

ORIENTAL LANGUAGES, ELPHINS-

STONE AND DECCAN COLLEGES).

FIRST EDITION.

300 COPIES.

(Registered for copy-right under Act XXV. of 1867).

1915.

[All rights reserved].

Price Rs. Ten.

SOLD AT

GOVERNMENT CENTRAL PRESS, BOMBAY.

Bombay Sanskrit and Prakrit Series, No. LXX.

वृत्तेन)

व्यपदं

ह्य-

Bombay:—Printed by Bhivaji Hari Shinde, at the "TATVA-VIVE-
CHAKA" PRESS No. 1-2-3 Khetwadi Back Road, and Published by
The Government Central Press, Bombay.

॥ श्रीः ॥

श्रीकोण्डभट्टविरचितं वैयाकरणभूषणं

कालोपनामकहरिरामप्रणीतकाशिकाख्यटीकासमेतवैयाकरण-
भूषणसारसहितं

गुर्जरदेशराजनगरस्थशिक्षकशिक्षणालयस्य मुख्याधिकारिणा (राजसेवानिवृत्तेन)
बी. ए. इत्युपाह्वेन मुम्बापुरीस्थविश्वविद्यालयस्याकार्यवाहकयशस्करपारिषद्यपदं
प्राप्तेन मुम्बापुरीस्थएल्फिन्स्टनाख्यविद्यामन्दिरस्य पुण्यपत्तनस्थडेकनाख्य-
विद्यामन्दिरस्य च कादाचित्केन गीर्वाणभाषाध्यापकेन श्रीम-
त्सम्राट् राजराजेश्वरपरमज्यौजैः स्वराज्याभिषेकसमु-
द्घोषणार्थं दिव्हीपुर्यां संमीलितराजसभावसरे
प्रसादीकृतरावबहादुराख्यवीरुदालंकृ-
तेन त्रिवेद्युपपदधारिणा

प्राणशंकरात्मजेन कमलाशंकरेण संशोधितं

स्वनिर्मिताङ्ग्लभाषाभूमिकाटिप्पणीभ्यां च सनाथीकृतम् ।

तच्च

मुम्बापुरीराजकीयग्रन्थमालाधिकारिणा

शाके १८३७ वत्सरे १९१५ ख्रिस्ताब्दे

प्राकाश्यं नीतम् ।

प्रथमा आवृत्तिः ।

(ग्रन्थस्यास्य विषये सर्वे अधिकारा राजकीयग्रन्थमालाधिकारिणामेव ।)

मूल्यं रूपकदशकम् ।

इदं पुस्तकं मुम्बापुर्या ' तत्त्वविवेचक '
मुद्रायन्त्रालये मुद्रापितम् ।

CONTENTS.

| | |
|---------------------------------------|-------|
| Critical Notice of Manuscripts | 11—16 |
| Introduction | 17—20 |

वैयाकरणभूषणम्

| | |
|---|---------|
| धात्वर्थनिर्णय | १-७२ |
| फणिभाषित...१ ॥ | १-२ |
| फलव्यापारयोर्धातु°...२ ॥ | २-२४ |
| फलव्यापारयोस्तत्र...३ ॥... .. | २४-२७ |
| उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृ...४ ॥... .. | २७-२६ |
| व्यापारो भावना सैव...५ ॥ | २६-३१ |
| किं तूत्पादनमेवातः...६ ॥... .. | ३१-३२ |
| निर्वर्त्यं च विकार्यं च...७ ॥ | ३२-४१ |
| तस्मात् करोतिर्धातोः...८ ॥ | ४२-४७ |
| किं कार्यं पचनीयं...९ ॥ | ४७-४७ |
| सर्वनामाव्ययादीनां...१० ॥ | ४८-४९ |
| धात्वर्थत्वं क्रियात्वं...११ ॥ | ४९-५० |
| अस्त्यादावपि धर्म्यशे...१२ ॥ | ५०-५६ |
| फलव्यापारयोरेक°...१३ ॥ | ५६-५८ |
| आख्यातशब्दे भागाभ्यां...१४ ॥ | ५९-६० |
| साध्यत्वेन क्रिया तत्र...१५ ॥ | ६०-६४ |
| संबोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः...१६ ॥... .. | ६४-६७ |
| तथा यस्य च भावेन...१७ ॥ | ६७-६८ |
| यदि पक्षेऽपि वत्स्यर्थः...१८ ॥ | ६९ |
| अविग्रहा गतादिस्था...१९ ॥ | ६९ |
| कृत्वोऽर्थाः क्त्वातुष्टुनवत्...२० ॥ | ६९-७० |
| मेषभेदकसंबन्धो...२१ ॥... .. | ७०-७२ |
| लकारार्थनिर्णय | ७३-९८ |
| वर्तमाने परोक्षे श्चो...२२ ॥ | ७३-९७ |
| ह्यो भूते प्रेरणादौ च...२३ ॥ | ९७-९८ |
| सुबर्थनिर्णय | ९८-११६ |
| आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः...२४ ॥ | ९८-११६ |
| नामार्थनिर्णय | ११७-१३३ |
| एकं द्विकं त्रिकं चाथ...२५ ॥ | ११७-१२५ |

| | |
|---|---------|
| अभेदैकत्वसंख्यानिर्णय | २२६-२२८ |
| अभेदैकत्वसंख्याया...५४ ॥ | २२६-२२८ |
| संख्याविवक्षानिर्णय | २२९-२३१ |
| लक्ष्याहरोधात् संख्या च...५५ ॥ | २२९ |
| विषये भेदकं तत्र...५६ ॥ | २२९-२३० |
| रदाभ्यां वाक्यभेदेन...५७ ॥ | २३०-२३१ |
| कत्वाप्रत्ययादीनामर्थनिर्णय | २३२-२३५ |
| अव्ययकृत इत्युक्ते...५८ ॥ | २३२-२३५ |
| स्फोटनिर्णय | २३६-२५९ |
| वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्ष...५९ ॥ | २३६ |
| व्यवस्थितेर्व्यवहृते...६० ॥ | २३७ |
| तरबाधन्ततिङ्गवस्ति...६१ ॥ | २३८ |
| अथादिशा वाचकाश्वेत्...६२ ॥ | २३८-२३९ |
| घटेनेत्यादिषु न हि...६३ ॥ | २३९ |
| हरेऽत्रेत्यादि दृष्ट्वा च...६४ ॥ | २४०-२४१ |
| सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो...६५ ॥ | २४१-२४९ |
| पदे वर्णा न विद्यन्ते...६६ ॥ | २४९-२५३ |
| पञ्चकोशादिवत्...६७ ॥ | २५३-२५५ |
| कल्पितानामुपाधित्वं...६८ ॥ | २५५-२५६ |
| शक्यत्वं इव शक्तत्वे...६९ ॥ | २५७ |
| अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या...७० ॥ | २५७-२५८ |
| सत्यासत्यौ तु यौ भावौ...७१ ॥ | २५८ |
| इत्थं निष्कृष्यमाणं यत्...७२ ॥ | २५९ |

वैयाकरणभूषणसारः

| | |
|--------------------------------|---------|
| प्रास्ताविकपद्यानि | २६१-२६६ |
| धात्वर्थनिर्णय | २६६-२८३ |
| फणिभाषित...१ ॥ | २६६ |
| फलव्यापारयोर्यत्...२ ॥ | २६७-२९५ |
| फलव्यापारयोस्तत्र...३ ॥ | २९६ |
| उत्सर्गोऽयं...४ ॥ | २९६-२९७ |
| व्यापारो भावना...५ ॥ | २९७-३०३ |
| किंलूपादन...६ ॥... .. | ३०३-३०४ |
| निर्वर्त्यं च वि...७ ॥ | ३०५-३०७ |
| तस्मात् करोति...८ ॥ | ३०८-३१३ |

| | | | | | | | |
|------------------------|-----|-----|-----|-----|-----|-----|---------|
| संबन्धशब्दे...३८ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५१०-५११ |
| नञर्थनिर्णय ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५१२-५२० |
| नञ्समासे...३९ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५१२-५१३ |
| अभावो वा...४० ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५१४-५२० |
| निपातद्योतकत्वनिर्णय | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५२१-५३५ |
| द्योतकाः...४१ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५२१-५२३ |
| तथान्यत्र...४२ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५२३-५२५ |
| पदार्थः...४३ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५२५-५२६ |
| शरैरुच्चै...४४ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५२६-५२९ |
| नञ्समासे...४५ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३०-५३२ |
| निपातानां...४६ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३२-५३४ |
| निपातत्वं...४७ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३५ |
| भावप्रत्ययार्थनिर्णय | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३७-५४३ |
| कृत्तद्धित...४८ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३६-५३७ |
| अत्रार्थजरतीयं...४९ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५३८-५३९ |
| प्रयोगोपाधि...५० ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५४०-५४३ |
| देवताप्रत्ययार्थनिर्णय | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५४४-५५३ |
| प्रत्ययार्थ...५१ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५४४-५४५ |
| प्रदेय एव...५२ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५४६-५४७ |
| क्रीडायां...५३ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५४७-५५३ |
| अभेदैकत्वसंख्यानिरूपण | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५४-५५५ |
| अभेदैकत्व...५४ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५४-५५५ |
| संख्याविवक्षानिरूपण | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५६-५६० |
| लक्ष्याहुरोधात्...५५ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५६-५५७ |
| विधेये भेदकं...५६ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५८ |
| रदाभ्यां...५७ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५५९-५६० |
| तन्वाद्यर्थनिर्णय ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५६१-५७१ |
| अव्ययकृत...५८ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५६१-५७१ |
| वर्णस्फोटनिरूपण ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७२-५७७ |
| वाक्यस्फोटो...५९ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७२-५७३ |
| व्यवस्थिते...६० ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७४-५७६ |
| तरवाद्यन्त...६१ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७७ |
| पदादिस्फोटनिरूपण ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७८-६०८ |
| अथादेशा...६२ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५७८-५७९ |

| | | | | | | | | |
|----------------------------------|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|---------|
| वटेनेत्यादिबु...६३ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५८०—५८१ |
| हरेऽनेत्यादि...६४ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५८१—५८६ |
| सर्वत्रैव...६५ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५८७ |
| पदे न वर्णा...६६ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५८८—५९५ |
| पञ्चकोश...६७ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५९६—५९८ |
| कल्पिताना...६८ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ५९८—६०१ |
| शक्यत्व इव...६९ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ६०१—६०४ |
| अनेकव्यक्त्य...७० ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ६०४—६०५ |
| सत्यासत्यौ...७१ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ६०५—६०६ |
| इत्थं निष्कृष्यमाणं...७२ ॥ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ६०६—६०८ |
| Notes on the Vaiyākaranabhūṣhaṇa | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | 609—727 |

Appendix I.

| | | | | |
|--|-----|-----|-----|---------|
| The Kārikās arranged alphabetically... | ... | ... | ... | 728—729 |
|--|-----|-----|-----|---------|

Appendix II.

| | | | | |
|--|-----|-----|-----|---------|
| Names of works and authors occurring in the Vaiyākaranabhūṣhaṇa, arranged alphabetically | ... | ... | ... | 730—731 |
|--|-----|-----|-----|---------|

Appendix III.

| | | | | | |
|--|-----|-----|-----|-----|---------|
| Names of Works and Authors occurring in the Kārikās alphabetically arranged | ... | ... | ... | ... | 732—733 |
| Variations in the readings of Mss. J., J ₁ , B., and B ₁ . | ... | ... | ... | ... | 734—765 |
| Errata | ... | ... | ... | ... | 766—772 |

**CRITICAL NOTICE OF THE MSS. OF THE VAI-
YĀKARANABHŪSHANA, THE VAIYĀKA-
RANABHŪSHANĀSĀRA, AND THE COM-
MENTARIES, THE KĀSĪKĀ, THE
VAIYĀKARANAMATONMAJJINĪ,
AND THE LAGHUBHŪ-
SHANAKĀNTI.**

The edition is based on the following Mss. of the Vaiyākaraṇabhū-
shana of Koṇḍabhaṭṭa as compared with the printed text of the same in
the Benares Sanskrit Series (edition of 1899-1900, Fasciculus I., II.,
and III. of 1899 and Fasciculus IV. of 1900). The printed text is
marked K.

(1) A Ms. received from my friend T. Gaṇapati S'āstrī of Trivan-
drum, Curator to the Department for the publication of Sanskrit Mss.,
Trivandrum. It contains 180 leaves of 12 lines each with about 40
letters in each line. It is in Nāgarī characters and is legibly written.
It begins with श्रीगणेशाय नमः । श्रीलक्ष्मीरमणम् &c. and ends with इति
श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते वैयाकरण-
भूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । The Ms. is complete and correct. It is
more than 60 years old, as T. Gaṇapati S'āstrī informs me. It belongs
to Pandit Venkatarāma S'āstrī of Taligaikovil and was used by him
and his father Subrahma S'āstrī of the Pantal village. T. Gaṇapati
S'āstrī got the Ms. from Subrahma's grandson Subrahmanya S'āstrī. It
is designated Tr.

(2) A Ms. received from the Deccan College, Poonā. It contains
229 leaves with 11 to 14 lines on each page. It begins with श्रीगण-
ेशाय नमः and ends with इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीण-
रङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । समाप्त-
मिदं वैयाकरणभूषणम् । १००० श्रीरस्तु । There are very brief marginal
notes on some pages. It is a very correct and legible Ms. in Nāgarī
characters. It is styled D.

(3) A Ms. received from the Deccan College, Poonā. It contains
137 leaves with 15 to 17 lines on each page and 40 to 50 letters in
each line. It is incomplete, wanting in the first 12 leaves. It is in

Nāgarī characters and begins with नृत्वात्र तदर्थोऽत्र वर्णितः । अथैवं लडादि-
भिस्तत्र वर्तमानस्त्वं न बोध्येतेति चेन्न । and ends with इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाण-
पारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकुण्डभट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः
समाप्तः । श्रीः सदा भवतु लेखकपाठकयोः । भवानीशः । श्रीसाम्बः । श्रीगणाधीशः ।
श्रीः । It is correct, but very closely written. It is styled D₇.

(4) A Ms. from the Deccan College, Poona. It is also in Nāgarī characters and is complete. It contains 187 leaves with 12 lines on each page and about 40 letters in each line. It begins with श्रीगणेशाय नमः श्रीराधिकारमणो जयति । श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः । श्रीलक्ष्मीरमणम्..... and ends with इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । श्रीः । संवत् १८४७ कावर्षे भाद्रपदे मासे शुक्लपक्षे अष्टमीगुरौ ग्रन्थः समाप्तोऽयम् । लेखकपाठकयोः शुभम् । It is incorrect in many places. It is styled D₈.

(5) A Ms. No. 881 of the Vaiyākaraṇabhūṣaṇa in the Tanjor Palace Library. It consists of 124 leaves, 248 pages, and has on an average 13 lines per page and 56 or 57 letters in each line. From appearance it is 100 years old. It is in Devanāgarī characters on thick English paper. The size of the paper is 14x16 inches.

There are five copies of the work in the Library from No. 881 to No. 885. Out of these Nos. 881 and 884 are the only complete copies. The rest are incomplete. No. 884, a northern Ms., is very old and is on country paper. In some places the letters are not visible. No. 881 seems to be a copy of No. 885, taken about 100 years ago. It is uniformly and carefully copied. This Ms. is designated T. Its colophon is as under :—इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृतवैयाकरणभूषणे चरमस्फोटवादः संपूर्णः समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

The following Mss. were secured after the text was printed. Their readings are given at the end.

(6) A Ms. from Jeypur from my friend, Sāstrī Pandit Kedārnāth, son of Mahāmahopādhyāya Pandit Durgāprasād. It is incomplete, the first 24 pages being wanting. It begins with भावनायां शक्तिरित्याशङ्क्यामाह 1.8 on p. 70 of the text. From thence it is complete. It is a correct Ms. written in Devanāgarī characters. It is very well written but extremely close. It has taxed my eyes very much, so very close it is. It consists of 85 pages. It has from 16 to 21 lines per page with 52 to 78 letters in each line. Its colophon is as under :—इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । श्रीः । श्रीरस्तु । On the back side of the last page

the following is found :—श्रीरामजी । इति मूलवैयाकरणभूषणे समाप्यतामाप । पत्रसंख्यास्य ॥ ८५ ॥ भैमपुरमहादेवभट्टायत्तं वैयाकरणभूषणम् । पुस्तकमिदं राज-गुरुभट्टश्रीनारायणशास्त्रिणो जयपुरनिवासिनः । It is designated J₁.

(7) Another Ms. from Jeypur from the same friend. It is complete and in Devanāgarī characters. It consists of 203 pages and is generally correct, though not so correct as J₁. It has on an average 9 lines per page and 54 letters on an average in a line. Its colophon is as under :—इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्ड-भट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । श्रीरस्तु । मिति वैशाख शुदि ३ संवत् १८४१ कालीघतलेखकगोवंदरामदधीचपुस्तगश्रीडोझाजीदुरगानाथजीकपुस्तगः श्रीरस्तु । कल्याणमस्तु । शुभं भवतु । श्रीराम. It is designated J. The opening page has—श्रीराजगुरुश्रीयुत पं. श्रीनरहरिशर्ममैथिलानाम् ।

(8) Another Ms. secured from S'āstrī Chunilāl Kās'ināth of Barodā. It is a paper Ms. in Nāgarī characters. It consists of 180 leaves, with 10 to 12 lines per page and about 30 to 44 letters in each line. It begins with श्रीगणेशाय नमः and ends with इति श्रीमत्पदवाक्य-प्रमाणपारावारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटवादः समाप्तः । संवत् १८३२. Thus the Ms. seems to have been about 135 years old. It is generally correct. It is designated B.

(9) A second Ms. from the same S'āstrī, Chunilāl Kās'ināth of Barodā. It is a correct Ms. and affords good readings; but is unfortunately incomplete. It begins with ओं नमः श्रीशंकरगुरुचरणकमलेभ्यः । श्रीलक्ष्मीरमणम् &c. proceeds up to कियान्वयनियमस्योक्तभाष्यादावश्यकत्वा p. 67 l. 5. A few pages are then wanting. It begins again with लेटोर्थमाह 1. 5 p. 76 and stops at तत्र तत्र लक्षणा ॥ 3-4 p. 98. It has lines varying from 8 to 15 per page and from 31 to 40 letters in a line. It is designated B₁. It bears no date, but appears to be as old as B.

The text of the Vaiyākaranabhūṣanasāra is settled from the following Mss.

(1) A Ms. from the Dehlā's Bhaṇḍār, Ahmedābād, through my pupil and friend Mr. Hirālāl Mulachand Shāh, Assistant Master, Ahmedābād High School. It is a very well written Ms., complete and correct. It consists of 41 leaves, and has 13 lines on each page. Each line has about 50 letters. It begins with श्रीपार्श्वनाथाय नमः and has a few marginal notes. Its colophon is as under :—

संवत् १७२९ वर्षे चैत्रराकायां भौमवासरे श्रीअब्ददावादहंगे व्यलेखि युगप्रधान-भट्टारकश्रीजिनचन्द्रसुरिशिष्यद्वयश्रीपुण्यप्रधानोपाध्यायशिष्यसुष्यश्रीसुमतिसागरो-

पाध्यायशिष्यपंडितप्रकांडविनयसागरगणिविनेयदंडितविनयानंदधुनिना । शुभं भवतु ।
श्रीरस्तु । पृष्ठमात्रा is used throughout the Ms. It is styled A.

(2) A Ms. from the Deccan College Library. It is designated D. It consists of 54 leaves, of which leaf 33 is missing. The characters of the Ms. are Nāgarī. It has on an average 12 lines per page with about 40 letters in a line. The wrapper of the Ms. has Sāmvat 1885-86 on it. It is correct. It has two or three marginal notes.

(3) Another Ms. from the Deccan College Library. It is designated D₁. It consists of 66 leaves. It is in Nāgarī characters. It has on an average 10 lines per page with about 35 letters in a line. It has marginal notes on some pages. It is correct.

(4) Another Ms. from the Deccan College Library. It is designated D₁. It consists of 67 leaves and is in Nāgarī characters. It has on an average 10 lines per page with about 36 letters in a line. It has copious marginal notes on all pages. It is correct. Its colophon is:—समाप्तोऽयं ग्रन्थः । श्लोकसंख्या १३७९ । मिति सावनशुद्धि १९ संवत् १८६९ का. श्रीपरमात्मने नमः । श्रीरामः ।

श्रीकृष्णगोपालहरे शुक्लन्द गोविन्द दामोदर नन्दनन्दन ।

हा श्रीयशोदातनय प्रसीद श्रीवृद्धजीवन राधिकेश ॥

(5) Another Ms. from the Deccan College Library. It is designated D₃. It consists of 32 leaves. Leaf 11 is marked as missing on the wrapper; but it is not missing. The Ms. is complete; only the marking of pages is incorrect, 12 instead of 11 having been marked after 10. It has from 14 to 17 lines on a page with 40 to 60 letters to a line. It is correct. It has no marginal notes. It has ग्रन्थोऽयं १४२९ श्लोकाः at the end. The Year Sāmvat १८८७-९२ is marked on the wrapper.

The text of the commentary Kās'ikā is settled from the following two Mss:—

(a) A Ms. of the Kās'ikā received from the Government Sanskrit College Library, Benares, through the kindness of Principal A. Venis. It was received for collation in two instalments. It is an incomplete Ms., beginning with 'अ इत्याहुर्दित्यस्वरसंज्ञनम्' (l. 15 p. 390). The following words are found at the top of the opening page.

१०९-शृषणटीका काशिका. पत्राणि ३१८, तत्र क्रमः ९४-९८-१०१-१३४-१९०. It thus begins with page 94 and proceeds up to 190 (first instalment). wanting in pp. 99, 100 and 102 to 133. It has on an average 9 lines

on a page and 30 letters in a line. It is marked K. It is written on paper and not on मूर्जपत्र.

(b) A copy of a Ms. of the Kâs'ikâ received from Alwar from the Library of His Highness, the Mahârâjâ of Alwâr. It is complete. The copy was arranged by Râo Bahâdur Thakur Durjan Simhaji, Member of Council, Alwâr State. It is No. 1178 in the Catalogue of Mss. there, prepared by Dr. Peterson. The copy is complete, but in some places whole lines and even paras are wanting. This defect could not have been set right, had I not been fortunate enough to secure the above Ms. from Benares through the kindness of Principal A. Venis. This Ms. is marked A. The Ms. is written on paper.

Mss. of two other commentaries were secured, one of Laghubhûshana-kânti, an incomplete Ms. beginning with नामार्थनिर्णय and proceeding up to शक्तिनिर्णय. I have utilized the Ms. in my English notes where I have thought proper. It was lent to me by Prof. V. S. Ghate.

A copy of the Ms. of Vaiyâkaranamattonmajjini by Vanamâli-mis'ra, procured from the Raghunâth Temple Library of Highness the Mahârâjâ of Jammu and Kashmir. It is a brief but very good commentary and I have quoted it here and there in my notes where I have thought it proper to do so.

काशिकासमेतवैयाकरणभूषणसार-
सहितं वैयाकरणभूषणम् ।

INTRODUCTION.

The Vaiyākaraṇabhūṣaṇa of Koṇḍabhaṭṭa is a standard work on the philosophy of Sanskrit Grammar, teaching not the forms of grammar and how they are made up, but their senses and how they are mutually connected in a sentence. It is a commentary on the Kārikās of Bhaṭṭoṣī Dīkshita by his nephew, Koṇḍabhaṭṭa. As stated in the opening Kārikā, the S'abdakaustubha is as it were the Kaustubha gem taken out of the ocean of the Mahābhāṣya of Patañjali. In other words, it gives the essence of the Bhāṣya and the Kārikās are an abridgment of the theories set forth in the great work, the S'abdakaustubha of Bhaṭṭoṣī Dīkshita.

Most of the Kārikās are the Dīkshita's own composition; but a few of them are borrowed from the Vākyapadīya of Bhartṛhari. It is a pity that Bhartṛhari's great commentary on the Mahābhāṣya as well as the voluminous commentary of Vyādi called the Saṅgraha on Pāṇini, mentioned by him in the concluding portion of the Adhyāya of his Vākyapadīya which is also not available in its entirety are lost to Sanskrit scholars. The S'abdakaustubha is a great commentary on Pāṇini's Aṣṭādhyāyī and gives the views of the Bhāṣyakāra on the important subjects that come up for discussion in the course of the commentary. The Kārikās form an abridgment of that big work and confine themselves to the philosophical portion of grammar. They deal with the senses of roots and their suffixes, nouns and their case-endings, Lakāras or the tense-suffixes, compounds and other complex formations, the power of words, the senses of the negative prefix, the Nipātas or indeclinables, abstract terminations, क्त्वा and other suffixes, and Sphoṭa and its varieties.

Koṇḍabhaṭṭa is a great master of his subject. As stated by himself in the opening stanzas of his commentary his object in writing this great work which he significantly names Vaiyākaraṇabhūṣaṇa or the ornament of grammarians is to refute the theories propounded by the Mīmāṃsakas and the Naiyāyikas on the subjects that touch upon the exposition of the senses of the bases of nouns and verbs and their suffixes, the power of words, simple and compound, and their mutual connection. He condemns the commentators of Gautama and Jaimini who have misrepresented them and since he considers the conclusions of grammarians as perfect, he designates his work as Vaiyākaraṇabhūṣaṇa or ornament of grammarians.

Koṇḍabhaṭṭa has composed two commentaries on the Kārikās, one for the learned, styled Vaiyākaraṇabhūṣhaṇa or Bṛihad Vaiyākaraṇabhūṣhaṇa and the other for a lower class of readers, styled Vaiyākaraṇabhūṣhaṇasāra. The bigger work contains a full discussion of the refutation of the Mīmāṃsakas and the Naiyāyikas; while the smaller one does not enter so fully into controversial points. Though the Sāra is an abridgment of the larger work, it is altogether differently worded and looks like an entirely different work from its language. The principles taught and the views expressed being the same, however, the Sāra reads like a commentary not only on the Dikshita's Kārikās, but also on the bigger work.

Aufrecht's Catalogus Catalogorum mentions a number of commentaries on the Bṛihad Vaiyākaraṇabhūṣhaṇa, such as the Darpaṇa, the Kās'ikā, the Vaiyākaraṇamattonmajjini &c. On inquiry I have found, however, that no commentary is found to exist on the bigger work and that all the commentaries mentioned in the Catalogue are those on the Sāra. I secured three such commentaries, as mentioned in the Critical Notice. Of these I have got the Kās'ikā by Harirāma published with the Sāra. This commentary is very valuable and generally clear. The Matonmajjini is brief but to the point and elucidates the Kārikās very well.

Koṇḍabhaṭṭa—The author was a nephew of Bhaṭṭoji Dikshita and son of Raigoji Bhaṭṭa as he himself tells us in the opening and concluding stanzas of his work. He seems to have derived his instruction from his father, whom he calls his teacher and seemed to look upon with great reverence, since he identifies him with Goddess of Learning.* The family belonged to the Kevalādvaita school of Vedantism. Raigoji Bhaṭṭa is described to have composed a gloss on the Sūtras of Vyāsa† and also a work in which he destroyed the dualistic theory of Madhvāchārya. This fact is mentioned both in the opening and the concluding stanzas. In the former it is stated that he was Goddess of Learning who had assumed the form of a male person to destroy the darkness or ignorance of dualism‡, while in the latter he is described to have conquered a Mādhva ascetic by name Vaḍeru§ and to have victoriously

* 'पुमाववाग्देवताम्' Vide p. 1 verse 4.

† यश्चके मुनिवर्यसुवविद्वतिम् p. 259 verse 1.

‡ त्रैलोक्यान्तनिवारणादिफलिकां पुमाववाग्देवताम् p. 1 v. 4.

§ विद्यावीर्यवहेरुसंज्ञकयति श्रीमाध्वप्रहारकं जित्वा &c. p. 259 v. 1.

rebutted the dualistic theory *. The author was nephew to Bhattoji Dikshita, a pupil of Vires'vara, son of S'esha Krishna, whose family had its original residence on the banks of the Godâvarî, but changed it subsequently to Benares. This family has produced many learned men as shown by Pandit S. P. V. Raṅganâtha Swâmi of Vizagapattam †. Koṇḍabhaṭṭa is said to have composed the following works, besides the Bhûshana and the Sâra published here, as noticed in Dr. Aufrecht's Catalogus Catalogorum :—

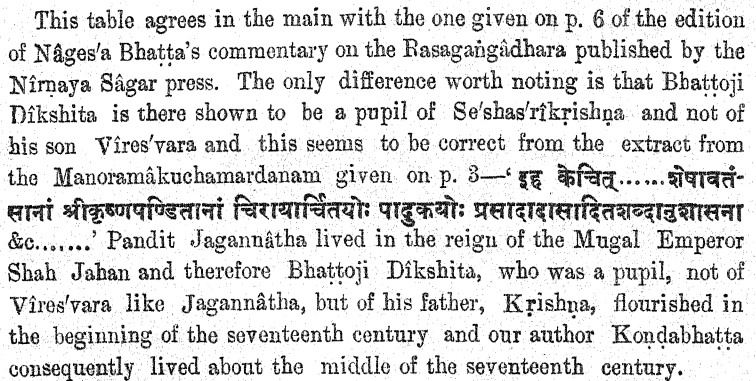
- 1 तर्कप्रदीप, written at the instance of king वीरभद्र.
- 2 तर्करत्न.
- 3 न्यायपदार्थदीपिका.
- 4 लघुवैयाकरणसिद्धान्तभूषणसार.
- 5 वैयाकरणसिद्धान्तदीपिका.
- 6 स्फोटवाद.

Of these पदार्थदीपिका has already been published in the Benares Sanskrit Series. It is a work on Nyâya, neither very big and abstruse, like the Gādâdhari of Gadâdhara or the Chintâmani of Ganges'a, nor very small like the Tarkasaṅgraha of Annam Bhaṭṭa. It occupies a middle position between these works and the exposition of the subject there is in clear language. There is a reference in it in two places to the Vaiyākaraṇabhûshana—'संस्कृतवद् भाषाशब्दा वाचका एवेति वैयाकरण-मतं तु भूषणेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् ।' p. 32 and 'उत्पन्नो गकारो नष्टो गकार इति प्रतीतेरुत्पत्तिनाशवानेव शब्दः । सोऽयमिति तु तज्जातीयोऽयमिति भासते इति नैयायिकाः । तत्त्वं वैयाकरणभूषणेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् ॥' p. 39. There is a reference in it also to the Tarkaratna, another work by the same author :—'एवं चेश्वरस्य सर्वज्ञतापि सिध्यति । केषांचिद् पदार्थानां फलत्वेन केषांचिद् सुखत्वेन केषांचिद्दुःखत्वेन केषांचिद्वच्छेदकत्वेन विषयीकरणादिति निरूपित-मस्माभिस्तर्करत्ने ॥' p. 51.

Koṇḍabhaṭṭa was nephew to Bhattoji Dikshita whose time is fixed in the beginning of the seventeenth century. He was a contemporary of Pandit Jagannâtha as shown in the following table copied from the Ind. Anti. Vol. XLI. of 1912 :—

* सिद्धान्तमङ्गलं तथा माध्वाणां &c. p. 259 v. 1.

† Vide the Indian Antiquary Vol. XLI. of Novr. 1912.



The English notes at the end will, it is hoped, be of service to those who care to read this great and scholarly work.

}

K. P. TRIVEDI.

श्रीः

॥ वैयाकरणभूषणम् ॥

श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम् ।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद्विवर्तते ॥ १ ॥
अशेषफलदातारं भवाब्धितरणे तरिम् ।
शेषशेषार्थलाभार्थं प्रार्थये शेषभूषणम् ॥ २ ॥
वाग्देवी यस्य जिह्वाये नरीनर्त्ति सदा मुदा ।
भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये ॥ ३ ॥
पाणिन्यादिमुनीन् प्रणम्य पितरं रङ्गोजिभट्टाभिधं
द्वैतध्वान्तनिवारणादिफलिकां पुंभाववाग्देवताम् ।
दुर्ण्डि गौतमजैमिनीयवचनव्याख्यातृभिर्दूषितान्
सिद्धान्तानुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां वचोदूषये ॥ ४ ॥
नत्वा गणेशपादाब्जं गुरुनथ सरस्वतीम् ।
श्रीकोण्डभट्टः कुर्वेऽहं वैयाकरणभूषणम् ॥ ५ ॥

प्रारिप्सितप्रतिबन्धकव्यूहोपशमनाय विरचितं श्रीपतञ्जलिस्मरणरूपं मङ्गलं
शिष्यशिक्षार्थं निबध्नन् चिकीर्षितं प्रतिजानीते—

पाणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः ।

तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणैव कथ्यते ॥ १ ॥

देवैतान्तरं त्यक्त्वा फणिन एव स्मरणं तु तस्य प्रकृतशास्त्रनिर्मात्रभ्यर्हितत्वे-
नेष्टतत्त्वादित्याहुः । उद्धृत इत्यत्रास्माभिरिति शेषः । भाष्याब्धेः शब्दकौ-
स्तुभ उद्धृत इत्युपादानं च तत्रत्यकथनस्याधुनिककल्पितत्वेन पाणिनीयानाम-
श्रद्धेयत्वव्युदासाय । तस्याश्रद्धेयत्वे च तन्मूलकत्वादेर्तस्याप्यश्रद्धेयत्वं स्यादिति

१ मुदा सदा D. २ रुढि T. ३ श्रीकोण्डभट्टः T.; श्रीकोण्डभट्टः D. ४ °प्रतिबन्धक-
प्रत्यूहोपशमनाय D., °प्रतिबन्धकोपशमनाय D₂. ५ वर्णित T. ६ देवान्तरं D₃, T. ७ °नेष्ट-
तमत्वादित्याहुः K., D₂. ८ °दस्याप्य° T.

भावः । तत्र निर्णीतं इत्याद्युपादानं चेतोऽप्यधिकजिज्ञासुभिरस्मृताच्छब्द-
कौस्तुभादवधेयमिति ध्वनयितुम् । अत्रभवन्निर्भाष्यकारादिभिः सप्रमाणमुप-
पादितान् श्रीभर्तृहरिगुरुस्वरणप्रभृतिभिरतितरां विशदीकृतानपि वैयाकरणा-
भिमतपदार्थान् विरुद्धपत्रस्तचित्त्वाच्च सम्यग्धगन्तुमीशते दूषयन्ति चातस्मा-
नेव निपुणतरमुपादयन्नाह—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः ।

फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ॥ २ ॥

तत्रापि प्रायशो वाक्यस्य सुसिङ्गन्तसमुदायत्वात् सुखन्तानां च प्रीयः क्रिया-
विशेषणत्वाद्भातोश्च क्रियावाचकत्वेन पुरैःस्फूर्तिकत्वादिच्छावणाद्वा प्रथमतो
धात्वर्थनिरूपणमिति बोध्यम् । धातुः स्मृत इत्यन्वयः । वाचकत्वेनेति शेषः ।
तत्र विक्रित्यादिफलं तत्तद्रूपेण वाच्यम् । तद्वाचकतापि तत्तद्रूपेण । फलविशि-
ष्टव्यापारे एकशक्तौ चैकदेशत्वात् फलस्य तत्र पदार्थान्तरान्वयो न स्यादित्यादि
वक्ष्यते । फलव्यापारयोः साध्यसाधनभावस्तु संसर्गः । अतो जनकत्वांशे शक्तिं
विनापि फलजनकत्वं व्यापारे सुलभम् । एकपदोपस्थाप्ययोरपि कृतीष्टसाधन-
तावादे कृतीष्टसाधनत्वयोः कृतिवर्तमानत्वयोर्वा यथा परेषामन्वयस्तथास्माक-
मपीति न कश्चिदोषः । अथ कोऽयं व्यापारः । न तावत् फलप्रयोजकक्रिया ।
आत्माश्रयात् । क्रियात्वस्यैव तत्वात् । दण्डादिव्यापारस्यापि धात्वर्थत्वापत्तेश्च ।
न चेष्टापत्तिः । धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वेन दण्डादेः कर्तृत्वापत्तेः । तथा च दण्डेन
देवदत्तः पचतीत्यादौ प्रथमापत्तेः । न चेयमनभिहिते करणे एव तृतीयेति वाच्यम् ।
दण्डादेः कर्तृत्वे करणत्वस्यैवासंभवात् । आ कडारादेका संज्ञेति निर्धेमात् ।
अन्यथा दण्डेन दण्डः करोतीत्यपि स्यात् । न च

‘ आत्मानमात्मना वेत्ति सृजस्यात्मानमात्मना ।

आत्मानमात्मना हंसि ’

इत्यादिवदिष्टापत्तिः । औपाधिकभेदेमादायैवात्र कर्तृत्वकर्मत्वाद्युपपादनस्य

१ तत्र वर्णित T. २ इत्युपादानं D₂. ३ विजिज्ञासुभिः T. ४ विकल्पप्रस्तचित्त्वात्
K. ५ सम्यग्धगन्तुं T. ६ उपपादयिष्यन्नाह T. ७ प्रायशः D., T. ८ पुरस्फूर्-
तिकत्वां K., T. ९ फलं विक्रित्यादि तत्तद्रूपेण K.; तत्र विक्रित्यादि फलं तत्तद्रूपेण D₂.
१० फलव्यापारयोस्तु T. ११ जनकत्वांशशक्ति D., D₂. १२ K. drops कृतीष्टसाधनता-
वादे १३ आत्माश्रयत्वात् K., Tr. १४ नियमनात् K., T. १५ भेदेमादायैव चात्र D₂.

‘कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिये’ इति सूत्रे भाष्ये कृतत्वात् । न चागत्या निरव-
काशा करणसंज्ञा कर्तृसंज्ञां बाधियत इति वाच्यम् । गतेर्वक्ष्यमाणत्वात् । नापि
यदनन्तरमव्यवधानेन फलोत्पादः सा क्रिया । यथौदनं पचतीत्यत्र विक्लेदनम् ।
अधिभ्रयाणादीनां तज्जनकतया क्रियात्वमौपचारिकम् । उक्तं च—

‘अनन्तरं फलं यस्याः कल्पते तां क्रियां विदुः ।

प्रधानभूतां तादर्थ्यादन्यासां तु तदाख्यया ॥’

इति वाच्यम् । संभवति मुख्यत्वे गौणताया अन्याय्यत्वात् काष्ठादिक्रियाया
अप्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वेनोक्तदोषाच्च । आरब्धेऽपि पाके क्रियाया भावित्वात्
पक्ष्यतीति प्रयोगापत्तेश्च । अथ पचतीत्यनुगतव्यवहारादस्ति पचित्वं जातिः सैव
क्रिया । न च क्रियायाः साध्यत्वं न स्यात् । नास्त्येव । किं तु तदाभ्रयाणामेव
साध्यत्वम् । उक्तं च—

‘जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम् ।

असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलक्ष्यते ॥’

इति चेन्न । दण्डादिव्यापारस्यापि फलानुकूलत्वेनोक्तदोषत्वात् । तत्र जाति-
नास्तीति चेत्तर्हि दण्डः पचतीत्यपि न स्यात् । एतेन चरमव्यापारवर्तिनी जातिः
क्रियेति निरस्तमिति दुर्निरूपमेव क्रियात्वमिति चेन्न । भावनाभिधः साध्यत्वेना-
भिधीयमानो व्यापारविशेषः क्रिया । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।

आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥’

इति । वक्ष्यति च ग्रन्थकारोऽपि

‘व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया’

इति । न च साध्यत्वेनाभिधाने मानाभावः । पचति पाकः करोति कृतिरित्यादौ
धात्वर्थावगमाविशेषेऽपि क्रियान्तराकाङ्क्षानाकाङ्क्षयोर्दर्शनस्यैव मानत्वात् । तथा च

१ विक्लेदना is also noticed in D. २ प्रयोगापत्तिश्च T. ३ सैव च क्रिया T.
४ °दोषात् K., Tr., D.; D. notices दोषप्रसंगात् also. ५ निरस्तम् । तस्मात्
तद्वर्तिरूपमेव K. ६ भावनाभिधसाध्य° D. ७ K. drops च.

क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकं रूपं साध्यत्वं तदेवासत्त्वभूतत्वम् । भावनायाः प्रत्ययार्थतावादेऽपि पचति पौकभावेनेत्यादौ तैथा दर्शनेनास्य तथात्वावश्यकत्वात् । अत एव वक्ष्यति 'साध्यत्वेन क्रिया तत्र' इत्यादि । व्युत्पादयिष्यते चैतदुप-
रिष्टात् । स च व्यापार आत्मनिष्ठः प्रयत्नः शरीरादीनां च फूत्कारादिः तद्वत्येव पचतीति व्यवहारात् । अथैवमपि सर्वैतत्साधारणधर्मस्याभावाच्छक्यतावच्छेद-
काभावे कथं स शक्यः । न च तत्त्वमेवावच्छेदकम् । नानार्थत्वापत्तेः नानाशक्त्यापत्तेश्च । ननु शक्यतावच्छेदकतयैवानुगतस्य तस्य सिद्धिर्यथा कारण-
तावच्छेदकत्वादिना । अत एव जलशब्दशक्यतावच्छेदकतया जलत्वसिद्धिरिति लीलावत्युपाये उक्तम् । द्रव्यानुगतबुद्ध्या द्रव्यत्वस्य गुणपदशक्यतावच्छेदक-
तया गुणत्वस्य च सिद्धिरित्यपरे । तच्च जातिरूपाधिर्वैत्यन्यदेतदिति चेन्न । येन रूपेण बोधस्तस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वात् । कल्प्यमानधर्मपुरस्कारेण च न^१ शाब्दबोधः । न च कारणतावच्छेदकत्वादिनापि जातिर्न सिध्येत् । येन रूपेण कारणतावबोधस्तस्यैव कारणतावच्छेदकत्वौचित्यादिति वाच्यम् । कल्प्यमानलघु-
रूपेण कारणत्वे संभवति गुरुरूपेण तदस्वीकारेण तत्र क्षत्यभावात् । अत्र च सिद्धरूपेण बोधस्यानुभवसिद्धत्वात् तथा कार्यकारणभावावश्यकत्वे कल्प्यमान-
धर्मेणापि कार्यकारणभावान्तरकल्पने गौरवमिति न तत्कल्पनं युक्तम् । अन्यथा सैन्धवादिपदवाच्यतावच्छेदकत्वेनाप्यथा दिवृत्तिधर्मान्तरकल्पनापत्तेः । अश्वत्वा-
दिनैव प्रतीतेस्तत्कल्पना न युज्यत इति चेत् समैवान्नापि फूत्कारत्वयत्नत्वादिनैव प्रतीतिरिति दिक् । इदं च तार्किकरीतिमनुरुध्य । वस्तुतः कारणतावच्छेदकत्वा-
दिनापि न जातिसिद्धिरिति व्यापारो भावनेति कारिकायां वक्ष्यत इति कथमेत-
दिति चेन्न । तत्तद्रूपेणैव तस्य शक्यत्वात् । अत एव पचतीत्यादौ फूत्कारत्वाधः-
संतापनत्वयत्नत्वादिभिर्बोधः सर्वसिद्धः संगच्छते । न च नानार्थता । बुद्धि-
स्थत्वादेः शक्यतावच्छेदकादीनां तदादाविवानुगमकस्य सत्त्वात् । उक्तं च हरिणा—

१ वादेऽपि च पचति D. २ पाकानुकूलभावेनेत्यादौ T. ३ तथादर्शनेनास्यास्तथात्वा-
वश्यं K.; तथादर्शनेनास्य तथावश्यं D₉. ४ फूत्कारणादिः T. ५ न च तत्त्व-
मेवावच्छेदकं K. ६ नानार्थतापत्तेः D₉. ७ तस्य सिद्धिं T. ८ T. has शक्यतावच्छे-
दकतया for जलशब्दशक्यतावच्छेदकतया. ९ जलत्वसिद्धिं D₉. १० T. drops न.
११ T. drops च. १२ कारणतावच्छेदकत्वेनापि T. १३ बोधाः सर्वसिद्धाः संगच्छन्ते T.
१४ शक्यतावच्छेदकानां T.

‘गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥’

इति । क्रमजन्मनामेषां व्यापाराणां समूह एकत्वबुद्ध्या संकलनात्मिकया प्रकल्पितः स च समूहः स्वभावतो गुणभूतैरवयवैर्युक्त इत्यर्थः । एवं च सर्वेषां कारणानां व्यापारा वाच्याः । यदा यो यस्य बुद्धिस्थस्तदा सोऽभिधीयते तदैव तदाश्रयः कर्त्ता । अत एव काष्ठं पचति स्थाली पचतीति संगच्छते । एवं च काष्ठेन पचतीत्यपि नानुपपन्नम् । तदा तद्व्यापारस्य धात्वर्थाविवक्षणात् । एतेन काष्ठक्रियाया वाच्यत्वे तृतीया न स्यात् । अवाच्यत्वे प्रथमा न स्यादित्यादिकमपास्तमिति न कश्चिद्दोष इति ध्येयम् । एतस्य धातुवाच्यत्वे मानं तु वक्ष्यते । अयं ग्रथन्तवाच्य एवेति मीमांसकाः । अयं न वाच्यः किं त्वेतादृशेषः कृतिरिति नैयायिकाः । तत्रापि वक्ष्यते । आख्यातस्य न कर्त्ता वाच्यः । कृतिमतो व्यापारवतो वा कर्तृत्वेन तच्छक्तावनन्तकृत्यादौ शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवादिति नैयायिकाद्युक्तं दूषणमस्मन्मताज्ञानादिति ध्वनयन्नेव स्वमतमाह । आश्रये त्विति । आश्रये फलाश्रये व्यापाराश्रये च । फलव्यापारयोर्धातुर्लभ्यत्वादाश्रयमात्रमर्थः । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । तथा चाश्रयत्वमेव शक्यतावच्छेदकमतो नोक्तदोषावकाश इति भावः । अत एव कृतिविशिष्टकर्तृवाचितृचः कृतिवाचककृधातुयोगे कर्त्तैत्यत्राश्रयपरत्वमिति नैयायिकाः । एवं कृत्यप्रत्ययस्थले भावनांशस्याक्षेपलभ्यत्वादाश्रयमात्रमर्थ इति मीमांसका मन्यन्ते । अथाश्रय आख्यातार्थ इत्यत्र मानाभावः । तत्प्रतीतिश्चाक्षेपाल्लक्षणया बोधपद्यते । प्रथमान्तपदेन तदुपस्थितिसत्त्वाद्देवदत्तः पाकानुकूलकृतिमान् एकदेवदत्ताश्रयको वर्त्तमानो व्यापार इति बोधोपपत्तावन्यलभ्यत्वेन शक्तिकल्पनायोगाच्चेति चेदत्र वदन्ति । कर्त्रादेरवाच्यत्वे युष्मदि समानाधिकरणे मध्यम इति पुरुषव्यवस्था न स्यात् । कर्तृरवाच्यत्वेन सामानाधिकरण्याभावात् । देवदत्तः पचतीत्यादौ कर्तरि तृतीया

१ प्रकल्पितभेदोऽभेदो यस्य स च समूहः K. २ एकत्वं बुद्ध्या T., D₂. ३ संकलनात्मिकया T. ४ प्रकल्पितोऽभेदो यस्य स च समूहः K. ५ यो यदा यस्य K.; यदा यस्य यो D. ६ पचतीति नानुपपन्नम् D₂. ७ एतस्याधातुवाच्यत्वे T. ८ अयं तु न वाच्यः D. ९ नैयायिकाद्युक्तदूषणं T., नैयायिकोक्तं दूषणं D₂. १० आश्रयेति T. ११ लभ्यत्वात्तदाश्रयं Tr., D. १२ T. drops कर्तृ. १३ नैयायिकः T. १४ D₂ drops मीमांसकाः. १५ इति वा बोधो Tr. १६ मध्यमपुरुष इति व्यवस्था Tr., D.

पच्यते तण्डुल इत्यादौ द्वितीया च स्यात् । कर्त्राद्यनभिधानेन तयोर्दुर्वारत्वात् । ननु तन्निष्ठसंख्याभिधानात्तदभिधानमेवं युष्मदस्तिङ्गुपात्तसंख्यानवयिवाचकत्वं सामानाधिकरण्यमपीति चेन्न । तिङ्वाच्यसंख्यायाः कुत्रान्वय इत्यनिश्चयात् । तथा च कर्तृप्रत्ययेऽपि संख्याया उभयत्रान्वये उभयोरप्यभिधेयत्वं स्यात् । न च कर्त्रैकत्वेनैव संख्याभिधीयत इति शङ्क्यम् । तथा शक्तेरबोधनात् । विशेषण-
तया कर्तृवाच्यत्वसिद्धेः शक्यतावच्छेदकेऽपि गौरवाच्चिति । किं च कृतद्धित-
समासैः संख्यानभिधानात् तत्रैव कर्तुरनभिधाने देवदत्तः पाचक इत्यादौ तृती-
याद्यापत्तेः । वस्तुतस्तिङ्गस्थले कर्तुरवाच्यत्वे पंचमान इत्यादौ कृत्यपि तन्न
स्यात् । युक्तेस्तुत्यत्वात् । लकारस्य वाचकस्योभयत्रैकत्वात् । आदेशानां वाच-
कत्वे हरेऽव विष्णोऽव राममित्यादौ ' सर्वे सर्वपदादेशाः ' इति न्यायाद्वाक्यप-
दस्फोटयोः सिद्ध्यापत्तेरपसिद्धान्ताच्च । न च कृति कर्तुरवाच्यत्वे इष्टापत्तिः ।
समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । जज्ञभ्यमानाधि-
करणोच्छेदप्रसङ्गाच्च । ज्ञानचा कर्तुरुक्तत्वाच्छ्रुत्या पुरुषार्थत्वमिति सिद्धान्तस्यैवम-
संभवात् । तस्मादवश्यं कर्तृकर्मणोर्वाच्यत्वमुपेयमिति । अत्र नैयायिकाः । कर्तृ-
संख्याभिधानादेव तदभिधानं वाच्यम् । न च तदन्वयनियमे मानाभावः । भाव-
नान्वयिन्येव तदन्वयात् । संख्याभावनयोः समानपदोपात्तत्वेनैकान्वयित्वस्यो-
चितत्वात् । भावनायाश्चेतराविशेषणीभूतप्रथमान्तपदोपस्थाप्य एवान्वयः । तथै-
वाकाङ्क्षितत्वात् । एवं कृदादावपि कर्त्राद्यभिधानादेवाभिधानव्यवस्था अन्यतरा-
नभिधाने तृतीयेति तु सूत्रार्थः । तस्मान्नोक्तानुपपत्तिः । कृतप्रत्ययस्थले च कर्तु-
रवाच्यत्वेऽभिधानव्यवस्थानापत्तेः । न च कृत्यभिधानादभिधानम् । कर्मप्रत्यय-
स्थलेऽप्यापत्तेः मित्रापक्कीगतं पुरमिति लिङ्गविशेषेण सामानाधिकरण्यानापत्तेर्वा
तत्र वाच्यतास्वीकारः समानाधिकरणस्यैव विशेषणस्य समानलिङ्गत्वात् । अन्यथा
राज्ञः स्त्री इत्यादावपि प्रसङ्गात् । एवमाख्याताथस्य प्रथमान्तार्थे एवान्वय-
व्युत्पत्तेः । पक्ता नृप्यतीत्यत्र पाकानुकूला कृतिस्तृप्यतीति बोधः स्यात्तथा चान-
न्वयः । अतः कृति कर्तावश्यं वाच्यः । लकारस्यैकस्य वाचकत्वेऽपि ज्ञानजादौ
कर्तरि लक्षणा न शक्तिर्येनानेकार्थता स्यात् । नृजादेः परं शक्तिरिति न दोषः ।

१ कर्त्राद्यनभिधाने तयो^० T. २ T. drops एवम्. ३ T. drops इति. ४ पच्यमान
इत्यादौ is dropped in D_१; पच्यमान इत्यादि T. ५ न्यायेन वाक्य^० K. ६ च्छ्रुत्या
K., D_१. ७ सिद्धान्तस्यैव संभवात् K. ८ K. and Tr. drop तु. ९ T. drops
तस्मान्नोक्तानुपपत्तिः. १० तत्र तु न वाच्यतास्वीकार T.

आदेशानां वाचकत्वेऽपि न दोषः । हरेऽवेत्यादौ च प्रत्येकं पदानामवधृतशक्तिकानां तत्तदर्थोपस्थानद्वारा वाक्यार्थबोधकत्वसंभवात् वाक्यस्फोटादिः । अत्र त्वनुपपत्त्या कर्त्तर्येव शक्तिरित्याहुः । भावनान्वयिनि संख्यान्वय इत्यसंगतम् । नै पचतीत्यत्र भावनान्वयिन्येव कर्तरि तदन्वयेन व्यभिचारात् । संख्यायाः प्रत्ययार्थत्वान्नावनायाश्च धात्वर्थत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् समानपदोपात्तत्वस्याभावाच्च । विशेष्यतयाख्यातजन्यसंख्याबोधं प्रति तेनैव संबन्धेन भावनाप्रकारकबोधसामग्रीत्वेन हेतुत्वपर्यवसानेन गौरवाच्च । समानपदोपात्तान्वयित्वमपेक्ष्य समानपदोपात्तत्वस्यैव लाघवेन संख्यान्वयनियामकत्वौचित्याच्च । भावनान्वयनियामकस्यैव तद्वेतोरिति न्यायेन संख्यान्वयनियामकत्वौचित्याच्च । भावनान्वयिनि संख्यान्वय इतिवत् संख्यान्वयिन्येव भावनान्वय ईत्यस्यापि सुवचत्वाच्च । तस्मात् प्रथमान्तपदोपस्थाप्य एव संख्यान्वयः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वमेव नियामकम् । किं चैवं सति विशेष्यतासंबन्धेनाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधं प्रति इतराविशेषणप्रथमान्तपदजन्योपस्थितिर्विषयतया कारणमिति लघुभूतः कार्यकारणभावः फलितः । 'नारायण इव नरो हन्ति' 'चन्द्र इव सुखं दृश्यते' इत्यत्र नारायणे चन्द्रे च संख्यान्वयवारणायेतराविशेषणेति । चैत्रेण सुप्यत इत्यत्र चैत्रनिष्ठः स्वाप इति बोधाद्विशेष्ये स्वापे तद्वारणाय प्रथमान्तेति । वस्तुतस्तु तवापि कुत्र कर्ता वाच्यः कुत्र कर्मैत्यत्र नियामकाभावाच्छबादिकं द्योतकं वाच्यं तथा च ममापि कुत्र संख्यान्वय इत्यत्रापि तदेव द्योतकमिति न काप्यनुपपत्तिः । एवं कृदादिसाधारणाय मुख्यभाक्तसाधारणकृत्यनभिधानात् कर्तुरनभिधानं कार्यमिति व्यवस्थाश्रयणीया । कर्मप्रत्यये च फलमेवार्थः कृतेस्तृतीयया लाभात् । एवं च फलानभिधानमेव कर्मानभिधानम् । यद्यप्येवं कृतप्रत्यये प्रागुक्तरीत्यानभिधानव्यवस्था कर्तृवाच्यत्वसाधिका न भवति तथापि देवदत्तः पाचक इत्यादिसामानाधिकरणानुपपत्त्याद्येव तत्साधकं द्रष्टव्यम् । दोषं प्राग्वदेवैति पुनस्तन्मतीनाः ॥

अत्रोच्यते । विशेष्यतासंबन्धेनाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधं प्रत्याख्यातजन्याश्रयोपस्थितेहेतुत्वं लाघवादिति कर्तृकर्मणोस्तिङ्घ्राद्यत्वमावश्यकम् । न तु

१ वाक्यार्थबोधकत्वसंभवात् T. २ T. drops n. ३ संख्याप्रकारकबोधं प्रति Tr. ४ हेतुत्वपर्यवसाने D₂. ५ °पदोपस्थितान्वयित्वं K. ६ °पदोक्तत्वस्यैव T. ७ इत्यापि T. ८ अन्वयः D₂. ९ °ख्यातार्थसंख्यातार्थसंख्याप्रकारक° T. १० चैत्रनिष्ठस्वाप K. ११ यथा च T. १२ रनभिधानमिति K., Tr. १३ पुनस्तत्र नवीनाः Tr.

त्वदुक्तरीत्या प्रथमान्तपदज्ञानं तथा । एतादृशाकाङ्क्षायाः पदद्वयघटितत्वेन
 गुरुत्वात् । ईतराविशेषणत्वघटितत्वेन सुतरां गौरवाच्च । न चाख्यातस्य भाव-
 नामात्रवाचकत्वग्रहवत्सादृशबोधानुरोधेनोक्तकार्यकारणभावस्तवाप्यावश्यक इति
 वाच्यम् । एवं हि यत्नस्य धातुवाच्यत्वग्रहवतः पाकानुकूलकृतिमानिति बोधा-
 नुरोधेन धात्वर्थप्रकारकशाब्दबोधे प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिर्हेतुरित्यस्यावश्यक-
 त्वेन रथो गच्छति जानाति करोतीत्यादौ धात्वर्थस्य साक्षाद्रथादौ भानसंभवे-
 नाख्यातस्याश्रयत्वलक्षणाभ्युपगमानापत्तेः । रथेन ग्रामो गम्यते इत्यादौ धात्वर्थ-
 फलस्यैव साक्षात् कर्मणि भानसंभवात् कर्माख्यातानां फलवाचकत्वाभ्युपगम-
 वैयर्थ्यापत्तेश्च । विवेचयिष्यते चैतदुपरिष्ठात् । न च तत्तद्व्युत्पत्तिग्रहशालिपुरुष-
 शाब्दबोधानुरोधेनोदाहृतकार्यकारणभावद्वयमप्यावश्यकं परं त्वाख्यातस्य कर्तरि
 शक्तार्चनन्तकृत्यादाववच्छेदकत्वापत्तावतिगौरवं परमतिरिच्यत इति वाच्यम् ।
 भावनाश्रयत्वस्यैवाखण्डशक्तिरूपस्यावच्छेदकतायाः प्रागुक्तत्वेनैतद्गौरवस्य स्ववा-
 सनामात्रकल्पितत्वादिति । अपि चैवं कृतामपि कर्तृवाचकत्वं न स्यात् । गौर-
 वस्य साम्यात् । अथ चैत्रो गन्तेत्यत्राभेदान्वयादवश्यं कर्ता वाच्यस्तत्राभ्युप-
 गन्तव्यः । न च चैत्रो गच्छतीतिवद्वन्तेत्यत्राप्याश्रयतया कृतेश्चैत्रान्वयाद्देव-
 सिद्धिः । समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेः । भेदान्वयबोधे
 एकपदोत्तरविभक्तिविरुद्धविभक्तिमत्पदजन्योपस्थितेर्हेतुत्वाच्च । चैत्रो गन्तेति-
 वचैत्रे गन्तेत्यापत्तेश्चेति चेदत्रोच्यते । घटो न राज्ञः सुतस्य धनं पंचतिकल्पं
 चैत्रः पंचतितरां मैत्रः इत्यादावभेदबोधादर्शनाद्देवेन बोधदर्शनाच्चोक्तकार्यकार-
 णभावद्वयस्यापि व्यभिचारः । न चात्रायोग्यत्वान्नान्वयः । कृत्यपि तथा सुवच-
 त्वात् । एवं च पंचतिकल्पं मैत्र इत्यादाविव नामार्थत्वेऽप्याश्रयाश्रयिभावेना-
 न्वयः संभवत्येव । न चात्राख्यातस्य कर्तरि लक्षणा । एवं हि पक्ता गच्छती-
 तिवत् पंचतिकल्पं गच्छतीत्यापत्तेः । किं चात्रैव नामाख्यातार्थयोरभेदान्वयस्य
 कृसत्वात्तदनुरोधाच्चैत्रः पंचतीत्यत्राभेदानुभवाच्चाख्यातस्य कर्तृवाचकत्वापत्तौ
 सिद्धं नः समीहितम् । न च कल्पबादेरेव कर्तरि लक्षणा तथा सत्याचार्यकल्पा-

१ प्रथमान्तपदजन्यज्ञानं K.; प्रथमान्तपदजं ज्ञानं Tr.; प्रथमान्तपदज्ञानं T. २ इतर-
 विशेषणत्वघटितत्वेन T. ३ पाकानुकूलकृतिमानिति K., Tr. ४ रित्यस्याप्यावश्यकत्वेन
 T. ५ स्याश्रयत्वे लक्षणा Tr. ६ वनन्तकृत्यादां K., Tr. ७ गन्तेत्यादौ भेदा
 D. ८ चैत्रत्वान्वया T. ९ भेदेनान्वयबोधे T. १० सुतस्य K. ११ पंचतितरा
 K. १२ पंचतिकल्पं K. १३ वभेदबोधाद्देवेन K. १४ K. and Tr. drop च.
 १५ इत्यादावपि K. १६ नामार्थयोरभेदा K. १७ भेदान्वयानुभवा D₂.

वाच्यकल्पा इतिवद् द्विवचनादेरपि कर्तृद्वित्वादिविवक्षायामापत्तेः । न च सुविव-
रुद्धतिङन्तोपस्थाप्यत्वेन कृतेर्भेदेनैवान्वय इति वाच्यम् । स्तोत्रं पचतीत्यादौ
स्तोत्रपाकयोरभेदबोधनापत्तेः । तस्माद् भेदेन नामार्थकप्रकारकबोधे सार्थकसु-
द्धिपातजन्यैवोपस्थितिर्हेतुरिति हेतुहेतुमद्भावादाख्यातार्थेनाभेदबोधो दुर्वार इति
वक्ष्यामः । यत्तु चैत्रं गन्तेति स्यादिति तन्न । चैत्रं गच्छतीत्यस्याप्यापत्तेः । यदि
चाख्यातार्थस्य प्रथमान्तोपस्थाप्य एवान्वयस्तदात्रापि कृदर्थप्रकारकशाब्दबोधं
प्रति समानाधिकरणपदजन्योपस्थितिर्विषयतया हेतुरिति कार्यकारणभावोऽस्तु ।
कार्यकारणभावान्तरकल्पनागौरवं चाख्यातार्थभावनान्वयाय प्रथमान्तपदजन्योप-
स्थितिहेतुत्वकल्पनेऽपि तुल्यम् । कृदर्थवदभेदबोधे वक्ष्यमाणसिद्धकार्यकारणभा-
वेन निर्वाहोपपत्तेरिति दिक् । पक्तेत्यादौ तृजर्थकृतेर्न नामार्थत्वमपि तृजन्तस्यैव
नामत्वात् । पाकाद्यनुकूला कृतिरेव हि नामार्थः न तु शुद्धा । तथा च नामार्थस्य
विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेनैव चैत्रादावन्वय ईत्यपि केचित् । अथैवमपि
मित्रापक्तीति लिङ्गेन सामानाधिकरण्यात् तत्र कर्ता वाच्य इति चेन्न । तस्य
साधुत्वार्थमप्युपपत्तेर्वस्त्ववस्थापकत्वात् । एतादृशानां विशेष्यनिमित्तत्वस्य सर्व-
सिद्धत्वात् । अन्यथा शुक्लादिपदानां द्रव्येऽपि शक्यापत्तेः । रूपमात्रे शक्तौ
शक्यतावच्छेदकलाघवस्य नीलं रूपमित्यादौ केवलरूपे प्रयोगस्य च पक्ता जातः
पाठको जात इत्यादौ कृतां केवलकृतौ शक्तिसाधकेनाविशेषात् । अत एव सामा-
नाधिकरण्यं नैकविभक्तिनिर्देश्यत्वमर्थसाधकम् । प्रयोगस्य वस्त्ववस्थापकत्वा-
दिति द्वित्वप्रत्यक्षविचारे गुणोपायेऽप्युक्तम् । किं चैवं सामानाधिकरणस्य विशेष-
णस्य विशेष्यसमानलिङ्गत्वनियमवत् तादृशस्यैव विशेषणस्य विशेष्यसमानवचन-
त्वनियमादाख्यातस्यापि कर्तृकर्मवाचकता दुर्वारा । अन्यथा देवदत्ताः पचतीत्या-
देरप्यापत्तेः । न च चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः सुन्दरावित्यादौ व्यभिचारान्नाथं नियमः ।
क्षुदुपहन्तुं शक्यं शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्येत्यादौ तस्यापि तुल्यत्वात् ।
भोक्ता नृप्यतीत्यादौ च कृत कृतिमात्रवाचकत्वेऽपि नानुपपत्तिः । न च पचति
चैत्र इत्यत्र प्रतियोगितासंबन्धेन नञर्थ इव सामानाधिकरण्यसंबन्धेन कृदर्थक-

१ कर्तृत्वादि° K., कर्तृद्वित्वविवक्षा° T. २ दाख्यातार्थानां भेदबोधो T. ३ चैत्रो T.
४ प्रथमान्तपदोपस्थाप्य T. ५ कारणमिति D. ६ कल्पने गौरवं T. ७ पाकाद्यनुकू-
लकृति° T. ८ इति for इत्यपि T. ९ कश्चित् K., D₂. १० समानाधिकरणतया
T. ११ साधनेना° T. १२ मर्थसाधकत्वम् D₂. १३ समानाधिकरणविशेषणस्य Tr.
१४ नानुपपत्तेः T.

तावप्याख्यातार्थकृत्यन्वयसंभवात् । न त्वाधारतया तिङ्मृत्कृतिबोधे प्रथमान्त-
पदजन्योपस्थितेहेतुत्वं सुवचम् । न पचति चैत्र इत्यादावनन्वयापत्तेः । अस्तु वा
तत्र कृतः कर्त्तरि लक्षणा । अतो नानुपपत्तिः । न च केवलकृतौ प्रयोगात् तत्र
शक्तिनिर्णये सत्येव तद्वति लक्षणा युज्यत इति वाच्यम् । पक्ता जात इत्यादौ
परेषां पचतीत्येवोक्ते केवलकृतिबोधवत् केवलं पक्तेत्येवोक्ते च केवलकृतौ प्रयो-
गात् । अन्यथाख्यातस्यापि कर्तृवाचकतापत्तेः । वस्तुतस्तु पश्य मृगो धावति
पश्य नृत्यति भवति पचति भवतीत्यादौ धावनादिभावनाया दशनादौ विशेष-
णतयाऽन्वयबोधानुरोधाद्वक्तुरपि तथैव तात्पर्याङ्गाप्यकारैरपि तथैवाभ्युपगमेनै-
तादृशेष्वेकवाक्यताप्रतिपादनाच्च नाख्यातार्थभावनाप्रकारकबोधं प्रति प्रथमान्त-
पदजन्योपस्थितेः कारणत्वं व्यभिचारात् । चैत्रः पचतीत्यत्र नैयायिकानां तथा-
न्वयबोधस्तु तादृशव्युत्पत्त्यनुरोधात् । अत एव मीमांसकादयश्चैत्रनिष्ठा भावनेति
भावनाविशेष्यकमेव बोधमाहुः । तस्मान्न तथा कार्यकारणभावमूलिका कृतां
कर्त्तरि शक्तिर्युक्ता किं तु चैत्रः पाचक इत्यभेदान्वयानुरोधात् स चाख्यातेऽपि
सम इति स्यादेव तत्रापि कर्त्रादिवाचकत्वमिति विभावयामः ॥

केचित्तु कर्तुरवाच्यत्वे पचतीत्यत्र पाककर्तृमानस एकत्वसंशयः स्यात् । ननु
कर्तुरनुपस्थितौ धर्मिज्ञानाद्यभावात् कथं संशयः । लक्षणया तदुपस्थितौ चैकत्व-
विशिष्टे लक्षणाभ्युपगमान्न संशय इति चेन्न । मनसा तदुपस्थितिसंभवात् ।
न चोपस्थितत्वात् संख्यान्वयोऽपि स्यादिति कथं संशय इति वाच्यम् । शब्दोप-
स्थितस्यैव नैयायिकैः शब्देऽन्वयाङ्गीकारात् । न च लक्षणयोपस्थितेः संख्या-
न्वयस्य सुवचत्वान्न संशय इति वाच्यम् । न्यायनये सर्वत्र लक्षणायां बीजाभा-
वात् । प्रथमान्तपदादनुपस्थितेस्तदन्वयासंभवाच्चेति वदन्ति । अधिकं वक्ष्यमा-
णरीत्यावधेयमिति दिक् ॥

मीमांसकास्त्वनभिहित इत्यस्याबोधित इत्यर्थः । बोधश्च शक्त्याक्षेपाद्वा ।
स चाख्याते आक्षेपात् । कृति तु शक्त्या । अत एव कर्त्रधिकरणे भट्टैरुक्तम् ।
'यादृशस्तु गुणभूतः कर्त्तात्रावगम्यते न तादृशेन विना भावनोपपद्यत इति
अर्थापत्त्यानुमानेन वा शक्तानुगमयितुम्' इत्यादिना । ननु कृत्याक्षेपादाख्याते

१ न चाधारतया K., Tr. २ अस्तु वात्र D. ३ T. drops पश्य. ४ नृत्याति
नृत्याति भवति Tr., D. ५ भवति पचतीत्यादौ D_२, भवतीत्यादौ T. ६ प्रकारबोधं T.
७ विशेष्यमेव T. ८ लक्षणाभ्युपगमात् संशय T. ९ यादृशश्च D. १० चाशक्ता D_२.

शक्येति वैपरीत्यं किं न स्यादिति चेन्न । प्रधानीभूतया भावनया कर्तुराक्षेपस्य युक्तत्वात् । भावनाया आक्षेपलभ्यत्वे च प्राधान्यानुपपत्तेः । एवं कृत्यपि प्राधान्यात् कर्तुर्वाच्यत्वमावश्यकमिति युक्तस्तेनाक्षेपः । उक्तं च । यदि कर्त्रा धात्वर्थेन वा भावनावगम्येत ततः पाचकपाठकादिपदेऽपि तिरोहितस्वरूपावगम्येत । प्राधान्यात् शब्दार्थत्वाध्यवसानमिति । पैदादनुपस्थितस्य कर्तुः कथं शाब्दबोधविषयत्वमिति चेदत्र नामार्थनिर्णये वक्ष्यते । तस्मान्नाख्यातस्थले कर्तृकर्मणा वाच्ये । अभिधानव्यवस्थायाः प्रकारान्तरेणोपपत्तेरिति वदन्ति ॥

अत्रोच्यते । यथाकथंचिद् भावनाक्षेपमात्रेण प्रत्यायितत्वमभिधानव्यवस्थायां नोपपादकम् । कर्मप्रत्ययेऽपि भावनाया विनाश्रयमनुपपत्तेः । कर्तुराक्षेपात् कर्त्रभिधाने तृतीयानापत्तेः । आख्याते शक्यता कृत्याक्षेपादिति वैपरीत्यस्य दुर्वारत्वाच्च । यत्तु तथा सति प्राधान्येन भानं न स्यादिति तन्न । आक्षेपलभ्यस्यापि प्राधान्येन भाने बाधकाभावात् । अन्यथा प्राधान्यानुरोधाद् व्यक्तेर्वाच्यत्वस्वीकारापत्तावाकृत्यधिकरणं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । ननु कर्त्रा स्वस्वरूपनिरूपकत्वेन भावनाया आक्षेपाद् गुणत्वम् । जात्या तु लोके परिच्छेद्यतयावगतं द्रव्यं तथैवाक्षिप्यत इति न गुणत्वमिति चेन्न । एतादृशविशेषस्याप्रयोजकत्वेन गुणत्वादावनियामकत्वात् । भवद्वीत्या व्यक्तेरिव कर्तुः परिच्छेद्यत्वादाक्षिप्तस्यापि व्यक्तिवद्दिशेष्यत्वापत्तेश्च । किं च देवदत्तादिः शक्तिविशेषरूपो वा कर्त्ता न भावनानिरूप्यः । घटत्ववदखण्डत्वात् । कर्तृत्वं तद्घटितमिति चेद्वटत्वमपि घटघटितमेवेति विशेषोपपादनं दन्धनम् । अथ घट इत्यत्रापि नास्त्येव घटादेर्विशेष्यत्वप्रतीतिः किं तु घटत्वादिति चेत् सत्यम् । एवं हि व्यक्तौ पदार्थान्तरान्वयो न स्यात् । विशेष्यतयानुपस्थितत्वेनाकाङ्क्षाविरहात् । किं च न भवत्प्रतीत्यैव वस्तुसिद्ध्यसिद्धी किं तु रुकलसाधारणया । तादृशी च न व्यापारेऽपि । नैयायिकैः कर्तृविशेष्यकबोधाम्युगमात् । एवं घटपदादिस्थलेऽपि । तस्माद्विशेष्यत्वाद्विबोधो भवतामेव तादृशव्युत्पत्तिवशाज्जायमानो न वस्तुव्यवस्थापक इति

१ प्रधानभूताया भावनायाः T. २ भावना गम्येत D., D₂. ३ पदानुपस्थितस्य T. ४ दुर्वाच्यत्वाच्च D. ५ स्वीकारापत्तौ वाकृत्यं T. ६ स्यादिति T. ७ गुणत्वादावपि नियामकत्वात् T. ८ द्विशेष्यतापत्तेश्च D₂. ९ भावनादिरूप्यः T. १० 'मिति चेन्न घटत्वमपि T. ११ for दन्धनम् K. has दन्धनम् and D. and D₂. have धनम्. १२ घटत्वादेरेति चेत् T. १३ भवत्प्रतीत्या T. १४ विशेष्यबोधो D. १५ घटादिपदस्थलेऽपि D.

स्फुटतरं भावार्थाधिकरणदूषणे वक्ष्यते । अथ भावनया कर्तुराक्षेपो युक्तः न तु कर्त्रा भावनायाः कर्मप्रत्ययस्थले भावनाप्रत्ययानुपपत्तेरिति चेन्मैवम् । कर्तृकर्मो-
भाभ्यामाक्षेपसंभवात् । न चोभयोरक्षेपकत्वकल्पने गौरवम् । तवाप्युभयोरक्षे-
प्यत्वकल्पने गौरवात् । कर्मकर्तृकृत्सु तदाक्षेपाय त्वयाप्येवं स्वीकर्तव्यत्वाच्चेति ।
यत्तु कर्त्तरि कृदिति व्याकरणस्य कृतप्रत्ययस्थले कर्त्तरि शक्तिपरिच्छेदकस्य सत्त्वात्
कर्तृवाच्यत्वावश्यकत्वात् तेन कृतप्रत्ययस्थले भावनाक्षेपो युक्तः तिङ्स्थले च
तदभावान्न कर्तृर्वाच्यत्वमायातीति तदापाततः । तिङ्स्थलेऽपि लः कर्मणीति
सूत्रस्य कर्त्तरि शक्तिपरिच्छेदस्य सत्त्वात् । कर्त्तरि कृदिति कर्तृग्रहणस्यैवानुवृत्तेः ।
अनन्यलभ्यत्वादेशोभयत्रापि तुल्यत्वात् । अथ 'लः कर्मणि च भावे चाकर्म-
केभ्यः,' 'तिसस्त्रि,' 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्येतेषामेकवाक्यतया विधा-
नेन कर्तुरेकत्वेऽभिधेये लकारैकवचनं तिवादिप्रयोक्तव्यमित्यर्थपर्यवसानात् कर्तु-
र्वाच्यत्वं न सूत्रादायाति किं तु तत्संख्याया एवेति चेन्मैवम् । द्विवचनादिसंज्ञा
ह्लादेशनिष्ठा ततश्च तद्विधिना द्व्येकयोरित्यस्यैकवाक्यता । न च तत्र कर्त्तरीत्यस्ति
यद् द्वित्वादिविशेषणतया कथंचिद्योज्येत । ननु लविधितिबादिविध्योरप्येक-
वाक्यतास्तीति चेत् तर्हि इयं वाक्यैकवाक्यता न तु पदैकवाक्यता । आदेश-
विधेर्लविधिलभ्यलकारानुवादेन प्रवृत्तेः । लविधौ कर्तृग्रहणम् । स च द्विवच-
नादिसंज्ञाविनिर्मुक्त एवेति । तस्माद्वाक्यनिष्पत्त्यनन्तरं तेनैकवाक्यता । लः
कर्मणीति वाक्यं चार्थं विना निष्पन्नं यमर्थमादाय निष्पद्यते स एव वाच्य इति
कर्तुर्वाच्यत्वं दुष्परिहरमिति वदन्ति । स्फुटमन्यन्मनोरमायाम् । वस्तुतस्तु लः
कर्मणीत्यस्य द्व्येकयोरित्यनेनैकवाक्यत्वे लकारः संख्यावाचको निरर्थको वा
स्यात् । न चैवं युक्तम् । एवं हि तिबादिवच्छानचोऽपि कर्तृसंख्या वाच्या स्यान्न
स्याच्च कर्त्ता । तिबादिवच्छानजादीनामपि लादेशत्वात् । अथ कर्त्तरि कृदित्यत
एव तत्र कर्त्ता वाच्य इति चेन्न । तेन शय्यमाने आस्यमाने चौर्यं गत इत्यादौ
भावे क्रियमाण इति कर्मणि च शानचो दौर्लभ्यापत्तेः । विधायकाभावात् । अथ
कर्त्तृवाच्यः कर्मभावादौ च शानचो लक्षणेति चेन्न । कर्त्तरीति व्याकरणस्यार्थ-
नियामकस्यातिक्रमेण स्वेच्छामात्रेण लक्षणाया मसाधुतापत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । न च

१ न चोभयोरप्याक्षेपः T. २ 'प्युभयोरप्या' T. ३ कर्तुर्वाच्यत्वा T., D₂. ४ वाच्य-
त्वमपीति T. ५ 'ग्रहणस्यैव तत्रानुवृत्तेः' T. ६ तिबादिप्रयोक्तव्यं T. ७ कर्तुरवाच्यत्वं T.
८ 'दायातीति' D. ९ कर्तृग्रहणं सद् द्विवचनादि T. १० कर्तृवाच्यत्वं D. ११ स्यात् तस्माच्च
कर्त्ता तिबादि T. १२ वायं गत T. १३ K. drops च.

लटः शतृशानचावित्यस्यात्मनेपदविधायकैः सममेकवाक्यतया भावकर्मणोरित्य-
नेनेष्टसिद्धिः । सकर्मकेभ्योऽप्येवं सति भावे शानजापत्तेः । अस्माकं पुनर्भावे
चाकर्मकेभ्य इत्युक्तत्वान्न दोषः । किं चैकवाक्यतया कर्मभावरूपार्थलाभेन निरा-
काङ्क्षतया कर्त्तरि कृदित्यस्याविषयतया कर्त्तरि स न स्यात् । तथात्वे वा धञा-
दिरपि कर्त्तरि स्यात् । अपि च भावकर्मणोरित्यस्य भावकर्मणोर्यो लकारस्तस्या-
त्मनेपदमेवादेश इत्यर्थो न त्वया वक्तुं शक्यः । लकारस्यानर्थकत्वात् । यदात्म-
नेपदं तद्भावकर्मणारेवेत्यपि न । कर्त्तर्यात्मनेपदाभावापत्तेः । भावकर्मणोरर्थयोरा-
त्मनेपदं स्यादित्यर्थं चोक्तसूत्रादेव तैङ्गादेः कर्मवाचकता शेषात् कर्त्तरि परस्मैपद-
मित्यस्माच्च कर्तृवाचकता तिङ्गादेः स्यात् । सकर्मकेभ्योऽपि भावे शानजाप-
त्तिश्चेति दिक् । तस्मादापातत एवैकवाक्यतया भावकर्मार्थलाभ इति । तस्मा-
त्कर्तृकर्मशानचो योगेनानूद्य विधीयमानं कर्तृकर्मसंस्कारकमिति जज्ञभ्यमाना-
धिकरणे स्थितमसंभवदुक्तिकतामापद्येत इति ध्येयम् । यदपि भट्टैरुक्तं कर्तृवि-
शिष्टसंख्याभिधानात् कर्तुरभिधानम् । न च विशेषणतया कर्तुरप्यभिधेयत्वं
स्यादिति वाच्यम् ।

‘ विशिष्टग्रहणं नेष्टमगृहीतविशेषणम् ।

अभिधानभिधाने तु न केनचिदिहाश्रिते । ’

तथा च भावनया प्रत्यायितस्य कर्तृविशेषणत्वसंभवान्न दोषः । न च भावनाक्षे-
प्यत्वस्याविशेषात् पचतीत्यत्र कर्त्तैव पच्यते इत्यत्र कर्त्तैव संख्यायां विशेषणमिति
नियमो न स्यादिति शङ्क्यम् । यतो

‘ यस्यापि कारकं वाच्यं तस्याप्येतत् प्रसज्यते ।

न चोभयाश्रयं दोषमेकश्चेद्यो विचारयन् ॥ ’

इति । ननु शब्दोपस्थितस्यैव शब्दबोधे भानाङ्गीकाराद्भावनयाक्षिसस्यैव कर्तुः
कथं शब्दबोधविषयत्वमिति चेन्न । तद्वाचकशब्दस्यैव भावनयाक्षेपात् । अर्था-
क्षेपकस्यैव शब्दाक्षेपकत्वात् । अनुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । तथा च तद्वाचकशब्दादेव
कर्तृकर्मणोर्बोधः । तदुक्तम्—

‘ सर्वाख्यातेषु कर्त्रादेरिष्टा नैवाभिधेयता ।

या तु तेभ्यः प्रतीतिः सा संयोगान्तरतो भवेत् ॥ ’

इति । लक्षणैव वाक्षेपशब्दार्थः । सा चाश्रयत्वादिना । अत एव नामजात्या-

१ यङादिरपि T. २ तिङ्गादेः T. ३ कर्तृकर्मविशिष्टं D₂. ४ कर्तुरभिधानम् T.
५ अनभिधानाभिधाने तु T. ६ अर्थाक्षेपस्यैव T. ७ स D₂.

दिभिः प्रश्नोत्तरभावः कर्तृकर्मणोः संगच्छते । तस्मान्नाभिधानव्यवस्थानुपपत्तेः कर्तृवाच्यत्वमिति । कृदादौ चाभिधानयुक्तिरेव तत्साधिका । अतोऽन्यलभ्यत्वसंभवेऽप्यगत्या तद्वाच्यत्वस्वीकार इति न प्रागुक्ता प्रतिबन्दिरपि । कर्तृत्वसंस्थान्यतरानभिधाने तृतीयेत्याश्रीयत इति । अत्रेदं प्रतिभाति । देवदत्तः पचति पच्यते तण्डुल इत्यादि सामानाधिकरण्यादाख्यातस्य कर्तृकर्मवाचकत्वम् । न चेदमसिद्धम् । अन्यस्मिन् पचति देवदत्तः पचतीत्यप्रयोगेण तस्यानुभवसिद्धस्य विना हेतुं कर्तृवाच्यत्वभीत्यैवापलापायोगात् । त्वं पचसीत्यादौ युष्मच्छब्दसामानाधिकरण्यस्यानुभवमनुसरता सूत्रकृतानूद्य तदनुसारेण पुरुषव्यवस्थाया युष्मद्युपपदे सामानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः इत्यादिना कृतत्वाच्च । अन्यथा नीलो घटः देवदत्तः पक्ता ऐन्द्रं दधि चित्रगुर्देवदत्तः पिङ्गाक्षी गौः स्तोकं पचति ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यादावपि तदपलापापत्तौ बहु व्याकुलीस्यात् । न च पदार्थानामभेदबोधे समानविभक्तिमत्पदोपस्थाप्यत्वं तत्र तच्चात्र नास्तीति कारणबाधान्न सामानाधिकरण्यमिति वाच्यम् । राज्ञः सुतस्य धनमित्यादावतिप्रसक्तत्वेन राजपुरुषः धान्येन धनी स्तोकं पचति ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यादावप्रसक्तेश्चास्यातन्नत्वात् । अथ विरुद्धार्थकविभक्तिराहित्यं तन्नम् । सुसिद्धोश्च न विरोधः । एवं च विशेष्यतासंबन्धेनाभेदसंबन्धकतन्नामार्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति तन्नामोत्तरसार्थकविभक्त्युपस्थित्यं कालिकर्तृनामसमभिव्याहृतपदजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावः फलितः । स्तोकमित्यादौ द्वितीयात्वभेदार्था साधुत्वमात्रार्था वा । यद्वा विरुद्धरूपेणानुपस्थितिस्तत्र तन्नमिति चेत् तर्हि देवदत्तः पचतीत्यत्राप्यभेदबोधो दुर्वार इति सिद्धं नः समीहितम् । आख्यातरस्य शक्तिर्कल्पना च कृतां कर्तृशक्त्या तुल्या परं त्वाख्यातार्थभावनप्रकारकबोधे प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणमिति नैयायिकोक्तकार्यकारणभावान्तरस्य भावनाविशेष्यककर्तृविशेषणकबोधार्थं मीमांसकीयस्य च तस्याकल्पनाल्लाघवमस्माकमतिरिच्यते । एतेन भिन्नाभ्यां धर्माभ्यामेकधर्मिबोधकत्वलक्षणं सामानाधिकरण्यमसिद्धम् । संभवदन्यादृशं तु न वार्यत इति मन्दप्रतारणमपास्तम् । अथास्तु सामाना-

१ संभवेऽन्यन्यगत्या Tr. २ K. has वाच्यत्वे before तृतीयेत्याश्रीयत इति. ३ त्यप्रयोगात् T. ४ करण्यानुभव D. ५ रयादिति T. ६ श्रस्य तन्नत्वात् K. ७ विरुद्धार्थे विभक्ति T. ८ संबन्धकं नामार्थ T. ९ त्यकालीन T. १० तन्नामोत्तरविभक्तिविजातीयसुवसमभिव्याहृत Tr. ११ कल्पनापि Tr. १२ पस्थिते कारण T. १३ बोधे च मीमांसकोक्तस्य चाकल्पनात् T. १४ मीमांसकप्रतारण T.

धिकरणं किं तु भावनाक्षिसंकेर्त्रा भविष्यतीत्यसकृद्वास्तिक एवोद्धोषितमिति चेन्न । आक्षेपो हि यद्वाख्यातार्थभावनयानुमानं तर्हि धूमोऽयं ज्वलतीत्यादा-
विव तदसंभव एव । मैत्रादिपदयोगे तदसंभवाच्च । लक्षणा चेत्तर्हि पिङ्गाक्ष्या-
दियौगिकेष्वपि द्रव्यवाचित्वं न स्यात् । मूलयुक्तेः सामानाधिकरण्यस्योक्तरी-
त्यैवोपपत्तेः । द्रव्यवाचकत्वसाधकान्तरस्य चाभावात् । प्रत्युत संबन्धादिगुणवा-
चित्वे एव साधकमुपलभ्यते । तथा हि घटपदात् घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकबो-
धवद्दण्डी इत्यादौ दण्डसंबन्धवानिति प्रतीतिः सर्वसिद्धा । तत्राकृत्यधिकरण-
न्यायेन निष्कृष्टघटत्ववत् संबन्धमात्रं वाच्यं स्यात् । किं च तदस्यास्त्यस्मिन्निति
मतुप् सास्य देवतेत्यादावस्येत्यर्थे मतुबादिविधानम् । अस्येत्यत्र प्रत्ययार्थत्वात्
संसर्गः प्रधानमिति तत्रैव तेषां विधिः स्यात् । तथा च मतुबर्थे विहितबहुव्री-
हेरपि स एव वाच्यः स्यात् । उक्तं चारुणाधिकरणवार्तिके

‘बहुव्रीहिः समासोऽयं मतुबर्थे विधीयते ।

अस्यात्रेति च संबन्धे मत्वर्थीयः प्रवर्त्तते ॥’

इति । युक्तं चैतत् । अत एव देवदत्तस्य गोमत्त्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य संसर्गबो-
धकत्वं संगच्छते । घटत्वमित्यादौ पदार्थभूतघटत्वबोधकत्ववत् । न च प्रकृ-
तिजन्यबोधप्रकारस्त्वप्रत्ययार्थः संसर्गस्तु विशेष्यः तथा च कथं त्वार्थ इति
वाच्यम् । आकृत्यधिकरणन्यायेन घटत्वस्यैव वाच्यत्वात् तत्रैवोपपत्तेः । आक्षे-
पितव्यक्तौ तस्य प्रकारकत्वं चात्रापि समम् । उक्तं च । ‘यदि मतुपा संबन्धो-
ऽभिहितस्ततः प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं ब्रूते इति गोमत्प्रातिपदिकादुत्पन्नो भावप्र-
त्ययः संबन्धमभिधातुमर्हति नान्यथेत्यादिना । प्रतीयते च सर्वत्र संबन्धः पाच-
कत्वं पाठकत्वमौपगवत्वमित्यादिषु’ इति । किं च एकहायन्यादिशब्दविग्रहेऽप्येकं
हायनमस्याः चित्रा गावो यस्य विश्वे देवा देवता अस्येत्यादौ प्रत्ययार्थसंबन्धप्र-
धान्येन विवरणदर्शनात्तस्यैव वृत्तिवाच्यत्वमवसीयते । उक्तं च ।

‘यस्मिन्नन्यपदार्थे च बहुव्रीहिविधीयते ।

तत्रापि प्रत्ययार्थत्वात् संबन्धस्य प्रधानता ॥’

इति । न च गोमानित्यादौ संबन्धिप्रतीतिर्न स्यादिति शङ्क्यम् । उभया-
श्रितेन संबन्धेर्नाक्षेपात्तदुपपत्तेः । तत्र कर्तृवत् संबन्धवच्चेति यत्तु । मतुबादेर्न

१ °कर्ता T. २ भविष्यतीति वार्तिक एवासकृदुद्धोषित° T. ३ आख्यातार्थ° T.
४ °पदप्रयोगे T., Tr. ५ तस्यासंभवाच्च T. ६ °साध्यान्तरस्य T. ७ °करणे वार्तिके
T. ८ D., drops च. ९ संबन्धप्रतीतिर्न T. १० °नाक्षेपादुपपत्तेः T.

संबन्धसामान्यं वाच्यम् । पर्यायतापत्तेः । न विशेषः । स हि संबन्धिरूप एव ।
सोऽपि नानभिहितः शक्नोति तं व्यावर्त्तयितुमतः सोऽप्यभिधातव्यः । तथा च
गोरूपस्यैकस्य संबन्धिनः प्रातिपदिकादुक्तत्वेऽपि संबन्धस्योभयनिरूप्यत्वात्
सोऽप्यभिधातव्यः संबन्धश्चेति शक्तिद्वयकल्पनापात्तिरित्यतिगौरवम् । आवश्यक-
संबन्धिनैवाक्षेपात् तद्बोधोपपत्तावन्यलभ्यत्वं च । उक्तं च ।

‘सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते ।

न हि संबन्धवाच्यत्वं संभवत्यतिगौरवात् ॥’

किं च

‘संबन्धिनैव संबन्धः प्रत्येतुं यदि शक्यते ।

पुनस्तस्याभिधाशक्तिः कः श्रुतेः परिकल्पयेत् ॥’

इति । किं च

‘विभक्तिवाच्यरूपेण संबन्धो नावगम्यते ।

रूपान्तरेण वक्तव्य इति नास्ति च लक्षणम् ॥’

षष्ठ्यादिभिर्ह्यसत्त्वभूतः संबन्धोऽभिधीयते न तथा मत्वर्थीयेन सत्त्वभूतसं-
बन्धवाच्यत्वे च न प्रमाणम् । तस्मादनुशासनत्यागावश्यकत्वे त्वर्थाक्षिप्त एव स
इति । यत्तु भावप्रत्ययः संबन्धं न वदेदिति तन्न ।

‘यदा स्वसमवेतोऽत्र वाच्यो नास्ति गुणोऽपरः ।

तदा गत्यन्तराभावात् संबन्धो वाच्य आश्रितः ॥’

गोमत्पदे हि गावो मतुबर्थे विशेषणम् । तासां पुरुषावृत्तिवाज्ज त्वप्रत्ययेन
ग्रहणम् । तस्य समवेतगुणाभिधायकत्वात् । तथा चागत्यार्थप्राप्तसंबन्धाभिधाय-
कस्त्वप्रत्यय इत्याश्रीयते । यदप्येकं हायनमस्या इति विग्रहे संबन्धप्राधान्यदर्श-
नात् तस्य समासार्थतेति । तत्रोच्यते ।

‘अभिधेयो बहुव्रीहेर्यद्यप्यस्येति कथ्यते ।

तथापि प्रथमान्तेन तुल्योऽसौ संग्रहीयते ॥’

तथा चार्थदर्शनानुसारेण चित्राणां गवामयमित्येव विग्रहो द्रष्टव्य इति स्थितं
वार्तिके । तच्चिन्त्यम् । द्रव्यमपि न सामान्यतोऽभिधेयम् । पर्यायतापत्तेस्तुल्य-

१ न च विशेषः D₉; T. drops n. २ बोधोपपत्तां T. ३ स्वसत्त्वभूतः Tr. ४ मत्व-
र्थेन D₉. ५ तुल्यो नूनं प्रतीयते T. ६ वर्णनानुसारेण T. ७ वार्तिके स्थितम् T.;
स्थितं वार्तिकम् D₉. ८ न द्रव्यमपि सामान्यतोऽभिधेयम् T.

त्वात् । न विशेषतः । स हि संसर्गः प्रातिपदिकार्थो वा । आद्ये अप्रतीतस्यान-
भिहितस्य विशेषकत्वासंभवाद्वाच्यत्वापत्तिः । द्वितीयपक्षः संसर्गवादिनोऽपि
तुल्यः । संसर्गेऽपि गवां व्यावर्तकतया विशेषणत्वसंभवात् । तथा च गोविशिष्ट
इतिवद्गोसंबन्ध इति बोधः संभवत्येव । उभयनिरूप्यः संबन्ध उभयबोधं विना
कथं बुध्यतामिति चेन्न । संबन्धप्रत्यक्षे हि यावत्संबन्धिप्रत्यक्षं कारणम् । न तु
शाब्दे गोसंबन्ध इति वाक्याद्गोधानापत्तेः । तर्हि गोसंबन्ध इति वाक्यवदा-
श्रयाक्षेपनियमो न स्यादिति चेन्न । षष्ठ्यर्थे विहितमनुवादेर्ह्यसत्त्वभूत एव संब-
न्धोऽभिधेयः । अत एव संबन्धानामनेकत्वे तुल्यलिङ्गत्वेऽपि च दण्डीत्येकव-
चनं दण्डी दण्डि दण्डिनीत्यादिलिङ्गभेदप्रयोगश्चोपपद्यते । संबन्धिनां
तथाविधत्वं एव तादृशप्रयोगाणां दर्शनात् । एवं च संबन्धे लिङ्गसंख्यान्वया-
संभवादन्वयानुपपन्नलिङ्गसंख्यादिभिरेवाक्षेपः संबन्धिन आख्यातसंख्येय-
कर्त्रादेः । यद्वा भावनाशब्दोपात्तभावनायाः कर्त्राक्षेपकत्वेऽप्याख्यातोपात्ताया
असत्त्वभूतत्वेन तदाक्षेपकत्ववत् संबन्धपदोपात्तसंबन्धस्य संबन्ध्यनाक्षेपकत्वे-
ऽपि मनुबुपात्तस्य संबन्धस्यापि तत् स्यात् । अत एव विभक्तिवाच्यरूपेणेति
प्रागुक्तमपास्तम् । तैथानवगत्यसिद्धेः । किं च लिङ्गसंख्यान्वयित्वमसत्त्वभूतत्वं
षष्ठ्यादावर्थसिद्धम् । प्रत्ययार्थलिङ्गसंख्यादेः प्रत्ययार्थ एवान्वयसंभवात् । सुपां
प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेश्च । एवं च नासत्त्वभूतत्वं षष्ठ्या वाच्य-
मिति विभक्तिवाच्यरूपेणेति रिक्तं वचः । तस्मात् संबन्धवाच्यत्वे दोषाभावा-
दनुशासनाद्यनुरोधेन तस्य वाच्यत्वसिद्धेः ।

‘संबन्धेनैव संबन्धी प्रत्येतुं यदि शक्यते ।

पुनस्तस्याभिधाशक्तिः कः श्रुतेः परिकल्पयेत् ॥’

इति गाथा मयापि सुपठा । यत्तु भावप्रत्ययस्य समवेतगुणग्राहकत्वनियम
इत्यादि तन्न । घटादिपदेऽपि घटत्वस्यैवाकृत्यधिकरणन्यायेन वाच्यत्वस्वीकारेण
तदनुरोधेन भावप्रत्ययस्य प्रकृत्यर्थवाचकत्वस्वीकारस्यैव लाघवाद्बुचितत्वात्
संबन्धस्य प्रकृत्यर्थतानङ्गीकारे त्वार्थत्वानापत्तेरपरिहारात् । प्रकृत्यर्थसमवेतवा-
चकत्वस्वीकारेऽतिगौरवापत्तेः । उक्तन्यायेन घटत्वस्यैव घटपदोत्तरत्वार्थताप-

१ विशेषः T. २ ननूमप° T. ३ T. drops दण्डी. ४ त्पादौ लिङ्ग° D. ५ संख्यैव T.
६ संबन्धस्यानाक्षेपकत्वेऽपि T. ७ तथा च गत्यसिद्धेः D. ८ तत्रैवान्वय° T. ९ कुत-
स्तस्या° T. १० स्वीकारे हि गौरवा° T. ११ घटत्वस्यैव T.; घटपदत्वस्यैव D.

सेश्च । प्रकृत्यर्थमात्रवाचकत्वे वैयर्थ्यापत्तिः प्रकृत्यैवार्थोपस्थितिसिद्धेरिति चेन्न । प्रकृत्याभिधानेऽपि घटत्वादेराक्षिसद्रव्ये विशेषणत्वेनैव तैत उपस्थितत्वेन प्राधान्येन बोधार्थं पुनरुच्यत इत्युपपत्तेः । प्रकृतिप्रत्ययौ सहाय्यमिति न्यायेन स्वार्थत्वे विशेष्यत्वस्य न्यायसिद्धत्वात् । किं चैवं घटादिपदे द्रव्यत्वादेर्दण्डीत्यादौ पुरुषगतरूपादेश्च तदुत्तरत्वाद्यर्थतापत्तिर्द्रव्यत्वादिकं घटपदजन्यप्रतीतौ न प्रकार इति चेदाक्षेपपक्षे संसर्गोऽपि न प्रकार इति तुल्यम् । वक्ष्यते चैतदुपरिष्ठात् । चित्राणां गवामयमिति विग्रह इत्यादिकं च स्फुटतरं समासशक्तौ निराकरिष्यते । तस्मादुक्तयुक्तिभिः संसर्ग एव वाच्यो मतुबादेः स्यादिति तदर्थविहितबहुव्रीहेरपि तन्मात्रवाचकत्वे अहणाधिकरणं दत्तजलाञ्जलि स्यात् पूर्वपक्षस्यैवासंभवादिति समासशक्तौ वक्ष्यामः । प्रस्थितं च गुणाधिकरणेन । तद्वित्तस्य द्रव्यानभिधायकत्वे वाजिनामिक्षयोर्वाक्यविनियोज्यत्वसाम्यात् । न च तद्वित्तार्थसंबन्धाक्षिसद्रव्यविधिरेव श्रौतो वाजिनं च न तथेति वाच्यम् । एवं ज्ञाख्याते कर्तुराक्षेपावश्यकत्वेन नानृतमिति निषेधस्यापि श्रुत्या पुरुषार्थत्वसंभवेन कर्तुरवाच्यत्वसाधनायासवैयर्थ्यापत्तेः सिद्धान्तसिद्धयसंभवेन कर्त्रधिकरणोच्छेदप्रसङ्गाच्च । यत्तु प्राधान्येन प्रतीयमानत्वमेव शब्दवाच्यत्वे बीजम् । तच्चाख्यातेषु भावनाया यौगिकेषु द्रव्याणामेवास्ति न तु कर्तृसंबन्धादेः । घटरूपादिपदेषु च जातिगुणयोरपि तदस्येव । 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति निरुक्तस्मृतेररूपाधिकरण एव तृतीयार्थसंख्यादेर्गुणेऽन्वयप्रतिपादनेन तुल्यतया जातिगुणयोः संख्यान्वयित्वरूपसत्त्वभूतत्वात् प्राधान्यसिद्धेस्तृतीयान्तपदेषु जातावेव लिङ्गसंख्यान्वयाभ्युपगमात् । तथा च तादृशेष्वेव प्राधान्यसाम्ये आकृत्यधिकरणं शक्यविशेषनियामकमावश्यकमेवेति न तद्वानिरपीति । तत्तुच्छम् । तृतीयान्ते यौगिकार्थसंबन्धस्यापि सत्त्वभूतताया गुणतुल्यतया दुर्वारत्वात् प्राधान्यादाकृत्यधिकरणन्यायेन वाच्यतापत्तेरिति । तस्माद्वैश्वदेव्यामिक्षा पिङ्गाक्षी गौर्दण्डी देवदत्तः पांचको देवदत्त इति सामानाधिकरण्यस्य विनैवानुपपत्तिप्रतिसंधानं शब्दादेव प्रतीतेस्तदनुसारेण द्रव्यवाचित्वमास्थेयम् । तच्च सममाख्यातेऽपीति कर्तृकर्मवर्चकत्वमवर्जनीयमेवेति । अत एव चित्रा

१ ननु प्रकृत्यर्थं K. २ °द्रव्यविशेषणत्वेनैव T. ३ तदुपस्थितत्वेन T. ४ विशेष्यत्वस्यान्यायं K. ५ द्रव्यत्वादिकं तु घटं T. ६ विग्रहादिकं T. ७ तदर्थं विहितं D_१. ८ वाजिने Tr. ९ D_१ drops n. १० नानृतं वदेदिति T. ११ पांचको देवदत्तः is dropped in K. and T. १२ 'वाचित्वं' T.

गावो यस्येति संबन्धप्राधान्यदर्शनेऽपि चित्रगुर्देवदत्त इति समासे सामानाधिकरण्यानुरोधाद् द्रव्यवाचित्वं विग्रहसमासयोरेतदंशे वैलक्षण्यं चाश्रीयत इति वक्ष्यते । अथैवं नीलो घट इति सामानाधिकरण्यानुरोधात् घटादिपदानामपि द्रव्यवाचकत्वे आकृत्यधिकरणविरोधः । मैवम् । घटादिपदे हि घटत्वस्य वृत्त्यविषयत्वे शाब्दे भानायोगात् घटत्वांशे वृत्तिकल्पनावश्यकत्वेनागृहीतविशेषणन्यायेन जातिमात्रवाचित्वसिद्धौ द्रव्यमाक्षिप्यत इति युक्तम् । प्रकृते च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकस्यैव प्रकृतिशक्त्योपस्थितत्वात् तदुपलक्षणीकृत्य शक्तौ दोषाभावाद् द्रव्यवाचित्वमास्थीयते । उक्तं च ।

‘आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम् ।

शब्दः सुकरसंबन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥’

इति । यदि च घटादिपदेऽप्युपलक्षणत्वमभ्युपेयते तदा केवलव्यक्तित्वाच्चैवत्वमपि सुंगममेवेति वक्ष्यते । एवं च केवलव्यक्तित्वाच्चैवत्वपक्षमाश्रित्य सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमिति सिद्धान्तरीत्यापि द्रष्टव्यम् । वस्तुतो गोमानित्यत्र गोसंबन्धीति बोधात् संबन्धी वाच्यः । वाच्यतावच्छेदकः संसर्गः संबन्धत्वं परम्परयोपलक्षणं तदादौ बुद्धिविशेषवत् । न च तच्छाब्दे विषयो येन घटत्वप्रतिबन्दी स्यात् । संबन्धप्रकारकबोधस्यैवानुभवसिद्धत्वात् । अत एव दण्डित्वमित्यादौ त्वप्रत्ययस्य संबन्धबोधकत्वं संगच्छत इति । न च कर्तृकर्मादिवाचकशब्दानां शक्तिवाचकत्वादेवदत्तादिपदैः सामानाधिकरण्यासंभव एवेत्यसिद्धो हेतुरिति वाच्यम् । शक्तिमत्कारकमिति पक्षाश्रयणेन शक्तिमतामेव कर्त्रादिपदवाच्यत्वात् । अत एव देवदत्तः कर्ता कारकः कर्म इति सामानाधिकरण्यं संगच्छते । उक्तं च साक्षात् सूत्रकृतैव शुष्मदस्मदादिशब्दसामानाधिकरण्यमुद्वह्निं सूत्रादिषु । तैथोक्तं च भाष्ये—

‘सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।’

इति । अत एवाश्रये त्विति मूलमपि न लः कर्मणीति सूत्रविरुद्धम् । अन्यथा कर्तरि कृदित्यनुशासनाच्छानजादेः शक्तिमात्रवाचकत्वे सामानाधिकरण्यापलापापत्तेश्च । ‘नित्याः षड् व्यक्तयोऽन्येषाम्’ इति वाक्यपदीयेऽन्यमतत्वेनैव

१ सामानाधिकरण्यात् D₂. २ द्रव्यमात्रमाक्षिप्यत T. ३ वाचित्वमपि T. ४ सुसंगतमेवेति K., D. ५ वाच्यत्वपक्षं चाश्रित्य D. ६ इति दिक् D₂. ७ तथा चोक्तं भाष्ये T. ८ वाक्यपदीये त्वन्यतमं D.

शक्तिपक्षोत्थापनात् तत्पक्षस्य सिद्धान्तासंमतत्वाच्च । धातुनोक्तक्रिये नित्यमित्यादि-
 वक्ष्यमाणवाक्यपदीयादिभिर्भावनाश्रयत्वस्य कर्तृत्वेन फलाश्रयत्वस्य कर्मत्वेन
 प्रतीतिः स्वातन्त्र्येण शक्तिप्रत्ययस्यैवासिद्धेश्च । न चैवमाश्रये त्विति मूलं सूत्रविरुद्धं
 स्यात् । सूत्रे कर्तृत्वकर्मत्वाभ्यां वाच्यत्वावगमात् । न च भावनांशस्य धातु-
 लभ्यत्वादाश्रय इत्येव सूत्रस्य भावार्थ इति वाच्यम् । अन्यवाच्यस्यापि तथात्वस्य
 त्वयैवोपपादनात् । अवाच्यत्वेऽपि वाच्यतावच्छेदकत्वस्याकारणत्वेऽपि कारण-
 तावच्छेदकत्ववदलक्ष्यत्वेऽपि लक्ष्यतावच्छेदकत्ववत् सुलभत्वाच्चेति शङ्क्यम् ।
 भावनाया वाच्यतावच्छेदकत्वेऽनन्तपदार्थेषु शक्यतावच्छेदकत्वापत्तौ गौरवात् ।
 आश्रयत्वस्य चाखण्डशक्तिरूपत्वात् । तस्मादेवदत्तः पचति पच्यते तण्डुल
 इति सामानाधिकरण्यात् कर्तृकर्मणी वाच्ये एवेति सिद्धम् । अपि च पचतीत्यत्र
 व्यापारस्येव कर्तुरपि प्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धा । अत एव पचतीत्येव श्रुते कः
 कीदृशः किंजातीय इति प्रश्नश्चैत्रो घनश्यामो ब्राह्मण इत्युत्तरं च संगच्छते । तथा च
 प्रतीतिः पाकानुकूलकृतिमान् पचतीति पाचक इति विवरणाच्च शक्तिपरिच्छेदात्
 कर्तृकर्मणी वाच्ये एव । अन्यथा भावनापि वाच्या न स्यात् । कर्तृकर्मणोर्भा-
 वनयैवाक्षेपसंभवेनान्यलभ्यत्वाच्च तयोर्वाच्यत्वमिति चेन्न । कर्तृकर्मभ्यां कृदादा-
 विव भावनाया एवाक्षेपसंभवादस्तु तयोरेव वाच्यत्वं मास्तु च भावनाया इत्य-
 स्याप्यापत्तेः । विवेचितं चैतदधस्तात् । एतेन कर्तृकर्मणोर्विवरणं तात्पर्यार्थविव-
 रणम् । बोधविवरणयोर्युत्पत्त्यनुसारित्वेनार्थनिर्णायकत्वं वा पाकमित्यशब्दार्थक-
 र्मेत्वविवरणवदुपपद्यत एवैतदपीति वा इतरेतरद्वन्द्वे सौहित्यविवरणवद्वा नार्थ-
 निर्णायकतेत्यादिकमपास्तम् । एवं च तुल्ययुक्त्या कर्तृकर्मणोर्वाच्यत्वमावश्य-
 कमेवेति दिगिति विभावयामः । लः कर्मणीत्यस्य कालसंख्याभावनापुरस्कारेण
 प्रवृत्तौ विध्यादौ कृदादौ तद्वाच्यत्वापत्तेर्भावनाया धातुलभ्यत्वाच्चेत्यतः कर्त्रा-
 दिपुरस्कारेण प्रवृत्तौ तदादेशत्वाच्छानजादिवत् तिङ्शैतदर्थकत्वं दुर्वारमित्यपि
 वदन्ति । भावतिङ्गां धात्वर्थानुवादकमात्रत्वाच्च तदर्थोऽत्र वर्णितः । अथैवं
 लडादिभिस्तत्र वर्तमानत्वं न बोध्यतेति चेन्न । तस्य धात्वर्थव्यापारविशेषणतया
 तिङो द्योतकत्वात् । वाचकत्वपक्षेऽप्यगत्यानुभवानुरोधेन विधायकवचनेन च
 तथा स्वीकारात् । अथैवं कथं तत्र संख्याप्रत्ययोऽपीति चेन्न । तस्या उत्सर्गल-
 भ्यत्वात् । तथा हि । भावलकारे हि संख्यान्वयिकर्तृकर्मणोरप्रतीतिस्तत्रत्या

१ वाच्यतावच्छेदकत्वेनान्त° K. २ समुच्चयांशविवरण° D_१. ३ °स्तदर्थवत्त्वं D_१, D_२.
 ४ °नुवादकत्वमात्र° Tr. ५ °नुभवविरोधेन T. ६ विधायकवचनेन K.

संख्यानन्वितैव । न च भावनायामेव तदन्वयोऽस्त्विति शङ्क्यम् । तस्या लिङ्ग-
संख्यानवयायोग्यत्वेनैव धातुनोपस्थापनात् । एतदेवासत्त्वभूतत्वम् । न च
भावतिङ्गर्थसंख्याभावनयोर्धात्वर्थ एवान्वय इति कुसुमाञ्जलावुक्तं युक्तम् ।
धात्वर्थबहुत्वे मैत्रेण स्थीयते सुप्यत इत्याद्यनापत्तेर्बहुवचनापत्तेश्च । बहुषु
बहुवचनमित्यनुशासनस्यावर्जनीयत्वात् । अन्यथैकवचनमपि न स्यात् । तथा
च संख्यानन्वये साधुत्वमात्राय प्रत्ययाभिधाने प्राप्ते प्रथमोपस्थितत्वादेकवचन-
मेव कल्प्यते । अख्यानानामसंख्यत्वेन तदनुरोधेन भाष्ये तथैव व्यवस्थितेः ।
अथवा द्विबहोर्द्विवचनबहुवचने भवत इत्यर्थः । यत्र च न तयोर्विवक्षा तत्र
साधुत्वार्थमेकवचनं भवति न त्वेकत्वादिविवक्षापेक्षा । एवं च प्रकृतेऽप्येकत्वा-
दिविवक्षाविरहेऽपि साधुत्वार्थमेकवचनमुपपद्यत इति न कश्चिद्दोषः । उट्टासिका
आस्यन्ते हतशायिकाः शस्यन्ते इत्यत्र भौवे बहुवचनश्रवणं कथमिति चेत्
सत्यम् । भाष्यकारवचनादत्रैव बहुवचनं साध्विति हि प्रामाणिकाः । तिङ् इति ।
आदेशिनोऽर्थेनार्थवत्त्वमादायेदं बोधकत्वं शक्तिरित्यभिप्रायेण वा । निरूपितस्थले
विशेषणविशेष्यभावं व्युत्पादयति । फले इत्यादि । फले विक्रित्यादौ । प्रधानं
विशेष्यः । विक्रित्तिर्व्यापारे विशेषणमित्यर्थः । तिङ्ार्थाः कर्तृकर्मसंख्याकालाः ।
तत्रापि कर्तृकर्मणी व्यापारफलयोर्विशेषणे संख्या तु अनयोः । कालस्तु व्यापारे
एव । तथैवानुभवात् । कर्तृकर्मणोः समानपदोपात्तत्वेनान्तरङ्गत्वेनान्वये तु
पचतीत्यादौ तयोरेव वर्तमानत्वप्रत्ययः स्यात् न च तथा कस्यचिदनुभव इति
वदन्ति । वस्तुतो वर्तमाने लङित्यत्राधिकाराद्धातोर्ल्येव लभ्यते तत्र आतोर्वर्त-
मानत्वं न तदानीं विवक्षितमिति तदर्थस्य बाध्यम् । तदर्थोऽपि प्राधान्याद्ध्यापार
एव गृह्यत इति न कर्तृकर्मफलेषु तदन्वयः । जानातीत्यत्रापि ज्ञानस्यैव फलानु-
कूलव्यापारत्वेन तत्रैव तदन्वयः । कर्तृकर्मणोरन्वये चातीतक्रिये कर्तरि पचती-
स्यापत्तेः । अपाक्षीदित्यनापत्तेश्च । इतोऽपि व्यापारवर्तमानदशायां विक्रित्या-
दिरूपफलस्य भावित्वात् पक्ष्यतीति प्रयोगापत्तेः पचतीत्यनापत्तेश्च न फलेऽप्य-
न्वयः । एतेन धात्वर्थे एव वर्तमानत्वान्वयो न तु व्यापारे आसत्वात्तज्जडकृत-
कलेवरस्योत्थानानुकूलयत्नसत्त्वेनोत्तिष्ठतीति प्रयोगापत्तेरिति सिद्धान्तलेखो-

१ कल्पते Tr., D₂. २ अन्वयानां T. ३ भावे च बहु° D₁. ४ Tr. and T.
omit सत्यम्. ५ तेन T. ६ तदा Tr. ७ बाध्यत्वम् D. ८ तदन्वयः Tr. ९ चाती-
तक्रियेऽपि D. १० व्यापारस्य वर्तमान° T., Tr. ११ प्रयोगापत्तेरिति D₂.

कमपास्तम् । धात्वर्थफलान्वये बाधकानामुक्तत्वात् । यदि च फलव्यापार-
 चोर्धात्वर्थत्वं स्वीकृत्य व्यापारो तदन्वयोऽभ्युपेयते तदास्मन्मतमेव सिद्धम् ।
 एवमपि चिरविनष्टेऽपि घटे नाशस्य विद्यमानत्वेन नश्यतीति प्रयोगापत्तिरित्युप-
 क्रान्तासिद्ध्यापत्तेश्च । व्यापारस्याविद्यमानत्वेन तथा प्रयोगासंभवात् । पच-
 तीत्यादौ पाकानुकूलकृतौ वर्तमानत्वान्वयानुभवविरोधाच्च । आमवातजडीकृत-
 यत्नश्च नोत्थानप्रयोजकः किं तु तदुद्देश्यक इति नातिप्रसङ्गः । अत एव तत्रो-
 त्थानाय यतते नोत्तिष्ठतीत्येव प्रयोगः । न चोत्थानं करोतीति प्रयोगः । मता-
 न्तरेऽपि यागपाकोद्देश्यककुण्डमण्डपतण्डुलक्रयणादियत्नव्यापारावादाय यागा-
 द्यर्थं यतत इतिवत् पाकयागादि करोतीति वा यजति पचतीति वा प्रयोगवार-
 णायाधःसन्तापनयत्नसाधारण्याय च प्रयोजकताविशेषस्यैव संबन्धस्याभ्युपे-
 यत्वात् । अतिप्रसक्तव्यापारादिव्यावृत्तमाख्यातशक्यतावच्छेदकमेव वदिष्याम
 इति चेत् तर्हि तदेवामवातीययत्नव्यावृत्तमास्त्विति दिक् । एवं गच्छत्यादेरप्यु-
 त्तरदेशसंयोगानुकूलः क्रियारूपो व्यापार एव धात्वर्थ इति तत्रैव वर्तमानत्वा-
 न्वयः । एवं त्यंजादेरप्यवधेयम् । इत्थं च पचति पच्यत इत्यत्रैकाश्रयकः पाका-
 नुकूलो वर्तमानो व्यापार इति बोधः । एकाश्रयिका या विक्लिप्तिस्तदनुकूला
 सांप्रतिकी भावनेति च । अत्र कर्मणः फलद्वारा व्यापारेऽन्वयः कर्मवाचक-
 तण्डुलादिपदसमभिव्याहारस्थले चाख्यातोपस्थापितकर्मणस्तण्डुलादिभिः सम-
 मभेदान्वयः । एवं कर्तृप्रत्ययस्थले कर्तर्यपि बोध्यम् । तथा च तण्डुलं पचति
 चैत्र इत्यत्रैकतण्डुलाश्रयिका या विक्लिप्तिस्तदनुकूलैकचैत्राभिन्नाश्रयिका वर्तमाना
 भावना । तण्डुलः पच्यते चैत्रेणेत्यत्र चैकचैत्राश्रयिका एकतण्डुलाभिन्नाश्रयिका
 या विक्लिप्तिस्तदनुकूला सांप्रतिकी भावनेति बोधः । नश्यतीत्यत्रापि व्यापार
 एव तदन्वयः स च प्रतियोगितासहितनाशसामग्री । अतस्तस्यां सत्यां नश्यत्य-
 तीतायां नष्ट इत्याद्युपपद्यते । जायत इत्यादिषड्भावविकारेषु नाशस्यापि
 गणितत्वादुत्पत्तिवत् सोऽपि चरमक्षणसंबन्ध एव तद्दशायां नश्यति तदत्यये नष्ट
 इत्यप्यत एव संगच्छत इत्यप्यप्यदीक्षिताः । नश्यति नष्टइत्यतिष्ठ
 प्रत्ययेन यथायथं वर्तमाना भविष्यत्यतीता चोत्पत्तिः प्रतियोगित्वं च लक्ष्यते ।

१ विनष्टे घटे D₂ २ जडीययत्न° K., D., D₂, D₂. ३ तण्डुल is dropped in
 D₂; Tr. has तण्डुल. ४ यागाद्यर्थे D₂. ५ त्यज्यादे° D., D₂. ६ विकृति° T.
 ७ तण्डुला° Tr. ८ विकृति° T. ९ इत्यप्यप्यदीक्षिताः T. १० इत्यादिप्रत्ययेन K.
 ११ भविष्यत्यतीता T., Tr.

तथा च तादृशोत्पत्तिमज्ञाशप्रतियोगीति बोधः । अत एव नाशस्य नित्यत्वात् सर्वदा नश्यति श्रो नश्यति पटादौ परश्वो न दृश्यति प्रपूर्वदिननष्टं पूर्वेषुनष्ट इत्यापत्तिर्निरस्तेति नैयायिकनव्याः । आकाशोऽस्तीत्यादौ चैकाकाशाभिर्ज्ञाश्रयकः स्वस्वरूपधारणानुकूलो वर्तमानो व्यापार इत्यादि स्वयमूह्यम् । नन्वत्र फलं न भावनायां विशेषणं विशेष्यतासंबन्धेन प्रकृत्यर्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति प्रत्यय-जन्योपस्थितेहेतुताया अन्यत्र कृतत्वात् । भावनायाश्च प्रत्ययार्थत्वाभावादिति चेत् मैवम् । धातुभिन्नप्रकृत्यर्थप्रकारकबोध एव तस्या हेतुत्वात् । फलव्यापार-योभिन्नशक्तिवादिभिर्नैयायिकनव्यादिभिरप्येवमेवाभ्युपेयत्वात् । तथापि धात्व-र्थप्राधान्ये किं मानमिति चेत् 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति निरुक्तवचनमेव । वस्तुतो बोधे व्युत्पत्तिग्रहः कारणं तथा च व्युत्पत्त्यनुसारेणैव बोधः । एवं आख्यातार्थकालकर्तृधात्वर्थफलप्रकारकशाब्दबोधे धातुजन्यभावनोपस्थितिर्वि-षयतया हेतुरिति कार्यकारणभावरूपाकाङ्क्षा वाच्येति न कश्चिद्दोषः । ननु भावनाफलंशविशेष्यास्तु प्रथमान्तार्थविशेषणं तु कुतो न स्यात् भावनाप्रकारक-शाब्दबोधं प्रति प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिहेतुरिति कार्यकारणभावस्य सुवच-त्वात् । न च 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति वचनविरोधः । आख्यातार्थभाव-नाया धात्वर्थे प्राधान्यमात्रस्य तदर्थत्वात् । अन्यथा 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति शेषवचनविरोधात् । एवं च पचतीत्यत्र पाकानुकूलकृतिमान् देवदत्त इति शाब्द-बोध इति नैयायिकाभ्युपगतमेव कथं नाभ्युपेयत इति चेत् मैवम् । एवं ह्याख्या-तार्थकर्तुरनन्वयापत्तेः । आख्यातप्रथमान्तार्थयोरभेदान्वयाभ्युपगमेऽपि पक्ता गच्छतीति वत् पचतिकल्पं गच्छतीत्यापत्तेः । ईषदसमाप्तपाककर्ता गच्छतीत्यन्व-यसंभवात् । सिद्धान्ते च क्रिययोः परस्परानन्वयाज्ञातिप्रसङ्गः । किं च पच-तिकल्पं पचतःकल्पं पचन्तिकल्पमित्यपि न स्यात् । सुबर्थसंख्यायाः प्रकृत्यर्थे प्रधाने कर्तर्येवान्वयात् । तद् द्वित्वबहुत्वाभ्यां द्विवचनाद्यापत्तेः । आचार्यक-ल्पावाचार्यकल्पा इतिवत् । सिद्धान्ते च भावनायाः संख्यान्वयायोग्यत्वात्

१ नदृश्यति T, D. २ प्रपूर्वदिने नष्टं K. ३ परेषुनष्टे T., Tr. ४ 'मित्राश्रयिकः D. ५ तस्य हेतुत्वात् D. ६ एवं च संख्यामित्राख्यातार्थं D.; एवं च कारकाख्यातार्थकर्तृ D. ७ कारणमिति T. ८ 'फलशे विशेष्यास्तु T. ९ नैयायि-काभ्युपगतशाब्दबोधः कथं Tr.; नैयायिकाभ्युपगम एव शाब्दबोधः कथं नाङ्गीक्रियत इति चेत् T. १० 'रमेदाभ्युपगमेऽपि K., D. ११ द्वित्वबहुत्वाभ्यां K.; तद्वित्तद्वित्वबहुत्वाभ्यां T.

संख्याया अत्रासावौत्सर्गिकमेकवचनमेवेत्युपपद्यते । अपि च नृत्यक्रियां पश्येत्-
भिप्रायेण नृत्यतीति प्रयुज्यमानं वाक्यमपि न सिध्येत् । किं च मुख्यतः प्रथ-
मान्तार्थस्य विशेष्यत्वाभ्युपगमे पश्य मृगो धावतीति भाष्याद्यभ्युपेतमेकं वाक्यं
न स्यात् । प्रथमान्तार्थमृगस्य धावनक्रियाविशेष्यत्वात् तस्यैव दृशिक्रियाया-
मन्वये कर्मत्वाद् द्वितीयापत्तेः । न च सत्यां द्वितीयायामप्रथमासमानाधिक-
रणत्वाच्छानजं दुर्वार इति वाच्यम् । एवमपि द्वितीयाया दुर्वारत्वात् । एवं
चैतादृशवाक्याभाव एव स्यात् । किं चापाक्षीदेवदत्तोऽवेहीत्यत्र शत्रादेः प्रसङ्गा-
भावादेवदत्तमिति द्वितीया दुर्वारैव । न चात्र प्राक् तमिति कर्माध्याहर्तव्यम् ।
उक्तधावनक्रियाविशेष्यस्य दर्शनकर्मतयान्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात् कर्मा-
ध्याहारे तदसंभवापत्तेस्तं पश्येति वाक्यभेदापत्तेश्च । एकवाक्यत्वे भाष्यकारा-
दिभिः साधुत्वकथनात् । तस्मात् क्रियाया एव कर्मत्वेनान्वयस्तद्वाचकश्च धातुर्न
प्रातिपदिकमतो न द्वितीया । तथा च धात्वर्थभावनाप्रकारकशाब्दबोधं प्रति
कुञ्जच्योपस्थितिवर्द्धातुजन्यभावनोपस्थितिरपि कारणं कल्प्यते । अत एव
पक्त्वा व्रजतीत्यादौ पाकक्रिया व्रजनक्रियायां सामानाधिकरण्योत्तरकालादिसं-
बन्धेन विशेषणमतस्तद्धाभे क्त्वादेर्भावे विधानं संगच्छत इति वक्ष्यत इति दिक् ।

तत्राश्रयस्य क फलेऽन्वयः क च व्यापार इत्युपोद्धातसंगत्या निरूपयति—

फलव्यापारयोस्तत्र फले तद्व्यक्चिणादयः ।

व्यापारे शप्श्रमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम् ॥ ३ ॥

तङादयः फले आश्रयान्वयं द्योतयन्ति शबादयस्तु व्यापारे । अथ शबादयो
न द्योतकाः किं तु वाचका एव लकारविधानस्य तत्तदर्थपुरस्कारेणैव कर्तरि
शैबिति शैपोऽपि तत्तदर्थपुरस्कारेणैव विधानात् । तस्माच्छबेव वाचको लका-
रस्तु द्योतक इति वैपरीत्यं किं न स्यादिति । यत्वाशीलिङि लिटि चादादिषु
जुहोत्यादिषु च शबाद्यभावात् तत्तत्प्रतीतिर्न स्यादतो लकार एव वाचको युक्त
इति तत्र । तिङामभावेऽपि शबादिसंनिधानमात्रादर्शोऽस्यकारि गच्छेत्यादौ

१ 'मेवोपपद्यते K. २ पश्य नृत्यतीति T. ३ विशेष्यताभ्यु° D. ४ 'मेकवाक्यं K., T.
५ 'विशेष्यत्वाभ्युपगमे तस्यैव K. ६ सामानाधिकरण्याच्छानजं दुर्वार T. ७ शता for
शानच् K. ८ Tr. omits वाच्यम्. ९ Tr. has प्राकृतमिति for प्राक् तमिति.
१० तद्वाचकधातुर्न T. ११ 'द्राजुज्योपस्थिति° T. १२ वा T. १३ शक्तिपादिना D.
१४ शबादेरपि T.; D. १५ वाच्यकारि Tr.

तत्प्रतीतेस्तवाप्युक्तदोषतादवस्थ्यादिति चेन्मैवम् । अत्र लुप्तं स्मृतं बोधक-
मिति परमते शिष्यमाणं लुप्यमानार्थाभिधायीत्यस्मन्मते च समाधानस्य सुकर-
त्वात् । यद्वा कर्तरि शबित्यत्र सार्वधातुक इत्यनुवर्त्य कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे
धातोः शप् स्यादित्यर्थस्तथा च सार्वधातुकस्य कर्त्रर्थत्वावश्यकत्वे शबादीनां
द्योतकत्वमात्रं कल्प्यते लाघवादिति । एवं यगादावप्युह्यम् । तद् परस्मैपदिभ्य
एवोत्पन्न उपसर्गादिप्रयुक्तो न चेत् । अत एव एधते निविशते इत्यादिव्यावृत्तिः ।
आदिना चिण्वदिद् यथा कारिष्यते घट इत्यादौ । कुपिरञ्जोः प्राचां श्यञ्जिति
इयन् परस्मैपदे च द्योतके । यथा कर्मस्थभावकेषु रज्यति घटः स्वयमेवेत्यादौ ।
लिङादावप्येवंरीत्या प्रकरणाद्येव द्योतकमिति । एतेनाख्यातस्य कर्तृकर्मभावेषु
शक्तौ पचतीत्यादौ सर्वत्रैव भावनावत् कर्तृकर्मभावानां प्रत्ययापत्तिः शक्तिसत्त्वा-
दिति निरस्तम् । यगादेस्तात्पर्यग्राहकत्वकथनादिति ध्येयम् ॥

नन्वेवं 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इत्यादौ 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः'
इत्यादौ च व्यभिचारः कर्माविवक्षायां कर्तरि लकारे सति कर्मवत् कर्मणा
तुल्यक्रिय इत्यनेन यगात्स्मनेपदचिण्वचिण्वदितामतिदेशेन यगादिसत्त्वेऽप्याश्रयस्य
फलेऽनन्वयात् । अबोधीत्यत्रापि बुध्यतेः कर्तरि लुङ् दीपजनेत्यादिना चिण्
चिणो लुगिति तस्य लुक् इत्यभ्युपगमेऽपि फलेऽनन्वयादित्याशङ्क्याह—

उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृविषयादौ विपर्ययात् ।

तस्माद्यथोचितं ज्ञेयं द्योतकत्वं यथागमम् ॥ ४ ॥

कर्मकर्तृविषयादौ क्रियते घटः स्वयमेवेत्यादौ पच्यते ओदनः स्वयमेवेत्यादौ
क्रमादित्यादिपदग्राह्यम् । शाब्दबोधस्तु पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानहेतुकैकनारदा-
भिन्नविषयकं यज्ज्ञानं तदनुकूला एककृष्णाभिन्नाश्रयिकातीता भावनेति । पच्यते
ओदनः स्वयमेवेत्यत्र चैकोदनाभिन्नाश्रयिका पाकानुकूला भावनेति बोधः । इत्थ-
मन्यत्राप्युह्यम् । यथोचितमिति । अननुगतमेव तत्तद्वचनानुसारेणेत्यर्थः ।

१ लुप्तस्मृतबोधकमिति Tr.; लुप्तं बोधकं स्मृतमिति D₂. २ इत्यनुवृत्त्य T. ३ यथा
कारिष्यते घट इत्यादौ is omitted in Tr.; D. omits आदिना चिण्वदिद् यथा कारिष्यते
घट इत्यादौ; D₁ and D₂ have आदिना कुपिरञ्जोः &c.; T. omits from कुपिरञ्जोः
to स्वयमेवेत्यादौ. ४ K. has तथा for यथा. ५ भावेषु Tr. ६ रक्षयति K., Tr.
७ लिङादां T. ८ K., Tr. and D₂ omit च. ९ स्वयमेव पच्यते T. १० क्रमा-
दित्याद्यादिपदं K. ११ हेतुकारकं D₂. १२ एवमन्यत्रां D.

वस्तुतः सकर्मकधातुसमभिव्याहृतभावसाधारणविधिविधेययक्ष्चिण्वेन कर्मद्यो-
तकतेति बोध्यम् ॥ ४ ॥

अथ सूचीकटाहन्यायेन सोपपत्तिकं वाक्यार्थमुपवर्ण्य फलव्यापारयोरिति
प्रतिज्ञातं धातोर्व्यापारवाचकत्वं व्यवस्थापयति—

व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया ।

कृत्रोऽकर्मकतापत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते ॥ ५ ॥

पचति पाकमुत्पादयति पाकालुकूला भावनेत्यादिभावनावाचकपदैर्विवरणात्
सा वाच्यैवेति भावः । व्यापारपदं फूत्कारादीनामयत्नानामपि वाच्यतां बोधे-
यितुम् । अत्र नैयायिकाः । व्यापारो वाच्य इत्युक्तम् । व्यापारत्वस्योपाधित्वेन
शक्यतावच्छेदके गौरवात् । फूत्कारत्वादेरपि गुरुत्वादननुगतत्वाच्च नावच्छे-
दकम् । किं तु कृतित्वस्यैव जातिरूपतया लाघवेन शक्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्
कृतिरेव वाच्या वक्तव्या । किं च करोतेत्यन्तार्थकत्वं तावदावश्यकम् । यत्नजन्य-
त्वाजन्यत्वप्रतिसंधानात् पटाङ्कुरयोः कृताकृतव्यवहारात् । तदुक्तमाचार्यैः—

‘कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया ।

यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ’ ॥

इति । कृतित्वस्यैव लाघवेन शक्यतावच्छेदकत्वौचित्याच्च । व्यापारस्य कृजर्थत्वे
च कारकमात्रं कर्तृपदार्थः स्यात् । करोत्यर्थभूताश्रयस्यैव कर्तृपदार्थत्वात् । इत्थं
च यत्नार्थककरोतिना विवरणात् किं करोतीति यत्नप्रश्ने पचतीत्युत्तरस्य यत्नार्थ-
कत्वं विनानुपपत्तेः यत्न एवार्थः । अत एव पचतीत्यत्र यत्नानुभवः सर्वसिद्धः
संगच्छते । नन्वेवं कथं रथो गच्छतीत्यादिप्रयोगः । तत्र यत्नस्य बाधादिति
चेन्न । अनुकूलव्यापारे लक्षणा प्रयोगात् । विद्यते इत्याद्यनुरोधादाश्रयत्वे एव
वा लक्षणा । तथा च गमनाश्रवबोध एव तत्र । अत एवान्यदीयगमनानुकूल-
नोदनादिमति न गच्छतीति प्रयोग इति । तस्माद्व्यापारो वाच्य इति मतं न
सम्यगित्याहुः । अत्र वदन्ति । लक्ष्यतवच्छेदकत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि
गुरुणि स्वीकारे बाधकाभावः । तयोर्वैषम्ये जाभावात् । अथ कारणतावच्छे-
दकत्वप्रतियोगितावच्छेदकत्वच्छक्यतावच्छेदकत्वं स्वरूपसंबन्धविशेषः स च

१ 'विषय' for 'विधेय' D₁. २ सूचि' T. ३ बोध' इति Tr. ४ इत्यसंगतम् T.
५ T. and D₁ omit वा. ६ गुरुणे Tr. ७ स्वीकारवाचकामात्रं Tr. ८ D. omits स च

संभवति लघौ गुरौ न कल्प्यते । अत एव लघुधर्म एव कारणतावच्छेदकः कल्प्यते । शक्यतावच्छेदकत्वं च स्वरूपसंबन्धविशेषो न लक्ष्यतावच्छेदकत्वमिति चेन्न । स्वरूपसंबन्धो यदि तत्तत्स्वरूपं तदा गुरुधर्मस्वरूपाणामपि सत्त्वात् किमनुपपन्नम् । अथातिरिक्तस्तदापि तद्वल्लक्ष्यतावच्छेदकत्वमपि स्वरूपसंबन्धविशेष इति कथं गुरुधर्मेण तत्स्वीकारः । वृत्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । किं च गुरुधर्मेणवच्छेदकत्वास्वीकर्त्ता तदभावः स्वीकार्यस्तद्वरमवच्छेदकत्वस्वीकार एव । भावकल्पनायां लाघवात् । अन्यत्र कृताभावस्य संबन्धमात्रं कल्प्यते लाघवादिति चेदन्यत्र कल्प्यमानावच्छेदकत्वस्यैव संबन्धः स्वीक्रियतां लाघवात् । वस्तुतस्तद्दृशस्वरूपसंबन्धस्यातिरिक्तस्य स्वीकारे प्रमाणं सुधीभिश्चिन्त्यम् । अत एवावच्छेदकत्वमन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वमिति वदन्ति । तदपि गुरुधर्मे निर्बाधम् । एवं नानार्थस्थले लघुधर्मावच्छिन्ने एव शक्तिरपरत्र निरूढा लक्षणेत्यप्यपास्तम् । एवं प्रतियोगितावच्छेदकत्वमपि स्वरूपसंबन्धविशेष इत्यपि निरस्तम् । गौरवप्रतिसंधानदशायामपि कम्बुग्रीवादिमाज्ञास्तीति प्रतीतेर्गुरुधर्मोऽप्यवच्छेदक इत्यन्ये । तच्चिन्त्यम् । कम्बुग्रीवादिमाज्ञास्तीत्यादाववच्छेदकत्वस्य संसर्गतया प्रवेशात् । तदवगाहिज्ञानस्य चाप्रतिबन्धत्वात् । किं चैवं धर्मितावच्छेदकशालिज्ञानं प्रतिबन्ध्यम् । प्रकृते च धर्मितावच्छेदकानवगाहान्न दोष इति । किं च कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्य प्रतियोगितावच्छेदकतया भानमप्यसिद्धम् । किं तु प्रमेयो घटो नास्तीत्यादौ प्रमेयत्वादिवात् प्रतियोगिविशेषणत्वेन भानमात्रम् । न चैवं कम्बुग्रीवादिमत्प्रतियोगिकाभाववत्ताबोधस्यैव पर्यवसानाद्यत्किंचिद्वटवत्यपि तथा प्रयोगापत्तिः । कम्बुग्रीवादिमत्त्वसमव्याप्तधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकात्वसंबन्धेन कम्बुग्रीवादिमत्प्रतियोगिकाभौवस्यैवावगाहनात् । अत एव न यत्किञ्चित्कम्बुग्रीवादिमति कम्बुग्रीवादिमाज्ञास्तीति शब्दः प्रमाणम् । प्रमाणं च घटसामान्यशून्ये इति रामकृष्णभट्टाचार्याः । एवं कारणतावच्छेदकत्वं स्वरूपसंबन्धविशेष इत्यपि निष्प्रमाणमतो न तदवच्छेदकत्वेनापि जातिसिद्धिः । तस्माच्चोक्तलाघवानुरोधात्

१ गुरौ लघौ T. २ कल्पते D_१. ३ तद्वत्तुल्ययुक्तया लक्ष्यता° D. ४ श्रितनीयम् K. ५ D. has तस्य व्यापकत्वस्वीकारात् before एवं नानार्थस्थले &c. ६ शक्तिरित्यत्र T. ७ निरूढलक्षणा D_१, T. ८ इत्येतच्चिन्त्यम् Tr. ९ वाप्रतिबन्धत्वात् T.; चाप्रतिबन्धत्वात् Tr. १० प्रतिबन्ध्यम् Tr.; प्रतिबन्ध्यात् प्रकृते D. ११ चाधर्मिता° T. १२ विशेषणवत्त्वेन D. १३ कम्बुग्रीवादिमत्त्वस्य प्रति° Tr. १४ भावावगाहनात् D_१.

कृतित्वमेव वाच्यतावच्छेदकमिति युक्तम् । वक्ष्यते चान्यदुपरिष्ठात् । नन्वस्तु तर्हि धातोः केवलव्यापारवाचकता फलं कर्मप्रत्ययार्थः । संयोगरूपफलभावे गमधातोर्विभागभागे त्वजधातोः समभिव्याहारस्य नियामकत्वाच्च । न ग्रामं गच्छति त्यजतीत्यनयोर्विभागसंयोगबोधनदोषप्रसङ्ग इति नैयायिकप्राचां मतमपि । यद्यपि त्यजिगमिस्थन्दीनां पर्यायतापत्तिः । एकस्या एव क्रियायाः संयोगविभागजनकत्वात् । तथा च गमनं त्याग इत्यनयोरविशेषापत्तिः । एवं गच्छतित्यजतीत्यनयोरपि । न स्याच्च पच्यते तण्डुलः स्वयमेवेत्यादिकं कर्मस्थभावनकानामेव कर्मकर्तरि यगादिविधानात् । न चाग्निसंयोगरूपव्यापारस्य धात्वर्थस्य कर्मनिष्ठत्वान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तथा सति पच्यतेऽग्निः स्वयमेवेत्यस्याप्यापत्तेः । न च कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय इत्यनेन धात्वर्थजन्यफलाश्रयाणामेव कर्मवद्भावविधानात् तण्डुलानां तादृशविकृतिमत्त्वाद्भवति तथा प्रयोगोऽग्रेस्तु तदाश्रयत्वाभावाच्चातिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । एवं हि प्रावरणाद्यर्थं पटमुत्पादयति चैत्रे प्रावरणाय पटे यतत इतिवद्यतते पटः स्वयमेवेत्यस्याप्यापत्तेर्यत्नजन्योत्पत्तेः पटे सत्त्वात् । अन्यथा क्रियते पटः स्वयमेवेत्यपि न स्यात् । सकर्मकत्वाभावाद्वात्रातिदेशो न प्रवर्तत इति चेत् तदेव तु भवन्मते दुर्वचम् । स्वार्थव्यापारजन्यफलकत्वं फलजनकव्यापारवाचकत्वं वात्रापि कैर्त्रादिवदक्षतं स्पन्द्यादिसाधारणं चेत्यादि वक्ष्यते । कुतो वातिदेशाप्रवृत्तिः स्वकर्मविरहेण कर्मणा तुल्यक्रियत्वाभावादिति चेन्न । कर्मत्वस्यापि त्वन्मते दुर्वचत्वात् । धात्वर्थजन्यफलशालित्वस्य गमेः पूर्वस्मिन् देशे त्यजेत्तरस्मिन्स्पन्देः पूर्वापरयोर्थत्यादेर्विषये चातिप्रसक्तत्वात् । यत्तु स्वान्वितप्रत्ययार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वमेव सकर्मकत्वं कर्मत्वमपि धात्वन्वितप्रत्ययबोध्यफलवत्त्वमेव । प्रत्ययजन्यसंयोगबोधे गम्यादेर्विभागबोधे त्यज्यादेः समभिव्याहारस्य हेतुत्वाच्च नोक्तदोष इति तन्न । एवं ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यादेरेव संयोगादिफले शक्तिसिद्धेः । अन्यथा सुपामेव घटादौ शक्तिर्वटादिबोधे तत्तत्प्रकृतिसमभिव्याहारस्य हेतुत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्य-

१ त्यजिधातोः T. २ K. has the following before पच्यते &c. न्यायरीत्या फलस्य भानाभ्युपगमेन विशेषोपपादने तु घटादिपदे घटत्वस्यापि तथैव भानोपपत्तेरवाच्यतापत्तावाक्यव्यधिकरणोच्छेदापत्तिः । न स्याच्च; D. has न्यायरीत्या to °दापत्तिः added after न स्याच्च. ३ कर्मवद्विधानात् D₇. ४ विकृति° T. ५ पटादौ T.; घटादौ Tr. ६ घटः D₉, Tr., T. ७ कृत्वादिवदक्षतं D₈. ८ तन्मते T. ९ पूर्वपरयो° K. १० स्वाधीनवित° K., Tr. ११ धात्वन्वित° T.

स्यापि दुर्वारत्वापत्तेः स्पन्दस्यागो गमनमित्यादेरविशेषापत्तेरुक्तत्वाच्चेत्यादिभिर्दूषितग्रायं तथाप्युक्तोपपत्त्यैव कृजादेरपि फलवाचकत्वं साधयन् केवलवाचकत्वं सर्वनैयायिकाभ्युपगतं निरस्यति । कृञ् इति । सविषयमात्रार्थोपलक्षणमिदम् । यत्नो न यत्नमात्रं किं तूत्पत्त्यादि फलमपीत्यर्थः । अयं भावः । यती प्रयत्न इतिवत् यत्नार्थकतायां कृजोऽकर्मकता स्यात् । अन्यथा वायुर्विकुरुते सैन्धवा विकुर्वते इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्यथाश्रुतेऽसंगतेः । अत एव

‘धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्’

इत्याद्यर्थविशेषान्तर्भावेणाकर्मकत्वसकर्मकत्वविवरणं सांशु संगच्छत इति । नन्वेवं व्यापारार्थकत्वस्येव यत्नार्थकत्वस्याप्यप्रयोजकतया नेदमकर्मकतायां प्रयो-
क्तं किं तु फलसमानाधिकरणव्यापारवाचित्वमेव । न चेह तदस्तीति नाति-
प्रसङ्ग इति चेन्न । एवं हि यत्तेरप्यकर्मकत्वानापत्तेः । यत्किंचिदुत्पत्तिजनकयत्न-
वाचकत्वस्योत्पत्त्यादिफलावाचकत्वस्य चोभयोरप्यविशेषात् । स्वार्थफलसमाना-
धिकरणव्यापारवाचकत्वरूपाकर्मकत्वस्यास्माभिरभ्युपगमेऽपि केवलव्यापारवाच-
कत्वरूपस्य तस्य भवद्भिरभ्युपगमात् । यद्वा । अकर्मकतापत्तेः । सकर्मकताना-
पत्तिरित्यर्थः । तथा हि । अस्मद्गीत्या स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं भव-
द्गीत्या फलविशिष्टव्यापारवाचकत्वं हि सकर्मकत्वम् । अन्यथा स्पन्देरपि तद-
पत्तेः । तच्च कृजादेर्न स्यात् । त्वन्मते द्विष्यादेर्द्वेषज्ञानेच्छाकृतिमात्रवाचकत्वात् ।
अत एव पटं जानाति इच्छति कुरुते चैत्रो मैत्रेण ज्ञायते इष्यते क्रियते वा घट
इत्यत्र कर्मप्रत्ययेन यथायथं विपर्यित्वं विपर्यित्वं चोच्यते फलाभावेन धात्वर्थ-
तावच्छेदकफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वासंभवादिति निरूपितमाख्यातवादशिरोमणौ ।
एवं च यत्नमात्रार्थकत्वात् सकर्मकत्वाभावे कर्मणि लकाराद्यनापत्तिः । यत्तु
जानात्यादौ सकर्मकत्वव्यवहारो भाक्त इति तन्न । व्यवहारस्य भाक्तत्वेऽपि
कर्मणि प्रत्ययासंभवात् । फलावच्छिन्नव्यापारवाचकेभ्य एव कर्मप्रत्यय इति
तत्रैवोक्तेः । न च वैयाकरणानां यत्र सकर्मकत्वव्यवहारस्तेभ्य एव कर्मप्रत्यय
इति नियम इति वाच्यम् । आप्यकारादिव्यवहारस्य विशिष्य सर्वत्राभावात् ।

१ केवलयत्नवाचकत्वं T. २ मात्रार्थकोपलक्षणं D. ३ संगतिः K. ४ T. drops सकर्मकत्व. ५ D₂. drops सांशु. ६ D₁. drops एवं हि. ७ वाचकत्वस्येवोभं Tr. ८ वाचकत्वस्यास्माभि Tr. ९ तस्य is omitted in Tr. and D₂. १० विषयत्वं विषयित्वं T. ११ Tr. drops विषयत्वं. १२ फलमात्रार्थकत्वात् K., Tr. and D. १३ D₂. drops नियम.

अस्मद्वयवहारस्यातिप्रसक्तत्वात् । यच्च सविषयार्थकानां विषयतयान्वयवतामेव सकर्मकत्वं यत्यादिधातूपस्थापितयत्ने न विषयत्वेनान्वयः किं तूद्देश्यत्वेन अत एवाभुञ्जानेऽपि भोजनाय यतत इति प्रयोग इति । तन्न । एवं हि कर्मणि प्रत्ययोत्पत्तावनुगतनियामकालाभप्रसङ्गात् । विष्णुं यजते विष्णुर्यष्ट्य इत्यादौ चतुर्थ्यर्थविहितद्वितीयादेरुद्देश्यत्वेनैवान्वयबोधकत्वाद्येजधातोरेक्यकर्मकत्वापत्तेश्च । उद्देश्यताख्यविषयतया विष्णुयोगविषय एवेति चेद् भोजनमपि यत्यर्थस्य तथैवेति स्यादेव यजिवद्यत्यादेः सकर्मकत्वात् कर्मणि प्रत्ययः । न च सविषयार्थकेषु विषयितयान्वयबोधकद्वितीयार्थे जाततृतीयया तस्यैव बोधनात् पश्चादिद्रव्यस्य तथान्वयसत्त्वात् स्यादेव सकर्मकत्वमिति वाच्यम् । एवमपि विष्णोर्धात्वर्थकर्मत्वाभावेन तस्मिन् द्वितीयातव्यलकाराणामभावापत्तेः । अन्यथा भोजनाय क्रियत ओदन इत्यत्र भोजनं मोक्षाय ह्येवं भजेत्यत्र मोक्षमित्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । न चैवमपि कर्मसंप्रदानयोः करणकर्मत्वे वाच्ये इति संज्ञाविधानसामर्थ्यादसत्यपि कर्मत्वे द्वितीयादिकं स्यादिति वाच्यम् । कर्मसंज्ञाविधानान्यथानुपपत्त्या कर्मप्रत्ययसिद्धावपि धातोस्तदर्थे सकर्मकत्वाभावेन तस्मिन् सकर्मकत्वसंबद्धकर्मलकारसिद्धयनापत्तौ इज्यते विष्णुरित्याद्यभावापत्तेः । न च कालभावाध्वगन्तव्यानामकर्मकधातुयोगे कर्मसंज्ञाविधानेऽपि धातोरेकमत्वादेवदत्तेनास्यते मास इत्यादिकं तवापि न स्यादिति वाच्यम् । कालादिकर्मणा सर्वे सकर्मकाः । तद्व्यतिरिक्तकर्माभाव एवाकर्मकत्वमित्यग्रे व्युत्पादधिगम्यमाणत्वात् । किं च पशुना रुद्रं यजते देवदत्ताय क्रुध्यति दुह्यति ईर्ष्यति असूयति इत्यादौ पशुदेवदत्तादेरिच्छाद्वेषादिविशेषविषयस्य तथान्वयवतः कर्मत्वात् तेन कर्मणा सकर्मकत्वमादाय तस्मिन् कर्मणि लकारद्वितीयाकृदाद्यापत्तिर्दुवारा । भवन्मते संज्ञायाः द्वितीयादावप्रयोजकत्वस्य सुबर्थनिर्णये वक्ष्यमाणत्वात् । अस्मन्मते कर्मसंज्ञैव तत्र प्रयोजिकेति तदभावाच्चातिप्रसङ्ग इति व्युत्पादधिगम्यः । अपि चैवमपि देवदत्तस्य योऽभिलाषस्तद्विषय इत्यर्थके देवदत्ताय रोचते स्वदते वा मोदक इत्यत्र मोदकस्य कर्मत्वापत्तौ तस्मिन् कर्मणि लकारद्वितीयाकृदादिप्रसङ्गो दुर्वारः । अस्मद्वीत्या यतिवन्नायं दोष इति व्युत्पादधिगम्यः इति दिक् । न च त्वद्वीत्यापि सर्वेषामेव धातूनां यत्किञ्चित्फलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वेन सकर्मकत्वापत्त्या

१ तच्च for यच्च K., Tr., D. २ यत्यादीनां तूपस्थापित° D. ३ यत्नस्य D. ४ विषयत्वेन नान्वयः D. ५ 'द्यजिधातो' T. ६ येन च K. ७ हरिं मज T. and D. ८ कर्मकत्वे T. ९ स्तदर्थत्वे T. १० भवन्मतसंज्ञायाः Tr.

स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं तद्वाच्यमित्यननुगमापत्त्याऽकर्मकभिन्नत्वं तद्वाच्यम् । तत्र च प्रयोगानुरोधाज्जानात्यादिभेदो न प्रवेशनीय इति न कश्चिद्दोष इति शङ्क्यम् । सकर्मकाणामप्यर्थान्तरेऽकर्मकत्वेनासंभवापत्तेः । अकर्मकत्वस्याप्येकस्याभावेन तुल्ययुक्त्या सकर्मकान्यत्वस्यापि तत्त्वेऽन्योन्याश्रयणापत्त्या लः कर्मणीत्यादेर्बोधकत्वानापत्तेश्च । ननु तवापि स्वत्वाननुगमादननुगतमेव सकर्मकत्वादीति कथं लः कर्मणीत्यादेरनतिप्रसक्तबोधकत्वमिति चेन्न । स्वपितृभ्यः पिता दद्यात् ऋतौ स्वदारान् गच्छेदेवेत्यादौ स्वत्वपितृत्वदारत्वाननुगमेऽपि विशिष्य सर्वानतिप्रसक्तबोधकत्ववदुपपत्तेरिति समासशक्तौ वक्ष्यामः । ननु फलावच्छिन्नव्यापारवाचित्वादेव धातूनां सकर्मकत्वमिति वैद्विरस्माभिरपि केवलव्यापारवाचकत्वकर्मकत्वं सूचितमेवेति चेन्न । एवं हि केवलव्यापारवाचकज्ञाकृजादेरकर्मकता स्यान्न स्याच्च सकर्मकत्वमिति । ननु प्रत्ययार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वमेव सकर्मकत्वमस्तु प्रत्ययार्थफलाश्रयत्वमेव च कर्मत्वमतो न कश्चिद्दोष इति चेन्न । घटं भावयति एधयतीत्यादिहेतुमण्णिजन्तसकर्मकेषु तत्कर्मणि चाव्याप्तेः । तत्रत्यफलस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां धातुलभ्यत्वेनान्यलभ्यत्वान्मानानाभावागौरवाच्च प्रत्ययार्थत्वासंभवादिति दिक् ॥ ५ ॥

कृजर्थप्रकाशनपुरःसरं केवलयत्नार्थकतायां दूषणान्तरमाह—

किं तूत्पादनमेवातः कर्मवत् स्याद्यगाद्यपि ।

कर्मकर्तर्यन्यथा तु न भवेत्तद् दृशेरिव ॥ ६ ॥

उत्पादनमुत्पत्तिरूपफलसहितं न तु केवलं यत्नमात्रं व्यापारमात्रं वा । अत्र कृजोऽर्थ इत्यनुषज्यते । ननूत्पादयतीत्यस्योत्पत्तिं करोतीति विवरणमनन्वितं स्यात् । उत्पत्तेरुत्पत्त्यभावादिति चेन्न । यत उत्पत्तिराद्यक्षणसंबन्धः स च क्षणरूप इति तस्योत्पत्तेः सुलभत्वादुत्पादना सुलभैव । तवापि यतते यत्नं करोतीत्यादावनुपपत्तितादवस्थयाच्च । नन्वेवं जानात्यादेः सकर्मकत्वाय ज्ञानफलाद्यनुकूलव्यपारवाचकत्वं वाच्यं तथा च चक्षुरादिकं जानातीति स्यात् । उत्पादनाया आत्मनीव चक्षुष्यपि सत्त्वादिति चेन्न । मनो जानातीति प्रयोगोपपत्त्ये जनकव्यापारे लक्षणाभ्युपगमे तवापि व्यापारवत्तया तथा प्रयोगस्य दुष्परिहरत्वा-

१ 'न्योन्याश्रयापत्त्या T. २ गच्छेदेत्यादौ K. ३ वैद्विरपि केवल° K. ४ नान्योन्याश्रय इति चेन्न T., D. ५ 'वाचकताकृजादे° Tr. ६ तत्र फल° K., D., Tr. ७ केवलयत्नमात्रं K., Tr., T. ८ 'व्यापारलक्षणा° D₂.

दिति समाधिरुभयेषां तुल्य एव । स्थाली पचतीतिवदिष्टापत्तेश्च । ज्ञाधातोः फलं विषयगतावरणनिवृत्तिस्तदनुकूलोत्पादना ज्ञसिरेव । अतः सैव धात्वर्थः । तथा च चैत्रो जानातीत्यत्र चैत्राभिन्नाश्रयिका आवरणभङ्गानुकूला ज्ञानक्रियेति बोध इति पक्षे च न शङ्कापि । अतः यतः कृजो यत्नमात्रमर्थो नेष्यते अत ईत्यर्थः । कर्मवत् स्यादितिपदेन कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय इति सूत्रं लक्ष्यते । अयं भावः । यत एतस्योत्पादनार्थकता अतः क्रियते ओदनः स्वयमेवेति यगादयोऽभ्युपपद्यन्ते । अन्यथा यत्नस्य कर्तृनिष्ठत्वेन कर्मस्थभावकत्वाभावाद्यगादयो न स्युः । अन्यथा यत्यते घटः स्वयमेवेत्यपि स्यादिति । यद्वा । ननु जानातीच्छत्यादिवत् कारकार्यनिर्णयवक्ष्यमाणरीत्या विषयत्वादिकलवाचित्वेन सकर्मकत्वसंभवात् कृज उत्पत्तिवाचकत्वाभ्युपगमो मुधैवेत्याशङ्कां मनसि निधायाह । अत इति । यत उत्पत्तिरपि कृजोऽर्थ एवेत्यर्थः । अपिभिन्नक्रमः कर्मकर्तृरपि यगादि स्यादित्यर्थः । अन्यथा उत्पत्त्यवाचकत्वे । ज्ञायते दृश्यते इष्यते इतिवत् कर्मणि तत्संभवेऽपि कर्मकर्तरि तन्न स्यादिति भावः । तदेवाह । दृशेरिति । इदं च ज्ञानादिवाचकोपलक्षणम् । तथा च केवलयत्नमात्रवाचकत्वे दृश्यते घटः स्वयमेवेति यथा न भवति तथा क्रियते घटः स्वयमेवेत्यपि न स्यात् । कर्तृस्थ-भावकत्वाविशेषादिति दिक् ॥ ६ ॥

नन्वेवं कृजादेरिव जानात्यादेरपि विषयाविच्छिन्नावरणभङ्गादिकलवाचकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथोक्तदोषापत्तेः । तथा च ज्ञायते घटः स्वयमेवेत्यपि स्यादेव । स्याच्च ग्रामो गम्यते स्वयमेवेत्यादिकम् । कर्मस्थभावकत्वाविशेषादित्याशङ्कां मनसि कृत्वाह—

निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मवद्भाव इष्यते ।

न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तो हि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

कर्म त्रिविधम् । निर्वर्त्ये विकार्ये प्राप्ये च । आद्यं घटं करोति द्वितीयं सोमं सुनोति त्रीहीनवहन्तीत्यादि । तृतीयं रूपं पश्यतीत्यादि । प्राप्यत्वं च क्रियाकृतविशेषानुपलभ्यमानत्वमिति वक्ष्यते । तच्च ज्ञादृश्यादेर्गम्यादेश्वास्तीति नाति-

१ उत्पादनज्ञसिरेव T. २ D₁ and D₂ drop इत्यर्थः. ३ कारकार्यनिर्णये वक्ष्यमाणं K., Tr., D. ४ कृतोऽर्थ K., Tr.; कृजोऽर्थ अत एवे T. ५ दृश्यते इतिवत् K., Tr., D₁. ६ तथा क्रियते घटः स्वयमेवेत्यपि न स्यात् K. ७ करोतीति T. ८ ज्ञादृशोर्गम्यादेश्च T.

प्रसङ्ग इति भावः । न ह्ययं ग्रामः केनचिद्गतो घटोऽयं केनचिद् ज्ञात इति ज्ञातुं शक्यम् । तस्मादावश्यकं फलवाचकत्वम् । अत एव द्वयर्थः पचिरिति भाष्यमपि फलव्यापारयोः शक्तिद्वयाभ्युपगम एव संगच्छते । तण्डुलानोदनं पचतीत्यत्र तण्डुलानां विकार्यकर्मत्वमोदनस्य निर्वर्त्यकर्मत्वं चोपपादितम् । पचेर्विद्वत्पुत्प-
त्तिद्वयर्थत्वस्य भाष्यकारैरुक्तस्य धातोः फलवाचकत्वेऽसंभवात् । एकस्यैव व्यापा-
रस्योभयफलत्वे हेतुत्वसंभवे तद्व्यापारद्वयार्थत्ववर्णनस्याप्यसंभवात् । उपलक्षणं चैतत् कृञ इति धातुसामान्यस्य । उक्तवक्ष्यमाणयुक्तिभिः सर्वेषामेवोभयवाच-
कत्वावश्यकत्वात् । यत्तु कृञो यत्नत्वं न वाच्यतावच्छेदकत्वम् । अकर्मकतापत्तेः ।
यत्यादिवत् । तथा च यत्नत्वेन विवरणप्रश्नोत्तरभावयोरेवाभावाच्च तेनैव रूपेण
वाच्यतेति नैयायिकोक्तं युक्तमिति भाव इत्यादि व्याचक्षते । तन्न । यतो
यद्यपि केवलयत्नमात्रवर्ण्यतावादे प्रागुक्तरीत्यायं दोषो युक्तस्तथापि कृञो यत्नत्वं
वाच्यतावच्छेदकमित्यत्र न सकर्मकत्वानुपपत्तिर्न वा कर्मकर्तरि यगनुपपत्तिर्वा-
धिका । उत्पत्तिरूपफलवाचकत्वसिद्धयैव फलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वरूपसक-
र्मकत्वसिद्धेः । तवाप्युत्पादनामात्रवाचकत्वसिद्ध्यापि न सकर्मकत्वसिद्धिः फल-
वाचकत्वसिद्धिं विना स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वस्यैव तत्त्वात् । यती
प्रयत्न इत्यस्य फलं नार्थ इति नानुपपत्तिः । घटं करोतीत्यत्रापि निर्वर्त्यकर्मत्वान्न
यगादेः कर्मकर्तर्यनुपपत्तिरिति । तस्मात् कृञो यत्नत्वमेव वाच्यतावच्छेदकमि-
त्यत्र मानाभावः । लाघवस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । न च कर्तृजन्यत्वाजन्यत्वप्र-
तिसंधानात् पटाङ्कुरयोः कृताकृतव्यवहारानुपपत्तिरेव मानम् । बीजादिनाङ्कुरः
कृत इति तत्रापि व्यवहारदर्शनात् । रथो गमनं करोतीति विवरणस्याचेतनेऽपि
दर्शनाच्च । यत्तु व्यापारमात्रस्य कृजर्थत्वे कारकमात्रं कर्तृपदार्थः स्यादिति । तत्तु-
च्छम् । स्वतन्त्रः कर्तेति सूत्रोक्तरीत्या धातृपातव्यापाराश्रयत्वरूपं स्वातन्त्र्यमेव
कर्तृत्वमिति वक्ष्यमाणत्वेन शास्त्रे कर्तृपदार्थत्वस्य प्रायेण सर्वकारकाणामिष्ट-
त्वात् । ^१लौकिकप्रयोगे च कर्तेत्यत्र कृञो यत्ने निरुद्धलक्षणेति वदन्ति । तस्मात्
कृञो विवरणानुरोधाज्ज्ञातस्य यत्नमात्रवाचकत्वसिद्धिः । किं च कृञो यत्न-

१ केन विज्ञात इति T. २ वक्तुं D. ३ शक्त्यभ्युपगम D₂. ४ फलवाचकत्वे T.
५ फलहेतुत्वसंभवे T., Tr., फलहेतुत्वेन व्यापार D. ६ द्वयार्थवर्णनं K., D₁, D₂.
७ T. and Tr. drop चैतत्; D. drops पतत्. ८ वाचकत्वात् K. and D₂.
९ यत्नेन Tr. १० वाच्यतावच्छेदकतावादे D₂. ११ कृतिजन्यत्वात् T. १२ दर्शनात् T.
१३ यच्च D₁. १४ लौकिकानां प्रयोगे D₁, D₂.

मात्रशक्तिग्रहवत् एव तादृशविवरणप्रश्नो न तु व्यापारशक्तिग्रहवत् इति न तौ कृतित्वेन वाच्यतायां प्रमाणम् । प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धयोस्तादृशमनादिविवरणं कृज एव च प्रश्नोत्तरभावं शृण्वतां बालानां कृतावेव शक्तिग्रहो भवतीत्यपि विना प्रमाणं शपथमात्रपर्यवसज्जमेवेति द्रष्टव्यम् । कथं तर्हि पचतीत्यत्र यत्तत्त्व-प्रकारकः पाकानुकूल्यत्वाभूव इति चेत् । अत्र प्राञ्चः । धातुत्वमेव जातिः शक्तावच्छेदिका । संज्ञाशब्दानां जातिवाचकत्वात् । व्यापारत्वं च वाच्यतावच्छेदकम् । कचिद्यत्तत्त्वप्रकारकबोधस्तु शक्तिभ्रमालक्षणाया वा । ननु तवाप्ये-तादृशस्थले लक्षणावश्यकत्वे किं विनिगमकं व्यापारत्वं वाच्यतावच्छेदकमित्य-त्रेति चेत् सत्यम् । व्यापारत्वस्याधिकसंग्राहकत्वेन तस्यैवावच्छेदकताया न्याय्य-त्वात् । अत एव कर्तृजन्यतावच्छेदकं लब्धपि घटत्वादिकमपह्नाय कार्यत्वं कल्प्यते । किं चास्माकं यत्स्यापि व्यापारविशेषत्वेन तल्लक्षणा सर्वथा श्रुत्यर्था-त्यागाद्वरं भवतां रथादिव्यापारे लक्षणा सर्वथा श्रुत्यर्थत्यागाजघन्या । अपि च दावाभिर्वनं दहतीत्यादौ यत्तत्संबन्धग्रहं विनापि व्यापारबोधेन भवद्गीत्या लक्षणा युज्यते । अंगुहीताया वृत्तेरनुपयोगात् । अन्यथा अंगुहीतशक्त्यादि-भ्योऽपि बोधप्रसङ्गादिति वदन्ति । वस्तुतस्तु कृतित्वमपि शक्यतावच्छेदकं तेन रूपेणापि बोधात् । तथा फूत्कारत्वादिकमपि । अत एव तत्तद्रूपेणैव शक्तिरिति प्रागुक्तम् । वक्ष्यते च । एवं च व्यापारो भावनेति पूर्वोक्तमपि व्यापारोऽपि वाच्य इत्यभिप्रायकं न तु कृतित्वं नावच्छेदकमित्यभिप्रायकमिति भ्रमितव्यम् । तथापि च यथा न नानार्थत्वं तथोक्तं प्राक् । एवं च बोधस्य व्युत्पत्त्यनुसा-रित्वात् तथा व्युत्पन्नस्य कृतित्वरूपेणैव बोधो जायत इति न कश्चिद्बोध इति विभावनीयं सूरिभिः । तस्मात् फलव्यापारयोरिति प्रतिज्ञातफलवाचकत्वसाध-नायैव कृजोऽकर्मकर्तापत्तेरिति ग्रन्थ इति विभावयामः । अथवा व्यापारो भावना सैवेत्यादिना साधितमपि विवरणानुरोधेन व्यापारवाचकत्वं केवलफलवाचकता-वादिनिरासेन समर्थयितुं तन्मतनिरासनायार्थं ग्रन्थः । तथा हि लडादौ भावना वाच्यैव न तत्प्रकारकशाब्दबोधस्य विवादग्रस्तत्वात् । यत्वाख्यातस्य यत्नो वाच्यो

१ यत्नप्रश्नोत्तरभावं च शृण्वतां D. २ व्यापारस्याधिकं T. ३ वच्छेदकतायां T.; वच्छेदकताया अन्याप्यत्वात् Tr. ४ कल्पते Tr. ५ व्यापारलक्षणा T. ६ भवद्गी-त्यापि T. ७ अज्ञाताया D₁. ८ D₂. drops वदन्ति. ९ तद्रूपेणैव T. १० प्रतिज्ञाते फलं D₃. ११ तापतिरिति Tr. १२ ग्रन्थरीतिरिति विभावयामः T. १३ निरासाय वायं ग्रन्थः T.

यत्तार्थककरोतिना विवरणाद् व्यवहारादिवद्वाधकं विना विवरणादपि व्युत्पत्तेः किं करोतीति यत्प्रश्ने पचतीत्युत्तरस्य यत्तार्थकत्वं विनानुपपत्तेश्च । किं च फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे तस्यैव नामार्थेऽन्वयः स्यात् । न चेष्टापत्तिः । धात्वर्थप्रातिपदिकार्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । अन्यथा तण्डुलः पचति चैत्र इत्यादावप्यन्वयो भवेदिति । तन्न । विवरणस्य पाकमित्यशब्दार्थकर्मत्वविवरणवदुपपत्तेः । तथा हि चैत्रः पचतीत्यत्र स्वजनककृतिसंबन्धेन पाकश्चैत्रे विशेषणम् । तथा च चैत्रः पाकं करोतीत्यत्र द्वितीयाख्यातयोरिव कृजोऽपि संसर्ग एवार्थः । अन्यथा द्वितीयाख्यातेन च कर्मत्वाश्रयत्वयोरपि विवरणात् तयोरपि वाच्यतापत्तेः । कृतित्वादिप्रकारकबोधस्तु मानस एवोत्तरकालिकः । प्रश्नोऽपि किं करोतीत्यत्र यदि किंशब्दस्य क्रियाविशेषणत्वमादाय कीदृशो यत्त इत्येवंरूपो यदि वा कर्ममात्रविषय उभयथापि न तदुत्तरं यत्तस्याख्यातार्थत्वसाधकम् । पाकवाचकस्यैव धातोस्तद्विषयकत्वे लक्षणया पाकविषयक इति बोधोपपत्तेः स्वातन्त्र्येण शक्तिसिद्धयसंभवात् । एवंविधप्रश्नस्यासार्वत्रिकत्वात् कर्मप्रश्नश्च पाकमात्रबोधनेनोपपन्नः । अत एव पाकमित्यपि कादाचित्कमुत्तरं संगच्छते । तण्डुलः पचतीत्यादौ तण्डुलप्रकारकपाकविशेष्यकबोधापत्तिरूपं बाधकं विशेष्यतासंबन्धेनाभेदातिरिक्तसंसर्गकप्रातिपदिकार्थप्रकारकबोधे निपातसुबादिजन्योपस्थितेर्विषयतया हेतुत्वकल्पनेनैव नास्तीति कृतिसंसर्गकचैत्रादिविशेष्यकबोधे न दोषः । न च धात्वर्थप्रकारकबोधस्य कर्मादिरूपनामार्थेऽभावाद्धात्वर्थप्रकारकबोधे तिङ्बादिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वं कल्पनीयं तथा च न चैत्रे तदन्वय इति वाच्यम् । धात्वर्थप्रकारकबोधे ग्रथमान्तजन्योपस्थितेरेव लाघवेन हेतुत्वात् । अन्यथा धात्वर्थप्रकारकबोधे तिबादिजन्योपस्थितिर्विषयतया हेतुः । आख्यातार्थभावनाप्रकारकबोधे ग्रथमान्तपदजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावद्वयमाख्यातस्य शक्तिश्च कल्पयेत्यतिगौरवं स्यात् । तस्मान्न कर्माख्यातस्य कृतिः कर्माख्यातस्य फलं वाच्यम् । जानातीत्यादावाश्रयत्वं लक्ष्यमिति युक्तम् । न च पचतीत्यादावाख्यातस्य भावनावाचकत्वग्रहवतः पाकानुकूलकृतिसामिति बोधाद्धात्वर्थप्रकारकबोधे तिङाद्युपस्थितिर्हेतुः क्लृप्तेत्याख्यातार्थः कृतिरिति वाच्यम् । एवं ह्याख्यातार्थः कर्तेति ग्रहवत आख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधं प्रत्याख्यातजन्योपस्थिते-

१ पाकमित्यत्राशब्दार्थः D₂. २ वाच्यापत्तेः T. ३ औत्तरकालिकः T. ४ °बोधेनोपपन्नः T.; °बोधनेनानुपपन्नः D. ५ वाचकं Tr. ६ °सुबादिनोपस्थिते° K., D₂, D₃. ७ तिबादिजन्यो° T. ८ ग्रथमान्तपदजन्यो° T., D ९ कर्माख्यातफलं Tr. १० °मित्युक्तम् T.

हेतुत्वस्य कृतत्वेन कर्तृकर्मणोरप्याख्यातवाच्यताङ्गीकारापत्तेः । कर्तृकर्मणोः शक्तिकल्पनागौरवमधिकमिति चेत् कृतिफलयोः शक्तिकल्पनागौरवं तवाप्यधिकमिति तुल्यमिति दिक् । यत्तु पार्थसारथिमिश्रा भावनायाः सर्वत्रावाच्यत्वे वाजपेयाधिकरणमसंगतं स्यात् । तथा हि । वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत उद्भिदा यजेत पशुकाम इत्यादिसर्वेषु वाक्येषु गुणविधिः कर्मनामधेयता चेति संशये यजेतेत्याख्यातं गुणफलाभ्यां तन्त्रेण संबद्धं क्षमते नातो मत्वर्थलक्षणादिनामधेयत्वसाधकमतो गुणविधित्वमेव । तथा हि यजेतेत्यत्र यागस्य भावनायां यदि कर्मत्वेन संबन्धस्तदा साध्यद्वयासमवायान्न फलं संबध्यते । यदि करणत्वेन तदा करणद्वयासमवायान्न गुणः संबध्यते । न चाख्यातेन कर्मत्वं करणत्वं चोच्यते । तद्वाचकपदाभावात् । तथा च यथा भावना कर्मत्वकरणत्वादिरूपभेदमन्तरेण साध्यादिभिः संबध्यत इदमनेनेत्थं कुर्यादिति तथा यागोऽपि करणत्वादिरूपमनादत्यैव गुणफलाभ्यां संबध्यत इति न मत्वर्थलक्षणेति शङ्का । सिद्धान्तस्तु भावना हि क्रियारूपा करणत्वादिकमनादत्यैव संबध्यतां यागस्वक्रियारूपः कथमिव कारकरूपैर्गुणादिभिः संबध्यते । तस्मादसौ भावनाद्वारेणैव गुणफलाभ्यां संबध्यत इति वक्तव्यं तथा सति फलस्य साधनापेक्षत्वात् गुणस्य साध्यापेक्षत्वात् तत्तदवच्छिन्नभावनान्वयाय कर्मात्मना करणात्मना वा यागः प्रतिपादनीय इत्यावृत्त्यापत्तिः । एवं गुणत्वप्रधानत्वविधेयत्वानुवाद्यत्वोपादानत्वोद्देश्यत्वकृतमपि वैरूप्यं वारयितुं तदापत्तिः । तस्माद्गुणविधिपक्षे मत्वर्थलक्षणावृत्तिर्वा स्यात् तद्वरं वाजपेयं सुराद्रव्यमस्मिन्निति सुराग्रहविधानात् तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयतेति स्थितम् । भवन्मते च काष्ठैः पचतीत्यादिषु भावनाभावाद् धात्वर्थेनैव कारकाणां संबन्धात् क्रियारूपत्वं धात्वर्थस्याभ्युपेयं तथा च स्वरूपेणैव धात्वर्थः कारकसंबन्धमर्हतीति धिनैवावृत्त्या यज्यभिहितेनैव रूपेण साध्यसाधनाभ्यां संबध्यत इत्यधिकरणमिदमनुपपन्नं स्यात् । न चोद्देश्योपादानादिकृतमपि वैरूप्यं गुणविशिष्टयागविधानात् । नापि मत्वर्थलक्षणा कारकविभक्त्यैव श्रुत्या क्रियारूपधात्वर्थसंबन्धसिद्धेः । किं च धात्वर्थ एव कारकाणामन्वये काष्ठैः पचतीतिवत् काष्ठैः पाक इत्यपि स्यात् । अपि च लडा-

१ गौरवमिति चेत् K. २ कर्मनामता D₉. ३ फलं करणाकाङ्क्षया निवृत्तत्वात् साध्याकाङ्क्षाया निवृत्तत्वात् संबध्यते Tr. ४ संबध्यते T. ५ वोच्यते T. ६ सिद्धान्तस्तु T. ७ संबध्यते T. ८ तदवच्छिन्न K., Tr., D₇. ९ अनुवाद्यत्वापादान K. १० सुराद्रव्यविधानात् K., Tr. ११ लक्षणया कार T.

दिभिरपि कर्मनामधेयानां करणार्थतया समभिव्याहारो दृश्यतेऽनुवादवाक्ये । वाजं वैषोऽवरुहस्तते यो वाजपेयेन यजत इति । यो राजसूयेन यजते योऽश्वमेधेन यजत इति च । इदं च धात्वर्थस्यैव करणाद्यन्वये न युज्यते । न हि स्वस्यैव स्वं प्रति करणत्वमिति यथा वैदिकवाक्यालोचनेनापूर्वं शब्दार्थ इत्यभ्युपेयस्तथैवाभ्युपगम्यतां भावनापि सर्वाख्यातवाच्यैवेति प्राहुः । अत्रेदमवधेयम् । भावनाया अवाच्यत्वमते फलमात्रमर्थ इति फलितम् । तत्रैव च करणादीनामन्वयः । तथा च काष्ठैः पचतीत्यादौ काष्ठजन्यः पाक इति बोधः । इदमेव च धात्वर्थस्य क्रियात्वं यत्कारकान्वयित्वम् । एवं च धात्वर्थनिरूपितं साध्यत्वं क्वापि विध्यतिरिक्तवाक्ये न बोध्यते । तपहुलं पचतीत्यत्रापि वक्ष्यमाणरीत्या कर्मशक्तिर्द्वितीयार्थो न तु साध्यत्वमिति न धात्वर्थसाध्यत्वं प्रतीयते । एवं च विधिवाक्यार्थे कार्ये विशेषणीभूतकृतौ यागस्य विषयितर्यान्वयात् तत्रान्वयितावच्छेदकतया करणत्वमौपादानिकप्रमाणानुपपत्तितं शाब्दबोधे भासते वाजपेयादिगुणनिरूपितं साध्यत्वं चेति वैरूप्यं स्यादिति तत्परिहारायावृत्तिर्मत्वर्थलक्षणा वा स्यादेवेति सममेव नामधेयत्वसाधकम् । यच्च काष्ठैः पाक इति स्यादिति । तत्रेष्टापत्तिरेवेति वक्ष्यामः । तत्रापि काष्ठैर्भावनेत्यापत्तिश्च । यदि चाख्यातोपात्तभावनायामेव तदन्वयस्तदा लडाद्यन्तोपात्तधात्वर्थं तदन्वय इति मयापि सुवचमेव । वाजपेयेन यजत इत्यादौ सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तत्रापि तुल्या । विधिवाक्ये एवोत्सर्गप्राप्तं धात्वर्थस्य साध्यत्वं त्यज्यते नान्यत्रापि । यदि तदनुवादत्वादत्रापि धात्वर्थः करणं तर्हि मयापि प्रागुक्तरीत्या तथात्वमक्षतमिति दिक् । तस्मान्नाधिकरणानुपपत्तिर्भावनावाच्यत्वसाधिका नापि तस्या अवाच्यत्वे कारकान्वयानुपपत्तिः । फले एवैषामन्वयात् । नापि पचतीत्याख्यातार्थकालान्वयानुपपत्तिः । जानातीत्यादौ धात्वर्थ एवान्वयात् । कश्चित्वाक्षिसभावनायामन्वयः । पक्वामित्यादौ भावनावाच्यत्वविरहवादिभिर्भट्टपादैरपि तथाभ्युपगमादिति । एवं च भावनाया वाच्यत्वस्यैवाभावात् क कृतित्वेन व्यापारत्वेन वा वाच्यत्वे विवादः । कथं वा धात्वाख्यातार्थत्वविवाद इति केचिन्मन्यते । ताश्चिराच्छे । कृञ् इत्यादिना । अयं भावः । व्यापारावाच्यत्वमते फलमात्रमर्थ इति फलितं तथा च करोतीत्यादौ यैल्लप्रतीतेः स एव धात्वर्थ

१ °यान्वादात्रा° Tr. २ कारणत्व° D. ३ तत्परीहारायावृत्ति° K.; तत्परिहारायवृत्ति° D. ४ T. omits स्यादिति. ५ कारणं T. ६ पचतीत्यादावाख्याता° D., T. ७ यत्नप्रतीतिः स पञ्च K.; यत्नप्रतीतिरेव Tr.

इति वाच्यं तथा च यत्नमात्रार्थकत्वाद्यती प्रयत्न इत्यादिवत् प्रागुक्तरीत्या-
 ऽकर्मकतापत्तिः । विना व्यापारान्तर्भावं तद्विभागासंभवात् । किं चेवं कर्मस्थ-
 क्रियात्वाभावेन कर्मकर्तरि यगादिकं स्यादित्याद्युक्तरीत्याहम् । ननुत्पत्तिरेव
 कृजोऽर्थोऽस्तु । तथा च कर्मस्थभावकत्वाद्यगादिकं स्यादेवेति चेत्तथाप्युत्पद्यत
 इतिवदकर्मकर्तापत्तिर्दुर्वारा । उत्पत्त्यर्थंभवतेभूयते घटः स्वयमेवेत्यस्यैव क्रियते घटः
 स्वयमेवेत्यस्याप्यसंभवापत्तेर्दुर्वारत्वाच्च । अस्तु वा कृजर्थः कृतिमात्रमुत्पत्तिमात्रं
 वा । तथापि धातूनां फलमात्रार्थकत्वे सकर्मकत्वाकर्मकत्वविभागोच्छेदापत्तिः ।
 स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं स्वार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं वा
 तत्त्वमित्यस्य त्वद्वीत्यासंभवात् । न चैवमननुगमापत्त्यान्यतमत्वमेव तद्वाच्यं
 तथा च नोक्तदोष इति वाच्यम् । एकस्यैवार्थभेदेनाकर्मकत्वसकर्मकत्वयोर्दर्शनेन
 कदा कः सकर्मक इत्यननुगतस्यैव लक्ष्यत्वेन लक्षणाननुगमस्येष्टत्वात् । अन्यत-
 मत्वमिति पक्षे सर्वत्र वार्थे सकर्मकत्वापत्तिरिति । अथवा कर्मणा सहितत्वं सकर्म-
 कत्वं तदभावापत्तेरित्यर्थः । अस्मिन्मते कर्मत्वस्य दुर्वचत्वात् । न च धात्वर्थीश्रयत्वं
 कर्मत्वं तथा सति तण्डुलं पंचति घटं भावयतीत्यत्रेव घटो भवतीत्यत्रापि घटस्य
 कर्मत्वं दुर्वारमिति द्वितीया स्यात् । परसमवेतक्रियाजन्यधात्वर्थफलशालित्व-
 स्यापि कुंलानिष्ठकृतिजन्योत्पत्त्याश्रयत्वेन सत्त्वात् । अथ संज्ञैव द्वितीयोत्पत्तौ
 प्रयोजिकेति घटो भवतीत्यत्र घटस्य कर्तृत्वेन तत्संज्ञया कर्मसंज्ञया बाधाच्च
 द्वितीयेति चेन्न । त्वन्मते घटस्य कर्तृत्वासंभवात् । अनुगतकर्तृत्वस्य त्वन्मते
 दुर्वचत्वात् । कृत्याश्रयत्वं कारकचक्रप्रयोक्तृत्वं वा तत्त्वमिति चेत् तर्हि घटो-
 ऽस्तीत्यत्रापि तन्न स्यात् । धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयत्वं च कारकमात्रेऽतिप्रस-
 क्तम् । एतेन स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवौचित्यं सकर्मकत्वं नार्थसाधकम् ।
 यद्वातुच्चारणे कर्माकाङ्क्षा नियता स सकर्मकोऽन्योऽकर्मक इत्येव
 लक्षणसंभवात् । तस्य च केवलव्यापारवाचित्वे केवलफलवाचित्वे चासं-
 भवादित्यपास्तम् । कर्मत्वस्य दुर्वचत्वेन तदाकाङ्क्षावत्त्वरूपस्यापि तस्यासंभवान् ।
 न च द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वं तत्त्वम् । श्लोकं भवतीत्यपि दर्शनेनातिव्यासेः ।

१ कर्मकतापत्तेः D. २ क्रियत्वभावेन K., T. ३ यगादिकं न स्यादि° D₇.
 ४ तापत्तिरेव दुर्वारा K., Tr., D₉. ५ उत्पत्त्यर्थकभवते° D. ६ भेदेन सकर्मकत्वा-
 कर्मकत्वयो° T. ७ इत्यननुगमस्यैव T. ८ सर्वत्रैवार्थे D₇. ९ पचते Tr. १० कुंलाल-
 कर्तुनिष्ठ° D₉. ११ दुर्वचनत्वात् D₉. १२ कारकमात्रे प्रसक्तम् T. १३ वाचकत्वं T.
 १४ दुर्वचनत्वेन D₉. १५ पचतीत्यपि Tr.

न च कर्तृत्वकर्मत्वादिकमखण्डमेव । व्यासज्यवृत्तिकर्तृत्वदेवतात्वादेः शास्त्रे-
ऽदर्शनादिति वाच्यम् । तस्य धात्वर्थफलाश्रयत्वव्यापकतया तत्सत्त्वेन सत्त्वात् ।
न च सकर्मकधात्वर्थाश्रयत्वं कर्मत्वम् । अन्योन्याश्रयेण सकर्मकत्वादेर्दुर्ग्रहत्वा-
पत्तेः । निरसिष्यते चोक्तसकर्मकत्वं फलव्यापारयोरेकनिष्ठायामित्यत्र । किं चैवं
फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे ग्रासो गमनवानिति प्रतीत्यापत्तिः । पाकानुकूलव्यापारा-
रम्भेऽपि फलानुत्पाददशायां पाको भवतीत्यनापत्तिः । ग्रामचैत्रयोर्मिथः संयोग
इतिवन्मिथो गमनमित्यापत्तिः । व्यापारविगमे फलसत्त्वे पाको विद्यत इत्या-
पत्तिः पाकोऽभूदित्यनापत्तिश्चेति दिक् । मण्डनमिश्रमतानुयायिनस्तु फलमेव
धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थः । प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं सकर्म-
कत्वम् । प्रत्ययार्थव्यापारसमानाधिकरणफलवाचित्वं चाकर्मकत्वम् । कर्मत्वमपि
प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणधात्वर्थाश्रयत्वमेव । घटं भावयतीत्यादौ निच्प्रत्ययार्थ-
व्यापारव्यधिकरणोत्पत्त्याश्रयत्वसत्त्वात् । न चाप्यन्तेऽप्यन्तर्भावितण्यर्थे शम्भु-
धटं भवतीत्यादौ प्रत्ययार्थसमानाधिकरणव्यापारार्थकत्वादकर्मकत्वलक्षणातिव्या-
प्तिरिति शङ्क्यम् । भ्वादेर्णिजार्थावाचकतया लक्षणावश्यकत्वे प्रत्ययस्यैव निजार्थ-
लक्षणाभ्युपगमेन सर्वनिर्वाहात् । एवं प्रत्ययार्थव्यापाराश्रयत्वमेव कर्तृत्वं यथा
मैत्रः पचतीत्यादौ मैत्रादेर्देवदत्तेन चैत्रः पाचयतीत्यादौ निजार्थाख्यातार्थयोराश्र-
यत्वादेर्भयोः कर्तृता । अत एव शत्रून्गमयत् स्वर्गमित्यादौ शत्रूणां कर्तृत्वात् कर्म-
संज्ञा । कर्तुरेव कर्मसंज्ञाविधानात् । एवमाख्यातानां स्वार्थव्यापारान्वितकालबोध-
कत्वमेव । जानातीत्यादावपि ज्ञानाश्रयत्वरूपे तज्जनकमनःसंयोगरूपे वा व्यापार
एव तदन्वयो न तु धात्वर्थः । एवं चैकस्यैव धातोः फलव्यापारोभयवाचकत्वे
नानार्थतादोषोऽपि परास्तः । भावे विहितघनादीनामपि व्यापारवाचकत्वस्वी-
कारादेव न ग्रासो गमनवानित्याद्यापत्तिरपि । अत एव घञर्थभावनान्वयादो-
दनस्य पाक इत्यत्र कर्तृकर्मणोः कृतीति विहिता कर्मणि षष्ठी संगच्छते । एवं
कर्तृकर्मकृतामपि कारकभावनोभयवाचकत्वादोदनस्य पक्तेत्याद्यपि नानुपपन्नम् ।

१ Tr. drops कर्तृत्व. २ देवतात्वादेरिव शास्त्रे D₉. ३ चोक्तं सक^० D. ४ निष्ठ-
तायां T. ५ T., Tr., and D. have ग्रामचैत्रयो^०—त्यापत्तिः before पाकानुकूल^०.
६ व्यापत्तिश्च T., D₉. ७ मण्डनमिश्रानुयायिनस्तु T. ८ अधिकरणार्थवाचित्वं Tr., D₁,
D₉. ९ वाकर्मकत्वम् T. १० धात्वर्थफलाश्रयत्वमेव T., D. ११ त्वत्प्राश्रयत्वात् T.
१२ प्रत्ययार्थव्यापारसमानाधिकरणफलार्थकत्वा^० D. १३ व्यापाराश्रयत्वं D. १४ D₉. omits
from यथा मैत्रः to मैत्रादेः. १५ दुर्भयोरापि कर्तृता Tr. १६ कर्तुरेव गतिबुद्धीति
कर्मसंज्ञा D. १७ जानातीत्यपि D.

न चैवं कृतां नानार्थतापत्तौ गौरवापत्तिः । नन्वेवं कृज्जानात्यादेरकर्मकतापत्ति-
बहूनां धातूनां तत्कल्पनातो लाघव-^१ इत्येव देवदत्तादौ बाधादिति चेन्न । फलता-
धार्तव्ययत्नज्ञानादिव्यधिकरणव्यापार-^२ त्करणवृत्तिस्वरूपस्य व्यधिकरणत्वस्य तदा-
वच्छेदकविषयतासंबन्धेन यत्नाद्यनधि-^३ त्ते सकर्मणामपि कैलिकादिसंबन्धेन फल-
श्रयत्वरूपे व्यापारे सत्त्वात् । यथाश्च-^४ र्मकाणां च संबन्धान्तरेण फलव्यधिकरणव्या-
समानाधिकरणव्यापारवाचित्वादव-^५ त्याहुः । तन्न । क्रियते घटः स्वयमेवेत्यनापत्तेः ।
पारवाचित्वसत्त्वेनालप्रकृतापत्तेरिति । विषयतया यत्नस्येव ज्ञानेच्छयोरपि तत्र
ज्ञायते घटः स्वयमेवेत्यापत्तेर्व-^६ कुलालज्ञानेच्छाकृतिजन्यत्वस्याविशिष्टत्वात् । किं च
सत्त्वात् । घटनिष्ठोत्पत्तेरपि द्वौ फूत्कारादीनां प्रतीतयेऽनेकप्रत्ययानां तत्र शक्ति-
पचति पक्षयति पक्षवानित्यु-^७ त्तन्त्यादनेकशक्तिकल्पनागौरवापत्तिः । अस्माकं पच-
र्वाच्येति शक्ततावच्छेदार्थ-^८ धवम् । किं च फूत्कारादेः प्रत्ययार्थत्वे गच्छतीत्यादावपि
धातारैक्याच्छक्त्यैक्य-^९ त्वर्थः धातुसमभिव्याहारः कारणं वाच्य इति पचरेव शक्ति-
तत्प्रतीत्यापत्तेस्तु तण्डुराभूतं भावमाख्यातमाचष्टे यथा पचति व्रजतीत्युपक्रम-
र्युक्ता । दुर्वारमिति गते निरुक्तविरोधश्च । अत्राख्यातशब्दस्य धातुपरताया
स्यापि कुलालनिष्ठमपि चास्त्यादौ सत्ताद्येव व्यापारः । अवच्छेदकतारूपा व्याप्तिः
प्रयोजिकेति घं एव मासं भवतीत्यादौ मासादेः कर्मतेति वक्ष्यते । तथा चात्र
द्वितीयेति चेयानां सत्तादौ पृथक् शक्तिः कल्प्या धातूनां च सा त्याज्येति मह-
दुर्वचत्वात् । ननु तवापि भवतीत्यादौ सत्तावद्वयासेर्ज्ञानं कृतिरित्यादौ विषय-
ऽस्तीत्यादेश्च बोधापत्तिर्दुर्वारा फलेऽपि शक्तिसत्त्वादिति चेन्न ।

क्लम 'एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः ।

यः स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः ॥ '

इति वाक्यपदीयोक्तरीत्या निरस्तत्वात् । गवादिपदानां गोवागिन्द्रियपृथिव्या-
द्यनैकार्थत्वेऽपि प्रसिद्धितदभावाभ्यां शीघ्रं वागाद्यबोधगोबोधयोरिदोपपत्तेश्च ।
अपि च गुरुः शिष्येण पाचयतीत्यत्र गुरुव्यापारस्य प्रयोजकव्यापारत्वेन णिज-
र्थत्वे स्थिते तस्याख्यातार्थप्रयोज्यव्यापारं प्रति प्रकृत्यर्थत्वादप्राधान्यापत्तिः ।
आख्यातार्थव्यापारानन्वयिनि संख्यान्वयासंभवात् तदनभिधानेन गुरौ प्रथमा-
नापत्तेः शिष्ये प्रथमापत्तेश्चेत्यादि स्पष्टं चैतद्विद्वेचयिष्यामः । अथ फलमात्रं न

१ कृजानात्यादेः K., Tr. २ कालादिसंबन्धेन T. ३ D₁, drops तत्र. ४ तुल्यं
रूपं T. ५ नैकार्थवत्त्वेऽपि T.

धात्वर्थः किं तु व्यापारोऽपि । तथा च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वमेव कर्तृत्वं तदर्थ-
फलाश्रयत्वं च कर्मत्वम् । एवं च न सकर्मकत्वाकर्मकत्वविभागोच्छेदोऽपि ।
भावे विहितघनादीनां च धात्वर्थानुवादकत्वाच्च पाको भवति अभूदित्यनयो-
रनापत्तिः । स्वीकृतं च धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वम् । फलावच्छिन्न-
व्यापारबोधकत्वादेव धातूनां सकर्मकत्वाकर्मकत्वविभाग इति वदद्भिन्नैयाधिकै-
रपि तथेति चेत् तर्हि सिद्धमस्मन्मतम् । धातोर्व्यापारशक्तावेव यत्नस्याप्यनु-
प्रवेशेन विहित्यनुकूलयत्नप्रत्ययसिद्धेशाख्यातस्य स्वातन्त्र्येण यत्ने शक्तेर्मानाभा-
वाद्गौरवाच्च सिद्धयसंभवात् । न हि पचतीत्यादौ विहित्यनुकूलव्यापारानुकूलय-
त्नवानिति प्रत्यय आनुभविकानां येन तदनुरोधेनाख्यातस्य पृथक् शक्तिः स्यात् ।
न चेवं यत्नस्वरूपेण बोधो न स्यात् । धात्वर्थव्यापारे फलस्यैवावच्छेदकत्वादिति
शङ्क्यम् । पचतीत्यादावधःसंतापनफूत्कारादेर्विशिष्यबोधानुरोधेन विशिष्यैव
तद्वाच्यत्वकल्पनात् । फूत्कारत्वयत्नत्वादिभिः शक्तौ धातोर्वानार्थतापत्तिरिति चेत्
किं कुर्मः यत्नमात्रांशत्यागेऽप्यधःसंतापनत्वफूत्कारत्वबुल्ल्युपरिधारणत्वरूपेण
बोधानुरोधेनास्य दुष्परिहार्यत्वात् । नैयायिकनवीनानामाख्यातस्य फलवाचकत्वे-
ऽपि तदादिन्यायेन नानार्थत्वपरीहारवद्वास्याप्युपपत्तेः । एवं च करोतिरपि
धात्वंशस्यैव विवरणम् । अत एव पक्तेत्यादावपि कृति बोधाय पृथक् शक्तिर्न क-
ल्प्येत्यतिलाघवं स्यात् । न च पचति पाकं करोतीति विवरणं न स्यात् । कृत्यनु-
कूलकृत्यभावादिति शङ्क्यम् । तत्र पाकशब्दस्य विक्विलत्तिमात्राभिप्रायकत्वात् ।
अत एव फलानुत्पाददशार्थां पाको जातो न वेति प्रश्ने भविष्यतीत्यपि प्रत्युत्तरं
दृश्यते । व्यापारान्तर्भावेण प्रश्ने जायत इत्यपि दृश्यते । अत एवौदनस्य पाक
इति कर्मकारकान्वयः । अन्यथा भावनाया अनुक्तावनन्वयापत्तेः । कारकाणां
क्रियायामेवान्वयस्य वाजपेयाधिकरणसिद्धान्तमूलत्वात् । न चाक्षिसतिङर्थान्वय
इति श्रमितव्यम् । लादेशयोगे षष्ठ्या अलंभवस्य वक्ष्यमाणत्वात् । यतते यत्नं
करोतीतिवद्विवरणोपपत्तेश्च । न च फलजनकव्यापारस्यैव धात्वर्थत्वात् यत्नस्य
चेष्टादिभिरन्यथासिद्धस्य कथं धात्वर्थतेति श्रमितव्यम् । कुलालयत्नादेर्घटादिज-
नकत्वानापत्त्या व्यापारेणान्यथासिद्धत्वस्य सर्वशास्त्रेषु निराकृतत्वादिति । वक्ष्यते
चान्यदुपरिष्टादित्यादि सर्वमभिप्रेत्याह—

१ धात्वर्थव्यापारानुवादकं K. २ यत्नस्यानुप्रवेशेन T. ३ यत्नशक्तेः D₁. ४ आनुभविको
लोकानां येन T.; आनुभविकानां लोकानां येन Tr. ५ नानार्थतापत्तेरिति D. ६ परिहारवद्वा
T., D₁. ७ सिद्धान्ते मूलत्वात् D₁, D₂. ८ वान्यदुपरि T.

तस्मात् करोतिर्धातोः स्याद्वाख्यानं न त्वसौ तिङाम् ।
पक्वान् कृतवान् पाकं किं कृतं पक्मिसापि ॥ ८ ॥

तस्मादा आभिप्रायिकादुक्तहेतोः । धातोरित्यादि । अत्र मीमांसकाः ।
आख्यातवाच्यैव भावना । भावनार्थककरोतिना विवरणात् । यत्तूक्तं धातो-
रेवैतद्विवरणमिति तन्न । विनिगमकाभावात् । अस्मन्मते न्यापारविशेष्यकबो-
धानुपपत्तिरेव मानम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थप्राधान्यस्यान्यत्र
कूत्तत्वात् । तदागमे हि इदं यत् इति न्यायेनाख्यातवाच्यत्वपरिच्छेदाच्च ।
तदुक्तम् ।

‘ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्रकृतिप्रत्ययौ सदा ।
प्राधान्याद् भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवधार्यते ॥
तथा क्रमवतोर्नित्यं प्रकृतिप्रत्ययांशयोः ।
प्रत्ययश्रुतिवेलायां भावनात्मावगम्यते ॥ ’ इति ।

न चायमुत्सर्गः प्रकृते नादरणीयः । बाधकाभावेन त्यागायोगात् । तदुक्तम् ।

‘ धात्वर्थस्य प्रधानत्वं न तावदिह जन्मनि ।
औत्सर्गिको न च न्यायो मत्पक्षे हि निवर्त्त्येति ॥ ’

इति । अथ भावनाया आख्यातवाच्यत्वे कृत्प्रत्ययस्थले तत्प्रतीतिर्न स्यात् ।
वाचकाभावादिति चेन्न । धात्वर्थकारकैर्गम्यमानत्वादेव तस्यास्त्रं प्रतीतेः ।
अत एवोक्तम् ।

‘ धात्वर्थः कारकैरेव गुणभूतोऽवगम्यते ।
भावनात्मा कृदन्तेषु तस्माच्चैवाभिधीयते ॥ ’

यथैव भावनाप्रधानत्वादाख्यातेषु तत्संबन्धादेव गुणभूतकारकप्रतीतिसिद्धेर्न
कर्तृकर्मणोरभिधानम् । एवं कर्त्राद्यभिधानादेव तदनुपपत्त्या भावनायाः सिद्धे-
रनभिधानम् । करोतिसामानाधिकरण्यमपि गम्यमानापेक्षयैव । यथा पचतिश-
ब्दस्य देवदत्तशब्देन तथाभूतयैव च कारकसंबन्धोऽप्युपपद्यत इति । न च
पक्वान् पक्तेत्यादौ कारकयोर्धातुकृदर्थयोरुणाधिकरणन्यायेन परस्परमन्वया-
स्वीकारात् प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरन्वयस्यैवाभावे क प्राधान्यनियमः सहार्थं ब्रूत

१ °रेव तद्विवरणं D₁, २ अस्मन्मते च T., D. ३ °स्तत्प्रतीतेः T. ४ D₂ drops
इति.

इति वचश्चेति शङ्क्यम् । 'संबन्धमात्रमुक्तं च श्रुत्या धात्वर्थभावयोः' इति वार्तिकोक्तरीत्या संबन्धसामान्येनान्वयेन प्रौढमिके बोधे भावनाद्वारके विशिष्टबोधे च प्राधान्यस्योक्तत्वात् । तस्माद्भातुवाच्या भावनेति वैयाकरणमतं न साधीय इत्याहुस्तत्र बाधकमाह । न त्वित्यादिना । नासौ तिङां व्याख्यानं पक्वानित्यादावनन्वयापत्तेरित्यर्थः । अयं भावः । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूत इत्यस्य हि विशेष्यतया प्रकृत्यर्थप्रकारकबोधं प्रति तदुत्तरप्रत्ययजन्योपस्थिति-हेतुरिति कार्यकारणभावः फलितः । एवं च पक्वानित्यत्र पाकः कर्मकारकं क्तवत्वर्थः कर्तृकारकं तयोश्च वक्ष्यमाणरीत्यान्वयासंभवात् प्रकृतिप्रत्ययार्थयो-
रन्वयनियमस्यैवाभावे क प्राधान्यबोधक उक्तो नियमः । न च संबन्धसामान्ये-
नान्वयः शङ्क्यः । योग्यताविरहात् । क्रियात्वमेव हि कारकान्वयितावच्छेदक-
मिति वक्ष्यते । तदेतदाविष्कर्तुं धात्वर्थक्तवत्वर्थयोः कर्मत्वकर्तृत्वे विवरणेन दर्शयति । कृतवान् पाकमिति । वस्तुतः प्रत्ययार्थः प्रधानमित्यत्र यः प्रधानं स प्रत्ययार्थ एव । यः प्रत्ययार्थः स प्रधानमेवेति वा न नियमः । अजा छात्री पाचिकेत्यादौ व्यभिचारात् । न हि पाचिकेत्यादौ स्त्रीत्वविशेष्यको बोधः कस्य-
चित् । ननु जातिव्यक्तशोरभेदस्वीकारात् स्त्रीत्वविशेष्यकबोध इष्टापत्तिरिति चेन्न । एवं ह्याकृत्यधिकरणोच्छेदापत्तिरित्येकं हि कमित्यादौ वक्ष्यामः । वस्तुतो विशेष्यत्वादिविशेष्यस्य तादृशव्युत्पत्त्यनुसारित्वेन न प्रत्ययार्थत्वादौ प्रमाणम् ।
तथा हि बोधो व्युत्पत्त्यनुसारी न बोधानुसारिणी व्युत्पत्तिः । तथा च तव तादृशव्युत्पत्तिसत्त्वात् तथैव बोधः । अत एव नैयायिकस्य प्रथमान्तविशेष्यक एव बोधः । अत एव लक्षणायां लक्ष्यतावच्छेदकं शक्यतावच्छेदकमेवेति स्वीकु-
र्वन्तो गङ्गायां घोषः

‘जाता लता हि शैले जातु लतायां न जायते शैलः ।

संप्रति तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम् ॥’

इत्यादौ गङ्गावलतात्वशैलत्वादिना तीरादेर्बोधोऽत एव चमत्कारोऽपि । अन्यथा वैपरीत्यं च न स्यादित्याहुः शैलकारिकाः । नैयायिकादयस्तु

१ वचनं वेति T. २ संबन्धमात्रमुक्तं K., Tr., D₁. ३ प्राथमिकबोधे K., T.
४ K. omits भावनाद्वारके विशिष्टबोधे. ५ नत्वित्यादि T. ६ एवं D₁. ७ प्रत्ययार्थं.
ज्वयः T. ८ T. omits यः. ९ T. drops न. १० Tr. drops तथाहि. ११ व्युत्प-
त्त्यनुसारित्वात् T.

‘कचतस्त्वस्यति वदनं वदनात् कुचमण्डलं त्रसति ।

मध्याद् विभेति नयनं नयनादधरः समुद्विजति ॥’

इति । अत्र कचत्वादिना बोधो न त्रासकर इत्यतोऽन्यदेव तद् वाच्यम् । अत एव गङ्गापदात् तीरत्वादिनैव बोध इत्याहुः । तस्माद् व्युत्पत्तिग्रह एवात्र शरणं न नियमः । अत एव भगवान् पाणिनिराह । ‘प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्’ इति । अत्र तदशिष्यमित्यनुवर्त्य वचनमित्यत्र योज्यम् । तत्र हेतुरर्थस्येत्यादि । अन्यप्रमाणत्वाल्लोकत एव व्युत्पत्त्यनुसारेण विशेषणविशेष्यभावेन बोधोपपत्तेरित्यर्थ इति । किं च यदि नियामकापेक्षा गृह्यतां तर्हि भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानीति निरुक्तवचनम् । इदं हि नामाख्यातोपसर्गनिपातानां चतुर्णां पदानां मध्ये नामाख्यातयोर्लक्षणत्वेन प्रवृत्तम् । अत्राख्यायते सर्वप्रधानभूतोऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या धातुराख्यातपदेनोच्यते । नामादिप्रकृतीनामेवोद्देशात् । अत्रेऽपि तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैक इत्युक्तत्वाच्च । न ह्याख्यातप्रत्ययजं नाम संभाव्यते किं तु धातुजम् । अत एवैतत्समानार्थकं वाक्यं सर्वं नाम धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शाकटस्य च तोकमिति महाभाष्ये पठितम् । तथा च धातोर्भावप्रधानबोधजनकत्वं लक्षणम् । नमन्याख्यातशब्दे गुणभावेन नमयन्ति वा स्वार्थं भावनां प्रतीति नामानि । तल्लक्षणं सत्त्वप्रधानानीति । एवं चाख्यातस्य भावप्रधानत्वोक्तेर्धात्वर्थो भावनेति निरुक्तविरुद्धम् । अन्यथा भावप्रधानो धातुरित्येव वाबक्ष्यदिति निरस्तम् । तस्मान्न प्रत्ययार्थप्राधान्यनियम इति ध्येयम् । यच्च तदागमे हीत्यादि तत्राह । किं कृतं पक्वमिति । कृत्वा विवरणं प्रतीतिश्च पक्ववान् पक्वमित्यादावपि इति तत्रापि भावना वाच्या स्यादिति भावः । नन्वस्तु तिङामिव कृतामपि भावना वाच्येत्यत आह । अपीति । तथा चोभयत्रापि प्रतीतेरुभयसाधारणो धातुरेव वाचकोऽस्त्विति भावः । भवद्गीत्या प्रत्ययार्थत्वात् प्राधान्यापत्तिश्चेति द्रष्टव्यम् । यदप्युक्तम् । पक्वानित्यादौ धात्वर्थकारकैरेव तदाक्षेप इति तदपि न । आख्यातस्थलेऽप्याक्षेपापत्त्या तत्रापि भावनाया वाच्यत्वं न स्यात् । आक्षेपलभ्यस्य प्राधान्याभावनियमस्य निरस्तत्वात् । वैपरीत्यापत्तेश्च । कृत्यपि भावनाया एव वाच्यतापत्तेः । अथ कृदुपस्थाप्ये लिङ्सं-

१ गङ्गादिपदात् D₁. २ T. drops अत्र. ३ मेवोद्देश्यत्वात् T. ४ रित्येवावक्ष्यदिति T., D. ५ इत्यवयवम् Tr. ६ पक्वमित्यत्रापि D₂. ७ वैपरीत्यापत्तिश्च Tr.

ख्यान्वयित्वदर्शनात् कर्तृर्वाच्यत्वमावश्यकमिति चेत् तर्हि कालान्वयाय भाव-
नाया अपि तदावश्यकमेवेति तुल्यम् । किं च । एवं हि संख्यान्वयोपपत्तेराख्या-
तेऽपि कर्ता वाच्यः स्यात् । आक्षेपलभ्ये कर्तरि संख्यान्वयो न विरुद्ध इति चेत्
तुल्यं प्रकृतेऽपीति दिक् ॥ ८ ॥

अपि च धातोर्भावनावाचकत्वसिद्धावेव कर्तृकर्मकरणादौ कृत्प्रत्ययाः संग-
च्छन्ते नान्यथेत्यभिप्रेत्य तदेवोदाहरन्नाह—

किं कार्यं पचनीयं चेसादि दृष्टं हि कृत्स्वपि ।

किं च क्रियावाचकतां विना धातुत्वमेव न ॥ ९ ॥

अयं भावः । कार्यमित्यादौ ऋहलोर्ण्यदिति कर्मणि प्रत्ययः । पचनीयमित्यादौ
चानीयप्रत्ययः कर्मणि । एवमादिना ज्योतिष्टोमयाजीत्यादौ करणे यज इति
णिनिः । पैकमित्यादौ क्तादिश्चोक्तः । एते च क्रियायोगं विनाऽसंभावितास्तद्वा-
च्यतां बोधयन्ति । विना क्रियां कारकाणामसंभवात् । नापि कारकत्वसंभावना-
प्यन्यथा क्रियान्वयित्वस्यैव तत्त्वात् । यत्वाक्षेपलभ्यक्रियासंबन्धात् कारकार्थकः
प्रत्ययः कारकत्वं चेति तदुक्तोत्तरम् । किं चेवं नखैर्भिन्नो नखभिन्नो हरिणा
त्रात हरित्रात इत्यादौ कर्तृकरणे कृता बहुलमिति समासो न स्यात् । पुरुषो
राज्ञो भार्या देवदत्तस्येत्यादिवदसामर्थ्यात् । अथाध्याहृतक्रियाद्वारा सामर्थ्य-
मस्त्येव । अन्यथा दध्योदनः गुडधाना इत्यादावप्यन्वेन व्यञ्जनं भक्ष्येण मिश्री-
करणमित्यनेन समासो न स्यात् । अध्याहृतोपसेकमिश्रणक्रियां विनाऽन्वयासंभ-
वादिति चेन्न । तत्र विध्यानर्थक्यादगत्या तथास्वीकारेऽपि हरिकृतं जगद् राम-
बाणकृतो वध इत्यादौ साक्षाद्धात्वर्थभावनान्वयेनोपपद्यमानस्याक्षेपेण परम्परा-
संबन्धे प्रवृत्त्यसंभवात् । न चैकस्यां क्रियायां कर्मादिभावेनान्वयित्वमेवान्न
सामर्थ्यमिति वाच्यम् । असूर्यपश्या इत्यादौ सर्वचर्मणः कृतः खलजाविति सूत्रे
सर्वचर्मण इत्यशेषेऽपि च तथात्वसत्त्वेनासमर्थसमासत्वानापत्तेः । इष्टापचौ कृतः
सर्वो मृत्तिकयेत्यर्थे कृतः सर्वमृत्तिक इत्यापत्तेः । न चान्न समासविधायकाभावः ।
सह सुपेत्यस्यैव सत्त्वात् । अन्यथोक्तसूत्रेऽपि तव स न स्यादिति दिक् । अस्मन्मते
च धातृपातां भावनां प्रत्यन्वयादनुपपत्तिगन्धोऽपि नेति । अपिः प्रागुक्तदूषण-

१ आक्षेपकर्तरि T. २ पैकमित्यादौ is dropped in D., D₂, and T. ३ क्रियान्वयं
विना T. ४ T. drops अन्यथा. ५ कारकार्थः T. ६ तत्रात्र न समास^० T.

समुच्चयार्थः । अथवा दोषान्तरमप्यर्थः । तथाहि भावयति घटमिति वत् परमते भवति घटमित्यपि स्यात् । तुल्यार्थत्वात् । दृष्टान्ते हि कर्तुः कुम्भकारस्य व्यापारं गिजाचष्टे । दार्ष्टान्तिके त्वाख्यातप्रत्ययः । तथा च भावनाकर्मत्वात् घटस्य कर्मणि द्वितीया स्यादेव । ननु प्रयोजकव्यापारो गिजर्थः कर्तृव्यापारस्त्वाख्यातार्थ इति वैषम्यमिति घटो भवतीत्यत्र कर्तृव्यापारवत्त्वात् घटः कर्तैव । तथा च कर्तृसंज्ञया ब्राधान्न द्वितीया किं तु प्रथमैवेति चेन्न । त्वन्मते कारकचक्रप्रयोक्तुरेव कर्तृत्वेन घटस्यातथात्वात् । भावनायाः प्रत्ययार्थतावादिनामन्यादृशकर्तृत्वस्य दुर्बलत्वाच्च । यत्तु बाधलक्षणे क्रत्वथाभ्युच्चयाधिकरणे यस्यैवान्यापेक्षयाख्यातोपात्तव्यापारसमवायः स कर्तैत्युक्तत्वादचेतनघटादेरपि कर्तृत्वमिति तन्न—

“ करोतिः क्रियमाणेन न कश्चित् कर्मणा विना ।

भवत्यर्थस्य कर्ता च करोतेः कर्म जायते ॥

करोत्यर्थस्य यः कर्ता भवितुः स प्रयोजकः ।

भविता तमपेक्षयाथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते ॥

प्रयोज्यकर्तृकैकान्तव्यापारप्रतिपादकाः ।

प्यन्ता एव प्रयुज्यन्ते तत्प्रयोजककर्तृषु ॥ ”

इत्यारभ्य—

“ तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः ।

प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥ ”

इति भावार्थाधिकरणे भट्टपादैराख्यातार्थभावनाया निरूपितत्वात् घटस्य तदाश्रयत्वाभावेन कर्तृत्वासंभवात् । किं च क्वचित् प्रयोगे काष्ठादेः कर्तृत्वं क्वचिच्चाकर्तृत्वमिति व्यवस्थार्थं तस्मिन् प्रयोगे य आख्यात इत्यस्यावश्यकत्वे शत्रून्-गमयत् स्वर्गमित्यादौ स्वर्गकर्तृता प्रयोज्यकर्तृर्न स्यात् । आख्यातार्थव्यापारानाश्रयत्वात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सति स्वर्गस्य कर्मत्वानापत्तेः । कर्तुरीप्सिततमत्वस्य कर्मत्वात् । न च प्रयोजककर्तृकर्मत्वमेव स्वर्गस्यास्तां तथा सति गिजर्थकर्मत्वापत्तौ गमिकर्मतानापत्तेः । तथा च गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनीति

१ दूषणान्तरमप्यर्थः T. २ T. drops परमते. ३ °मिति स्यात् T. ४ °ननु for ननु in K.; D₉ has मम तु for ननु. ५ °व्यापारवत्त्वात् T. ६ प्यन्तादावप्रयुज्यन्ते K., D₁, D₂. ७ इत्यारभ्य is omitted in T. ८ °भावनानिरूपितत्वात् K., Tr. ९ स्वर्गकर्तृप्रयोज्यकर्तृ° T.

स्वर्गायेति चतुर्थनापत्तेः । पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेणेत्यत्र विष्णुमित्रस्य कर्तृत्वविरहेण तृतीयानापत्तेश्च । न चेयं कैरणतृतीयैवेति शङ्क्यम् । तथा सति देवदत्तस्याहेतुतापत्तौ गिजुत्पस्यसंभवापत्तेः । तत्प्रयोजको हेतुश्चेति कर्तृप्रयोजकस्यैव हेतुत्वात् । एवं शत्रूणामकर्तृत्वेऽप्युद्भूतम् । प्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति भाष्यविरोधापत्तेश्च । अकर्तुः कर्मण एव कर्तृपदव्यावर्त्यत्वात् न च कर्तुः कर्मण इति भाष्यसंगतमेव संज्ञान्तरानाविष्टे कर्तृपदसंकेतेनात्रापि प्रयोज्यस्य गतिबुद्धीति सूत्रेण कर्मसंज्ञाविधानेन कर्तृत्वासंभवादिति वाच्यम् । शुद्धधात्वर्थव्यापारे कर्तृत्वेऽपि प्रयोजकव्यापारे कर्मत्वात् । क्रियाभेदेन तयोरविरोधात् । किं च देवदत्तः पाचक इत्यत्राख्याताभावाद् देवदत्तादेः कर्तृत्वं न स्यादित्याद्युद्भूतम् । किं च फलप्रकारकव्यापारविशेष्यकानुकूलत्वसंसर्गकशाब्दबोधे त्वया धात्वाख्यातयोर्धातुकृतोर्बानुपूर्वी हेतुरभ्युपेया । मया च धातोरेवानुपूर्वी तथा वाच्येति लाघवम् । न च तवापि यदाख्यातस्य व्यापारवाचकत्वभ्रमस्तदा तद्धेतुरभ्युपेयः । धातुशक्तिज्ञानस्यापि कारणत्वे कारणतारूपायां शक्तौ व्याकरणस्यैव निर्णायकत्वात् । अन्यथा घटपदस्यापि शक्तिभ्रमात् पटबोधकत्वेन पटशक्तत्वापत्तेरिति । साधुत्वनिर्णायकं व्याकरणमिति चेच्छक्तत्वस्यैव साधुत्वस्य व्याकरणाधिकरणे न्यायसुधायामभिधानात् । प्रत्ययस्यैवमप्यसाधुतापत्तेश्चेति ध्येयम् । धातुत्वमेव नेति । अयं भावः । धातुसंज्ञाविधायकं तावद् भूवादयो धातव इति सूत्रम् । तत्र च भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्दयोर्व्यवस्थाप्रकारवाचिनोरेकशेषः । ततो भूवौ आदी येषामिति बहुव्रीहिः । तथा च भूमभूतयो वासदशा धातव इत्यर्थः पर्यवसितः । सादृश्यं च क्रियावाचकत्वेन । अन्यथा वाशब्दानर्थक्यं स्यात् । इत्थं च क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वं पर्यवसितम् । अत्र क्रियावाचित्वमात्रोक्तौ वर्जनादिरूपक्रियावाचके हिक् नानेत्यादावतिव्याप्तिरिति गणपठितत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

२ ननु गणपठितत्वमेव धातुत्वमास्तां न तु क्रियावाचकत्वमपीति । न च वाशब्दानर्थक्यम् । भूवादीनां वाकारोऽयं सङ्गलार्थः प्रयुज्यत इति वार्तिककारैरेव तत्प्रयोजनस्योक्तत्वादित्यत आह—

१ D. has स्याद्वा स्वर्गपदादिव शत्रुपदादपि चतुर्थी । गिजयं कर्मत्वाविशेषात् before पाचयति &c. २ कारणं T. ३ कर्तुः कर्मणः K. ४ विरोधापत्तिश्च D₂. ५ D. has तथा चात्र कृष्णेन शत्रवः स्वर्गं गम्यन्त इतिवत् कृष्णेन शत्रून् स्वर्गो गम्यत इत्यस्यापत्तिर्द्वारा स्यात् । before न च कर्तुः &c. ६ साधुत्वमेव नेति T. ७ T. drops इति. ८ वकारोऽयं D₁, D₂, T.

सर्वनामाव्ययादीनां यावादीनां प्रसङ्गतः ।

न हि तत्पाठमात्रेण युक्तमित्याकरे स्फुटम् ॥ १० ॥

गणपठितत्वमात्रोक्तौ सर्वनामायोपात्तस्यापि धातुत्वं स्यात् । तथा च याः पश्यसीत्यादावातो धातोरित्याकारलोपः स्यात् । इत्थं चोक्तास्वरसादेव मङ्गलार्थत्वं परित्यज्य 'अबो वार्थं वदन्तीति भवर्था भूवादयः स्मृताः' इति पक्षान्तरं तैरेवोक्तमिति ध्येयम् । ननु लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणाच्च सर्वनाम्नो ग्रहणं तस्य लाक्षणिकत्वादत् आह । वेति । अव्ययं यो वा तत्राति-प्रसङ्गः । तथा च विकल्पार्थको वातीत्यादिप्रयोगः स्यादिति भावः । आदिना सु इत्युपसर्गस्य माङ् मा इति स्वराद्योश्च संग्रहः । न च षत्वपाठादुपसर्गव्यावृत्तिः । साध संसिद्धावित्यस्य नूर्धन्यादित्वाय पोपदेशलक्षणवत्त्वं तत्त्वमित्यन्यत्र निर्णीतत्वात् । तथा च समीचीनवर्जनाद्यर्थे संवति मिमीते मातीत्यापात्तिः पु प्रसवे माङ् माने मा माने इति धातूनां सत्त्वाच्चिर्णयासंभवात् । न च वेत्याद्यव्ययानां वा गतिगन्धनयोरित्यादिधातुभ्यः क्तिवादिभिर्युत्पादनं शङ्क्यम् । गमनादिकर्तृत्याद्यर्थत्वापत्तेरर्थान्तरत्वानापत्तेश्च । कृदन्तत्वात् सिद्धौ निपातस्यानर्थक्येति वार्तिकस्यानुक्तिसंभवापत्तेश्चेत्यादि ध्येयम् । न च गतिगन्धनाद्यर्थनिर्देशो नियामक इति वाच्यम् । तस्याधुनिक-भीमसेनादिभिर्निक्षिप्तत्वात् । भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिशुः । पाणिनिस्तु भवेधं इत्याद्यपाठीदिति भाष्यवार्तिकयोः स्पष्टम् । केचित्तू उद्दिष्टार्थविशिष्टस्य धातुत्वेऽलंक्रियते गुरुरित्यादावर्थान्तरे धातुत्वं न स्यात् । तदर्थस्यानुद्देशात् । निपातानां वाचकत्वात् सोऽर्थो निपातवाच्य इति चेन्न । उपसर्गाणां द्योतकत्वात् तत्रानुपपत्तितादवस्थ्यात् । वस्तुतो निपातानामपि द्योतकत्वमेवेति तत्राप्यनुपपत्तिरेवेति वदन्ति । ननु प्रयोगानुसारतोऽर्थानां कल्प्यत्वे सर्वत्रोद्दिष्टोऽर्थो व्यर्थ चेन्न । क्रियावाचित्वबोधार्थं तदुद्देशात् । तदुक्तम् ।

‘क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्शितः ।

प्रयोगतोऽनुसर्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥’

इति । कुर्दखुर्दगुर्दगुदक्रीडायामेवेत्येवकारोऽप्यत्र मानम् । अन्यथा व्यर्थत्वापत्तेः । ननु क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वस्यैव धातुत्वे सौत्राणां स्तम्भवादीनां लौकि-

१ वावादयः D₁, D₂, T. २ तत्र च T. ३ वातिप्रयोगः स्यात् T. ४ संवति T. ५ भवेति D. ६ बोधनार्थं D.

कानां च चुलुम्पादीनां धातुत्वं न स्यादिति चेन्न । स्तम्भवादिपूदित्करणेनैव ज्ञापकबलात् तत्सिद्धेश्चुलुम्पादीनां च कास्यनेकाजिति वार्तिकवचनात् तत्सिद्धेः । वस्तुतश्चुराद्यन्ते बहुलमेतच्चिदर्शनमिति पठितगणसूत्रेण सर्वेषां संग्रहः । तत्र धातुवृत्तिकारादिभिरेतत्प्रदर्शनं दिक्प्रदर्शनमात्रं प्रयोगानुसारेणान्येऽपि ज्ञेया इति व्याख्यातत्वात् । तस्मात् क्रियावाचको धातुरिति सिद्धम् ॥ १० ॥

ननु क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं तत्त्वमस्तु । क्रिया च न व्यापारः किं तु धात्वर्थ इत्यत आह

धात्वर्थत्वं क्रियात्वं चेद् धातुत्वं च क्रियार्थता ।

अन्योन्यसंश्रयः स्पष्टस्तस्मादस्तु यथाकरम् ॥ ११ ॥

धातुत्वग्रहे च धात्वर्थरूपक्रियात्वग्रहस्तद्ग्रहे च तद्वाचकत्वरूपधातुत्वग्रह इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः । ननु धात्वर्थः क्रियेत्यत्र प्रविष्टमन्यदेव धातुत्वं वाच्यं तथा च नान्योन्याश्रय इति चेन्न । मानाभावात् । तदपेक्षया यथाश्रुतस्यैव लघुत्वात् । तदेव धातुत्वमादाय लडाद्युपपत्तौ भूवादय इत्यस्य वैयर्थ्याच्चेत्याशयेनाह । तस्मादिति । व्यापारसन्तानः क्रिया । तद्वाचको धातुरिति यथाकरमित्यर्थः । केचित्तु सीमांसको वैयाकरणं प्रति दोषमाह । धात्वर्थत्वमिति । धात्वर्थत्वं क्रियात्वं यदि ब्रूयास्तदान्योन्याश्रयः स्पष्ट इत्यर्थः । तस्मादिति । आख्यातार्थः क्रियेत्यध्याहारः । वैयाकरणः समाधत्ते । अस्त्विति । व्यापारसन्तानः क्रिया तद्वाचको धातुरित्यर्थः । तथा च नान्योन्याश्रय इति व्याचक्षते । वस्तुतस्तु न क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं लडादिप्रयोजकम् । क्रियात्वस्यैकस्याभावेनानुगमात् । किं तु संज्ञाविशेषः संज्ञाशब्दानां जातिवाचित्वपक्षे जातिविशेषो वा तन्नियामकः । सूत्रं च तत्परिचायकम् । तत्रोक्तप्रिमकारिकाभिः परिचायकाव्याश्रयतिव्याप्ती विचार्येते । तत्रापि क्रियाशब्दस्य साध्यत्वेनाभिधीयमानव्यापारे एव सांकेतिकशक्तेः स एव गृह्यते सूत्रे वाशब्दसूचनयेति सूत्रं धातोः क्रियार्थत्वसाधनायाभिहितम् । किं तूक्तयुक्तिभिः साधितार्थस्य स्वोत्प्रेक्षितत्वनिराससूचनायेति तत्त्वम् । एतेन भ्वाद्यन्यतमत्वमेवास्तु धातुत्वं न क्रियार्थत्वगर्भम् । अथवा गणपठितत्वे सति सत्ताद्यर्थकत्वमेव भूधातोर्धातु-

१ सिद्धेः for तत्सिद्धेः Tr. २ पठितत्वमेवास्तु Tr. ३ धात्वर्थत्वरूपं D₁ Tr. ४ धात्वर्थक्रिये K.; धात्वर्थक्रिये Tr., D₂. ५ तेन D₁.

त्वमास्ताम् । इत्थमन्यत्राप्युक्तम् । अत एव तत्तदर्थव्यापारयोर्हेमयोर्धातुवाच्यत्वे धातोर्नानार्थत्वकल्पनादोषोऽपि परास्तः । अर्थस्य तत्तत्पुरस्कारेणोपादानाच्च नान्योन्याश्रयोऽपि । यद्वा सर्वफलान्यन्यतमत्वेन धृत्वा तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वमेव सूत्रार्थः कल्प्यतामित्यपास्तम् । किं चान्यतमत्वेन सर्वेषां धातूनां ते तेऽर्था धर्त्तव्याः । अन्यथार्थान्तरे धातुत्वं न स्यात् । तथा चाव्यये वा इत्यादावतिप्रसंगस्तस्याप्युक्तरीत्या गणपठित्वाद्विकल्पार्थत्वाच्च । अन्यतममध्ये विकल्पस्यापि धृत्वात् । कृपू सामर्थ्ये इत्यस्य विकल्पयतीति प्रयोगदर्शनाद्विकल्पार्थत्वादिति ॥ ११ ॥

नन्वेवं गणपठितत्वे सति क्रियावाचकत्वस्यैव धातुत्वे भवतीत्यादौ क्रियानुपलम्भाद् भ्वादीनां धातुत्वं न स्यादित्यत्राह—

अस्त्यादावपि धर्म्यशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना ।

अन्यत्राशेषभावात्तु सा तथा न प्रकाशते ॥ १२ ॥

अस्त्यादौ अस भुवीत्यादौ । धर्म्यशे धर्मिभागे । भाव्ये भाव्यताविवक्षायाम् । भावनास्त्येव । अयं भावः । अस्तिभवतीत्यादौ धर्म्यशे भावनास्त्येव । भूधातोः स्थित्युत्पत्तिरूपद्वयर्थत्वात् । प्रमाणं च ‘ धान्यानां भवने क्षेत्रे तत्र जातस्तत्र भवः ’ इति भेदेन निर्देश एव । ‘ रोहितो लोहितादासीद्द्विभुस्तस्य सुतोऽभवत् ’ इति प्रयोगश्च । अत एव घटो भवति स्वस्वरूपं लभत इति सत्कार्यवादीनां विवरणमप्युपपद्यते । इत्थं च सर्वत्र भावना निरावाधैव । किं च । यद्यत्र क्रिया नास्ति कथं तर्हि भविष्यति अभूत् भवति अस्तीत्यादौ कालसंबन्धः । कालस्य क्रियात्मकत्वात् । वर्तमाने लङित्यत्र वर्तमानक्रियावृत्तेरिति व्याख्यातत्वात् । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘ क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका ’

इति ।

‘ कालानुपाति यद्रूपं तदस्तीति प्रतीयते ’

इति च । तस्माद्यदि क्रियात्र नास्ति तर्हि लङादिकमपि न स्यादिति द्रष्टव्यम् । नन्वेवं भावनाया उभयतुल्यत्वात् घटं करोतीत्यत्रेव घटो भवत्यस्तीत्यत्रापि

१ Tr. drops उभयोः. २ स्तथापि उक्तरीत्या Tr. ३ मध्याविकल्पस्यापि Tr. ४ द्विकल्पार्थकत्वात् T. ५ T. drops रूप. ६ दृष्टुः T. ७ मुताभवत् K. ८ T. drops च. ९ उभयत्र तुल्यत्वात् T.

प्रतीयेतेत्यत्राह । अन्यत्रेत्यादि । अशेषभावाद् भावनाफलयोरेकनिष्ठत्वात् । सा भावना । तथा स्पष्टम् । भावनाफलयोरेकनिष्ठत्वाद्भावना स्पष्टं न प्रकाशत इत्यर्थः । अथ सर्वेषां धातूनां क्रियावाचकत्वे किं करोतीति प्रश्ने पचतीत्युत्तरस्येवास्तीत्युत्तरमपि स्यात् तुल्यत्वादिति चेन्मैवम् । आसन्नविनाशं कंचिदुद्दिश्य किं करोतीति प्रश्न अस्तीत्युत्तरस्य सर्वसंमतत्वात् । इतरत्र तु सुस्थतया निश्चिते किं करोतीति प्रश्नः पाकादिविशेषगोचर एवेत्यवधारणादस्तीति नोत्तरमिति । अथैवमपि दिगस्ति भवत्यात्मास्तीत्यादौ तेषामुत्पत्तेर्बाधिततया कथं भावना वाच्येति चेदत्राहुः । पूर्वोपरीभावापन्नानेकक्षण-विग्रहस्यात्मन उत्पत्तेरत्रापि सुलभत्वाच्चातिप्रसङ्गः । यद्वा । स्वस्वरूपधारण-मेवास्त्यादौ फलं पच्यते तण्डुलः स्वयमेवेत्यादाविव तदाश्रयतैव साध्यत्वेनाभिधीयमानो व्यापारः । तथा चात्मादिः स्वस्वरूपधारणं करोतीत्यर्थः । तदुक्तं निरुक्ते । 'अस्तीत्युत्पन्नस्यात्मधारणमुच्यते' इति । नन्वेवमात्मानं धत्त इतिवदात्मानमस्तीत्यपि स्यादविशेषादिति चेदत्र वक्ष्यामः । उक्तं च वाक्यपदीये

‘आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते’

इति । किंथमन्यथा परेषां तिङामप्यत्रैव व्यभिचाराद् भावना वाच्या । न चान्नापि भावनास्येव तत्प्रतीतौ पुनः किञ्चित् प्रतिबन्धकं कल्प्यते समभिव्याहारविशेषस्य कारणत्वं वेति वाच्यम् । समाप्येतस्य सुवचत्वात् । अत एव भावनाफल-योरेकनिष्ठत्वमत्र दोषत्वेनोक्तं मूलकृता । वस्तुतः किं चेत्याद्युक्तयुक्त्यनुरोधेनात्राप्याकाशोऽस्याकाश आत्मा वासीदिति प्रयोगाद्भावनाया वाच्यत्वमावश्यकम् । किं चास्यादावस्तित्वमेव व्यापारः । अवच्छेदकतारूपा व्याप्तिः फलम् । सा च मासादावस्तीति मासमास्ते गोदोहमास्ते श्लोशमास्ते कुरुन् स्वपितृ-त्यादौ मासादेर्धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं कर्मत्वं संगच्छते । तथा च मासाद्यवच्छिन्ना स्थितिरित्यर्थः । अत एव द्वितीये भाष्ये ‘प्राकृतमेवेदं कालादि कर्म यथा घटं करोति’ इत्याद्युक्तम् । वाक्यपदीये च

‘कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः ।

सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥’

इति । प्रधानास्तित्वक्रियापेक्षया धात्वर्थत्वाद् व्यात्यादिकमन्तर्भूतं क्रियान्तरं येषां तेषां सर्वेषां योगे कालादीनां कर्मत्वं भवतीत्यर्थः । मासं पचतीत्यादि-

१ 'युत्तरमिव' T. २ प्रश्ने Tr. ३ अत्राह D₂. ४ चात्मादि स्वस्व? T. ५ T. has अनोच्यते for चेदत्र वक्ष्यामः. ६ K., D₁ and D₂ drop from कथमन्यथा to मूलकृता.

संग्रहाय सर्वैरिति वार्तिके । अकर्मकैरिति कैमुतिकन्यायेन । मासमास्ते कट इत्यत्र कटस्य न व्यापनकर्मत्वमिति न ततो द्वितीयेति हेलाराजः । अधिशीङ्-
स्थासामिति ज्ञापनात् 'कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणां देशश्च' इत्यस्य
नियमार्थत्वाद्वा नातिप्रसङ्ग इति तैत्त्वम् । न चास्यते मास इतिवत् पच्यते
मास इत्यापत्तिः । अस्यादेः सकर्मकत्वात् पच्यादेरिव भावे लश्च न स्यादिति
वाच्यम् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति न केचित् कालभा-
वाध्वभिरकर्मकास्तदेवं विज्ञास्यामः क्वचिद्येऽकर्मका इति भाष्येणैव दत्तोत्तर-
त्वात् । उक्तं च वाक्यपदीये

‘आधारत्वमिव प्राप्तास्ते पुनर्द्रव्यकर्मसु ।

कालादयो भिन्नकक्ष्यं यान्ति कर्मत्वमुत्तरम् ॥

अतस्तैः कर्मभिर्धातुर्युक्तो द्रव्यैरकर्मकः ।

लस्य कर्मणि भावे च निमित्तत्वाय कैलप्यते ॥’

इति । तात्पर्यविरहाच्च केवलमस्तीत्यादौ न तद्वोधकत्वमिति ध्येयम् । गवादि-
पदानां वागाद्यनेकार्थत्वाविशेषेऽपि गौरस्ति गां दद्यादित्यादौ प्रसिद्ध्यप्रसिद्धि-
भ्यामुत्सर्गतः शीघ्रं सास्त्रादिमद्वयक्तिबोधवागाद्यबोधवत् पचत्यस्तीत्यादौ
विकृत्तिसत्तादिबोधव्याख्यबोधयोरुपपत्तेश्च । वस्तुतो धातुसंज्ञाविध्यनुरोधाद्वा-
तूनां क्रियावाचकत्वावश्यकत्वेऽपि फलवाचकत्वं नावश्यकम् । अतोऽस्त्यादौ
सत्तादिरेव क्रिया । अत एव पश्यति भवः स्वयमेव दर्शयते भव इत्यादौ
निवृत्तप्रेषणेऽपि विषयतारूपफलस्यैव क्रियात्वं धात्वर्थत्वं चाभ्युपगम्यते । पच्यते
ओदनः स्वयमेवेत्यादौ विकृतिर्मात्रं धात्वर्थोऽतस्तद्रूपक्रियाश्रयत्वादोदनस्य
कर्तृतेति ।

‘एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः ।

स्वभावतः प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः ॥’

इति वाक्यपदीयव्याख्यायां हेलाराजीयेऽप्युक्तम् । नन्वेवं घटं भावयति
तण्डुलं पचति भवं पश्यतीत्यादावपि धातूपत्तक्रियाश्रयत्वात् घटादेः कर्तृतापत्तौ
द्वितीयानापत्तिः । कर्तृसंज्ञाया कर्मसंज्ञाया बाधात् । न च निरवकाशत्वात् कर्मसं-

१ T. drops from वार्तिके to न्यायेन. २ अकर्मकाणामिति D., D₁. ३ D₁ drops
तत्त्वम्. ४ केचित् for न केचित् in Tr. ५ इति च K. ६ वाक्यपदीयेऽपि D. ७ कल्पते
K., Tr, D₂. ८ गवाद्यं Tr. ९ गवाद्यं Tr. १० विकृतिं T. ११ द्वितीयानापत्तेः D₂

ज्ञैव देवदत्तः पचतीत्यादौ देवदत्ते सावकाशां कर्तृसंज्ञां बाध्मिष्यत इति वाच्यम् । एवं हि चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यादौ धातूपात्तफलाश्रये चैत्रेऽपि कर्मसंज्ञाद्वितीयोरापत्तेः । एवं पश्यति भव इत्यादावपीति । नापि प्रत्ययार्थान्याविशेषणत्वविशिष्टविषयतया धातुजन्यशाब्दबोधविषयत्वमेव क्रियात्वं निर्वाच्यं तत्र फलोपधानं तण्डुलं पचतीत्यादौ फले नास्तीति तस्मिन् प्रयोगे फलस्याक्रियात्वेऽपि कर्मकर्तरि तदस्त्येवेति तत्र तस्य क्रियात्वं तदाश्रयत्वेनौदनभवादेः कर्तृत्वं चोपपद्यते । पाचयति शिष्येण गुरुः पाचक इत्यादौ प्रत्ययार्थविशेषकभावनाविशेषणकशाब्दबोधस्य धातुप्रत्ययाभ्यामुत्पत्तेरव्याप्तिवारणाय प्रत्ययार्थन्येतीति युक्तम् । एवमपि पश्य मृगो धावति पश्य नृत्यति पचति भवतीत्यादौ धात्वर्थविशेषकनृत्यादिभावनाविशेषणकशाब्दबोधाभ्युपगमादव्याप्त्यवारणादिति चेन्न । तद्धात्वर्थविशेषणत्वविशिष्टविषयतया तद्धातुजन्यशाब्दबोधविषयताफलोपधानस्यैव तद्धात्वर्थभावनात्वात् । न चैवं घटं भावयतीत्यादौ भवनस्य णिजन्तधात्वर्थविशेषणत्वेऽपि भवार्थविशेषणत्वाद् भवार्थक्रियात्वमस्त्येवेति तदाश्रयत्वात् कर्तृत्वापत्तिः । इष्टापत्तेः । अत एव गतिबुद्धीति सूत्रेण कर्तुरेव कर्मसंज्ञा विधीयते । अत एव क्रियाभेदादुभयमप्यस्तीति 'प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति भाष्य उभयथापि व्यवहारः कृतः । न चैवमपि क्रियात्वस्य धातुत्वगर्भतया तस्य क्रियावाचकत्वगर्भस्यान्योन्याश्रयादग्रहप्रसङ्गः । क्रियात्वघटकधातुत्वस्य जाल्यादिरूपत्वात् । भूवादिसूत्रं तु तत्परिचायकमिति प्रागेवोक्तम् । फलत्वमपि तद्धात्वर्थविशेषणत्वे सति तद्धात्वर्थत्वम् । अतः प्रयोज्यव्यापारस्याणिजन्तधात्वर्थाफलत्वेऽपि णिजन्तधात्वर्थफलत्वात् तदाश्रयस्य तत्र कर्मत्वमुपपद्यते । पश्य मृगो धावतीत्यत्र धावनक्रियाया दृशिफलत्ववारणाय प्रथमं तद्धात्विति तत्पदम् । दृशिफलत्वे च तदाश्रयत्वान्मृगस्य कर्मतापत्तौ द्वितीया दुर्वारा । न च तस्य धात्वर्थभावनाश्रयतया कर्तृत्वात् तत्संज्ञया बाधाञ्च कर्मसंज्ञाद्वितीयेति वाच्यम् । पक्त्वौदनो भुज्यते देवदत्तेनेत्यत्रैव प्रधानानुरोधेन कार्यप्रवृत्तेः । प्रधानदृश्यार्थक्रियानुरोधिकर्मसंज्ञाया दुर्वारत्वात् । किं च । स्वकारकविशिष्टा क्रिया दृशिकर्म । तथा च धावनकर्तृत्वानन्तरं दृशिकर्मत्वसंपत्तेर्येन नाप्राप्तिन्यायरीत्या पश्चात् प्रवृत्तं कर्मत्वं कर्तृत्वबाधेनैव प्रवर्ततेति न बाध्यत्वं युज्यते । अत एव घटं भावयतीत्यादौ प्रधानानुरोधात् कर्मत्वं

१ तदाश्रयत्वेनौदनभवादेः T.; तदाश्रयत्वेनौदनतादेः Tr. २ विषयतया फलो T. ३ D, drops अपि. ४ विशेषणत्वाद्भवर्थं Tr. ५ इष्टापत्तिः Tr. ६ द्रव्यग्रहप्रसङ्गः K. ७ Tr. drops न.

सिद्धयत्येवेति गतिबुद्धिसूत्रं नियमार्थं तेन पाचयति गुरुः शिष्येणेत्यत्र न कर्मत्व-
मिति सर्वं संप्रतिपन्नम् । एवं च पच्यते ओदनः स्वयमेव घटो भवतीत्यादौ व्या-
पार आश्रयत्वादिकं प्रकल्प्य फलव्यापारोभयार्थत्वकल्पनं तत्र तत्रोक्तमनादे-
यम् । भावयतीत्यादौ भवनानुकूलप्रेरणाप्रतीतिवद्भवनाश्रयत्वानुकूलव्यापार-
वानिति प्रतीतेरनुभवविरहेऽपि कर्तृव्यापारानुकूलव्यापारस्यैव निजार्थत्वात् ।
एवं च धात्वर्थः सर्वोऽपि प्रयोगविर्वक्षामेदेन भावना भवतीति का पुनर्धा-
त्वर्थातिरेकिणी भावनेति मीमांसकैरेतन्मतं शङ्कितं भावार्थाधिकरणे । तथा
चैतन्मते केवलव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वं फलव्यापारोभयवाचकत्वं सकर्मकत्वं
द्रष्टव्यम् । अत एव जीवत्यादेरकर्मत्वं सूच्यते । जीव प्राणधारणे नृती गात्र-
विक्षेपे संसुध्वंसु अधःपतने इत्याद्यनुशासनेनैतादृशानां प्राणादिविशिष्टधारक-
संयोगगात्रविशिष्टविक्षेपादिक्रियामात्रवाचकत्वेनोभयवाचकत्वाभावाद् विशिष्टस्यैव
क्रियात्वात् । अत एवात्र न प्राणगात्रयोः कर्मत्वम् । दधत्यादेस्तु धारणक्रियासंघौ
गाद्युभयवाचकत्वात् पात्रं धत्ते प्राणान् धत्त इत्यादि सर्वप्रयोगाः सकर्मकत्वं चोप-
पन्नमेव । पत गतौ पल्ल गतावित्येतयोश्च गम्लु गतावितिवत् संयोग-
क्रियोभयशक्तत्वात् । तद्वदेव सकर्मकत्वम् । अत एवोर्ध्वं पतत्यधः पतती-
तस्ततः पततीत्यादयो गच्छतिवत् प्रयोगाः । द्वितीया श्रितातीति सूत्रे नरकप-
तित इति वृत्तिकारोदाहरणं चोपपद्यते । अस्तीत्युपपन्नस्यात्मधारणमुच्यत इति
निरुक्तकारोक्त्यास्तेरप्यात्मविशिष्टधारणवाचकत्वे च जीवत्यादिवदेवाकर्मकत्वं
द्रष्टव्यम् । आत्मविशिष्टधारणादिकमेव व्यापारः । तदेवादाय भूवादय इति
लक्षणसंगतिः । अस्तु वा तदतिरिक्ततत्फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम-
स्यादेः । न चैवं तत्प्रतीत्यापत्तिः । बाधानवतारदशायामिष्टत्वात् । तदवतारे
तेनैव प्रतिबन्धान् न तथेति न काप्यनुपपत्तिरिति सांप्रदायिकाः । स्वतन्त्रास्व-
स्तु तत्र बाधनिश्चयस्तथापि प्रत्ययो नानुपपन्नः । अत्यन्तासत्यपि शब्दाद्बोधे बा-
धकाभावात् । तथा च भगवान् पतञ्जलिः । 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुज्ञान्यो

१ गतिबुद्धीति सूत्रं D. २ पारमाश्रयं T. ३ ज्ञावनाश्रयं T. ४ विरोधाच्च K., D₁.
५ विवक्षणाभेदेन T. ६ मीमांसकैरेव शङ्कितं Tr. ७ संयोगोभयवाचकं K., Tr.;
क्रियात्यये उभयवाचकं D. ८ गात्रं T. ९ पल्ल गतौ पद गतौ Tr. १० श्रितातीतिपतितेति
T. ११ वाचकत्वेन जीवं T. १२ T. drops द्रष्टव्यम्. १३ From आत्मविशिष्टं to
लक्षणसंगतिः Tr. and D₁ have आत्मानं धत्त इति तु प्राणान् धत्त इतिवत्; D₁ and D₂
have the same and have स्वतन्त्रास्तु &c. following इतिवत्. १४ इत्यादि T.
१५ वाचित्वं T. १६ भगवत्पतञ्जलिः D₂.

विकल्पः' इति । तदुक्तं विवरणेऽध्यासलक्षणशेषे 'नाप्यध्यस्तमसदेव तथात्वे प्रतिभासायोगादिति टीकाप्रतीकमादाय प्रत्यक्षप्रतिभासो न स्यादित्यर्थः । प्रतिभासमात्रनिराकरणे शून्यं न भासत इति वाक्यस्यावबोधकत्वप्रसङ्गात्' इति । तथा खण्डनकारोऽप्याह । अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि । अत एव शशशृङ्गादिशब्दाद्वाधितोऽपि संसर्गो भासत एवेत्यर्थप्रतीतिजनकत्वरूपार्थवत्त्वात् प्रैतिपदिकत्वसिद्धेः समासग्रहणं नियमार्थमित्यत्र नानुपपत्तिः । इत्थं च क्रियावाचकत्वं तद्वोधकत्वमात्रम् । वक्ष्यते च बोधकत्वमेव शक्तिरपि । यत्तु वह्निना सिञ्चेदित्यत्र बोधादर्शनादयोग्यतानिश्चयः शाब्दबोधे प्रतिबन्धकः स च प्रकृतेऽस्येवेति न बोध इति नैयायिकमीमांसकादिभिः परीक्षितः पन्थाः । एकपदार्थसंसर्गोऽपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावादिनानायोग्यताज्ञानं न शाब्दबोधे स्वातन्त्र्येण कारणम् । न वा स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध एवैतादृशयोग्यताविरहरूपायोग्यत्वनिश्चयः प्रतिबन्धकः । किं त्वनुमित्यादिसाधारण्येनैव कृत्प्रतिबन्धकीभूतबाधज्ञानादेव न वह्निनेत्यादौ बोधः । न चैवं शाब्दप्रमायां गुणत्वानुरोधेन योग्यताप्रभाकारणं कल्प्यम् । अतो यद्विशेषयोरिति न्यायेन शाब्दबोधसामान्य एव योग्यताज्ञानं कारणमिति वाच्यम् । संशयत्वादिवज्जीलघटत्वादिवच्चार्थसमाजसिद्धतया प्रमात्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात् । एवं च प्रकृतेऽपि बाधज्ञानसत्त्वान्न बोधः । यत्तु घटो न घट इत्यत्रापि बोधापत्त्या योग्यताज्ञानं कारणं तत्र बाधस्य प्रतिबन्धकत्वासंभवात् । घटत्वधर्मितावच्छेदकघटभेदज्ञानस्य प्रैतिबध्यस्यानाहार्यस्याप्रसिद्धेरिति । तत्तुच्छम् । तादृशोपनीतभानस्योनाहार्यस्य तवापि दुर्वारत्वात् तादृशज्ञान इच्छाविशेषस्यैव हेतुत्वात् । किं चैवं योग्यतायाः सर्वत्रैक्यासंभवाद्विशिष्य हेतुहेतुमद्भावावश्यकत्वे प्रकृते तादृशशाब्दबोधाप्रसिद्ध्या हेतुत्वकल्पनाया असंभवात् । अन्यत्र कल्पनायां मानाभावाच्चेति । किं चात्यन्तासतेन्द्रियसंनि-

१ तयोक्तं T., D. २ सुपादाय Tr. ३ हीति T. ४ शब्दामिहितो Tr. ५ 'त्यर्थः प्रतीति K. ६ प्रातिपदिकत्वमित्यादिसिद्धसमास° Tr. ७ नानुपपत्तिपसङ्गः Tr. ८ Tr. has शक्तिरित्यपि । अत्र बाधनिश्चये सति न बोधः । वह्निना सिञ्चेदित्यादौ तथाभ्युपगमात् । यत्तु &c. ९ पन्थाः स न साधुः तथाहि एक° Tr. १० शाब्दबोधसामान्ये K. ११ प्रमाणकारणं T.; प्रमाणकारणं T. १२ घटोऽवट T., D. १३ प्रतिबन्धतयास्य तादृशानाहार्यज्ञानस्याप्रसिद्धेरिति । Tr. १४ Tr. drops अनाहार्यस्य. १५ अतादृशज्ञाने Tr.

कर्पाभावेन प्रत्यक्षासंभवाद्व्याप्तिज्ञानासंभवेनानुमित्याद्यभावात्तत्र शक्तिग्रहस्यै-
वासंभवाच्च बोध इत्यपरे वदन्ति । तच्चिन्त्यम् । बाधनिश्चयादेः सत्त्वेऽपि

‘अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्ष्यकृताः संख्यया

प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः ।

गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन बन्ध्योदरान्

मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसी ’ इत्यादेः

‘एष बन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।

मृगानृष्णान्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ ’

इत्यादितश्च बोधदर्शनेनास्याप्रतिबन्धकत्वात् । न चात्र न शाब्दबोधः किं तु
पदार्थोपस्थितिमात्रमिति शङ्क्यम् । अन्यत्रापि तथात्वापत्तेः । शब्दप्रामाण्योच्छे-
दप्रसङ्गात् । अन्यथा चमत्कारानापत्तेश्च । न च प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुत्वा-
नुरोधाच्छब्दविशिष्टज्ञानसिद्धिः । दुःखद्वेषेच्छासुखादावपि तद्रीत्या तद्वेतुत्वेन
मिथ्याभिशापगालिदानरूपकादिकाव्यजर्दुःखाद्यनुरोधेन सत्यपि बाधे तसिद्धेर्दु-
वारत्वात् । न चैवं बह्विना सिञ्चेदित्यत्र बाधे प्रवृत्तिरपि स्यादिति शङ्क्यम् ।
प्राक्तनबाधेनाप्रामाण्यशङ्काया एव जायमानज्ञाने जननात्तच्छून्यज्ञानस्य प्रवृत्ता-
वुपयोगिनोऽसत्त्वेनासंभवात् । एवं शक्तिग्रहोऽपि न शाब्दबोधविषयीभूतपदार्थ-
मात्र अपेक्षितः किं तु क्वचिच्छक्यतावच्छेदकावच्छिन्ने । स च प्रकृते घटोऽस्ती-
त्यादौ वृत्त एव शशशृङ्गादिपदे तु पदप्रकारकबोध एव । तत्र चेदं पदं क्वचि-
च्छक्तं साधुपदत्वादित्याकारो दशरथादिपदेष्विव तद्गहो हेतुः स च शक्यानुप-
स्थितावपि भवतीति व्युत्पादयिष्याम इति न द्वितीयोऽपीत्याहुः ॥ १२ ॥

ननु भावनायाः फलनियतत्वात् फलवतः कर्मत्वाद्धातोस्तद्वाचकत्वे सर्वे
सकर्मकाः स्युस्तत्राह—

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः ।

धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥ १३ ॥

एकनिष्ठतायामेकमात्रनिष्ठतायां भिन्नाधिकरणावृत्ततायामिति यावत् । तेन
गम्यादौ नातिव्याप्तिः । अकर्मको यथा भ्वादिः । धातुरित्यन्तेनान्वयः । तयोरि-

१ K. has बहिर आद्याः for तिमिरप्रख्याः. २ °च्छाब्द° D₁, D₂. ३ सुखाद्यनुरोधेन D₁,
D₂. दुःखसुखाद्यनुरोधेन K. ४ भव वाक्यपदीयेऽन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मक इति न
आत्मानमात्मनेति पूर्वागतानि व्युत्पादयिष्यामः Tr. ५ अकर्मको धातुरित्यन्वयो यथा भ्वादिः
तयोरित्यादि D.

त्यादि । यन्त्रानयोर्भिन्ननिष्ठेत्यर्थः । यथा पच्यादिः । इत्थं चाकर्मके क्रियासत्त्वेऽ-
पि तयोरेकनिष्ठत्वाच्च सकर्मकत्वमिति भावः । अत्रेदमवधेयम् । एवं हि
जीवतिनृत्यादेः सकर्मकत्वापत्तिः । प्राणधारणगात्रविक्षेपादिरूपफलस्य व्यापार-
व्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वं वाच्यम् । अविवक्षितकर्मणामलक्ष्यत्वे
चाविवक्षाविरहविशिष्टेत्यपि निवेशनीयम् । एवं चास्तेरात्मधारणरूपफलवाचकत्वे
निरुक्तकारोक्तेऽप्यात्मांशस्य धात्वर्थत्वाच्च सकर्मकत्वम् । दधातेस्तु धारण-
मात्रमर्थो न तु तदाश्रयोऽपीति सकर्मकत्वं संगच्छते । एवं खंसु ध्वंसु अधः-
पतन इत्यादेरप्यभेदशरूपफलाश्रयवाचकत्वादकर्मकत्वम् । पतु गतावित्यादे-
र्गन्वादिवत् संयोगमात्रार्थत्वात् सकर्मकत्वान्नरकपतित इत्यादिद्वितीयासमासो-
पपत्तिः । तदुक्तं वाक्यपदीये—

‘अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः’

इति । तेन आत्मानमात्मनेति पूर्वार्धेनोक्तकर्मणासावस्तिः सकर्मको न ।
अन्तर्भावादस्यर्थेन क्रोडीकृतत्वादित्यर्थः । अथैवं जानातीच्छत्यादेः सकर्मकत्वं
न स्यात् । धात्वर्थज्ञानजन्यफलस्य घटादावसत्त्वात् । आत्मानं जानातीत्यादौ
फलव्यापारयोरेकनिष्ठत्वाच्चेति चेत् सत्यम् । ज्ञानजन्यफलस्य घटादौ कारकार्थ-
निरूपणे वक्ष्यमाणत्वात् । आत्मानं जानातीत्यादौ चात्मभेदः कल्प्यते । एकः
शरीरावच्छिन्नोऽपरस्त्वन्तःकरणावच्छिन्नस्तत्रान्तःकरणावच्छिन्नः कर्ता चेच्छरी-
रावच्छिन्नः कर्म । तथा च फलव्यापारयोर्भिन्ननिष्ठत्वाक्षतेः सकर्मकत्वं नासि-
द्धम् । एवम् ‘आत्मानमात्मना हन्ति सृजत्यात्मानमात्मना’ इत्यत्रापि
शरीरात्मभेदसत्त्वाल्लक्षणं द्रष्टव्यम् । उक्तं च ‘कर्मवत् कर्मणा’ इति सूत्रे
भाष्ये द्वावात्मानौ शरीरात्मानन्तरात्मा च । शरीरात्मा तत्कर्म करोति येना-
न्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवति । अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा
सुखदुःखे अनुभवतीति । मीमांसकास्तूक्तातिप्रसङ्गेभियेव प्रकारान्तरेणाकर्म-
कत्वसकर्मकत्वविभागं वदन्ति । तथा च भावार्थाधिकरणे भेदैरुक्तम् ।

१ यत्र तयोः D₂. २ एवं हि तदुक्तं वाक्यपदीये—क्रोडीकृतत्वादित्यर्थः omitted in
T. ३ नृत्यत्यादिः K. ४ निरुक्तकारोक्तेरप्यात्मांशस्य K. ५ शंसु K. ६ From तदुक्तं
to क्रोडीकृतत्वादित्यर्थः appears in T. after एवं हि and before जीवतिनृत्यादेः.
७ अन्तर्भावितेनासौ Tr. ८ घटादिकर्मणा सकर्मकत्वं न स्यात् T. ९ भिन्ननिष्ठत्वात् कृतेः
Tr., भिन्ननिष्ठत्वाद्वाक्षतेः D. १० T. drops इति. ११ पियैव T. १२ भट्टपादिरुक्तम् K.

‘साक्षादव्यभिचारेण धात्वर्थो यत्र कर्मभाक् ।

सकर्मकः स धातुः स्यात् पारम्पर्ये त्वकर्मकः’ ॥

आसनशयनादौ हि आनन्तर्येण नियमेन कर्मविशेषो न निरूप्यत इत्यकर्मकत्वं पचिगम्यादीनां तु विह्विद्यत्संयुज्यमानसाक्षात्संबन्धिकर्माव्यभिचारात् सकर्मकत्वं न तु भावनाविशेषणत्वेन कश्चिद्विशेष इति । तच्चिन्त्यम् । भवति घटमित्याद्यापत्तेः । न चात्र कर्म न निरूप्यत इत्यकर्मकत्वम् । कर्मनिरूपणस्यैवापाद्यत्वात् । अन्योन्याश्रयापाताच्च । कर्मनिरूपणे हि सकर्मकत्वं सकर्मकत्वे च कर्मनिरूपणमिति । न च तवाप्येतादृशस्थले फलव्यापारयोर्भिन्ननिष्ठतैव किं न स्यादिति वाच्यम् । तथैव वस्तुनः स्वभावात् । निरूपणं तु प्रयोगः स चापादयितुं शक्य एवेति । नन्वत्र निरूपणमाकाङ्क्षा तथा च यद्भातूच्चारणे कर्माकाङ्क्षा नियता स सकर्मकः । सा च समानार्थकेष्वपि धातुविशेषोपस्थापननिबन्धना यत्रास्ति स सकर्मको यत्र नास्ति सोऽकर्मकः । एवं च कृजोऽपि यतेरिव यत्नमान्नार्थकत्वेऽपि नानुपपत्तिः । कर्मत्वादिपदोपस्थाप्यकर्मत्वस्य क्रियाकाङ्क्षाभावेऽपि द्वितीयोपस्थाप्यस्य तत्साकाङ्क्षत्ववत् कृजुपस्थाप्यस्य यत्नस्य कर्माकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । एवं च सकर्मकत्वानुरोधेन कृज उत्पत्तिवाचकत्वव्यवस्थापनमप्ययुक्तम् । अविवक्षितकर्मणां सकर्मकत्वस्य वारणीयत्वे चाविवक्षाभाववैशिष्ट्यमपि लक्षणे निवेश्यताम् । एवमेकस्यैवार्थभेदेनाकर्मकत्वसकर्मकत्वमपि नानुपपन्नम् । यदर्थेऽविवक्षाविरहविशिष्टकर्माकाङ्क्षाजनकत्वं यस्य स तत्रार्थे सकर्मक इत्यननुगतस्यैव त्वद्वीत्या लक्षणत्वसंभवादिति चेन्न । गच्छतिपततीत्यादिषु कर्माकाङ्क्षाविरहेणाव्याप्तेः । अत्रत्यकुत्रकिमित्याकाङ्क्षायाः यततेभवतीत्यादिषु कुत्रकिमित्याकाङ्क्षानुल्यत्वात् । द्वितीया श्रितातीतपतितेति सूत्रे पतितशब्दस्य कर्मद्वितीयासमासविधानेन पतेः सकर्मकत्वनिर्णयात् । कृज उत्पत्त्यर्थकतायाः प्रागेव निर्णीतत्वाच्चेति दिक् ॥ १३ ॥

ननु क्रियाया धातुवाच्यत्वे पाक इत्यादिघञन्तस्थले तत्प्रतीतिः स्यात् । वाचकस्य धातोराख्यात इवान्नापि तुल्यत्वात् । न चेष्टापत्तिः । सत्त्वरूपाया एव प्रतीतिः । कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति भाष्यवचनविरोधापत्तेश्च । तस्मान्नासत्त्वरूपा क्रिया धातुवाच्येत्यत आह—

१ विकुञ्चत् T. २ निरूपणे Tr., तव तु निरूपणं D. ३ From सा च समाना° to स सकर्मकः is omitted in K. ४ समानार्थेष्वपि T. ५ एवं चाकर्मकत्वा° D. ६ विवक्षाभाव° for चाविवक्षाभाव° T. ७ यतेः K.

आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्तिता ।

प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वापि क्रमः ॥ १४ ॥

आख्यातशब्दे पश्य मृगो धावतीत्यादौ । मृगो धावति पश्येति साध्यसाधनरूप-
पतेत्यनुपदमेव वाक्यपदीयेऽभिधानात् । भागाभ्यां तिङन्ताभ्याम् । प्रकृति-
प्रत्ययभागाभ्यामिति त्वपव्याख्यानम् । पचतीत्यत्रापि भागद्वयसत्त्वेन सिद्धावस्थ-
क्रियाप्रतीत्यापत्तेः । साध्यसाधनवर्तिता यथाक्रमं पश्यभागेन साध्यवर्तिता ।
धावतिभागेन साधनवर्तिता यथा शास्त्रे प्रकल्पिता । अयमर्थः । पश्येत्यत्र
क्रियायाः साध्यत्वं स्वस्मिन् कारकाणामन्वयः स्वस्य वा कारकत्वेनान्यान्यन्वयित्वा-
भावः । धावतीत्यस्याः साधनत्वं तु कारकत्वेनान्यस्मिन् स्वस्यान्वयः । इत्थं
च पचति भवतीत्यत्राप्येककर्तृका वर्तमाना या पचिक्रिया एकतत्कर्तृका वर्तमाना
भवनक्रियेति बोधात् तत्राप्युक्तम् । एवं च पश्य मृगो धावतीत्यादौ एकमृगा-
भिन्नाश्रयिका या वर्तमाना धावनक्रिया तद्विषयकं यदिष्टसाधनीभूतं दर्शनं
तदनुकूला भावनेति बोधः । अथाख्यातान्तवाच्यस्य भावस्यासत्त्वावस्थापन्नतेति
सिद्धान्तः । तत् कथं कर्माभूता आख्यातस्थलेऽर्थः । उक्तं हि वाक्यपदीये ।

‘असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते ।’

इति चेन्मैवम् । कर्णत्वादिनान्यान्यन्वयित्वं लिङ्गान्वयित्वं वा तदिति भावात् ।
एतदन्यादृशत्वं द्रव्यत्वमित्याहुः । तत्त्वं पुनरनुपदं वक्ष्यामः । पश्य मृगो धाव-
तीत्यादौ वाक्यार्थभूतापि क्रिया क्रियान्तरं प्रति कर्तृत्वकर्मत्वाभ्यां स्वाभाव्या-
दन्वेतीति हि निर्णीतं सरूपसूत्रे सार्वधातुके यगिति सूत्रे च भाष्यादौ घञा-
दिषु पाक इत्यादौ । अत्र भागाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययभागाभ्याम् । तत्र प्रकृत्या-
सत्त्वरूपाया एवोपस्थितिः । न चात्र मानाभावः । ओदनस्य पाक इत्यादि
कर्तृकर्मप्रत्ययानां मानत्वात् । अन्यथा विना क्रियां कारकाणामनन्वयेन तद्वाच-
कप्रत्ययासंभवात् । न चाध्याहृततिङन्तार्थक्रियायामेव कारकान्वयः कर्तृकर्मणोः
कृतीति कुद्योगपष्ठ्यभावापत्तेः । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनामिति निषेधेना-
ध्याहृतक्रियान्वये पष्ठ्यसंभवाच्च । ओदनपाक इत्यादि षष्ठीसमासानापत्तेश्च ।
कुद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाक्यविहितस्यापि पष्ठ्यसंभवात् पष्ठ्यन्तस्य

१ त्वया व्याख्यातम् Tr. २ T. drops अन्य. ३ वर्तमानधावन° D₁. ४ कारणत्वादिना
T. ५ घञादिषु पाक इत्यादौ is omitted in T. ६ प्रकृत्याः सत्त्वरूपाया. K. ७ इति
षष्ठी° D₂.

उत्तरपदार्थेनानन्वये भार्या राज्ञः पुत्रो देवदत्तस्येत्यादाविवासामर्थ्याच्चासंभवात् । समर्थः पदविधिरिति परिभाषणात् । विधेर्वचकृतिरित्यादौ सावकाशत्वेनानर्थ-
क्यस्याप्यभावात् । न चौदनस्य पाक इत्यादि शेषषष्ठ्यैव भवेत् । समासोऽपि
तैयैवास्त्विति वाच्यम् । नलपाकः शुण्ठीपाक इत्यादिषु कर्तृत्वादिप्रकारकबो-
धानुभवानापत्तेः । आश्चर्यं गवां दोहोऽगोपेनेत्यादेरसिद्धयापत्तेश्च । उभयप्राप्तौ
कर्मणीत्यस्य कर्तृकर्मणोः कृतीति प्राप्तनियमार्थत्वात् । अनन्तरस्येति न्यायात् ।
उभयपदलिङ्गाच्च । शेषषष्ठ्याः सर्वत्राविशेषात् । किं च शेषषष्ठ्यैव निर्वाहाम्यु-
पगमे कर्तृकर्मणोः कृतीति विधिवैयर्थ्यं स्यात् । गतिकारकोपपदात् कृदित्यादि
विहितस्वरलौभार्थं तदारम्भ इति चेत् तद्धौदनस्य पाक इत्यादावपि स्वरार्थं
कारकषष्ठ्यभ्युपगमो दुर्वारः । एवं रीत्या काष्ठैः पाक इत्यत्रःपीष्टापत्तिरेव । एवं
चोक्तपूर्वपक्षे इष्टापत्तिरिति भावः । अनया च रीत्या फलमप्यसत्त्वावस्थापन्नमेवो-
च्यते धातुना । अन्यथा शोभनं पचति स्तोकं पचतीतिवच्छोभनं पाक इत्यना-
पत्तेः । धात्वर्थे साध्यत्वेनोपस्थिते सामानाधिकरण्येनान्वय एव निर्धमस्तत्र
द्वितीया स्यान्नान्यथा । नन्वेवं द्वितीयां बाधित्वा कर्तृकर्मणोः कृतीति षष्ठी स्यादिति
चेन्न ह्यत्र कर्मणि द्वितीया किं तु विशेषणविभक्तिवदभेदार्था साधुत्वमात्रार्था वा । तत्र
स्तोकं पचतीत्यादौ कृत्स्त्वादन्वयस्यानाभिधानाच्च द्वितीयैव कल्प्यते । अत एव स्तोकार्थो
विना भावनां फल एवान्वेति । कारकत्वे तदसंभवात् । भवतु वा कर्मत्वमर्थः ।
अस्तु च षष्ठी । अत एव यत्र करणतया धात्वर्थान्वयस्तत्र सामानाधिकरण्येनान्वये
तृतीयैव ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यादौ । इयान् परं भेदः । फलांशे साध्यत्वमसत्त्वं
च लिङ्गानन्वयित्वमात्रम् । क्रियायां तु करणत्वादिनानन्वयित्वमपीति दिक् ॥१४॥
युतदेव स्पष्टयति ।

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।

सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ॥ १५ ॥

तत्र घञाद्यन्ते । अत्र प्रतीयत इति शेषः । बोधकमाह । धातुरूपेति ।
क्रियेति फलव्यापारोभयसाधारण्येन साध्यत्वान्वयाय साधारणशब्देन निर्देशः ।
तान्त्रिकैरनेनोभयोर्यवद्विद्यमानत्वात् । सिद्धभावस्त्विति । न च घञादिभि-

१ T. has संभवात् for असंभवात्. २ तैयैवास्त्विति D₁, D₂. ३ °लभार्थमिति चेत् ।
चौदनस्य T. ४ D. drops च. ५ °नोपस्थापिते D₂. ६ नियमस्तत्र K. ७ कल्पते
Tr., D₂.

व्यापारफलयोः सिद्धत्वेन बोधने मानाभावः । पाकपदात् तथाप्रतीतिरेव मान-
त्वात् । अन्यथा फलानुत्पाददशायां व्यापाराभिप्रायेण पाको भवति नष्टो वेत्यादि
क्रियान्तराकाङ्क्षानापत्तेः । स्तोत्रः पाक इत्यनापत्तेश्च । तस्माद्धात्वर्थफलान्वये
स्तोकादिशब्देभ्यो द्वितीया नपुंसकलिङ्गता च । धात्वर्थभावनायामन्वये ज्योति-
ष्टोमेन भक्तिपूर्वं यजेतेतिवत् प्रथमासंभवेऽपि नपुंसकलिङ्गमात्रम् । सामान्ये
नपुंसकमित्यस्य दुर्वारत्वात् । घञर्थान्वये तु प्रथमा पुलिङ्गता चेति तद्विभागाय
शक्त्यन्तरमावश्यकमिति भावः । उक्तं च वाक्यपदीये ।

‘ क्रियायाः सिद्धतावस्था साध्यावस्था च कीर्तिता ।

सिद्धतां द्रव्यमिच्छन्ति तत्रैवेच्छन्ति घञ्विधिम् ॥

इति । एतेन संख्यावर्तमानत्वाद्यबोधकानां घञादीनां प्रयोगसाधुतामात्रमिति
नैयायिकनवीनोक्तमपास्तम् । स्तोत्रः पाक इति सिद्धये तस्यापि शक्तिकल्पना-
वश्यकत्वात् । यच्च पाक इत्यादि घञन्तशक्त्यौपस्थितेऽन्वये स्तोत्रः पाक
इति तन्न । समुदायशक्त्यानुभयोरानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वापत्तौ गौरवात् ।
लाघवादानुशासनाच्चास्मदुक्तस्यैव युक्तत्वाच्चेति । ननु साध्यत्वं लिङ्गाद्यनन्वयित्वं
तदन्वयित्वं सिद्धत्वम् । तत् त्वदुक्तरीत्यैकर्यां विरुद्धं कथं धातुवन्स्थले भवे-
दिति चेन्न ब्रूमस्तस्यां लिङ्गाद्यनन्वयम् । किं तु धातूपस्थाप्यायां तदन्वयो न
घञाद्युपस्थाप्ये तु स इति । अत एव भावनाशब्दोपस्थाप्ये तदन्वयः सर्वसिद्धः ।
अत एव भट्टपादैरुक्तम् ।

‘ यादृशी भावनाख्याते धात्वर्थश्चापि तादृशः ।

नासौ तेनैव रूपेण कथ्यतेऽन्यैः पदैः क्वचित् ॥

इति । वस्तुतस्तु साध्यत्वं च लिङ्गाद्यनन्वयित्वमत्र संमतं साध्यत्वेन क्रिया
तत्रेत्यादौ तृतीयया प्रतीयमानत्वप्रदर्शनात् ।

‘ यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ’

इति वाक्यपदीये ‘ यादृशी भावना ’ इति भट्टकारिकायां वाच्यत्वेन प्रदर्श-
नात् । न हि लिङ्गाद्यनन्वयित्वं वाच्यं प्रतीयते वा किं तु तदन्वयहेत्वभावादा-
र्थिकम् । यच्च भाष्ये क्रियाया क्रिया समवायं न गच्छतीत्यादिना क्रियान्तरसाध-
नत्वेनानन्वयित्वं साध्यत्वमुक्तम् । साधनत्वं नेत्युपादानात् पक्त्वा गच्छतीत्या-

१ प्रथमात्वेऽपि D₁. २ Before this T. has एतदभिप्रायेणैव कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्
प्रकाशते इति भाष्यं तथा च न भाष्यविरोध इति भावः. ३ शब्दोपस्थिते T. ४ यादृशः K., Tr.

दौ सामानाधिकरण्योत्तरकालादिसंबन्धेनान्वयेऽपि न क्षतिरिति तन्न । कृष्णं नमेचेत् सुखं यायादित्यादिहेतुहेतुमतोर्लिङि भुक्त्वा तृप्यति मानिनी नत्वा भण्डयति स्तुत्वा मादयतीत्यादौ च भोजनादिजन्यतृप्तिबोधाच्च क्रिययोः साध्य-साधनभावेनान्वयादव्याप्तेः । पश्य सृगो धावति पचति भवतीत्यादौ कर्तृत्वकर्मत्वेनाप्यन्वयाच्च । असाधनस्य कारकत्वानुपपत्तेः । यत्तु घटो भवति घटं करोतीत्यादावसिद्धस्यापि कर्तृत्वकर्मत्वदर्शनादसतः साधनत्वस्य चासंभवात् मुख्यं साधनत्वं करणादेरेवासिद्धस्य करणत्वाद्यदर्शनात् । कर्तृकर्मणोस्तु कचिन्मुख्यं कचिद् बुद्धिपरिकल्पितसिद्धत्वमादाय गौणं साधनत्वम् । तथा च भाष्ये कारकान्तर्गतमुख्यसाधनत्वपरिग्रहात् करणादिकारकत्वेनानन्वयित्वं विवक्षितमिति नोक्तदोषावकाशः । न हि परकीयपाकक्रियाचातुर्यं दृष्ट्वा मत्सरिणः पाकेन वैरं कृतं पाकाय कालो नीत इत्यादिप्रयोगवत् पचति वैरं कृतमित्यादि प्रयुज्यन्तीति कैयटे ध्वनितम् । तदपि भाष्योक्तलिङ्गानन्वयित्वपक्षवदुक्तवाक्यपदीयाद्युक्तवाच्यत्वप्रतीयमानत्वयोः पन्थानं नावतरति । एतेन भाष्ये अन्वय आकाङ्क्षारूपो विवक्षितः । सोऽपि शब्दान्तरसमभिव्याहारभावप्रयुक्तः । तथा च शब्दान्तरसमभिव्याहाराभावे सत्यपि स्वसाध्यक्रियान्तराकाङ्क्षोत्थापकज्ञानविषयत्वं सिद्धत्वम् । तादृशकाङ्क्षानुत्थापकज्ञानविषयत्वं साध्यत्वम् । भवति च पाक इत्यादिश्रवणे धात्वर्थघञर्थक्रिययोरभेदान्वये सत्यपि कर्तव्यो वा नाशनीयो वा तिष्ठति वा जायते वा नश्यति चेत्यादि पाकसाध्यक्रियान्तराकाङ्क्षा न तु पचतीत्यादौ पचति भवतीत्यादौ च भवतिक्रियायाः कर्त्रपेक्षत्वाद्योग्यतावशादन्यतराकाङ्क्षयैवान्वयबोधः । यः कृष्णं नमेदित्यादौ तु यच्छब्दं चेच्छब्दादिसमभिव्याहारप्रयुक्तमेवाकाङ्क्षोत्थानम् । अन्यथा कृष्णं नमेदित्यत्रापि स्यात् । एवं भुक्त्वेत्यत्रापि किमित्यादि क्रियान्तराकाङ्क्षा धातुसंबन्धार्थकत्वादियोगप्रयुक्ता न तु धातूपस्थापननिबन्धना । पचतीत्यत्राप्यापत्तेः । न चैवं घञादिसमभिव्याहारप्रयुक्ता धात्वर्थस्यैव पाक इत्यत्राप्याकाङ्क्षा स्यादिति वाच्यम् । घञादेः स्वातन्त्र्येण भावनावाचकताया व्यवस्थापितत्वेन स्वार्थान्वयाकाङ्क्षयैवोपपत्तौ तथा कल्पने गौरवप्रसङ्गात् । क्त्वादीनां तु न तद्वाचकत्वे मानमस्तीति वक्ष्याम इत्यपास्तम् । अस्यापि लक्षणमात्रत्वेऽपि वाच्यत्वप्रतीयमानत्वयोरभावात् । किं च धातूपस्थाप्यभावनायाः करणत्वादिनान्वयः क्रियान्तराङ्क्षानुत्थापकता वा कुत इति विभाज्य-

१ मृडयति T. २ गौणसाधनत्वं T. ३ T. drops वाक्यपदीयाद्युक्त. ४ वेत्यादि T. ५ तच्छब्दादि T. ६ भुक्त्वेत्यत्रापि Tr. ७ करणत्वादिना नान्वयः K., Tr.

ताम् । धातृपस्थापननिबन्धन एवेति चेन्न । साध्यत्वेनाभिधानविलयापत्तेः । साध्यत्वेनोपस्थापननिमित्त इति चेत् तर्हि तथान्वयविरोधि स्वतन्त्रमेव किञ्चित् रूपं वक्तव्यम् । तदेव साध्यत्वं भाष्यादिग्रन्थाभिप्रेतमिति प्रतीमः । तच्चोत्पाद्यत्वमेव । तथा च पचतिगच्छतीत्यादौ विक्रियनुकूलयत्नादिकमुत्पादयत्युत्तरसंयोगानुकूलक्रियामुत्पादयतीत्याद्युत्पाद्यत्वं प्रतीयते । एतदेव च कारकान्वयितावच्छेदकम् । अत एव पचतीत्येवोक्ते केन कस्मात् कस्मै कुत्र किमित्याद्याकाङ्क्षा तत्समर्पककारकाणां तस्यामेवान्वयश्च संगच्छते । उत्पत्तिमत्त्वेनोपस्थितस्यैव कारकाङ्क्षत्वात् । तस्याः स्वयमुत्पाद्यतयागमेनासिद्धत्वादन्वक्रियासाधनत्वेनान्वयश्च भाष्योक्तो युज्यते सिद्धस्यैव क्रियासाधनत्वात् । नन्वेवं पचति भवतीत्यपि न स्यादिति चेन्न । उत्पद्यमानस्यासिद्धस्यैव सर्वत्र भवने कर्तृत्वदर्शनेन तस्यात्रानुकूलत्वात् । अत एव पचति नश्यतीत्यादि न भवति । उक्तं च कैयटेन । ' भवतिक्रियापेक्षमेव तस्याः कर्तृत्वं सर्वश्रार्थः स्वेन रूपेण भवतीति भवने कर्तृत्वमुपपन्नमेव ' इति । न चैवमप्यसिद्धस्य दर्शनकर्मत्वासंभवात् पश्य मृगो धावतीत्यत्र वाक्यार्थक्रियायाः कर्मता न स्यादिति वाच्यम् । न हि क्रियासमूहो दर्शनकर्म । पिण्डीभूता न निदर्शयितुं शक्येति भाष्यविरोधात् । किं त्ववयवशः । ते तु यथासंभवं सिद्धा एव कर्म भवन्ति । उक्तं च वाक्यपदीये ।

‘ तत्र यं प्रति साध्यत्वमसिद्धा तं प्रति क्रिया ।

सिद्धा तु यस्मिन् साध्यत्वं न तमेव पुनः प्रति ॥

मृगो धावति पश्येति साध्यसाधनरूपता ’ ॥

इति । समुदाये कारकान्वयोपयोग्यसिद्धत्वं प्रत्येकं दर्शनोपयोगि । सिद्धत्वमस्तीत्यर्थः । नन्वेवं यः कृष्णं न मेत् स सुखं यायात् भुक्त्वा तृप्यतीत्यादौ नमनभोजनादिक्रियायाः सुखप्राप्तितृप्तिक्रियासाधनत्वेनान्वयो न स्यादिति चेन्न । शाब्दं प्राधान्यमादाय विशेषणान्वयस्यौत्सर्गिकत्वेऽपि कचिदक्षेन जिगमिषतीत्यादावार्थिकप्राधान्यमादाय कारकान्वयवच्छब्दोपस्थाप्योद्देश्यतावशादार्थिकं सिद्धत्वमादाय लिङ्गसाधनत्वान्वयसंभवात् । एतद्वोधनायैव यच्छब्दादिप्रयोगनैयत्यं तं विना बोधाभावश्च संगच्छते । भुक्त्वेत्यादावपि क्त्वादिद्योत्यधात्वन्तरसंबन्धस्य पूर्वोत्तरकालादेशानुरोधादार्थिकसिद्धत्वमादायैव साधनत्वबोधः । असिद्धस्य पूर्ववृत्तित्वासंभवात् । भोजनक्रियामुत्पाद्य तृप्यतीति बोधात् तात्पर्य-

मर्यादया तद्वोधसंभवात् । क्त्वादौ क्रियान्तराकाङ्क्षोत्थानमन्येतन्मूलकमेवेत्यु-
क्तप्रायम् । तस्मादुत्पाद्यत्वमेव कर्णादिकारकत्वेनानन्वयित्वावच्छेदकं क्रियान्तरा-
काङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकं च । तत्प्रतीतिश्चोदाहृतवाक्यपदीयभट्टपादकारिको-
दाहृतानुभवाङ्गीकार्या । तथा च क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं वा
कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वासत्त्वभूतत्वम् । क्रियान्तराकाङ्क्षोत्थापकता-
वच्छेदकरूपवत्त्वं वा कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा सत्त्वरूपत्वम् । एवं
चासत्त्वभूता साध्यावस्थेत्यादयो व्यवहाराः प्रसिद्धार्था एव परंतु धावतीत्यादौ
सिद्धत्वं पश्येत्याद्यालोचनेन प्रागुक्तरीत्यैवेति सुधीभिर्ह्यम् ॥ १५ ॥

नन्वस्तु धात्वर्थे एव कारकाणामन्वयो न तु भावनायामेवेति नियमस्तथा च
न तदनुरोधेन भावनाया वाच्यत्वं घञादौ सिध्यतीत्याशङ्कान् निरसितुमाह—

संबोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः कारकं प्रथमो वतिः ।

धातुसंबन्धाधिकारनिष्पन्नमसमस्तनञ् ॥ १६ ॥

संबोधनान्तस्य क्रियान्वयः । तथा च समर्थसूत्रे वार्तिकम् । एकतिङ् वाक्य-
मिति । अत्र भाष्यम् । ब्रूहि ब्रूहि देवदत्तेति । अत्र वाक्यत्वादामन्वितनिघातः
सिध्यतीति कैयटः । समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा इत्यनेन समान-
वाक्ये एव तद्विधानात् । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘संबोधनपदं यच्च क्रियायास्तद्विशेषणम् ।

ब्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥’

इति । केचित्तु न्यायसिद्धोऽयमर्थः । तथाहि संबोधनविभक्तेरनुवाद्यविषयत्वाद-
नुवाद्यस्य विधेयसाकाङ्क्षत्वाद्विधेयस्य च क्रियारूपत्वात् क्रियान्वयोऽर्थायातः ।
हे देवदत्त त्वं सुन्दर इत्यादौ गुणोऽपि विधेय इति चेत् तथापि क्रियाकाङ्क्षा-
शान्तये तदध्याहारावश्यकत्वेन तदन्वयसंभवादित्याहुः । इदं च वार्तिकरीत्या ।
भाष्यकारानुयायिनस्तु पचति भवतीक्षस्व शय्यन्ते हतशायिकाः पश्य मृगो
धावतीत्यादावेकैतिङ्भावात् कथमेकवाक्यता कथं वा तिङ्ङतिङ् इति सूत्रे

१ कारणादिकारकान्वयितावच्छेदकं T. २ वच्छेदकं कारकान्वयितावच्छेदकं क्रियान्तर^०D.
३ स्वप्नतीति^० T. ४ T. drops वा. ५ भूतत्वं T. ६ प्रसिद्धा एव T.; असिद्धार्था D.
७ कृत्वोऽर्थाः T. ८ क्रियायामन्वयः K. ९ तत् क्रियाया विशेषणम् K. १० क्रियात्वात्
Tr. ११ वेकतिङ्स्वभावात् T.

अतिङन्तात् परस्य पर्युदासः । तिङन्तात् परस्य तिङन्तस्य वाक्यान्तरप्रविष्ट-
तया निघाताप्रवृत्तेः । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘ बहुष्वपि तिङन्तेषु साकाङ्क्षेऽप्येकवाक्यता ।

तिङन्तेभ्यो निघातस्य पर्युदासस्तथार्थवान् ॥ ’

इति । तस्मादेकतिङ्विशेष्यकं वाक्यमिति वार्तिकमतमभ्युपेयम् । तत्रैकवि-
शेष्यकं वाक्यमित्येवास्तु । तथा च यत्र न निघातस्तत्र तिङं विनाप्युपपत्तेर्न
तदध्याहारो युक्तः । अत एव ‘ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ’ इति शुद्धसु-
बन्तम् । पचति भवतीति शुद्धतिङन्तम् । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकाम इति
तदुभयसमुदायरूपमिति तत्त्रैविध्यं संगच्छत इति हि^१ वदन्ति ।
कृत्वोऽर्थाः । क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुजित्यनेन क्रियायोग एव
तत्साधुत्वावगमात् । यथा सकृत् पचति द्विः पचतीत्यादि । अत एव द्वौ
घटावित्यादिवद् द्विर्घट इत्यादिकं न भवति । कारकम् । कारके इत्यधिकृत्य
तेषां प्रकान्तत्वात् । तत्र च करोतीति कारकमिति योगाश्रयणात् क्रियानन्व-
यिनो न कारकत्वम् । अत एव ब्राह्मणस्य पुत्रं कृष्णं पृच्छतीत्यत्र ब्राह्मणस्य न
कारकत्वमिति स्पष्टमाकरे । यद्वा कारकशब्दः क्रियावचनः करोति कर्तृकर्मा-
दिभ्यःपदेशानिति व्युत्पत्तेः । तथा चाग्निमेष्वादानादिसंज्ञाविधिषु क्रियार्थक-
कारकशब्दानुवृत्त्या क्रियान्वयिनामेव संज्ञेति भाष्यादौ स्पष्टम् । प्रथमो वतिः ।
तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरित्यनेन विहितः । तत्र यत् तुल्यं सा क्रिया चेदित्युक्तत्वात् ।
यथा देवदत्तवत् पठतीत्यादि । एवं च चैत्रवत् सुन्दर इत्यादौ भवतीत्याद्यध्या-
हार्यम् । अन्यथा सूत्रे क्रिया चेदित्यनर्थकमेव स्यात् । धातुसंबन्धाधिकारे ।
धातुसंबन्धे प्रत्यया इत्यधिकृत्य तेषां विहितत्वात् । यथा भोक्तुं पचतीति । पातुं
जलमित्यादौ चानेयमित्याद्यध्याहार्यमेवेत्युक्तप्रायम् । असमस्तनञ् । अयं भावः ।
न त्वं पचसि न युवां पचथश्चैत्रो न पचति घटो न जायते इत्यादौ क्रियाया
एव निषेधो नञा बोध्यते । अत एव विद्यमानेऽपि घटे तथा प्रयोगस्तथा च
घटो नास्तीत्यादावप्यस्तित्वाभाव एव बोध्यते । तथा च प्रकारतासंबन्धेन

१ अतिङात् T. २ D₇. drops n. ३ T. drops. हि. ४ तथा K., T. ५ व्यप-
दिशतीति Tr. ६ तथा च देव^२ T. ७ पचतीत्यादि Tr. ८ स्यात् । यथा भोक्तुं पचतीति ।
पातुं जलमित्यादौ चानेयमित्याद्यध्याहार्यमेवेत्युक्तप्रायम् । धातुसंबन्धाधिकारे । धातुसंबन्धे प्रत्यया
इत्यधिकृत्य तेषां विहितत्वात् । असमस्तनञ् &c. D₇. and D₉.

नञर्थविशेष्यकबोधे भावनोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः । तथा च भूतले न घट इत्यत्राप्यस्तीत्यध्याहृतक्रियायामेवान्वयः । न तु भूतलाधेयत्वाभाववान् घट इति बोधः । कारकाणां क्रियातिरिक्तेऽन्वयाभावात् । अत एवाहं नास्मि घटो नास्तीत्यादौ पुरुषव्यवस्था घटा न सन्ति घटौ न स्त इत्यादौ वचननियम-
 श्रोपपद्यते । शुष्मदादेस्तिङ्गसामानाधिकरण्यात् । घटाभावोऽस्तीत्यन्वये च स न स्यात् । अत एव सुडनपुंसकस्येत्यत्र नपुंसकस्य नेत्यर्थे न हि नपुंसकेन सामर्थ्यम् । केन तर्हि । भवतिना । इदं च परैरप्यङ्गीकर्तव्यं प्रसज्यपर्युदासयो-
 र्भेदार्थमिति भाष्यं संगच्छत इति । समासे त्वब्राह्मण इतिवद्भवति क्रियायोगं विनापि साधुत्वमतोऽसम्पत्तेरिति । समासायोग्य इत्यर्थः । प्रसज्यप्रतिषेध इति यावत् । एतेन यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेष्वित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासो वेति संशयेऽनुपात्तशब्दसंबन्धे समासापत्तिः । वावचनानर्थक्यं मन्यमानो वार्तिककारो नन्वसमासादेर्नित्यतां विग्रहेण सह भिन्नार्थतां च मेने । सति हि वाक्यसमासयोरैकार्थ्ये समासनियमाद्वाक्यं निवर्ततेति तदर्थं विभा-
 शेति सूत्रं कार्यं स्यादेव । तस्मादनुयाजपदान्वये सामर्थ्याविधातात् समासा-
 पत्तिरिति न पर्युदास इति प्राप्ते त्रुमः । प्रतिषेधस्य प्राप्त्यपूर्वकतानियमात् प्राप्तेश्च यजतिषु ये यजामहमिति शास्त्रादन्यतोऽसंभवाच्छास्त्रीयविहितप्रतिषि-
 द्धत्वाद्विकल्पापत्त्या पर्युदास एव । तत्र सामर्थ्यसत्त्वेऽपि विभाषाध्ययनाच्च समासः । तच्चावश्यकं वाक्यसमासयोरैकार्थ्यात् समासनियमप्रयुक्तवाक्यनि-
 वृत्तिवारणाय । यद्यपि समासे राजपदं विशेषणान्वयासहिष्णु वाक्ये तु सहिष्णु इत्यस्ति विशेषस्तथाप्यर्थावैलक्षण्यमेव । अन्यथा विभाषावचनात् प्राग्विहिते-
 नोपकुम्भादिसमासेनापि वाक्यानिवृत्तिप्रसङ्गः । उपपदसमासेन च कुम्भकारा-
 दिना । न चैवमिष्टम् । तस्मादनर्थकं तदानर्थक्यवच इति बाधलक्षणे सिद्धा-
 न्तितत्त्वान्नासमस्तनञः क्रियान्वयनियमः । यद्यप्यत्र वावचनानर्थक्यं स्वभाव-
 सिद्धत्वादिति वदन् वार्तिककारो न समासनित्यतां मेने । एकार्थीभावसामर्थ्ये
 समासो व्यपेक्षायां च नेति भाष्यपर्यालोचनया तदर्थलाभात् । एतन्नियमार्थमेव
 समर्थसूत्रारम्भः । अन्यथा व्यर्थताया भाष्य एव स्पष्टत्वात् । तस्मात् प्रकारा-
 न्तरेण विकल्पसिद्धेर्व्यर्थः सूत्रारम्भ इत्यभिप्रायः । एवमुपकुम्भादावबोधकत्वा-

१ भूतले कारकतासंबन्धेन नञर्थविशेष्यकबोधे भावनोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावस्तथा च
 भूतले घट इत्यत्राप्य Tr. २ भाष्ये K. ३ रैकार्थे Tr., D. ४ च्छास्त्रीये विहितं T.
 ५ वचनमिति D., T. क्रियान्वयः Tr.; क्रियान्वयित्वनियमः D.

देव वाक्यस्यासाधुत्वम् । तस्माद्धेतोर्ब्रूमोऽगमकत्वादिति न ब्रूमोऽपशब्दः
स्यादिति भाष्यकैयटाभ्यां तथा लाभात् । व्युत्पादयिष्यते चैतदुपरिष्ठादिति-
दमसङ्गतम् । तथाप्यसमस्तनञः क्रियायामनन्वयः सिद्ध एवेति निरस्तम् ।
तस्माद्वायौ रूपं नास्तीत्यादिप्रसज्यप्रतिषेधस्थले रूपप्रतियोगिकाभावादिवर्णनं
न युक्तम् । अपर्युदासस्थले क्रियान्वयनियमस्योक्तभाष्यादावश्यकत्वादिति
भावो द्रष्टव्य इति दिक् ॥ १६ ॥

तथा यस्य च भावेन षष्ठी चेत्युदितं द्वयम् ।

साधुत्वमष्टकस्यास्य क्रिययैवावधार्यताम् ॥ १७ ॥

यस्य चेत्येकदेशेन यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सूत्रं लक्ष्यते । तत्र
भावेनेत्युक्तत्वाद् भावस्य च क्रियात्मकत्वात् क्रियायोगं विना न साधुत्वमि-
त्यर्थः । तथा गोषु दुह्यमानासु गत इति । षष्ठी चेत्यत्रापि षष्ठी चानादर इति
सूत्रं लक्ष्यते । अत्रापि चकारात् पूर्वसूत्रस्थं भावेनेत्यायातीत्यर्थः । यथा रुदति
रुदतो वा प्रावाजीदिति । साधुत्वमिति । एतत्स्वरूपं त्वसाधुरनुमानेनेत्यत्र
वक्ष्यामः । क्रिययैवेत्येवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः । तथा चैतदष्टकस्य क्रियायोग
एव साधुत्वं नान्यथेत्यर्थः । ननु क्रियाशब्दस्य धात्वर्थमात्रे प्रसिद्धेः फलयोगे
भवतु साधुत्वलाभो न तु भावनान्वयनियमो लभ्यत इति न तदनुराधेन
पाक इत्यत्र भावनावाच्यत्वं सिध्यतीति चेन्न । भूवादिसूत्रादौ क्रियाशब्दस्य
भावनायामेव प्रसिद्धेः सांकेतिकी तस्यां शक्तिः फले तु क्रियत इति यौगिकः
प्रयोगः । तथा च नावमिकाधिकरणन्यायेन भावनान्वय एव साधुत्वाख्यान
लभ्यते । रथन्तरं हि यद्योन्यां तदुत्तरयोगायतीति वचनादथन्तरयोनेः परतो
बृहद्योनेः पठितत्वात् तस्यां गेयमुत्तराग्रन्थे न त्वावामन्य इत्यस्याः पठितत्वात्
तस्यामिति संशये विशेषाभावादनियमं प्राप्योत्तराग्रन्थे संज्ञारूपेण प्रसिद्धिः
संज्ञाशब्दश्चानपेक्षप्रवृत्तिर्बलवानिति तत्रैव गेयमित्यूहलक्षणे निरूपितम् ।
किं च । फलांशोऽपि भावनायां विशेषणं कारकाण्यपि क्वचित् तथाभूतान्ये-
वेति गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात् स्यादिति न्यायेन
भावनामेव विशेष्यतयाङ्गीकुर्वते न गुणभूतं फलांशमिति न तत्रान्वयः ।
अपि च कारकाणां नित्यपरतन्त्राणां विशेष्याकाङ्क्षायां धात्वर्थफलांशस्य तथा-
न्वययोग्यतायामपि तस्यापि परतन्त्रस्य विशेष्याकाङ्क्षापूरणसमर्थायां भावना

यामेव विशेषातिदेशाध्यायाधिकरणन्यायेनान्वयः । न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुक इति न्याये ह्याकाङ्क्षाशामकत्वकृत्सिरेव बीजम् । तत्तुल्यमत्रापि । एवं च विशेष्यतासंबन्धेन कारकप्रकारकशाब्दबोधं प्रति धातुजन्यभावनोपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावस्य कृत्स्वाद्यत्रापि पक्ता पाचक इत्यादौ भावना गुणभूता तत्रापि कृत्कार्यकारणभावानुरोधात् तस्यामेवान्वयः कल्प्यत इति न फलांशे तदन्वयः । फलांशोपस्थितिरेवास्तु कारणं काष्ठेनोदनस्य पक्तेत्यादौ कृत्स्वादिति चेन्न । कारकीभूतधात्वर्थस्य भावनायामनन्वयापत्तेः । न हि स्वयमेव स्वकारकम् । विधिवान्वये धात्वर्थफलांशस्य करणतयान्वयेन तत्र कारकान्वये वाजपेयाधिकरणभङ्गापत्त्या करणान्तरोपसंग्रहेण ग्रंथोगविधेरबोधकतापत्तेश्च । क्रियान्वयित्वं विना कारकत्वस्यैव दुर्वचत्वाच्च । फलान्वयित्वस्य तत्रैवाव्याप्तेरयोगादित्यादि कारकार्थनिर्णये वक्ष्यते । तस्मात् पाक इत्यादावोदनस्येत्यादिकारकान्वयाय भावनाया वाच्यत्वमावश्यकमिति सिद्धम् । केचित्तु भूतले घटो देवदत्तो घटं देवदत्तेनोदन इत्यादौ क्रियावाचकतत्त्वपदं विना शाब्दबोधस्याकाङ्क्षानिवृत्तेश्चादर्शनाच्च क्रियायोगं विना साधुत्वम् । न च क्रियारूपार्थाध्याहारेणापि शाब्दबोधाकाङ्क्षानिवृत्त्योः संभवाच्च तद्वाचकपदप्रयोगावश्यकत्वम् । पदजन्यपदार्थोपस्थितेरेव शाब्दबोधोपयोगित्वात् । पदानां संभूयान्वयबोधकत्वव्युत्पत्तेश्चेत्याहुः । एतन्मते पाकः सुन्दर इत्यादावप्याकाङ्क्षासत्त्वात् क्रियायोगं विनासाधुतापत्तिः । दृष्टापत्तिर्भाष्यविरुद्धेति तद्विदां स्पष्टम् । फलांशान्वयलाभेनोपपत्तौ भावनान्वयलाभश्चेति तु चिन्त्यम् ॥ १७ ॥

यत्तु भूतले न घट इत्यत्र भूतलाधेयत्वाभाववान् घट इति बोधान्न क्रियाध्याहारापेक्षा । एवं पर्वतो वह्निमान् भवितुमर्हति धूमात् महानसवदिति वेदान्तिकृतप्रयोगे प्रतिज्ञायां क्रियापदप्रयोगो वृथेति क्वचित्कर्त्तुं दूषितम् । तदनुद्य दूषयति ।

१ °थमकत्व° T. २ °सिद्धिरेव Tr. ३ गुणभूता तत्रापि धातुजन्यभावेनोपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावस्य कृत्स्वाद्यत्रापि पक्ता पाक इत्यादौ भावना गुणभूता तत्रापि &c. Tr. ४ कल्पते D₃. ५ D₁ has ननु before it. ६ प्रयोगे विधे° Tr. ७ साधुतापत्तेः K., Tr. ८ फलांशान्वये लामे नो° T.

यदि पक्षेऽपि वत्यर्थः कारकं च नञादिषु ।

अन्वेति त्यज्यतां तर्हि चतुर्थ्या स्पृहिकल्पना ॥ १८ ॥

आदिना सप्तम्यादेर्घटादावन्वयो गृह्यते । अत एव भूतले घट इत्यत्र भूतला-
धेयो घट इति नैयायिका व्याकुर्वन्ते । चतुर्थ्या स्पृहिकल्पना त्यज्यतामित्यन्वयः ।
पुष्पेभ्य इति चतुर्थ्या श्रुतायां स्पृहयतीत्यध्याह्रियते । न पदान्तरमर्थमात्रं वेति
त्यज्यतामित्यर्थः । विधायकनियमस्तु समान एवेति भावः ॥ १८ ॥

एवं कर्तरि विहितानामित्यादीनां क्रियैवान्वय इत्याह—

अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।

क्रिया संबध्यते तद्वत् कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ॥ १९ ॥

न विविच्य ग्रहो ग्रहणं यस्याः सा तथा । गत इत्यादावविग्रहापि क्रिया
ग्रामादिकर्मभिर्यथा संबध्यते तथा कृतपूर्व्यादिष्वपीत्यर्थः । ननु वृत्तेरेकार्थीभाव-
रूपत्वाद्गत इत्यादौ पदार्थैकदेशकृतौ कथं ग्रामाद्यन्वय इति चेन्न । देवदत्तस्य
गुरुकुलमित्यादावन्वयाय समासे वक्ष्यमाणरीत्योपपत्तेः । केचित्तु कर्तृकरणे
कृता बहुलं द्वितीया श्रितातीतेत्यादिज्ञापकान्न दोष इत्याहुः । तन्न । एकदेशा-
न्वयस्थले च शाब्दबोधोपयुक्ताकाङ्क्षाविरहो बीजं शङ्कयाः । वचनबलाच्च तदु-
द्धाराभावात् । कृतपूर्वी कटमित्यत्रैककटाभिन्नाश्रयिका योत्पत्तिस्तदनुकूलव्या-
पारवानिति बोधः । तस्मात् पाक इत्यादौ धात्वन्शार्थमादाय कर्मकरणादिविभ-
क्तिवत् कृतपूर्वी कटमित्यादावपि कर्त्राद्यर्थकाः प्रत्यया इति स्थितम् ॥ १९ ॥

अथ यदि घनादिप्रकृत्युपस्थाप्यक्रियामादाय प्रत्ययस्तुमुनादिस्तर्ह्येकः पाकः
द्वौ त्रयश्चत्वारो वेत्यादौ द्वित्रिचतुर्भ्य ईति सुच् पञ्चैत्यत्र कृत्वसुच् स्यात् । तुमु-
नादितुल्यत्वादित्याशङ्क्य समाधिमाह—

कृत्वोर्थाः क्त्वातुमुन्वत् स्युरिति चेत् सन्ति हि कचित् ।

अतिप्रसङ्गो नोद्भाव्योऽभिधानस्य समाश्रयात् ॥ २० ॥

क्त्वादयो यथा धात्वन्शक्रियां निमित्तीकृत्य जायन्ते भोक्तुं पाको भुक्त्वा
गन्तेत्यादौ । तथा कृत्वोर्था अपीति चेदिष्टापत्तिः । द्विर्वचनमित्यादौ दृष्टत्वात् । सकृ-
त्पाक इत्यादिकं चानभिधानादेव न भवतीत्याह । अतीत्यादि । अभिधानं तत्तत्प्र-
योगाः । तथा च यत्र तादृशमर्थमभिधातुं कृत्वोर्थाः समर्थास्तत्र स्युरेव । यथा द्विर्वचनं

द्विरण्विधिरित्यादौ । न चैवं प्रकृतेऽतो नेत्यर्थः । केचित्तु क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुजित्यत्र क्रियाग्रहणं व्यर्थं तस्या एवाभ्यावृत्तिसंभवात् । तथा च व्यर्थं सत् तदेव ज्ञापयति । यदिह सूत्रे साध्यस्वभावैव क्रियोपादयित इति न दोषस्तर्हि द्विवचनमित्यपि न स्यात् । सत्यम् । द्विवचनेऽचीति ज्ञापकात् तत्सिद्धेरित्याहुः । तस्माद्भातुवाच्या भावनेति निर्दोषमिति दिक् ॥ २० ॥

वस्तुतो धातोर्भावनाभिधायकत्वं आख्यातस्य कर्तुरनभिधायकत्वे चासाधुत्वं स्यादित्याह । भेद्येतीति संग्रदायः । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणरीत्या धातोरिवाख्यातस्यापि भावनाबोधकत्वज्ञानाच्छाब्दबोधदर्शनादाख्यातस्यापि भावनायां शक्तिरित्याशङ्कायामाह—

भेद्यभेदकसंबन्धोपाधिभेदानैवबन्धनम् ।

साधुत्वं तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते ॥ २१ ॥

भेद्यं विशेष्यम् । भेदकं विशेषणम् । तयोर्यः संबन्धस्तस्य यो भेदस्तन्निबन्धनं साधुत्वमित्यर्थः । अयं भावः । यस्मिन् विशेष्ये यादृशविशेषणान्विते यादृगानुपूर्व्या सूत्रवार्तिकभाष्यकाराद्यन्यतमेन साधुत्वमुक्तं स शब्दस्तत्र साधुरन्यत्रासाधुरेव । अत एव दन्त्यमध्योऽस्वशब्दोऽश्वे साधुर्न किं तु दरिद्रे । एवं तालव्यमध्योऽश्वशब्दोऽश्वे साधुर्न दरिद्रे । एवमाख्यातस्य कर्तुरनभिधायकत्वे धातोश्च भावनानभिधायकत्वेऽसाधुत्वमेव स्यात् । व्याकरणेन तथैव साधुत्वबोधनादिति । एवं चास्तु तिङस्तत्र शक्तिः । सर्वे सर्वार्था इत्यस्यैव स्वीकारात् । परं तु तत्रार्थेऽसाधुत्वं स्यादिति । नन्वेतदर्थस्य जैमिनिप्रभृतिभिराचार्यैः साभिनिवेशमुपपादितत्वात् कथं तद्वचसामसाधुतां ब्रूषे इति चेन्न । तेषामत्र तात्पर्याभावात् । व्याकरणस्य च कोशादिवच्छक्तिपरिच्छेदकत्वात् । तथा च पठन्ति—

‘ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशासर्वाङ्ग्याद्व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद्विभृतेर्वदान्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥ ’

इति । तस्मादेतदर्थं व्याकरणं बलीय इति दर्शनान्तराणां पन्थाः । व्याकरणस्य तत्तदर्थपुरस्कारेण तेषां तेषां पदानां साधुत्वबोधनार्थमेव प्रवृत्तिः । तदुक्तं वाक्यपदीये—

‘ साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः । ’

१ तत्सिद्धिं T. २ वासाधुत्वं T. ३ नियन्त्रितम् T., D. ४ यादृशे विशे T. ५ दरिद्रे साधुः K., Tr. ६ चोतनात् Tr. ७ वाक्यव्यवहारतश्च T. ८ चोतनार्थमेव Tr.

तथा च श्लोकमध्यस्थव्याकरणपदमर्थसिद्धार्थकथनं न तु कोशादिवच्छक्तिप्र-
 हार्थमेवं प्रवृत्तिरस्येत्यादिकः सैद्धान्तिकः पन्थाः । नन्वेवंविधः शब्दो यद्यसाधु-
 स्तर्हीतो बोधो न स्यात् । शाब्दबोधे साधुत्वज्ञानस्य कारणत्वात् तदभावनिश्च-
 यस्य प्रतिबन्धकत्वादिति चेन्न । वस्तुतोऽसाधुत्वेऽपि कारणीभूतसाधुत्वज्ञानसंभ-
 वादित्यभिप्रेत्याह । बोध इति । बोधोऽस्तु नामासाधुत्वं तु स्यादेवेत्यर्थः ।
 अत एव सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे इत्यत्र भाष्यकृतो वदन्ति 'समानार्थवगतौ
 साधुभिश्चासाधुभिश्च गम्यागम्येतिवन्नियमः क्रियते' इति । वस्तुतः साधुत्व-
 ज्ञानं न कारणं तदभावनिश्चयश्च न प्रातेबन्धक इत्यसाधुरनुमानेनेत्यत्र वक्ष्यामः ।
 इदं पुनरिहावधेयम् । उक्तरीत्या कर्तुराख्यातार्थत्वे व्याकरणसिद्धान्तसंगतावपि
 दशपूर्णमासप्रकरणपठित 'नानृतं वदेत्' इतिनिषेधवाक्यस्य क्तवर्थत्वं न
 सिध्येत् । तथा च कृतावपभाषणे क्तुवैगुण्यनिवारणार्थं प्रायश्चित्तानुष्ठानादिसक-
 ल्याज्ञिकमीमांसकादिशिष्टाचारविरोधः । तथा हि नानृतमित्यस्य प्रकरणात् क्तवर्थ-
 त्वम् । आख्यातेन कर्तुरुक्तत्वाच्छ्रुत्या च पुरुषार्थत्वम् । तत्र 'श्रुतिलिङ्गाव्यप्रकरण-
 स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति न्यायाच्छ्रुतेर्बलवत्त्वात्
 पुरुषार्थत्वमेव स्यात् । किं च सर्वत्रैव यो यदर्थं प्रवृत्तः सन् निवार्यते स तदर्थमेव प्रति-
 षेधो भवति । आख्यातस्य कर्त्रर्थत्वे च पदश्रुत्यानृतवदननिषेधः पुरुषार्थ एव स्यादिति
 नाख्यातार्थः कर्ता । न च कर्तुरवाच्यत्वे लः कर्मणीति सूत्रप्रामाण्यम् । यथा वृद्धिगु-
 णशब्दौ लोकवेदयोरौ जदेङां वाचकत्वेनादृष्टावपि वैयाकरणैः स्वशास्त्रे परिभाषितौ ।
 यथा वासन्नेव लकार उत्प्रेक्षितस्तथैव कर्तृकर्मादिवाचकत्वस्यापि संभवात् । यत्र
 तु न्यायानुगतिस्तत्र लोकवेदयोरपि न तदुक्तार्थपरिग्रहः । न चैतावता स्मृतेरप्रा-
 माण्यम् । अर्थवादवत् तात्पर्यविषये प्रामाण्यात् । एवं कृतप्रत्ययस्थले 'जज्ञभ्य-
 मानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षकत्' इत्यादौ वाक्यात् पुरुषार्थत्वसिद्धये कर्तुर्वचित्व-
 मावश्यकमिति नोक्ता प्रतिबन्दिदरपीति मीमांसकानामुत्तरमवशिष्यते । अत्रेदं
 वक्तव्यम् । कर्तृवाच्यत्वावाच्यत्वाभ्यामुक्तसिद्धान्तसङ्गमस्तस्माच्च तत्सिद्धिरित्यन्यो-
 न्याश्रयादसंगतमेतत् । किं च कर्तुराख्यातार्थत्वेऽपि श्रुतिप्रकरणाभ्यामस्तु
 क्तुयुक्तपुरुषधर्मोऽर्थं प्रतिषेधः । न च प्रकरणाच्छ्रुतिः कल्प्या तथा च विनियोगः
 कार्यस्तथा च प्रथमत एव श्रुत्या पुरुषार्थत्वनिर्णयेन कृतावप्यन्वय आकाङ्क्षा-
 विरहादिति वाच्यम् । एवं हि जज्ञभ्यमानवाक्यस्य वाक्यप्रकरणाभ्यां पुरुषसं-

१ रेत्ये D. २ समानायामर्थो K., D., T. ३ अनुमानेत्यत्र T. ४ तद्वलात्
 पुरुषार्थत्वमेव T. ५ प्रतिषिद्धो Tr., K. for प्रतिषेधो. ६ भवतिष्य D.

स्कारमुखेन कत्वर्थत्वसिद्धान्तः प्रस्थितः स्यात् । यत्तु पुरुषसंस्कारमुखेनानृतवदनस्य कत्वर्थत्वे पुरुषांशेऽनुवादः स्वीकार्यः । ततश्चाविशेषाद्विजामप्याध्वर्थवादिस-
माख्यया प्रासानां निषेधः स्यादिति । तज्ज्ञभ्यमानवाक्येऽपि समानम् । तत्रेष्टा-
पत्तौ प्रकृतेऽपि तां को वारयिता । एवं च कृत्युक्तपुरुषधर्मतैव । अत एव यदर्थो
प्रवृत्तिस्तदर्थः प्रतिषेध इत्यपि संगच्छते । वस्तुतः रुयुपायमांसभक्षादिपुरुषार्थ-
मपि श्रितः प्रतिषेधः क्रतोरङ्गमिष्टः प्रकरणाश्रयादित्यत्रोक्तनियमे व्यभिचारो
भट्टपादैरेवोक्त इति ध्येयम् । वस्तुतः कर्तुर्वाच्यत्वेऽपि क्रियाया एव प्राधान्यात्
कर्तुर्गुणभूतत्वाच्चानृतवदननिषेधभावनाया नै पुरुषार्थत्वम् । एवं च भावनायाः
कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रकरणाद् भवतामिव शुद्धं कत्वर्थत्वमिति । कृत्प्रत्ययस्थले
पुनः कर्तुर्विशेष्यत्वात् तत्संस्कारमुखेनैव कत्वर्थतेति सहृदयैराकलनीयमिति ।
इदं पुनरिहावशिष्यते । नानृतं वदेदित्यनारभ्याधीतवचनस्य दर्शपूर्णमासप्रकर-
णपठितस्य नानृतं वदेदित्यस्यापि च विनिगमनाविरहाच्छब्दानृतमर्थानृतं चेत्यु-
भयमपि निषेध्यमित्यन्यत्र निर्णीतम् । तथा च साधुत्वनिर्णायकसूत्रवार्तिकभा-
ष्यकारैस्तिङ्गं कर्तर्येव साधुत्वकथनात्तदुलङ्घनेन याज्ञे कर्मणि भावनारूपेऽर्थे
प्रयुज्जाना मीमांसकादयश्चतुर्थीमेव षष्ठ्याद्यर्थे कथं न प्रत्यवयन्तु । तथा च साङ्गा-
नुष्ठानेऽपि तेषामेव प्रायश्चित्तानुष्ठानापत्तिः । न च निर्मूलत्वादेतदनुशासनमना-
दरणीयम् । तस्मात् 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'
इति श्रुतेः—

‘पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम् ।

सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन ॥’

इति पराशरोपपुराणादेश्वनेकशो दर्शनात् । न च लकारवत् कर्त्राद्यर्थकत्वमपि
कल्पितप्रकृतिप्रत्ययविभागमादायैव पर्यवसितानामर्थविशेषे साधुत्वबोधकत्वस्वी-
कारात् । तस्मादेतद्वैषम्यनिरासार्थं कर्तृकर्मणोर्वाच्यत्वमावश्यकमिति सिद्धम् ॥२१॥

इति वैयाकरणभूषणे धात्वाख्यातसामान्यार्थयोर्निरूपणं समाप्तम् ॥

१ निवारयिता D. २ T. drops युक्त. ३ पुरुषार्थत्वं न Tr. ४ °त्यत्र D.
५ श्रीवैया T. ६ D₂ has तिङर्थनिर्णयः for धात्वाख्यातसामान्यार्थयोर्निरूपणम् ७ समा-
प्तम् is dropped in Tr.; after समाप्तम् D. has शुभमस्तु । श्रीरस्तु । श्रीरामाय नमः
and D. has श्रीशिवः.

॥ लकारार्थनिर्णयः ॥

एवं प्रत्येकं दशलकाराणामर्थं निरूपयति—

वर्तमाने परोक्षे श्वो भाविन्यर्थे भविष्यति ।

विध्यादौ प्रार्थनादौ च क्रमात् ज्ञेया लडादयः ॥ २१ ॥

तत्र वर्तमानेऽर्थे लट् वर्तमाने लङिति सूत्रात् । वर्तमानत्वं च प्रारब्धापरि-
समाप्तक्रियोपलक्षितत्वं भूतभविष्यद्विभक्तकालत्वं वा लोकप्रसिद्धमेव । तच्च पच-
तीत्यादावधिभ्रयणाद्यधःश्रयणान्तव्यापारेऽस्तीति तमादाय लट्प्रयोगः । अथायं
कालः किं द्योत्यो वा वाच्यो वा । नाद्यः । तस्य धात्वर्थत्वाभावात् । द्योतकत्वं
च शक्त्याधायकत्वं न चैतद्धातोः शक्त्यभावे संभवति । न च स शक्त एव ।
बहूनां धातूनां तत्र शक्तत्वे गौरवात् । एकस्य लट् एव वाचकत्वौचित्याच्च ।
किं च वर्तमाने लङिति विनिष्य विधानेऽपि लटस्तत्राशक्तत्वे कर्तापि वाच्यो
न स्यात् । स्याच्च द्योत्य एव । अविशेषात् । अत एव धातोर्वर्तमानत्वे लक्षणा
तात्पर्यग्राहकस्तु लट् तात्पर्यग्राहकत्वमेव च द्योतकत्वमित्यपि निरस्तम् । न
द्वितीयः । लटः सामान्यतो लकारार्थेन निराकाङ्क्षतया तत्रैतस्याप्रवृत्तेः । तथापि
प्रवृत्तौ च विशेषेण सामान्यस्य तत्क्रौण्डिन्यन्यायाद्वाधात् कर्तुर्वाच्यत्वानापत्ते-
रिति चेन्मैवम् । पक्षद्वयस्याकरेऽभिहितत्वाद्युक्तिसिद्धत्वाच्च । तथा हि । वर्त-
मानकालो लङ्द्योत्यः । वर्तमानकालस्य धात्वर्थत्वात् तस्य लटं विना चौप्रतीतेः
शक्त्याधायकत्वमेव वाच्यम् । न च तस्य धातुवाच्यत्व उक्तदोषः स्यादिति
वाच्यम् । व्यापारसन्तानातिरिक्तकालस्यानभ्युपगमात् तस्य च धातुवाच्यत्व-
स्योपपादितत्वात् । तथा हि । कालो न व्यापारसन्तानातिरिक्तो मानाभावात् ।
अतिरिक्तकल्पने च तच्छक्तव्यस्यापि कल्पनापत्तौ गौरवापत्तेश्च । किं चाति-
रिक्तकालस्यैव वाच्यत्व आत्मास्तीत्यादौ तत्तत्कालिकसूर्यादीनां क्रियाया निरा-
बाधात् तामादायैवोपपत्तौ कथं पर्वतास्तिष्ठन्त्यात्मास्तीत्यादौ लडादिप्रयोग
इत्यर्थकशङ्काभाष्यमसंगतं स्यात् । स्याच्च तत्तत्कालिकराज्ञां क्रियामादायोपप-
त्तिरिति सिद्धान्तभाष्यमपि तथा । तावत्पर्यन्तं दूरे धावनानुपपत्तेः । अस्तपक्षे
चात्मधारणानुकूलव्यापारस्य प्रारब्धत्वाभावात् प्रारब्धापरिसमाप्तत्वरूपवर्त-
मानत्वस्यासंभवादाशङ्कासंगतेः । सिद्धान्तस्यापि तत्कालिकराज्ञां क्रियामा-

१ T. has before n the following:—स्वसमिन्याहृतस्यैव शक्तस्य बोधकत्वं वा.
२ T. drops स्याच्च. ३ वाप्रतीतेः T. ४ °स्योपपादितत्वाच्च K. ५ इत्यर्थकं शङ्का° T.
६ तत्तत्कालिकानां राज्ञां K., Tr.

दायात्मधारणानुकूलव्यापारस्यापि विशिष्टोत्पत्तिमादाय सूत्रपत्तिरेव । एवमेव सिद्धान्तभाष्यं कैयटोऽपि व्याचष्टे । इह भूतभविष्यद्वर्तमानानां राज्ञां याः क्रियास्तास्तिष्ठतेरधिकरणमिति प्रतीकमादाय तत्र राज्ञां स्थितिर्भूतादिभेदेन भिन्ना पर्वतादिस्थित्यादेर्भेदिकेति क्रियारूपत्वं कालत्रययोगश्चोपपद्यत इत्यर्थे इति । तस्माद्विशिष्टभेदमादायैव भाष्यम् । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘परतो भिद्यते सर्वमात्मा तु न विकल्प्यते ।

पर्वतादिस्थितिस्तस्मात् पररूपेण भिद्यते ॥’

इति । विशिष्टभेदाद् भेद इत्येतद्व्याख्यायां हेलाराजीयेऽपि स्पष्टम् । अत एव ‘एको ह वै नारायण आसीत्’ इत्यादौ विशिष्टभेदमादायैवोपपत्तिरिति शब्दकौस्तुभेऽप्युक्तम् । तस्माद्वर्तमानकालो व्यापारात्मक एव । तन्निष्ठवर्तमानत्वस्य चान्वयव्यतिरेकाभ्यां द्योत्यत्वं सुसंगतमेव । एवं तस्यैवानुत्पत्तिर्भविष्यत्त्वं निष्पत्तिश्च भूतत्वम् । तस्मिन् द्योत्ये लडादय इति तत्र तत्रावधेयम् । तस्माद् द्योतकत्वमेवेति निरुद्धः पन्थाः । एवं वाचकत्वेऽपि नानुपपत्तिः । तथाहि । वर्तमानकालो लङ्वाच्य एव वर्तमाने लङिति सूत्रस्वरसात्

‘क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिक ।’

इति वाक्यपदीयेन कालस्य क्रियापरिच्छेदकत्वाभिधानाच्च । न च स्वपरिच्छेदकत्वं स्वस्थैवेत्युपपद्यते । किं च क्रियाया लटं विनापि प्रतीतेस्तन्निष्ठं वर्तमानत्वमेव द्योत्यम् । तथा च तदपि धातुशक्यं वाच्यम् । तथा च बहूनां धातूनां तत्र शक्तिकल्पनामपेक्ष्यैकस्यैव लटो वर्तमानत्वे शक्तिरित्युच्यताम् । लाघवात् । अपि च वर्तमानत्वविशिष्टक्रियाबोधं प्रति लट्समभिव्याहारः कारणमिति त्वया वाच्यं तथा च तुल्यत्वाल्लटो वाचकत्वमेवोच्यताम् । अथैवं तत्र कर्ता वाच्यो न स्यात् । विशेषेण सामान्यस्य बाधादिति चेन्मैवम् । अर्थद्वयस्यापि संभवेन बाध्यबाधकभावायोगात् । तदुक्तम् । ‘अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्’ इति । किं च । एवं हि लः कर्मणीति निरवकाशमेव स्यात् । स्थलान्तरेऽपि विध्याद्यर्थैर्बाधापत्तेः । तथा च ‘आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलावलम्’ इति न्यायाद् भवति सामान्यप्रवृत्तिः । अथातिरिक्तकालस्य वाच्यत्वे पूर्वमुदाहृतं भाष्यमलम्बकं स्यादिति चेन्न । द्योतकत्वपक्षमादाय तदभिधानात् । वस्तुतस्तु कालस्यातिरिक्तत्वेऽपि वर्तमानत्वं तत्र प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम् । तच्चा-

१ °यास्मद्धारणानुकूल° T. २ भाष्यं for सिद्धान्तभाष्यं D₂. ३ विकल्पते Tr., D₁, D₂. ४ हेलाराजीये Tr., K. ५ तत्र तत्र बोध्यम् D₂.

स्मास्तीत्यादौ क्रियायाः प्रारब्धत्वाभावाच्च संभवतीति कथं वर्तमानत्वमिति शङ्काशयः । क्रियाया अप्रारब्धत्वेऽपि किञ्चिद्विशिष्टायाः प्रारब्धत्वात् तदुप-
लक्षितत्वस्य संभाव्यवति वर्तमानत्वादिकमिति सिद्धान्ताशय इति ध्येयम् ।
वस्तुतः कालो नातिरिक्तः किं तु क्रियैव । तद्वत् प्रारब्धापरिसमाप्तत्वादिरूपं
वर्तमानत्वादिकं लङ् इति परमार्थः । तस्माद्वर्तमानत्वं वाच्यमेव । इत्थं च
'आत्मास्ति', 'पर्वतास्तिष्ठन्ति' इत्यादावपि वर्तमानत्वं 'तम आसीत्', 'तुच्छे-
नाभवपिहितं यदासीत्', 'एको ह वै नारायण आसीत्' इत्यादौ भूतत्वमपि
संगच्छते । लिङ् इत्येवमाह । परोक्ष इति । परोक्षे लिङिति सूत्रात् । कालस्ताव-
दद्यतनानद्यतनभेदेन द्विविधः । द्विविधोऽपि भूतभविष्यद्वृत्तः । तन्नानद्यतने
भूते परोक्षे लिङिति भावः । तेनाद्यतने भूतेऽनद्यतने भविष्यति भूतेऽप्यपरोक्षे
च न लिङ्प्रयोगः । परोक्षत्वं च प्रयोक्तृवृत्तिसाक्षात्करोमीत्येतादृशविषयताशा-
लिज्ञानाविषयत्वम् । नैनु परोक्षेत्यव्यावर्तकं सर्वस्या अपि क्रियायाः परोक्षत्वात् ।
तदुक्तं भाष्ये । 'क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूताव्यया न शक्या
पिण्डीभूता निदर्शयितुम्' इतीति चेन्न । तदनुकूलशक्तिमतां व्यापाराविष्टानां
साधनानां परोक्षस्येह विवक्षितत्वात् । तेन क्रियानाविष्टसाधनमात्रप्रत्यक्षेऽपि
लिङ् भवत्येव । यथायं पपाचेत्यादौ । एवं स्वव्यापारस्यापि वर्तमानदशायां
व्यासङ्गादिना स्वयमप्रतिसंधानेऽपि ततः कार्येणानुमितौ भवत्येव लिङ् । यथा

‘बहु जगद् पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहम्’ ।

इति वदन्ति । ‘व्यातेने किरणावलीमुदयनः’ इति त्वयुक्तमेव । उक्त-
रीत्या यथाकथंचित् परोक्षत्वोपपादनेऽप्यनद्यतनत्वातीतत्वयोर्बहुतरमनःप्रणिधान-
साध्यशास्त्रार्थनिर्णयजनकशब्दरचनात्मके ग्रन्थे विस्तारक्रियायामसत्त्वेन लिटोऽ-
योगात् । इदं त्ववधेयम् । क्रियाया एव परोक्ष्ये लिङित्यर्थो लाघवात् । यतो
धातोरित्यधिकारस्य धात्वर्थे लक्षणायां स्ववाच्यत्वं संबन्धः संबन्धलक्षणायां
स्ववाच्यसाधनत्वं संबन्ध इति गौरवम् । न च सर्वा क्रिया परोक्षेत्यव्यावर्तकं
तत् । समुदायस्य परोक्षत्वेऽपि प्रत्येकमपरोक्षत्वात् । अत एव ‘पिण्डीभूता न
निदर्शयितुं शक्या’ इति भाष्येऽपि । अत एव पश्य सृगो धावतीत्यत्र धावनक्रियाया
एव पश्येत्यत्र कर्मत्वं सर्वसिद्धमेव । न च प्रत्येकं न क्रियात्वमिति वाच्यम् ।

१ वस्तुतस्तु D₀. २ परोक्षत्वं प्रयोक्तृ K.; परोक्षत्वं साक्षात् Tr. ३ ननु परोक्षत्वं
त्वव्यावर्तकं K.; ननु परोक्ष इत्यव्यावर्तकं Tr. ४ त्वोपपादनेऽप्य बहुतरं T. ५ रचना-
त्यकग्रन्थे K., T. ६ ग्रन्थविस्तारं Tr., T.

तावतापि धात्वर्थत्वाक्षतेः । परोक्षत्वमपि भाष्योक्तं क्रियायां संगच्छत इति प्रतिभातीति दिक् । लुडर्थमाह । श्वो भाविन्यर्थे इति । अनद्यतने भाविनीत्यर्थः । अनद्यतने लुडिति सूत्रात् । यथा श्वो भवितेत्यादौ । लुडर्थमाह । भविष्यतीति । भविष्यत्सामान्य इत्यर्थः । लृट् शेषे चेति सूत्रात् । यथा घटो भविष्यतीत्यादौ । तत्त्वं च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्त्वम् । लेटोऽर्थमाह । विध्यादाविति । लिङ्गर्थे लेडिति सूत्रात् । आदिना निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टादयो गृह्यन्ते । विधिर्नाम प्रेरणम् । भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनमिति यावत् । निमन्त्रणं नियोगकरणम् । आवश्यकं श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनमिति यावत् । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा । अंधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः । प्रवर्तनायां लिङ्गिति तु निष्कर्षः । चतुर्णां पृथगुपादानं प्रपञ्चार्थम् । यैदाहुः ।

‘अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्वपि ।

तत्रैव लिङ्गं विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ॥

न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा ।

विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम्’ ॥

इति । अत एवैतत् सिद्धान्तकौमुद्यामप्युक्तम् । तत्र प्रवर्तना प्रवृत्त्यनुकूलो धर्म इष्टसाधनत्वम् । इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिसामान्ये हेतुत्वावधारणेन तस्यैव वैच्यत्वौचित्यात् । तथा च जैमिनीयं सूत्रम् । ‘शास्त्रफलं प्रयोक्तृरि तल्लक्षणत्वात्’ इति । शास्त्रसंबन्धि फलं स्वर्गादि प्रयोक्तृरि कर्तरि प्रयोक्तृफलसाधनतालक्षणत्वाद्भिधेः कर्त्रपेक्षितोपायता हि विधिरिति ‘कर्ता शास्त्रार्थत्वात्’ इत्यधिकरणे भामत्यां व्याख्यातम् । अत एव मण्डनमिश्रैरुक्तम् ।

‘पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।

प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्’ ॥

इति । नन्विष्टसाधनत्वस्यैव कृतिसाध्यत्वस्यापि प्रवर्तकतया शक्यत्वं स्यादिति चेदत्रोक्तं प्रथमाध्यायप्रथमपादेऽनुव्याख्याने ।

‘कार्यता च न काचित् स्यादिष्टसाधनतां विना ।

कार्यं न हि क्रियाव्याप्यं निषिद्धस्य समत्वतः ॥

न भविष्यत्क्रियाकार्यं स्वक्षयतीश इति ह्यपि ।

कार्यं स्यान्नैव चाकर्तुमशक्यं कार्यमिष्यते ॥

१ अघीष्टं Tr., D₁, D₂. २ तदाहुः T. ३ वाचकत्वौचित्यात् T. ४ जैमिनिसूत्रम् T. ५ इत्यधिकृत्याधिकरणे T.; इत्यधिकरणं K., Tr. ६ नेष्टाभ्युपायत्वात् D.

साम्यादेव निषिद्धस्य तदिष्टं साधनं तथा ' ॥

इति । विवृतं चैतन्मयायुसुधायाम् । कार्यत्वविशिष्टबोधकत्वेनैव वाक्यपर्यवसानाद्बुद्ध्यवहारात् कार्यान्वित एव व्युत्पत्तेश्च सिद्धार्थानामबोधकत्वात् कथं वेदान्तैः शुद्धं ब्रह्म प्रतिपाद्यत इत्याशङ्कां निराकर्तुं तामेव निर्धारयति कार्यता चेति । इष्टसाधनतामित्यत्रेष्टत्वं च विनेति शेषः । उपसंहारे तथाभिधानात् । कार्यमिति । व्याप्यं जन्यम् । निषिद्धस्य ब्रह्महननादेः क्रियाजन्यत्वेन समत्वाच्चैतत् कार्यमित्यर्थः । नेदं मया कृतं न वा क्रियते किं तु कार्यमिति व्यवहाराद् भविष्यत्क्रियाकार्यं क्रियानिष्ठं भविष्यत्त्वं वा तदित्येतन्निराचष्टे । न भविष्यत्त्वं वा तदित्येतन्निराचष्टे । न भविष्यदिति । स्वक्षयतीति । हिशब्दो हेतौ । यतः स्वक्षयतीत्यत्र सर्जनानुकूलक्रियाया भविष्यत्त्वेऽपि कार्यत्वाभाव इत्यर्थः । न चैतत् कार्यमेव । लिङ्वाभ्यन्तारङ्गीकारात् । कृत्याश्रित्यवश्यकार्यं कृत्या भवन्ति । तच्चाकर्तुमशक्यमिति तदेव कार्यमित्याशङ्क्य निषेधति । कार्यमिति । परनारीगमनादेरकर्तुमशक्यत्वात् कार्यत्वापत्तिरित्याह । साम्यादेवेति । तदिति । तस्मादित्यर्थः । इष्टं तत्साधनं च कार्यत्वमित्याह । इष्टमित्यादि । तथा चेष्टत्वस्येष्टसाधनत्वस्य वा ब्रह्मण्यबाधात् कार्यत्वविशिष्टप्रतिपादकत्वेऽपि नास्माकं क्षतिरिति भाव इति । नन्विष्टसाधनत्वस्य चन्द्रमण्डलादिसाधारणत्वात् तत्र प्रवृत्तिः स्यादिति चेन्न । अतीतकार्यं कार्यतायास्त्वदभ्युपेतायाः सत्त्वात् तवापि प्रवृत्त्यापत्तेः । इदानीं कार्यताज्ञानं तथेति चेदिदानीमिष्टसाधनताज्ञानं तथेति समानम् । तस्मादिष्टसाधनत्वान्यकार्यत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वाद्वाच्यत्वे मानाभावाच्च न तद्विध्यर्थे ईति । तत् तुच्छम् । चन्द्रमण्डलादौ प्रवृत्त्यापत्त्या कृतिसाध्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वावश्यकत्वात् । न चेदानीमिष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्तकं तच्च तत्र नास्तीति वाच्यम् । इदानींतनत्वमिच्छायास्ताद्विषयस्य वा विशेषणम् । आद्ये चन्द्रमण्डलफले इच्छाया इदानीं सर्वसिद्धत्वाद्दोषानिवृत्तिः । अत एव न साधने साधनत्वे वा । अन्ये यागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । स्वर्गस्येदानींतनत्वाभावात् । अस्माकं पुनः कृताविदानींतनत्वं विशेषणमिति न दोषः । किं च कार्यत्वं न क्रियाजन्यत्वरूपमिति मध्वखण्डनं कार्यतायाः प्रवर्तकत्वे विध्यर्थत्वे वा । आद्य इष्टसाधनत्वं विना प्रवृत्त्ययोगात् तस्यापि परदारगमनादौ सत्त्वेन तस्य तुल्यत्वात् । निषिद्धे प्रवृत्तेः सर्वसिद्धतया प्रवर्तकस्य तत्रापि प्रसक्तेरदूषणतया तदूष-

१ कार्यता वेति K. २ न च क्रियते Tr. ३ क्रियानिष्ठप्रविष्यत्त्वं K. ४ K. drops च. ५ °मिष्टं Tr. ६ इत्याहुः Tr. ७ प्रवर्तकत्वात् K. ८ चन्द्रमण्डले Tr.

णसंगतेश्च । अन्ये निषेधसाधारण्ये निषेधान्वयो न स्यादित्येव बाधकं फलितम् । तच्च वक्ष्यमाणरीत्या तत्रापि समानमित्यलं शिष्यधेन्धकदूषणेनेति दिक् । नृसिंहाश्रमास्तु लिङर्थस्तु हितसाधनत्वमेव । न तु कृतिसाध्यत्वांशोऽपि । तस्यान्यलभ्यत्वेनाशब्दार्थत्वात् । आख्यातान्तधातुसामर्थ्यात् तत्सिद्धेः । लिङादेर्हि तिङ्त्वसामान्याकारेणास्ति लडादिवत् कृतौ शक्तिः । सा च सविषयासमभिव्याहृतभावार्थं विषयीकरोतीति प्रवृत्तिविषयस्य कृतिसाध्यत्वं लभ्यत एव । न चैवं साध्यत्वादि संसर्गतया भायान्न प्रकारतयेति चिकीर्षानुपपत्तिः । ज्ञानेच्छयोः समानप्रकारकत्वेन हेतुहेतुमद्भावस्यान्यत्रोपपादनात् । किं च पञ्चतीत्यत्रेवात्रापि यागानुकूला कृतिरित्यन्वयबोधो भवेन्न तु यागविशेष्यकः । तथा च चिकीर्षानुपपत्तिरेव । विधिकृदादेः कृतौ शक्त्यभावेनानुपपत्तेश्चेति वाच्यम् । मनसैव पश्चात् तादृशबोधसंभवात् । यद्वा यागो मत्कृतिसाध्यो मत्कृतिसाध्यत्वविरोधिधर्मानधिकरणत्वादित्यनुमानात् तद्ब्रह्म इति प्राहुः । तेषामयमाशयः । कृतिसाध्यत्वमात्रे वेदादवगतेऽपि न तन्मात्रं प्रवर्तकम् । अशक्तस्यापि प्रवृत्त्यापत्तेः । किं तु मदंशविशिष्टम् । तच्च लौकिकप्रमाणेनापि संभवतीति न विधेस्तत्र शक्तिरन्यलभ्यत्वात् । मदंशाद्यन्तर्भावेण वेदेन बोधयितुमशक्यत्वाच्चेति । वस्तुतः कृतिसाध्यताज्ञानं न प्रवर्तकं कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यभावश्च तत् इष्टाभावेन वृथा श्रमजनकत्वेन द्वेषात् नातस्तच्छक्यम् । न च चिकीर्षानुरोधेन तच्छक्यम् । लोकतस्तदवगमाच्चिकीर्षासंभवात् । न चेष्टसाधनता ज्ञानस्यापि प्रवर्तकत्वं न स्यात् । अनिष्टसाधन उदासीने च कष्टं कर्मेति न्यायेन वृथा श्रमजनकत्वेन द्वेषान्न प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । इष्टाजनके आन्तरालिकश्रमे द्वेषाभावदशायामप्रवृत्तेः सर्वसिद्धाया अनुरोधेन तस्य प्रवर्तकत्वावश्यकत्वात् । किं चेष्टसाधनत्वमिच्छाविषयसाधनत्वं तत्र शक्यत्वं स्वर्गादिसाधनत्वादिना तेन रूपेण ज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वात् । न त्विष्टत्वेन । इच्छाज्ञानानपेक्षणात् । तस्याः स्वरूपत एव हेतुत्वात् । यद्यपि लोके बलाद् गुरुप्रवर्तनया प्रवृत्तिस्थले किञ्चिदिष्टं ज्ञात्वा मां प्रवर्तयतीति ज्ञात्वा प्रवर्तत एव तथापि बहुवित्तव्ययायाससाध्य आमुष्मिके च विशिष्य तज्ज्ञानं विना न प्रवृत्तिरिति विशिष्यैव विधिना बोधनीयमिति विशिष्यैव तस्य शक्तिरूपेया । अत एव लोके फलसंदेहात् प्रवृत्तावप्येतादृशस्थले तन्निश्चयोऽपेक्ष्यते तत्र चेच्छा नानार्थत्वपरिहाराय तदादाविव शक्यतावच्छेदकानामनुगमिकेति तत्त्वम् । एवं च स्वर्गादिसाधनत्वमनन्यलभ्यत्वाच्छक्यमेव ।

१ 'वन्धक' T. २ T. drops न च चिकीर्षानुरोधेन तच्छक्यम्. ३ तद्ज्ञानं T.

न चेदमपि स्वर्गकामादिपदसमभिव्याहाराल्लभ्यत इत्यन्यलभ्यत्वम् । कामान्त-
पदात् स्वर्गाद्युपस्थितावपि साधनत्वबोधकाभावात् । विश्वजिदादौ स्वर्गकामा-
दिसमभिव्याहारस्याप्यभावाच्चेति ध्येयम् । अथ मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ प्रवृ-
त्तिवारणाय बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानस्य प्रवृत्त्यौपधिकतया शक्यत्वं स्यादिति
चेन्न । बह्वायाससाध्ये प्रवृत्त्यनापत्तेः । तत्र बहुतरदुःखस्यापि जायमानत्वात् ।
अल्पदुःखस्यापि कुतश्चिद्वलवत्त्वात् । अनुगतबलवत्त्वस्य दुर्वचत्वाच्च । तस्मात्
तत्तद्विषयको बलवान् द्वेषः स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धक इति न तत्कल्पनं युक्तम् ।
अत एवान्तरालिकश्रमे बलवद्द्वेषवान् न ज्योतिष्टोमादौ प्रवर्ततेऽन्यस्तु
तथेति ध्येयम् । नृसिंहाश्रमाः पुनर्न बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं विध्यर्थः । बल-
वदनिष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकतया तदभावस्यैवापेक्षणात् । न तु तत्सा-
धनत्वाभावज्ञानस्याप्यपेक्षा । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकाविघटकस्यापि ज्ञानस्य
प्रतिबन्धकत्वात् । अन्यथा कारणाभावादेव कार्यानुदये तस्य प्रतिबन्धकत्वा-
योगादित्याहुः । तच्चिन्त्यम् । बलवदनिष्टजनकमिति ज्ञानेऽपि तत्र द्वेषाभावद-
शायां परदारगमनादौ प्रवृत्तेः सर्वसिद्धत्वात् । तत्रैवं सति द्वेषे प्रवृत्तिप्रति-
बन्धात् प्रतिबन्धकत्वेनाभ्युपगतद्वेषादेवाप्रवृत्त्युपपत्तेर्ज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वे माना-
भावाच्चेति तस्मादिष्टसाधनत्वमेव शक्यम् । यत्तु प्राभाकरा नेष्टसाधनत्वं
विध्यर्थो यागे क्षणिकतयावगते तस्य बोधयितुमशक्यत्वात् । परम्परासाधनत्व-
स्यापि द्वारानुपस्थितौ बोधयितुमशक्यत्वाद् योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे हेतुत्वात् ।
अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वस्यैव च योग्यतात्वात् । न चैवमपि साधनत्वं सामान्य-
रूपेण बोध्यतामिति वाच्यम् । एकविशेषबाधे सामान्यज्ञानस्य तादितरप्रकारत्वेन
नियतत्वात् । किं च यागः कर्तव्यतया नावगम्यते । काम्यादन्यत् काम्या-
व्यवहितपूर्वसाधनमेव कामी कर्तव्यतयाऽवैतीत्यस्यान्यत्र क्लृप्तत्वात् । तथा च
द्वारीभूतं काम्याव्यवहितपूर्वसाधनमपूर्वमेव शक्यं कार्यत्वरूपेण । कार्यत्वं च
कृत्युद्देश्यत्वं तत्र विशेषणीभूतकृतेराश्रयविषयाकाङ्क्षायां विषयतया याग आश्र-
यतया स्वर्गकामः संबध्यते । सुखदुःखाभावादेर्लोकादिवापूर्वस्यापि वेदेन कृत्यु-
द्देश्यत्वबोधात् । अपौरुषेये वेदेऽप्रामाण्यशङ्काया अप्यसंभवात् । उद्देश्यत्वं च
धर्मान्तरमेव तथा च कार्ये तस्मिन् स्वर्गकामस्य प्रथमान्तस्यान्वयासंभवादुपा-
दानप्रमाणेन तद्विधिशक्त्यैव विवृद्ध्या स्वर्गकामस्येति संबन्धः कार्यते । तदुक्तं

१ इत्यन्यलभ्यम् T. २ परम्परासाधनस्यापि T. ३ नावगम्येत T. ४ द्वारीभूतकाम्यां Tr.
५ कृत्युद्देश्यत्वं चोद्देश्यताया कृतिविशिष्टत्वं तत्र Tr. ६ कृतेर्विषयाश्रयाकाङ्क्षायां T.

नयविवेकवरदराजीये । 'मुख्यार्थमभिदधतः शब्दस्य यस्मिन्नर्थे तात्पर्यं तस्य तत्र मुख्यैव वृत्तिर्यथा स्वर्गकामस्य कक्षान्तरितनियोज्यपरस्य' इति । तथा स्वर्गकामस्य मम यागविषयको नियोग इति बोधः । अत्रापूर्वस्य याग-विषयकृत्युद्देश्यत्वमेव यागविषयत्वम् । यागस्य तादृशकृतिविषयत्वे चान्वयितावच्छेदकमपूर्वकरणत्वं तत्कर्तृत्वं च । तदेव च योग्यता । यथा घटेन जलमाहरेत्यत्र छिद्रेतरत्वम् । योग्यतावच्छेदकोपस्थितिश्च घटेनेत्यादावर्थाध्याहारात् प्रकृते चौपादानिकप्रमाणवशाच्छक्त्यैव । नन्वशक्यमपि तयैव शक्त्योपस्थाप्यते चेत् तर्हि लक्षणोच्छेदः स्यादिति चेन्न । स्वशक्यान्वयबोधकस्यैव स्तोपपादकसकलार्थबोधकत्वाभ्युपगमात् । गङ्गायां घोष इत्यादौ स्वशक्यान्वयबोधकत्वाभावेनोपादानप्रमाणानवकाशात् । काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्यजहत्स्वार्थलक्षणा तु नास्त्येवेति क्व दोषः । एवं च यः कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्यः फलकामश्च कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यतेऽतः काम्ये स्वर्गकामो नियोज्यः । एवं च वेदबोधितमपूर्वमुद्दिश्य पुरुषप्रवृत्तिरुपपद्यत इति स्वर्गनिष्पत्तिर्यादुपपद्यत इति नेष्टसाधनत्वं विध्यर्थः । किं च इच्छाविषयसाधनत्वेन स्वर्गसाधनत्वेन वा शक्तिः । नाद्यः । तज्ज्ञानस्याप्रवर्तकत्वात् । प्रवर्तकज्ञानविषयस्यैव च विध्यर्थत्वात् । नान्त्यः । अनेकार्थतापत्तेः । तदादाविवेच्छा शक्यतावच्छेदकानामनुगमिकास्तीति चेन्न । तत्र बोध्यबुद्धेरवच्छेदकत्वात् । प्रकृतेऽपि बोध्येच्छा तथेत्यभ्युपगमे संन्यासिनामिच्छाविरहिणां बोधानापत्तेः । स्वर्गादेः प्रागनुपस्थितत्वेन शक्यग्रहाच्चेति । अपि च नित्यनैमित्तिकस्थले राहूपरागवतः शुचिविहितकालजीविनश्च मम स्नानसंध्यावन्दनविषयको नियोग इति बोधान्न फलापेक्षा विधिवाक्ये फलाश्रवणाच्च तत्र फलाभावः । 'वैदिके कर्मण्युद्देश्यत्वेन बोधितमपूर्वमुद्दिश्यैव हि प्रवर्तन्ते । तस्यैव च वेदेन स्वतः पुरुषार्थत्वबोधनात् । तथा च काम्ये फलावाप्तिरानुषङ्गिकी । नित्येऽप्यपूर्वस्योद्देश्यस्य सत्त्वात् प्रवृत्तिः । तस्मात् कृत्युद्देश्यमपूर्वमेव शक्यमिति प्राहुः । अत्रेदं चिन्त्यम् । अपूर्वस्य वाच्यत्वमयुक्तम् । प्रमाणाभावात् । प्रवृत्तिकारणीभूतस्वर्गसाधनताज्ञानस्य तेन विनाप्युपपत्तेः । क्षणिकत्वनिश्चयात् साधनत्वज्ञानासंभवेऽपि साधनत्वसामान्यबोधे बाधकाभावात् । एकविशेषब्राधे सामान्यज्ञानं तदितरप्रकारतानियतम् । यथा

१ नयविवेकटीकायां वरदराजीये K., D.; नयविवेकटीकायां वरदराजेन Tr. २ स्वर्गकामपदस्य T. ३ °कृते विषयत्वे T. ४ राहूपरागभवः T.; राहूपरागे स्नायादिति शुचि° K. ५ वेदकर्मण्यु° K. ६ °साधनत्वज्ञानस्य D., ७ साक्षात् साधन° D., D., ८ °बाधसामान्य° T.

छिद्रबाधे घटेन जलमाहरेत्यत्र छिद्रेतरत्वेनेति चेन्न । प्रकृतेऽपि साक्षात् साध-
नत्वबाधे तदितरसाधनत्वेन बोधसंभवात् । तादृशबोधे च परम्पराघटकानपे-
क्षणात् । एतादृशसाधनत्वे च योग्यतावच्छेदकं परम्पराघटकं तच्चात्रापूर्वकम् ।
तथा च स्वर्गसाधनत्वशक्त्यैव त्वसिद्धौपादानिकप्रमाणादपूर्वोपस्थितौ न तद्वा-
च्यम् । अन्यथा सर्वत्रापि योग्यतावच्छेदकस्य वाच्यत्वापत्तेश्चेत्यनवस्थेति । किं
च वेदात् साधनत्वबोधो जायमानः परम्परासाधनत्वरूपेणापि तद्विषयक एवास्तां
कुतस्तदर्थमपूर्वं वाच्यम् । न चापूर्वानुपस्थितौ परम्परासाधनत्वमपि दुर्बोधम् ।
वाच्यत्वपक्षेऽपि प्रागनुपस्थितौ शक्त्यग्रहाच्छब्दादप्युपस्थित्यसंभवात् । कार्य-
त्वरूपेण लिङ्पदशक्तिग्रहान्यथानुपपत्त्या वा यथाकथंचित्तदुपस्थित्या निर्वाहे
परम्परासाधनत्वेन तदुपस्थितेस्त्वदुक्तरीत्योपस्थित्या च ममापि निर्वाहः सुकर
इति ध्येयम् । एवं काम्यादन्यत् काम्याव्यवहितपूर्वसाधनमेव कर्तव्यतयावैती-
त्यपि न युक्तम् । काम्यसाधनताज्ञानस्य लाघवात् प्रवर्तकत्वात् । न त्वव्यव-
हितांशज्ञानम् । तथा गौरवान्मानाभावाच्च । किं च काम्याव्यवहितपूर्वसाधनं
हि मुख्यतत्साधनं गौणतत्साधनमपीति वा । आद्येऽपि तत्त्वेन ज्ञानं स्वरूपत
एव वा । नाद्यः । अपूर्वस्यापि प्रागनुपस्थितत्वेन तत्त्वेन ज्ञानासंभवाच्च कार्य-
तयावगमानापत्तेः । न द्वितीयः । अपूर्वस्य कार्यतयावगमानन्तरमपि यागस्य
कार्यतयावगमो न स्यात् । मुख्यफले साक्षात् साधनत्वाभावात् । नान्यः ।
यागस्यैव साक्षात्कार्यतयावगमसंभवादपूर्ववाच्यत्वहानापत्तेः । नापि कार्यमिति
ज्ञानस्य लोके प्रवर्तकत्वदर्शनात् तदेव विध्यर्थ इति युक्तम् । कृतिजन्यत्वरूपस्य
तस्य धात्वर्थनिष्ठस्य प्रवर्तकत्वात् । न चापूर्वस्य तथात्वसंभवापि । तादृशस्य
लोकत एव संभवाच्चेत्याद्युक्तमेव । एवमिष्टसाधनत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वान्न
तच्छक्यमित्यप्युक्तम् । तदादेर्घटत्वाद्यवच्छिन्नवाचित्ववत् संभवात् । तथा
हि बुद्धिविषयत्वरूपेणोपस्थितघटत्वपटत्वादिशालिषु बुद्धिविषयतावच्छेदकवति
शक्तं तदादिपदमित्येव तदादेः शक्तिग्रहः । बुद्धिविषयत्वमुपस्थितावनुगमकमात्रं
न तु तदंशे शक्तिः । एवमत्रापि लिङादिरिच्छाविषयतावच्छेदकस्वर्गत्वादिवत्
साधनत्ववाचक इति तत्र शक्तिग्रहः । न चात्र तदादौ वा बोध्यबुद्धिरिच्छा
वा प्रविष्टा तेन विनापि बुद्धिविषयतावच्छेदकवतीच्छाविषयतावच्छेदकवति
शक्तमिति शक्तिग्रहसंभवात् । पदार्थोपस्थितिकालेऽपि तदादौ प्रकरणा-

दिवशाद्वक्तुबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नबोधवत् समभिध्याहृतस्वर्गादिपदम-
हिम्ना स्वर्गसाधनमित्येवं बोधसंभवात् । ननु दुःखस्यापीश्वरेच्छाविषयत्वसं-
भवात् तत्साधनत्वमपि शक्यं स्यादिति चेन्न । इष्टापत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । तस्मा-
दिष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वेनावश्यकत्वात् तदेव विध्यर्थो नापूर्वम् । लौकि-
कः । तदनुदेशात् । यत्तु निष्फले संध्यावन्दनादौ विध्यर्थवाधापत्तेर्न तद्विध्यर्थ-
इति । तच्च । तथा सति तत्र प्रवृत्त्यनापत्तेर्निष्फलत्वाद् दुःखैकफलत्वाच्च ।
प्रवृत्तिमात्र इष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुत्वाच्च । न चापूर्वोद्देशेन प्रवृत्तिः । ताव-
तापि तदेवेष्टमादायेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वोपपत्तेः । वस्तुतः प्रवृत्तिविषय-
साध्यत्वे सतीच्छाविषयत्वमेव फल उद्देश्यत्वं न च तदपूर्वस्य । न चान्यदेव
तत् कल्प्यम् । मानाभावात् । पदार्थान्तररूपोद्देश्यत्वस्य प्रवृत्तावनुपयोगाच्च ।
न च वेदैर्बोधितत्वाद्धिष्णुत्वेऽपि प्रवृत्तिः । वेदसहस्रैरपि बोधिते निष्फलत्वज्ञा-
नदशायां पामरादेरप्यप्रवृत्तेः । न च

‘अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य दूज्यते ।

यद्यप्यमेवेति मनः समाधाय स सार्विकः ॥’

इति भगवद्वचनविरोधः ।

‘यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपः कर्म पावनानि मनीषिणाम् ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥’

इत्यष्टादशे भगवतैव पावनत्वोक्तेः । तथा चानुद्दिष्टोऽपि प्रत्यवायपरीहारः फल-
मिति फलं त्यक्त्वापि क्रियमाणस्य पावनत्वं भवतीति भावः । अत एव नित्य-
ज्योतिष्टोमादेः स्वर्गाद्यर्थमनुष्ठानेऽपि नित्यप्रयोगसिद्धिरिति सिद्धान्तः । किं च
संध्यावन्दनानि निष्फलत्वे

‘एतत् संध्याग्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यदधिष्ठितम् ।

यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते ॥’

इत्यस्य

‘संध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।

विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥’

१. यज्ञदानतपःकर्म T. २. विध्यर्थत्वनोपपत्तेः D. ३. देवबोधितं T. ४. यदादानं T.
५. नित्यं नित्यमादौ K., Tr.

इत्यस्य च वैयर्थ्यापत्तिः । स्तावकत्वेनोपयोग इति चेत् तर्हि सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोम इत्येतयोरपि तथात्वापत्तिः । दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यतः फलाकाङ्क्षा-^१निवृत्तेरेतयोरनुपयोगात् । न च सर्वेभ्य इति चतुर्थ्याः सत्त्वात् फलसमर्पकत्वमिति वाच्यम् । ऊर्जोऽवरुध्या इत्यन्नेवार्थवादत्वमात्रत्वेन चतुर्थ्युपपत्तेः । किं च स्तावकत्वेनोपयोगेऽपि स्तुतिरेव वृथेति वैयर्थ्यं दुर्वारम् । प्ररोचनार्थं स्तुतिरिति चेन्न । तस्या अपि व्यर्थत्वात् । पुरुषप्रवृत्तिस्तत्फलमिति चेन्न । अर्थवादाप्रामाण्यं जानतस्तदनुपपत्तेः । बहुदुरध्येयं गौरिति वाक्याप्रामाण्यं जानतस्तद्वाक्यादिवेति । अथ स्वर्गाद्यर्थकतायामप्रामाण्येऽपि प्राशस्त्यबोधकत्वाद्वा स्तावकत्वमित्यभ्युपगतेऽर्थे प्रामाण्यमिति चेन्न । तत्तत्फलजनकत्वातिरिक्तप्राशस्त्यस्य क्वाप्यकल्पनात् । धर्मान्तरप्राशस्त्यज्ञानस्य प्रवर्तकत्वाभावाच्च तत्तत्फलाजनकस्यापि तद्बोधनद्वारा प्राशस्त्यमात्रलक्षणायां कुकविवाक्यवदश्रद्धेयता च वेदस्य स्यात् । तस्मात् स्वार्थ एवैषां प्रामाण्यम् । एवं च संध्यामुपासीतेत्यादौ विधित इष्टावगमेऽपि तस्यावान्तररूपेण बोधनद्वारा शीघ्रोत्पत्तिज्ञापनद्वारा वा प्रवृत्तिविशेषार्थमर्थवाद इति ध्येयम् । अत एव 'सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथा भूतोपदेशात्' इति सर्वशक्त्यधिकरणपूर्वपक्षसूत्रे पुरुषार्थस्य भाव्यस्योभयत्रापि तुल्यत्वादित्युक्तं भट्टाचार्यैः । व्याख्यातं च 'काम्यं यथा फलायोपदिष्टं तथा नित्यमपीति सूत्रार्थः' इति । एवं चेष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थ इति मते नायं दोषः । अथेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ तृतीया न स्यात् । कर्णानभिधान एव तद्विधानादिति चेदत्रोच्यते ।

‘आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः संबन्धः शक्तिरेव वा’ ।

इति वक्ष्यमाणरीत्याश्रयस्य शक्तेश्चानभिधाने तृतीयादय इति स्थितेऽत्रापि साधनत्वाभिधानेऽपि तदनभिधानान्नानुपपत्तिरिति । यत्तु माधवाचार्या लिङादिनान्तरङ्गस्वप्रकृतियज्यर्थमात्रगतेष्टसाधनत्वेऽभिहितेऽपि यागविशेषरूपज्योतिष्टोमादिप्रातिपदिकार्थगतस्यानभिधानेन तृतीया नानुपपन्नेति समाधानमाहुस्तन्न । ज्योतिष्टोमयज्यर्थयोरभेदेनाभिधानस्यावारणात् । अन्यथा देवदत्तः पचतीत्यत्रापि सामान्यतस्तज्जा कर्त्रभिधानेऽपि विशेषरूपेणानभिधानात् कर्तरि तृतीयापत्तेरिति । अन्ये तु कर्तृत्वादिकमाख्यातवाच्यं स्वीकुर्वन्तोऽनभिहित

इत्यस्यापि कर्तृत्वाद्यनभिहित इत्यर्थं वर्णयन्तोऽत्र साधनत्वमात्राभिधानेऽपि तद्विशेषकरणत्वानभिधानाच्च दोषः। प्रथमवर्णकान्ते विवरणेऽप्येतत् स्पष्टमित्याहुः।
 नरनभिहित इत्यस्यानभिहितसंख्याक इत्यर्थः कर्त्रादेराख्यातावाच्यत्वात्।
 तथा चात्र संख्यायाः कर्तृत्वान्वयात् तदभिधानेऽपि न करणाभिधानमिति
 तदर्थम्। पचनोऽग्निना पचनी स्थाव्य इत्यादिकृदादेर्वारणाय करणतत्संख्या-
 धन्यतरानभिधान इति स्त्रीकारेऽत्रापि संख्यानभिधानेऽपि करणाद्यभिधानात्
 तृतीयाया नुस्मरणत्वात्। न च कृत्साधारण्यार्थं यत्र कर्तृविशेष्यको बोधो यत्र
 वा कर्तृविशेष्यकबोधे तात्पर्यं तत्र कर्ताभिहित इत्यभ्युपगमादत्रापि करण-
 विशेष्यकबोधे तात्पर्यभावाच्च करणाभिधानमिति वाच्यम्। बोधस्य तत्तद्व्यु-
 त्पत्त्यनुसारित्वेनानियतत्वात् तात्पर्यस्यापीच्छाविशेषपर्यस्य द्विष्टत्वमिष्टत्वमप्यव-
 स्थमिति प्रसिद्धेननुभवान्नियतत्वादेवं सति शास्त्राप्राप्ताप्यप्रसङ्गादिति दिक्।
 अथ साधनत्वं ज्योतिष्टोमे बोधनीयम्। न च तत् संभवति। वाजपेयादपि स्वर्गोत्पत्ते-
 र्व्यभिचारात्। न च विजातीयतत्साधनत्वं बोधनीयम्। जातेरुत्तरकालं कल्पनी-
 यत्वादिति चेदग्रीष्मर्षे विजातीयतत्साधनत्वं विधिना बोध्यते। न च तत्र
 व्यभिचारशङ्कापि। तच्च वैजात्यं विधेस्तथाशक्तिस्त्रीकारादुपस्थितम्। एतदर्थमेव
 तत्तत्साधनत्वे विधिशक्तिरिति प्रागवोचामेति। कम्बुप्रीवादिमान्नास्तीत्यादौ
 गुरुधर्मानवच्छेदकत्वपक्षे घटत्ववच्छिन्नप्रतियोगिताया एव संबन्धत्ववदत्रापि
 विजातीयस्वर्गसमानाधिकरणात्सन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगि-
 ताकत्वसंबन्धेन स्वर्गसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वोऽभावः प्रती-
 यत इति नाहुर्पपत्तिः। अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वव्युत्पत्तिश्च
 नन्वसमभिव्याहारस्थल एवेति न तद्विरोध इति समादधिरे रामकृष्णभट्टा-
 चार्याः। यत्तु स्वर्गकाम इत्यादिना न स्वर्गत्वावच्छेदेन ज्योतिष्टोमसाध्यत्वं
 बोध्यते। अवच्छेदकत्वांशबोधनासामर्थ्यादसंभवाच्च। स्वर्गत्वस्य तदजन्यवृ-
 त्तित्वादविप्रसक्तत्वात्। किं तु स्वर्गत्वाश्रमेधजन्यत्वसामानाधिकरण्यमात्रं श्रुत्या
 बोध्यते। न चात्र व्यभिचारज्ञानं प्रतिबन्धकम्। समानप्रकारकं हि व्यभिचार-
 ज्ञानं समानप्रकारकाव्यभिचारज्ञानविरोधि। तथा च स्वर्गत्वावच्छेदेन व्यभि-
 चारप्रकारकं तदवच्छेदेन नियतपूर्ववर्तित्वं मा ग्राहि। तदाश्रये धर्मिणि हेतुताग्रहे

१. ननु T. २. बोधतात्पर्यम् T. ३. रूपद्विष्टत्व° Tr.; K. ४. मप्यव्यवस्थित° T.
 ५. तदवच्छेदक° T. ६. प्रतियोगितावच्छेदकत्वावच्छिन्न° T., D.

च न बाधकम् । अथवा व्यभिचारसंदेहोऽत्र न प्रतिबन्धकः किं तु योग्यतासं-
शयपर्यवसन्नत्वेन सोऽत्रानुकूल एव । तादृशजातिसंदेहात् तद्व्यतिरेकनिश्चयश्च
नास्त्येव । तथापि कार्यतावच्छेदकाग्रहे कथं कारणता ग्राह्येति चेन्न । सामाना-
धिकरण्यज्ञानाद्यभावेऽपि शब्दाद्व्याप्तिग्रहवत्फलबलेन तथा स्वीकारात् । अत
एव तद्भाहकसत्त्वे प्रत्यक्षस्थलेऽपि कचित् तदभ्युपेयते । तथा तृणारणिमणि-
स्थले । अत एव व्याप्यतावच्छेदकाग्रहेऽपि फलबलाद् व्याप्तिग्रहो धूमालोका-
न्यान्यत्वेनोपस्थिते धूमादौ सर्वसिद्धः संगच्छते । सहचारदर्शनादिव्याप्तिधी-
सामग्रीसत्त्वे तद्व्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकादर्शनात् । तस्मान्नानुपपत्तिरिति । अत्रेदं
चिन्त्यन् । जन्यत्वं हि तदवच्छेदकधर्मवत्त्वं कथमवच्छेदकग्रहं विना ग्राह्यम् ।
व्यभिचारज्ञानरूपविरोधिनः सत्त्वे तद्भाहासंभवाच्च । न च शाब्दे न स दोषः ।
अयोग्यतानिश्चयरूपस्य तस्याप्रतिबन्धकताया अनुक्तिसंभावितत्वात् । न च
तन्निश्चयो नास्त्येव संशयश्च न विरोधीत्युक्तमिति वाच्यम् । प्रथमं ज्योतिष्टोमं
विनाप्यग्निहोत्रात् स्वर्गश्रवणे तन्निश्चयाभावस्यासंभवात् । तव मते वैजात्यस्या-
पाततोऽपि पूर्वमनुपस्थितत्वात् । तृणादीनामपि वैजात्योपस्थितौ विजातीयान्व-
यव्यतिरेकाभ्यां वा तद्ग्रहः । वक्ष्यते च दूषणान्तरमपीत्यादि ध्येयम् । ज्योति-
ष्टोमेनेत्यत्र ज्योतिष्टोमवदन्यावृत्तिः स्वर्ग इत्येव बोध्यते । न च तदपि स्वर्ग-
त्वावच्छेदेन बाधितमिति कथमवगन्तव्यम् । अधिकरणतावच्छेदकस्य सामाना-
धिकरण्येनाप्यन्वयबोधसंभवात् । अन्यथा गङ्गायां न मत्स्य इत्यादीनां विलय-
प्रसङ्गात् । एवं च साध्येष्टत्वमेव विध्यर्थः साध्यत्वं च यस्मिन् सत्यग्रिमक्षणे
यत्सत्त्वं यद्व्यतिरेके चासत्त्वमित्येवंरूपम् । अत एव दुःखानुत्पादार्थितया प्राय-
श्चित्तादौ प्रवृत्तिः संगच्छते । साधनत्वं शक्यमिति मते च तत्प्राक्कालस्था-
यित्वरूपसाधनत्वज्ञानासंभवात् तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात् । न च साधनत्वज्ञानात्
प्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम् । समानसंवित्संवेद्यतया तल्लाभादिति तु नैयायि-
कनव्याः । अत्रेदमवधेयम् । धूमे रासभर्ज्यभिचारग्रहदशायां रासभवदन्यावृत्तिः
कश्चिद्धूम इति ज्ञानेऽपि प्रवृत्त्यभावस्य सर्वसिद्धत्वेनैतस्याप्रवर्तकत्वाच्च विध्य-
र्थता । किं चैवं सत्यग्रेऽपि वैजात्यकल्पनं न स्यात् । प्रथमत एव प्रवर्तकज्ञान-
सिद्धौ तत्र मानाभावात् । न च पूर्वं गृहीतकरणतानिर्वाहार्थं तत्कल्पनम् ।
जातिं विनापि स्वर्गस्य यागजन्यत्वे बाधकाभावात् । कारणतास्वरूपे तस्यानु-

पजीव्यत्वात् । नापि तद्वहे तदुपयोगः । अत्रैवाभावात् । कारणतावत् कार्यतापि
 सावच्छिन्नेति व्याप्तिश्चाप्रयोजिका । एवं सति ज्योतिष्टोमादश्वमेधजन्यः स्वर्गः
 किं न स्यादिति चेन्न । कल्पितेऽपि वैजात्ये ज्योतिष्टोमान्तराज्ज्योतिष्टोमान्तरी-
 यस्तवापि किं न स्यात् । स्वभावात् । तत्स्वर्गव्यक्तिं प्रति तत्तद्व्यक्तेर्हेतुत्वाद्देति
 चेत् तर्हि प्रथमत एव सोऽनुस्मियतां किं जात्यावच्छेदिकया । तस्मात् कार्यता-
 वच्छेदकधर्मवत्त्वरूपं कार्यमित्येव वाच्यम् । तच्चावच्छेदकाग्रहे दुर्ग्रहमेव । अस्तु
 वा स्वर्गत्वमवच्छेदकम् । यथा चातिप्रसक्तस्यावच्छेदकत्वं साधु तथोक्तमस्मत्-
 पितृचरणैरद्वैतसारोद्धारे । नन्वाद्वैतसारोद्धारे द्रव्यत्वजातिखण्डने कार्यमा-
 त्रसमवायिकारणतावच्छेदकत्वेन द्रव्यत्वसिद्धिमाशङ्क्य सत्तैव तदवच्छेदिका ।
 न चैवं गुणादावपि रूपाद्यापत्तिः । तत्तद्रूपे तत्तद्द्रव्यस्य समवायिकारणताया
 आवश्यकत्वेन विशेषसामग्र्यभावादेव कार्याभावोपपत्तेरित्युक्तं युज्यताम् । त्वया
 तु कार्यतावच्छेदकमतिप्रसक्तमुक्तम् । तत्त्वयुक्तम् । तथा सति स्वर्गत्वावच्छि-
 न्नस्याग्निहोत्राज्ज्योतिष्टोमरूपकारणाभावादनुत्पत्त्यापत्तेरिति । तथाप्युत्पत्तौ च
 घटादौ रासभवद् व्यभिचारादग्निहोत्रादेरकारणत्वप्रसङ्ग इति चेदन्नोच्यते ।
 ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेतेति दर्शपूर्णमासोद्देशेन विहितयोर्ब्रीहियवयोः परस्परव्य-
 तिरेकेऽपि प्रत्येकं फलजनकत्वात् परस्परविरहे कार्यात्पत्तावप्यव्यभिचारवच्चा-
 न्नपि तथास्तु । न च तत्रैकशक्तिमत्त्वेनान्यतरत्वादिना चीभयोर्हेतुता । एवमपि
 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन् सीदामृते
 प्रतितिष्ठ ब्रीहीणां मेध सुमनस्यमान' इति पुरोडाशसदनसादनप्रकाशकमन्त्रयो-
 र्ब्रीहीणां मेधेति मन्त्रलिङ्गाद् ब्रीहिप्रयोग एवाङ्गत्वं न तु यवप्रयोग इति सिद्धा-
 न्तर्हानापत्तेः । तत्रैवापूर्वार्धकार्यानुत्पत्तिव्यभिचारान्यतरापत्तेः । अपूर्वे वैजा-
 त्यकल्पने विकल्पमन्त्रव्यवस्थोपपादने च ब्रीहिधर्माणां यवेष्वप्राप्तिप्रसङ्गो ग्रह-
 धर्माणां संमार्गादीनां चमसेष्विव । प्रकृतापूर्वसाधनत्वलक्षणायाः सोमापूर्व-
 मादाय चमससाधारण्यात् । अवान्तरापूर्वस्य ग्रहपदान्तररङ्गतया शीघ्रोपस्थि-
 तेश्चमसासंग्रहे च ब्रीहिपदादपि ब्रीहिसाध्यापूर्वविशेषोपस्थित्या यवेषु प्रोक्षणा-
 द्यप्राप्तिर्दुवारा । तस्मादेकजातीयापूर्वं एव हेतुता । एवं लोके तृणारणिमणीनां

१ जात्यावच्छेदकया Tr. २ धर्मरूपवत्त्वं D. ३ वातिप्रसक्तस्या° T. ४ °कारणतया T.
 ५ उत्पत्तौ D.; सोऽप्युत्पत्तौ D₁. ६ व्यापाराद° T. ७ °विरहेऽपि T. ८ बोमयो° D₁,
 D₂. ९ करोमि K. १० कल्पयामि ते D₁, D₂. ११ °हान्यापत्तेः K. १२ °कल्पनेन T.

यद्वावपि द्रष्टव्यम् । न चैवं रासभस्यापि घटहेतुतापत्तिः । व्यभिचारात् तत्त्यागे
तृणादेरपि तदापत्तिरिति वाच्यम् । तत्र हेतुतायां मानाभावात् । यवादेः श्रुत्या
तृणादेररणिमण्यभाववति स्तोमे तृणसत्त्वे वह्निसत्त्वं तदभावेऽनुत्पत्तिरित्यन्वय-
व्यतिरेकसहकृताध्यक्षात् तत्सिद्धेः । रासभे तु नोभयम् । किं त्ववश्यकल्प-
दण्डादिभिरन्यथासिद्धिरेवेति न हेतुत्वसंभावनापि । तथापि कारणं विना
कार्यासंभवाद् ब्रीह्यभावे कथं यवेभ्यः कार्यमिति चेत् सत्यम् । ब्रीहिभिर्यक्ष्य
इति संकल्पावच्छिन्नसमयसंबन्धस्यैव ब्रीहिकार्यतावच्छेदकसंबन्धत्वेनादोषात् ।
तेन संबन्धेनाग्नेयापूर्वस्य यवैरनुत्पत्तेः । श्रुत्यनुरोधात् तत्रैव हेतुत्वाच्च व्यभि-
चारः । संकल्पापूर्वं च फलापूर्वोत्पत्तौ नष्टमिति प्रयोगान्तरे यवादीनामुपादानं
नानुपपन्नम् । एवं तृणादेरपि तृणत्वावच्छिन्नसंयोगसंबन्धेन वह्नित्वावच्छिन्नं
प्रति तादात्म्येन तृणत्वेन हेतुतेत्यादि द्रष्टव्यम् । अग्निहोत्रादेः स्वर्गे त्वग्नि-
होत्रजन्मापूर्वविशिष्टसमवायसंबन्धेन स्वर्गत्वमवच्छेदकमतः समानजातीय एव
स्वर्गोऽग्निहोत्रादिभ्यो दुर्वार एवेति । श्रूयते च तैत्तिरीयश्रुतौ 'य एवं विद्वान-
ग्निहोत्रं जुहोति यावदग्निष्टोमेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति य एवं विद्वान् पौर्णमासीं
यजते यावदुक्थेनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति य एवं विद्वानमावास्यां यजते यावद-
तिरात्रेणोपाप्नोति तावदुपाप्नोति' इति सुधियो विभावयन्तु । अत एव धूम-
परामर्शादिकार्यतावच्छेदकं धूमलिङ्गकत्वादिकमेव न तु तत्रानुमितौ वैजात्यक-
ल्पनेत्यभियुक्तोक्तं संगच्छते । यस्तु विधिलभ्यार्थविचारकाले वैजात्यास्वीकारे
ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रयोः फलसाम्यापत्ता अल्पवित्तव्ययायाससाध्येनाग्निहोत्रेण समी-
हितसिद्धौ श्रममात्राद्याधिक्येन द्वेपादप्रवृत्त्यापत्तौ ज्योतिष्टोमाश्वमेधादिविधिना-
मननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यमापद्यत इति तत्कल्पनमिति मीमांसकादिभिः परिशी-
लितः पन्थाः । अत्रोच्यते । इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकस्य ज्योतिष्टोमादावपि
सत्त्वान्न प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । द्वेषोऽपि न सर्वस्येति यस्यैव न तस्यैवानुष्ठानसंभवः ।
अन्यथा तवापि ज्योतिष्टोमेऽत्यन्तमालस्यवतोऽप्रवृत्त्या दोषापत्तेः । वस्तुतः
फले वैजात्याभावेऽपि तदभ्रमादपि प्रवृत्त्युपपत्तेर्नाप्रामाण्यं न च त्रिप्रमाणी-

१ पवमुक्तमन्त्रलिङ्गानुरोधात् तत्रैव K_1 ; त्वत्रैव for पवमुक्त—तत्रैव D_1 ; तु तत्रैव for पव-
मुक्त—तत्रैव D_1 . २ विदाकुर्वन्तु D_2 . ३ After विभावयन्तु D_1 has अत एव तस्मात् कार्यता-
वच्छेदकधर्मवत्त्वरूपं कार्यत्वमित्येव वाच्यम् । तच्चावच्छेदकाग्रहे दुर्ग्रहमेव । यस्तु विधिलभ्यार्थ-
&c. ४ तत एवानुष्ठानं Tr. ५ K. drops the whole from फले to यद्वा. ६
प्रमाणजन्यमेव D_2 .

जन्यमेव ज्ञानं फलवत्प्रवृत्त्युपयोगीति स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यस्याभिधानकाल-
एवामिधानात् कथमेतदिति वाच्यम् । ज्ञानस्य शरीरजन्यत्वेन तन्मात्रजन्य-
ज्ञानाप्रसिद्धेः । तन्मात्रप्रमाणजन्यत्वं चात्राप्यक्षतम् । वेदजन्यज्ञान एव दोषवशाद्वै-
जात्यभानात् । दोषस्य चाप्रमाणत्वात् । यद्वा शक्तस्याननुष्ठानेऽकीर्तिरूपत्तेस्तन्नि-
वृत्त्यर्थं लौकिकप्रतिष्ठारूपाधिकफलार्थं वा महती प्रवृत्तिर्नानुपपन्ना । अत एव
गीतायाम्

‘अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

ततः स्वकीर्तिं धर्मे च ’—

इत्यत्र लौकिकप्रतिष्ठादिकं प्रवर्तकत्वेनोक्तम् । अत एव सकलशास्त्रविदां
युधिष्ठिरादीनां स्वल्पतरफलकराज्यार्थं गोत्रजब्राह्मणादिहनने प्रवृत्तिः संगच्छते ।
तस्मात् प्रतिष्ठाद्युपाधिवशाज्जायमानोत्कटेच्छैव प्रवृत्तौ प्रयोजिकेति नोक्तदोषः ।
अत एवाधुनिकानां कर्मासाङ्गत्वं जानतामपि लौकिकप्रतिष्ठार्थं बहुवित्तव्यया-
याससाध्ये प्रवृत्तिर्दृश्यतेऽपि । प्रतिष्ठादौ रागौत्कट्याद् बहुवित्तव्ययायासादौ न
द्वेषः । अतस्तद्भानेऽपि न निवृत्तिः । वस्तुतस्तु सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपौर्णमासा-
वित्यतः सर्वफलेषु दर्शपौर्णमासयोः प्राप्तेस्तवापि पुत्रेष्टयादीनामानर्थक्यं दुर्वारम् ।
दर्शपौर्णमासप्रयोगस्य नित्यतयावश्यकस्य पुत्रादिकामनयैवानुष्ठाने प्रसङ्गान्नित्य-
सिद्धिसंभवेन प्रयुक्तिलाघवलोभात् पुत्रेष्टयादौ प्रवृत्त्यसंभवात् । नन्वेतदर्थमेव
पुत्रेष्टयादिफले पुत्र उत्कर्षः कल्प्यते । न चोत्कृष्टस्यापि तस्य सर्वेभ्यः कामेभ्यो
ज्योतिष्टोम इति वाक्यात् तस्यापि पुत्राद्यर्थं विधानेन तस्मादेव संभवात् पुनर-
प्रवृत्त्यानर्थक्यं दुर्वारमिति वाच्यम् । फले त्रैविध्यं प्रकल्प्य मध्यविधफला-
र्थतया तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः । यद्वा सर्वकामवाक्यं दर्शपौर्णमासयोः काम्यसकले-
ष्टिमात्रफले ज्योतिष्टोमस्य च काम्यसोमयागफल एव विनियोगं विधत्त इति
न पुत्रेष्टयादिफलस्य ज्योतिष्टोमालाभसंभवोऽपि न वा फलत्रैविध्यकल्पनापीति
चेन्न । कृताधानस्य पुत्रादिलोपस्य दर्शपौर्णमासात् प्रागपि पुत्रेष्टयाद्यनुष्ठान-
संभवेनानर्थक्यपरिहारे फलवैजात्यकल्पनाया एव गौरवेणासंभवात् । न च
दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति वाक्यात् सोमस्य दर्शोत्तरं तावदिष्ट्य-

न्तरस्य तथात्वे मानमस्ति । नन्वस्त्वेवमेव न नः किञ्चिदनिष्टं परं तु तंवैव पुत्रेष्टयाद्यानर्थक्यप्रतिबन्दी लब्धोत्तरेति चेत् तथापि समारब्धदर्शपौर्णमासानां काम्येष्टिप्रवृत्तिविलोपो दुर्वार इति वदामः । वस्तुतस्तु वित्तचित्तादीनां क्षणिकतामालोच्याव्यवधानेन सोमं तत्फलं च चिकीर्षोरैनमिकस्याग्निफलकत्वेन काम्यस्याप्याधानस्य न कालप्रतीक्षा नापि तदीये सोमयागे दर्शपौर्णमासोत्तरताप्रतीक्षेति सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत नर्तुं पृच्छेन्न नक्षत्रमित्यादिश्रुतिप्रामाण्यादग्निष्टोमे सिद्धान्तितम् । तथा च माससाध्यदर्शपौर्णमासयोः स्वर्गोत्कटेच्छावतस्तावत्कालविलम्बमसहिष्णोर्धनिकस्य तत्स्वगार्थमेव सोमानुष्ठानस्याप्युपपत्तेरानर्थक्यपरिहाराद् दर्शपौर्णमासात् सोमे स्वर्गफलभूमाकल्पनं कथं सिध्येत् । कालादिविलम्बेन स्वल्पवित्तव्ययायासादिलभ्यस्याप्यर्थस्योत्कटशीघ्रलाभेच्छायां बहुवित्तव्ययायासादिभिः संपादनस्य लोके प्रायशः सर्वानुभवसिद्धत्वात् । सर्वश्चाधानः सोमेन यक्ष्यमाणो भवत्येवेति अग्निसाध्यकर्माव्यवधानेन यक्ष्यमाणत्वलाभादग्निहोत्रानन्तर्यमपि तदीये सोमे नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम् । अपि च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेतेति विहितनित्यप्रयोगस्यैव फलसमर्पकं संनिधानात् स्वर्गकामवाक्यमतो नित्यप्रयोगेन प्रत्यवायाभावः फलं कल्प्यः । प्रत्यवायोपस्थितितद्द्वेषतत्प्रयुक्ततदभावकामनानां कल्पनामपेक्ष्य स्वर्गेच्छाया एव लाघवेन 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति न्यायाच्च कल्पनौचित्यात् । वस्तुतस्तु वैजात्याभावेऽपि भूयस्त्वालपत्वाभ्यामेव ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रफलयोर्विशेषोपपत्तौ प्रवृत्तिसंभवाच्चैकस्याप्यप्रामाण्यम् । कथमन्यथा सर्वेभ्यो दर्शपौर्णमासावित्यतः सर्वफलेषु दर्शपूर्णमासयोः प्राप्तावपि नानर्थक्यम् । वस्तुतस्तु फलाधिक्यादिकल्पनमपि न युक्तम् । मानाभावाद् गौरवाच्च । किं तु समानफलानामपि कर्मणां शक्ताशक्तभेदेन व्यवस्थैवोचिता । अत एव

‘सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।

दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥’

इति महाभारतं संगच्छते । ‘वित्तशाख्यं न कारयेत्’ इत्यादितत्तद्गतप्रकरणपठितवाक्येभ्य ईष्टान्यत्रापीयं मर्यादा सर्वेषामपि । न चैवं सोमाधिकारिणां दर्शपौर्णमासयोस्तदधिकारिणामग्निहोत्रे चाप्रवृत्त्यापत्तिः । यावज्जीवविधिफलार्थं प्रवृत्त्युपपत्तेरित्यलं पल्लवितेन । अपि चास्तु प्रवृत्त्यनुरोधेन वैजात्यं तथापि

त्वदुक्तरीत्यैवैतत्फलितं यदीष्टसाधनत्वस्यैव सामान्यतः स्वर्गसाधनत्वज्ञानमपि न प्रवर्तकम् । किं तु तत्तत्फलसाधनताज्ञानमेवेति । तथा च स्वर्गत्वसामानाधिकरण्येनाश्वमेधादिजन्यत्वग्रहेऽप्यश्वमेधवदन्यावृत्तित्वग्रहेऽपि च न प्रवृत्तिरिति विधिना तादृशज्ञानजननमप्यफलम् । प्रवर्तकज्ञानविषयस्यैव विध्यर्थत्वादिति न किंचिदेतत् । यत्तु न साक्षाद्विधिजन्यं ज्ञानं प्रवर्तकं किं तु तत्प्रयोज्यमपरम् । अत एव विधिजन्यज्ञानजन्यज्ञानं प्रवर्तकमिति चिन्तामणिकृताप्युक्तमिति तैस्तुच्छम् । कल्पनाया विना बाधकं साक्षादुपपादकविषयत्वानियमेन साक्षात्प्रवर्तकज्ञानविषय एव विधिशक्तेरुचितत्वात् । अन्यथा

‘विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।

अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥’

इत्युदयनाचार्योक्तरीत्या वक्रभिप्राय एव च विधिशक्तिः सिध्येत् । इच्छात्वजातैः शक्यतावच्छेदकत्वलाभेन लाघवात् । तथा च गतमिष्टसाधनत्वशक्त्या । साक्षात्प्रवर्तकज्ञानविषयस्यैव शक्यत्वमित्याग्रहे च विजातीयस्वर्गसाधनत्व एव शक्तिरुचिता । अस्मद्रीत्या विधिजन्यज्ञानादेव प्रवृत्तिसंभवेन तादृशधाराकल्पने मानाभावाद् गौरवाच्चेत्यादि सुधीभिर्धेयम् । अथैवमपि न कलञ्जमिति निषेधानुपपत्तिः । कलञ्जभक्षणादेस्तृत्यादिरूपेष्टजनकत्वेन तदभावस्य बाधितत्वात् । एतेन श्रुतेष्टसाधनत्वाभावोपपत्तये गुरुतरानिष्टसाधनत्वं कैलप्यत इति परास्ता कल्पतरुकाराद्युक्तिः । यत्तु परिमले गुरुतरानिष्टसाधनत्वे कल्पिते तत्प्रतिसंधाने सांदाष्टिकफलान्निवर्तते तन्निवृत्तौ च तस्येष्टत्वं नास्तीतीष्टसाधनत्वाभावस्य न हन्यादित्येतदर्थतायां न कश्चिद् दोष इति प्रपञ्चितं तत्त्वास्तिककामुकस्य रागाभ्यस्य सत्यपि भाविनरकटुःखावश्यंभावावगमे तात्कालिकफलेच्छा नापैतीति तं प्रतीष्टसाधनत्वाभावबोधकस्य निषेधवाक्यस्याप्रामाण्यापत्तिः । सर्वान् प्रति प्रमाणभूतस्य च वेदस्य पुरुषभेदेन प्रामाण्याप्रामाण्ये न युक्ते इति स्वयमेव निरस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमपि लिङ्ग्यः । तथा च विशेषणभावापन्नो विशिष्टाभावो नञा प्रतिपाद्यत इति न दोष इत्युक्तं तत् प्रागुक्तरीत्या परास्तमेव । तस्मात् कथमेतदिति चेदत्र वदन्ति । यागादाविष्टसाधनत्वसंबन्धित्वेनावगतस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य लक्षणया वानूदितस्य भ्रान्त्या वा प्रसक्तस्यैव निषेध इति विरोधिलक्षणयाऽसुराविद्यादिवदन्नाप्यनिष्टहेतुत्वमेवावगम्यत

इत्यन्ये । न चैवमसुरा अविद्येत्यत्रेव समासापत्तिः । विभाषावचनेन तस्य वैकल्पिकत्वात् । अत एव नानुयाजेष्विति पर्युदासे न स इति प्रागुक्तम् । तत्तत्साधनत्वं विध्यर्थ इति पक्षे स्वर्गादिपदं तत्तत्फलतात्पर्यग्राहकमिति स्वीकारादनिष्टसाधनत्वं लिङ्गर्थो नञ् तात्पर्यग्राहक इत्यन्ये । तत्तत्साधनत्वं विध्यर्थ इति पक्षे न कलञ्जमित्यत्र प्रत्यवायपरीहारसाधनत्वं विध्यर्थः । साधनत्वं चात्र तत्सत्त्वे नियमतः प्रत्यवायाभावस्तदभावे नियमतः प्रत्यवाय इत्यन्वयव्यतिरेकवत्त्वम् । प्रत्यवायोऽपि न ब्राह्मणं हन्यादिति विधिभेदाद्विलक्षणो ग्राह्यः । एवं च विध्यर्थनिषेध एव नञा क्रियते । एवं चार्थात्तद्भक्षणादौ सति प्रत्यवायः सिध्यति । तस्मान्न काचिदनुपपत्तिरित्यपरे । कलञ्जभक्षणाभावः प्रत्यवायपरीहारसाधनमित्येव बोध्यते । न च प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतेत्यादिव्युत्पत्तेः कथमप्रकृत्यर्थेऽभाव इष्टसाधनत्वान्वय इति वाच्यम् । अभावद्वारकमन्वयमादायोपपत्तेः । नञस्थले भिन्नव्युत्पत्तिकल्पनाद्वा । एवं चातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्रापि ग्रहणे ग्रहणाभावे चेष्टसाधनत्वं बोध्यते । फलवैलक्षण्याच्च न दोषः । अत एव कलञ्जभक्षणाभावविषयकं कार्यमिति गुरव इत्यपि केचित् । अथैवं सत्यग्नीषोमीयपञ्चालम्भने पापापत्तिः । न हिंस्यादिति निषेधात् । प्रकृते च तत्संकोचकाभावात् । तथा हि । अग्नीषोमीयमित्यादिना ह्यालम्बनमिष्टहेतुरवगतम् । न हिंस्यादित्यनेन चानिष्टहेतुर्तोदिता । न चानयोर्विरोधः । मधुविषसंपृक्तान्नभोजने परकीयसुन्दरीगमनादौ च समावेशदर्शनात् । वस्तुतस्तु पशुमालभेत्यत्रौलभतिर्यागलक्षणार्थः । अप्राप्तस्यैव तस्यात्र द्रव्यदेवतासंबन्धविशिष्टस्य विधेयत्वात् । अस्तु वैलम्बनमत्र स्पर्शनमात्रम् । विषये प्रायदर्शनादित्यधिकरणे वत्सर्मौलभेत्यभिहोत्रप्रकरणपठितवाक्याद्वत्सहिंसाविधानापत्तेरिति पूर्वपक्षे स्पर्शमात्रं तदर्थ इति सिद्धान्तितत्वात् । अत एव

‘यद् प्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा’ ।

इति भागवतं संगच्छते । तथा च त्रिवृच्चर्वधिकरणन्यायेन सर्वत्र स्पर्शार्थकत्वं

१ तस्य तस्य T. २ तिङ्गर्थो T. ३ तत्साधनत्वं K.; तत्र तत्साधनत्वं T. ४ परिहारं T. ५ परिहारं Tr., K. ६ साधनत्वरूप Tr. ७ नञः स्थले T., D₁. ८ विषयककार्यं Tr. ९ रवगम्यते K., D₂. १० हेतुतादिना D₁, D₂. ११ त्रालम्भाति K. १२ आलभनं Tr., T. १३ मालभेत इति दर्शपूर्णमासं Tr. १४ The portion from अत एव to संगच्छते is given in Tr. and D₂ after सिद्धान्तितत्वात् and in T. after सिध्यति. १५ मुरायां तदा T.

सिध्यति । तत्र हि त्रिवृद्वहिर्ण्वमानमित्युक्त्वा स्तोत्रीयानवकस्य वेदेऽनुक्रान्त-
त्वात्तदेवार्थः । लोके त्रिवृद्रज्जुरिति प्रयोगात् त्रैगुण्यम् । चरुशब्दस्य लोके स्थाली
वेदे त्वादित्यश्चरित्युक्त्वा अदितिमोदनेनेत्युक्तत्वादोदनोऽर्थ इति निर्णयेऽपि
यत्र वाक्यशेषो नास्ति तत्र त्रिवृद्विष्टुद्विष्टोमः । सौर्यं चरं निर्वपेदित्यादौ
तत्राविशेषादुभयं ग्राह्यम् । वाक्यशेषवत्यपि विकल्पेन पदार्थबोधकत्वांशे लोकवे-
दयोस्तौल्यादित्याशङ्क्य विध्येकवाक्यतया बलवत्त्वाद्वाक्यशेषस्य तदुक्त एवार्थो
ग्राह्यः । अन्यत्रापि वैदिकत्वाद्देदसिद्ध एवार्थो ग्राह्य इति दशमे वक्ष्यत इत्युक्तम् ।
एवमत्रापि प्रायदर्शनात् स्पर्शार्थत्वनिर्णयादन्यत्रापि स एव ग्राह्य इति सिध्यति^१ ।
एवं च विधिनिषेधयोः समानार्थत्वस्यैवाभावे क्व बाध्यबाधकभावः । हिंसा त्वङ्गर्था-
गाद्याक्षेपलभ्या । न च पत्नीसंयाजानां जाघनीवदन्यतः सिद्धाङ्गैरेव यागसिद्धेः
प्रयोगान्तर्हिंसा न लभ्यत इति वाच्यम् । प्राचीनपशुसंस्काराणां यज्ञीयपशुद्वारा
यागार्थत्वनिर्वाहायावघातादिवदन्तरनुष्ठानसंभवात् । अन्यथाग्निषोमयित्वासि-
द्धयभावापत्तेश्च । विशसनप्रकारविधायकवाक्याद्विशसनं लभ्यते । अन्यथा
शस्त्रादिना हननेऽपि यागसिद्ध्यापत्तिरिति चेन्न । अखण्डिततत्तदङ्गलाभानुरोधेन
मायुकरणादिदोषनिवृत्त्ये च विशसनप्रकारस्याप्यर्थप्राप्तत्वेन विध्यनपेक्षत्वादिति
तत्त्वम् । न च निन्दार्थेवात्प्रायश्चित्तोपदेशाद्यसमभिव्याहृतविधिवधंयत्वस्या-
निष्ठाननुबन्धित्वव्याप्ततया पर्यवस्यद्विध्यर्थेन समं विरोधाच्च निषेधप्रवृत्तिरिति
रीतिः साध्वी । शब्दार्थयोर्विरोधे ह्यन्यतरस्याप्रामाण्यभीत्या संकोचकल्पना ।
पर्यवस्यद्विध्यर्थेन सह विरोधे च न वेदस्याप्रामाण्यमिति संकोचकाभावात् ।
नापि 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति सूत्रीयाहिंसारूपत्वात् पापसंभवात् दुःखं
भवत्विति चेन्न । शब्दविहितत्वात् ।

‘हिंसा त्ववैदिकी या तु तयानर्थो भुवं भवेत् ।

वेदोक्तया हिंसया तु नैवानर्थः कथंचन ॥’

इति भाष्यस्याहिंसात्वेन वैदिकहिंसाया अपि पापहेतुत्वाद् दुःखं भवत्विति
शङ्कते । अशुद्धमिति । न हि हिंसायाः पापहेतुत्वे हिंसात्वं प्रयोजकं किं तु
निषिद्धत्वम् । तच्चात्र नास्ति । प्रत्युत वायव्यं श्वेतमित्यादिशब्दैर्विहितत्वादि-
त्याह । शब्देति । सोपाधित्वेन दूषितानुमानस्य स्मृतिविरोधं चाह । हिंसेति ।

१ °स्पष्टमान° K. २ बलत्वा° T. ३ See note १४ last page. ४ °यागाक्षेपलभ्या Tr.
and K. ५ प्रयोगात् तर्हि सा K., Tr. ६ संभवत्वि° T., D.

तत्रत्यटीकास्था न माध्वी साध्वी । पूर्वपक्षाशयानवबोधनिबन्धनत्वात् । न हि पूर्वपक्षिणो हिंसात्वेन पापमापादयन्ति । किं तु निषिद्धत्वेन । इष्टसाधनत्वं विधिरित्यभ्युपगन्तुस्तथापि तस्य तुल्यत्वात् । स्मृतिरप्यनन्तकमठादिश्रुतिकल्पकप्रध्वकल्पितैवेति न प्रमाणपथमवतरतीति ध्येयम् । एवं च वेणीप्रवेशन-सहगमनादिसर्वविलोपापत्तिः । एवं वाजपेयेऽपि सुराग्रहजन्यपापापत्तिर्दुर्वारैव । तथा चोक्तं प्रथमस्कन्धे

‘यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।

भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्माधुमर्हति ॥’

इति चेदत्रोच्यते ।

‘नेष्यस्यन्यान् वध्यजन्यान् हिंसा नैषां च धर्मतः ।

स्वधर्मेण च हिंसैव महाकरुणया समा ॥’

इति कर्कट्युपाख्यानस्थवासिष्ठात् ।

‘क्षत्रधर्मरतोऽपि त्वं वृथा हिंसां परित्यज ।’

इति ब्रह्मोत्तरखण्डस्थऋषभोपदेशात् ।

‘या वेदविहिता हिंसा सा न हिंसेति कीर्त्यते ।’

इति श्रीधरस्वाम्युदाहृतवाक्यात् ।

‘यद् प्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरात्मनं न हिंसा ।’

इति भागवतात् ।

‘यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।

यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे बधोऽवधः ॥’

इति ।

‘या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।

अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ ॥’

इति पञ्चमाध्यायस्थमनुवाक्याभ्यां च पापाभावसिद्धेर्न दोषः । अत्र हिंसा न हिंसा । आत्मभनं न हिंसा । बधोऽवध इत्यस्याग्रिमहिंसावधशब्दयोर्विना पापजनकार्यकत्वमसङ्गतेः । यत्तु वैधहिंसायां यत्किञ्चिद्बधभेदसंगतेर्नैदं तत्र

१ टीका च D₁. २ °श्रुतिकल्पितैव T. ३ प्रमाणमर्थमव° T. ४ अहिंसा T. ५ यत्किञ्चिद्विध° T.

साधकमिति तन्न । व्यर्थहिंसासाम्योद्धारासंगतेः । अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न-
प्रतियोगिताकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्च । अन्यथायज्ञीयहिंसायामपि तथाप्रयो-
गापत्तेः । न च शुद्धतया पापजनिका नेति तदर्थः । तथा सतीष्टानिष्टोभयजनिकेत्येव
पर्यवसानेन वैयर्थ्यापत्तेः । विधिनिषेधवाक्याभ्यां तद्वोधात् । अत एवेष्टजनक-
त्वाभावो बोध्यत इत्यपास्तम् । न चैतान्यनुवादकान्येव सन्विति वाच्यम् ।
सति सार्थकत्वे तथात्वासंभवात् । अन्यथा तत्प्रख्याधिकरणोच्छेदप्रसङ्गात् ।
तस्माद्वाचनिक एव पापाभावः प्रतिभाति । अत एव स्कान्दे दशपापगणनाया
'हिंसा चैवाविधानतः' इत्यविधानेन हिंसैव पापजनकत्वेनोक्ता । अत एव
भगवता व्यासेन सूत्रितम् । 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इति । अत एव
धर्मत्वाधर्मत्वयोः शब्दैकगम्यत्वाद्वैद्वहिंसायां धर्मत्वेनैवोक्तत्वाच्च साऽधर्म इति
सूत्रार्थ इत्यस्मत्पितृचरणैर्द्वौ व्याख्यातम् । एवं 'वेदाद्धर्मो हि निर्वर्भौ'
इत्यादौ वेदैर्विहितत्वमेव धर्मत्वेऽधर्मासंवलने तात्पर्यार्थं च हेतुरुक्त इति सामा-
न्यत एवैतदर्थकवचनकल्पनाच्च सुराग्रहादावपि पापप्रसक्तिः । अस्तु वैतस्य
सुराग्रहस्थले इष्टापत्तिरेव । तत्रोक्तभागवतादिना प्राणभक्षविधानेन तस्य च

‘अनृतं मद्यगन्धं च दिवा मैथुनमेव च ।

पुनाति वृषलस्यान्नं बहिः संध्या ह्युपासिता ॥’

इत्यादिनातिस्वल्पप्रायश्चित्तविधानेन क्षतिविरहादिति सुधीभिर्विभाव्यम् । परे
पुनरस्येव पशुहिंसादिभिर्यागादावपि प्रत्यवायः । तथा च भगवता व्यासेन
पातञ्जले पञ्चशिखाचार्यवचनमुदाहृत्य निर्णीतम् । वचनं च 'स्यात् स्वल्पः
संकरः सुपरिहरः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षार्थालं कस्मात् कुशलं ह्येव
बहून्यदस्ति' इत्यादि । अस्यार्थः । स्वल्पः संकरः पशुहिंसाजन्यः प्रत्यवायः
स्यादित्यन्वयः । ननु मधुविषसंपृक्तान्नभोजन इवात्र प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेन्न ।
बहुतरसुखानुविद्धतया तद्दुःखस्य श्रमादिवदप्रयोजकत्वादित्यभिप्रेत्याह । स्वल्प
इति । स्वल्पत्वं च 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' इति शास्त्रात् । अनुदरा कन्येति-
वन्नजोऽल्पार्थकत्वात् । न चाघट इतिवदभावार्थमादायास्मादेव हेतोस्तत्र न
प्रत्यवाय इत्येवोच्यतामिति शङ्क्यम् । सामान्यतः प्रवृत्तनिषेधस्य सत्यां गतौ

१ यज्ञि^० T. २ तथा संभवात् K. ३ नोक्तम् T. ४ T. has वेदवित्यादौ before
it. ५ कल्पनाच्च K., Tr. ६ यज्ञादावपि T. ७ सुपरिहरः Tr., K. ८ णालं T.,
णालं K., T. ९ तस्माद्यज्ञेऽवध Tr., D., K. १० र्थकत्ववत् Tr.; र्थत्वात् D.

सर्वथा संकोचासंभवात् । अत एवाह । सुपरिहरः । अल्पीयसा प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः । अथ प्रमादतः प्रायश्चित्तं नाचरितं तथापि सप्रत्ययमर्षः क्षन्तु-
मर्हः । मृष्यन्ते हि महत्फलं कामयमानास्तदनुनिष्पादिक्षुद्रदुःखम् । अत एवाह
कुशलस्येत्यादि । पृच्छति । कस्मादिति । उत्तरयति । कुशलं हीत्यादि ।
न च हिंसाजन्यपापापेक्षया यदि स्वर्गस्याधिक्यं तदेदं संगच्छताम् । तत्रैव किं
मानमिति वाच्यम् । उक्तोत्तरत्वात् । पशुहिंसाजन्यपापप्रायश्चित्तस्य स्वल्पवित्त-
व्ययायाससाध्यतया तन्नाश्यपापस्यापि स्वल्पत्वानुमानाच्च । यागस्य च बहुवित्त-
व्ययायाससाध्यतया तज्जन्यस्वर्गस्य बहुत्वकल्पनात् । अत एवाश्वमेधशतकफल-
भोगसमयेऽपिन्द्रादेरनेकशो रावणमहिषासुरादिभ्यो दुःखधारा श्रुतिपुराणादि-
पूषवर्णिता संगच्छते । यज्ञान्तर्गतहिंसादिजन्यपापफलस्य तस्य यज्ञफलान्तर-
त्पत्तेरुपपत्तिसिद्धत्वात् । अत एव पञ्चशिखाचार्यवचनशेषे पठितम् । ‘स्वर्गे-
ऽप्यपकर्षमल्पमनुभविष्यति’ इति । अस्तु वा सुखदुःखयोस्तुल्यता । तथापि ताद-
शेच्छावशात् प्रवृत्तिर्नानुपपन्ना । निषिद्धप्रवृत्तिवत् । अत एव विशेषदर्शिना
नैतस्योत्तमत्वं स्वीचक्रुः । अत एवोक्तमेकादशे भागवते

“यद् ब्राणभक्षो विहितः सुरया-

स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।

एवं व्यवायः प्रजया न रत्ये

इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥”

इति । आलम्भनमेव प्रागुक्तरीत्या यागः स्पर्शनं वा विहितं न तु हिंसेति
स्वधर्मं न विदुः । किं तु हिंसैव विहितेत्येवमेव विदुः । अत एवेमं स्वधर्ममपि
विशुद्धं न विदुः । दुःखप्रयोजकत्वादिति भावः । अत एवैतदज्ञानतो निन्दा ।

‘ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सद्भिमानिनः ।

पशून् दुहन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥

इत्यग्रेऽपि संगच्छते । नैवमशुद्धं विदुः । असन्तो भोगमात्ररताः । अत एव
तदुपसंहारे ‘वासुदेवपराङ्मुखाः’ इति वक्ष्यति । विश्रब्धाः । अनेन मनोरथो
भविष्यतीति विश्वस्ता इत्यर्थे इति ध्येयम् । यत्त्वेवं साङ्ग्यागाननुष्ठानं स्यादिति
तत्र वक्तव्यम् । पापेन पुरुषः प्रत्यवैतु । यागस्य साङ्गत्वे को विरोधः । तथा
च कर्त्रधिकरणे भट्टैरुक्तम् ।

‘यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत् ।

न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथाचोदितसिद्धितः ॥’

इति । यत्तु विध्यपेक्षितप्राशस्त्यबोधकत्वमर्थवादानां सर्वसिद्धं तच्च बलवद्-
निष्ठाननुबन्धित्वमेव । अन्यस्यासंभवात् । अत एवान्यलभ्यत्वान्नात्र विधेः
शक्तिर्न वा विधिनिषेधयोः साङ्कर्यमिति । तन्न । बलवद्द्वेषेण तस्यान्यथासिद्धे-
रुक्तत्वात् । शीघ्रफलदानृत्वादेरेवाननुगतप्राशस्त्यस्य सुवचत्वाच्चेति साङ्ख्य-
पातञ्जलानुयायिनः । तच्चिन्त्यम् । उक्तवचनेभ्यो निषेधाप्रवृत्तेरुक्तत्वात् । न च
ततः पापस्य स्वल्पत्वकल्पनं युक्तम् । सकृत्प्रवृत्तायाः किमवगुण्ठनेनेति न्यायेन
निषेधकल्प्यपापस्य साम्यांशे एव संकोचकत्वासंभवात् । संकोचस्याप्येकदेश-
बाधत्वात् । यत्वनयैवोपपत्त्येष्टोत्पत्तिर्नान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वमपि
विधिशक्तौ प्रवेशयन्त इष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिष्टोत्पत्तीत्यादि त्रयं
शक्यमित्याहुः । तथा च निषेधस्थले तादृशानिष्टजनकत्वमुच्यते । विधिना च
तादृशानिष्टजनकत्वमिति विरोधान्न विहिते निषेधः प्रवर्तत इति न ज्योति-
ष्टोमे पथालम्भनं पापजनकमिति इयेनस्थले चेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोरे-
वान्वयाच्च विध्यर्थबाध इति वदन्ति । अत्रेदं चिन्त्यम् । नान्तरीयकत्वस्य दुर्व-
चत्वात् कथं तच्छक्यम् । इष्टजनकजन्यत्वं तद्वाच्यमिति चेन्न । ब्रह्महत्यादि-
सकलजन्यनरकस्य नान्तरीयकत्वापत्तेः । इष्टव्याप्यत्वं तदिति चेन्न । तद्यदि
कालिकं तर्ह्यन्तरालिकश्रमादेरप्यनान्तरीयकत्वापत्तेर्विध्यर्थबाध एव । यदि
दैशिकं तदोक्तदोषः । इष्टपूर्ववर्तित्वं तदिति चेन्न । एतस्य प्रवृत्त्यनुपयुक्तत्वेन
विध्यर्थत्वायोगात् । एतस्य प्रवर्तकत्वे च बहुवित्तव्ययायाससाध्ये किंचिदिष्ट-
जनके प्रवृत्त्यापत्तिः । तदानीन्तनबलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वमिष्टोत्पत्तीत्य-
स्यार्थ इति चेन्न । तादृशयत्किंचित्पुरुषीयद्वेषविषयदुःखाजनकत्वस्य कलञ्ज-
भक्षणेऽपि सत्त्वाद्विध्यर्थनिषेधबाधापत्तेः । सकलद्वेषविषयाजनकत्वं च न ज्योति-
ष्टोमेऽपीति विध्यर्थबाधः स्यात् । विजातीयदुःखाजनकत्वं तन्निष्कर्ष इति चेन्न ।
ज्योतिष्टोमादिदुःखस्यापि कुतश्चिद्विजातीयत्वेन विध्यर्थबाधापत्तेः । नरकाजन-
कत्वं तत्त्वमिति चेन्न । ज्वरितो न भुङ्गीति नेत्ररोगे न स्त्रियमुपेयादित्यादि
वैद्यकशास्त्रोक्तनिषेधानुपपत्तितादवस्थ्यात् । न कलञ्जमित्यादि नजो नरकाज-

१ K. drops दुःखाजनकत्वमपि. २ K. and D_g. drop विरोधान्न; Tr. has विरोधान्न
तत्र निषेधः. ३ Tr. drops पुरुषीय.

नक्तवाभावबोधकत्वसंभवेऽपि तादृशेषु दृष्टार्थकनिषेधेषु तदभावासंभवेन बाधितार्थकतापत्तेः । वस्तुतस्तु वेदेन तथा बोधनेऽपि यस्य न तथा द्वेषः स एव प्रवर्तते नान्य इति विधेस्तथाशक्तिकल्पनं निष्फलम् । न चैवं ज्योतिष्टोमादौ पशुर्हिंसाजन्यपापापत्त्या शिष्टानामप्रवृत्त्यापत्तेस्तद्वारणायैष्टोत्पत्तीत्यादौ शक्तिः कल्प्यत इति वाच्यम् । मरणादिरूपमहानिष्टसाधनेऽपि सहगमनवेणीप्रवेशनादावात्माहुत्यङ्गके सर्वस्वारयज्ञे चोत्कटफलेच्छावशादिव महतामपि प्रवृत्त्युपपत्तेर्बहुधोपवर्णितत्वात् । किं चैवमपि न निषेधसंकोचलाभः । श्येनादिवन्निषेधानुरोधेनेष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वमात्रबोधनेनापि विधिप्रवृत्त्युपपत्तेः । वैधर्हिंसायां विध्यर्थैकदेशाधस्तु निषेधस्य सर्वथैवाप्रवृत्तिरूपबाधान्नाधिक इत्यादि सूरिभिर्विभाव्यम् । लोडर्थमाह । प्रार्थनेति । आदिना विध्याद्याशिपो गृह्यन्ते । 'आशिषि लिङ्लोटौ' 'लोड च' इति सूत्राभ्यां तदवगमात् ॥ २२ ॥

लडादिक्रमेण डितामर्थमाह ।

ह्यो भूते प्रेरणादौ च भूतमात्रे लङादयः ।

तस्यां क्रियातिपत्तौ च भूते भाविनि लृङ् स्मृतः ॥२३॥

ह्यो भूत इति । अनद्यतने भूत इत्यर्थः । अनद्यतने लङिति सूत्रात् । लिङ्-र्थमाह । प्रेरणादाविति । विधिनिमन्त्रणेति सूत्रात् । आशिषि लिङ्लोटौ विहित आशीरर्थो गृह्यते । लुङर्थमाह । भूतमात्र इति । भूत इत्यधिकारे लुङिति सूत्रात् । यथा अभूदित्यादि । अत्र विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम् । तच्च क्रियायां निर्बाधमिति विद्यमानेऽपि घटे घटोऽभूदिति प्रयोगः । लृङ्-र्थमाह । सत्यामित्यादिना । भूते भाविनीति । हेतुहेतुमद्भावादित्यल इत्यर्थः । तथा च हेतुहेतुमद्भावे क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायां लृङिति भावः । नन्वेवं कथमेतेष्वेवार्थेषु निर्भरः । अर्थान्तराणामपि दर्शनात् । लक्षणा तत्रेति चेन्न । वैपरीत्यापत्तेः । वक्ष्यमाणरीत्या तस्या अप्यभावाच्चेति चेन्न । सर्वे सर्वार्था इत्यभ्युपगमात् तत्तदर्थेषु साधुत्वाख्यापकं व्याकरणं न तु शक्तिपरिच्छेदकमिति

वक्ष्यते । तथा चार्थान्तरे सत्यनुशासने साधुत्वमिष्टमेव । मूलं त्वेतद्विप्रदर्शनमात्रम् । सर्वे सर्वार्था इत्यनभ्युपगमे च लक्षणैव । प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां तन्निर्णयात् । परं त्वनुशासनविरुद्धा नैयायिकमीमांसकादिभिरुक्ता तत्र तत्र लक्षणा न साधुत्वसंपादिकेति तत्र तत्र स्फुटीकुर्मः । वक्ष्यते चाधिकं सुबर्थ-
निर्णय इत्यलमतिपल्लवितेनेति । एतेषां क्रमनियामकश्चालुबन्धक्रम एव । अत एव पञ्चमो लकार इत्यनेन मीमांसकादिभिर्लेट् एव व्यवह्रियत इति ॥ २३ ॥

इति वैयाकरणभूषणे लडाद्यर्थनिर्णयः ॥

॥ सुबर्थनिर्णयः ॥

सुपामर्थान्निरूपयति ।

आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः संबन्धः शक्तिरेव वा ।

यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपां कर्मेति भाष्यतः ॥ २४ ॥

द्वितीयातृतीयासप्तमीनामाश्रयोऽर्थः । अयं भावः । कर्मणि द्वितीयेति सूत्रात् कर्मरूपेऽर्थे द्वितीया भवति । तच्च कर्तुरीप्सिततममिति सूत्राद्धातूपात्तफलाश्रयः । क्रियाजन्यफलवस्त्वेन कर्मण एव कर्तुरीप्सिततमत्वात् । अत एव सिद्धे तस्मिन्निच्छानिवृत्तिर्नान्यथा । एवं च फलाश्रयः कर्म । तत्र फलांशस्यान्यलभ्यत्वादाश्रयमाश्रमर्थः । तत्त्वमेवाखण्डशक्तिरूपमवच्छेदकमिति बोध्यम् । अथ चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामसंयोगादिरूपफलाश्रयचैत्रादेः कर्मत्वं स्यादिति चेदिष्टापत्तिः । तर्हि द्वितीया स्यादिति चेन्न । न ह्येतदेव द्वितीयाप्रयोजकं किं तु संज्ञान्तराभावविशिष्टे जायमाना कर्मसंज्ञैव । इह च परया कर्तृसंज्ञया बाधेन कर्मसंज्ञाया अप्रवृत्तेर्न द्वितीया । एकसंज्ञाधिकारात् समावेशस्याप्यसंभवात् । अत एवात्मानमात्मना हन्तीत्यत्र कर्मसंज्ञोपपादनं शरीरमनोरूपमवच्छेदकभेदमादाय कृतं भाष्ये । कर्मसंज्ञायास्तु घटं करोतीत्यादौ धातूपात्तव्यापारवत्त्वरूपकर्तृत्वविशिष्टो घटादेरेव विषयत्वज्ञानवकाशता । न चाधःसंयोगरूपधात्वर्थफलाश्रयभूम्यादेर्वृक्षाद् भूमौ पततीत्यत्रापि कर्मतापत्तिः । साक्षात्तदाश्रयताविवक्षायामिष्टत्वात् । कर्तृकर्मद्वारा तद्विवक्षायामेवाधारसंज्ञाविधानात् । अत एव द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैरित्यत्र भूमिं पतितो भूमिपतित इत्युदाहृतम् । न चैवमपि घटं करोतीति न स्यात् फलवत्त्वाभावादिति शङ्क्यम् । उत्पत्तिरूपधात्वर्थफलाश्रयत्वात् । घटं जानातीत्यपि ज्ञानजन्यविषयावच्छिन्नाज्ञानभङ्गरूपफलशालित्वसत्त्वादुपपन्नम् । न चैवमपि नष्टे तं जानातीत्युपपन्नम् । तत्रापि सूक्ष्मरूपेण स्थित्यभ्युपगमात् । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता ।

लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते ॥’

इति । अतीतादावपि ज्ञानादेर्विषयतासंबन्धेन वृत्तिस्वीकारे च तद्वदेवावतरणतद्गङ्गयोरपि वृत्तिः सुवचैवेति सत्कार्यवादानालम्बेऽप्यदोषाच्चेति । वस्तुतस्तु

१ सुबर्थान् D. २ विभक्त्यर्थः D₁, D₂. ३ व्यापाराश्रयः D₂. ४ वेत्सी° T.; हंसी° D₃. ५ कर्मकर्तृद्वारा D₃. ६ मेवाधिकरण° T. ७ भूमिं पतित इत्यु° K.

जानातीच्छति द्वेष्टिसंदेहीत्याद्यनुरोधाज्ज्ञानेच्छाद्यनुकूलो व्यापारो धात्वर्थः ।
 स च ज्ञानजनकमनश्चक्षुःसंयोगादिरेव । अत एव मनो जानाति चक्षुः पश्य-
 तीति प्रयोगाः संगच्छन्ते । इच्छत्यादेश्चेच्छाद्यनुकूलज्ञानादिरेव व्यापारः फलं
 चेच्छादि । तथा च तदाश्रयत्वाद् घटादेः कर्मत्वम् । जानात्यादेः सकर्मकत्वम-
 प्येवमेवोपपादनीयम् । उक्तरीत्यादरे चेच्छादेस्तत्र स्यात् । न चैवमपि फल-
 व्यापारयोः सामानाधिकरण्यात्तदसंभव इति वाच्यम् । पचत्यादेरपि कालिक-
 संबन्धेन फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वेनाकर्मकतापत्तेः फलतावच्छेदक-
 संबन्धेन वैयधिकरण्यस्यावश्यप्रवेशनीयत्वात् । प्रकृते च फलतावच्छेदकः
 संबन्धो विषयता व्यापारतावच्छेदकः समवायादिरिति तेन वैयधिकरण्यमस्येव ।
 फलव्यापारविशिष्टबोधकर्मकर्तृप्रत्ययैर्यो यत्र बोध्यते स एव हि तदवच्छेदकः ।
 स च घटादिज्ञानेच्छाद्वेषमादाय घटो ज्ञायते इष्यते द्विष्यते संदिह्यते ज्ञात इष्टो
 द्विष्टः संदिग्ध इतिवदात्मा ज्ञात इष्टो द्विष्टः संदिग्धो ज्ञायते इष्यते द्विष्यत
 इत्यप्रयोगादात्मा जानाति इच्छति द्वेष्टि^१ ज्ञाता एष्टा द्वेष्टा इतिवद् घटो
 जानाति इच्छति द्वेष्टि^२ संदिग्धे ज्ञाता एष्टा द्वेष्टेति चाप्रयोगादुक्तरीत्या विशि-
 ष्यैवाभ्युपेय इति विभावयामः । अथवा सविषयार्थकेषु ज्ञानेच्छाप्रत्ययसंदे-
 हादिरेव धात्वर्थव्यापारः । विषयतैवातिरिक्ता तज्जन्या फलम् । न च तस्यां
 विषयज्ञानारिक्तायां ज्ञानजन्यायां मानाभावः । विषयो घट इति विलक्षणप्रती-
 तेर्मानत्वात् । विलक्षणप्रतीतिर्हि पदार्थभेदे मानम् । अन्यथा घटपटभेदोऽपि न
 सिध्येत् । न च भावकार्यस्य समवायिकारणकत्वनियमाद् भूतभाविस्थले
 तदभावात् फलाभावः । ध्वंसस्य प्रामाणिकत्वे भावद्वयस्य व्याप्यतावच्छेदक-
 कोटिप्रवेशवद्विषयताया अपि प्रामाणिकत्वे लघुत्वात् समत्वेनैव कार्यत्वस्य
 विशेषणात् । अतश्च ध्वंसवदेव विषयताया अपि निमित्तकारणमात्रजन्यत्वम् ।
 अतीतानागतज्ञानादेर्विषयरूपविषयिताविरहेण निर्विषयप्रसङ्गाच्च । घटत्वादिना
 निर्णयेऽपि विषयो न वेति संदेहाच्च । अत एव न ज्ञानस्वरूपापि । एवं ज्ञाना-

१ चेच्छत्यादे^३ D₁. २ तदसंभव एवेति T. ३ 'स्यावश्यं प्रवेशनीयत्वात् K., Tr. ४
 D₁ drops it. ५ K. and T. have संदिग्धे after द्वेष्टि. ६ D₁, and D₂ drop it.
 ७ धात्वर्थो व्यापारः Tr., D. ८ समवायिकारणकत्वं T., D. ९ विषयताविरहेण K.,
 Tr., D₂. १० न चेति K.

अजन्यत्वे ततः पूर्वमपि ज्ञात इति प्रतीत्यापत्तेस्तदा ज्ञानविषये इच्छाविषय इत्यव्यवहाराच्च । तथा च तदाश्रयत्वाद् घटादेः कर्मत्वं धातोः सकर्मकत्वं च नानुपपन्नम् । अतीतादौ निर्वाहश्च प्राग्वदेवेति वृद्धसंमतः पन्थाः । एवं च कृजानात्यादेरनुपदोक्तरीतिद्वयमुत्पत्तिमावरणभङ्गं चादाय त्रेधा तदुपपादनं शक्यम् । इच्छत्यादेरुक्तरीतिद्वयेनेति विशेषः । उत्पत्तिमादायैव च क्रियते घटः स्वयमेवेत्युपपद्यत इति दिक् । नैयायिकास्तु क्रियाजन्यफलाश्रयत्वमात्रं न कर्मप्रत्ययार्थः किं तु परसमवेतत्वमपि । तेन

‘भूमिं प्रयाति विहगो विजहाति महीरुहम् ।

न तु स्वात्मानम्—’

इत्यादि प्रयोगोऽप्युपपद्यते । अत एव चैत्रेण ग्रामो गम्यत इति प्रयोगो न चैत्रेण चैत्र इत्यादिः । द्वितीयाकर्माख्यातयोस्तुल्यार्थत्वात् । इयांस्तु भेदः । द्वितीयया स्वप्रकृत्यर्थापेक्षया परत्वम् । आख्यातेन च स्वार्थफलाश्रयापेक्षया स्वार्थसंख्यान्वयपेक्षया वा बोध्यते । तच्च धात्वर्थक्रियायामन्वेति चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यत्र च ग्रामस्य चैत्ररूपपरनिष्ठक्रियाजन्यसंयोगरूपफलवत्त्वात् कर्मता । घटं करोतीत्यत्र च घटपदस्य कपाले निरूढलक्षणा । तस्य घटरूपफलशालित्वात् कर्मत्वं नानुपपन्नम् । कपालस्य सिद्धत्वेऽपि घटवत्त्वेनासिद्धत्वात् कृतिविषयत्वं नानुपपन्नम् । घटं जानातीत्यादौ तद्व्यवहारो भाक्त इति नेयमनुपपत्तिरित्याहुः । नव्याः पुनर्न क्रियाजन्यफलशालित्वमित्याद्येव कर्मत्वम् । गमेः कर्मत्वस्य पूर्वस्मिन् देशे त्यजेश्चोत्तरस्मिन् स्यन्देश्च पूर्वापरयोः प्रसङ्गात् । किं तु फलस्य धात्वर्थतावच्छेदकेत्यपि विशेषणम् । एवं च गमेः संयोगस्त्यजेर्विभागः स्यन्देश्च न किञ्चित् फलं तथेति न दोषः । ननु ग्रामं गमयति देवदत्तो यज्ञ-दत्तमित्यत्र प्रयोज्यकर्तर्यव्याप्तिः । उत्तरदेशसंयोगरूपफलस्य प्रयोजकक्रिया-फलत्वाभावात् । तदनुकूलक्रियायाः फलत्वेऽप्यवच्छेदकत्वाभावात् । ननु शुद्धगमे धात्वर्थेऽवच्छेदकत्वविरहेऽपि सनाद्यन्तधात्वर्थप्रयोजकव्यापारं प्रति फल-त्वमवच्छेदकत्वं च प्रयोज्यव्यापारस्याक्षतमेवेति चेत् तर्हि पाचयति देवदत्तो विष्णुमित्रेणेत्यत्रापि प्रयोज्यकर्तुः कर्मतापत्तौ द्वितीयापत्तेरिति चेन्मैवम् । धात्व-र्थफलशालित्वमिति स्वीकर्तृणां वैयाकरणानामप्येतदोपस्य दुष्परिहरत्वात् ।

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थेति सूत्रेण गत्याद्यर्थानामेवेति नियमाज्ञान्येषां प्रयोज्य-
 व्यापारवत्त्वेन कर्मत्वमिति चेत्तर्हि समं ममापीति ध्येयम् । एवं परसमवेत-
 त्वघटितमप्युभयकर्मजसंयोगस्थलेऽन्यदीयकर्मणः स्वापेक्षिकपरसमवेतत्वात् स्वस्य
 च तज्जन्यसंयोगादिरूपफलशालित्वाच्चैत्रे कर्मलक्षणमतिप्रसक्तम् । चैत्रः स्वात्मानं
 गच्छतीति प्रयोगापत्तिश्च । तस्मात् परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वमपि यस्य
 तस्य तत्क्रियाकर्मत्वं चैत्रस्य च स्वक्रियायाः परसमवेतत्वाभावात् तामादाय
 नातिप्रसङ्गशङ्कापि । मैत्रक्रियामादाय च कर्मत्वमिष्टमेव । तत्रैव मैत्रश्चैत्रं
 गच्छतीति प्रयोगात् । एतेन प्रयोगप्रसङ्गोऽपि वारितः । चैत्रनिष्ठसंयोगजनक-
 चैत्रान्यवृत्तिक्रियाश्रयस्तादृशक्रियानुकूलकृत्याश्रय इति वा शब्दबोधासंभवात् ।
 स्वनिष्ठक्रियायाः परसमवेतत्वबाधात् परसमवेतक्रियायाश्च स्वस्मिन्नसत्त्वादिति ।
 घटं करोतीत्यत्र घटपदस्य कपाललक्षकत्वे कपालं घटं करोतीति न स्यात् ।
 कपालनिष्ठक्रियाजन्यफलशालित्वात् । तस्माद् बह्निमनुमिनोमीत्यत्रैव घटं करोति
 जानातीत्यादौ विषयतायां द्वितीयाया लक्षणा रथेन गम्यत इत्यादाविव तृती-
 यादेः । न च द्वितीयायास्तदर्थेऽविधानात् कथमत्रार्थे द्वितीयेति वाच्यम् ।
 द्वितीया कर्मणि शक्त्येवमादितत्तदनुशासनानामर्थार्थान्तरे लक्षणयोत्पत्ति-
 संभवात् । न च ज्ञानजन्यज्ञाततावत्त्वादस्तु कर्मतेति भाट्टी रीतिः साध्वी ।
 ध्वस्ते घटे जानातीत्यनापत्तेरितिदं मतं परिष्कुर्वन्ति । अत्रेदमवधेयम् । परसम-
 वेतत्वांशे शक्तिश्चैत्रश्चैत्रमित्यत्र शब्दबोधवारणाय साधुत्ववारणाय वा कल्प्यते ।
 नाद्यः । चैत्रश्चैत्रमित्यादिशब्दाच्छाब्दबोधस्य फलाश्रयशक्तद्वितीयायाः परसम-
 वेतत्वादिविशिष्टे लक्षणयापि वारणात् । तर्हि शुद्धे फले कः प्रयोग इति चेत्
 चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्ययमेव । अथवा परसमवेतत्वस्य शक्यत्वेऽपि चैत्रः स्वात्मा-
 नमित्यत्र बाधाच्चैतस्यान्वयोऽस्तु । अन्यांशमादाय तवाप्यन्वयबोधः किं न
 स्यात् । श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यादिवदिष्टापत्तौ च गतं शक्यत्वेन । अत एव
 ‘तत्त्वज्ञानाग्निःश्रेयसाधिगमः’ इति न्यायसूत्रे कारणत्वार्थकपञ्चम्या नियतपूर्व-
 वर्तित्वमात्रं योग्यताबलाद् बोध्यत इति न्यायतात्पर्यटीकायां प्रपञ्चितं
 संगच्छते । यद्वा परसमवेतत्वस्य शक्यत्वेऽपि परत्वस्य केवलान्वयितयाव-
 श्यके कार्यकारणभावान्तरे द्वितीयार्थफलप्रकारकबोधं प्रति द्वितीयान्तार्थावृत्ति-
 स्तदन्यवृत्तिर्वा यो व्यापारस्तदुपस्थितिर्विषयतया हेतुरिति कार्यकारणभाव एवो-

च्यताम् । कुतः परसमवेतत्वमपि तदर्थः कल्प्यते । उभयकल्पने गौरवतरत्वात् । परसमवेतत्वस्यान्यत्रान्वयवारणाय कार्यकारणभावान्तरकल्पनेऽतिगौरवाच्च । न च चैत्रमैत्रौ परस्परं गच्छत इत्यत्र व्यापारस्य द्वितीयान्तार्थवृत्तिवाद्बन्धुभिचारः । द्वितीयान्तार्थवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकव्यापारोपस्थितेर्विवक्षितत्वात् । परस्परव्यापारेऽपि परस्परवृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदेकत्वाबाधान्न दोषः । परसमवेतत्वे शक्तिग्रहशून्यस्य देवदत्तः स्वात्मानं गच्छतीत्यत्रापि बोधाच्चैवं कार्यकारणभाव इति चेत् प्रस्थितं तर्हि तच्छक्यत्वेन । कृष्णः स्वात्मानं गच्छतीत्यत्र बोधस्येष्टत्वात् । परसमवेतत्वशक्तिग्रहवतस्त्वन्नन्वयादेव बोधासंभवात् । न हि घटपदस्य पटे शक्तिग्रहवतः पटबोधात् घटपदं पटे शक्तं भवति । तादृशस्य साधुत्वं स्यादिति चेन्न । प्राङ् निरासात् । संज्ञयोर्बाध्यबाधकभावस्य प्रागभिधानात् । न हि परसमवेतक्रियाजन्यधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं परिष्कृतमपि द्वितीयोत्पत्तौ तत्साधुत्वे वा नियामकम् । ग्रामं गमयति देवदत्तं विष्णुमित्र इत्यत्रेव पाचयति देवदत्तेन विष्णुमित्र इत्यत्रापि द्वितीयापत्तेर्दुर्वारत्वापत्तेः । घटं जानातीच्छति करोति पश्यति शब्दं शृणोति गन्धं जिघ्रसीत्यादौ नियामकाभावेन द्वितीयानुत्पत्तिप्रसङ्गाच्च । न च सविषयान्यस्मिन्नेतत् । तत्र तु विषयतयान्वय एव तथेति वाच्यम् । देवदत्ताय कुड्यति हुह्यति ईर्ष्यति असूयति कृष्णाय रोचते स्वदते मोदकः पुष्पेभ्यः स्पृहयतीत्यादौ संप्रदानादिष्वापत्तेः । अन्यथा देवदत्तमभिकुड्यतीत्यपि न स्यात् । अथ संज्ञैव तन्नियामिका तर्हि तावद्वाच्यकथनं निष्फलम् । शाब्दबोधातिप्रसङ्गस्याप्युक्तरीत्यैव निरस्तत्वात् । तस्मान्न परसमवेतत्वमर्थः कल्प्यः । एवमवच्छेदकेत्यपि व्यर्थम् । धात्वर्थफलशालित्वस्यैव तथात्वे लाघवात् । नैयायिकनवीनैः फलव्यापारयोः पृथक्शक्त्यभ्युपगमेन तथा वक्तुमशक्यत्वाच्च । न च घटो भवतीत्यादौ धात्वर्थाश्रये कर्मत्ववारणाय तत् कल्प्यत इति वाच्यम् । तत्रापि कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधेनादोषात् । व्याप्तिरेव भवत्यादौ फलमिति प्रागभिहितपक्षे घटादौ शङ्काया अप्यभावाच्च । नैयायिकादीनामकर्मकेषु फलस्यावाच्यत्वाच्च । यत्तु द्वितीयादिवाच्यं फलमिति तन्न । धातोः फलवाचकतायाः कृजोऽकर्मकतापत्तेरित्यत्र व्युत्पादितत्वेनान्यलभ्यतया द्वितीयायास्तत्र शक्तिकल्पनायोगादिति सुधीभिर्ध्येयम् । यत्तु कर्मत्वादिना बोधात् तत्तद्रूपेणैव शक्तिः । किं चाश्रयत्वरूपस्य तस्य संसर्गत्वेन

भानमभ्युपेयम् । तथा च सति तण्डुलः पचतीत्यत्रापि तथा बोधापत्तिः । न च द्वितीयासमभिव्याहार एव तादृशबोधे कारणम् । प्रथमायाः कर्मत्वे शक्तिग्रह-
दशायां तण्डुलः पचतीत्यत्रापि तथा बोधेन व्यभिचारादित्याहुः । तच्चिन्त्यम् ।
कर्मत्वत्वादिना बोधस्य तादृशव्युत्पत्त्यधीनत्वेनाप्रमाणत्वात् । सर्वेषां तथाननु-
भवात् । फलांशस्य धातुनाश्रयत्वांशस्य संसर्गतयापि लाभे विशिष्टशक्यत्व-
स्यान्याय्यत्वाच्च । आश्रयत्वरूपकर्मत्वस्य शक्यत्व आश्रयत्वत्वस्यावच्छेदकत्वापत्तौ
गौरवाच्च । तण्डुलः पचतीत्याद्यतिप्रसङ्गः परेषामपि समानः । तण्डुलपदोत्तरा-
म्पदज्ञानत्वेन हेतुता । तण्डुलः पचतीत्यत्र तदभावान्नास्माकमतिप्रसङ्ग इति चेन्न ।
तण्डुलान् पचतीत्यत्राम्पदाभावेऽपि बोधेन व्यभिचारात् तथा हेतुहेतुमद्भावा-
सिद्धेः । तण्डुलपदोत्तरद्वितीयाज्ञानत्वेन हेतुत्वमिति चेन्न । तण्डुलवाचकप-
र्यायान्तरस्थलेऽपि बोधेन व्यभिचारात् । तण्डुलार्थकपदोत्तरकर्मत्वार्थकपदज-
न्योपस्थितित्वेन हेतुत्वमिति चेन्न । तण्डुलमित्यत्र यदा तण्डुलपदान्न तण्डुलो-
पस्थितिर्द्वितीयया च कर्मत्वस्य वृत्ता । एवं सोऽस्तीत्यत्र तण्डुलार्थकात् तत्पदात्
तण्डुलोपस्थितिश्च वृत्ता तत्रापि त्वदुक्तसामग्रीसत्वाद्वैधापत्तेः । नन्वेतदर्थं
कर्मताविशेष्यकशब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति कर्मत्ववाचकविभक्तिप्राग्वर्तिपदजन्य-
ज्ञानत्वेन हेतुत्वम् । घटं पटमित्यादिसाधारण्यात् । एवं स्वाधेयतासंसर्गा-
वच्छिन्नघटप्रकारकशब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति घटवाचकपदोत्तरविभक्तिज्ञानत्वेन
हेतुत्वं वाच्यम् । घटं घटेनेत्यादिसाधारण्यात् तथा च न दोष इति चेन्न । यत्र
तच्छब्दादेव घटकर्मत्वोपस्थितिस्तत्र विभक्तिं विनापि बोधेन व्यभिचारात् ।
कर्मत्वधर्मिकघटविधेयकशब्दबोधे एव तद्धेतुरिति चेन्न । प्रथमायाः कर्मत्वे
शक्तिभ्रमदशायां बोधेन त्वदुक्तरीत्यैव व्यभिचारात् । पटपदस्य घटे शक्तिभ्रमेऽपि
बोधाच्च । अथ तादृशबोधं प्रति कर्मत्वोपस्थापकविभक्तिप्राग्वर्तिपदजन्यज्ञान-
त्वेन हेतुत्वं वाच्यम् । एवं तादृशबोधे घटोपस्थापकपदोत्तरविभक्तिजन्योप-
स्थितित्वेन हेतुत्वमिति चेन्न । व्यभिचारात् । घटः कर्मत्वमित्यत्रापि तथा
व्युत्पत्तिसत्त्वे बोधस्य सर्वसिद्धत्वात् । अथ कर्मत्वबोधकपदप्राग्वर्तिपदज्ञानत्वेन
हेतुत्वं वाच्यम् । एवं परत्रापि घटोपस्थापकपदोत्तरपदजन्यज्ञानत्वेन हेतुत्वं
वाच्यमिति चेन्न । पदमात्रे व्युत्पन्नानां तादृशानुपूर्वीज्ञानतात्पर्यज्ञानादिमतामपि
बोधापत्तेः । सामग्रीसत्त्वात् । घटः कर्मत्वमित्यत्रापि विपरीतव्युत्पत्तिरहितस्य

बोधापत्तेश्च । अथ घटप्रकारकर्मत्वविशेष्यकशाब्दबुद्धिं प्रति घटोपस्थापक-
पदोत्तरकर्मत्वार्थकपदजन्यज्ञानत्वेन हेतुत्वमिति कार्यकारणभावग्रहोऽपि हेतु-
रभ्युपेयः । तथा च नौदनः पचतीत्यत्रातिप्रसङ्गः । अनयैव रीत्या विभक्त्य-
न्तरेऽपि कार्यकारणभाव ऊहनीय इति चेत् समानं तर्ह्यस्माकमपि । कर्मणि
शक्त्यभ्युपगमात् । एतावांस्तु विशेषो यत् परेषां कर्मत्वबोधकपदघटितानु-
पूर्वात्वेन प्रवेशोऽस्माकं पुनः कर्मबोधकपदत्वेन । तत्रास्माकमेव लाघवम् । न
च भवन्मत आश्रयमात्रमर्थः । तथा चाश्रयवाचकपदप्रवेशः कार्यः । तथा चौदनेन
पचतीत्यत्रापि कर्मविशेष्यकबोधापत्तिरिति वाच्यम् । आश्रयशब्दस्यैक्येऽपि कर्म-
करणादौ शक्यतावच्छेदकीभूताश्रयत्वस्य तत्तच्छक्तिरूपस्य भिन्नस्याभ्युपगमात् ।
अन्यथा द्वितीयादेः पर्यायतापत्तेः । अस्तु वा फलाश्रयत्वरूपकर्मत्वेन कार्य-
कारणभावे प्रवेशः । नैतावता फलांशस्य द्वितीयार्थता । अशक्यत्वेऽपि फलस्य
तन्निष्ठत्वानपायादित्याद्यहम् । तस्मात् सिद्धमाश्रयमात्रं द्वितीयार्थं इति ।
एतच्च सप्तविधमित्युक्तं वाक्यपदीये

‘निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम् ।
तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्थान्यत्तु कल्पितम् ॥
औदासीन्येन यत् प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम् ।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम् ॥’

इति । निर्वर्त्यादित्रितयस्य लक्षणमप्युक्तम् ।

‘सती वाविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी ।
यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥
प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यं कैश्चिदन्यथा ।
निर्वर्त्यं च विकार्यं च कर्म शास्त्रे प्रदर्शितम् ॥
यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत् प्रकाशते ।
तन्निर्वर्त्यं विकार्यं तु द्वेधा कर्म व्यवस्थितम् ॥
प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥

क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।

दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ॥'

इति । तत्र निर्वर्त्यं घटं करोतीति । अत्र घटस्य प्रकृतिः सत्यपि न परिणामित्वेन विवक्षिता । भस्म करोतीत्यत्रापि काष्ठादिप्रकृतेरविद्यमानाया अविवक्षायां निर्वर्त्यतैव । एवं घटं करोतीत्यत्रापि प्रकृतेः परिणामित्वेन विवक्षायां विकार्य-
तैवेति केचित् । अन्ये तु घटं करोतीति निर्वर्त्यमेव । घटादि चासदेव नैयायिका-
दिनये । सदिति स्वरीत्या सांख्यादिमते च । अत्र एव वक्ष्यति ।

‘उत्पत्तेः प्रागसद्भावो बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः ।

अविशिष्टः सतान्येन कर्ता भवति जन्मनः ॥

कारणं कार्यभावेन यदा वा व्यवतिष्ठते ।

कार्यशब्दं तदा लब्ध्वा कार्यत्वेनोपजायते ॥

यथाहेः कुटिलीभावो व्यग्राणां वा समग्रता ।

तथैव जन्मरूपत्वं सतामेके प्रचक्षते ॥’

इति । विकार्यं च द्विविधम् । प्रकृत्युच्छेदसंभूतम् । प्रकृतिभूतस्यात्मन उच्छेद-
संभूतं प्राप्तम् । काष्ठं भस्म करोति । गुणान्तरोत्पत्त्या । सुवर्णं कुण्डलं करोति ।
अत्र काष्ठसुवर्णयोः परिणामित्वविवक्षाविवक्षयोरपि भस्मकुण्डलरूपकर्मणोर्नि-
र्वर्त्यतैव । काष्ठसुवर्णयोस्तु विकार्यत्वमित्यवधेयम् । प्राप्यम् । रूपं पश्यतीति ।
अत्र क्रियाकृतो विशेष आवरणभङ्गरूपोऽस्त्येव प्रतिपत्तुगम्यश्चेति यद्यपि तथापि
प्रतिपत्तव्यतिरिक्तपुरुषापेक्षया विशेषो न गम्यत इति क्रियाकृतेत्यस्यार्थो बोध्यः ।
औदासीन्येन । ग्रामं गच्छन् वृणं स्पृशति । कर्तुरनीप्सितम् । विषं भुङ्क्ते ।
सञ्ज्ञान्तरैरनाख्यातम् । अकथितमित्यर्थः । गां दोग्धि । अन्यपूर्वकम् ।
संज्ञान्तरप्रसङ्ग इत्यर्थः । क्रूरमभिक्रुध्यतीत्यादि सुधीमिरुह्यम् । ननु काष्ठं विकार्यं
कर्मत्युक्तमयुक्तम् । क्रियाजन्यफलाश्रयत्वाभावादिति चेदत्राहुः । प्रकृतिवि-
कृत्योरभेदविवक्षया निरुद्धयोत्पत्त्याश्रयता । यद्वा काष्ठानि विकुर्वन् भस्म करो-
तीत्यर्थः । तण्डुलान् विकलेदयन्नोदनं निर्वर्तयतीतिवत् । एतच्च द्वयर्थः
पचिरिति प्रक्रम्य भाष्ये व्युत्पादितमिति ग्रन्थकृतः ।

तृतीयाया अप्याश्रयोऽर्थः । तथाहि । कर्तृकरणयोस्तृतीया । तत्र स्वतन्त्रः कर्ता ।
स्वातन्त्र्यं च धातृपात्तव्यापारवत्त्वम् । ‘धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते’

इति वाक्यपदीयात् । अत एव स्थाल्यादिव्यापारस्यापि धातुनाभिधाने
स्थाल्यादेः कर्तृत्वम् । स्थाली पचतीति दर्शनात् । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘धर्मैरभ्युद्यतैः शब्दैः नियमो न तु वस्तुनि ।

कर्तृधर्मविवक्षायां शब्दात् कर्ता प्रतीयते ॥

एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदेन परिकल्पने ।

कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वं चोपजायते ॥’

इति । नन्वेवं ‘कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च’ इति सूत्रे ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ इति
वाक्यस्थमनोमयस्याब्रह्मत्वे ‘एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि’ इति प्रासिकर्म-
त्वकर्तृत्वव्यपदेशो विरुद्ध इति भगवता व्याख्येन निर्णीतं कथं संगच्छताम् ।
एवम् ‘अधिकं तु भेदनिर्देशात्’ इति सूत्रे जगत्कारणं ब्रह्म शरीरादधिकम्
‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः’ इत्यादिषु कर्तृकर्मभावभेदेन
व्यपदेशादिति निर्णीतम् । ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इति सूत्रे मुमुक्षोः प्राणभृतः
सकाशाद् गन्तव्यस्य ह्युभवाद्यायतनस्य ‘तमेवैकं जानथ आत्मानम्’ इत्यत्र
ज्ञातृज्ञेयभावेन भेदेन व्यपदेशाद् भेद इति निर्णीतमिति चेदुच्यते । जीवस्यैव
ज्ञेयत्वे प्रासिकर्मत्वमपि वाच्यम् । कर्तृत्वं च तस्याख्यातेनोक्तम् । न चैक-
स्यैकदा संज्ञाद्वयं युक्तम् । कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञया बाधात् । तथा
चैतमिति द्वितीया न स्यात् । कर्मकर्तृतायां च यगाद्यापत्तिः । किं चैवमपि
कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञया बाधाद् द्वितीयानुपपत्तिरिति भवति शब्दविरोधद्वारा स
भेदहेतुरिति । अत एव व्यपदेशाभिर्देशादित्यपि संगच्छते । अन्यथा कर्तृत्व-
कर्मत्वाभ्यामित्याद्येवावश्यत् । एवमन्यत्राप्यवधेयम् । अत एव घटो भवतीत्यत्र
घटव्यापारस्य धातृपात्तत्वात् तत्रास्य कर्तृत्वमुपपद्यत इति भामत्याम् । धातृ-
पात्तव्यापाराश्रयः कर्तेति कर्तृलक्षणयोगात् घट एवोत्पत्तिकर्तेति कल्पतरौ
चोक्तं संगच्छते । अत एव

‘यज्ज्वलन्ति हि काष्ठानि तत् किं पाकं न कुर्वते’

इत्याहुः । अत एव बाधलक्षणे अस्थिरज्ञे कर्तृत्वं तु क्रियते गुणभूतत्वादिति
कर्तृत्वाभ्युच्चयाधिकरणे । न चैतन्न्यापेक्षं कर्तृत्वम् । काष्ठादीनामपि ज्वलनादौ
कर्तृत्वात् । यस्यैवान्यापेक्षयाख्यातोपात्तव्यापारसमवायः स कर्ता । तस्माच्छु-
क्रान्वारम्भणादिकर्मस्थितिः कर्तृव्यमिति सिद्धान्तितम् । स च व्यापार आख्या-

१ मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिषु T. २ कर्मकर्तृभावभेदेन D₂. ३ वा बाधात् T.
४ संगच्छते Tr. ५ चैतन्न्यापेक्षं Tr. ६ ममोस्थितिः T. ७ स व्यापार T.

तार्थो धात्वर्थो वेल्यन्यदेतत् । एवं चात्रापि व्यापारांशस्य धातुलभ्यत्वादा-
श्रयमात्रमर्थः । यथा च स्थाल्यादिव्यापारस्याभिधानेऽपि देवदत्तः स्थाल्या
पचति स्थाल्यां वेति नासंगतं तथोक्तमधस्तात् । यत्तु कृत्याश्रयः कर्ता । कर्तृत्वत्र
कृधातोः कृतिवाचकत्वात् तृचश्चाश्रयवाचकत्वादिति योगार्थबलात् । तत्राश्रयांशस्य
प्रकृत्यैव लाभात् कृतिरेवार्थ इति तन्न । कृतेरपि धातुलभ्यताया अस्माभिव्यु-
त्पादनात् । यत्तु सामग्रीसाध्यायां क्रियायां सर्वेषां स्वस्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात्
स्वतन्त्र इत्यावर्तकमिति तन्न । धातूपात्तव्यापारवत्स्वरूपं स्वातन्त्र्यं पारिभाषिकं
नैकदा सर्वेषामिति प्रागुक्तत्वात् । माधवाचार्या पुनर्धातुवृत्तौ

‘प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।

तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥

अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेके च दर्शनात् ।

आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरुच्यते ॥’

इति वाक्यपदीयेन समादधिरे । तदर्थस्तु करणादितः प्रागेव परस्मादर्थि-
तादेरेव निमित्तात् कर्ता प्रवर्तते । करणादि तु तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्ति । तथा-
हि । अर्थी हि कर्ता तत् प्रयुङ्क्ते न तदेनम् । किं च तस्य प्रतिनिधिर्दृश्यते
ब्रीह्यभावे नीवारैरिज्यते । कर्तुः स नास्ति । तज्जेदे क्रियान्तरमेवेति प्रसिद्धिः ।
किं च कारकान्तरानुपादानेऽप्यसौ दृश्यते भवत्यादिष्वित्यादिरिति च वदन्ति ।
अत्राचेतने दण्डः करोतीत्यादौ कथं कर्तृत्वम् । लक्षणाया अपि स्वेच्छामात्रेण
बहुशो निराकृतत्वादिति चिन्त्यम् । अयं च त्रिविधः । शुद्धः प्रयोजको हेतुः
कर्मकर्ता च । देवदत्तेन हरिः सेव्यते । कार्यते हरिणा । गमयति कृष्णं गोकु-
लम् । अत्र देवदत्ताभिन्नाश्रयको हरिकर्मकः सेवनानुकूलो व्यापारः । हर्षभिन्नाश्र-
यक उत्पादनानुकूलो व्यापारः । गोकुलकर्मकगमनानुकूलकृष्णाश्रयकतादृशव्या-
पारानुकूलो व्यापार इत्याद्युक्तम् । यत्तु कारकपरीक्षायां तत्र पञ्चविधः
कर्तेति प्रतिज्ञायाभिहितकर्ताऽनभिहितकर्ता चेति भेदद्वयमुक्तं तद् भ्रान्त्यैव ।
उक्तत्रयस्यैवाभिधानमनभिधानं चेति तदतिरिक्तभेदाभावात् । अन्यथा त्रयाणा-
मप्यभिधानानभिधानाभ्यां भेदषट्कापत्तिरिति पञ्चविधत्वासंगतिश्च । अन्यथा
कर्म सप्तविधमित्यप्यसंगतं स्यात् । नवविधत्वापत्तेरित्यवधेयम् ।

करणतृतीयाया अप्याश्रयो व्यापारश्रयः । तथाहि । साधकतमं करणम् । तमवर्थः प्रकर्षः । प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः । प्रकर्षश्च यद्व्यापारानन्तरमव्यवधानेन फलोत्पत्तिस्तत्त्वम् । एवं च सर्वाण्यपि कारकाणि विवक्षया करणानि । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।

विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।

स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ॥’

इति । एवं चाश्रयांशो मूल उपलक्षणमिति बोध्यम् । अथैवं सर्वेषां कारकाणां करणत्वे सर्वत्र तृतीया स्यादिति चेन्न । ‘विवक्ष्यते यदा यत्र’ इत्यत एव तद्वारणात् । न चैकदा सर्वेषां विवक्षेति । नन्वेवं ‘कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्’ इत्युत्तरमीमांसाधिकरणे ‘शक्तिविपर्ययात्’ इति सूत्रेणान्तःकरणस्य कर्तृत्वे करणशक्तिविपर्ययापत्तिरुक्ता न युज्येतेति चेत् सत्यम् । अभ्युच्चयमात्रं तदिति ‘यथा च तक्षोभयथा’ इत्यधिकरणे भाष्यादौ स्पष्टत्वादिति ।

अधिकरणसप्तम्या अप्याश्रयमात्रमर्थः । तथाहि । आधारोऽधिकरणम् । तच्चाश्रयत्वम् । तत्राश्रयोऽर्थः । आश्रयत्वं चाखण्डशक्तिरूपमवच्छेदकम् । न चाश्रयत्वमात्रेण कर्तृकर्मकरणानामाधारसंज्ञा स्यात् । स्यादेव यदि तैत्तसंज्ञाभिः स्वविषयेऽस्या न बाधः स्यात् । नन्वेवमपि द्वितीयानुत्तीयासप्तमीनां पर्यायतापत्तिरिति चेन्न । फलाश्रये द्वितीयायाः व्यापाराश्रये तृतीयायाः कर्तृकर्मश्रये सप्तम्या विधानात् । यद्यपि ‘कारके’ इत्यधिकृत्योक्तायाः सप्तम्याः क्रियाधारे इत्यर्थो लभ्यते तथापि कर्तृकर्मद्वारा तदाश्रयत्वमक्षतमेवेति न दोषः । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्वारयत् क्रियाम् ।

उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥’

इति । एतच्च त्रिविधम् । औपश्लेषिकं वैषयिकमभिव्यापकं चेति । कटे आस्ते । गुरौ वसति । मोक्षे इच्छास्ति । तिलेषु तैलमिति । एतच्च संहितायामिति सूत्रे महाभाष्ये स्पष्टम् ।

अवधिः पञ्चम्यर्थः । अपादाने पञ्चमीति सूत्रात् । तच्च ध्रुवमपायेऽपादा-

नमिति सूत्रादपायो विश्लेषस्तद्वत्त्वे सति तज्जनकक्रियावधिभूलमपादान-
मित्यर्थकादवधिभूतमिति भावः । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम् ।
ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते ॥
पततो ध्रुव एवाश्रो यस्मादश्वात् पतत्यसौ ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते ॥
उभावप्यध्रुवौ मेधौ यद्यप्युभयकर्मके ।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र विवक्षिते ॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक् ।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक् ॥’

इति । अस्यार्थः । अपाये इति सतिसप्तमी । तथा च विश्लेषवत्त्वे सति
विश्लेषहेतुक्रियायाम् उदासीनमनाश्रयः । अतदावेशात् । विश्लेषहेतुक्रियानाश्र-
यत्वात् । एवं च विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वं फलितम् ।
वृक्षात् पर्णे पततीत्यत्र पर्णस्य तद्धारणाय सत्यन्तम् । धावतोऽश्वात् पतती-
त्यत्राश्वस्य क्रियाश्रयत्वाद्विश्लेषहेत्विति । कुड्यात् पततोऽश्वात् पततीत्यत्राश्वस्य
तादृशक्रियाश्रयत्वेऽपि तत्र विरुद्धमित्याह । यस्मादश्वादिति । तद्विश्लेषहेतु-
क्रियानाश्रयत्वे सतीति विशेषणीयम् । तथा च पुरुषपतनहेतुक्रियानाश्रयत्वं
न विरुद्धमिति भावः । एवमश्वनिष्ठक्रियानाश्रयत्वात् कुड्यादेरपि ध्रुवत्व-
मित्याह । तस्यापीति । ननु भयकर्मजविभागस्थले परस्परस्मान्मेषावपसरत
इत्यादौ विभागस्यैक्यात् तद्विश्लेषजनकक्रियानाश्रयत्वाभावादपादानत्वं न
स्यादित्यत आह । उभावपीति । मेषान्तरेति । यथा निश्चलमेषादपसरद्-
द्वितीयमेषस्थलेऽपसरद्द्वितीयमेषक्रियामादायापरस्य ध्रुवत्वं तथात्रापि विभा-
गस्यैक्येऽपि क्रियाभेदादेकनिष्ठक्रियामादायापरस्य ध्रुवत्वमित्यर्थः । तथा
च विश्लेषाश्रयत्वे सति तज्जनकतत्क्रियानाश्रयत्वं तत्क्रियायामपादानत्वमिति
भावः । न चैवमपि वृक्षात् स्यन्दत इति स्यादिति शङ्क्यम् । आसनाच्चलितः
राज्याच्चलित इतिवदिष्टत्वात् । न चैवमपि वृक्षात् त्यजतीति दुष्परिहरम् ।

१ °मिष्यते K., Tr. २ °कर्मकम् T. ३ तद्वेतुक्रियाया° T., D₇. ४ Tr. has
before this—क्रिया चात्र धात्वर्थो न कर्म । तेन वृक्षकर्मजविभागवति पर्णे वृक्षात् पर्णे पततीति
संगच्छते । धात्वर्थक्रियाश्रयत्वं तु पर्णस्यैवेति । ५ K. drops राज्याच्चलित.

वृक्षस्य धात्वर्थफलाश्रयत्वेन कर्मसंज्ञयापादानसंज्ञया बाधेन पञ्चम्ययोगात् । तस्मादुक्तावधित्वान्तर्गतव्यापारांशस्य धातुनैव लाभादाश्रयो विभागश्चार्थ इत्याद्यवधेयम् । नैयायिकाः पुनः परसमवेतत्वं विभागश्च पञ्चम्यर्थः । विभाग-
मात्रार्थकत्वे पर्णात् पूर्णं पततीति स्यात् । न च धात्वर्थतावच्छेदकफलाना-
श्रयत्वे सतीत्यपि विशेषणम् । अधोदेशे वृक्षे एव लभे पूर्णं वृक्षात् पतती-
त्यनापत्तेः । न च विभागार्थकपञ्चम्याः परसमवेतत्वविशिष्टे लक्षणा तस्य
च धात्वर्थेऽन्वयः परत्वं च त्वद्वीत्यैव स्वप्रकृत्यर्थापेक्षयेति वाच्यम् । शुद्ध-
शक्त्या प्रयोगस्थलाभावात् । अन्यथैवकारस्य व्यवच्छेदमात्रे शक्तिः पार्थान्यत्वा-
दिविशिष्टे लक्षणा फलमेव द्वितीयार्थः परसमवेतत्वे लक्षणेत्यपि स्यात् । एवं
च परसमवेतत्वं शक्यमेव । तथा च वृक्षात् पूर्णं पततीत्यादौ वृक्षनिष्ठविभा-
गानुकूलवृक्षान्यसमवेतपतनानुकूलव्यापारवादिति बोधः । परस्परस्मान्मेपा-
वपसरत इत्यादौ एतन्मेपनिष्ठविभागजनकैतन्मेपान्यनिष्ठापसरणाश्रय इति
रीत्या स्वयमूहनीयमित्याहुः । इदं पुनरिहावधेयम् । विभागाश्रयत्वमात्रमर्थः ।
न त्वस्मद्वीत्या विश्लेषजनकक्रियाविशेषानाश्रयत्वमर्थः । पररीत्या च परसम-
वेतत्वमिति युक्तम् । व्यर्थत्वात् । पर्णात् पूर्णमिति प्रयोगस्यैकदा कर्त्रपादान-
संज्ञयोर्बाध्यबाधकभावेनासम्भवात् । अन्यथा ग्रामं त्यजतीत्यादौ त्यजिकर्मण्य-
तिव्यासेर्दुर्वारत्वापत्तेः । शाब्दबोधस्यापि द्वितीयार्थनिर्णये निरस्तत्वादिति
दिक् । वलाहकाद् विद्योतत इत्यादौ निःसृत्येत्यध्याहृत्यावधित्वं द्रष्टव्यम् । रूपं
रसात् पृथगित्यादावपि बुद्धिपरिकल्पितमपादानत्वं नानुपपन्नम् । इदं च

‘निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपास्तविषयं तथा ।

अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते ॥’

इति वाक्यपदीयात् त्रिविधम् । यत्र साक्षाद्भातुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निर्दि-
ष्टविषयम् । यथाश्वात् पतति । यत्र तु धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह तदुपास्त-
विषयम् । यथा वलाहकाद्विद्योतत इति । निःसरणाङ्गे विद्योतेन द्युतिर्वर्तते ।
यथा वा कुसूलात् पचतीति । आदानाङ्गे पाकेऽत्र पचिर्वर्तते । यत्र प्रत्यक्षसिद्ध-
मागमनं मनसि निधाय पृच्छति तदपेक्षितक्रियम् । यथा कुतो भवानिति
पृच्छति । पादलीपुत्रादिति चोत्तरयति । अत्रागमनमर्थमध्याहृत्यान्वयः कार्य
इत्याद्यूह्यम् ।

उद्देश्यः संप्रदानचतुर्थ्यर्थः । तथाहि । चतुर्थी संप्रदाने इति सूत्रात् संप्रदाने चतुर्थी । तच्च कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानमिति सूत्रात् कर्मणा करणभूतेन कर्ता यमभिप्रैति ईप्सति तत् कारकं संप्रदानं स्यादित्यर्थकादुद्देश्यविशेषः । सम्यक् प्रदीयते यस्यै तत् संप्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञां स्वीकृत्य स्वस्वत्वत्यागपूर्वक-त्यागोद्देश्यत्वं चतुर्थ्यर्थ इति तु वृत्त्यनुसारिणः । भाष्यकारास्तु खण्डिकोपा-ध्यायस्तस्यै चपेटां ददाति न शूद्राय मतिं दद्यादित्यादिप्रयोगान्नैतावत्पर्यन्त-मर्थः । रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादि तु शेषत्वमात्रविवक्षायां षष्ठीत्याहुः । नन्वे-वमज्ञां नयति ग्राममिति नयतिक्रियाकर्मभिरजैः संबध्यमानस्य ग्रामस्य संप्र-दानत्वं स्यादिति चेन्न । यमभिप्रैतीत्युक्त्या हि यमिति निर्दिष्टस्योद्देश्यत्वलक्षणं शेषित्वम् । कर्मणेति निर्दिष्टस्य गवादेः शेषत्वं च प्रतीयते । न चेह ग्रामं प्रत्यजा शेषभूता । अत एव प्रयोजकलक्षणे प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानमित्यधि-करणे क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छतीति विहितं दण्डप्रदानं न प्रति-पत्तिः किं तु द्वितीयापेक्षया बलीयस्या चतुर्थीश्रुत्या अर्थकर्मैत्युक्तमिति प्रपञ्चितं शब्दकौस्तुभे । इदं च

‘ अनिराकरणात् कर्तुंस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् ।

प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते संप्रदानताम् ॥’

इति वाक्यपदीयात् त्रिविधम् । आद्यं सूर्यायार्थं ददाति । नात्र सूर्यः प्रार्थ-यते न चानुमन्यते न च निराकरोति । प्रेरकं यथा । विप्राय गां ददाति । अनुमन्तु यथा । उपाध्यायाय गां ददाति । ननु दानस्य तदर्थत्वात्तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धौ संप्रदानचतुर्थ्यारम्भो व्यर्थ एवेति चेन्न । दानक्रियार्थं हि संप्रदानं न तु दानक्रिया तदर्थं । कारकाणां क्रियार्थत्वात् । संप्रदानार्थं तु दीयमानं कर्मेति वाक्यार्थभूताया दानक्रियाया अतादर्थ्यात् तादर्थ्यचतुर्थ्यप्रवृत्तेः । तदेतत् सूत्रयति । त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितमिति हेलाराजीयादौ स्पष्टम् । अत्र सर्वत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेद एव संसर्गः । विभक्तीनां धर्मिवाचकत्वात् । न च धर्मिवाचकतैव किं न स्यादिति वाच्यम् । आश्रयत्वरूपस्य वाच्यत्वे आश्रयत्वत्व-स्यावच्छेदकत्वापत्तौ गौरवात् । तस्य संसर्गतयापि लाभेनान्यलभ्यत्वाच्च । फल-

१ ग्रामस्यात्र संप्रदानत्वं K. २ वा T. ३ सिद्धेर्न तस्य संप्रदानत्वमिति चेन्न । Tr.
४ तस्य वाच्यत्वे T.

व्यापारयोर्धातुनैव लाभात् । कर्मणि द्वितीयेत्यादिसूत्रस्वरभङ्गापत्तेश्च । पञ्च-
म्याद्यर्थकसमासानां धर्मिपरताया निर्विवादत्वेनान्यत्रापि तथैव न्याय्यत्वाच्च ।
सर्वेषां कर्मप्रत्ययानां कर्मार्थकत्वाच्च । अत एव कृतः कट इति सामानाधिकरण्यं
संगच्छते । अत एव 'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या 'चैव' इति संगच्छते ।
न च कर्त्रादिपदान्यत्र सर्वत्र तत्त्वपराणि कृतः कट इति सामानाधिकरण्या-
भावप्रसङ्गादित्याहुः । न च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्भेदोऽव्युत्पन्नः । ऐन्द्रं वैश्वदेवी-
त्यादौ देवतादिविशिष्टामिक्षादिवाचकेषु तथा दर्शनेनाव्युत्पत्तेरभावात् । न
चाश्रयमात्रार्थकत्वे प्रातिपदिकस्यापि तदर्थकत्वात् प्रातिपदिकमात्रार्थकप्रथमया
सह विकल्पापत्तिः । प्रातिपदिकार्थमात्र इति मात्रग्रहणात् तदतिरिक्तार्थाभाव
एव प्रथमाविधानात् । द्वितीयादीनां पुनराश्रयत्वादिरूपकर्मशक्तेरपि वाच्यता-
वच्छेदिकाया वाच्यत्वादिति ।

संबन्धः षष्ठ्यर्थः । षष्ठी शेषे इति सूत्रात् । शेषे संबन्धमात्रविवक्षायामिति
व्याख्यानात् । ओदनस्य पाक इति कर्मतायां षष्ठीत्यादिकं कथमिति चेदत्र
वक्ष्यामः । नन्वाश्रयोऽपि न विभक्त्यर्थः । घटादिरूपस्य तस्य प्रकृत्यैव लाभात् ।
एवमवधिरपि वृक्षादिरूपो न विभक्त्यर्थः । उद्देश्योऽपि ब्राह्मणादि नार्थः ।
तथा चाश्रयत्वादिकमेवार्थः । अनन्यलभ्यत्वात् । तच्च निरूपकत्वादिना धात्व-
र्थेऽन्वेति । तत्प्रकारकबोधस्य सर्वसिद्धस्य संसर्गतयापि लाभ इत्यादिहेतु-
कतामालम्ब्य खण्डयितुमशक्यत्वात् । कर्मणि द्वितीयेत्यादेः शक्तितद्वतोस्ता-
दात्म्याभ्युपगमेनोपपत्तेः । अन्यथा द्व्येकयोर्द्विवचन इत्याद्यनुरोधादेकवचनादेः
संख्याविशिष्टाश्रयवाचकतापत्तेर्दुवारत्वापत्तेः । तिङ्कृदादेस्तु पचति पक्ता
पक्क इत्यादिप्रयोगेष्वाश्रयबोधानुरोधात् । कृतः कटो देवदत्तः पचतीति सामा-
नाधिकरण्यप्रतीतेर्युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम इति व्यवहा-
रस्य चोपपत्तेश्चानुरोधाद्युक्तं कर्तृकर्मादिवाचकत्वम् । सुपां च प्रकृत्यैवाश्रयलाभाच्च
तथात्वसंभवः । पञ्चम्याद्यर्थकबहुव्रीह्यादीनामप्युक्तरीत्यैव तत्तद्विभक्तिप्रकृत्यर्थ-
कत्वस्वीकारेण धर्मिपरत्वनिर्वाहेण धर्मिवाचकत्वासाधकत्वात् । अन्यथा षष्ठ्य-
र्थबहुव्रीहेरपि संबन्धिवाचकता न स्यात् । आश्रयत्वस्य वाच्यत्वे तत्त्वस्यावच्छे-

१ चैव तथा तिङामिति D₂. २ °रमेदान्वयबोधोऽव्युत्पन्नः K. ३ ब्राह्मणादिनार्थः
K. ४ °द्विवचनैकवचने इत्या' T. ५ °वावानुरोधात् K., D₂, Tr.

दृक्त्वापत्तौ गौरवमिति चेन्न । तस्यैव तादात्म्येनावच्छेदकत्वसंभवात् । ग्रामा-
गिकगौरवस्यादोषत्वाच्च । व्यापकत्वरूपस्यावच्छेदकत्वस्य शक्तिसिद्धावदोषत्वाच्च ।
तथात्वे शक्यत्वं तस्यापि स्यादिति चेन्न । अशक्यत्वेऽप्यवच्छेदकत्वस्य वक्ष्य-
माणरीत्या संभवात् । एवं चाश्रयत्वादेरेव वाच्यत्वे ध्रुवे तदेवाखण्डं शक्तिशब्दे-
नोच्यत इति मनसि निधाय शक्तिर्विभक्त्यर्थ इति सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये
इत्यादौ भाष्यादौ व्यवह्रियत इति तदेवाभिप्रेत्याह । शक्तिरेव वेति । पण्णां
कारकविभक्तीनामिति शेषः । शेषपष्ठ्यास्तु प्रागुक्तं संबन्धसामान्यमर्थः ।
शक्तीनां प्रवृत्तिनिमित्तं स शब्द एव । संज्ञाशब्दत्वात् । उक्तं च हरिणा—

‘नित्याः पद्व्यक्तयोऽन्येषां भेदाभेदसमन्विताः ।

क्रियासंसिद्धयेऽर्थेषु जातिवत् समवस्थिताः ॥

द्रव्याकारादिभेदेन ताश्चापरिमिता इव ।

दृश्यन्ते तत्त्वमासां तु पद शक्तीर्नातिवर्तते ॥

निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते ।

पोढा कर्तृत्वमेवाहुस्तत्प्रवृत्तिनिबन्धनम् ॥’

इति । एतन्मतेऽनभिहित इत्यत्र तत्तच्छक्त्यनभिधान इत्यर्थः । आख्याता-
र्थेऽप्यवच्छेदकत्वेन शक्तिरस्येवेति कार्यव्यवस्था । एवं च देवदत्तेन पुत्रस्य गौर्ह-
स्तेन ब्राह्मणाय गेहाद् गङ्गायां दीयत इत्यादौ पुत्रसंबन्धिनी यैका गौस्तत्कर्म-
कदानानुकूलो देवदत्तकर्तृको हस्तकरणको ब्राह्मणसम्प्रदानको गेहावधिको
गङ्गाधिकरणको वर्तमानो व्यापार इति बोधः । इत्थमन्यदप्यूहम् । पक्षद्व-
येऽपि कारकाणां यथासंभवं क्रियानिवर्तकत्वं संसर्गतया लभ्यमित्याद्यूहम् ।
यत्तु मीमांसकाः सक्त्वधिकरणे कर्तुरीप्सिततमं कर्म तथायुक्तं चानीप्सितमिति
सूत्रानुरोधादुभयसाधारणं साध्यत्वं द्वितीयार्थः । उक्तं च शास्त्रदीपिकायाम्—

‘श्रुत्या साध्याभिधायित्वं द्वितीयायाः प्रतीयते ।

कर्तुर्यदीप्सितं यच्च तथायुक्तमनीप्सितम् ॥

तत् कर्म तत् द्वितीयार्थ इत्येवं पाणिनेः स्मृतिः ।

बलीयसी च साचारात् प्रयोगश्चास्ति तादृशः ॥’

१ T. drops स. २ आख्यातार्थेऽप्यन्यमते शक्तिरेव शक्तितद्वतोरभेदाच्च कार्यव्यवस्था Tr.;
आख्यातार्थेऽप्यत्र मते शक्तिरेव शक्तितद्वतोरभेदाच्च कार्यव्यवस्था D₂; आख्यातार्थेऽप्यवच्छे-
दकत्वेन शक्तिरस्येवेति कार्यव्यवस्था D₁, D₂. ३ °मित्यूहम् T. ४ °साधारणसाध्यत्वं T.

इति । सक्तून् जुहोतीत्यत्र च भूतभाव्यनुपयुक्तत्वेन सक्तूनां साध्यत्वासंभवेन सक्तुकरणकहोमानुकूलव्यापारप्रतीतये तृतीयार्थः करणत्वं द्वितीयया लक्ष्यते । उक्तं च भट्टपादैः—

‘भूतभाव्युपयोगं हि संस्कार्यं द्रव्यमिष्यते ।

सक्तून् नोपयोक्ष्यन्ते नोपयुक्ताश्च ते^१ क्वचित् ॥

प्राधान्यमेव तत्रापि द्वितीयावदिति स्वतः ।

विरोधात् तेन संबन्धी गुणभावस्तु लक्ष्यते ॥’

इति । एवं च ग्रीहीनवहन्तीत्यत्रावहननेन ग्रीहीन् भावयेदित्यर्थः । यद्यपि ग्रीहयः सिद्धा एव क्रियायाः साधनानि च तथापि संस्कार्यत्वमेव तदत्र बोध्यम् । एवं सक्तून् जुहोतीत्यत्र सक्तुभिर्भावयेदित्यर्थः । अनयैव रीत्या तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रमिति न्यायात् स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावित्यादितश्चाग्निहोत्रशब्दस्य नामत्वसिद्धावग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति वाक्येऽग्निहोत्रमिति द्वितीया साधनत्वं लक्ष्यति । तथा चाग्निहोत्रेण स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थ इत्याहुः । तत्र यद्यपि साध्यत्वं शक्तिविशेष एवाभ्युपेय इति कर्मशक्तिर्वाच्येति न विरुध्यते । वक्ष्यमाणरीत्या द्वितीया कर्मण्येवेति नियमाभ्युपगमेऽपि सुपां सुलुक् छन्दसि बहुलमित्यादिभिश्छन्दस्यर्थान्तरेऽपि साधुता लभ्यते । तथापि घटं जानाति रथेन गम्यत इत्यादौ सुपां तिङां च लक्षणेत्येवमादि स्वेच्छया न्यायानुरोधेन नैयायिकमीमांसकाद्युक्तां विभक्तौ लक्षणां पूर्वोक्ते प्रमाणोपदर्शनव्याजेन निराचिकीर्तुराह । सुपां कर्मेतीति । अयमभिप्रायः ।

‘सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैवं तथा तिङाम् ।

प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वै ॥’

इति वार्तिकात् कर्मादेर्वाच्यतायास्तन्नियमस्य च लाभः । तथाहि । स्वौजसमौद कर्मणि द्वितीया द्व्येकयोरीत्यादेः तिप्तस्झि लः कर्मणि द्व्येकयोस्तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकश इत्यादेशैकवाक्यतया कर्मादेः संख्यायाश्च वाच्यतालाभः । तथा तत्र नियमश्च शास्त्रे प्रसिद्धः । कर्मणि द्वितीयैव करणे

१ एवं च सक्तून् Tr. २ कुत्रचित् for ते क्वचित् D_g. ३ सक्तुभिस्तत्फलं भावयेदित्यर्थः Tr. ४ साध्यत्वे K. ५ पूर्वोक्तप्रमाणोपदर्शनं T. ६ चैवं T. ७ च K., T.

तृतीयैव अभिहिते प्रथमैव एकत्वे एकवचनमेव नान्यदित्यर्थनियम इत्यर्थः ।
यद्वा प्रकृतेषु नियमः प्रकृतार्थापेक्षो नियमः । द्वितीया कर्मण्येव तृतीया करण
एव प्रथमाऽभिहित एवेत्यादिरित्यर्थः । उभयथापि व्याकरणस्य

‘सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः’
इति वार्तिकात् ।

‘समानायामर्थावगतौ साधुभिश्चासाधुभिश्च गम्यागम्येतिवन्नियमः क्रियते’
इति भाष्यादिभिश्च द्वितीया कर्मण्येव साधुद्वितीयैव कर्मणि साधुरित्यादेः
सर्वत्र पर्यवसानात् द्वितीया करणादौ लक्षणयाप्यसाधुः स्यात् । एवं शास्त्रेणेति
वार्तिकादौ सामान्यशब्दोपादानाद्व्याकरणस्थाः सर्वे विधयो नियमविधय इति
ध्वनितत्वात् तत्तद्विधिविरुद्धाः स्वेच्छया किञ्चिन्न्यायाभासमङ्गीकृत्य स्वीकृता
मीमांसकनैयायकाद्युक्ता लक्षणा न साध्य इति दिक् । यद्यपि सुपां कर्मादय
इति वार्तिकं तथापि इति इत्यस्येत्यर्थः । तथा चोभयसिद्धतापीति भावः ।
व्याख्यानव्याख्येययोरभेदाभिप्रायेणेदमुक्तमित्यन्ये ॥ २४ ॥

इति 'वैयाकरणभूषणे कारकार्यनिर्णयः समाप्तः ॥

॥ नामार्थनिर्णयः ॥

नामार्थानाह—

एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा ।

नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ॥ २५ ॥

एकम् । जातिः । द्विकम् । जातिव्यक्ती । त्रिकम् । सलिङ्गे ते । चतुष्कम् । संसंख्यानि तानि । पञ्चकम् । संकारकास्ताः । तत्र पूर्वपूर्वस्य प्रातिपदिकार्थत्वे उत्तरमुत्तरं विभक्त्यर्थो विना द्रव्यं चरमपक्षे विभक्तिर्द्योतिकैवेति द्रष्टव्यम् । तत्र प्रथमपक्ष इत्थमुपपत्तिः । जातिरेव पदार्थो लाघवात् । नानाव्यक्तीनां शक्यत्वे गौरवात् । न च प्रत्येकं व्यक्तिभिर्विनिगमनाविरहः । एवं व्यक्त्यन्तरे लक्षणायां स्वसमवेतसमवायित्वं संसर्ग इति गौरवम् । जातिशक्तिपक्षे च स्वसमवायित्वं तथेति लाघवात् । किं च

‘अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकरूपप्रतीतिः ।

आकृतेः प्रथमज्ञानात् तस्या एवाभिधेयता ॥’

येनापि व्यक्तिर्वाच्याभ्युपेयते तेनापि जातिर्वाच्याभ्युपेयत एव । अन्यथा शुद्धव्यक्तेः शक्यतापत्तेस्तथा चानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र शक्तिग्रहानुपपत्तिः । एवं चावश्यकत्वात् सैव वाच्यास्तु । एकाकारप्रतीतिश्च शुद्धव्यक्तिवाच्यत्वे न स्यात् । खण्डत्वादेरेव शक्यतावच्छेदकत्वात् । प्रथमत आकृतेरेवोपस्थितेश्च । एवं च नागृहीतविशेषणान्यायेन जातेर्वाच्यत्वावश्यकत्वादास्तां सैवार्थ इति । नन्वेवं गां दद्याद् व्रीहीनवहन्तीति स्थले कथमन्वयः । जातौ तदयोगात् । कथं वा दानकर्मता गोत्वादेरिति चेदत्राक्षेपितव्यक्तौ दानाद्यन्वयः कर्मतापि तस्या एवेत्याहुः । तन्न । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितेत्यादिव्युत्पत्तेः कर्मत्वान्वयस्यासंभवात् । पदार्थान्तरान्वयश्चाक्षेपिते न स्यात् । उक्तं हि तद्भूताधिकरणे

‘गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम् ।

शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत् ॥’

इति । कश्चाक्षेपपदार्थः । अर्थापत्तिरिति चेन्न । अनुपपत्तिज्ञानमन्तरेणापि गां दद्यादित्यादितो बोधदर्शनात् । उक्तदोषानतिरेकाच्च । समानवित्तिवेद्यत्वमिति

१ नामार्थमाह T. २ D. has श्रीगणेशाय नमः before this. ३ वाथ Tr.
४ संख्यासहितानि T. ५ संकारकाणि तानि K., T. ६ पूर्वपूर्वप्राप्तिं D., ७ द्योतिकेति D.
८ आकृतिः T. ९ द्वाक्षितव्यक्तौ T. १० आक्षिप्ते T.

चेन्न । द्रव्यमित्यादिघटज्ञाने घटत्वभानाभावात् । लक्षणयोपस्थितव्यक्तौ तदन्व-
यान्नानुपपत्तिरित्यन्ये । तन्न । लक्षणायाः शक्यान्वयानुपपत्तिज्ञानाधीनत्वानो-
क्तदोषादिति । अत्र वदन्ति । निरुद्धलक्षणया जातिव्यक्तयोरभेदाद्वा व्यक्तेर्लाभः ।
तदुक्तं भट्टैः

‘तेन तल्लक्षितव्यक्तेः क्रियासंबन्धचोदना ।

व्यक्त्याकृत्योरभेदो वा वाक्यार्थेषु विवक्षितः ॥’

इति । नन्वेवं व्यक्तौ संख्याकारकानन्वयप्रसङ्गः प्रत्ययानामिति व्युत्पत्तेरिति
चेन्न । प्रकृत्यर्थत्वं हि वृत्त्या प्रकृत्युपस्थाप्यत्वम् । अन्यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र
तीरेऽधिकरणत्वान्वयानापत्तेः । तथा च लक्षणयोपस्थितव्यक्तौ तदन्वयो न
विरुद्धः । नन्वेवं

‘स्वार्थादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणा ।’

इति नियमात् कथं घटरूपेणोपस्थिते लक्षणेति चेन्न । एतन्नियमे मानाभा-
वात् । नीलमानयेत्यादौ नीलपदस्य नीलरूपवति लक्षणाभ्युपगमाद्व्यभिचा-
राच्चेति । तदेतदभिप्रेत्यैव ‘सर्वर्णेणग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात्’ इति
वार्तिकं संगच्छत इति । अथवा व्यक्तिमात्रमेकशब्दार्थः । केवलव्यक्तिपक्षस्यापि
शास्त्रे बहुशो दर्शनात् । युक्तं चैतत् । व्यवहारेण शक्तिपरिच्छेदकशिरोमणिना
व्यक्तावेव तत्परिच्छेदात् । परिच्छिन्नापि लाघवाद्ग्रे बाध्यत इति चेदेवं हि
परिच्छिन्नोऽपि कर्मधारयोऽग्रेऽपूर्वविद्याकल्पनभिया बाध्येतेति निषादस्थ-
पत्यधिकरणविरोधः । अपि च गां दद्यादित्यत्रानुपपत्तिः । गोत्वादेर्दानाद्यसंभ-
वात् । शक्यसंबन्धरूपलक्षणाया अग्रहात् । व्यक्त्यन्तरे संबन्धज्ञानस्य व्यक्त्यन्त-
रबोधाहेतुत्वात् । तथात्वे वा हस्तिपकव्यक्त्यन्तरे तत्त्वं धर्मितावच्छेदकी-
कृत्यापि हस्तिसंबन्धग्रहाद्यत्र हस्तिपके स न गृहीतस्तस्यापि हस्तिदर्शनात् स्मर-
णापत्तेः । सर्वेष्वेव गां नयेत्यादिजातिविशिष्टबोधकवाक्येषु वृत्तिद्वयकल्पनायां
गौरवाच्च । युगपद्वृत्तिद्वयविरोधस्यादूषणतापत्तेश्च । अत एव

१ °मित्यादिना घटज्ञाने T. २ जातिव्यक्तयोर्भेदाद्वा K. ३ °नोदना D_१. ४ तीरे
घोषाधिकरणत्वा° T. ५ Tr. and D. have किं च ज्ञाने पदानां शक्तिः शक्यत्वात् । तथा च
यज्ज्ञानानुकूला सा तच्छक्यमित्युच्यत इति व्यक्तिज्ञानजनकत्वाद् व्यक्तिरपि शक्यैव before
अपि च &c. ६ गृहीतस्तद्विशनात् Tr., D_१. ७ गामानये° D., D_१.

‘जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद्विवक्ष्यति ।

नित्यत्वाल्लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे ॥’

इति मण्डनमिश्राः परास्ताः । जातिव्यक्त्योरभेदाद्दानान्वय इति चेन्न । तथा सति व्यक्तेर्वाच्यत्वमायातमेव । आनन्त्याद्युक्ताकृत्यधिकरणीयदोषतादवस्थाच्च । यत्तु तैरुक्तं व्यक्तिद्विरूपा सामान्यात्मिका विशेषात्मिका च । तत्र सामान्यरूपेण वाच्यता न विशेषात्मनेति तन्न । विशेषरूपेणावाच्यताया अस्माभिरपि स्वीकारात् । यत्तु मीमांसकादिभिरुक्तम्

‘आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्यनेकत्वदोषतः ।

संदेहाच्चरमज्ञानाच्चित्रबुद्धेरभावतः ॥’

केवलव्यक्तेर्वाच्यत्वे तासां बहुत्वाद् गौरवम् । अनन्तव्यक्तीनामेकपदोपस्थित्यभावेन संकेतग्रहासंभवश्च । ननु यत्र कचिदेव व्यक्तौ शक्तिग्रहोऽस्तु कारणं शाब्दबोधे त्वगृहीतशक्तिकैव व्यक्तिर्भासत इत्यङ्गीकार्यमिति चेत् तर्हि व्यभिचाराच्छक्तिग्रहः कारणमेव न स्यात् । शक्तिग्रहाविषयस्यापि शाब्दबोधविषयत्वात् । गोपदादश्वदेरपि भानप्रसङ्गश्च । शक्तेः पदार्थान्तररूपत्वात् तस्याश्च ससंबन्धिकपदार्थस्य संबन्धिभेदेन भिन्नत्वात् तत्तद्व्यक्तिभेदेन भेदप्रसङ्गाच्च । गोपदादियं सा वेति संदेहप्रसङ्गाच्च । चरमं व्यक्त्युपस्थितेश्च । गोपदात् खण्डत्वादिरूपेण बोधप्रसङ्गाच्चेति । यदपि काव्यप्रकाशकारेणोक्तं ‘गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां जातिगुणक्रियासंज्ञाशब्दत्वेन विषयविभागः शुद्धव्यक्तिवाच्यत्वे न स्यात्’ इति तच्चिन्त्यम् । येन रूपेणोपस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेण पदार्थोपस्थितिः । स च धर्मोऽशक्योऽपि तदवच्छेदकत्वात् पदात् स्मृतः शाब्दबोधे भासते । अतो जातिप्रकारकबोधजनकस्तदवच्छिन्नशक्तिमान् वा जातिशब्द इति व्यवस्थावशात् न कश्चिदोषः । उक्तं च भट्टपादैरहणाधिकरणे—

‘आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम् ।

शब्दः सुकरसंबन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥’

इति । एवं चाव्यापकस्यापि व्यापकतावच्छेदकत्ववदलक्ष्यस्य च न्यायनये लक्ष्यतावच्छेदकत्ववदकारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकत्ववदशक्यत्वेऽपि शक्यतावच्छेदकत्वं संभवत्येव । तत्प्रकारकभानमपि हस्तिमान्नादौ हस्तिपकादिसंबन्ध-

ग्रहणात् तद्रूपेणोपस्थितिवत् ससंबन्धिकपदार्थमात्र एव संबन्धग्रहणस्य विशिष्टोपस्थापकत्वात् । न्यायनयेऽप्याकाशादिपदानां शब्दाश्रयत्वविशिष्टे-
ऽशक्तत्वस्वीकारात् । तस्माच्छब्दाश्रयत्वरूपेण गङ्गायां घोष इत्यादौ तीरत्वा-
दिना दण्डात् घटत्वेन घटाद् दण्डत्वेन चोपस्थित्यर्थं तथानियमावश्यकत्वादिति
सुधीभिरुच्यते ॥

द्विक्रमिति । जातिव्यक्तीत्यर्थः । अयं भावः । जातिविशिष्टा व्यक्तिःशब्दार्थः
संकेतस्य बोधकत्वस्य वा विशिष्टे एव ग्रहात् । घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधे
घटशक्तिज्ञानत्वेन कारणतेत्यपि न । द्रव्यादिपदानामप्येवमापत्तौ घटपदाद्
द्रव्यत्वप्रकारकबोधप्रसङ्गात् । न च द्रव्यपदोपस्थितित्वेनापि तत्र हेतुत्वमिति
वाच्यम् । तत्पर्यायान्तरात् तथाबोधानापत्तेः । नापि द्रव्यत्वार्थकपदज्ञानत्वेन
हेतुता । द्रव्यादिपदानामतथात्वेन ततोऽपि तथाबोधानापत्तेः । न च पद-
ज्ञानस्य संबन्धिज्ञानत्वेन हेतुता । तत्र च येन रूपेणोपस्थितयोः संबन्धग्रहणेन
रूपेणोपस्थापकत्वनियमाद्वादिपदानां गोत्वरूपेणोपस्थिते तद्ग्रहाद्गोत्वाद्यंशे
शक्त्यग्रहेऽपि तेनैव रूपेणोपस्थितिर्नान्यथेति वाच्यम् । पदान्नियमेनोपस्थि-
तावपि गोत्वादेः शाब्दे विषयत्वासंभवात् । तदंशे शैक्यभावात् । अन्यथा
गोपदस्य शक्तिग्रहसमये गोत्वस्येव धर्मान्तरस्याप्युपस्थितौ ततस्तत्पदात्तद्धर्म-
स्याशक्यस्याप्युपस्थितौ शाब्दबोधे भानप्रसङ्गः । घटादिपदादुपस्थितस्याका-
शादेरपि शाब्देऽन्वयापत्तेश्चेति । तस्माद्विशिष्टं शक्यम् । एकमिति पक्षस्य
चैकमेवान्तर्भाव्य कार्यकारणभाव इत्यभिप्रायः । तथाहि । घट इत्येतादृशबोधे
घटत्वशक्तिज्ञानत्वेन कारणता । लाघवात् । न तु घटत्वविशिष्टशक्तिज्ञानत्वेन ।
शक्तिज्ञानकारणत्वे वैशिष्ट्यघटयोरवच्छेदकत्वमपेक्ष्य घटत्वमात्रस्यैव तत्त्वौ-
चित्यात् । तथा च त्वया तत्कारणतायामवच्छेदकतया घटस्तद्वैशिष्ट्यं चाधिकं
प्रवेश्यत इति गौरवम् । अयं च जातिशक्तिवादो गुरुणामपि संमतः ।
अन्यथा केवलजातावेव शक्यभ्युपगमे कार्यान्विते पदशक्तिवादस्तेषां न सिध्येत् ।
व्यक्तीनामेव कार्यान्वितत्वात् । यत्तु घटत्वशक्तिज्ञानत्वेन घट इत्येतादृशबोधे
कारणतायां घटोऽस्तीत्यत्रैव घटत्वमस्तीत्यत्रापि तथा बोधापत्तिरिति विशिष्ट-

१. उपस्थित्यर्थं D. २. द्रव्यजन्यपदो Tr. ३. शक्यसंभवात् T. ४. °स्याशक्तस्या°
Tr., D.

शक्तिज्ञानत्वेन हेतुतेति तत्तुच्छम् । घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति घटत्वांशेऽन्याप्रकारकघटत्वशक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वाभ्युपगमात् । तत्र शुद्धस्याभिलाषासंभवात् घटत्वशब्देनाभिधानं कृतम् । अत एव घटत्वशक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वमते घटत्वत्वप्रवेशाद् गौरवमिति प्रत्युक्तम् । वस्तुतो निरवच्छिन्नप्रकारतासंबन्धेन घटत्वविशिष्टशक्तिज्ञानत्वेनैव तत्र हेतुत्वम् । घटत्वमस्तीत्यत्र च न घटत्वं प्रकार इति न दोषः । तस्माच्छक्तिर्विशिष्ट एव । कार्यकारणभावः पुनरुपदर्शितरीत्यैवेत्यवधेयम् । उक्तं हि भाष्ये । 'न ह्याकृतिपदार्थस्य द्रव्यं न पदार्थः' इति । अत एव द्विकमिति पक्षेणाविरोधः । अन्यथान्यतरस्याप्रामाण्यापत्तेः । विरोधात् । तदाहुः ।

‘को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे वाक्ययोर्मिथः ।

एकं प्रमाणमितरदप्रमाणमितिदृशम् ॥’

इति । तथा च द्विकमित्यादेरपि द्विकं शक्यमित्येवार्थो न तथा कार्यकारणभाव इति ध्येयम् । नन्वत्र पक्षद्वये सर्वशब्दानां त्रैलिङ्ग्यं स्यात् । लिङ्गावाचकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वादिति चेन्न । पुल्लिङ्गाभिधायिप्रत्ययत्वं तत्त्वमित्युपपत्तेः । अत्र ह्युक्तपक्षद्वयेऽपि लिङ्गस्य प्रत्ययार्थत्वात् । प्रकृतिवर्जिते केवलप्रत्ययादेव स्त्री ईयतीत्यादौ तत्प्रतीतेस्तथैव न्याय्यत्वात् । इदंशब्दात् किमिदंभ्यां बोध इति वतुषो वकारस्य घकारादेशे आयनेयीनीयीयः फटखछवां प्रत्ययादीनामित्यनेन घकारस्येयादेशे इदम ईशादेशे यस्येति चेति प्रकृतीकारलोपे उगितश्चेति ङीपि ईयतीति हि रूपम् । अन्यव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव शक्तिसिद्धेश्च । स्त्रियामित्यधिकृत्यैवाजायतष्टाबित्यादिना टावङ्गीवादेर्विधानात् । तस्माच्छसो नः पुंसीत्यादेरनुशासनस्यानुरोधश्च । एवं संख्यादावपि द्रष्टव्यम् ।

त्रिकमिति । जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः । अयं भावः । ‘स्तनकेशवती स्त्री स्यात्’ इत्यादिना विवक्षितमवयवसंस्थानविशेषवत्त्वमेव स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकम् । न चैतन्न शास्त्रीयव्यवहारहेतुः । दारानित्यादौ नत्वाभावप्रसङ्गात् । तदस्तदी तदमित्यादौ यथायथं लिङ्गत्रितयनिर्बन्धनकार्याणामसिद्धिप्रसङ्गाच्चेति वाच्यम् । आरोपादेव निर्वाहसंभवात् । लिङ्गानुशासनस्य रात्राह्वाहाः पुंसीत्यादेशश्च

१ D₂ drops शक्ति. २ °ज्ञानहेतुत्वा° D₂ ३ वस्तुतोऽनवच्छिन्न° D. ४ D₁ and K. drop विशिष्ट. ५ K. drops न. ६ ईशि K., Tr. * विवक्षितादयव° T. ८ न चैतच्छास्त्रीय° K₁, D₁. ९ D₁ drops निबन्धेन.

तत्र मानत्वादित्येके । भाष्यकारास्तूक्तानुपपत्त्यैव तन्मतं निरस्य स्त्रियामिति सूत्रे सत्त्वरजस्तमसां प्राकृतगुणानां वृद्धिः पुंस्त्वमपचयः स्त्रीत्वं स्थितिमात्रं नपुंसकत्वम् । अत एवोत्कर्षापकर्षसत्त्वेऽपि स्थितिभात्रमादाय सामान्ये नपुंसकमिति शास्त्रमुपपद्यते । उत्कर्षापकर्षसाभ्यावस्थात्रयसाधारणास्थितिमात्र-विवक्षायां नपुंसकं भवतीति तदर्थान् । तच्च केवलान्वय्यर्थनिष्ठं च । अयं पदार्थ इयं व्यक्तिरिदं वस्त्विति सर्वत्र व्यवहारात् । पुलिङ्गः शब्द इत्यादि-प्रयोगस्तूपचारात् । पुमान् लिङ्गमस्मात् प्रतीयत इति वास्य शक्यमिति वा यौगिको वा । आङ्गे नास्त्रियां तस्माच्छसो नः पुंसीत्यादि शास्त्रीये शब्दे लौकिके च व्यवहारेऽप्येतान्येव निमित्तानीत्याहुः । अन्ये तूपचयापचयादेर्विरुद्धस्यैकत्र समावेशयोगात् कथं तदस्तटी तदमित्यादयो व्यवहाराः । गुणानां क्षणिकत्वाभ्युपगमेऽपि युगपत्तथाव्यवहारानापत्तिः । आत्मा ब्रह्मेत्यादाव-विकारिण्यसंभवश्च । आरोपादिकं च पूर्ववादिनापि सुवचमेवेति न तन्मत-दूषणाभिनिवेशः संगच्छते । तस्मात्

‘तिष्ठो जातय एवैताः केषांचित् समवस्थिताः ।

अविरुद्धाविरुद्धाभिर्गोमनुष्यादिजातिभिः ॥’

इति वाक्यपदीयाजातिरेव स्त्रीत्वादिकमित्याहुः । नन्वेवमपि समनियतानां जातीनां सर्वत्र प्रतीतेः केवलान्वयित्वं वाच्यम् । तथा चात्र मते भाष्यमते च पशुना यजेतेत्यत्र पशुस्त्रिया यागप्रसङ्गः । विवक्षितेऽपि पुंस्त्वे तस्य केवला-न्वयित्वेनाव्यावर्तकत्वादिति चेन्न । ‘छागो वा मन्त्रवर्णात्’ इति षष्ठान्त्या-धिकरणन्यायेनैव निर्वाहात् । किं चोक्तमतद्वयेऽपि कुमारब्राह्मणच्छागादि-शब्दानां पुंस्त्वेव प्रयोगव्यवस्थित्यनुरोधेन लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीयपुंस्त्वे शक्तिस्वीकारात् तद्विवक्षयैवानतिप्रसङ्गात् । एवं कुमार्यादिशब्दा लौकिकस्त्री-त्वविशिष्टे शास्त्रीयस्त्रीत्वे शक्ताः । अस्तु वा कुमारशब्द एवोभयत्र शक्तः । ङीवादि स्त्रियां नादि च पुंस्त्वे द्योतकमित्यवधेयम् । एतच्च लिङ्गं केषांचिदुभयं केषां-चिदेकं केषांचित् त्रयमपीत्यत्र लिङ्गानुशासनं प्रमाणमिति स्थितं शब्दकौस्तुभे । अत्र प्रथमपक्षे लौकिकलिङ्गे पृथक्शक्तिर्न कल्प्येति लाघवम् । आरोपश्च खट्वे-त्यादावभ्युपेयः । चरमे गौरवमनारोपश्च । भाष्यमते तूभयं कल्प्यमिति विवेकः ।

वस्तुतस्तु भाष्यमते लिङ्गं शब्दनिष्ठमेव । पुल्लिङ्गः शब्द इति व्यवहारात् । पुल्लिङ्गवाचकत्वात्तथेति चेत्तर्हि घटः शब्दे इत्यपि स्यात् । आरोपे निमित्तानुसरणमित्यादेरतिगौरवात् । अर्थनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्मेत्यादेरनुपपत्तेरुक्तत्वाच्च । छाग्या यागप्रसङ्गाच्च । यत्तु च्छागादिशब्दानां पुंस्त्वेव नियतप्रयोगानुरोधेन लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीये शक्तेस्तद्विवक्षया नातिप्रसङ्ग इति तन्न । एवमप्यचेतनवाचकानां मध्वादिशब्दानां मक्षिकादौ पुंनपुंसकत्वं वसन्तादौ शुद्धपुंस्त्वमिति व्यवस्था न स्यात् । एवं

‘स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिपदात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने ।’

इत्यादिलिङ्गनियमोच्छेदापत्तिः । अत्र प्रकारान्तरानुसरणे तेनैवोपपत्तेर्लौकिकलिङ्गे वाच्यत्वकल्पनं मुधैव । शब्दनिष्ठत्वे च नानुपपत्तिलेशोऽपि । तथाहि । ह्रस्वत्वदीर्घत्वोदात्तत्वानुदात्तत्ववत् स्त्रीत्वपुंस्त्वादिविरुद्धधर्मवत्वाच्छब्दा भिद्यन्ते । आनुपूर्वीसाम्यस्यापि तद्वदेवार्थभेदाच्छब्दभेदवादिनो मत इव चोपपत्तेः । केषांचिल्लिङ्गानुशासनेनैकलिङ्गत्वव्यवहारश्च समानानुपूर्वीकत्वेन तेषां तन्नेणानुकरणादुपपद्यते । एवं च तटादिशब्देषु समानानुपूर्वीकेषु लिङ्गत्रयं छागादिभूभयं पदार्थादिष्वेकमस्तीति सर्वत्र मुख्य एव लिङ्गप्रयोगः । तत्र पुंस्त्वे नाभावः स्त्रीत्वादौ टाबादि द्योतकम् । तच्च शब्दनिष्ठमपि शब्दवाच्यमर्थपरिच्छेदकत्वेनान्वेति । लिङ्गविशेषविशिष्टस्यैवार्थविशेषवौचकताया लिङ्गानुशासनशास्त्रासिद्धत्वात् स्वाश्रयवाच्यत्वसंबन्धेन लिङ्गस्यार्थव्यावर्तकत्वोपपत्तेः । अत एव प्रयोगनियमोपपत्तिः । यद्वा शब्दनिष्ठमेवार्थविशेषनिर्णायकमस्तु बहुव्रीह्यादिस्वर इवान्यपदार्थादेः । एवं च पशुनेत्यत्रापि पुंस्त्वस्य परिच्छेदकत्वाच्च पशुस्त्रिया यागप्रसङ्गः । न वा तेषां विरुद्धत्वेन कचिदारोप इत्यभ्युपगमः । न च पशुशब्दस्य नित्यपुंस्त्वान् पदार्थादिशब्दोदितलिङ्गवत् साधारण्यात् कथं स्त्रीपशुव्यावृत्तिरिति वाच्यम् । पश्चा न पातुं गृहा चरन्तमिति ऋग्वेदे दर्शनात् पशुनेति पुंस्त्वस्य परिच्छेदकत्वाच्च पशुस्त्रिया याग इति मीमांसायां निर्णीतत्वाच्च तस्य नित्यपुंस्त्वाभावनिर्णयात् । तथा निर्णयेऽपि वा नानुपपत्तिः । छागो वा मग्नवर्णदिति पष्ठान्त्याधिकरणन्यायेन च्छागव्यक्तिविशेषस्यैव पुंस्त्वस्यापि मग्नवर्णत एव लाभात् । छागस्य वपाया इति मन्त्रे छागस्येति पठितस्य च्छागभिन्न इव स्त्रिया मसंभवात् । यत्र तु विधौ संदिग्धं तत्रापि संदिग्धे तु वाक्यशेषादित्यधिकरणेन

निर्णयः । संख्यादिवत् । यथा 'सारस्वतौ मेधौ भवतः' इत्यत्र तद्धितप्रकृतिः स्त्रीलिङ्गः पुल्लिङ्गो वेति सरस्वत्यै चरं सरस्वते चरमिति द्वयोरपि दर्शनात् संदेहे 'एतद्वै दैव्यं मिथुनम्' इत्यर्थवादादेकशेषेण द्वयोर्ग्रहणमवधार्यते । अग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चेति वाक्ये तद्धितप्रकृतिरेकवचनान्तो बहुवचनान्तो वेति अग्नये कृत्तिकाभ्यस्ते अस्मा अग्नयो द्विविणं दस्वेत्यादौ द्वयोरपि दर्शनात् संदेहे सोऽग्नये ध्रियस्वेति वाक्यशेषादेकवचननिर्णयः । नन्वस्तु तावदेवं तथापि सर्वनामनिष्ठलिङ्गस्य चेतनाचेतनस्त्रीपुंससाधारणत्वात् प्रास्मा अग्निं भरतेति अध्रिगुप्रैषस्य सारस्वत्यां मेध्यामपि प्रवृत्तिः स्यात् । न चेष्टापत्तिः । लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वाप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वादित्यूहलक्षणाधिकरणे पशूनां समानविधानत्वेऽपि पुल्लिङ्गनिर्देशाच्च तत्र मन्त्र इत्युक्तेः । लौकिकलिङ्गवाच्यत्वपक्षे च नानुपपत्तिः । संभवति मुख्यत्वे गौणताया अन्याद्यत्वेनारोपस्याप्यसंभवाच्चियमसंभवात् । न च सामान्ये नपुंसकमित्यनुशिष्टमस्मै इति नपुंसकमेव मेधीसाधारणमस्त्विति वाच्यम् । अन्वेनं माता मन्यतामनु पितेत्यन्वादेशेन पुंस्वनिर्णयात् । अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्य इति वार्तिकादेनदित्यापत्तेरिति चेदुच्यते । पूर्वोपस्थिततत्तद्रूपेणोपस्थापकादस्मै एनमित्यादिपदाच्छागत्वादिनेन पुंस्वेनापि व्यावृत्तपशूनामेव परामर्शान्न मेध्यां प्रवृत्तिः । तत्रापि बह्वनुग्रहाय पुंस्वमेवानुद्यते । युक्तं चैतत् । अन्यथा मतान्तरेऽपि पुमान् स्त्रियेति सूत्रात् त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानीति वार्तिकाद्वैकशेषेण मेध्यां प्रवृत्तिः किं न स्यात् । एकवचनादेकशेषाभावो निर्णयित इति चेत्तर्हि बहुपशुकेषुकथादिष्वपि मन्त्रो न स्यात् । तथा चाध्रिगुप्रैषश्च तद्वत् समानविधानाश्चेदित्यधिकरणोच्छेदापत्तिः समानविधाना अपि पशवश्चेत्तथाप्यनेकपशुषु अध्रिगुप्रैषो भवति द्विबहुपत्नीकेऽप्येकवचनान्तपत्नीमन्त्रवदिति तदर्थत् । यत्तु प्रतिव्यक्तिगतैकत्वान्वयेनैकवचनोपपत्तिरिति तन्न । प्रत्येकं व्यक्तीनामुपस्थितये एकशेषाभ्युपगमे एकवचनस्यैवासंभवात् । संभवे वोक्तरीत्या मेध्याः संग्रहो दुर्वारः । जात्याख्यायां तदिति त्वेकशेषेणानेकसंग्रहस्यैव साधकम् । अन्यथा बहुष्वेकवचनविधानवैयर्थ्यापत्तेः । कृत्वाचिन्तयाधिकरणप्रवृत्तिस्तुभ्यत्र समेति । अत एव गुणिपराणां शुक्लादिशब्दानां गुणांशस्याधिकस्य बोधनेऽपि विशेष्यपदोदित-

लिङ्गसंख्यात्रैऽनुवादत्वेन विशेष्यनिघ्नतोपपत्तिः । अत एव पदार्थमात्रविवक्षायां गुणोत्कर्षार्पकृष्यरूपलिङ्गस्याविवक्षितत्वादवर्जनीयसाम्यावस्थया प्रयोगमभिप्रेत्य सामान्ये नपुंसकमिति विधानं संगच्छते । औत्सर्गिकवचनन्यायात् । अजहल्लिङ्गानां तु दारादिशब्दानां नित्यबहुवचनान्तानामेकस्मिन्निवागत्या तथा प्रयोग इति ध्येयम् । एवं च समनियतजात्यभ्युपगमदोषोऽपि न । लौकिकपुंस्त्वादौ पृथक्शक्यस्वीकारेण लाघवं चेति युक्तः पन्थाः प्रतिभाति ॥

चतुष्कमिति । संख्यासहितं त्रिकमित्यर्थः ।

पञ्चकं कारकसहितं चतुष्कमित्यर्थः । यद्यपि लिङ्गादीनां त्रयाणामन्वयव्यतिरेकादिभ्यः प्रत्ययवाच्यता युक्ता तथापि प्रत्ययवर्जिते दधि पश्येत्यादौ तत्प्रती-
तेलिङ्गानुशासनस्य प्रकृतावेव दर्शनाच्च प्रकृतेरपि तत्र शक्तिः कल्प्यते । तथा च यस्यैव वाचकताग्रहस्तत एव तेषामुपस्थितिः । संभेदे चोभयतोऽपि । अत एव

‘वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः ।’

इति वाक्यपदीयं संगच्छते । नन्वेवं नामार्थप्रकारकशब्दबोधं प्रति सुबादि-
जन्योपास्थितेर्हेतुत्वमित्यादिकं विलीयेतेति चेन्न । विभक्तिद्योत्यार्थमादायोपपत्तेः ।
नैतत् त्रिगुनिसंमतमिति भ्रमं निराचष्टे । शास्त्रे इति । सरूपसूत्रादौ ॥ २५ ॥

स्थलविशेषे षोढापि प्रातिपादिकाश्च इत्याह—

शब्दोऽपि यदि भेदेन विवक्षा स्यात्तदा तथा ।

नो चेच्छ्रोत्रादिभिः सिद्धोऽप्यसावर्थ्येव भासते ॥ २६ ॥

शब्दस्तावच्छाब्दज्ञानविषय इत्यनुभवसिद्धम् ।

‘विषयत्वमनादृत्य शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।’

इति वाक्यपदीयेऽनुभवप्रदर्शनात् । गामुच्चारयेत्यादावर्थोच्चारणासंभवेन
विना शब्दविषयं शब्दबोधासंगतिश्चेति तत्रापि वृत्तिर्वाच्या । न च लक्ष-
णया निर्वाहः । निरुद्धलक्षणायाः शक्यनतिरेकात् । जबगडदशित्यादौ शैक्याग्र-
हेण तत्संबन्धरूपलक्षणाया अग्रहाच्च । अगुहीतायाश्च वृत्तेरनुपयोगात् । शक्ति-
भ्रमस्यापि वक्ष्यमाणरीत्यैवासंभवात् । एवं भाषाशब्दानामप्यनुकरणे प्रतीय-

मानत्वात् तेषां शक्यभावेन लक्षणाविरहादनुपपत्तिश्चेति शक्तिरेव वाच्या ।
 तथा च शब्दोऽपि यद्यनुकार्यानुकरणयोर्भेदेन विवक्षा तदा तथेति । अनुकार्यः
 प्रातिपदिकशक्य इत्यर्थः । अयं भावः । पठदिति कुर्वित्वाद्यनुकरणस्थलेऽनु-
 कार्यध्वनीनामनुकरणाद् भेदो ध्वनिमयत्ववर्णमयत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वसिद्धः ।
 तथा च तदुपस्थित्यर्थमुपस्थितस्य तस्य शाब्दज्ञानविषयत्वनिर्वाहार्थं च शक्ति-
 रवश्यमभ्युपेयेति । नो चेद् भेदविवक्षा । तदा श्रोत्रादिभिः सिद्ध उपस्थितः ।
 अथैव अर्थवद् भासते न तु तत्र स्वतन्त्रवृत्तिकलनेत्यर्थः । अयं भावः । वृत्ति-
 विषय एव च शाब्दबोधविषय इति नियमोऽपि प्रसङ्गविरासाय कल्प्यते । स
 च निरूपकताश्रयतान्यतरसंबन्धेन वृत्तिमात्रं तद्विषय इति नियमोऽपि नेति
 भवति तस्य शाब्दबोधविषयतेति । ननु वृत्तिमत एव शाब्दबोधविषयत्वे
 प्रत्यक्षादिनोपस्थितवदादेरपि शाब्दबोधविषयतापत्तिरिति विषयतया शाब्दबोध-
 मात्रं प्रति वृत्तिसंस्कारज्ञानान्यतरजन्यपदार्थोपस्थितिर्हेतुरिति निर्णीतमन्यत्र ।
 तथा चात्र वृत्तिमत्त्वे श्रोत्रादुपस्थितौ च सत्यामपि तादृशोपस्थित्यविषयत्वात्
 कथं शाब्दबोधविषयतेति चेदुच्यते । गंकारादयः कचिच्छक्ताः वर्णत्वान्न-
 लादिपदं कचिच्छक्तं साधुपदत्वादिति सामान्यतः शक्तिग्रह एव तत्पदवाच्यः
 कश्चिदर्थोऽस्तीत्याकारके वाच्यत्वसंबन्धेन पदप्रकारकबोधे हेतुरित्यनुभवसिद्धम् ।
 अत एवाज्ञातार्थकेष्विदमेकं पदमिति ज्ञातेषु चैन्नगवयनलादिपदेषु श्रुतेषु क
 एतदर्थं इति प्रश्ने उपमानतल्लक्षणकथनादिना तत्प्रतिवचनानि दृश्यन्ते । अत
 एव सादृश्याद्युपायेन तद्वोधकत्वेनोपमानादेः प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यादिना
 तद्वोधकत्वेन कोशादेश्च प्रामाण्यं व्युत्पादयन्ति । अन्यथा नलादिपदानाम-
 स्सदादीन् प्रत्यबोधकत्वप्रसङ्गश्च । नलत्वादिरूपेण शक्तिग्राहकभावात् तेन
 रूपेण बोधकत्वासंभवात् । न चातीतनलादिभाविचैत्रादिवर्तमानप्रसिद्धासं-
 निकृष्टवस्तुगाचराः संस्कारा अनादयो धारारूपेण विशिष्य बोधान्यथानुपपत्त्या
 कल्पन्त्येति नैयायिकनैयकल्पनं युक्तम् । हेत्वसिद्धेः । अन्यथोक्तप्रश्नाद्यु-
 च्छेदप्रसङ्गात् । किं च देशान्तरगतं प्रसिद्धं चैत्रं काश्यां शृण्वतां विशिष्या-

१ धर्मवत्त्वेन सिद्धः T. २ तदुपस्थित्यर्थे उपस्थितस्य D. ३ विवक्षायां T. ४ अर्थो-
 ऽवभासते. ५ अर्थवद् भासते अर्थां यदा शाब्दबोधे भासते तथा शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते
 न तु तत्र &c. D. ६ शाब्दबोधे विषय T. ७ कल्पते Tr. ८ नियमोऽपि T.
 ९ श्रोत्रादुपस्थितौ T. १० अकारादयः K. ११ तद्देशकत्वेन T. १२ नयकल्पनं Tr.

गृहीतसंगतिकानामपि नल्लुपधिष्ठिरादिपदादिवद् बोधानुभवात् तदनुरोधेना-
नादिसंस्काराद् विशिष्य शक्तिग्रहसत्त्वाभ्युपगमे तेषामेव कालान्तरे विश्वेश्वर-
मन्दिरे तं पश्यतां चैत्रोऽत्र नास्तीति वाक्याद् बोधो न स्यात् । स्याद्वा विशिष्य
गृहीतसंगतिकानां तत्र पश्यतामन्येषाम् । विश्वेश्वरदेवालयत्वं धर्मितावच्छे-
दकीकृत्य चैत्रत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्ताज्ञानं प्रति तदेव धर्मितावच्छे-
दकीकृत्य चैत्रत्वप्रकारकतद्वाधियः प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमस्य सर्वसिद्धत्वात् ।
विशिष्य गृहीतसंगतिकानामिव तद्दर्शनात् पदस्मरणं च स्यात् । तदुक्तम्—

‘यत्संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम् ।

पिण्ड एव हि दृष्टः सन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः ॥’

इति । चैत्रोऽस्ति न वेति संशयश्च न स्यादित्यादि भावप्रत्ययार्थनिरूपणे
वक्ष्यते । तथा च विशेषरूपेण बोधाभावादेव सर्वसंगम इति सिद्धा हेत्व-
सिद्धिः । तथा च घटचैत्रादिपदानां घटत्वचैत्रत्वादिजातिवच्छक्तिसंबन्धेन
पदमपि शक्यतावच्छेदकत्वाच्छाब्दबोधे भासते । तत्र घटत्वादिजातिवच्छब्दांशे
न वृत्तिविषयत्वं कल्प्यम् । मानाभावात् । आश्रयत्वेनैव तत्कार्यसिद्धेः । तथा
च संबन्धस्योभयनिरूप्यत्वेन संबन्धिद्वयोपस्थापकत्वाविशेषाद् घटत्वाद्यवच्छि-
न्नशक्त्यैव घटादिवच्छब्दस्यापि तथैव वृत्त्योपस्थितौ सत्यामर्थबोधनतात्पर्ये
सति तत्र विशेषणतया स शब्दो भासते तत्रापि घटत्वादिरूपेण विशिष्य
शक्तिग्रहवतां पदजात्युभयप्रकारको बोधोऽन्येषां पूर्वोक्तप्रकारेणोपस्थितकेवल-
व्यक्तौ शक्तिग्रहाच्छुद्धतद्व्यक्तिविशेष्यकः केवलपदप्रकारको घटपदवाच्यः कश्चि-
दर्थ इत्याकारको बोध इति विशेषः । यदा तु न गिरागिरेति ब्रूयात् कैवतीषु
रथन्तरं गायति अच्छावाकीयं साम गायति रषाभ्यां नो णः ससजुषो हः
गवित्थमहाहेत्यादौ ब्रूयात् गायति आहेत्यादिभिः स्थान्यर्थकषष्ठ्यादिभिश्चान्व-
ययोग्यताकाङ्क्षादिप्रसाच्छब्दनामे तात्पर्यं गृह्यते तदा घटो नित्यः स्वर्गो ध्वस्त
इत्यादौ विशेषणांशवच्छब्दस्वरूपमात्रं प्राधान्येन तथा शक्यता प्रतिपाद्यते ।
वृत्तिसत्त्वेऽपि तात्पर्यविरहादर्थान्शो न बोध्यते । लवणमात्रतात्पर्यदशायां सैन्ध-
वशब्दादश्ववद् बुद्धो वा त्यज्यते । यत्र तूक्तानन्यथालिङ्गतात्पर्यग्राहकाभावस्तत्र
विशिष्योपदेशेन तथा तात्पर्यमाचार्यैर्बोध्यते । यथा स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-
संज्ञेति सूत्रेण भू सत्तायामग्नेर्दृक् इत्यादौ । न चार्थशक्त्यैव तात्पर्यवशात्

प्राधान्येन शब्दस्यापि प्रतिपादनमित्युक्तम् । तत्प्रकारकव्यक्तिविशेष्यकबोधत्वस्यैव तद्वृत्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकत्वात् । अन्यथा घटो नित्य इत्यादेर्वदत्वे लक्षणा न स्यात् । प्राधान्येन बोधार्थं खलु तत्र लक्षणाश्रयणमिति वाच्यम् । तत्र घटत्ववदिरूपेण बोधानुरोधेन लक्षणाभ्युपगमात् । अन्यथा घटत्व-
 "निर्विकल्पापत्तेश्च । अत्रानुपूर्वीविशिष्टवर्णानां पदरूपतया केवलतदुपस्थितावपि आनुपूर्व्या अवच्छेदकत्वेन भानान्नोक्तदोषः । विशेष्यव्यक्त्यंशाभावात् । पदस्य विशेषणत्वं नास्तीति प्राधान्यमप्यर्थायातम् । मोषवादिभिर्नैयायिकैः प्रमेयत्व-
 प्रकारकसकलानुभवात् प्रमुष्टविशेषणकव्यक्तिमात्रस्मरणाभ्युपगमवत् प्रमुष्ट-
 विशेष्यकशब्दस्मरणाभ्युपगमात् । उच्चारयेत्यादिसमभिध्याहारस्य मोष एवो-
 पयोगात् । वस्तुतो न पदप्रकारकबोधत्वमर्थशक्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकं किं तु
 प्रथमोपस्थितत्वात् सामान्यसामग्रीवशाद्विशेषणत्वेन भानम् । न चैवं कदाचि-
 द्विशेष्यताया अप्यापत्तिः । निर्विकल्पकोत्तरप्रत्यक्षे जातेरिवोपपत्तेरिति तत्त्वम् ।
 तदेतत् सर्वमभिप्रेत्योक्तं वाक्यपदीये

‘ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।

तथैव सर्वशब्दानामेते दृश्यगवस्थिते ॥’

इति । अत्रार्थः । द्रव्यचाक्षुषमात्रे आलोकसंयोगो हेतुः । अन्यथान्धकारोऽपि
 चक्षुःसंयोगमात्राद् घटचाक्षुषापत्तेरित्यविवादम् । तथा चालोकप्रत्यक्षेऽपि
 स्वस्मादेवोपपत्तिर्वाच्या । तथा च यथा घटालोकसंयोगादेव घटस्येवालोक-
 स्यापि प्रत्यक्षं तथार्थगोचरशब्दनिष्ठशक्त्यैव शब्दस्यार्थस्य च भानम् । यथा
 वा घटचक्षुःसंयोगाभावे तस्मादेवालोकसंयोगादालोकस्यैव भानं तथार्थं
 तात्पर्यविरहे तद्वत्स्यैव सति शब्दे तात्पर्यं तस्यैव बोध इति । एवं च श्रोत्रा-
 दिभिरिति मूलेऽपि श्रोत्रमादिर्यस्येति व्युत्पत्त्या शक्तिज्ञानतत्संस्कारा गृह्यन्ते ।
 श्रोत्रेणोपस्थिते शक्तिग्रहादित्यवधेयम् । अत एव गामुच्चारयेत्युक्ते विकृत-
 स्यैवोच्चारणापत्तिः । तादृशस्यैव प्रत्यक्षोपस्थितत्वात् शब्दस्याप्रकृत्यर्थत्वात् तत्र
 द्वितीयार्थादेरनन्वयापत्तेश्च । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः ।
 स्वस्यैव प्रत्यक्षेण शीघ्रमुपस्थितत्वाद्गौरवस्तीत्यादावपि स्वपरत्वापत्तेश्चेत्यादिदूष-
 णाभासाः परास्ताः । उक्ततात्पर्यवशाद्वृत्त्यैवाविकृतस्यैव शब्दादुपस्थितत्वात् ।

अन्वयार्थपरत्वस्यैव न्याय्यत्वात् । तस्मादुक्ततात्पर्यनिर्णये सति शब्द एव प्राधान्येन भासते तदभावे स्वार्थविशेषणत्वेनैवेति सिद्धम् । अत एव 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादौ नामधेयत्वं व्यवस्थाप्य तस्यापि विशेषणत्वेनान्वयादुद्भिन्नामकेन यागेन भावयेदिति वाक्यार्थः संपन्न इत्युद्भिदधिकरणे मीमांसकैरुक्तं संगच्छते । यत्तु मीमांसकमतेऽपि नान्नि लक्षणैवान्यथा वृत्त्यानुपस्थितत्वेन शब्दबोधविषयता न स्यात् । अत एव वाक्यार्थे भट्टपादैर्लक्षणाभ्युपगम्यते परंतु नामनामिसंबन्धे सर्वत्रैव सेति निरुद्धेति न दोष इति समादधिरे । तन्न साधीयः । उक्तरीत्या क्लृप्तशक्यैवोपपत्तौ गौरवप्रस्तलक्षणाकरूपनानौचित्यात् । लक्षणया सर्वत्रानिर्वाहस्य प्रागुक्तत्वाच्च । किं चैवं हि नामतोच्छेदापत्तेर्द्विभिच्छतो मूलनाशान्यायापातः । गुणविधित्वे हि

‘मत्वर्थलक्षणापत्तेर्नामधेयत्वमस्थितम् ।

विशिष्टविधिपक्षे हि भवेन्मत्वर्थलक्षणा ॥

सोमादौ गत्यभावात् सा न त्वत्र गतिसंभवात् ॥’

इत्युक्तेः । सा च नामधेयत्वेऽपि समा चेत् कुतो गुणविधित्यागः । सामानाधिकरण्यानुपपत्तेर्गुणविधाविधानापि बीजत्वेनापेक्षणात् । न हि विना बीजं लक्षणा । साध्यत्वं द्वितीयार्थ इति सक्त्वधिकरणे व्यवस्थापितत्वेन वाजपेयाधिकरणोक्तन्यायेनैकैस्यां क्रियायां साध्यद्वयासमवायात् काष्ठैस्तण्डुलं पचतीत्यादावपि मत्वर्थलक्षणाया आवश्यकत्वाच्चिरुद्धत्वानिरुद्धत्वे अपि समे । गुणविधौ सर्वत्र मत्वर्थलक्षणाभ्युपगमस्य मीमांसकप्रसिद्धेश्च । अस्मन्मते च नाशः शक्यतावच्छेदकत्वेन विनैव लक्षणां यागत्वादिवदुपस्थितेर्नामधेयत्वं सुसङ्गतमिति विभावयामः । अत एव च कथितपदत्वं न कचिद् दोष इत्यत्र

‘उदेति सविता तान्नस्ताम्र एवास्तमेति च ।

संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥’

अत्र तान्नपदान्तरं विना न तादृशो बोध इति काव्यप्रकाशकारेण चोक्तं

१ त्वर्थः T. २ D_१, drops अपि. ३ नास्ति Tr. ४ विषयिता T. ५ इति परिमले समादधिरे D_१, D_२. ६ सति D. ७ न्यायापत्तेः D_१. ८ मास्थितः D_१. ९ तत्त्वेना^१ T. १० नैकक्रियायां D_१.

संगच्छते । अत्र घटकलशपदाभ्यां घटबोधे विशेषाभावात् ताम्रार्थकेन रक्ता-
दिपदेन तादृशबोधसंभवाच्छब्दान्तरात् तादृशबोधासंभव इत्यादेरलभ्यकतापत्तेः ।
अस्मद्वीत्या पुनस्ताम्रपदरूपविषयवैलक्षण्याद् वैलक्षण्यमित्यवधेयमिति । यद्वा
ज्ञानमात्रे शब्दभानमतेन व्याचक्ष्महे । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदेऽनुकार्यस्तथा
प्रातिपदिकार्थः । नो चेद्भेदविवक्षा तथापि श्रोत्रेण गृहीतसंगतिकषटादिभि-
र्बोपस्थितेऽर्थे पदार्थे घटादौ व इवार्थाद्विशेषणीभूतघटत्वादिवद् भासते
विशेषणत्वेनैव भासत इत्यर्थः । दित्योऽयं ब्राह्मणोऽयमिति प्रत्यक्ष इव
शाब्देऽपि स विषयः ।

‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥’

इति प्रसिद्धेः । तथा च घटपदवाच्यमानयेति शाब्दबोध इति भावः । अनु-
करणे तु स्वातन्त्र्येणैव भानमिति विशेष इति । अत्रेदं तत्त्वम् । अनियमेन
घटादेरपि प्रकारान्तरेणोपस्थितिसंभवाच्छब्दबोधविषयतापत्तिवारणाय वृत्त्या
शब्दादुपस्थितमेव शाब्दबोधविषय इति कल्पनीयम् । शब्दस्य च नियमेन
तदानीमुपस्थितिसत्त्वात् तस्यास्तादृशतया न शाब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिः ।
एवं च यथाभिहितान्वयवादिनां मते वृत्तिं विनैवाकाङ्क्षादिवशाद्वाक्यार्थस्य
शाब्दबोधे भानम् । कुञ्जशक्तिवादिनां वा वृत्त्यानुपस्थितस्यैव भानम् । तथा
वृत्त्यविषयशब्दस्यापि ज्ञानसामान्यसामग्र्या तात्पर्याकाङ्क्षादिवशाद् गौर्नित्या
गौरनित्येत्यादौ गोत्वादेरिव स्वातन्त्र्येण विशेषणत्वेन वा भानं भवेत् । पर्वतो
वह्निमानिति शाब्दानुमित्यादितस्तदैव वैङ्ख्यार्थिप्रवृत्तिदर्शनाज्ज्ञानसामान्यसा-
मग्र्या एवार्थविशेषणतया वर्तमानकालभासकत्वकल्पनवत् प्रत्यक्षशाब्दादौ
सर्वत्र शब्दभानानुभवाज्ज्ञानसामान्यसामग्र्याः शब्दभासकत्वकल्पनात् । तत्रापि
विशिष्य गृहीतशक्तिकेभ्यः पदेभ्योऽर्थविशेष्येवार्थाच्छब्दविशेषस्य भानम् ।
अन्यत्र नलपदवाच्यः कश्चिदर्थ इति पदविशेषणकवस्तुसामान्यबोधवदर्थद-
र्शनादप्येतद्वाचकं किञ्चित् पदमिति पदस्यापि सामान्यत एव बोधः । अत एव
तदुत्तरं विशेषजिज्ञासया किमस्य नाम इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनान्युपपद्यन्ते । अत

१ ०रलप्रतापतेः D. २ अर्थो विशेषणीभूत° T. ३ T. drops सः. ४ शाब्दा° T.
५ कल्प्यम् T. ६ बहुचर्थे प्रवृत्ति° T.

एव वृत्त्यविषयशब्दवद् घटादिपदैः समवायादिसंबन्धेन सम्बन्धिन आकाशादे-
रभ्युपस्थितस्यान्वयबोधप्रसङ्गः । किं च गामुच्चारयेत्युक्ते विकृतस्यैवोच्चारणापत्तिः ।
तादृशस्यैव प्रत्यक्षोपस्थितत्वात् । शब्दस्याप्रकृत्यर्थत्वाद् द्वितीयार्थादेरेनन्वयाप-
त्तेश्च । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः । स्वस्यैव प्रत्यक्षेण शीघ्र-
मुपस्थितत्वात् । गौरस्तीत्यत्रापि स्वपरत्वापत्तेश्चेति निरस्तम् । घटादिपदादुपस्थित-
स्याप्याकाशादेः शाब्दज्ञानविषयत्वाभावस्तन्नियामकाभावात् । विकृतादेरपि
तात्पर्याभावात् । सति च तस्मिन् लक्षणादिना त्वयापि तथा वाच्यत्वात् । न
च तात्पर्येणैव सर्वनिर्वाहे वृत्तिमात्रोच्छेदः । तस्य शाब्दसामान्ये हेतुत्वान-
भ्युपगमात् । अननुगमात् । शब्दादमुमर्थं प्रत्येमि वक्तुस्तात्पर्यं तु न जाना-
मीति सकलानुभवसिद्धत्वाच्च । किं तु क्वचिच्छब्दजन्यबोधप्रमात्वे नियामकं
तद्विषयकतात्पर्यज्ञानं तदन्यगोचरज्ञाने प्रतिबन्धकं वा नातो नानार्थानुपपत्तिः ।
इत्थं पदादनेकेषामर्थानामुपस्थितावेकस्यैव वानेकसंबन्धसंभवे पदार्थविशेष-
संबन्धविशेषयोरध्यवसानाय तात्पर्यं नियामकं कल्प्यत इति न वृत्तिं विना
निर्वाह इत्यादिकमूहम् ॥ २६ ॥

नन्वनुकार्यानुकरणयोर्भेद एव युक्तः । अभेदेऽप्यस्तु स्वस्मिन् स्वस्य शक्तिः ।
अन्यथानुकरणशब्दानां वृत्तिविषयाप्रतिपादकत्वेनार्थवत्त्वाभावात् प्रातिपदिक
संज्ञा न स्यात् । तथा च 'वार्तघ्नी पौर्णमास्यां कवतीषु रथन्तरं गायति'
'ऐरं कृत्वोद्वेगम्' इत्यादिश्रुतय एरुः एचोयवायावः रषाभ्यां नो णः इत्या-
दिसूत्राणि च विरुध्येरन् । प्रातिपदिकात् सुबन्ताद्वा तद्वितोत्पत्तेः सिद्धा-
न्तितत्वात् । न चैवं धातूपसर्गादिगणपठितानामनुकरणानामनुकार्यधात्वा-
द्यर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वापत्तौ विभक्तिश्रवणापत्तिः । अविषयक्षयैव अङ्गणि-
त्यादौ स्वरसंध्यकरणवत् संभवात् । तत्रेकारोकारादेस्तत्तत्संज्ञास्वसंदेहसिद्धेरिव
सत्यां विभक्तौ नलोपजश्वादेरप्यापत्तावदन्तत्वनान्तत्वधान्तत्वदान्तत्वादि-
निर्णयानुरोधस्य सत्त्वात् । णोपदेशत्वषोपदेशत्वनिर्णयाथेव यत्नान्तरापत्ति-
गौरवापत्तेश्चानुरोधसत्त्वादित्याशङ्कां मनसिकृत्याह ।

अत एव गवित्याह भूसत्तायामितीदृशम् ।

न प्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तद स्मृतम् ॥ २७ ॥

अत एव यतो न भेद उक्तरीत्योपस्थितस्यैव वा भानमत एव गवित्यय-
माह भूसत्तायामित्यत्र वृत्तिविषयबोधकत्वरूपार्थवत्त्वाभावादर्थवदधातुरित्यप्र-
वृत्तेः प्रातिपदिकत्वाभावे गौः भूरिति विभक्त्यनुत्पत्तिः । तथा च न प्रातिपदिकं
नापि पदमेतत् साधु तु भवत्येवेत्यर्थः । अयं भावः । भूसत्तायामित्याद्यर्थनिर्देश-
सहितेष्वसंदिग्धेषु विभक्त्यसंवलितनिर्देशः परम्परापठनादिसिद्धो भाष्यकाराद्य-
भ्युपगतश्च तस्य चोक्तलाघवानुगृहीताभेदपक्षे एवोपपत्तौ निर्बीजाविवक्षयो-
पपादनमयुक्तम् । संदिग्धस्थले तदकरणेऽप्यत्र विभक्तिविवक्षायां दुर्वारत्वात् ।
प्रत्ययः परश्चेति नियमाच्च । उक्तश्रुतिषु च वृत्तावयवानां जहत्स्वार्थत्वाभ्युपग-
मादनुपपत्तिरस्यैव भेदपक्षाश्रयणेऽपि । सा चावयव्यर्थमवयव आरोप्य समाधे-
येति वृत्तिनिर्णये वक्ष्यते । उक्तसूत्रेष्वप्यनुकार्यशब्दानां स्थानित्वादेशत्वबोध-
नाय षष्ठी स्थानेयोगेत्याद्यनुरोधादसमर्थसमासवद्बुद्धयमाणरीत्या प्रातिपदिकत्व-
विभक्त्यादिकं सौत्रमेव । भुवो वुग् लुङ्लिटोरित्याद्यप्येवमेव । तस्माद्युक्त-
रमभेदपक्षं प्रतीमः । अथ भू सत्तायामित्यादावधातुरिति पर्युदासादेव न
प्रातिपदिकत्वं न वा पदत्वम् । अन्यथा पर्युदासवैयर्थ्यापत्तिः । किं चाधातु-
रिति पर्युदासार्थवत्त्वाभादर्थवद्ब्रह्मणमुत्तरार्थमिति ग्रन्थानामेवमसामञ्जस्या-
पत्तिः । भू सत्तायामित्यादेरनर्थकत्वात् । अनर्थकत्वाद्वा विभक्तिर्नेत्यादि
कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रे मनोरमायां स्पष्टत्वात् । अपि च धातुरनर्थक इति
व्याहृतमित्यर्थवत्सूत्रे मतान्तरदूषणाय मनोरमापि स्ववचनविरुद्धैव स्यात् ।
न च भू सत्तायामित्यनुकरणस्य न धातुत्वं किं त्वेतदनुकार्यस्य भवतीत्यादौ
प्रयुज्यमानस्यैव तत्रैव नामत्वसुबुत्पर्योर्वारणाय पर्युदासोऽपीति वाच्यम् ।
एवं हि भूवादयो धातव इति सूत्रस्यानुकरणस्यानर्थकत्वेनानुकार्यस्य गणपाठा-
भावेनाधातुतापत्तावसंभवित्वापत्तेः । तस्य गणपठितत्वगर्भतायाः प्राग् व्युत्पा-
दनात् । घटाभिन्नस्याघटत्ववद्धात्वभिन्नस्याधातुताया असंभवाच्च । किं
च प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशादेव धातुत्वप्रयुक्तपर्युदासलाभात् प्रातिपदि-
कत्वाभावसंभवे कुतस्तपक्षाभ्युपगमः । कथमन्यथा ऋत इद्धातोः रितित्वं कीरि-
त्याद्यनुकरणे लभ्येत । न चैवं धातुत्वप्रयुक्तप्रकृतिवत्त्वाभेन न केवला प्रकृतिः
प्रयोज्येति निषेधलाभापत्तिः । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुविति ज्ञापकेन यावत्का-

यांप्रवृत्तेर्ज्ञापितत्वात् । अत एव कीरित्यनुकरणे प्रातिपदिकत्वं संगच्छते । तस्माद् सत्तायामित्यभेदपक्षलाघकमयुक्तम् । किं चानुकार्यत्वानुकरणत्वधातु-
त्वाधातुत्वध्वनिमयत्ववर्णमयत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादभेदपक्ष एवानयोर्न युक्तः ।
भेदपक्षेऽपि न युक्तः । भूवादय इति सूत्रविरोधात् । गणपठितत्वे सति क्रिया-
वाचित्वं धातुत्वमिति हि तदर्थः । स चास्मिन् संभावितः । अनुकार्यस्य गण-
पाठाभावात् । अनुकरणस्यार्थवत्त्वेऽपि क्रियावाचकत्वाभावात् । समानानुपू-
र्वीकशब्दमात्रतात्पर्यकत्वं तादृशशब्दमात्रवाचकत्वं वा न मतेऽनुकरणत्वम् ।
शब्दशब्दवारणाय मात्रपदम् । तस्माद् भूसत्तायामित्युदाहरणं पक्षद्वयं चासं-
गतमेवेति चेदत्रोच्यते । आनुपूर्वीभेद एव शब्दभेदे तन्नम् । अत एव नाना-
र्थत्वव्यवस्था । तथा च स्वाभिन्नशब्दमात्रतात्पर्यकोच्चारणविषयत्वार्थतात्पर्यको-
च्चारणविषयत्वरूपेऽनुकार्यत्वानुकरणत्वे कथं विरुद्धे । कथं वा भू सत्ताया-
मिति शब्दमात्रतात्पर्यकस्य क्रियावाचकत्वरूपं धातुत्वम् । तथा च न पर्यु-
दासत्ववार्तापि । किं त्वनर्थकत्वाच्च नामत्वमित्येव युक्तम् । प्रकृतिवदनुकरण-
मित्यतिदेशेऽप्यधातुत्वप्रयुक्ता संज्ञा दुर्वारैव । छान्दसत्वं त्वगतिकगतिर्ज्ञाप-
कमात्रोच्छेदकरं चेति बोध्यम् । एवं च न धातुत्वाधातुत्वयोर्विरोधोऽपि ।
वर्णनित्यतावादिनामानुपूर्व्या ध्वनिमात्रनिष्ठत्वात्तस्योभयत्र तुल्यत्वात् । अव्य-
क्तानुकरणस्थले व्यक्तिभेदेऽपि भेदप्रयोजकानुपूर्वीभेदाभावाद्युक्त एवाभेद इत्य-
भेदवादिनां मतम् । अन्ये त्वित एवार्थभेदाच्छब्दभेदं च मन्वानाः शब्दार्थ-
वाचकत्वाभ्यामनयोर्भेदमिच्छन्ति । अत्र मते गणपठितशब्दवाच्यत्वं गणप-
ठितत्वमतो न भूवादिसूत्रविरोधः । अस्मिन् मते भू सत्तायामित्यत्र विभक्ति-
दुर्वारेत्यभिप्रेत्य पक्षद्वयं लक्ष्यानुसारेण स्वीकृतमाकर इति न कश्चिदोष इति
ध्येयम् ॥ २७ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणे नामार्थपरिच्छेदः सैसातः ॥

१ गणे पाठाभावात् K., T., Tr. २ °शब्द° T. ३ पक्षद्वये T. ४ अत एव भुवो
बुल्लुङ्गितोरित्यनुकरणे नामत्वं सुबुत्पत्तिः संगच्छते in T. before अत्र मते &c. ५ T.
drops श्री. ६ संपूर्णः T.

समासान् विभजते ।

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा ।

सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ॥ २८ ॥

सुपां सुपा । पदद्वयमपि सुबन्तम् । यथा राजपुरुषः । षष्ठीति समासः ।
सुपां तिङा । पूर्वपदं सुबन्तमुत्तरं तु तिङन्तम् । यथा पर्यभूषत् । अनुव्य-
चलत् । ‘ गतिमतोदात्तवता तिङापि समासः ’ इति वार्तिकात् । सुपां नाम्ना ।
कुम्भकार इत्यादिः । उपपदमतिङिति समासः । स च गतिकारकोपपदानां
कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति वचनाद्भवति सुबुत्पत्तेः प्राक् ।
अत्रोत्तरपदे सुबुत्पत्तेः प्रागित्यर्थात् । अन्यथा चर्मक्रीतीत्यादौ न लोपाना-
पत्तेः । सुपां धातुना । उत्तरपदं धातुमात्रं न सुप्तिङन्तम् । यथा कटप्रूः ।
आयतस्तूः । वचिप्रच्छयायतस्तुकैटपुजुश्रीणां दीर्घश्चेति वार्तिकोक्तनिपातनात् ।
अत एव नञो धातुमात्रेण समास इत्यनुदात्तं पदमित्यत्र कैयटः । तिङां तिङा ।
पिबतखादता । पचतभृजतेत्यादिः । ‘ आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये ’ इति
मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणसूत्रात् समासः । सुबन्तेनेति चेति चकारात् तिङामि-
त्यर्थः । जहिस्तम्ब इत्यादिः । ‘ जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिद-
धाति ’ इति मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणसूत्रात् । स्पष्टं चैतच्छब्दकौस्तुभे ॥ २८ ॥

स्वयं भाष्यादिसिद्धं तज्ज्ञेदं व्युत्पाद्य प्राचीनवैयाकरणोक्तविभागस्य सलक्ष-
णस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिभिः प्रायिकत्वं दर्शयति ।

समासस्तु चतुर्थेति प्रायोवादस्तथा परः ।

योऽयं पूर्वपदार्थादिप्राधान्यविषयः स च ॥ २९ ॥

भौतपूर्व्यात् सोऽपि रेखागवयादिवदास्थितः ।

चतुर्था । अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहिभेदात् । अयं प्रायोवादः । भूत-
पूर्वः । इन्भूः । काराभूः । आयतस्तूः । कटप्रूः । वागार्थाविव । विस्पष्टपटुरि-
त्याद्यसंग्रहात् । तथा परः प्रायोवाद इत्यन्वयः । परं दर्शयति । योऽयमिति ।

१ उत्तरपदं D. २ उत्तरं पदं D., D₂. ३ कटप्रू° T. ४ आयतस्तूः Tr. ५ D.
drops तथा.

पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । उभयपदार्थप्रधानो
 द्वन्द्वः । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरिति लक्षणरूपः । उन्मत्तगङ्गम् ।
 सूपप्रति । अर्धपिप्पली । द्वित्राः । शशकुशपलाशमित्यादौ परस्परव्यभिचारात् ।
 तथाहि । उन्मत्तगङ्गमित्यव्ययीभावे पूर्वपदार्थप्राधान्याभावादव्ययीभावलक्ष-
 णाव्याप्तिरन्यपदार्थप्राधान्याद्बहुव्रीहिलक्षणातिव्याप्तिश्च । अन्यपदार्थे च संज्ञा-
 यामिति समासात् । सूपप्रतीत्यव्ययीभावे उत्तरपदार्थप्राधान्यात् तत्पुरुषलक्षणा-
 तिव्याप्तिरव्ययीभावलक्षणाव्याप्तिश्च । सूपप्रतिना मात्रार्थ इति समासात् ।
 अर्धपिप्पलीति तत्पुरुषे पूर्वपदार्थप्राधान्यसत्त्वादव्ययीभावलक्षणातिव्याप्ति-
 स्तत्पुरुषलक्षणाव्याप्तिश्च । ‘अर्धं नपुंसकम्’ इति समासात् । एवं पूर्वकाय
 इत्यादितत्पुरुषेऽपि द्रष्टव्यम् । द्वित्रा इति बहुव्रीहावुभयपदार्थप्राधान्याद् द्वन्द्व-
 लक्षणातिव्याप्तिर्बहुव्रीहिलक्षणाव्याप्तिश्च । ‘संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः
 संख्येये’ इति समासात् । शशकुशपलाशमिति समाहारद्वन्द्वे समाहारान्य-
 पदार्थप्राधान्याद् बहुव्रीहिलक्षणातिव्याप्तिर्द्वन्द्वलक्षणाव्याप्तिश्च । तस्मान्नैतानि
 लक्षणानि । किं त्वव्ययीभावाधिकारपठितत्वमव्ययीभावत्वं तत्पुरुषाधिकार-
 पठितत्वं तत्त्वमित्यादि द्रष्टव्यमिति भावः । असंभवश्चैषां लक्षणानामिति ध्वन-
 यशक्तिसंभवमाह । भौतपूर्व्यादिति । स्वार्थे ष्यञ् । पूर्वं भूतो भौतपूर्व्य-
 स्तस्मात् । सोऽऽयुत्सर्गोऽपि । रेखागवयादिवदिति । तथा च रेखागवयादिनि-
 ष्टलाङ्गूलादेर्वास्तवपञ्चलक्षणत्ववदेतेषामपि न समासलक्षणत्वम् । तत्र विशि-
 ष्टशक्त्यभ्युपगमेन पदानामनर्थकत्वात् । किं तु बोधकत्वमात्रं स्यात् । रेखागव-
 यवदिति भावः ॥ २९ ॥

ननु व्यपेक्षा सामर्थ्यमेक इति भाष्यकारैः प्रदर्शितानां व्यपेक्षावादिनां प्राचां
 मत एतानि लक्षणानि साधून्येव । तथाहि । समर्थः पदविधिरिति परिभाषायां
 सामर्थ्यं व्यपेक्षारूपमेव सूत्रभाष्यसिद्धम् । एकार्थीभावे समासस्यार्थवत्सूत्रेणैव
 प्रातिपदिकत्वसंभवेन समासग्रहणं न कुर्यात् । पराङ्गवद्भावे एकार्थीभावाभावेन
 तस्यासंग्रहापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । तथा सति ‘सुवामञ्जिते पराङ्गवत् स्वरे’

१ अर्धपिप्पलि D., २ द्वित्रः K., T. ३ समासः T. ४ बहुव्रीहिलक्षणाव्याप्तिश्च K.
 ५ T. drops इति भावः. ६ व्यपेक्षां K., D., Tr.

इत्यनन्तरमेव समर्थसूत्रं कुर्यात् । किं चैवं यत्ते दिवो दुर्हितमर्तभोजनमित्यादौ दिवःशब्दस्यामञ्जितनिघातफलकपराङ्गवद्भाववदयमपे जरिता ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृत्तस्पृशा इत्यादावयमृतेनेत्यादेः सुवामञ्जित इति पराङ्गवद्भावपत्तिः । संबोधनप्रथमान्तस्यामञ्जितस्यामित्रावरुणादिपदस्य सत्त्वात् । ननु तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यमिति वार्तिकात् तस्यामञ्जितस्य यन्निमित्तं तदेव पराङ्गवत् स्यादित्यर्थकान्नायं दोष इति चेन्न । एवं सति मित्रावरुणावित्यस्यापि पराङ्गवद्भावानापत्तेः । ऋतस्य वर्धयितारावित्यर्थेऽन्तर्भावितण्यर्थादृधेः क्विपि ऋतावृधाविति रूपम् । न च मित्रावरुणौ तन्निमित्तम् । न च मा भूत् पराङ्गवद्भाव इति वाच्यम् । ऋतावृधावित्यस्य निघातानापत्तेः । द्वितीयपादादित्वेनानुदात्तं सर्वमपादादाविति पशुं दस्तत्वात् । अन्यथेयं मे गङ्गे यमुने सरस्वति क्षुतुद्रि स्तोममिति मन्त्रे पूर्वपूर्वामञ्जितस्याविद्यमानवद्भावान्मेशब्दात् परतामुपजीव्य कृतोऽपि निघातो गङ्गे इत्यादित्रयस्येव क्षुतुद्रित्यस्यापि स्यात् । तथा च पादादित्वेऽपि पराङ्गवद्भावपादासमञ्जितस्य चेत्याद्युदात्तता ऋतेनेत्यादेर्द्वारा । न च मित्रावरुणावित्यस्य पराङ्गवद्भावो न संभवत्येवामञ्जितं पूर्वमविद्यमानवदित्यविद्यमानवद्भावादिति वाच्यम् । परस्य कार्ये ह्यसावतिदेशः पूर्वग्रहणाज्ज्ञापकात् । न च पराङ्गवद्भावः परस्य कार्यं किं तु स्वस्य । अस्तु वा मित्रावरुणावित्यामञ्जितसामान्यवचनम् । तद्विशेषवचनमृतावृधाविति । तथा च नामञ्जिते समानाधिकरणे सामान्यवचनमित्यविद्यमानवद्भावनिषेधाच्च दोषः । तस्मात् तन्निमित्तग्रहणे कृते ऋतेनेत्यत्रेव मित्रावरुणावित्यत्रापि स न स्यात् । तस्मात् समर्थपरिभाषयैव निर्वाहमभ्युपेत्य तन्निमित्तग्रहणं त्याज्यमिति वेदभाष्यशब्दकौस्तुभयोः स्पष्टम् । तथा च परस्परान्वयरूपा व्यपेक्षैव सामर्थ्यम् । तच्च कारकाणां क्रियायामेवान्वयादतेनेत्यस्याशये इत्यनेनैव सहान्वयाच्च मित्रावरुणाभ्यामन्वय इति सामर्थ्याभावाच्च पराङ्गवद्भावः । मित्रावरुणावृतावृधावित्येतयोस्तु पार्ष्णिक्भावेदान्वयात् सामर्थ्यसत्त्वाद्भवति स इत्युपपद्यते । एवमेव च भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य पश्य देवदत्तः कृष्णं श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलमित्यादौ न समाल इत्युपपद्यते । उपपद्यते चाधिहरि राजपुरुषश्चित्रगुरित्यादिषु समासः । पदार्थानां परस्परमन्वयरूपसामर्थ्यसत्त्वात् ।

१ मर्ते भोजनं Tr. २ पदादित्वे D₂. ३ T. drops ज्ञापकात्. ४ तद्विशेषणमृतां K.
५ T. drops च.

अत एव रामकृष्णादित्यादौ परस्परमनन्वयात् सामर्थ्याभावेन समासो न स्यात् । एवं धवखदिरौ छिन्नीत्यादावपि । न चैकस्यां क्रियायामन्वयित्वमेव सामर्थ्यमत्रास्तीति कैयटोक्तं युक्तम् । एवं हि कृतः सर्वो मृत्तिकयेत्यादौ कृतः सर्वमृत्तिक इति समासापत्तेः । असूर्यपश्या इत्यादेरसमर्थसमासोच्छेदप्रसङ्गाच्च । न चैकस्यां क्रियायां कर्मत्वाद्येकरूपेणान्वयित्वमेव सामर्थ्यं वाच्यम् । अथवा चार्थे द्वन्द्व इति विध्यवैयर्थ्यासामर्थ्येऽपि स स्यादिति वाच्यम् । एवं हि बटो भिक्षामट गां चानयेत्यादौ

‘अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् ।

वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदः ॥’

इत्यादौ चातिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य युगपदधिकरणवचने द्वन्द्व इति व्युत्पादितं भाष्ये । तथा च परस्परमभेदान्वयरूपं सामर्थ्यमेवातिप्रसङ्गपरिहारव्याजेन भाष्यकारैः समर्थितम् । एकार्थीभावपक्षे च तस्मिन्नेव समास इति समर्थ-सूत्राल्लब्धत्वादहरहरित्यादौ समासाप्रसङ्गाद्युगपदधिकरणवचनताव्युत्पादनवैयर्थ्यापत्तेः । अधिकरणं वर्तिपदार्थौ रामकृष्णौ तयोर्युगपद्वचने पदद्वयेनाभिधाने द्वन्द्वो भवतीति तदर्थः । ननु सेयं युगपदधिकरणवचनता दुःखा च दुरुपपादा चेति भाष्य एव सा दूषितेति चेत् सत्यम् । विग्रहे सा दुरुपपादेति तदभिप्रायस्य शब्दकौस्तुभादौ व्युत्पादितत्वात् । विग्रहे खल्वपि युगपदधिकरणवचनता दृश्यते धवौ च खदिरौ चेत्येव विग्रह इत्यादि ततः पूर्वं भाष्ये व्युत्पादितत्वात् तथैव युक्तत्वात् । अत एव धवौ च खदिरौ चेति न विग्रहः । प्रक्रियादशायां प्रथमप्रवृत्तस्यैकवचनस्य त्यागायोगात् । अन्यथा समासदर्शनानुरोधेन विग्रहकरणे षष्ठीतत्पुरुषोच्छेदः स्यात् । तथा च षष्ठ्या अलुग्विधायकानां तत्स्वरादीनां चोच्छेदापत्तिरित्येवोक्तं शब्दकौस्तुभे । अत एव तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियामित्यनेनापत्यकृतबहुत्वविवक्षायां तद्राजस्य लुग्विधीयमानोऽङ्गवङ्गकलिङ्गा इत्यादौ सिध्यति । न हि विना युगपदधिकरणतां तद्राजायस्य बहुत्वान्वयः । तस्य व्यासज्यवृत्तित्वात् । न च तद्राजान्तेन बहुत्वोक्तौ लुगित्येवार्थोऽस्त्विति शङ्क्यम् । प्रियो वाङ्गो येषामित्यर्थे प्रियवाङ्गा इत्यत्रापि

१ °समासत्वोच्छेद° K. २ सुरया D₁, D₂. ३ °परीहार° Tr., K., D₃. ४ अधिकरणं च वर्ति° T. ५ वातौ पदार्थौ D₁, D₂. ६ भाष्य एव व्युत्पा° T.

प्रसङ्गादिति । न च कर्मधारयेऽप्यभेदान्वयरूपसामर्थ्यसत्त्वाद् द्वन्द्वाविशेषस्तस्य
 स्यादिति वाच्यम् । समस्यमानपदैरेकविषयताशालिबोधजनने द्वन्द्वास्तदर्थमेव
 युगपदधिकरणवचनतास्वीकारादिति विशेषसंभवात् । न चैवमपि रामकृष्णा-
 वित्यादौ विरूपाणामपि समानार्थानामित्येकशेषापत्तिः । विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वं
 समानार्थतायामिष्टत्वात् । तदुत्तरमेकशेषाप्रसङ्गात् । पूर्वमेवैकशेष इति सिद्धा-
 न्तात् । तथा च विवक्षयोभयथापि प्रयोगो युक्त एव । पितरावित्यादौ तात्प-
 र्यानुरोधेनैवार्थविशेषनिर्णयस्य वाच्यत्वात् । तथा च विवक्षया व्यवस्थाश्र-
 यणीया । चार्थे द्वन्द्वा इति न्यासपक्षेऽपि विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वं सहभावविवक्षणा
 एकशेषस्तदुत्तरं विवक्षणे च द्वन्द्वा इति वाच्यमेव । नन्वेवं सत्येकशेषे द्विवच-
 नबहुवचनान्तेन विग्रहप्रदर्शनमपि शक्यं वक्तुम् । परं त्वेकवचनान्तेनैव तं प्र-
 दर्शनमयुक्तम् । प्रागुक्तन्यायेन द्विवचनादेरेव न्यायप्राप्तत्वादिति कथं द्विवच-
 नान्तेन तत्प्रदर्शनं निषिद्धमिति चेदुच्यते । न हि येषामेकशेषस्तेषामेव तथा-
 विधानां विग्रहे प्रवेशः । तस्य नित्यत्वात् । किं तु यदा युगपद्वाचित्वाविव-
 वक्षणाञ्चैकशेषस्तदा तद्वोधकचकारमादाय सः । तथा च तत्र न द्विवचनप्राप्ति-
 रिति विविचयमाणे तथा दर्शनादेव तत्रापि युगपद्वाचिताविवक्षां कृत्वा तथा
 विग्रहो वाच्यस्तत्र चोक्तदोषो युक्त इति । अथ विभक्त्युत्पत्तेः प्राक् सहभाव-
 विवक्षायामेवैकशेष इत्यभ्युपगमे तदा सहभावविवक्षणात् प्रत्येकविभक्त्यु-
 त्पत्तौ ततस्तद्विवक्षणे द्वन्द्वापत्तौ घटघटौ घटघटघटा इत्यापत्तिर्दुर्वारा । न
 चाकृतव्यूहपरिभाषया भाविद्विवबहुवचनादिविरुद्धतया वा न प्राग्विभक्त्युत्प-
 त्तिरिति शङ्क्यम् । इतरेतरयोगादावप्यनापत्तेः । अथ यदि घटत्वादिरूपेणै-
 कशक्त्या विभीतकत्वाद्यनेकतात्पर्यवशाद्युगपदनेकशक्त्या विशिष्टलक्षणयोग्यं वा
 मातृत्वपितृत्वस्त्रीत्वपुंस्त्वश्वशुरत्वाद्यनेकरूपेणैकस्मादेव पदानुपास्थितौ घटा अक्षाः
 पितरौ ब्राह्मणौ श्वशुरावित्यादिप्रयोगाणां संभवाच्चैतत्साधनार्थकतेशेपप्रकरणं किं
 तु घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकाभिलापवत् साहित्याविवक्षणात् प्रत्येक-

१ युगपदधिकरणतास्वीकारा° T. २ पूर्वसहभाव° T. ३ तत्प्रदर्शनमयुक्तं D. ४ द्विव-
 चनादेरपि K., D₂. ५ तद्वोधकं चकार D₁, D₂. ६ तेषां Tr., D. ७ यदा तद्विव-
 यमाणे D. ८ इत्यभ्युपगमस्तदा Tr.; इत्यभ्युपगमे तदङ्गसहभावा° D₂. ९ प्रत्येकं विभ-
 क्त्युत्पत्तौ K., T., D. १० निहितकत्वाद्यनेक° T.

अक्तिजातिक्षितिक्षमाभावे मातृमात्रोः सहभावे च तात्पर्याद्विभक्त्युत्पत्त्यनन्तरं सहभावविवक्षणाद्वा प्राप्तस्य घटघटौ अक्षाक्षौ क्षमाक्षमे मातृभ्यामित्याद्यनिष्ठरूपस्यासाधुत्वबोधनायेति नोक्तदोषः । एवं च साहित्यविवक्षाचिकीर्षायामेवैकशेषो बहुव्रीहिचिकीर्षायामिव न बहुव्रीहादित्यादिवत् प्रवर्तत इति कल्प्यते । प्रत्ययोत्पत्तेरर्थगौरवभयात् प्रक्रियादोषप्रसङ्गाच्च नान्तरा कल्पना युक्ता । समासादौ तूपजीव्यत्वात्तदादर इति । उक्तं च शब्दकौस्तुभे ।

‘घटकुम्भौ कुम्भकुम्भौ मातृभ्यां चेति पाक्षिकम् ।

अनिष्टत्रितयं प्राप्तं सूत्रेणानेन वार्यते ॥

घटादित्यादिसिद्धिस्तु स्यादेवैतद्विनापि हि ।

जातिपक्षे व्यक्तिपक्षेऽपीति निष्कर्षसंग्रहः ॥’

इति । अत्रापि पक्षे पिता मात्रेत्यादि द्वयं व्यर्थम् । मातापितरौ मातरपितरावित्यादेरिष्टत्वेन नियमार्थताया असंभवात् । मातराविति तदर्थं निवारयितुं सूत्रमिति चेन्न । एकस्य मातृशब्दस्य पितर्यपरस्य मातरि तात्पर्यं सरूपैकशेषेणापि विशिष्टलक्षणया युगपद्वृत्तिद्वयेन वा मातरावित्यस्य दुर्वार्यत्वेन सूत्रानर्थक्यावारणादिति विभाव्यते । तन्न । तथापि घटकुम्भावितिवद् रामकृष्णावित्यस्यासाधुतापत्तेरिति चेन्नैवम् । सहविवक्षातः प्राक् समानार्थतायामेवैकशेषात् । अन्यथा द्वन्द्वे प्राप्त एकशेषात्तदा युगपदधिकरणवचनताया अव्यभिचारान्न समानार्थानामित्यस्यानर्थक्यापत्तेः । द्वन्द्वविधानवैयर्थ्यापत्तेश्चेति दिक् ।

नन्वेवमप्यनेकमन्यपदार्थ इत्यनेनानेकसुबन्तानामन्यपदार्थप्रतिपादकत्वे बहुव्रीहिविधानाच्चित्रवादिपदानां सर्वेषां तदभिधायकत्वे युगपदधिकरणवचनतासत्त्वाद् द्वन्द्वापत्तिः । न चोत्सर्गापवादन्यायेनान्यपदार्थमादाय तस्यां बहुव्रीहिः समस्यमानपदार्थमादाय तस्यां च द्वन्द्व इत्यभ्युपेयमिति वाच्यम् । एवं हि समाहारद्वन्द्वासंभवापत्तेः । तस्यान्यपदार्थत्वादिति चेन्न । न तावत् समाहारवाचकत्वेन समाहारद्वन्द्व इति व्यवहारः । रामकृष्णावानय पाणिपादं वादयेत्यनयोर्बोधपदार्थान्वययोर्वैलक्षण्यादर्शनात् । किं तु द्वन्द्वश्च प्राणितूर्येत्यादिप्रकरणेन प्राण्यादिद्वन्द्व एकवचनविधानात् समाहार इव समाहार एकवचन-

१ °क्षमावत्तेषां मात्रोः सहभावे Tr. २ मातृपित्रोः D.; मातृज्ञात्रोः D₇, D₉. ३ वा Tr. ४ क्षमाक्षमा K., D., Tr. ५ D. drops च. ६ पितामातरौ T. ७ दुर्वारत्वेन D. ८ घटघटाविति Tr. ९ T. drops अपि.

निमित्तत्वादिति गौणो व्यवहारः । एतदेवादाय द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहार
इत्यादि सौत्रव्यवहारा अप्युपपद्यन्त इति ध्येयम् । न च परस्परान्वयसामर्थ्य-
पक्षे ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यादिविशेषणाद्यन्वयापत्तिरिति वाच्यम् । सविशेषणानां
वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो नेति वार्तिकेन विशेषणयोगे समासासाधुत्व-
ज्ञापनात् । एकार्थीभावपक्षेऽपि राज्ञः पदार्थैकदेशत्वान्नान्वयः । आकाङ्क्षविरहा-
दित्युक्तावप्यृद्धस्य राजपुरुष इत्यादेः साधुतावारणाय वार्तिकस्यावश्यकत्वात् ।
अत एव देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादौ साधुत्वज्ञापनाय भवति वै नित्यसापेक्ष-
स्यापि समास इति वार्तिकं संगच्छते । न च राजपुरुष इत्यादौ पदार्थयोरुप-
स्थितावप्यन्वयः कस्यार्थ इति वाच्यम् । तस्य संसर्गमर्यादयैवोपस्थितेः । न च
नामार्थयोर्भेदेनान्वयासंभवः । समासेऽन्यथैव व्युत्पत्तेरिति व्यपेक्षावादिनां
मतम् । तस्माद् व्यपेक्षापक्षे पूर्वोत्तरपदयोरर्थसत्त्वात् पूर्वपदार्थप्रधान इत्यादि-
व्यवस्थाव्याप्त्यतिव्याख्यादिदोषदुष्टापि नासंभविनीत्याशङ्कां मनसिकृत्याह—

जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे द्वे वृत्ती ते पुनस्त्रिधा ।

भेदः संसर्ग उभयं ^३वेति वाच्यव्यवस्थितेः ॥ ३० ॥

यद्यप्यत्र महाभाष्ये नानापक्षा निरूपितास्तथाप्यत्रैव विश्रान्तिस्तेषामिति
विभाव्यते ।

‘कैयटो हरदत्तश्च यां व्यवस्थां प्रचक्रतुः ।

सा न्यायभाष्यानुगुणा नेत्युपेक्ष्येति विग्रहे ॥’

तथाहि । यद्यपि समर्थसूत्रे भाष्यकारैरनेके पक्षा निरूपिता इति भाति तथापि
तद्विवेके सति जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थपक्षयोरेव पर्यवसानं लभ्यते । तद्यथा ।
इत्थं तावद्भाष्ये पक्षसृष्टिः प्रतीयते । समासादावेकार्थीभावो विग्रहवाक्ये च
व्यपेक्षेत्येकः पक्षः । अथ ये वृत्तिं वर्तयन्तीत्यारभ्य जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थां
^३वेति पक्षभेदेन मतान्तरम् । समासादावपि वाक्यवद् व्यपेक्षैव सामर्थ्यमिति
चःपरं मतमिति । तत्रेत्थं कैयटेन निर्णीतम् । नित्यशाब्दिकमते राजपुरुषादीनि
वाक्यविषयपदसरूपावयवानि वर्णवदनर्थकोपलभ्यमानावयवानि तत्त्वतो निर-

१ इत्यादिषु वारणाय T. २ मनसि कृत्वाह D₁., D₂. ३ चेति K., D₂. ४ जहद-
जहत्स्वार्थं D. ५ इत्येतावद्भाष्ये D. ६ वेति D., D₁.

वयवान्येव केवलमसत्यप्रक्रियाश्रयेणान्वाख्यायन्ते नातस्तत्र जहदजहत्पक्षाव-
तारः । अतस्तत्रैकार्थीभाव एव । वाक्ये तु व्यपेक्षा । परस्परकाङ्क्षा च व्यपेक्षेति
प्रथमः पक्षः । कार्यशाब्दिकानां वाक्यादिकल्पेन वृत्तिनिष्पत्तिं मन्यमानानां
मते जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थपक्षविकल्पः । अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं त आहु-
रित्यादिना भाष्ये तथैव स्पष्टत्वात् । तत्र जहत्स्वार्था नाम राज्ञो विशेषणान्वय-
सहिष्णुतारूपप्राधान्यत्याग एव । तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं तक्ष-
कर्म जहाति न हिक्वितश्चेति इत्यादिना दृष्टान्तेन तथैव भाष्ये व्युत्पादितत्वात् ।
एकार्थीभावस्त्वत्र पक्षे राजपदेन राजपुरुषयोरुपादानसिद्धयर्थमङ्गीक्रियते ।
तदनभ्युपगमे राज्ञि विशेषणान्वयापत्तेः । अजहत्स्वार्था च राजांशस्यापरित्याग-
मात्रात् । भिक्षुकोऽयं द्वितीयां भिक्षां लब्ध्वा पूर्वां न जहाति संचयाय प्रवर्तत
इत्यादिभाष्येण तथैव लाभात् । अथवा पुरुषव्यावर्तकत्वमात्रेण राजांशस्यो-
पयोगाद्वाजपदं स्वार्थं जहात्येव । न चैतावता तन्निमित्तं विशेषदर्शनं निवर्तते
पुरुषे । न ह्यग्निसंबन्धजनितपाकरूपादिनिवृत्तिर्घटेऽग्निसंयोगे निवृत्ते भवति ।
अथवान्वयाद्विशेषणं भवति घृतघटश्चम्पकपुट ईतीत्यादिना भाष्ये तथैव
स्पष्टत्वात् । तस्माद्वृत्तिनिष्पत्तिवादिमते जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थान्तर्भावेण पक्षद्वयं
स्थितम् । व्यपेक्षावादस्तु स्वतन्त्र एवेति । हरदत्तस्त्वेकार्थीभावस्तावद्वाजपदेन
राजपुरुषोपस्थापनाय पुरुषपदेनाप्युभयोपस्थापनायावश्यकः । अन्यथा राज्ञः पुरु-
षोऽश्वश्चेतिवद्वाजपुरुषोऽश्वश्चेति राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्येतिवद्वाजपुरुषो देवदत्तस्य
चेति चापत्तेः । न पुनर्जहत्स्वार्थवृत्तौ राजपदानर्थक्यं युक्तं पश्यामः । तथा
सति राज्ञो बोधासंभवेन राजपुरुषमानयेत्यत्र पुरुषमात्रस्यानयनप्रसङ्गः । न
च राज्ञः प्रतीतये समासे शक्तिः कल्प्या । मानाभावात् । नापि राजपदं वाक्ये
व्युत्पन्नं पुनः समासे व्युत्पत्तिमपेक्षते । न वा राजबोधाय समासे व्युत्पत्तिप्र-
होऽपेक्ष्यते । तस्मादजहत्स्वार्थैव वृत्तिः । अर्थाभिधानप्रकारभेद इत्येव सांप्रतम् ।
एवं चैकार्थीभाववद् व्यपेक्षापि समासादौ । अन्यथैकार्थीभावमात्रमाश्रित्य द्रष्टुं
गतः कृष्णं श्रितो गुरुकुलं विष्णुमित्र इत्यादौ समासप्रसङ्गः । तस्मादेकार्थी-

१ भाष्यात्तथैव K. २ श्रुतितेत्यादिना K.; श्रुति इत्यादिना D₂. ३ राजांशस्या^० K.
४ इत्यादिना T. ५ देवदत्तस्य चेति वापत्तेः K.; देवदत्तवद्वाजपुत्रो देवदत्तस्य चेति चापत्तेः
D., D₁, Tr.

भावो व्यपेक्षाजहत्स्वार्था चेति त्रयं समुचितं परिभाषाप्रवृत्तिहेतुः । न चाथै-
तस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्यं योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्य इति
व्यपेक्षापक्षदूषणार्थकभाष्यविरोध इति वाच्यम् । व्यपेक्षामात्रवादे तद्दूषणा-
भिधानात् । न चैवमप्येकार्थीभावशून्ये पराङ्गवद्भावे विभक्तिविधाने च सा
न प्रवर्ततेति वाच्यम् । पराङ्गवद्भावे तन्निमित्तग्रहणात् । विभक्तौ क्रियाकारकसं-
बन्धविनाभावात् क्वचिदन्तरान्तरेण युक्त इत्यादौ युक्तग्रहणाच्च सर्वत्रादोषणै-
कार्थीभावशून्ये परिभाषाप्रवृत्त्यभावेऽप्यक्षतेः । अत एव संसृष्टार्थानां सम्ब-
द्धानामित्यादिना सामर्थ्यद्वयसमुच्चयो वृत्तौ ध्वनित इति व्युत्पादयांबभूव ।
अत्रेदं प्रतिभाति । न तावदाद्य एकार्थीभावोऽखण्डं समासमभ्युपेत्येति कैयटो-
क्तियुक्ता । अथ क्रियमाणेऽपि समर्थग्रहणे किं सामर्थ्यं नाम । पृथगर्थानामेका-
र्थीभावः सामर्थ्यम् । क पृथगर्थानि क वैकार्थानि । वाक्ये पृथगर्थानि समास
एकार्थानि इत्येकार्थीभावोपपादकभाष्यविरोधात् । न चाखण्डे पदानि सन्ति ।
येनैतत् स्यात् । तुल्ययुक्त्या वाक्यस्याप्यखण्डत्वापत्तेश्च । अन्यार्थाधर्जरतीयत्वा-
पत्तेः । ननु नित्यशब्दिकास्तु वृत्तिवाक्ये नित्ये विविक्तविषये मन्यन्त इति कैय-
टेनोक्तत्वादत्रेष्टापत्तिरिति चेत्तर्हि वाक्येऽप्येकार्थीभाव एव स्यात् । तथा च
वाक्ये व्यपेक्षेति भाष्यमसंगतं स्यात् । एवं वा वचनानर्थक्यमप्यनर्थकं स्यात् ।
व्यपेक्षायां समासो नैकार्थीभावे वाक्यं नेति विविक्तविषयत्वादनयोर्बाध्यबा-
धकभावो न भवति । एकार्थानां विकल्पनादिति कैयटेनैव तद्भावर्यस्योपवर्णि-
तत्वात् । न ह्यखण्डे वाक्ये परस्परकाङ्क्षारूपव्यपेक्षासंभवः । किं बहुना ।
वाक्यपदयोरखण्डत्वे तुल्ययुक्त्या स्थिते व्याकरणस्थविधिर्मात्रस्यालम्बकतापत्तिः ।
प्रकृतिप्रत्ययागमादेरसत्त्वात् । अथ पञ्चकोशकल्पनान्यायेन शास्त्रप्रवृत्तिः प्रकृ-
त्यादिकल्पनयेत्युच्यते । समर्थः पदविधिः सह सुपेत्याद्यपि शास्त्रान्तर्गतत्वात्
तदशयामेवेति कथमखण्डमभ्युपेत्य प्रवर्तताम् । तस्मान्नाखण्डपक्षश्रयणेन
प्रथमः पक्ष इति स्यादेव तत्रापि जहदजहद्विचारप्रवृत्तिः । एतेन यद्यपि शब्दा-
न्तरमेव वृत्तिरवयवा वर्णवदनर्थकास्तथापि सादृश्यात् तत्त्वाध्यवसानं पदाना-
माश्रित्य पृथगर्थानामेकार्थीभाव इत्युक्तमिति पूर्वमुदाहृतभाष्यावतारः कैय-
टोक्तो विद्वद्भिर्नोदरणीयः । अपि चोक्तरीत्या समासवद् वाक्येऽप्येकार्थीभावा-

भ्युपगमे व्यपेक्षायां सामर्थ्ये परिभाषायां च सत्यां यावान् व्याकरणे पदगन्धो नाम स सर्वः संगृहीतः समासस्त्वेकोऽसंगृहीतः । एकार्थीभावसामर्थ्ये च समासस्त्वेक एव संगृहीत इति भाष्यं समास एवैकार्थीभावोऽन्यत्र व्यपेक्षेति स्ववचनं च विरुद्धं स्यात् । वृत्ताविव वाक्येऽपि विशेषणयोगानापत्तेश्च । एतेन समासादौ व्यपेक्षैकार्थीभावयोः समुच्चयोऽपि हरदत्तोक्तोऽपास्तः । किं च जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थयोः समुच्चयोऽपि विकल्पमुखेनैव भाष्ये पक्षद्वयावतारात्तद्विरोधान्नादरणीयः । अपि च हरदत्तपक्षे राजपुरुषयोरप्युभयार्थत्वकल्पना व्यर्था । विशेषणान्वयनिरासस्य राजपदे तथा कल्पनेनैव वारणात् । राजपुरुषो देवदत्तस्य चेति वारणार्थं तथा कल्प्यत इति चेन्न । एवमपि राजपुरुषो गौर इत्यादिवत्तथा प्रयोगापत्तेर्दुष्परिहरत्वात् । अन्यथा राजपुरुषो गौर इतिवद्वैरस्य राजपुरुष इत्यपि स्यात् । भेदः संसर्ग इत्यादिना मूल एव निरसिष्यमाणत्वाच्च । तथा च न पुरुषपदस्योभयार्थतोक्तिर्युक्ता । नापि राजपदमात्रस्येति कैयटोक्तिरपि तथा । एकार्थीभावस्य पूर्वपदमात्रनिष्ठतापत्तेः समासनिष्ठतानापत्तेः । समासत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वात् । उभयनिष्ठत्वस्य चोक्तरीत्यासंभवात् । अपि चैवं पुरुषपदस्याप्युभयार्थत्वे राजपदे जहत्स्वार्थता किं न स्यात् । राजप्रतीतेः पुरुषपदादेवोपपत्तेः । राजपदस्य च तात्पर्यग्रहणार्थमुपयोगेनानर्थक्याभावात् । चम्पकपुट इत्यादिभाष्येणैवमेव लाभाच्च । अन्यथा तद्भाष्यासामञ्जस्यात् । संभवन्त्यामुपपत्तौ क्लिष्टकल्पनानवकाशात् । वक्ष्यते चान्यदुपरिष्ठात् । तथा च तस्मादजहत्स्वार्थैव वृत्तिरिति हरदत्तप्रौढिस्तद्रीत्यैवायुक्तेति परिभाष्यतां सूरिभिः । तस्मान्न कैयटहरदत्तादिभिरुक्तं युक्तम् । तस्मादेकार्थीभावो व्यपेक्षा चेति यत्पक्षद्वयं भाष्ये व्युत्पादितं तदेवाभिप्रेत्य जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थविचारः । एकार्थीभावे जहत्स्वार्था व्यपेक्षायामजहत्स्वार्था । एकार्थीभावश्च समासादौ । पृथगर्थानामेकार्थीभावः सामर्थ्यमिति भाष्यस्वरसादिति व्यवस्थां वयं विभावयामः । अत एवैकार्थीभावव्यपेक्षयोर्मतान्तरवेऽपि संशये कौटिल्योल्लेखजहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थयोस्तदन्तर्गतयोरपि विकल्पेनोल्लेखः संगच्छते । कथं तर्ह्यत्र पक्षेऽथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं त आहुरिति मतान्तरमवतार्य जहत्स्वार्थादिविचारो भाष्ये संगच्छत इति चेदुच्यते । नैतन्मतान्तराभिप्रायं भाष्यम् । विना समुदायशक्तिं जहत्स्वार्थाया विना व्यपेक्षामजह-

स्वार्थायाश्च दुर्वचत्वात् । किं तु वृत्तिलक्षणाभिधानाय प्रश्नरूपम् । अत एव परार्थाभिधानं वृत्तिमाहुरिति तल्लक्षणकथनं संगच्छते । अन्यथा मतान्तरे लक्षणनिर्वचनमेतदित्यभ्युपगमे । उक्तैकार्थीभाववक्ष्यमाणव्यपेक्षापक्षयोर्वृत्तिलक्षणानभिधानाभ्यूनतापत्तेः । तथा च ये एकार्थीभाववादिनो व्यपेक्षावादिनो वा वृत्तिं कृत्तद्धितैकशेषसमाससनाद्यन्तधातुरूपां पदविधित्वात् सूत्रे सामर्थ्यवत्त्वेन वर्तयन्ति किं ते वृत्तिलक्षणमाहुरिति प्रश्नग्रन्थार्थः । उत्तरयति । परार्थाभिधानमिति । परो विशिष्टो योऽर्थस्तदभिधानं शक्त्या लक्षणया आकाङ्क्षादिवशात् संसर्गमर्यादया वा यत्र सा वृत्तिः । एकार्थीभावे शक्त्या व्यपेक्षायां लक्षणया तदभिधानमस्त्येवेति भावः । तस्मादुक्तैव व्यवस्था भाष्यसिद्धेयमिष्येय तथैव स्पष्टयति । द्वे वृत्ती इति । कैयटादिरीत्यादरे च भेदाधिक्यस्यापि भावाद्भेदरदत्तरीत्या जहत्स्वार्थाविरहाच्च द्वे इत्ययुक्तं स्यादिति द्रष्टव्यम् । तत्रैकार्थीभावपक्षेऽपि जहत्स्वार्थता न युक्ता । राजादिपदानां कृत्शक्तित्यागयोगादित्याशङ्क्यामाह । जहत्स्वार्थेति । जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा जहत्स्वार्था । पदे वर्णवद्वृत्तौ पदार्थानामानर्थक्यमित्यर्थः । अयं भावः । समासादाववश्यकल्प्यारिक्तशक्त्यैव राजविशिष्टपुरुषबोधसंभवेन राजपुरुषपदयोरपि पुनस्तद्बोधकत्वं कल्प्यं वृषभयावकादिपदेषु वृषादिपदानामिव । अन्यथा रामादिपदेष्वपि द्रव्यचतुर्मुखनारायणादीनामवयवार्थानां पदार्थोपस्थितिशाब्दबोधयोरपत्तेः । क्तवत्त्वन्तर्गतक्तस्य जातीयान्तर्गततीयस्य वयपयचयतयगणान्तर्गतायस्य यजन्तर्गताजोऽप्यर्थवत्त्वापत्तेश्च । तथा च प्रौढ इत्यत्रैव प्रौढवानित्यत्र प्रादूहोढोढ्यैष्यैष्विति वृद्धेः पटुजातीययेत्यत्र तीयस्य डित्सु सर्वनामता वाच्येति सर्वनामतायाः ववथे पेये चये तेये नेये इत्यादीनां लिटि दयायासश्चेत्यामः बहिषष्टिलोपो यञ्च देवाद्ययजाविति सिद्धयोर्बाह्या दैव्या इत्यनयोष्टिङ्गणजित्यजन्तत्वात् ङीवापत्तौ पौढवान् पटुजातीयस्मै वयांचक्र पर्यांचके चयांचके तयांचके नयांचके बाहीको दैवीत्याद्यनिष्ठापत्तेः । इत्थमन्यत्राप्यनेकशो दोषापत्तिर्दुर्वारा । अस्माकमर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति परिभाषयैकदेशानामनर्थकानामग्रहणान्न दोषः । न च यजश्चेत्यनेन बाह्या इत्यादौ

१ °लक्षणानभिधानाभ्यूनतापत्तेः K. २ वर्णयन्ति D₂. ३ आकाङ्क्षावशात् D₃; Tr. omits आकाङ्क्षादिवशात् संसर्गमर्यादया. ४ सा एकार्थीभावे D₄. ५ °मानसंभवेन D₅. ६ °बोधोपपत्तेः T. ७ K. drops तेये नेये. ८ K. has पर्यांचके चयांचके नयांचके.

जीवापत्तिस्तत्रापि समा । तस्यापत्याधिकार एव प्रवृत्तेराकरे स्पष्टत्वात् । इत्थं चानेकशः प्रयोगेष्वतिप्रसङ्गापत्त्या स्वव्यापकशक्ततावच्छेदिकानुपूर्वीविरहविशिष्टानुपूर्वी शक्ततावच्छेदिका वाच्या । एवं च क्ववतुजातीयाद्यन्तर्गतकतीयाद्यानुपूर्वी न तादृशीति नोक्तदोषः । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति परिभाषोपपत्तिश्च । अन्यथा समुदायान्तर्गतैकदेशस्यापि स्वातन्त्र्येण क्वचिच्छक्तेः परिभाषाया विषयालाभेनासंभवापत्तेः । एवं च समासान्तर्गतराजादिपदानामपि प्रागर्थवत्त्वं समुदायानुपूर्वीवतोऽनर्थकत्वं वृषपदस्य केवलस्यार्थवत्त्वं न वृषभान्तर्गतस्येत्याद्युपपत्तौ नीलोत्पलं राजपुरुष इत्यादौ प्रत्येकपदजन्योपस्थितिमादाय नोद्देश्यविधेयभावान्वयो विशेषणान्वयापत्तिर्बोधावृत्त्यापत्तिर्वा । न चैवं निमित्तापायन्यायेनार्थवत्त्वनिमित्तकप्रातिपदिकत्वपदत्वयोरपि हान्यापत्तिरिति वाच्यम् । अकृतव्यूहाः पाणिनीया इति परिभाषातिरिक्तज्ञायास्वीकारात् । तस्याश्च निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तन्निमित्तं शास्त्रं न कुर्वन्तीत्यर्थः । प्रकृते च समाससंज्ञायां तयोरुपजीव्यतयावश्यकत्वेन कारणस्यावश्यकत्वात् । अत एव समाससंज्ञानिमित्तसुपो लुक्पि सा न निवर्तते । न चैवमपि कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्तीति परिभाषान्तरबलात् कृतस्यापि निर्वृत्तिर्दुर्बारा । प्रक्षालनादिपङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायेनाकरणस्यैव लाघवोपपृच्छतया युक्तत्वेन ततोऽपि गुण्या राजा इत्यादौ नलोपे सति तन्निमित्तकोपधादीर्घहान्यापत्त्या चैतस्याः सिद्धान्तासंमतत्वात् । अथैवमर्थवद्ग्रहणपरिभाषया नलोपसूत्रमपि राजेत्याद्यर्थवत्प्रातिपदिके चरितार्थं समासान्तर्गतेऽनर्थके न प्रवर्तते । अपि च वृत्तिमात्रेऽतिरिक्तशक्तेर्भवत्सिद्धान्तसिद्धत्वाद् व्यवस्थापयिष्यमाणत्वाच्च कृतद्वितान्तर्गतधातुप्रत्यययोरप्यनर्थकतापत्तिः । तथा च कर्तरि कृत् सास्य देवतेत्यादेरनर्थकतापत्तिः ।

‘प्रयोगोपाधिमिश्रित्य प्रकृत्यर्थप्रकारताम् ।

धर्ममात्रं वाच्यम्’

इति । यद्वा ‘शब्दपरादमी’ इत्यादि वक्ष्यमाणं मूलं च विरुद्धं स्यात् । केवलशक्तवत्त्वोरनर्थकत्वाविशेषात् प्रौढ इत्यत्रेव प्रौढवानित्यत्रापि वृद्धेस्तीयजाती-

१ समाना T. २ °च्छक्ते K., D₂. ३ विषयभावेन D. ४ °नासंभवितापत्तेः T. ५ वृषशब्दस्य T. ६ संज्ञाकरणस्यावश्यकत्वात् T. ७ °तद्वितान्तर्गते धातुं K. ८ वक्ष्यमाणमूलं T.

ययोरुभयोरनर्थकत्वात् षट्पञ्चातीयस्मा इति सर्वनामत्वस्य यज्जोरनर्थकत्वात्
 टिड्ढाणजिति डीपा द्वैपीदैवीवाहीति प्रयोगस्य तवाप्यापत्तिश्च तुल्या ।
 राजादिपदशक्तावच्छेदकगौरवं च तवातिरिच्यते । सार्वधातुकार्थधातुकयोरिति
 गुणः मृजेवृद्धिरिति वृद्धिः पात्राध्मास्थान्नादाण्दृश्यतिर्तिशदसदां पिबजिग्रध-
 मतिष्ठमनयच्छपदयच्छेदौशीयसीदा इत्याद्यादेशविधानादिकं चार्थवति तिङन्ते
 धातौ चरितार्थं कृदादौ न प्रवर्ततेति च तवाधिकमनिष्टम् । तथा च जयः नयः
 भवन् मार्ग्यः पिबः धम इत्यादिकं न सिध्येत् । यत्तु वृषण्वस्वयोरिति
 वार्तिकेन वृषणश्च वृषण्वसुरित्यत्र भस्मज्ञाविधानाज्ज्ञापकाञ्चलोपविधायर्थवद्ब-
 ह्णपरिभाषाप्रवृत्त्यसंभवः । अनेन हि भत्वं संपाद्यते न पदत्वं व्युदस्य पदा-
 न्तत्वाभावाञ्चलोपो वार्यते । सोऽयमर्थवत्परिभाषयैव निर्वाहे व्यर्थः स्यात् ।
 तथा च न समासे ऋलोकाप्रसक्तिः । वृत्तिमात्रेऽतिरिक्तशक्तावपि प्रत्ययानां
 विधानाय कल्पितमर्थमादायानुशासनमग्रिमत्वाद्यर्थविचारोऽर्थवत्परिभाषाप्र-
 वृत्त्या वृद्धयाद्यतिप्रसङ्गश्च न दुर्वारः । शक्तावच्छेदकगौरवं चागत्या पक्षता-
 वदाश्रयणीयम् । त्रसिगृधिष्टपिक्षिपेः क्लुरिति क्रोः क्तिरणाज्ज्ञापकादानर्थ-
 क्येऽपि धातुकार्यस्य ज्ञापनाच्च गुणवृद्धिष्णिवाद्यादेशानामप्रवृत्तिः । गुणनिषेधार्थं
 हि क्तिरणं गुणाप्राप्तावनर्थकं स्यात् । तस्मादवयवानर्थक्ये न दोष इति ।
 तच्चिन्त्यम् । ज्ञापकेन निर्वाहाभ्युपगमे टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचतयपठ-
 क्ठञ्कञ्कृपः दयायासश्च ब्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां ष इत्यादौ ठञ्-
 दयभ्राजग्रहणं व्यर्थम् । अञ्ज्यैर्राजग्रहणेनैव तेषां लाभादित्येकदेशग्रहणे
 समुदाया न गुह्यन्त इति ज्ञापनार्थं तेषां पृथग्रहणमित्यपि वक्तुं शक्यत्वेनैक-
 देशानामर्थवत्त्वेऽपि वृद्धयाद्यतिप्रसङ्गपरिहारसंभवात् क्लृप्तार्थवत्त्वत्यागायोगात् ।
 एवं च धातुकार्यार्थं न ज्ञापकाश्रयणम् । युक्तं चैतत् । अन्यथा केवलप्रत्ययानां
 प्रयोगाभावेन समुदायशक्तिव्यतिरेकेण स्वशक्त्या प्रत्ययैः क्वाप्यर्थाप्रत्यायना-
 दर्थवत्त्वकल्पनाया अपि निराकम्बनत्वादुक्तरीत्या ज्ञातीयादौ तीयादिकार्यस्य
 दुर्वारत्वापत्तेः । न च भ्राजिग्रहणं न ज्ञापकम् । राजिसहचरितफणादेरेव ग्रहण-
 सिद्धये तदुपादानात् । विभ्राक्विभ्राद् इति रूपद्वयसाधकत्वेन सार्थक्यादिति
 वाच्यम् । एवं हि पत्वस्य गणकार्यत्वापत्तौ यङ्लुक्प्रभावापत्तेः । साहचर्यस्य

१ द्वैपी is omitted in T. २ जय जय K. ३ T. omits वृषणश्च. ४ प्रवृत्तिः T.
 ५ अय D₁. ६ राजिग्रहणेनैव T; राजग्रहणेनैव K. ७ परिहार^o D., D₁. ८ स्वस्व-
 शक्त्या T. ९ T. drops ग्रहण. १० तदुपपादानात् T. ११ गणकार्यकत्वापत्तौ D.

नियामकस्य व्याख्यातुभिरनुक्तेष्व । एवं सत्यपि रूपद्वयेऽप्याग्रहश्चेत् सूत्रे राजपदं ऋकारान्तं पठ्यताम् । गणान्तरीयभाजेरकारान्तत्वमस्तु । तथा सति नागलोपिशास्वृदितामिति चङ्परिणादुपधाह्रस्वाभावस्य ऋकारकार्यस्य गणान्तरीयेऽकारान्ते प्रवृत्त्यसंभवेन तस्य णौ चङ्युपधाया ह्रस्व इत्यनेन ह्रस्वरूपस्यापि सिद्धौ तत्सिद्ध्यर्थं आजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्यामित्यत्र आजिग्रहणं न कार्यमित्यतिलाघवमपि लभ्यते । अस्तु वा गणान्तरीयभाजेरादावृकारः । तावतापि सूत्रे ऋकारान्तग्रहणेन केवलाग्रहणसंभवात् । सूत्रे राजपदमेव वा तत्रावृत्त्या राजिद्वयपरमस्तु । साहचर्यादेकदेशेन तस्यैव ग्रहणसंभवात् । एवं च शक्ततावच्छेदकलाघवानुरोधेनैकदेशोऽर्थवानेव । अत एव कृत्तद्धितविधिसूत्रेष्वर्थग्रहणं प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति कृदादौ सकलसिद्धा व्युत्पत्तिः । राजादिपदे समासात् पूर्वं नामत्वाद्यर्थमर्थवत्त्वं समासोत्तरमनर्थकत्वमिति पक्तेत्यादौ प्रत्ययोत्पत्तये धातुत्वमानेतुं क्रियावाचकत्वरूपार्थवत्त्वम् । प्रत्ययोत्पत्तौ वृत्तावनर्थकत्वमिति च विरुद्धकल्पनाभावः । पङ्कजपदादौ योगरूढिभ्यां तत्तच्छक्तिग्रहशालिनां बोधः

‘सत्यासक्तमनाः प्रबुद्धनरकच्छेदी द्विजेन्द्राश्रयो

यश्चानेकमुखोद्भवाश्रयतनुः श्रियत्र संराजते ।

यो गङ्गां च सदा विभर्ति स शिवो यः कामदेहाश्रयः

सद्यः सान्मयं प्रयातु भवतां कृष्णेन रुद्रेण वा ॥’

इति श्लेषप्राणकाव्ये बोधः । ओंकारे अकारोकारमकारैर्विष्णुत्वशिवत्वब्रह्मत्वादिना बोधस्तदर्थकाथर्वशिखाद्युपनिषत्पुराणादीनां ग्रामाण्यं च संगच्छते । अन्यथा सकलैतद्विष्णो योर्गुरुदयुच्छेदश्च स्यात् । नन्वेवं पाचयति देवदत्त इत्यादिगिजन्ते णिचः पूर्वभागस्यार्थवत्त्वे तदर्थभावनाया वर्तमानत्वादिविवक्षायां मध्ये तिबादिकं स्यात् । अस्माकमानर्थक्यादधातुत्वान्न प्रसङ्ग इति चेन्न । प्रत्ययः परश्चेति सूत्राभ्यां प्रत्ययः पर एव न केवलो व्यस्तो मध्ये वा भवतीति नियमान्मध्ये तिङुत्पत्तौ णिचः परत्वहान्यापत्त्या तदसंभवात् । विधानसमये धात्वव्यवधानसर्वेऽप्यग्रे तद्वाधेऽकृतव्यूहपरिभाषया पूर्वमेवाप्रवृत्तेः ।

१ ऋकारान्ते K. २ T. drops तथा सति. ३ °मित्याश्रित्य ष्वस्वविकल्पनादेव सिद्धेः D., D₂. (D. also notices the reading adopted in the text). ४ °संभवादिति रामानन्दस्वामिन आहुः T.; °संभवादिति तु रामाश्रमस्वामिनः प्राहुः D. ५ युक्तानेक° D₁. ६ योगरूढेरुच्छेदश्च D. ७ मध्ये D. ८ तत्र तदसंभवात् T.

विशिष्य विधानास्तु बहुचः पुरस्तादकचः प्रकृतिमध्ये शब्ददेः प्रकृतिप्रत्यय-
योर्मध्य उत्पत्तिर्नान्यत्र । अत एव पक्षेत्यादौ धातुत्वसत्वेऽपि मध्ये न तिङ् ।
किं च क्रोः कित्करणाज्ज्ञापकादानर्थक्येऽपि कृदादाविवात्रापि धातुकार्यं तवापि
दुर्वारमेव । रामादिपदे च प्रत्येकवर्णशक्तिग्रहवतां पदार्थोपस्थितिस्तात्पर्यं सति
वाक्यार्थबोधश्चेष्ट एवेति न कश्चित् प्रत्येकार्थत्वे दोषः साधकं च लाघवाद्युक्त-
मेवेति चेदत्रेदं प्रतिभाति । अवधृतशक्तिकानां पदैकदेशानामर्थवत्त्वे तेषामर्थ-
वत्सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञाविभक्त्युत्पत्त्यादिकं दुर्वारम् । अत एवार्थवत्पदं प्रत्ये-
कवर्णवारणायेति प्राचां ग्रन्थाः कालापे दुर्गोसिंहस्य संगच्छते । न चेष्टापत्तिः ।
तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यत इति न्यायेन प्रत्येकोत्तरसुपः प्रातिपदिकावयवत्वा-
ह्योपसंभवादिति वाच्यम् । धनं वनमित्यादौ झलां जशोऽन्ते नलोपः प्रातिप-
दिकान्तस्येति चापत्तेः । भास् दीप्तौ यास्तरास्त्वास् शब्दे दौस् दाने इत्या-
दावन्तर्गतभायारावादा इत्यादेरपि भा दीप्तौ या प्रापणे रा आदाने वा
गतिगन्धनयोः दाण् दान इत्यादौ क्रियावाचित्वदर्शनादर्थवत्त्वाद्धातुत्वापत्तौ
मध्ये तिङ्मुत्पत्त्यापत्तेश्च । न चैकाचद्विर्वचनन्यायेन धातुसंज्ञा समुदाय एव भवे-
न्नावयव इति वाच्यम् । समुदायद्वित्वेऽप्यवयवानां द्वित्वं संपन्नमेवेति तत्र
तथास्तु । समुदायस्य धातुसंज्ञायामपि प्रत्येकमवयवानां पर्याप्त्या तदभावादत्र
सा स्यादेवेति वक्ष्यमाणत्वात् । पङ्कजं पीताम्बरः चित्रगुः अणुधनः महागृहः
एकाक्षः पण्डितपुत्रः पुत्रवानित्यादौ पङ्कादिभिरन्यपदार्थस्याभेदान्वयापत्तेश्च ।
न च सति तात्पर्यं इष्टापत्तिः । शान्दव्युत्पत्तिमात्रोच्छेदापत्तेः । सर्वत्रैवं
संभवात् । स्वस्वशक्त्युपस्थापितयोर्विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धनामार्थयोरभेदान्वयस्य
च सति तात्पर्यं दुर्वारत्वात् । समुदायेऽवयवानर्थक्ये चार्थवत्त्वक्रियावाचित्व-
योरभावाच्च प्रातिपदिकधातुसंज्ञे इति न विभक्त्युत्पत्तिरभेदान्वयो वा । ठञ्द-
यादिग्रहणेनैकदेशे समुदाया न गृह्यन्त इति ज्ञापनेनैव निर्वाहेऽर्थवद्ग्रहणे
नानर्थक्येति पृथक् परिभाषाया व्यर्थत्वेनास्वीकाराच्च राजपुरुष इत्यादौ न-
लोपाग्रसङ्गे न वा तीयादिग्रहणे जातीयादिग्रहणमित्याद्यतिप्रसङ्गः । न चार्थ-
वत्परिभाषायाः पृथगस्वीकारे काशे कुश इत्यत्र शे इति प्रगृह्यत्वापत्तिः स्पष्ट-
श्चात्रार्थवत्परिभाषयैव निर्वाहो भाव्य इति वाच्यम् । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रति-

१ धातुत्वेऽपि D. २ प्रत्येकार्थत्वदोषः T. ३ दाण् दाने T. ४ पङ्कजं चैत्रः पीताम्बरः Tr.
५ पण्डितपुत्रवत् Tr. ६ °च्छेदापत्तिः D. ७ Before न चार्थवत् &c. D. has कृदादौ
पिशादादेशो वृद्ध्याद्यप्रसंगो वेत्युक्तप्रायम् ।

पदोक्तस्यैव ग्रहणमिति न्यायेनैवानतिप्रसङ्गे तदारम्भस्यान्यास्यत्वात् । सास्य
देवतेत्याद्यपि वैश्वदेवीत्यादिबोधकपदार्थानुशासनमवयवद्वारा लाघवोपायतया
लुः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः अहः खः क्रतुसमूहे प्राचां ष्फतद्धितः वृद्धाच्छः
दध्नुश्च कालादृञ् कलेर्दक् इत्यादिवञ् विरुध्यते । न हि लकारटगादिभ्यः
कदापि बोधः किंतु तिबीनायन्नीयादिभिः । एतदेवादाय प्रयोगोपाधीत्याद्यभि-
मादिविचारोऽपि प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति व्युत्पत्तिरप्येवमेव ।
समानानुपूर्वीकस्य तस्यैव राजपदस्य धातोश्च वृत्तेः प्रागानुपूर्वीशक्ततावच्छेदिका-
सीदित्यर्थवत्त्वम् । तद्दशायां च तद्भावान्नार्थवत्त्वमिति को विरोधः । यथै-
कस्यैव मणेः सिद्धेश्चोत्तेजकौषधसिषाधयिषादशायां न प्रतिबन्धकत्वं तद्भाव-
दशायां च प्रतिबन्धकत्वं सर्वसिद्धम् । पङ्कजपदेऽपि समासशक्तिवादिभिश्चि-
त्रगुः राजपुरुष इत्यादिवद्योगार्थमन्तर्भाव्यैव साभ्युपेयत इति न योगार्थबोधा-
नुपपत्तिर्योगरूढयुच्छेदो वा । वृक्षविशेषे शक्तेऽश्वकर्णपदे पुनर्योगार्थस्य
शक्तावननुप्रवेशात् केवलरूढतैव । अत एव सत्यासक्तमना इत्यादावप्यनेकार्थ-
शक्तसमासादनेकार्थबोधान्नानुपपत्तिगन्धोऽपि । न चैवमपि व्युत्पन्नानां श्वेतो
भावतीत्यादौ कुक्कुर इतो भावति शुभ्रो वा तथेत्यर्थद्वयबोधो न स्यादिति
वाच्यम् । प्रत्यहं विश्वेश्वरो दृश्यते इत्यत्र काक्का प्रभादर्शनोपहासानां तथात्ववत्

‘ द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तथा सौन्दर्यसारश्रिया

प्रोह्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं सादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोऽंशुकमधः क्षिते चले लोचने

वाचस्तच्च निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते ॥ ’

इत्यादौ प्रच्छन्नकान्तविर्षयाकृतविशेषबोधवच्चोपपत्तेः । ओंकारस्थले न समु-
दायशक्तिरस्ति येनावयवार्थानर्थक्ये दोषः स्यात् । न च ‘ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ’
इति भगवद्ब्रचनात् समुदायशक्तिसिद्धिः । एवं ह्यक्षरगतैकत्वस्यापि सिद्ध्यापत्ता-
वकारोकारमकाराणामप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । यदि चात्रेष्टापत्तिस्तदा प्रत्येकवर्णानामे-
वाभावात् कानर्थक्यपादनशङ्का । न च समुदायैक्यमादायैकत्वं तापनीयाथर्व-
शिखादिश्रुतौ

१ न्यायेनैवानतिप्रसङ्गभङ्गे तदारम्भं T. २ क्रतुहेतुसमूहे D. ३ त्रियादिभिः T. ४ प्रत्य-
यार्थप्राधान्यं T. ५ पङ्कजादिपदेऽपि D. ६ विषयाकृतं K., D., Tr. ७ ओंकारस्थले
च ‘ ओमित्येकाक्षरं ’ K., D., Tr. ८ वानर्थक्येन D., D₂. ९ समुदायशक्तिवदक्षरगतै-
कत्वस्यापि सिद्धेः प्रत्येकवर्णानामेवाभावात् कानर्थक्यपादनशङ्का K. १० तापनीयां K.

‘ततोऽभूच्चिदुदोक्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वरश्च’ ।

वृत्त्युपक्रम्य

‘तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्ब्रह्म ।

धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तये ॥’

इति भागवताद्यनेकपुराणादौ च वर्णत्रयस्य प्रतिपादितत्वादिति वाच्यम् । वर्णसमाम्नायादौ ऋषिभिर्व्यञ्जनस्यार्थमात्रिकत्वाभिधानात्मकारेण प्रश्नोपनिषदुक्तमात्रात्रयस्याथर्वशिखोक्तसार्थमात्रात्रयस्य प्रणवस्यार्थमात्रायामपि नादबिन्दुकलाविकलेति भेदस्य चानेकपुराणाद्युक्तस्यैवमप्यनुपपत्तेस्तुव्यतयोपासनार्थमेवाधमात्रादेरिव वर्णत्रयस्यापि कल्पनयैव श्रुत्यादौ तथा वर्णनस्योपपादनीयत्वात् । तथाप्यकारोकारमकारध्वनिभिः नारायणशिवब्रह्मायावच्छिन्नमेकमेवेश्वरचैतन्यमुच्यत इति न विरोधः ।

‘त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-

नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरपि दधत्तीर्णविकृति ।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणं गृणात्योमिति पदम् ॥’

इत्युच्यत एव संगच्छते । तस्मान्न कश्चिदवयवानर्थक्ये दोषः । यद्वार्थवत्त्वं क्रियावाचकत्वं च फलोपधानात्मकमेव वक्तव्यम् । अत एवार्थवत्सूत्रेऽर्थवत्पदमुन्मत्तवाक्येऽतिव्याप्तिवारण्येति दुर्गासिंहः संगच्छते । तथा च समासान्तर्गतराजपदादेरस्त्वानुपूर्वी शक्ततावच्छेदिकेति न गौरवम् । समुदायशक्तिज्ञानस्यावयवशक्तिज्ञानजन्यबोधप्रतिबन्धकत्वस्योक्तावयवे धातुसंज्ञाद्यतिप्रसङ्गवारणायवश्यकत्वात् स्वार्थबोधफलोपधानाभावरूपजहत्स्वार्थता सूचपादैव । अस्मिन्नपि पक्षे प्रागुक्तरीत्यार्थवत्परिभाषाया अस्वीकाराच्चातिप्रसङ्गाप्रसङ्गावित्यवधेयम् । एवं च जहत्स्वार्थतावशादेव नीलोत्पलम् अक्ष इत्यादौ नोद्देश्यविधेयभावान्वयो न वान्यपदार्थे त्रित्वस्य सत्यपि तात्पर्येऽन्वयबोध इत्यादिकं संगच्छते । ननु समुदायशक्तिनिबन्धनेयं जहत्स्वार्थता तादृशशक्तिमति समास एव भवेत् । तत् कथं वृत्तिमात्रे जहत्स्वार्थतेति सिद्धान्तो मूलं वा सामान्यतः संगच्छताम् । न च वृत्तिमात्र एवातिरिक्तशक्तिः सिद्धान्तसिद्धेति तन्निबन्धनेयमपि स्यादिति वाच्यम् । व्यपेक्षायां सामर्थ्ये परिभाषायां च सत्यां यावान्

१ °व्यक्तः T. २ गुणानामर्थं T. ३ °त्रातिप्रसङ्गादित्यवधेयम् K. ४ अक्षर इत्यादौ T.

व्याकरणे पदगन्धः स सर्वः संगृहीतः समासस्त्वैकोऽसंगृहीत इति भाष्यवि-
रोधादिति चेन्न । भाष्ये समासग्रहणस्योपलक्षणत्वात् । एकार्थीभावे वृत्तिरन्यथा
वाक्यमिति सिद्धेः समर्थानां प्रथमाद्वेत्यत्र समर्थग्रहणमकर्तव्यं क्रियत इति
समर्थसूत्रे भाष्यात् । समर्थपदं कृतसंभित्वार्थकमन्यथा व्यर्थत्वादिति तत्रापि
भाष्योक्तेश्च । पदविधिरिति लिङ्गाच्च । पदमुद्दिश्य यो विधिः प्रवर्तते तस्यैव
पदविधित्वात् । एवं च कृत्सु ये पदमुद्दिश्य विहितास्तत्रैव जहत्स्वार्थता नान्य-
त्रेति द्रष्टव्यम् । यथाश्रुते व्याकरणस्थसर्वविधीनां पदसंबन्धित्वाविशेषादव्या-
वर्तकतापत्तौ पदवैयर्थ्यापत्तेरिति दिक् । तथा चैकार्थीभाव एव जहत्स्वार्थता
सूपपादेति स एव जहत्स्वार्थपक्षः । नन्वस्मिन् पक्षे द्वन्द्वद्वौ युगपदधिकरण-
वचनता व्यर्था स्यात् । अहरहरित्यादावेकार्थीभावाभावेन समासाप्रसङ्गादिति
चेदिष्टापत्तिः । समर्थसूत्रे कथितव्यपेक्षावादिमते परं तदिति द्रष्टव्यम् । अतः
एव सेयं युगपदधिकरणवचनता दुःखा च दुरुपपादा चेति भाष्य एव स्वमतमभि-
प्रेत्योक्तम् । ननु विग्रहे सा नास्तीत्येवमभिप्रायं तदित्युक्तमिति चेन्न । समासे
तस्याः साधकस्य भाष्यकारैरन्यथासिद्धयुपवर्णनविरोधापत्तेः । तथा चायमर्थः ।
सेयं पूर्वमुत्पादिता युगपदधिकरणवचनता दुःखा समर्थसूत्रे दूषितव्यपेक्षावाद-
स्मारकत्वात् । दुरुपपादा दुष्टं निःसारमुपपादनं प्रमाणं यस्याः सा तथा ।
निष्प्रमाणेत्यर्थः । तथा हि न तावत् द्यावा क्षामेति व्यसि दशनात् समासे सा
स्वीकार्या । द्यावा क्षामेत्यस्य च्छान्दसत्वात् । नाप्यहरहरित्यादौ समासप्रसङ्ग-
वारणाय सा स्वीकार्या । समर्थः पदविधिरिति परिभाषयैव तद्वारणात् ।
धवखदिरावितीतरेतरयोगे भेरीपटहमिति समाहारे च पुष्पवन्तौ पश्येत्यादा-
विवैकपदोपात्तौ मिलितवेवान्वियातां न तु प्रत्येकम् । अन्यथा पश्य धवं खदिरं
छिन्द्वात्यादाविव पश्य धवखदिरौ छिन्द्वात्यादावपि प्रत्येकान्वयबोधापत्तिः । तथा
च साहित्यरूपेणोपस्थित्यर्थं शक्त्यभ्युपगमेनैकार्थीभावसामर्थ्यसत्त्वाद्भवति
समासः । अहरहरिति समुच्चये प्रत्येकं गवादेः क्रियान्वयेन विशिष्टशक्त्यस्वी-
कारेणासामर्थ्याच्च सः । एवमन्वाचयेऽपि द्रष्टव्यम् । भाष्यकारास्तु चार्थे द्वन्द्व इति
सूत्रेऽर्थवद्ग्रहणसामर्थ्यादेव तद्वारणमाहुः । अन्यथा चेद् द्वन्द्व इत्येवावश्यम् ।
तथा च समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहारेषु चार्थेषु समुच्चयान्वाचययोरर्थग्रह-

१ पदगन्धः T. २ भाष्योक्तेति दिक् D₉. ३ D₉ omits दिक्. ४ व्याप्तेर्दर्शनात् T.
५ मिलितवेवान्वयानां T. ६ अहरह इति D₉, D₁. ७ सामर्थ्याच्च D₉. ८ सूत्रेऽर्थग्रहणं
D₉, D₁, D₂. ९ अन्यथा च द्वन्द्व K. १० चार्थेषु is dropped in K.

गसामर्थ्याल्लभ्यस्य चेनैव यः प्रकाशितोऽर्थस्तत्र विद्यमानमनेकं सुबन्तं समस्यत
 इत्यर्थस्याभावात् समासः । प्रतीयते च गामश्चमित्यत्र समुच्चयो विनापि चका-
 रम् । भिक्षामटं गां चानयेत्यन्वाचये चानुषङ्गि पदं चार्थे वर्तते न प्रधानाभि-
 धायीत्यनेकं चार्थं न वर्ततेऽतस्तयोः समासाभावेऽपीतरेतरयोगसमाहारयोश्चा-
 र्थयोर्विवक्षायां समास इति चार्थे द्वन्द्व इति सूत्रादेशे लाभाश्लिष्टप्रमाणा सेति
 विभाव्यतां सूरिभिः । उक्तं च कैयटेनापि । दुःखेति प्रतीतावनुरोधात् ।
 दुरुपपादेति प्रमाणाभावात् । बृद्धव्यवहाराद्धि शब्दार्थाध्यवसायो न च लक्ष-
 शब्दस्य न्यग्रोधाभिधायित्वं दृश्यते । न च गौणार्थत्वं लक्षशब्दस्य । न्यग्रोध-
 शब्देनैव न्यग्रोधस्य प्रतिपादितत्वात् । न च लक्षन्यग्रोधावित्युक्तेऽर्थद्वयप्रतीते-
 रावृत्तिः । समासस्य चानेकार्थाभिधानात् ततः परयोर्द्विवचनबहुवचनयोरुप-
 पत्तिरिति द्विवचनबहुवचनान्यथानुपपत्त्यापि नास्ति युगपद्वाचिताप्रतिपत्तिरिति ।
 तद्वाजस्य बहुष्वित्यस्य बहुवचनान्तस्य तद्वाजस्य लुक् स्यात् तेनैव तद्वाजार्थ-
 नैव बहुत्वान्वयश्चेदित्यर्थः । । स च प्रत्येकं बहुत्वसमवायादुपपद्यते । अस्मिन्
 पक्षे सुबामन्त्रित इति सूत्रे समर्थः पदविधिरिति शब्दाधिकारमाश्रित्यानुवर्त्य
 व्यपेक्षारूपमर्थमादायोपपादनीयम् । व्यपेक्षावादमभिप्रेत्याह । अजहदिति ।
 न जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा तथा । अस्याभिप्रायः प्राक् प्रपञ्चितः ।
 नव्यास्त्वन्यथैवोपपादयन्ति । तथाहि । परस्परान्वयरूपा व्यपेक्षैव सामर्थ्यं
 सूत्रसिद्धम् । इसुसोः सामर्थ्यं इत्यादौ समर्थपदस्य तैथार्थवत्त्वकृतेः पराङ्गवद्भा-
 वानुरोधाच्च । अन्यथा पराङ्गवद्भावे एतत्समासादावेकार्थाभाव इत्युपगमे
 सूत्रस्यार्थभेदाद्वाक्यभेदापत्तेः । पुरुषो राज्ञो भार्या देवदत्तस्येत्यादौ राजभार्येति
 समासोऽप्यत एव न । न चात्रानभिधानात् समास इति भाष्योक्तं युक्तम् ।
 इसुसोः सामर्थ्यं इत्यादावपि तद्वैयर्थ्यापत्तेः । तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकमित्यत्र
 षत्वाभावस्यानभिधानादुपपत्तेः । किं चैवमिको यणचीत्यत्राज्ग्रहणानर्थक्यं
 स्यात् । हलि परे यणभावस्यानभिधानादुपपत्तेरिति । धवखदिरावित्यादौ
 चानेकमन्यपदार्थं चार्थं द्वन्द्व इति विध्यवैयर्थ्यासामर्थ्येऽपि समासः दध्यो-
 दन इतिवत् । अन्वाचयसमुच्चययोस्त्वर्थग्रहणसामर्थ्यादेव नातिप्रसङ्ग इति
 भाष्यसिद्धं प्रागवोचाम । नन्वत्र पक्ष ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यत्रापि समासा-
 पत्तिः । न च सविशेषणानामिति वार्तिकश्लोकारः । एवंविधानेकवचनकल्पने

१ चानुषङ्गिकं T. २ वृद्धस्य व्यवहारो D_१. ३ ऽदुपपद्यत इति D. ४ तथार्थवत्त्वे
 कृतेः T.; तथार्थकत्वकृतेः K. ५ इत्युपगमे D_१, D_२.

गौरवापत्तेः । अत एव व्यपेक्षापक्षमुद्वाध्यायैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽ-
सावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्य इति तन्मतदूषणाय भाष्यम् । विवृतं
चैतत् कैयटेन । यदि वृत्तावेकार्थीभावो नाभ्युपगम्येत तर्हि वाक्यवत् संख्या-
विशेषोपसर्जनविशेषणादीनां प्रसङ्गात् तदभावो वचनेन प्रतिपाद्यः । वावचनं
च कर्तव्यं समानार्थस्य वाक्यस्यानिवृत्त्यर्थम् । एवं निष्कौशाम्बिगौरवो
वृत्तघटो गुडधानाः सुवर्णालंकारो द्विदशाः सप्तपर्ण इत्यादिषु क्रान्तयुक्तपूर्ण-
मिश्रविकारसु च प्रत्ययलोपवीप्साजातिविशेषाभिधायित्वं वचनप्रतिपाद्यं स्या-
दिति गौरवप्रसङ्ग इति तस्मादयुक्तोऽयं व्यपेक्षापक्ष इति चेन्न । अस्माक-
मपि राजपदस्य राजसंबन्धिनि निरादीनां निष्क्रान्त्यादौ लक्षणाभ्युपगमेन पदा-
र्थैकदेशत्वाद्विशेषणलिङ्गसंख्याद्यनन्वयस्य लक्षणयोक्तार्थत्वात्क्रान्ताद्यप्रयोगस्य च
संभवात् । सा च निरुद्धलक्षणा नातौ लक्षणाद्यकरणे तथाप्रयोगोपासिः ।
लक्षणया तथा प्रतिपादने समासोऽन्यथा विग्रह इत्यपि स्वभावत एव स्यादिति
वावचनारम्भगौरवमपि नाशङ्कनीयम् । अत एवोक्तभाष्यकैयटार्थं मनसि विधाय

‘बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ।

स्यान्महद् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः ॥’

इति व्यपेक्षावाददूषणैकार्थीभावयोः साधनाय वक्ष्यमाणं मूलमपास्तमिति
वक्ष्यते । तस्मादयैतस्मिन्निति भाष्यं न तद्दूषणाय तदभावात् । किं तु
दूषणाय । अस्मिन् व्यपेक्षासामर्थ्यपक्षे योऽयमेकार्थीभावकृतोऽतिरिक्तशक्ति-
कृतो विशेषः स लक्षणया स्वयं विभाव्य वक्तव्यः । न तु मया पृथगुच्यते
व्यर्थगौरवभयादिति भावात् । एवं च दूषणपरतया व्याख्यन् कैयट उपेक्षो
विद्वद्भिः । अथ व्यपेक्षापक्षे समासस्यार्थवत्त्वाभावेन विद्वद्विद्वत् न स्यादिति
भाष्याशय इति चेन्न । समासग्रहणस्यासमर्थसमाससंज्ञाविधानाय विधर्मे-
त्वावश्यकत्वेन तत एव समाससामान्यस्यापि तत्संभवात् । न चासूर्यललाट-
योरिति ज्ञापकादसमर्थसमासस्य सा स्यादसूर्यललाटयोरित्यनेन चासूर्यशब्दे
उपपदे खलु विधीयते । उपोच्चरितं पदमुपपदम् । पदं च लुप्तित्तमिति
स्वीकारादिति वाच्यम् । एवं हि कृतद्वितान्तयोरपि ज्ञापकादेव

१ मुद्भाव्य T. २ लोपो वीप्सा° D₁, D₂. ३ नातो लक्षणाय is dropped in K.
४ वाचन° K. ५ व्यर्थग्रन्थगौरव° D₁, D₂. ६ भावः D₂. ७ व्याख्यानान् D₁
८ उपोच्चरितं K., T.

तस्मिद्धौ कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः । तथाहि । आतो धातो रित्यनेनाकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपो विधीयमानो धातोः साक्षात् प्रातिपदिकसंज्ञाविरहेण सुबन्तत्वाभावात् यच्च भमिति भसंज्ञाया अप्रवृत्तेरनुपपन्न इति किवादिप्रत्ययान्तस्य तामाक्षिपन् सामान्यात् कृदन्तमात्रस्य तज्ज्ञापयति । एवं तद्धितश्चासर्वविभक्तिरिति केवलतद्धितस्य धातुवत् पर्युदासेन प्रातिपदिकत्वाभावेन विभक्त्यन्तत्वविरहादसर्वविभक्तिरिति विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः । सर्वस्य तद्धितस्याव्ययत्वापत्तेश्च तद्विशिष्टस्य तामाक्षिपन् सामान्यात् तद्धितान्तमात्रस्य तज्ज्ञापयति । ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रेति न्यायात् कृत्तद्धितान्तमात्रस्य सा न स्यादिति चेत् तर्ह्यश्राद्धभोजी ब्राह्मणः अनचि च सर्वचर्मणः कृतः खखनावित्यादेरप्यसाधुतापत्तेः । असूर्यललाटयोरिति ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वात् । अथ मूलकेनोपदंशमित्यादौ प्रातिपदिकत्वापत्तिः कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणमिति परिभाषया तस्य कृदन्तत्वात् । तथा च तद्वारणाय जन्मवानिति संग्रहाय च यत्र संघाते पूर्वो भागः पदमुत्तरश्च न प्रत्ययस्तस्य नेत्यपि वचनं कर्तव्यमिति गौरवं स्यादिति समासग्रहणमेव तदर्थमस्तु । एकार्थीभावमन्युपेत्यार्थवत्सूत्रेण समासस्य संज्ञास्त्विति चेन्न । अधातुरिति पर्युदासबलादेव पूर्वसूत्रेऽर्थवत्त्वलाभसंभवेन व्यर्थस्यार्थवत्पदस्यैवंविधनियमार्थत्वसंभवे पृथङ् समासे शक्तिकल्पने गौरवात् । न चोत्तरसूत्रे तदन्तत्वसिद्धयर्थ्यभावशयकस्यानर्थक्यविरहात् कथं नियामकत्वमिति वाच्यम् । उत्तरार्थस्यापीह किञ्चित् त्रपो इति न्यायेन नियमार्थताया वक्तुं शक्यत्वात् । विनापि तदन्तत्वस्य केवलानां कृत्तद्धितानां संज्ञाया निष्प्रयोजनत्वेन इतरडतमान्तयोरिव लाभसंभवाच्च । अन्यथा केवलडतरडतमयोरपि सर्वनामसंज्ञापत्तेः । केवलप्रयोगाभावेन सा निष्फलेति चेत् तुल्यम् । किं चार्थवद्ग्रहणालुप्युक्त्या कथं तदन्तत्वसिद्धिः । केवलकृत्तद्धितयोरपि तत्तद्विध्यनुरोधेनार्थवत्त्वाक्षतेः । अन्यथा प्राद्वहोढोळेपैत्येप्यित्यत्र प्रौढ इति क्तान्तवत् प्रौढवानिति क्तवत्त्वग्रहणस्य तीयस्य ङित्सु सर्वनामताया द्वितीयस्या इत्यादाविव पटुजातीयावेत्यत्राप्यापत्तेश्च । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्येति परिभाषाप्रवृत्तेरुभयोरनर्थकत्वादसंभवात् । अथ इतरडतमयोः संज्ञा व्यर्थेति तदन्तत्वसिद्धिरस्तु । इह च केवलकृत्तद्धितयोः संज्ञायां फिषोन्त

१ °माक्षिपन् K. २ °माक्षिपन् K. ३ नियमार्थत्व° D. ४ केवलयोः प्रयोगाभावेन T.
५ संज्ञायाः K.

उदात्त इति स्वर एव प्रयोजनम् । न च प्रत्ययस्वरेण बाधास्तत्संभवः । येन नाप्राप्तिन्यायेन प्रातिपदिकस्वरस्य सुबधातौ धातुस्वरवत् प्रबलत्वात् । एवं प्रक्रियादशायां कल्पितमर्थवत्त्वमादायार्थवद्ग्रहणपरिभाषा सूपपादा । कृत्तद्धितौ यावर्थवन्तावित्यन्वये प्राशस्त्यार्थकमतुषा प्रशस्तार्थवत्त्वं लभ्यते । तच्च प्रत्ययाज्ञानेऽपि समुदायव्युत्पन्नानां बोधात्तस्यैवेति सिध्यत्यर्थवत्पदेन तदन्तत्वमिति चेत्तद्धितवदप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्येवोपपत्तावधातुरिति धातुप्रत्ययपर्युदासवैयर्थ्यापत्तिः । तयोः प्रशस्तार्थवत्त्वाभावात् । सुबन्तानामेव प्रशस्तार्थवत्त्वादाम् इत्यादेरनापत्तेश्च । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्त्वं च केवलप्रत्ययेऽपि समम् । नास्तस्तेन तदन्तत्वसिद्धिः । वस्तुतस्तु शशशृङ्गं नास्तीत्यादौ शशशृङ्गशब्दस्य संश्लिष्टद्वये समासग्रहणं विध्यर्थमेवोचितम् । अन्यथा सा न स्यात् । अर्थाभावेनार्थवत्त्वाभावात् । किं च यदि वृत्त्यार्थप्रतिपादकत्वमर्थवत्त्वं सूत्रे गृह्यते तर्ह्येकार्थीभावस्य त्वया वृत्तिभात्रे स्वीकारात् कृत्तद्धितान्तयोरपि तेनैव संग्रहात् सुबन्ततिङन्तयोरेकार्थीभावाभावेनासंग्रहादर्थवत्सूत्रे प्रत्ययान्तपर्युदासस्य कृत्तद्धितसूत्रवैयर्थ्यस्य चापत्तिर्दुर्वीरा । कृद्ग्रहणाभावे च मूलकमित्यादिष्वतिप्रसङ्गासंभवाच्च नियमार्थमपि समासग्रहणावश्यकत्वमिति विभावयामः । तस्मान्न कश्चिद्व्यपेक्षापक्षे दोषः । अयमेव पक्षो नैयायिकाद्यङ्गीकृत इति स्फुटीकरिष्यामः । एतन्मत एव वाप्यथ इत्यादावीदृतौ च ससन्त्यर्थ इत्यत्रार्थग्रहणसामर्थ्यादीदृढन्तस्य ससन्त्यर्थमात्रपर्यवसन्नत्वलाभात्तदभावाच्च प्रगृह्यसंज्ञेति भाष्ये स्थितं संगच्छते । तस्मात् परस्परान्वये योग्यतारूपा व्यपेक्षैव सामर्थ्यम् । तच्च पदानां स्वार्थत्यागे न संभवतीत्यजहत्स्वार्था व्यपेक्षा चैकैव । तथा चात्र मते लक्षणानि नासंभवीनीत्याशङ्का सुदृढेति भावः । नन्वत्र पक्षद्वयेऽपि पुरुषांशप्राधान्यसत्त्वाद्वाजपुरुषः सुन्दर इतिवद्वाजपुरुषो देवदत्तस्य चेत्यपि स्यादित्याशङ्कां निरसितुमाह । ते पुनरिति । वृत्तिद्वयमपीत्यर्थः । तत्र हेतुं प्रदर्शयन्नेव विभजते । भेद इत्यादि । वाच्यत्रैविध्यादेव त्रैविध्यमिति भावः । भेदः अन्योन्याभावः । तथा च राजपुरुष इत्यादावराजकीयभिन्नः पुरुष इति बोधः । तथा चैतद्विरोधाद्योक्तप्रयोगापादनमिति भावः । संबन्धमात्रभानमिति पक्षे त्वाह । संसर्ग इति । तथा च राजसंबन्धीति बोधः । अत्र पक्षे भेदस्य पूर्वमते संसर्गस्य भानमानुमानिकं तद्विरोधान्नातिप्रसङ्ग इति भावः । भेदसंबन्धयोरुभयोरपि

शाब्दं भानमिति मते त्वाह । उभयं चेति । तथा चाराजकीयभिन्नः राजसंबन्धी च पुरुष इति औपगव इत्यत्रानुपगवपत्यभिन्नस्तदपत्यं चेति बोधः । यद्यपि संसर्गमपेक्ष्य भेदो गुरुस्तद्वोधश्च मानसोऽपि संभवति तथापि बोधकत्वं शक्तिः सा चैतद्वोधस्योत्तरकालिकत्वे मानाभावाच्छाब्दयामीत्यनुव्यवसायान्मानसत्वे नियतनिर्णयासंभवार्थं निर्वाधेति द्रष्टव्यम् । पक्षत्रयमप्येतत्समर्थसूत्रे स्पष्टमाकरे । नन्वेतद्वाच्यरूपं त्रिविधं सामर्थ्यं वाक्यमात्र एवेति वाक्ये तावत् त्रेधा सामर्थ्यमित्यादिना शाब्दकौस्तुभे सूचितत्वाद्बुद्धेस्त्रैविध्यं कथमत्र संगच्छतामिति चेत् सत्यम् । अथवा समर्थाधिकारोऽयं वृत्तौ क्रियते सामर्थ्यं भेदः संसर्गो वेत्यादिना आहत्य आप्ये वृत्तावेव त्रिविधसामर्थ्यलाभेनादोषात् । वस्तुतस्तु वृत्तावेव तत् त्रितयं युक्तम् । न तु वाक्ये । तथा सति राजपुरुषो देवदत्तस्य चेतिवद्वाङ्मयः पुरुषो देवदत्तस्य चेत्यपि न स्यात् । शाब्दकौस्तुभेऽपि वाक्ये वृत्तिवाक्ये इति व्याख्येयमिति दिक् । परे पुनर्जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थयोर्लक्षणावृत्तिविशेषत्वं मन्यमाना यत्र शक्याशक्योपसंग्राहकं रूपं लक्ष्यतावच्छेदकं साऽजहत्स्वार्था । यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां भूवादयो धातवः लम्बकर्णमानयेत्यादौ दध्युपधातकत्वक्रियावाचित्वसंभवायादिसंबन्धादिकमादाय लक्षणायाम् । अन्यत्र जहत्स्वार्थेति । अन्ये तु नायं विभागः । तथा सत्येकस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्वे शक्यस्य कर्णादेर्विशेष्यतापत्तेः । किं तु यत्र विधेयविशेषणतया शक्यस्यान्वयस्तत्राजहत्स्वार्था । यत्रोपलक्षणतया तत्र जहत्स्वार्था । चित्रगुरित्यत्र चित्रगोसंबन्धिधत्वेनोपस्थितावप्युपलक्षणतया जहत्स्वार्थेति । यत्रैव यथाकथंचिच्छक्यान्वयस्तत्राजहत्स्वार्था यत्र च न कथंचिदपि तत्र जहत्स्वार्थेत्यपि केचित् ॥ ३० ॥

एकार्थीभावे समास एकः संगृहीतो न व्यपेक्षायामिति भाष्यादेकार्थीभाव एव सिद्धान्तसंमतः । राज्ञः पुरुष इति वाक्यप्रतिपाद्यार्थस्य विशिष्टरूपेण शक्या प्रतिपादनं च तत्त्वम् । व्यपेक्षावादिमर्तं च युक्तिभाष्यविरोधादयुक्तमेवेति तन्मूलको लक्षणानामुक्तिसंभवोऽप्ययुक्त इति समाधिं हृदि निधाय भाष्यकारमते समासेऽतिरिक्तां शक्तिं साधयन् समर्थयते ।

१ उभयं वेति T. २ After this and before निर्वाधेति K. adds गौरवस्य प्रामाणिकत्वाद्वापापो भावनेति कारिकोक्तरीत्या प्रयोजकत्वाच्च. ३ संग्राहकरूपं T. ४ समवायादिकसंबन्धा° D. ५ विधेये विशेष° T. ६ जहत्स्वार्थेति T. ७ स्वार्थान्यत्र K.

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत् ।

बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ॥

स्यान्महद्गौरवं तस्यादेकार्थीभाव आश्रितः ॥ ३१ ॥

तथाहि । चित्रगुरित्यत्र चित्रगोस्वामिनो राजपुरुष इत्यत्र राजसंबन्धिनः संबन्धस्य वा उपकुम्भमित्यत्र कुम्भसामीप्यस्य ध्वजखदिराचितीतरेतरद्वन्द्वे साहित्यस्य पाणिपादमिति समाहारे पदार्थानां बहुत्वादेकवचनान्वयार्थं समाहारस्य प्रतीतये शक्तिरूपेणैवेति भावः । अत्र व्यपेक्षावादिनो नैयायिकादयः । न तावद्बहुव्रीहौ शक्तिः । लक्षणयैवोपपत्तेः । यद्यपि चित्रगुरित्यादौ चित्रपदलक्षणायां गोष्पिश्रान्वयानुपपत्तिश्चित्रपदस्य तत्त्वान्वयार्थकत्वेन तस्य पदार्थैकदेशत्वात् । गोपदलक्षणायां गवि चित्रान्वयो न स्यादिति लक्षणा न युक्ता तथापि पदद्वयस्यपि लक्षकम् । परस्परं तात्पर्यग्राहकत्वाच्च नान्यतरवैयर्थ्यमिति संप्रदायः । वस्तुतस्तत्त्वरूपदे एव लक्षणा । अत्रयानां संनिहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वबुत्पत्तेः । ननु तथाप्यन्यपदार्थं नियततात्पर्याच्छक्तिरेव तस्य शक्तिमात्रनिर्वाहत्वात् । न च तदेवासिद्धम् । अत एव लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीत्यत्र नान्यपदार्थं तात्पर्यं ग्राहत्वादिति पूर्वमीमांसायां निरूढमिति वाच्यम् । तर्हि तत्र तात्पर्यभावात्तव लक्षणापि न स्यादिति चेन्न । निरूढलक्षणापि तन्निर्वाहादिति नव्याः । तथा तत्पुरुषेऽपि राजपुरुष इत्यादौ राजपदस्य संबन्धनि लक्षणयोपपत्तौ न शक्तिः । नन्वनुपपत्तिं विना कथं लक्षणेति चेत् यदि न लक्षणा तर्हि राजपुरुषयोरभेदान्वयबोधः स्यात् । तथा राजवाहनमित्यत्रापि । किं चैवं राजसंबन्धभिन्नः पुरुष इति बोधो न स्यात् । तस्याव्राजपदस्य तत्संबन्धनि निरूढलक्षणा । नियततात्पर्यानुरोधात् । न तु पष्ठयर्थलक्षणा । राजसंबन्धरूपः पुरुष इति बोधापत्तेः । समानाधिकरण इति व्युत्पत्तेरिति केचित् । राजसंबन्ध एव लक्षणा षष्ठ्या संबन्धलात्रस्य विवरणात् । न चोक्तरीत्याऽभेदान्वयापत्तिः । षटो नेत्यत्र व्यभिचारेण तथा व्युत्पत्तेरसिद्धेः । नञः स्थले भिन्नैव व्युत्पत्तिरिति चेन्न । समासेऽपि तथा संभवादित्यन्ये । कर्मधारये च न शक्तिर्न वा लक्षणा पदार्थयोः पदाभ्यामभेदस्य च संसर्गतया लाभात् । अत एव षष्ठीतत्पुरुषापेक्षया कर्मधारयो लघ्वीयानिति निपादस्थ-

प्रत्यधिकरणे स्थितम् । उपकुम्भमित्यत्रापि सामीप्ये लक्षणयोपपत्तौ न शक्तिः । पाणिपादमिति समाहारेऽपि समाहारे लक्षणयोपपत्तौ न शक्तिः । स चैकबुद्धय-
वच्छिन्नत्वं सेनावनादिनत् तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं वेति चोभयोः सममिति
वदन्ति । अपरे तु पाणिपादमित्यादौ पदार्थमात्रप्रतीतेर्न समाहारे शक्तिर्लक्षणा
वा । तदप्रतीतिः । न च पाणिपादयोरनेकत्वाद् द्विवचनापत्तिः । अनुशासनादत्र
द्विवचनादेरसाधुत्वादित्याहुः । भवत्वादिरावित्तिरेतरद्वन्द्वादावपि लक्षणयैवो-
पपत्तौ न शक्तिः । न च साहित्यलक्षणायां चैत्रमैत्रौ गच्छत इति द्वित्वगमनादे-
रन्वयो न स्यात् साहित्ये तदभावाद्यिति वाच्यम् । इतरेतरद्वन्द्वे सहितस्य
पदार्थस्यैव विशेष्यत्वात् । तस्य च द्वित्वादौ योग्यत्वात् । अत एवेतरेतर-
द्वन्द्वसमाहारयोर्भेदः । तत्र साहित्यस्य विशेष्यत्वात् । अत एव तस्यै-
कत्वादेकवचनम् । अत्रापि पूर्वपदे लक्षणा । प्राथम्यात् । न चैवं तस्या-
प्रकृतित्वाल्लक्ष्ये विभक्त्यर्थान्वयो न स्यादिति वाच्यम् । समस-
मानपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वस्यैव स्वीकारात् । सर्वसाधारण्यात्पूर्वोक्त-
रीत्यादरे चोत्तरपद एव सास्त्विति संप्रदायः । नात्र शक्तिर्न वा लक्षणा ।
एकस्थूलारूढपदद्वयात् स्वस्वशक्त्यर्थयोरेकदा स्मृतिसंभवादुपस्थिते तत्र
द्वित्वान्वयसंभवाच्च । साहित्यमप्येकक्रियान्वयित्वमत्र एवावगम्यत इति न तद-
र्थमपि शक्तिर्लक्षणे । विभक्त्यर्थान्वयस्यापि त्वदुत्तरीत्येवोपपत्तेः । न च विभक्ते-
रेकमात्रपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वादुभयत्र द्वित्वान्वयो न स्यादिति वाच्यम् । मा-
त्रपदान्तर्भावेण मानाभावाद्द्वैतवाच्च व्युत्पत्तेरसिद्धेः । न चैवमपि योग्यतावच्छे-
दकं साहित्यमन्तरेण द्वित्वान्वयासंभवात् साहित्यलक्षणा । योग्यतावच्छेदकोप-
स्थितेरनपेक्षणात् । उपस्थिते योग्य एव तदन्वयनियमात् । अत एव घटेन जल-
माहरेत्यत्र च्छिद्रेतरस्यैव योग्यताबलादन्वयः । किं च द्वित्वादिरूपप्रत्ययार्थान्वये
प्रकृत्यर्थतावच्छेदकमेव योग्यतावच्छेदकम् । अव्यभिचारात् । छेदनादिपदार्था-
न्तरान्वयेऽपि तदेव तथा । नन्वेवं क्षौमे वसानावग्निमादधीयातामित्यत्र समु-
च्चित्तयोरधिकारो न स्यात् । तेन रूपेणानुपस्थितेरिति चेन्न । उत्तरीत्यादधी-
यातामित्यनेन पश्चात् साहित्ये बुद्धे सहितयोरधिकारबोधसिद्धेः । यत् कर्तव्यं
तदनया सहेत्यनेन सिद्धत्वाच्चेति नव्याः । एवमन्यत्रापि लक्षणयोपपत्तौ न श-

१ चोति K. २ द्विवचनाद्यापत्तिः T. ३ साहित्येन T. ४ उपस्थितेः D.
५ लक्षणयैवोपपत्तौ D.

किरित्याहुः । तान् निराचष्टे । पङ्कजशब्दवदिति । पङ्कजशब्दस्यैवप्रत्ययस्यापि पञ्चत्वरूपेण पञ्चे लक्षणयोपपत्तौ न रूढिः सिध्येदिति भावः । न च पङ्कजपदा-
द्यियमेनोपस्थितेः प्रामाणिकानां शक्तिव्यवहाराच्च शक्तिरिति वाच्यम् । तुल्यत्वा-
त् । कथमन्यथा निरुद्धलक्षणेति संगच्छते । यत्तु पङ्कजपदे न रूढिरिति दृष्टा-
न्तासिद्धिमाहुः प्राभाकरास्तत्र । रथकारवत् संभवात् । तथापि रूढ्यस्वीकारे रथ-
काराधिकरणहानिरिति ॥

ननु पङ्कजपदस्येऽवयवमजानतोऽपि बोधादवयवशक्तिमविदुषोऽपि
बोधाच्च न लक्षणया निर्वाहः । न चैवं चित्रगुरित्यादौ रथकारादावपि
प्रकारान्तरबलात्तथेत्यतः समाध्यन्तरमाह । बहूनामिति । अथात्र
वृत्तेर्धर्मा विशेषणलिङ्गसंख्याद्ययोगादयः । तेषां वचनैः साधने गौरवम् ।
तदर्थं वचनारम्भे गौरवं तस्मादेकार्थीभावः । अखण्डशक्तिरूप इत्यर्थः । अयं
भावः । यदि लक्षणाभ्युपेयते तदा शोभनायां गङ्गायामित्यादौ लाक्षाणि-
केऽपि संख्यालिङ्गविशेषणाद्यन्वयवद्वाजपुरुष इत्यत्र राज्ञः चित्रगुरित्यत्र
चित्रे गवि च उपकुम्भमित्यत्र कुम्भे पाणिपादमित्यत्र पाण्यादौ औपगव इत्य-
त्रोपगोः पक्षेत्यत्र पाके इत्येवमादिषु शोभन इत्यादिविशेषणानां लिङ्गसंख्याका-
रकाणां च यथायथमन्वयप्रसङ्गादिति । अथ सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा
विशेषणयोगो नेति वार्तिकाशायं दोष इत्यत आह । वचनैरिति । गौरवमित्यन्ते-
नान्वयः । न्यायेनैवार्थसिद्धौ वार्तिकवैयर्थ्यादिति भावः । अत एव प्रत्याख्यात-
मेतज्जाप्य इति व्याचक्षते तच्चिन्त्यम् । लक्षणापक्षेऽपि राज्ञः पदार्थैकदेशत्व-
सत्त्वेनान्वयासंभवात् । शोभनायां गङ्गायामित्यत्र च गङ्गापदस्यैव शोभनगङ्गा-
तीरलक्षकत्वं पदान्तरं तात्पर्यग्राहकमिति लक्षणावादिनां मतमिति न दोष इति
दिक् । तस्मान्वाजपुरुष इत्यादौ लक्षणां विना प्रथममुपपादितं संविधानात्
संसर्गलाभ इति आप्यसिद्धं मतमनेन दूष्यत इति भावार्थो वर्णनीयः । एतन्मते
राज्ञः पदार्थैकदेशत्वाभावेन विशेषणाद्यान्वयो दुर्वार एवेति भावः । एवं चाथै-
तस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्य इति
आप्यम् । यदि वृत्तावेकार्थीभावो नैवमुपगम्येत तदा वाक्यवत् संख्याविशेषो-
पसर्जनविशेषणाद्यन्वयः स्यादिति तदभावो वचनेन प्रतिपाद्यः वाच्यत्वं च

१ पङ्कजपदवदिति K. २ तत्र K. ३ विशेषणान्वय° K. ४ विशेषणानां T.
५ मतेन D. ६ नाम्युपगम्यते K., Tr., D. ७ विशेषणान्वयः K.

कर्तव्यं समानार्थकवाक्यस्यानिवृत्त्यर्थमिति तद्व्याख्यायां कैयटश्च आप्योदाहृतानां
लक्षणात्मस्वाङ्गिणीनां व्यपेक्षावादिनां मत इति बोध्यम् । स्पष्टं चैतच्चद्विदां तत्र
तथैव । वचनैरित्यादि प्राग्वत् । न च ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यादेः साधुतावारणाय
वार्तिकं तवाप्यावश्यकमिति वाच्यम् । नसा सुन्दरः बटो नित्यः जातिरित्या-
देर्विना लक्षणां पुत्रे घटश्चे चान्वयमादाय साधुतावारणाय पदार्थैकदेशान्वये
वाक्यस्यासाधुत्वस्य सामान्यत एव निर्णीतत्वादिति भावः । इदमुपलक्ष-
णम् । वार्तिकान् तादृशप्रयोगसाधुत्वनिराकरणेऽपि शाब्दबोधस्तादृश-
प्रयोगात् दुर्निवार इति शक्तिस्वीकार आवश्यक इत्यपि द्रष्टव्यम् ।
अथातिरिक्तशक्तिपक्षे कथं तदनन्वय इति चेदुच्यते । एकदेशे निरा-
काङ्क्षत्वाच्च तत्रान्वय इति । तथाहि । राजपुरुष इत्यत्र राजा चित्रगुरित्यत्र
चित्रादि उपकुलसमित्यत्र कुलः पाणिपादमित्यादौ पाण्यादि पदार्थैकदेशः ।
तत्र च नान्वयः पदार्थः पदार्थेन संबध्यते न तु तदेकदेशेनेति व्युत्पत्तेः । अथ
चैत्रस्य नसा चैत्रादन्यो देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यत्र विशेषणेऽप्यन्वयवदत्रापि किं
न स्यादिति चेन्न । नसृत्वं स्वजन्यजन्यत्वम् । तत्र स्वजन्यपुत्रसंबन्धेन नसृत्तैव
चैत्रादेरन्वयः । अत एव घटादन्य इत्यत्रापि स्वप्रतियोगिभेदसंसर्गैर्नान्वय
इति दृष्टान्तासिद्धेः । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘समुदायेन संबन्धो येषां गुरुकुलादिना ।

संसृष्टयावयवांस्ते तु युज्यन्ते तद्वत्ता सह ॥’

इति । अत एव समाहारे पाणिपादमित्यत्र समाले शक्तिसिद्धौ पाणिपादं
वादयेत्यादौ समाहारे विशेष्ये वादनकर्मत्वान्वयासंभवात् परस्परया तत्रान्वय
इति न दोषः । यद्वा ससंबन्धिकपदार्थस्थल एवैकदेशान्वयः । तथैव व्युत्पत्तेः ।
तथा च वाक्यपदीयेऽप्युक्तम् ।

‘संबन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।

वाक्यवत् सा व्यपेक्षास्य वृत्तावपि न हीयते ॥’

इति । पक्षद्वयमप्येतत् समर्थसूत्रे आप्ये स्पष्टम् । यत्तु स्वीकृतायामपि वृत्तौ
राजपदाद्युपस्थापिते तदन्वयस्तत्रापि दुर्वार इति तज्जहत्स्वार्थेति कारिकायां

१ ध्येयम् D. २ तता K. ३ °रित्यादिःविना K. ४ दुर्वार D. ५ चित्रादि :D.
६ W तत्र चान्वयः D. ७ तम K. ८ व्यपेक्षा हि D.

निरस्तम् । तस्मान्न कृतशक्त्योपपत्तिरिति शक्त्या लक्षणया वा विशिष्टार्थबोध-
कत्वरूप एकार्थीभाव आवश्यक इति भावार्थ इति विभावयामः । यद्वा न
प्राचीनवैयाकरणोक्तरीत्या कृतशक्त्योपपत्तिर्न वा नैयायिकादिरीत्या लक्षणयेति
सर्वत्र समासादौ शक्तिः स्वीकार्येत्यभिप्रेत्यायं ग्रन्थ इति व्याचक्ष्महे । तथा च
वृत्तेर्धर्माः प्रातिपदिकसंज्ञा प्राचीनसुबन्निवृत्तिरपरतदुत्पत्तिरूपा बहवस्तेषां वचनैः
साधने गौरवमित्यर्थः । तथाहि । राजपुरुषश्चित्रगुरित्यादौ प्रातिपदिकसंज्ञासुब-
न्त्पत्यादिकं सर्वसिद्धम् । तच्च शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्धेनार्थवत्त्वाभावादर्थवद-
धानुरित्यस्याप्रवृत्तेर्न संभवति । न च कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यतस्तेषां
प्रातिपदिकसंज्ञेति वाच्यम् । तत्राप्यर्थवद्ग्रहणानुवृत्तेरावश्यकत्वात् । अधानुरिति
पर्युदासादेव पूर्वसूत्रेऽर्थवत्त्वसिद्धावर्थवद्ग्रहणानर्थक्यात् । उत्तरसूत्रे तदन्तग्रहणा-
र्थं तदावश्यकत्वाच्च । न चैवमनुवृत्तस्यार्थवद्ग्रहणस्य तदन्तत्वलिङ्ग्यर्थं कृत्तद्धि-
तयोरेवान्वयोऽस्तु न समासेऽपि फलाभावादिति वाच्यम् । निराकाङ्क्षतया तयो-
रेवान्वयासंभवात् । एकपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न एवापरपदार्थान्वयस्य साकाङ्क्ष-
त्वात् । अन्वयेतौ देवदत्तार्थज्ञदत्तौ पण्डितादित्यस्यान्यतरस्मिन्नपण्डिते फलाशे-
छेदानान्वये ध्वजद्विरपलाशाश्छिन्नीत्यादेश्च निराकाङ्क्षत्वात्तापत्तेः । न चैवम-
प्यसूत्रपदया इत्यादावसमर्थसमासेऽर्थवत्त्वाभावात् प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यादिति
वाच्यम् । तत्र तस्य समासस्य तावदर्थं शक्तावनुपपत्त्यभावेनार्थवत्सूत्रेणैव
तत्संभवात् । उक्तं च समर्थसूत्रे कैयटेन । ‘असमर्थसमासेऽपि क्रियायासुभयोः
संनिपातादेकार्थीभावस्तद्द्वारकोऽस्येव’ इति शशशृङ्गादिपदे पुनर्विशकलितप्र-
लिङ्गं शशशृङ्गादिकमारोपितसंबन्धे शक्यमतोऽर्थवत्सूत्रादेव लेति ध्येयम् ।
तस्मान्न समासग्रहणात् सा । किं चैवं कृत्तद्धितपदयोः समासग्रहणस्य च वि-
ध्यर्थत्वे मूलकेनोपदेशमित्यादौ प्रातिपदिकत्वापत्तिः । न च समुदायोत्तरं न कृ-
त्प्रत्ययागमोऽतो न तत् कृदन्तमिति वाच्यम् । कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि
ग्रहणमिति परिभाषया विशिष्टग्रहणसंभवात् । किं च वक्ष्यमाणरीत्या वाक्यस्या-
प्यर्थवत्त्वे प्रातिपदिकसंज्ञापत्तेः । न च तत् प्रत्ययान्तमेवेति वाच्यम् । प्रत्यय-
ग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणमिति परिभाषया तस्याप्रत्यया-
न्तत्वात् । तथापि चैतदुभयवारणार्थं वाक्यस्य नेत्यपि वचनं कर्तव्यम् ।

१ नैयायिकरीत्या T. २ पर्युदासे च D. ३ अन्यथैते Tr. ४ यज्ञदतविष्णुदत्ता Tr.
५ पण्डिताः Tr. ६ तथा D₁, D₂.

किं च कृत्तद्धितपदाभ्यां तदन्तस्यैव प्रातिपदिकसंज्ञा विधीयते
 न तद्विशिष्टमात्रस्य । पञ्चतकीतिमध्यस्थिततद्धितस्याप्यापत्तेः ।
 औपगव इत्यादि सुबन्तानामापत्तेश्च । पूर्वसूत्रे प्रत्ययान्तस्य पर्युदासे
 प्राप्ते तद्विशिष्टस्य प्रतिप्रसव इत्यस्यैव पर्यवसन्नत्वात् । तथा च बहुपटव
 इत्यादौ तद्धितान्तत्वाभावात् सा न स्यात् । न च पूर्वं विद्यमानजसैव
 रूपसिद्धेर्नैव पुनः प्रातिपदिकसंज्ञेति वाच्यम् । स्वरभेदार्थं तत्स्वीकारात् ।
 तस्मात् तत्सिद्धयर्थं वचनान्तरारम्भापत्तिरिति भावः । तस्मादिति । तथा च
 समासस्य बहुपटव इत्यादेश्वार्थवत्त्वादर्थवत्सूत्रेणैव सेति मूलकेनोपदंशमित्यादौ
 संज्ञावारणार्थं समासग्रहणं वाक्यस्य चेत् तर्हि समासस्यैवेति नियमार्थकत्वमि-
 ति भावः । यैस्तु वृत्तिमात्र एवैकार्थिभावात् सुबन्ततिङन्तयोस्तदभावादर्थवत्सूत्रे
 प्रत्ययान्तपर्युदासस्य कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रस्य चारम्भ एवायुक्त इत्युक्तम् ।
 यच्चार्थवत्सूत्रेऽर्थवत्त्वमर्थप्रतीत्यनुकूलवृत्तिमत्त्वमात्रं तच्च समासादेर्विशिष्ट-
 स्यातिरिक्तत्वाभावात् पदसमुदायरूपत्वाच्च पदनिष्ठवृत्त्याश्रयत्वमादायैव शक्तस-
 मुदायस्यापि सुलभमेव । तथा च धातुप्रत्ययार्थमादायैव कृदन्तादेरप्यर्थवत्सूत्रे-
 णैव प्रातिपदिकसंज्ञासिद्धिः । न चैवं पचति रामः अजा छागी गामानयेत्यादे-
 रपि प्रकृतिप्रत्ययार्थमादायार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वापत्तिः । कृत्तद्धितसमासाश्चेति
 सैमर्थसूत्रस्य नियमार्थतया सर्ववारणात् । तथाहि । यदि प्रकृतिप्रत्ययान्तसमु-
 दायस्य संज्ञा तर्हि कृत्तद्धितान्तयोरेव पदसमुदायस्य चेत् तर्हि समासस्यैवेत्येवं
 नियमः कल्पनीयः । एवं चार्थवत्सूत्रे धातुप्रत्ययपर्युदासेनैवोपपत्तौ प्रत्ययपदमा-
 वर्त्य प्रत्ययान्तपर्युदासोऽपि न कार्यः । उक्तनियमेनैव सर्वातिप्रसङ्गवारणादिति
 वदन्ति । तच्च । क्विबन्तधातूनां किञ्चलोपे सत्यधातुरिति पर्युदासात् इयान् इयदि-
 त्यादावप्रत्यय इति पर्युदासात् प्रातिपदिकसंज्ञानापत्तेः । विधायकाभावात् । तदर्थं
 कृत्तद्धितग्रहणस्य विध्यर्थत्वे प्रागुक्तेष्वतिप्रसङ्गो दुर्वारः । अथ तिप्तसङ्गीत्यारभ्य
 ङयोः सुबिति तिप्प्रत्याहारो भाष्यसिद्धस्तमादायातिप् प्रातिपदिकमित्येव
 सूच्यतां कृतं प्रत्ययतदन्तमात्रपर्युदासं विधाय कृत्तद्धितग्रहणेन । समासग्रहणं
 च नियमार्थमास्ताम् । तथा च समासस्यापि संज्ञा नानुपपन्नेति चेन्न । एवमपि
 प्रत्येकं वर्णानां केवलकृत्तद्धितधातूनां च संज्ञावारणायार्थवत्त्वादेरवश्यं प्रवेश्यत्वेन

समासासंग्रहस्य गौरवस्य च त्वन्मते दुष्परिहरत्वात् । यत्तु समासान्तर्गत-
प्रत्येकपदानामर्थवत्त्वमादाय समुदायस्य संज्ञा स्यादेवान्यथा टिष्ठुभादिषु
समुदायशक्त्यस्वीकारेण समुदायस्य सा न स्यात् तत्रापि शक्तिस्वीकारे साधुत्वा-
पत्तौ तेषां साध्वसाधुबहिष्कारासंभवादिति तत्तुच्छम् । तथा सति गौरवः पुरुषो
हस्तीत्यादौ समुदाये धनं वनमित्यादौ च प्रत्येकं प्रातिपदिकत्वापत्तिः । तथा च सुपो
धातुप्रातिपदिकयोरिति विभक्तिलोपस्य नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपस्य
चापत्तेः । देवदत्तादिसंज्ञाशब्दोऽपि टिष्ठुभादिष्वपि सांकेतिकशक्त्यर्थवत्त्वात्
प्रातिपदिकत्वसंभवात् दृष्टान्तासिद्धेश्च । अनादित्वरूपसाधुत्वमपि टिष्ठुभादीनां
सादित्वपक्षे नेति तत्पक्ष एव तेषां साध्वसाधुबहिष्कारस्तेषामनादित्वपक्षे-
ऽनपभ्रष्टत्वाद्लक्षणान्तरपक्षे वा तेषामपि साधुत्वं भाष्यादिसिद्धमेवेत्यलं
धन्धनेन । अथार्थप्रतीतिजनकज्ञानविषयशब्दत्वमर्थवत्त्वं वाच्यं तच्चैकस्य पदस्य
लक्षणयापरस्य तात्पर्यग्राहकत्वादिना वेत्येवं समूहस्य निबन्धम् । प्रत्येकं तत्र
विभक्त्यनुत्पत्तिरेकाचद्विवचनन्यायात् । संघातस्यैकाध्यात् सुबभावो वर्णा-
दिति वार्तिकद्वेति निपातानां द्योतकत्वादिनिर्णये वक्ष्यमाणरीत्या द्रष्टव्यमिति
चेन्न । अवयवानां द्वित्वे समुदायो नानुगृहीतः समुदायस्य द्वित्वेऽवयवोऽनुगृ-
हीत इति हि स न्यायः । न चात्र तथा समुदायात् सुबुत्पत्तावपि पूर्वावयवाना-
मसुबन्तत्वात् । तथा च वर्णोत्तरं विभक्त्युत्पत्तौ बहुतरदोषप्रसङ्गात् । विनि-
गमनाविरह एवैकाचद्विवचनन्यायबीजमिति चेत्तथाप्यत्र विभक्त्युत्पत्तितत्कार्या-
दिकं प्रकृते विनिगमकम् । संघातस्यैकार्थ्यं तु सिद्धा समुदायशक्तिः । संघा-
तार्थ एवैकत्वान्वयात् संघाते विभक्तिरित्येव तदर्थमिति ध्येयम् । अथ समास
उत्तरपदस्यैव प्रातिपदिकसंज्ञा न समुदायस्येति तत्रानुपदं वक्ष्यामः । अथ समास-
वाक्यस्य विशिष्टार्थलक्षणायामर्थवत्त्वाबाधात् प्रातिपदिकसंज्ञा नानुपपन्ना । न च
शक्यसंबन्धरूपा सा तत्रासंभविनी । ज्ञाप्यसंबन्धस्यैव लक्षणात्वात् तस्याश्चात्रावि-
रोधात् । गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यनुरोधेनास्या एवोचितत्वाच्च । तत्र प्रत्येकं पदेषु
तदसंभवात् । तथाहि । न तावद्गम्भीरपदं तीरलक्षकम् । नद्यामित्यनन्वयापत्तेः । न
हि तीरं नदी । अत एव न नदीपदेऽपि । न च पैद्वये प्रत्येकं विशिष्टनदी-
तीराप्राप्तिप्रसङ्गात् । न च गम्भीरनद्योरन्वयबोधोत्तरं विशिष्टनद्यास्तीरं लक्ष्यते
नदीपदेन । साक्षात् संबन्धात् । नदीपदस्य जनितान्वयबोधत्वेन निराकाङ्क्षत्वात्

कथं पुनर्लक्षकत्वमिति चेत् सत्यम् । तात्पर्यविपयीभूतबोधजननादाकाङ्क्षासत्त्वात् । अन्यथावान्तरवाक्यार्थबोधजननमात्रेण निराकाङ्क्षत्वप्रसङ्गादित्यादिकं साधयितुं वाच्यम् । निम्नं गम्भीरं गम्भीरमिति कोशाद् गम्भीरादिपदानामपि द्रव्यवाचित्वेन तुल्यत्वात् । वस्तुतः शूरोदारपदानामिवैषामपि गुणमात्रे प्रयोगादर्शनाद् द्रव्यवाचित्वमेव । अन्यथा नीलादिपदानामिव गुणे प्रयोगप्रसङ्गादिति ध्येयम् । नापि प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतेत्यादिव्युत्पत्तेर्नदीपद एव सा न गम्भीरपदे तदुत्तरविभक्तेः साधुत्वमात्रार्थत्वादिति वाच्यम् । अभेदार्थकताया नैयायिकैरहणाधिकरणन्यायान्मीमांसकैश्चार्थवत्त्वस्वीकारात् । अर्थसाधुत्वे संभवति शब्दसाधुत्वस्यान्यादयत्वाच्च । गम्भीरपदे लक्षणायां तस्यैव विशेष्यत्वसंभवाच्च । नापि विनिगमनाविरहात् पदद्वयेऽपि विशिष्टलक्षणा । वाक्य एकलक्षणायां लाघवाद् तस्मात् समुदाय एव सा । अत एव सर्वत्र वाक्येन वाक्यार्थो लक्ष्यत इति भट्टपादवाचस्पतिमिश्रकल्पतरुप्रभृतिभिर्निर्णीतम् । उक्तं च

‘वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेह च स्थितम् ।’

इति । अत एव प्राभाकरा अप्यर्थवादवाक्ये प्राशस्त्यलक्षणां मेनिरे । तदुक्तं नयविवेकटीकायां वरदराजेन । यद्यप्येकैकपदसंबन्धिता प्रौढास्त्यस्य नास्ति एकैकपदादप्रतीतिः । तथापि समुदायसंबन्धितास्येव । न च समुदायसंबन्धिनि लक्षणा न युक्ता । संबन्धालुपपत्त्योर्लक्षणाहेत्वोः सत्त्वादिति । अत एवाथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र जिज्ञासाशब्देनान्तर्णीतं विचारमुपलक्ष्येति विवरणाचार्यैरुक्तम् । अत एव यज्ञायुधिशब्देन यजमानो लक्ष्यत इति संक्षेपशारीरककृतोक्तम् । यज्ञायुधिशब्दजिज्ञासाशब्दयोः सुबन्तत्वलक्षणपदत्वेऽपि शक्तत्वलक्षणापदत्वाभावेन शक्यसंबन्धरूपलक्षणाया असंभवात् । अत एव सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यत्र वाक्य एव लक्षणेति वेदान्तैकदेशिनः । अत एव तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्वेति श्रुतौ जिज्ञासाशब्देन विचारो लक्ष्यते । सा च च्छत्रिण इतिवत् समुदाय एवेति वेदान्तभूषणकृतः । एवं च वाक्यलक्षणापक्ष एवैतत् संगच्छत इति स एव न्याय्य-

१ गम्भीरं K. २ गम्भीरं T. ३ गम्भीरपदे T. ४ अभेदार्थकत्वाय T. ५ गम्भीरपदे T. ६ प्राशस्त्ये K., D. ७ समत्वादीति K., D. ८ शब्देनान्तर्निर्णीतं D. ९ लक्षणपदवाच्यं T., D.

स्तथा सति प्रकृतेऽपि लक्षणयार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वं नानुपपन्नमिति चेन्न । शक्यसंबन्धस्यैव लक्षणात्वात् । अन्यथापञ्चशेऽपि लक्षणापत्तेः । तज्ज्ञाप्यस्य सत्त्वात् । किं चेदमपि प्रत्येकं पदैर्विनिगमकाभावात् पदेषु भिन्ना लक्षणा वाक्ये चापरेति गौरवं स्यात् । शक्यसंबन्धपक्षे च वाक्ये लक्षणाविरहाल्लाघवमिति । वस्तुतस्त्वेवं सति पदव्यतिपदानां चानुपूर्वी लक्षकतावच्छेदिका वाच्येति गौरवम् । अस्मन्मते च वाक्ये तद्विरहात् पदानां सा नावच्छेदिकेति लघवम् । किं च ज्ञाप्यसंबन्ध इत्यत्र वृत्त्या ज्ञापकत्वमर्थबोधजनकज्ञानविषयत्वमात्रं वा प्रविष्टम् । आद्ये न वाक्यलक्षणा । शक्यभावात् । अन्ये प्रत्येकं वर्णानामर्थवत्त्वापत्तौ विभक्त्याद्युत्पत्तिः स्यात् । अपि चैवमेतज्ज्ञाप्यसंबन्धीदमिति ज्ञानजन्योपस्थितिरेव लक्षगाजनेति पर्यवसितम् । तथा च समवायादिना घटपदज्ञाप्याकाशसंबन्धिनोऽप्युपस्थितस्य शब्दबोधविषयतापत्तिरिति ध्येयम् । एवं चैतन्मूलकाः पूर्वोक्ता ग्रन्थाः श्रुत्या एव । एवं च तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यत्रापि न समुदायलक्षणा । यत्तु च्छत्रिण इत्यत्रैव संमुदायलक्षणेति तदश्रद्धेयम् । विषमत्वादुपन्यासस्य । तथाहि । युगपद्बृत्तिद्वयाभ्युपगमे छत्राभावे लक्षणया छत्रिणस्तदभाववन्तश्च गच्छन्तीति बोधोपपत्तेः । तदस्वीकारे च च्छत्रविशिष्टच्छत्राभावे लक्षणासंभवात् । अत एवाथातो ब्रह्माजिज्ञासेत्यत्र ज्ञाधातोः साध्यावस्थापन्नज्ञाने लक्षणा सनश्च विचार इति स्वीकृत्य श्रोतव्य इत्यादि श्रुतिसमानार्थत्वाच्च कर्तव्येतिपदं बाध्याहृत्य ज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थ इति नृसिंहाश्रमैर्विवरणटिप्पणतत्त्वविवेकयोर्निर्णीतम् । इदं पुनरिहावध्येयम् । ज्योतिष्टोमः स्वर्गसाधनमित्यत्र साध्यत्वेनोपस्थितिं विनापि यथा साध्यसाधनभावबोधस्तथात्राप्यनुवादादिदोषपरीहारायाध्याहृतेन कर्तव्येति पदेनेष्टसाधनत्वार्थकेन साध्यसाधनभावबोधसंभवान्मास्तु साध्यावस्थज्ञाने लक्षणा । तच्च साधनत्वं ज्ञाननिरूपितमेव । धातोर्लक्षणाकल्पकस्यैव तत्र मानत्वात् । कर्तव्य इत्यत्र तव्यप्रत्ययोऽर्हार्थे भविष्यतीति चेत् तर्हि श्रुतिसमानार्थत्वहानिः स्यात् । अत एव प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतेत्यादिव्युत्पत्तेस्तव्यार्थः साधनत्वमपि कृतावन्विद्यान्न विचार इति परास्तम् । तथा च श्रुतिसमानार्थत्वायेति वासङ्गतं स्यादिति दिक् । तस्मादविद्यानिवर्तकतावच्छेदकधर्म-

१ वर्णानामप्यर्थवत्त्वापत्तौ T. २ ज्ञेयम् D. ३ चाध्याहृत्य T. ४ परिहारायां T.
५ साध्यावस्थापन्नज्ञाने T. ६ कृतावन्विद्यान्न T. ७ वासङ्गतं T.

विशिष्टज्ञानस्यैव विचाररूपश्रवणसाध्यत्वात् तादृगर्थकं साध्यावस्थपदमिति तत्त्वभित्यास्तां प्रकृतानुपयुक्तविचार इति दिक् । तथा च प्रातिपदिकसंज्ञारूपं कार्यमेव शक्तिं साधयति धूम इव वह्निमिति तात्पर्यार्थ इति युक्तं पश्यामः । अथवा वृत्तिधर्माणामुद्देश्यविधेयभावेनान्वयाभावादीनानित्यर्थः । अयं भावः । नीलमुत्पलं पण्डितो ब्राह्मण इत्यसमास इव नीलोत्पलं पण्डितब्राह्मण इत्यादौ नोद्देश्यविधेयभावेनान्वय इति सर्वसिद्धम् । तथा वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इत्यत्र भक्षानुवादेन प्राथम्यविधानापत्तिमाशङ्क्य प्रथमभक्ष इति समस्तमेकं पदं तत्र चैकप्रसरत्वान्नैकांशेन भक्षणमुद्दिश्य प्राथम्यविधानं युक्तमिति भक्षान्तरविधिरिति वषट्काराच्च भक्षयेदिति शेषलक्षणे । अङ्गेः स्विष्टकृतं यजतीत्यत्र पशौ चोदक-प्राप्तः स्विष्टकृतप्रधानहविर्भ्यो हृदयादिभ्य एकादशभ्योऽपि कर्तव्यत्वेन प्राप्त इति व्यङ्गैरिति वचनमङ्गानुवादेन त्रित्वविधानार्थमित्याशङ्क्य एकं हीदं समासपदं तत्सर्वमुद्देशकमुपादायकं वा युक्तम् । उत्तरार्धे तूद्दिश्य पूर्वार्धे विधीयमाने प्रसरभेदात् सामर्थ्यविधातात् समासो न स्यादिति त्रित्वविशिष्टाङ्गान्तरविधिरिति बाधलक्षणे च व्यवस्थितमेकार्थीभावानभ्युपगमेऽसंगतं स्यात् । सति च तस्मिन् घटपदे घटघटत्वयोरिव विशिष्टशक्त्यैव त्रित्वविशिष्टाङ्गोपस्थितौ न वाक्यार्थरूप उद्देश्यविधेयभावादिनान्वयो युज्यते । न चान्यतरपदे विशिष्टार्थलक्षणयैव नायं दोष इति वाच्यम् । अधिकारिकायां तदसंभवस्य व्युत्पादयिष्यमाणत्वात् । न च यद्वृत्तयोगप्राथम्याद्युद्देश्यताबोधकस्य तद्वृत्तयोगपाश्चात्यादिविधेयताबोधकस्य चाभावाच्च तथेति वाच्यम् । प्रथमो भक्षः पण्डितो ब्राह्मण इत्यत्रापि सति तात्पर्ये भक्ष-ब्राह्मणाद्युद्देश्यकप्राथम्यपाण्डित्यादिविधेयकबोधदर्शनेन तस्य व्यभिचारित्वात् । किं तु भक्षब्राह्मणाद्युद्देश्यकप्राथम्यपाण्डित्यादिविधेयकशाब्दबोधे भक्षायुपस्थापकपदसमभिव्याहृतप्राथम्यवाचकपदोपस्थितिरेव नियामिका । इत्थमेव सर्वत्रोद्देश्यविधेयभावस्थले व्यवस्था । सा च निर्बाधैव । न च तवाप्येवं तथान्वयबोधापत्तिः । इत एव जहत्स्वार्थतास्वीकारात् । न च ममापि तथैव निस्तारः । तथा सति राजादिबोधाय समुदायशक्तिं विना तस्यासंभवेन तदुपपादकत्वेन च शक्तिस्वीकारापत्ताविष्टासिद्धेः । न चोद्देश्यविधेयभावावच्छिन्नविषयतया शाब्दबोधं प्रत्यसमस्तपदजन्योपस्थितिर्हेतुरित्येव कार्यकारणभावोऽस्त्विति वाच्यम् । दामो-

दरः पूज्यः राजपुरुषः सुन्दरः प्रथमभक्षः कर्तव्यः पीतवासाश्चतुर्भुजः गङ्गा-
धरः सर्वेश्वरः राजपुरुषश्चित्रगुः 'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवान् ग्रहान्
गृहीयात्' इत्यादौ तथाबोधानापत्तेः । प्रकारान्तरस्य दुर्बलत्वात् । न च भक्ष-
स्याङ्गानां चोद्देश्यताबोधकद्वितीयादेः प्राथम्यत्रित्वादेर्विधेयताबोधकतृतीयादे-
श्चाभाव एवैकप्रसरताभङ्गशब्दार्थ इति वाच्यम् । पण्डितो ब्राह्मणः भक्षः प्रथम
इत्यादानुद्देश्यविधेयभावयोरिव स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ कर्मत्वकरणत्वयोरिव च
बोधसंभवात् । तयोर्लाक्षणिकत्वोक्तिस्तु वाक्यार्थलक्षणाभ्युपगमाच्चानुपपन्ना ।
न च विधेयवाचकपदस्य परतन्त्रोपस्थापकत्वमुद्देश्यवाचकपदस्य प्रधानोपस्था-
पकत्वं तादृशोपस्थितिविपक्षत्वं चार्थस्योद्देश्यत्वम् । तच्चैकपदेऽच्युत्पन्नं कल्प्येतेत्येवै-
कप्रसरताभङ्गशब्दार्थ इति वाच्यम् । अतिरिक्तभक्षमप्राकृतकार्यतां चापेक्ष्य तथा
कल्पनस्यैव युक्तत्वात् । प्रथमो भक्ष इत्यत्रेव समासेऽपि पदद्वयसत्त्वाच्च । पद-
भेदे चोद्देश्यविधेयभावप्रवृत्तेर्दुर्बलत्वात् । अवान्तरविभक्त्यभावस्य दधि
मधुरमित्युद्देश्यविधेयभावेऽपि सत्त्वेनाप्रयोजकत्वात् । समासातिरेकेणैकनामा-
र्थयोः परस्परानन्वयेऽपि तत्रैकपदोपस्थाप्यानां परस्परमन्वयकल्पनवत्
तथापि कल्पनासंभवाच्च । न चाङ्गानुवादेन त्रित्वं भक्षानुवादेन प्राथम्यं च
नात्र विधातुं युक्तम् । अङ्गानां बहुत्वेन बाधात् । अध्वर्यादिभक्षणांमपि प्राथ-
म्यापत्तेश्च । तथा च स्वियकृत्साधनत्वविशिष्टाङ्गं वपदकर्तुंविशिष्टं भक्षणं चानूद्यत
इति स्वीकार्यं तथा च नैरपेक्ष्यत्याग एव बीजमिति शङ्क्यम् । प्रथमभक्षपदे
भक्षणां त्र्यङ्गैरित्यत्राङ्गानां च विशेष्यतया तद्विशेषणविवक्षायांमपि राजपुरुषः
सुन्दर इत्यत्रेव नैरपेक्ष्यहान्यभावात् । न च विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तिरेव तद्वी-
जम् । केवलाङ्गानां भक्षस्य चोद्देश्यमशक्यतया हविरावर्त्यधिकरणन्यायेन
तादृशोद्देश्यलाभादिति विभावयामः । अथैवं सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूषः
एकं साम तृचे क्रियते लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीत्यादौ वाजपेयसंबन्धि-
यूपारत्निमृचमुष्णीषं चोद्दिश्य साप्तदश्यत्रित्वलौकित्यानां विधिर्न स्यात् समास
उद्देश्यविधेयभावाभावादिति चेन्न ।

‘विधाने चानुवादे च योगः करणमिष्यते ।

तत्समीपे तृतीयान्तस्तद्वाचित्वं न मुञ्चति ॥’

१ हविरावर्त्य D. २ In Tr. the passage from अथैवं सप्तदशा up to विधिर्न
स्यात् comes after भावनोद्देशसंभवादिति दिक्. ३ त्रि चेत् क्रियते T. ४ योगः T.

इति स्वीकारेऽपि व्रीहिभिर्जतेत्यादौ द्रव्यविधिवद्वागस्योद्देश्यत्ववदुपपत्तेः । अत एव यद्यपि चतुरवची यजमानः पञ्चावत्तैव वषा कार्येत्यत्रावत्तानुवादेन पञ्चत्वविधानं व्याख्यातमनया च रीत्या वषदकर्तुः प्रथमभक्ष इत्यत्रापि भक्षानुवादेन प्राथम्यविधानं कुतो नेति तु समं समासेऽप्युद्देश्यविधेयभावस्वीकारे । तृचे च क्रियत इत्यादौ भावनानुवादेनैव त्रित्वादिविधानम् । तच्च ऋगाश्रितमेवोपस्थितमिति तथैव लभ्यते । एवमन्यत्रेत्यपि समं भक्षान्तरविधानायापि विध्यध्याहारेण भवनोद्देशसंभवादिति दिक् । एतेन कर्मधारये तु शक्तिर्न वा लक्षणेति परास्तम् ॥ ३१ ॥

यत्तु द्वन्द्वेऽपि न शक्तिर्न वा लक्षणेति तदपि नेत्याह ।

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभजनम् ।

कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः ॥ ३२ ॥

निषेध इत्यन्तेनान्वयः । आदिर्दूषणान्तरार्थो भिन्नकमश्च । चकारनिषेधादित्यर्थः । अयं भावः । रामकृष्णावानयेति द्वन्द्वस्य विवरणे चकारादिः प्रयुज्यते न समासे । न च वृत्तौ चकाराद्यर्थो नास्तीति वक्तुं शक्यम् । तथा सति तस्य विवर्गत्वं न स्यात् । समानार्थकलमस्यमानपदसमूहस्यैव विग्रहत्वात् । चकाराद्यर्थबोधस्य सर्वसिद्धत्वाच्च । चार्थे द्वन्द्व इत्यादिना तत्तदर्थ एव समासानुशासनाच्च । न च वस्तुतश्चार्थे सति द्वन्द्व इत्यादिस्तदर्थः । भू सत्तायामित्यत्रापि तथात्वापत्तेः क्ताप्यनुशासनादर्थनिर्णयो न स्यात् । किं चैवं सहविवक्षाविरहेऽपि भेरीपटहं वाद्येति स्यात् । वस्तुतश्चार्थत्याग्यावर्तकतया चार्थ इत्यस्य वैयर्थ्यपित्तेश्च । न च कर्मधारयवारणार्थं तत् । एवमपि त्वदुक्तरीत्या ग्रामं गत इत्यादिद्वितीयातत्पुरुषादौ द्वन्द्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । न च द्वितीयातत्पुरुषेण बाधः । कर्मधारयेऽपि तथात्वाविरोधात् । चार्थस्य वाच्यत्वे च तद्विवक्षणाच्च द्वन्द्व इति तद्वाचित्वमवश्यं वाच्यम् । अतो न तद्वाचकचकारप्रयोगः । उक्तार्थानामप्रयोग इति आप्यात् । किं च धवप्रकारकशाब्दबुद्धिं प्रति तदुपस्थापकपदाव्यवहितोत्तरवर्तिविभक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरित्यावश्यकम् । अन्यथा धववन्तमानयेत्यादौ धवादेः कर्मत्वादिस्यस्यापत्तेः । तथा च धवखदिशौ छिन्धीत्यादौ

१ चतुरवत्ति T. २ त्रि चेन् क्रियत T. ३ त्रित्वविधानं K. ४ भावनोद्देश्य T.
५ शक्यं वक्तुम् T., Tr., D₃. ६ वरणं. ७ शब्दबुद्धिं K.

न ध्वे तदन्वयः स्यादिति । नन्वस्तु द्वन्द्वादौ लक्षणा समासान्तरवत् । परंतु-
त्तरपदस्यैवेति नायं दोषः । तस्यैव सर्वत्र प्रातिपदिकसंज्ञाप्यस्तु । नातः प्रागु-
क्तोऽपि दोषः । विशिष्टस्याप्रातिपदिकत्वेऽपि समासोत्तरं प्रत्ययसंभवात् । विशि-
ष्टलक्षणयार्थोपस्थितावुद्देश्यविधेयभावेनान्वयासंभवाच्चेति चेदत्रोच्यते । उत्तरपद-
मात्रस्य प्रत्ययान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञाया एवासंभवः । न च तल्लोपोत्तरं पुनः
सेति वाच्यम् । पूर्वं प्रातिपदिकसंज्ञां विना लोपासंभवात् । न च राजन् ऊस्
पुरुष सु इत्यत्र सत्यां समाससंज्ञायां प्रातिपदिकसंज्ञोत्तरं पूर्वसुनिवृत्तौ पुनरु-
त्तरपदमात्रस्य सा संज्ञेति वाच्यम् । विशिष्टस्य समाससंज्ञायामर्थवृत्तत्वाभा-
वेन प्रातिपदिकत्वासंभवात् । उत्तरपदस्य संज्ञायाः प्रागेव सिद्धत्वेन पुनस्तस्या
व्यर्थत्वाच्च । पुनः प्रातिपदिकसंज्ञायाः प्रत्ययान्तत्वेनासंभवाच्च । लुप्तेऽपि पूर्वतने
प्रत्यये प्रत्ययलक्षणस्य दुर्बारत्वात् । अत एव प्रथमत एवोत्तरपदस्यैव सविभ-
क्तिकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा ततः पूर्वसुनिवृत्तौ तयैव संज्ञया विभक्तिः
स्यादेवेति न वाच्यम् । अर्थवत्त्वाभावेन विभक्तिविशिष्टस्य तदसंभवा-
त् । मध्यवर्तिविभक्त्यनिवृत्तिप्रसङ्गाच्चेति न किंचिदेतत् । न च तवापि मध्य-
वर्तिविभक्तिनिवृत्तिर्न स्यात् । एकार्थीभावस्य परिनिष्ठिते राजपुरुष इत्यादावे-
वाभ्युपगमात् राजन् ऊस् पुरुष सु इत्यादावर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वासं-
भवात् सुपो धातुप्रातिपदिकयोरित्यस्याप्रवृत्तेः । अलौकिकप्रक्रियावाक्यान्तर्भावेण
शक्त्यभ्युपगमे च षष्ठ्यादिघटितानुपूर्व्याः शक्तावच्छेदकत्वात् परिनिष्ठितसमा-
सादर्थप्रत्ययानापत्तेरिति वाच्यम् । तिबादिशक्तेर्लकारादाविव परिनिष्ठितशक्ते-
रलौकिक आरोपाभ्युपगमेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वसंभवात् । अत एव विशि-
ष्टशक्त्यैव विशिष्टार्थबोधयिषायामलौकिकप्रक्रियावाक्यस्यैव समासरूपेण प्रयोगो
नान्यथेति 'सिद्धे वावचनं न कार्यमिति भावेन कृतं वावचनानर्थक्यं स्वभाव-
सिद्धत्वादिति वार्तिकं संगच्छते । एवमेव व्यपेक्षायां न समास एकार्थीभावे
वाक्यं नेति भाष्यकैयटौ संगच्छते । एवं च वावचनानर्थक्यं मन्यमानो वर-
रुचिः समासनित्यतां मेन इति मीमांसकभ्रमोऽपास्तः । विवेचितं चैतदधस्तात् ।
यत्तु कर्मधारयेऽप्युत्तरपदलक्षणयैव निर्वाह इति तन्न । तथा सति लक्षणाशू-
न्यत्वेन तद्वतः षष्ठीतत्पुरुषात् कर्मधारयस्य बलवत्त्वमिति निपादस्थपत्यधिकर-
णादिपूर्कं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । किं चैवं सति तत्र विभक्त्यर्थान्वयानापत्तिः ।

प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः । उत्तरपदोत्तरं प्रत्ययविधानाभावेन तस्याप्रकृतित्वात् । एवं धवखदिरावित्यादावपि न लक्षणया निर्वाह इत्यावश्यकी शक्तिः । एवं च बहुव्रीह्यादावपि ससुदायलक्षणासंभवस्योक्तत्वादुत्तरपदेऽप्यसंभवाच्च शक्तिरावश्यकी विशिष्टार्थबोधार्थमिति साधकम् । लक्षणाशङ्कामथेत्यादिना सूचयन्नाह । अथेति । कर्मधारयादावपि लक्षणयैव निर्वाह इति चेत्तर्हीति शेषः । व्युत्पत्तिः प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वरूपा । ते इत्यन्तेनान्वयः । अस्माकं विशिष्टशक्तिवादिनाम् । तत् व्युत्पत्तिरक्षणं न्यायेनार्थात् सिद्धमित्यर्थः । यत्तु समासादिसाधारण्येन विभक्तेः संनिहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरभ्युपेयति नाहुपत्तिरिति तन्न । लक्षणादिनेतरभेदसाधने विशिष्टार्थैव विभक्त्यर्थान्वयस्य सर्वसिद्धत्वात् । उपकुम्भमित्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचाराच्च दधीयद्दाति जयति गौरीयैती लक्ष्मीर्विद्यत इत्यादौ दध्यादौ मनुवर्था-
न्वयापत्तेश्च । सान्निध्यसत्त्वात् । अरूपाणि द्रव्याणीत्यादौ नञर्थे भिन्ने प्रत्ययार्थ-
लिङ्गसंख्यानन्वयापत्तेश्च । अन्योन्याभाववाचकस्य नञस्तद्वति लक्षणास्वीकारात् । किं च राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठ्यर्थस्य पुरुषेऽन्वयवारणाय संनिहितपूर्वपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वमित्यभ्युपेयम् । तथा च दधि बहुपदुर्ददातीत्यत्र दधि बहुजर्थान्वयापत्तिः । पटावनन्वयापत्तिश्च । सर्वक इत्यादौ सर्वशब्दस्य पूर्वपदत्वाभावाच्च । यत्तु तत्रापि संनिधानमेवानुशासनिकसन्निधेर्विवाक्षितत्वात् । तथा च यत्पदोत्तरं या विभक्तिरनुशिष्टा सा तदर्थगतं स्वार्थं बोधयतीत्यर्थः पर्यवसन्नः । समासे च समस्यमानपदोत्तरमेव विभक्त्यनुशासनमतस्तदर्थगतं स्वार्थं बोधयतीति । तत्र च पूर्वोत्तरपदयोर्योग्यतादिकमेव नियामकमिति तच्चिन्त्यम् । समासस्य विशिष्टस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां जायमानायां विभक्तेर्विशिष्टोत्तरमेवानुशासनम् । न तु समस्यमानपदेभ्य इति वैयाकरणानां स्पष्टत्वात् । अथ प्रकृति-
त्वं न प्रकृतितात्पर्यास्यधिकरणत्वं किं तु तदाश्रयत्वमात्रम् । तत्समूहे प्रत्ये-
कमवयवेवपीति चेन्न । पङ्कजमानय दण्डिनं छिन्दू शूलिनं पश्येत्यादौ सत्यपि तात्पर्ये विना लक्षणां पङ्कदण्डशूलानामानयनच्छेदनदर्शनकर्मतयान्वयबोधप्रस-
ङ्गात् । अघटानानयेत्यत्र घटे कर्मत्वाद्यन्वयापत्तेश्च । न च दण्डादीनां विशेषण-

१ दधिपद्दाति T. २ जयति गौरीं जयति लक्ष्मीं विद्यते T. ३ D. has
इयती For जयति. ४ जायमानाया K., D., D₁. ५ प्रकृतिवे Tr. ६ अपटा° K.
• पटे K.

तथा न तत्रान्वयः । बह्विमान् धूमादित्यत्र पञ्चम्यर्थज्ञानज्ञाप्यत्वस्य
चङ्गावनन्वयापत्तेः । ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः तण्डुलं पचतीत्यादौ राजादी-
नामिव स्वातन्त्र्यावाधाच्च । यत्तु प्रत्ययान्वयवहितपूर्वपदत्वमेव प्रकृति-
त्वम् । तदन्वितस्वार्थबोधकत्वं च पूर्वपदार्थप्रधानादव्ययीभावादुभयप-
दार्थप्रधानद्वन्द्वदार्थपिप्पल्यादितत्पुरुषाच्चान्यत्र नियतमिति तदनुरोधादु-
त्तरपद एव बहुव्रीहौ लक्षणा । अस्तु वा सर्वत्रैवायं नियमः । अव्ययी-
भावद्वन्द्वादुत्तरपदलक्षणयैव शक्यनिर्वाहत्वादिति तत्तुच्छम् । अव्यवहित-
पूर्वपदत्वस्य बहुपटुः सर्वक इत्यादौ पटुसर्वादिशब्देष्वप्याह्या दधि इयती
ददातीति बहुपटुर्ददातीत्यादौ दध्यादावतिग्याह्या च प्रकृतिर्वासंभवात् ।
विभाषा सुपो बहुच पुरस्तात् अव्ययसर्वनाम्नामकच प्राक् ढेरिति सूत्राभ्यां
तयोरौ मध्ये च विधानेनान्ते तदसंभवात् । एवं व्यतिसे इत्यादावुपसर्ग-
स्यापि तिङ्प्रकृतित्वापत्तिः । किं चैवं नञ्वरीत्या द्वन्द्वन्यायेन लक्षणाविरहिणि
द्वित्रा इति बहुव्रीहौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयो दुरुपपाद एव । तस्मात् प्रत्यय-
विधानावधित्वमेव प्रकृतित्वम् । तच्च न समासादावुत्तरपदमात्रस्येति तल्लक्ष-
णायामपि प्रत्ययार्थान्वयानुपपत्तिर्दुर्वरेति । यदपि प्रकृत्यर्थत्वं तज्जन्यज्ञान-
विषयत्वमात्रं तैच्चात्राविरुद्धमिति तन्न । पङ्कजमित्यादौ पङ्केऽतिप्रसङ्गात् । किं च
एवं हि गामुच्चारयेत्यादौ शब्दस्य स्वरपरतायां लक्षणेति सिद्धान्तहानापत्तेः ।
घटं पश्येत्यादौ शब्दात् समवायेनाकाशोपस्थितौ विभक्त्यर्थान्वयापत्तेश्च । न च
सति तात्पर्यं इष्टापत्तिः । वृत्त्युच्छेदापत्तेः । तस्माद्वृत्त्या प्रकृत्युपस्थाप्यत्वं वक्त-
व्यम् । तथा चावशिष्यकैव समूहशक्तिः । अथ प्रत्ययप्राग्वर्तिपदजन्योपस्थिति-
विशेष्यत्वं प्रकृत्यर्थत्वं तच्च द्वन्द्वादुभयोरव्ययीभावे पूर्वपदस्येति चेन्न ।
चक्रिणं पश्येत्यादौ चक्रेऽतिप्रसङ्गात् । गामानयति कृष्णो दण्डेनेत्यत्र कृष्णे
करणत्वान्वयापत्तेश्च बहुपटुः सर्वक इत्यादावव्याप्तेः । इयदधीयती स्त्री ददाती-
त्यादावतिप्रसङ्गश्च । यदुत्तरं प्रत्ययो विहितस्तत्त्वे सतीति वाच्यमिति चेदिहापि
तदभावस्योक्तत्वात् । अथ समस्यमानपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वमेव वाच्यं तथैव
व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनादिति मैवम् । पङ्कजं पश्य राजपुरुषमानयेत्यादौ

१ सर्वत्रायं T. २ °शब्देऽप्याह्या T. ३ दधीयति T. दधी इयति K. ४ ददाति
बहु° T. ५ संभवाच्च D. ६ तत्राविरुद्ध° D. ७ किं च is omitted in D_r. ८ °हान्या-
पत्तेः K. ९ दधियती T.

पङ्कादौ कर्मत्वाद्यन्वयापत्तेः । अथ प्रकृत्यर्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति प्रत्यय-
जन्योपस्थितिर्हेतुरिति सामान्यतो न हेतुहेतुमद्भावः । मानाभावात् घटः कर्मत्व-
मित्यादौ बोधस्य तथा व्युत्पत्तिग्रहशालिनामिष्टत्वात् । अनिष्टत्वेऽपि
घटप्रकारककर्मत्वविशेष्यकशाब्दबुद्धिं प्रति घटार्थकपदोत्तरकर्मत्ववाचकविभक्ति-
जन्योपस्थितिर्हेतुरिति विशिष्यैव सोऽस्तु न तु सामान्यतः । तत्प्रत्ययविधानाव-
धित्वरूपस्य प्रकृतित्वस्य कार्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टस्याननुगतत्वात् । अनुगमे
च दण्डेन गामभ्याजेत्यत्र दण्डे कर्मत्वस्य गवि करणत्वस्यान्वयस्य दुर्वारत्वापत्तेः ।
अस्मद्गत्या तु नायं दोषः । एवं च समासे उत्तरपदलक्षणायां न विभक्त्यर्थान्वया-
नुपपत्तिः । पुरुषमानयेत्यत्र पुरुषपदस्य राजविशिष्टपुरुषे तात्पर्ये सति विशिष्ट-
कर्मत्वबोधेन तादृशबोधे पुरुषपदोत्तरकर्मत्वबोधकविभक्त्युपस्थितेर्हेतुत्वकल्प-
नात् । एवं चित्रगुः धवखदिरौ छिन्दीत्यादावपि द्रष्टव्यम् । तथा च क्लृप्तकार्य-
कारणभावादेवोपपत्तिरस्माकमिति लाघवम् । विशिष्टशक्तिपक्षे च तादृशबोधे
राजपुरुषपदोत्तरविभक्त्युपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावान्तरकल्पनायामतिगौ-
रवापत्तेः । किं च सामान्यतो हेतुहेतुमद्भावभ्युपगमे स्तोत्रं पचति शोभनं
पचतीत्यादौ नामार्थस्य साक्षाद्भावार्थेऽन्वयानापत्तिः । तस्याप्रत्ययार्थत्वात् । अपि
च प्रकृतित्वाननुगमेन सामान्यतो हेतुहेतुमद्भावग्रहासंभव इति चेदुच्यते ।
सामान्यतो हेतुहेतुमद्भावानभ्युपगमे चक्रिणमहं पूजयामीत्यादौ चक्रस्येत्यर्थ इवा-
न्यत्राप्याकाङ्क्षासत्त्वादन्ययापत्तिः । न चानासन्नत्वान्नान्यत्रान्वयः । न हि
पदव्यवधानमासत्तिः । गिरिरग्निमान् भुक्तं देवदत्तेनेति तात्पर्यग्रहवतो गिरिर्भु-
क्तमग्निमान् देवदत्तेनेत्यत्राबोधप्रसङ्गात् । किं तु पदजन्यपदार्थोपस्थितिमात्रम् ।
सा च समूहालम्बनादिरूपा तुल्यैव । कथमन्यथा वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलान्छ-
नाढ्यं भगवत्तश्चरणारविन्दं भजेतेत्यादावासत्तिः । किं चैवं हेतुहेतुमद्भावानुप-
गमे काष्ठं तण्डुलः पचति रामो बाणो हतो वालीत्यादौ कारणत्वकर्मत्वकर्तृत्वादि-
संबन्धेन काष्ठबाणतण्डुलरामादेः पाकहननादिक्रियास्वन्वयप्रसङ्गः । कर्मत्वा-
दिद्विशेष्यकबोध एव द्वितीयादिजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात् । अत्र कर्मत्वादेर-
विशेष्यतया द्वितीयाद्यभावेऽप्यक्षतेः । अत एव स्तोत्रं पचतीत्यादौ तव तदन्व-
योऽप्युपपद्यते । अस्मन्मते चाभेदे कर्मण्येव चेयं द्वितीयेति धात्वर्थनिर्णये प्रपञ्चि-
तम् । नन्वभेदातिरिक्तसंसर्गेण नामार्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति तदुत्तरसार्थकवि-

भक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावादेव नायं दोष इति चेन्न । दण्डिनं चक्रिणं पश्येत्यादौ व्यभिचारात् । इनादेरैविभक्तिवात् । प्रत्ययजन्योपस्थितिरेव हेतुरस्तिवाति चेन्न । दधीयती ददातीत्यादौ दध्ना मनुवर्थेऽन्वयापत्तेः । विहितत्वेन प्रत्ययो विशेषणीय इति चेन्न । समासेऽपि प्रत्येकपदोत्तरमविधानात् तल्लक्षणायामपि विभक्त्यर्थानन्वयापत्तेः । किं च पङ्कजं पश्येत्यादौ पङ्कादेः कर्मत्वप्रत्ययापत्त्या तथा हेतुहेतुमद्भावस्यैवासंभवात् । अव्यवहितोत्तरवर्तित्वं विभक्तिविशेषणं वाच्यमिति चेन्न । तां पश्य आचार्यकल्पं पूजय भक्ततरं शिवतमं प्रार्थयेत्यादौ टाबादिव्यवहितविभक्त्यर्थानन्वयप्रसङ्गात् । प्रत्ययातिरिक्ताव्यवहितत्वं विशेषणमिति चेन्न । दण्डिमन्तमानयेत्यादौ दण्डादेः कर्मत्वान्वयवारणापत्तेः । गौरवाच्च । तथा च यथोक्तमेव युक्तम् । प्रकृतित्वं तत्पर्याय्यधिकरणत्वमिति न दोष इत्युक्तम् । यैदपि तादृशकार्यकारणभावग्रहासंभव इति तन्न । यथा पितृत्वपुत्रत्वादेरनुगतत्वेऽपि स्वपितृभ्यः पिता दद्यादित्यादौ चैत्रपितृभ्यश्चैत्रो दद्यान्मैत्रपितृभ्यो मैत्रो दद्यादित्यादिसर्वोपसंहारेणान्वयबोधः । यथा वा दारत्वस्वत्वयत्वादेरनुगतत्वेऽपि ऋतौ स्वदारान् गच्छेदेव

‘ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति ।’

इत्यादौ चैत्रीयतद्धारसंबन्धितद्वतौ चैत्रस्तान् दारानभिगच्छेच्चैत्रस्तद्वारीयतदनुकालीनगमनमकुर्वन् प्रत्यवेतीत्यादिस्तथा बोधस्तथा तत्तन्निरूपितप्रकृतित्वाननुगमेऽपि प्रकृत्यर्थप्रकारकबोधं प्रतीत्यादिशब्दात् सर्वोपसंहारेण कार्यकारणभावग्रहसंभवात् । स्वत्वत्वपितृत्वत्वादीनामनुगमेन तदेव स्वरूपसदुपलक्षणीकृत्य तदादिवच्छक्तिग्रह आकाङ्क्षावशाच्च विशिष्य पदार्थबोध इत्यपि तुल्यम् । प्रकृतित्वं स्वरूपसदनुगमकमादाय शक्तिग्रह आकाङ्क्षावशात् कार्यकारणभावबोधकवाक्याद्विशिष्य तद्ग्रह इत्यस्य सुवचत्वात् । न चैवं धात्वर्थफलस्य तदर्थ एवान्वय एवं कथं स्यादिति वाच्यम् । धात्वर्थान्यप्रकृत्यर्थान्वये तथात्वेनादोषात् । अत एव पश्य नृत्यति पचतितरां पचतिकल्पमित्यादौ समुदायशक्त्यभावेऽपि धात्वर्थभावनया सह धात्वाख्यातार्थ इव तरबाद्यर्थोऽप्यन्वेतीति दिक् ।

१ °रविभक्तिवात् D. २ °प्रत्ययाय सा K. ३ यद्यपि D₂. ४ °चैत्रस्तदीयतदनुकालीन° D₂; °चैत्रस्तद्वारीयतदनुकालीन° D₂, T. ५ प्रकृत्यर्थकप्रका° D. ६ °भावग्रह° K. ७ °मनुगमनेन K. ८ °ग्रहादाकाङ्क्षा° K. ९ धात्वर्थान्वये K. १० नृत्यतितरा K.

यच्च पुरुषपदमात्रस्य विशिष्टार्थलक्षणास्थले कार्यकारणभावः क्लृप्त इत्यादि तत् । समासे शक्तिग्रहाद्वोधस्थलेऽन्वयानुरोधेनास्यापि क्लृप्तत्वादित्यास्तां विस्तरः । तस्मादुत्तरपदमात्रस्याप्रकृतित्वाच्च कर्मधारयद्वन्द्वयोस्तल्लक्षणायामपि विभक्त्यर्थान्वयसंभव इति दुर्बारा शक्तिः । एवं बहुव्रीहावपीति वयं विभावयामः । यद्वा साधकान्तरमाह । अथेत्यादिना । व्युत्पत्तिरन्वयनियामकं तद्वज्जो लक्षणापक्षे स्यादित्यर्थः । अयं भावः । राजपुरुष इत्यादौ लक्षणायामपि न निर्वाहः । तथाहि । राजपदादेः किं संबन्धिनि लक्षणा संबन्धे वा । नान्यः । ओदनः पच-
तीत्यत्रान्वयबोधापत्तिवारणायामेदातिरिक्तसंसर्गकप्रातिपदिकार्थप्रकारकबोधे वि-
भक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुत्वकल्पनात् । ओदनस्य च पाके द्वितीयादिविभक्त्य-
भावेन भेदेनान्वयासंभवात् । एवमभेदसंसर्गकप्रातिपदिकार्थप्रकारकबोधे प्राति-
पदिकादिजन्यबोपस्थितिर्हेतुरभ्युपेया । नीलो घट इत्यादौ च विभक्तिः साधु-
त्वार्था । उक्तं ह्यनभिहितसूत्रे भाष्ये । अथवा कट एव कर्म तत्सामानाधि-
करण्याद् भीष्मादिभ्यो द्वितीया भविष्यतीति । भीष्मादीनां स्वयमकर्मत्वेऽपि
विशेष्यसंबन्धिन्येव विभक्त्या भवितव्यम् । तदेकयोगक्षेमत्वात् । केवलानां च
प्रातिपदिकानां परश्चेति नियमादप्रयोगार्हत्वात् । ततो यथेश्वरसुहृदः स्वयं
निधेना अपि तदीयेनैव धनेन फलभाज एवं गुणा अपीति तु कैयटः । अथ
देवदत्तो घटमानयतीत्यत्र देवदत्तघटयोः सत्यपि तात्पर्येऽभेदान्वयः कथं न
जायते कारणसत्त्वात् । न च विरुद्धविभक्तिरहितपदजन्योपस्थितिर्हेतुरिति
वाच्यम् । चैत्रस्य सुतस्य धनमित्यत्रातिप्रसङ्गतादवस्थ्यादिति चेन्न । विभक्त्यर्थ-
मनन्तर्भाव्य नामार्थान्वय एवोक्तव्युत्पत्तेः कल्पनात् । एतदेवाभिप्रेत्य राज्ञः
सुतस्य धनमित्यत्र दूषणमभिधाय दूषणान्तरं प्रागबोचामेति दिक् । एवं च
समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेः राजसंबन्धरूपः पुरुष इति
बोधापत्तेः । समासे भिन्नैव व्युत्पत्तिरिति चेत् स्वीकृतैव तर्हि शक्तिः ।
नञः स्थलेऽपि ^१संबन्धलक्षणयैवोपपत्तिर्निपातानां द्योतकत्वाद्वा नानु-
पपत्तिरिति वक्ष्यते । नाद्यः । राजपुरुष इत्यादेः कर्मधारयत्वापत्तेः ।
समानाधिकरणतत्पुरुषस्यैव कर्मधारयत्वात् । यत्तु समासपूर्वदशायां
यत्राभेदान्वयस्तत्रैव कर्मधारयो यत्र भेदेन तत्र तत्पुरुषमात्रमिति

तत्र । नित्यसमासे विग्रहसून्यत्वेन तादृशकर्मधारयतत्पुरुषयोरव्याप्तेः । तत्राप्यलौकिकविग्रहसत्त्वेऽपि राम सु इत्यादेर्निराकाङ्क्षतया तादृगन्वयबोधस्वरूपायोग्यत्वात् । यच्च किञ्चिद्विशिष्टद्वितीयादिविभक्त्यर्थतावच्छेदकविशिष्टवत्तो यत्र नाभेदान्वयस्तत्रैव कर्मधारयः । अन्यत्र तत्पुरुषः । राजपुरुष इत्यादौ राजत्वादिविशिष्टपष्ठयर्थसंबन्धत्वविशिष्टं लक्ष्यतावच्छेदकमिति न कर्मधारयत्वम् । केवलं संबन्धित्वेन लक्षणायां राजरूपेणैव लक्षणायां च कर्मधारयत्वमेवेति कल्पनम् । तत्र श्रद्धेयम् । राजसंबन्धिपदयोश्चैत्रस्वशब्दयोर्धनस्वामिशब्दयोश्च षष्ठीसमासोत्तरं पुरुषसुवर्णराजशब्दैः सह कर्मधारयस्वीकारेण तत्राव्याप्तेः । संबन्धस्वत्वस्वामित्वादेः पष्ठयर्थत्वाभ्युपगमात् । न च समासपूर्वं यत्र पदयोस्तुल्यविभक्तिमत्त्वं तत्रैव कर्मधारयो नान्यत्रेति वाच्यम् । पूर्वावस्थाया अपि समासार्थविवक्षानुसारिणैव कल्प्यतया भवद्रीत्या समासवाक्ये तत्पुरुषकर्मधारययोर्बोधविशेषाभावेन षष्ठ्याद्यन्तर्भावेण पूर्वावस्थाकल्पनस्याप्यसंभवात् । अत एव च न विग्रियमाणसमानार्थं विवरणमिति व्युत्पत्तिभङ्गोऽपि । अन्यथा समासार्थत्वे विवरणत्वं न स्यात् । तथात्वे वा शक्तिपरिच्छेदकत्वं न स्यात् । तस्माल्लक्षणाया असंभवादावशिकैव समूहशक्तिरिति दिक् । अथवा ओदनः पचतीत्यादिवारणाय प्रतिपदिकार्थप्रकारकबोधमात्रं प्रति सुवजन्योपस्थितिर्हेतुर्वाच्या । नीलं घटमानयेत्यादौ च प्रत्येकं विशेषणविशेष्ययोर्भाविनायामेवान्वयः । पाणिनोऽभेदान्वयस्तु न शाब्दः । उक्तं हि भाष्ये । अथवा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि कर्माणीत्येव सिद्धमिति । एतदेवारुणाधिकरणे जैमिनीयैः परिष्कृतम् । अस्तु वा विशेषणविभक्तिरभेदार्था तदप्युक्तं भाष्ये । न चान्या उत्पद्यमाना तत्संबन्धमुत्सहन्ते वक्तुमिति कृत्वा द्वितीया भविष्यतीति । भीष्मादियुक्तकटसंबन्धिकर्मत्वं प्रतिपाद्यम् । तत्र यथा कटशब्देन भीष्मत्वादिनामनभिधानात् तदभिधानाय भीष्मादिशब्दप्रयोगस्तथा द्वितीयापि तेभ्यो भविष्यति । न ह्यन्यथा तद्विशिष्टत्वं कटस्य प्रतिपादयितुं शक्यते इति कैयटः । युक्तं चैतत् । एककार्यकारणभावकल्पने लाघवात् । चैत्रो नास्तीत्यत्रापि प्रतियोगित्वार्थकप्रथमाद्वारैवान्वयः । तथा च चैत्रः पचति

१ संबन्धित्वविशिष्टलक्ष्यता° T. २ समासात् पूर्व K., T., Tr. ३ षष्ठ्याद्यन्तर्भावेण पूर्वा° T. ४ कल्पनात् T. ५ षष्ठ्या कल्पनस्याप्यसंभवात् T. ६ तदुक्तं भाष्ये T. ७ मुत्सहन्ते D., D₁.

नीलो घटः स्लोकं पचतीत्यादौ प्रथमादेरभेदोऽर्थः । एवं च विभक्त्यर्थमद्वारी-
कृत्य प्रातिपदिकार्थस्यान्वयायोगाद्वाजपुरुषः नीलोत्पलमित्यादावन्वयाय
विशिष्टशक्तिर्व्युत्पत्त्यन्तरं वादर्थव्यमिति दिक् । तदेतदभिप्रेत्योक्तं
बहुव्युत्पत्तीति विभावयामः । अन्ये तु प्राप्तमुदकं यं जायया प्रतिग्राहिते
गन्धमालये ययेति विग्रहे यत्कर्मकप्राप्तिकर्तुदकं जायानिष्ठप्रेरणाविषयी-
भूतयत्कर्तृकप्रतिग्रहकर्मणी गन्धमालये इति बोधः । प्राप्तोदकः जायाप्रति-
ग्राहितगन्धमाल्यामिति वृत्तौ तदककर्तृकप्राप्तिकर्मजायानिष्ठप्रेरणाविषयीभूतग-
न्धमाल्यकर्मकग्रहणकर्त्रीमिति बोधः । तथा च विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासाय
वाक्यं क्लृप्तं व्युत्पत्तिभञ्जनं समासे स्यात् परेषाम् । अस्माकं तद्वञ्जनमेकार्थीभाव-
कृतविशेषात्मकत्वाच्चायायसिद्धमित्यथेत्यादेरर्थः । एवमूढो रथो येन उपहृतः पशु-
र्यस्मै उद्धृत ओदनो यस्याः बहवः पाचका यस्यां शालायामित्याद्यप्यष्टयर्थबहुव्रीहि-
विग्रहे यदनडुहादिकर्तृकोद्ग्रहनकर्म रथो यद्गुद्राद्युद्देश्यकोपहरणकर्म पशुर्यत्
स्थाल्याद्यवधिकोद्धारणकर्म ओदनो यच्छालाद्यधिकरणभावनाश्रया बहव
इत्यादि रथपक्षेऽदनपाचकादितत्तत्पदार्थविशेष्यक एव बोधः । समासे तु
ऊढरथः उपहृतपशुरुद्धृतौदना बहुपाचिकेत्यादौ रथकर्मकोद्ग्रहनकर्ता पशुकर्मको-
पहरणोद्देश्य ओदनकर्मकोद्धारणावधिर्बहुपाककर्त्रधिकरणमित्याद्यन्यपदार्थविशे-
ष्यक एव बोधः । एवं च भिन्नभिन्नव्युत्पत्तिकल्पनमपेक्ष्य शक्तिकल्पनमेव वरं
किं न रोचयेः । एकार्थीभावकृतविशेषात्मकत्वादस्योपपत्तेः । तथा च क्लृप्तश-
क्त्योपपत्तावतिरिक्तशक्तिकल्पने गौरवमिति शब्दमात्रमेवास्ति भवताम् । व्युत्प-
त्त्यादिनान्तरेण तस्याः स्वीकारादित्यभिप्रेत्याह । अप्यष्टयर्थेतीत्यप्येवमेव
व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । पौनरुक्त्यापत्तेः । व्युत्पत्तिभञ्जनानुवाद एव स इत्यु-
क्तावपि नैतद्युक्तिसहम् । परैरपि समासे विशिष्टान्यपदार्थं लक्षणाभ्युपगमेन
तद्विशेष्यकबोधसंभवादिति दिक् ॥ ३२ ॥

साधकान्तरमाह—

अपष्टयर्थबहुव्रीहौ व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना ।

कृत्स्नयागश्चास्ति तव तत् किं शक्तिं न कल्पयेः ॥ ३३ ॥

१ 'पाकमावनभ्रिया T. २ इत्यादिः K. ३ 'पशु ओदन' D. ४ विशेष्य एव T.
५ 'मन्तरेण T.

अपष्ट्यर्थबहुव्रीहिर्द्वितीयान्तार्थकबहुव्रीहिस्तत्र व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना कृत्स्न्या-
गश्चास्तीति वरं शक्तिकल्पनेत्यर्थः । अयमाशयः । चित्रगुरित्यादौ स्वाम्यादिप्रती-
तये शक्तिरावश्यक्री । न च लक्षणाया निर्वाहः । सा हि न चित्रपदस्य चित्रस्वा-
मिनि । चित्रा गौरिति बोधानापत्तेः स्वामी गौरित्यापत्तेश्च । पदार्थः पदार्थेन संब-
ध्यते न तु तदेकदेशेनेति न्यायात् । अत एव गोपदे गोस्वामिलक्षणेत्यपास्तम् ।
न च चित्रा गौरिति शतयुपस्थाप्ययोरन्वयबोधोत्तरं गोपदेन चित्रपदेनैव
बोभाभ्यां बोपस्थितविशिष्टस्वार्थसंबन्धी लक्ष्यत इति वाच्यम् । एवमपि
प्रासोदक इत्याद्यपष्ट्यर्थबहुव्रीहौ तदसंभवात् । प्रासिकर्त्रभिन्नमुदकमिति बोधो-
त्तरं तत्संबन्धिग्रामलक्षणायामप्युदककर्तृकप्रासिकर्म ग्राम इत्यर्थाभावात् ।
प्राप्तेति कप्रत्ययस्यैव कर्त्रर्थकस्य कर्मणि लक्षणेति चेत्तर्हि समानाधिकरणप्रा-
तिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेरुदकाभिन्नं प्रासिकर्मैति स्यात् । अन्यथा तद्व्यु-
त्पत्तिभङ्गापत्तेः । प्राप्तेर्धार्त्वर्थतया कर्तृतासंबन्धेन भेदेनोदकस्य तत्रान्वयासंभ-
वाच्च । अन्यथा देवदत्तः पच्यत इत्यत्रानन्वयानापत्तेः । अथोदकाभिन्नकर्तृका
प्राप्तिरिति बोधोत्तरं तत्कर्म ग्रामो लक्ष्यत इति चेन्न । प्राप्तेर्धार्त्वर्थतया
कार्थं प्रति विशेष्यत्वासंभवात् । प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थप्राधान्य-
नियमात् । प्राप्तपदे प्राप्तेर्विशेष्यतया तस्या एव नासार्थत्वेनोदकेन
सममभेदान्वयापत्तेश्च । एवमूठरथ इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अत एव
चित्रगुरित्यादौ गोपदस्यैव लक्षणा साक्षात् संबन्धाच्चित्रपदस्य रूपवाचक-
तया तल्लक्षणायाः परम्परासंबन्धरूपतया गुरुत्वादित्यपास्तम् । अपष्ट्यर्थ-
बहुव्रीहावन्तर्गतप्रासादिपदानामपि कर्त्रादिवाचकत्वेन साक्षात् संबन्धसत्त्वेन
विनिगमनाविरहतादवस्थ्यात् । अत एव अपष्ट्यर्थेति विशेषणमुपात्तम् । न
च प्रासादिपदानां यौगिकत्वात्तल्लक्षणाया धातुप्रत्ययतदर्थज्ञानसाध्यतया गौर-
रवाहुत्तरपदे एव सा कल्प्येति वाच्यम् । तज्ज्ञानं विना तात्पर्यनिर्णयासंभवे-
नोत्तरपदेऽपि तस्या असंभवात् । शूरादिपदानां द्रव्यवाचकतया शूरगुरित्यादौ
विनिगमनाविरहाच्च । न च प्रत्ययसंनिधानलाभायोत्तरपदे एव सेति नवीनोक्तं
युक्तम् । तथा सति बहुव्रीहेरेवासंभवापत्तेः । अनेकमन्यपदार्थे इत्यनेनानेक-
सुबन्तानामन्यपदार्थप्रतिपादकत्वे तद्विधानात् । कथंचिदनेकेषामन्यपदार्थप्रती-

१ ० ब्रीहिस्तृतीयान्तार्थकबहुव्रीहिः T. २ बोधानापत्तेः T. ३ देवदत्तं पच्यत T.
४ लक्षणायाः T. ५ ० भानं D_३.

त्युपयोगित्वेन तत्संभवेऽपि घटादिपदेऽपि समुदायशक्तिर्विलोपापत्त्या दुर्बलम् ।
 तथाहि । चरमपदस्यैवान्यपदार्थलक्षणया समुदायशक्त्यस्तीकारे घटगोस्तम्भा-
 दिपदेऽपि घट चेष्टायां गम्लु गतौ स्तम्भु रोधने इत्यादिधातुभ्यः पचाद्यजादि-
 भिव्युत्पादनसत्त्वेनान्तर्गतप्रत्यये जातिविशेषलक्षणया नियतबोधः संभवत्येव ।
 नन्वेवं पाचकादिपदवद् घटादिपदमपि यौगिकमेवास्तु । न च रुढालाभः ।
 मूकादिपदानामेव तादृशत्वात् । अत एवैतदव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति मुकुटः ।
 अर्थवत्सुत्रारम्भसामर्थ्येन तादृशस्य कस्यचिदवश्यकल्पत्वादिति चेन्न । एवं सति
 रुढ्या निर्णयः कापि न स्यात् । सर्वेषां यौगिकत्वापत्तेः । मूकपदेऽपि मूकाय-
 तीति यौगसंभवात् । कै गै रै शब्दे इति धातूनां स्पष्टत्वात् । अर्थवत्सुत्रा-
 रम्भस्य बहुपटव इत्यादिसाधकत्वेन चरितार्थत्वात् । ज्ञापकत्वे वा त्वद्रीत्या
 ज्ञाप्यालाभादनुपपत्तिरेव । एतेनापष्टयर्थबहुव्रीहौ विनिगमनाविरहादुभ-
 यत्रापि लक्षणास्त्वित्यपास्तम् । घटादिपदेऽपि धातुप्रत्यययोस्तत्संभवात् ।
 तस्मादावशिष्यकैव समुदायशक्तिरिति समुदायार्थ इति विभाव्यतां सूरिभिः ।
 वस्तुतस्त्ववयवानां शक्तिं लक्षणां चाज्ञानतामपि बालानां समुदाय-
 व्युत्पादने बोधः सर्वानुभवसिद्धः । अत एव तेषां समुदायार्थबोधेऽपि विना
 व्याकरणादिव्युत्पत्तिं पदविभागसामर्थ्याभावोऽपीत्यप्यनुभवसिद्धम् । न चैतेषां
 शक्तिभ्रमाद्बोध इति युक्तम् । बोधकत्वस्याबाधेन तज्ज्ञानस्याभ्रमत्वात् । पद-
 तदर्थं घटितशक्तेर्भ्रमासंभवस्यासकृदावेदितत्वात् । न चाज्ञातैव प्रत्येकपदलक्षणो-
 पयुज्यत इति शङ्क्यम् । अगृहीतशक्तिकादप्यर्थोपस्थित्यापत्तेः । तीरादौ गङ्गा-
 संबन्धाग्रहवतो गङ्गायां घोष इत्यादौ बोधापत्तेश्च । तथा च प्रत्येकवृत्त्यज्ञानेऽपि
 बोधादावशिका समुदायशक्तिः । घटादिपदेऽपिदमेव तत्साधकम् । अत एव
 पङ्कजपदेऽपीत एव तत्तत्तीकारः प्रकारान्तरासंभवादित्युक्तप्रायम् । न च समु-
 दायशक्त्यज्ञानदशायां लक्षणयापि बोधान्न शक्तिः । गङ्गादिपदानामपि तीरादौ
 शक्तिग्रहदशायां लक्षणया प्रवाहबोधकत्वाच्छक्तिसिद्धयनापत्तेः । अत्रावयवेष्व-
 इति तीरादिपदेभ्योऽपि लक्षणया गङ्गाबोधदर्शनाच्च । अपि च भाषासु संस्कृते
 च व्यवहारसाम्येऽपि शक्तत्वाशक्तत्वनिर्णयो विना व्याकरणकोशादिकमसंभा-
 वित इति गृहीतप्रामाण्यात् तस्मात् समर्थः पदविधिरिति सूत्रतद्भाष्यादि-

१ °विलोपापत्तेर्द्वयचनम् T. २ भूवादि° K., T. ३ °यौगिकत्वसंभवात् D.
 ४ वाज्ञानतामपि K., D.

सामान्यरूपादनेकमन्यपदार्थे इत्यादिविशेषाच्च समासशक्तिनिर्णयो दुर्वार एव ।
उक्तं च पराशरोपपुराणे ।

‘पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम् ।

सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन ॥’

इति । न च साधुत्वमात्रपरिच्छेदकत्वं शास्त्रस्योक्तं न तु शक्तिनिर्णयकत्वमिति वाच्यम् । भवद्रीत्या शक्तत्वस्यैव साधुत्वपर्यवसानादित्याद्यन्यत्र प्राक् प्रपञ्चितम् । वक्ष्यते च अत एवाकारणाधिकरणारम्भोऽप्युपपद्यते । अन्यथा पूर्वपक्षस्यैवासंभवात् तदसंभवापत्तेः । तथाहि । किमरुणिमा वाक्याद् भित्त्वा प्रकरणे निवेद्यः किं वा क्रीणातिना संबध्य तदङ्गमेकहायन्यामिति संशये क्रीणातिना संबध्यमानस्तृतीयासंयोगात् करणकारकं स्यात् । न चामूर्तस्य तद्युक्तमिति नास्य क्रयसंबन्ध इति ततः पृथग्भूतः प्रकरणे निविशत इति हि पूर्वः पक्षः । स चानुक्ति-संभवः । समासशक्त्यस्वीकारे पिङ्गाक्ष्येकहायनीशब्दयोरपि पिङ्गत्वाक्षित्वैकत्व-हायनत्वादेर्वाच्यतया तेषामप्यमूर्तत्वात् क्रीणातौ करणत्वासंभवेन क्रीणातिकर-णस्यैतद्वाक्यादलाभारुण्यस्य वाक्यभेदशङ्काया एवासंभवात् । त्रिष्वपि लक्षि-तद्रव्यविध्युपपत्तौ वाक्यभेदशङ्काया निर्वाजत्वाच्च । बहुव्रीहोररुणशब्दस्य च लाक्षणिकद्रव्याभिधायकताया अविशिष्टत्वेन बहुव्रीहोरेव द्रव्यविधायकत्वं नारुणपदस्येत्यत्र विनिगमकासंभवात् । वाक्यभेदेन प्रकरणे निवेशस्याप्यसंभा-वितत्वाच्च । तथाहि । प्रकरणेऽप्यमूर्तत्वात् क्रियाभिः कारकत्वाच्च द्रव्यैरपि संब-न्धोऽसंभवी । अनुपात्तानि च द्रव्याणि कथं गुणेनानेन संबध्येरन् । न च तृती-यया प्राकरणिकानि करणद्रव्याण्यनूद्य गुणस्तत्परिच्छेदकत्वेन विधीयते न तु गुणस्यात्र तृतीयया करणत्वं येन द्रव्यसंबन्धो न स्यात् तृतीयया द्रव्याणामु-पादानाच्च नानुपादानदोषोऽपीति वाच्यम् । न हि तृतीया करणद्रव्याभिधायिनी येन तथा तेषामनुवादः स्यात् । शक्त्य एव निष्कृष्टा विभक्तिवाच्या इति मीमां-सकसिद्धान्तात् । अथ प्रातिपदिकमेव गुणवचनमपि लक्षणया द्रव्यपरं तच्च तृतीयासंयोगात् करणम् । तथा च गुणविशिष्टं करणं प्रतीयते । तत्र करणतया-वगतानि प्रकरणगतानि विशेष्यतयानूद्य विशेषणभूतो गुणः परिच्छेदकत्वेन

१ पराशरीय° T., पराशरीयपुराणे K., D., २ T. drops प्राक्. ३ D., omits तथाहि. ४ °तृतीयान्तयोगात् Tr., तृतीयायोगात् D. ५ करणकारणकारकं D., ६ °द्रव्याभिधायकतया T. ७ अनुपपन्नानि T. ८ तृतीया D. ९ T. drops प्रकरणगतानि.

विधीयते । येन द्रव्येण किञ्चित् क्रियते तेनारुणगुणकेनेति पूर्वपक्षाशय इति चेन्न । एवं हि लक्षितद्रव्यस्य क्रय एव करणत्वसंभवाद्वाक्यभेदायोगात् । अथ श्रौतैकहायन्यवरुद्धे लाक्षणिकद्रव्यनिवेशो न युक्त इत्युक्तमेवेति चेन्न । पिङ्गाक्ष्ये-
कहायनीशब्दयोरपि समासत्वाल्लक्षणयैव द्रव्यप्रतिपादकत्वेनैकहायन्याः श्रौत-
त्वासंभवात् । तस्मात् पूर्वपक्षासंभवादरुणाधिकरणोच्छेदापत्तेर्बहुव्रीहौ शक्ति-
रावश्यक्ये । अन्यथा यौगिकानां द्रव्यवाचकत्वसाधनं वार्तिकोक्तं व्यर्थं स्यात् ।
अथ त्रयाणामपि गुणवाचकत्वेऽमूर्तत्वात् क्रीणातौ करणत्वासंभवात् त्रिभिरपि
प्राकरणिकद्रव्यानुवादेन गुणा विधीयन्त इति पूर्वपक्षरचनेति चेन्न । अनुवा-
दाय त्रयाणामपि द्रव्यं लक्षणाभ्युपगमेन तन्नयविशिष्टक्रयभावनाया अपि विधि-
संभवे क्रीणाल्येनन्वयस्य प्राप्तानुवादेनानेकविधाने वाक्यभेदस्य च पौर्णमास्यधिकर-
णन्यायेन निरस्ततया पुनः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् । अथैकत्वे द्रव्यगुणयोरैकैकर्म्या-
क्रियमः स्यादिति सूत्रविरोधाच्च । द्रव्यगुणयोः समावेश एव सूत्रप्रवृत्तेः स्पष्ट-
त्वात् । तस्मादरुणाधिकरणारम्भाय त्वयापि बहुव्रीह्यादौ शक्तिः स्वीकार्येत्यु-
च्यते । बहुव्रीहौ लक्षणायाः समस्यमानानेकपदतत्सामानाधिकरण्यालोच-
नापेक्षाधिक्येन विलम्बितत्वान्न तेन द्रव्यविधिः स्यात् । किं तु गुणशब्देनैवेति
क्रयसाधनद्रव्यनिवेशस्य पूर्वोत्तरपक्षयोः साम्यात् तदाक्षेपपूर्वपक्षस्य वाक्यीयद्र-
व्यनिवेशसिद्धान्तस्य चायोगाद्बहुव्रीहौ शक्त्यस्वीकारे ऽरुणाधिकरणारम्भासंभव
इत्यप्याहुः । अथैवं निषादस्थपत्यधिकरणोच्छेदापत्तिः । निषादः स्थपतिर्य-
स्येति बहुव्रीहिणा निषादस्वामिके श्रुतिवृत्तः शब्दः कर्मधारये वाक्यवृत्त इति
न्यायेन बहुव्रीहेरेवापत्तेः । यत्तु कर्मधारये यावन्तः श्रुतपदार्थास्तावतां वाक्या-
र्थेऽन्वय इति प्राबल्यम् । बहुव्रीहितत्पुरुषयोस्त्वेकस्यैवेति ततस्तयोर्दौर्बल्यम् ।
पृष्ठीतत्पुरुषादौ बहुव्रीहौ चैकस्यैवान्वय इति तयोर्थेद्यपि साम्यं तथापि तत्पुरुषे
एकपदार्थत्यागो बहुव्रीहौ द्वयोरिति बहुव्रीहेर्दौर्बल्यमित्याहुः । तच्चिन्त्यम् ।
बहुव्रीहौ शक्तिपक्षे बहुव्रीहौ श्रुतिवृत्तता । कर्मधारयतत्पुरुषयोर्वाक्यवृत्ततेति
श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायेन बहुव्रीहेरेवापत्तेर्निषादस्थपत्यधिकरणाद्युच्छेदावार-
णात् । न च बहुव्रीहादपि विनियोजकं वाक्यमेवेति न तत्र तद्व्यायप्र-

१ K. inserts च before व्यर्थ; Tr. and T. have. व्यर्थ च. २ द्रव्ये लक्षणत्वेन
तत्त्रयं T. ३ 'त्येनन्वयस्थाप्राप्तं K. ४ निरस्तत्वात् D., D₁. ५ अपेक्षत्वे K.
६ 'रैककार्यान्वयमः T. ७ वायोगां D₁. ८ इत्याहुः D₂.

वृत्तिरिति वाच्यम् । न हि विनियोजिकां श्रुतिं ब्रूमः किं त्वभिधात्रीम् । अत एव रथकाराधिकरणे योगाद्रूढेः प्राबल्यं सिद्धान्तितम् । तथा च ताद-
शस्थले वाक्याच्छ्रुतेः प्राबल्ये तच्छ्रीप्रवृत्तत्वादि बीजं तद्व्यायेन कर्मधा-
रयादिकं पराभूय बहुव्रीहेरेव स्यादिति वदाम इति चेन्न । बहुधास्माभिर्न्या-
येन कर्मधारयेऽपि शक्तेः प्राग्व्यवस्थापनात् द्वयोरपि श्रुतित्वेन विरोधाधिकरण-
न्यायस्यात्राप्रवृत्तेः । कर्मधारयनिर्णयस्य तत्पुरुषस्वरेणैव संभवाच्च । अत एव
स्वरस्य षष्ठीतत्पुरुषे साम्यात् स एवाशङ्क्य निरस्तः । नन्वेवमपीन्द्रपीताधि-
करणे स्वरत एव बहुव्रीहिनिरणयसंभवात्तत्पुरुषाशङ्का नावतरेदिति चेत्तवापि
स्वराद् बहुव्रीहिनिरणयस्य स्थूलपृषतीमनद्वाहीमालभेतेत्यादिवत् संभवात् तद-
वतारासंभवस्य तुल्यत्वात् । उक्तं हि शब्दकौस्तुभे मूलकृता । एवमेवेन्द्रपीत-
स्योपहृतस्योपहृतो भक्षयामीत्यत्रापि स्वरेणैव निर्णय इन्द्रपीताधिकरणमवैयाकर-
णान्प्रति कृत्वाचिन्तया वा नेयमिति । नन्वेतदसङ्गतं तृतीया कर्मणीत्यनेन
कर्मणि क्तान्ते परे पूर्वपदं तृतीयान्तं प्रकृत्येति पूर्वपदप्रकृतिस्वरविधानेन बहु-
व्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदमिति बहुव्रीहिस्वरस्यैव संभवात् तस्मान्निरणयासंभवात् ।
अन्यथा नखनिर्भिन्नं भवतीत्यत्रापि तत्पुरुषत्वं न स्यादिति चेदत्रोच्यते । अचे-
तनदेवतायाः पानासंभवात् पिबतिर्दानलक्षणार्थ इति वार्तिके स्पष्टमेव । उक्तं
च शास्त्रदीपिकायामपि । तत्पुरुष इन्द्रपीतशब्द इन्द्राय दत्तस्येत्येवं विशेषणं
स्यात् । न चासाविन्द्राय दत्तः पूर्वसंकल्पितो हि हुंताहुतसमुदायस्तस्मै दत्त-
स्तदवयवस्त्वयमित्यादिना । अपि चैवमिन्द्राग्निभ्यां पीतेऽपीन्द्रपीतत्वस्य डित्थड-
पित्थयोर्मातरि डित्थमातेतिवद्वक्तुं शक्यत्वादैनद्राग्नेऽपि मन्त्रलिङ्गाबाधान्मन्त्रप्रवृ-
त्तावैनद्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यादित्यधिकरणोच्छेदापत्तिः । तस्मात् पीतशब्दो
दानार्थक इति स्वीकार्यम् । तथा चेन्द्रोद्देश्यके दान इन्द्रस्य कर्तृत्वकर-
णत्वयोरसंभवाच्च ततस्तृतीयेति तृतीया कर्मणीत्यस्य प्रवृत्तिः संभावितैव
न । अथ कर्तृकरणतृतीयाया असंभवेऽपि हेतुतृतीया स्यात् । न चो-
पपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति न्यायाच्च हेतुतृतीया संभवतीति
वाच्यम् । एवं हि त्वया संप्रदानचतुर्थी वाच्या तथा च समासो न
स्यात् । तादर्थ्यसमासस्य बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात् प्रकृतिविकार-

१ यच्छ्रीप्र° T. २ पीतस्योपहृतो K. ३ दत्तस्येत्येव T. ४ °संकल्पितोऽपि D.
५ हुंताहुतस्य समुदाय° T.

मात्रविषयताया व्युत्पादितत्वादिति चेत् तर्हि तृतीयापक्षेऽपि समासासंभवात् सापि न युक्ता । तृतीया तत्कृतार्थेत्यादि तद्विधायकेषु हेतुतृतीयायाः समासानभिधानात् । तृतीयेति योगविभागश्चतुर्थीति योगविभागेन तुल्यः । बलिरक्षितग्रहणानर्थक्यं च तृतीयासमासविधायकान्तरानर्थक्यापत्त्या तुल्यम् । तस्मात् समासश्चान्दसः षष्ठीसमासो वेति वाच्यम् । तत्र स्वराग्निर्य इति सुष्ठुक्तम् । अथ चेतनदेवतापक्ष इदमधिकरणं । तत्र पानसंभवात् कर्तृतृतीया स्यादिति चेत् तर्ह्येद्राग्रे तु लिङ्गभावात् स्यादित्यधिकरणविरोधः स्पष्टः । किं च चेतनत्ववदनेकत्वस्यापि युक्तिसाम्यादापत्तिविन्नादिशब्दानां जातिशब्दत्वापत्तिः । स्वीकृतं च तथोत्तरमीमांसायां देवताधिकरणे । तथा च जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् कोऽकृतमितप्रतिपन्ना इति विधानादन्तोदात्ततापत्तौ स्वरविरोधः सिद्धान्ते स्यात् । तस्माद्युक्तः स्वराग्निर्यः । वस्तुतस्तु पीतशब्दस्य दानार्थकत्वे तत्पुरुषापत्तिर्द्वारा । समुदायदानेऽवयवानामपि दानात् । अन्यथा धान्यराशिदानेऽप्येकदेशस्वीकारो न प्रत्यवेयात् । अत एव सर्वप्रधानाधिकरणे 'नन्वग्न्यादिभ्यो दत्तं कथं स्विष्टकृते दीयते त्यक्तस्य पुनः स्वीकारे शिष्टाचारविरोधादित्याशङ्क्य प्रत्यक्षवचनविहितत्वान्न दोषः' इति परिहृतं संगच्छते । अन्यथोर्वैरितस्यैकदेशस्य त्यागविरहाच्छङ्काया एवाभावादलग्नकतापत्तेः । न चात्र समुदायदानमेव नास्तीति वाच्यम् । पूर्वसंकल्पितो हि समुदायस्तस्मै दत्तस्तदवयवस्त्वयमित्यादिग्रन्थानामुक्तयसंभवापत्तेः । 'तस्मात् तत्पुरुषे स्वार्थलाभः स्यादुत्तरे पदे बहुव्रीहौ द्वयोरन्यपरत्वात् दुर्बलत्वधीः' इति पूर्वपक्षे पीतशब्दे लक्षणेति सिद्धान्तवचः शिष्यधन्धनमात्रमिति विभावयामः । किं तु स्वराद्बहुव्रीहौ समुदायशक्तिं स्वीकृत्य श्रुत्या वा निर्णय इत्येव तत्त्वं भट्टपादैरभ्युपेयमिति परिभाव्यतां सूरभिः । ग्रन्थस्त्वित्थं योज्यः । अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिर्द्वितीयाद्यन्तार्थकबहुव्रीहिः । षष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ दामोदर इत्यादौ रूढेरपि स्वीकारात् केवलं यौगिकत्वसूचनायेदं तत्रापि व्युत्पत्त्यन्तरस्य शक्तेः कल्पनात् कृतस्यानन्यलभ्यार्थन्यायस्य त्यागश्च तव मीमांसकमन्यस्यास्ति । तत् किमन्येष्वपि समासेषु शक्तिं न कल्पयेरिति । अषष्ठ्यन्तेति पाठे स्वरूपसद्विशेषणं परमतनिराससूचकम् । तद्यथा । इत्थं

१ यान° D, २ °शब्दतापत्तिः K. ३ °नाच्छादनात् कृत° T. ४ स्वीकारेण प्रत्यवेयात् T. ५ अन्यथा तस्यैकदेशस्य T. ६ °दुत्तरपदे K., T. ७ T. drops मात्र. ८ T. drops ध्रुत्या. ९ षष्ठ्यर्थ° D., D., १० दामोदरं K. ११ षष्ठ्यन्तेति T.

ह्याहुर्मामांसकाः । चित्रगुरेकहायनी पिङ्गाक्षी इत्यादौ चित्रा गावो यस्येति न विवरणम् । किं तु चित्राणां गवामयमिति । उक्तं ह्यरुणाधिकरणवार्तिके । यदि ह्यन्यपदार्थः पृथगन्त एव स्यात् ततो यथा राज्ञः पुरुष इत्यत्र पृथगन्तत्वाद्वाजा पुरुषविशेषणं भवति प्रथमान्तत्वाच्च पुरुषः प्रधानत्वरूपेण समासार्थो भवति एवमेव चित्रगवादिपदैरपि देवदत्तादिविशिष्टा गाव एव प्रतीयेरन् न चित्र-गोविशिष्टदेवदत्तादिः । तस्माच्चित्राणां गवामयमितिदृशेऽर्थे बहुव्रीहिवर्तते । यद्यप्यन्यथा विग्रहस्तथाप्युत्तरकालमीदृशार्थदर्शनादेवमेव विग्रहोऽपि वक्तव्यः । अतश्च संबन्धविशिष्टाभिर्गोभिर्देवदत्तादिविशिष्ट इति समासार्थो विज्ञायत इति । यद्यप्येवमपि चित्राणां गवां राज्ञः पुरुषः इत्यादौ पृथगर्थप्राधान्यदर्शनात् समासे ऽपि तथात्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । यथैव राज्ञः पुरुष इत्यत्र पृथग्यां प्रयुज्यमानायां संबन्धः प्रधानभूतो विज्ञायते कृते तु समासे निवृत्तायां विभक्तौ पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकप्रयोगदृष्टार्थात्यागात् संबन्धाधिक्यस्य च सामीप्यावगतविशिष्टार्थप्रत्ययादेव सिद्धेर्न संबन्धपरः समासो भवत्येवमेव बहुव्रीहावपि न संबन्धप्राधान्यमित्युत्तरग्रन्थविरोधात् । तथापि चित्रगोसंबन्धी राजसंबन्धवांश्च समासार्थ इत्येव युक्तम् । संबन्धविशिष्टाभिर्गोभिरात पूर्वग्रन्थस्वरसात् । सामीप्यात् संबन्धभानमिति त्वयुक्तमेव । निषादस्थपत्यधिकरणभङ्गप्रसङ्गात् । पृष्ठीतत्पुरुषेऽपि लक्षणाविरहेण गौरवविरहात् । अस्मद्रीत्या च संबन्धविशिष्टे लक्षणायां गौरवं स्फुटमेव । तथा राजसंबन्धविशिष्टाभिन्नः पुरुष इति बोधः । न चैवमपि तत्पुरुषे विग्रहसमासयोः समानार्थत्वहानिर्नोद्धृतेति वाच्यम् । राजा चासौ पुरुषश्चत्येव विग्रहस्य तन्त्ररत्नात् प्रतीतः । अत एव द्वन्द्वे युगपदधिकरणवचनत्वदर्शनाद्रासौ च कृष्णौ चैत्येव विग्रह इति महाभाष्ये स्थितमित्याहुः । तत्र यद्यपि पृथगन्तेन समासे विग्रहेण समानार्थत्वहानिर्नोद्धृतैव तत्पुरुषे प्रथमान्तानामेव समासे पृष्ठीति समासावधायकस्य पृथया आक्रोश इति समासपृथया अलुग्विधायकानां पृष्ठीप्रत्ययेन सिद्धिरिति स्वरवैलक्षण्यस्य चोच्छेदापत्तिरिति विग्रहसमासयोरतिसमानार्थत्वनियमो नास्त्येव । अथ पृथगन्तेनैव विग्रहोऽस्तु । परंतु समासबद्ध व्यासेऽपि राजपदं संबन्धिलक्षकं पृष्ठी चासेदार्थेति स्वीकयमती न समानार्थत्वहानिरिति चेत् तथापि पृथगर्थस्याभेदस्य विग्रहे प्राधान्यात् समासे

१ त्वाहुः D₂. २ कालीनमी D₂. ३ निवृत्तायां तु विभक्तौ T. ४ सिद्धे न K.
५ तथापि T. ६ तथा च राज ७ वत्येव D. ८ मतोऽन K.

तदापत्तेरवारणादिति दूषणमस्येव तथापि स्फुटत्वादुपेक्ष्याह । अषष्ठ्यन्तेति । दूषणबीजप्रदर्शनम् । अप्रथमाविभक्त्यर्थ इति वार्तिकेन प्रथमान्तार्थे तदसंभवस्य कण्ठत एव प्रतिपादितत्वाच्च चित्राणां गवामयमिति विग्रहप्रदर्शनं युज्यते । अषष्ठ्यर्थवदुब्रीहावेवमप्यर्थसाम्यालाभाच्चेति भावः । तथाहि । प्राप्तोदक इत्यादावुदककर्तृकप्राप्तिकर्मैति बोधः सर्वसिद्धः । अत एव समासेनाभिहितत्वाच्च द्वितीयेत्यनभिहित इत्यादौ स्पष्टम् । एवमूढरथ इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अत्र समाससमानार्थको विग्रहोऽसंभावित एव । द्वितीयान्तान्यपदार्थस्य विग्रहे धात्वर्थक्रियाविशेषणत्वात् । नन्वत्रापि प्राप्तस्योदकस्यायं कृतस्य विश्वस्यायमूढस्य रथस्यायमुपहृतस्य पशोरयमुद्धृतस्यौदनस्येयामत्यादि विग्रहः कार्य इति चेदेवं हि ग्रामकर्मकप्राप्तिकर्तृत्वमुदके उदककर्तृकप्राप्तिकर्मत्वं च ग्रामे न लभ्येतेति गृहं प्राप्तस्योदकस्याश्रयो ग्राम इतिवत् प्राप्तोदकं ग्राम इत्यपि स्यात् । अपि च समासे पूर्वोत्तरपदार्थयोर्विशेषणत्वाद्विग्रहेऽपि तथैव वाच्यत्वे ह्यलौकिकप्रक्रियावाक्यं प्रथमान्तेन षष्ठ्यन्तेन वा । नाद्यः । अलौकिके प्रविष्टानामेव पक्षान्तरे परिनिष्ठितेऽपि प्रयोगसंभव उपस्थितपरित्यागस्यान्याय्यत्वात् षष्ठ्यन्तत्वेन विग्रहप्रदर्शनायोगात् । तैथासंभवाच्च । तथाहि । कृत सु विश्व सु इत्यादि सर्वत्र स्थितौ विभाषा समाससंज्ञायां यदा सा जाता तदा प्रातिपदिकसंज्ञा । ततः सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति विभक्तिलोपो भवति । यदा तु सा न भवति तदा तस्या विभक्तेः को निवारयितेति विभाव्यताम् । तथा च तस्या एवोत्तरं प्रवृत्तानुशासनाच्छ्रवणं स्यात् । इत्थमन्यत्राप्युच्यम् । न द्वितीयः । शेषो बहुव्रीहिरित्यत्र यस्यैव त्रिकस्य न समास उक्तस्तस्यैवोक्तादन्यत्वात् तन्मात्रगत एवात्र शेषो विवाक्षित इति प्रथमान्तामेव स इति भाष्यकारैर्व्यवस्थापितत्वात् । तस्मान्नोक्तविग्रहसंभवः । एतेनाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्रापि विधिवाक्येऽग्नये होत्रमस्मिन्निति यौगिकमग्निहोत्रं नामेति वदन्तो मीमांसकाः परस्ताः । यत्तत्परिमले नात्यन्तं व्यधिकरणबहुव्रीहेरसंभवः । सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहाविति ज्ञापकेन कण्ठेकाल इत्यादौ तदभ्युपगमात् । तदेवं व्याप्तिन्यायेन सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभ इत्यादिपञ्चम्यन्तोऽप्यवज्यौ बहुव्रीहिरिति वामनेनोक्तत्वाच्च । परं त्वेकज्ञापकसिद्धोऽप्यसौ न सर्वत्र युक्तः । शेषो बहुव्रीहिरित्यनुशासनवैयर्थ्या-

१ षष्ठ्यन्तत्वेऽपि D₂. २ तयासंभवात् D₂. ३ सर्वस्थितौ T. ४ समासो नोक्तस्तस्यैऽ T.
५ विशेषो T. ६ तद्व Tr., D₁, D₂.

पत्तेः । किंतु प्रामाणिकप्रयोगात् कचिदेवेति । तच्चिन्त्यम् । सप्तमीविशेषणे बहुव्री-
हविति ज्ञापकसिद्धस्यापि ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्रेति परिभाषाविरोधेन सर्वत्र
प्रवृत्त्ययोगात् । अन्यथा शेषो बहुव्रीहिरिति सुत्रानर्थक्यं च स्यात् । किं चैवं
वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्या इति ज्ञापकात् प्रकृतिविकारभावाभावेऽपि चतुर्थी-
समासस्वीकारापत्तौ तस्मिरासकत्वोक्तिविरोधापत्तिः । तथा 'अथातो धर्मजि-
ज्ञासा' 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादौ धर्माय जिज्ञासा ब्रह्मणे च जिज्ञासे-
त्यादि व्याचक्षाणाः शबरस्वामिनः प्राचीनवृत्तिकृतश्च भट्टपादैर्वाचस्पतिमिश्र-
प्रभृतिभिश्च पर्यवसितार्थपरतया व्याख्येयाः पर्यनुयोज्याश्च न स्युः । न हि
ज्ञापकसिद्धत्वस्य तुल्यत्वेऽपि त एव प्रामाणिका विपरीताश्च शक्यन्ते वक्तुम् ।
यत्तु परिमले प्रकृतिविकारभावाभावेऽपि चतुर्थीसमासस्वीकारे चतुर्थीतदर्थार्थेति
सूत्रे बलिरक्षितग्रहणवैयर्थ्यापत्तिरित्युक्तं तत्विहापि समम् । वस्तुतस्तु
अग्निहोत्रपदमन्तोदात्तं पठ्यते । तच्च समासस्येत्यनेन तत्पुरुषादावुपपद्यते ।
बहुव्रीहौ तु बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदमिति विशिष्य स्वरान्तरविधानादत्र तद-
भावादयुक्त एव बहुव्रीहिरिति तदर्थं यौगिकमिदं नामेत्यप्ययुक्तमेव । तस्मा-
द्यदि यौगिकं नामेत्याग्रहस्तदा हूयतेऽस्मिन्निति होत्रम् । तान्मन्यत्रोणादय
इत्यधिकरणे त्रः । तैत् अग्नेर्होत्रमग्निहोत्रमिति तत्पुरुष एव । एवं स्वरो न
विरुद्ध इत्यादि सुधीभिर्ज्ञेयम् । तस्मात् षष्ठ्यन्तादिना विग्रहासंभवादगत्यात्र
विग्रहवाक्ययोर्विशेषणविशेष्यभावांशे साम्यत्याग इति स्थितम् ॥ ३३ ॥

नन्वस्तु प्रथमान्तानामेव बहुव्रीहिः पक्षे चित्रा गावो यस्येत्यपि वाक्यमस्तु ।
परंतु विग्रहत्वं चित्राणां गैवामयमित्यस्यैव । अतिसमानार्थत्वात् । अन्यथा विग्र-
हाच्छक्तिनिर्णयो न स्यात् । एवं प्राप्तोदक इत्यत्रापि प्राप्तमुदकं यमित्यस्य न
विवरणत्वं किं तदककर्तृकप्राप्तिकर्म ग्राम इत्यस्यैव । न चैवं समस्यमानपदैर्विव-
रणविरहाद्बहुव्रीहेर्नित्यसमासतापत्तिः । समासार्थबोधवाक्यासंभविन एव
नित्यसमासत्वात् । यथोन्मत्तगङ्गा लोहितगङ्गमित्यादेः । अत्रान्यपदार्थं च संज्ञाया-
मिति संज्ञायां समासः । संज्ञा चोन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्नित्यनेन न बोध्यत इति न
लौकिको विग्रह इति स्पष्टमन्यत्रेति चेन्न । उन्मत्तगङ्गेति गङ्गाद्वारसंज्ञेति

१ पर्यवसितार्थकथनपरतया T. २ D₂. drops n. ३ तदर्थं K., T.
४ नामेत्याद्युक्तमेव K. ५ ततश्च D₂. ६ गवामित्यस्यैव K. ७ 'बोधकवाक्या' T.
८ D₂. and D₃. drop n. ९ D₂. drops n. १० गङ्गाद्वारस्य संज्ञे° T.

वाक्यस्य तत्रापि विग्रहत्वसंभवात् नित्यसमासोच्छेदापत्तेः । अधिहरीत्यत्रापि हरिनिष्ठेति वाक्यसंभवात् । अत एव यत्र न लौकिको विग्रहः स नित्यसमास इति सिद्धान्तकौमुद्यां ग्रन्थकृतैव व्युत्पादितम् । एवं च चित्रा गावो यस्येति न विवरणं बहुव्रीहेर्नित्यसमासत्वादिति भणिकारोक्तिरप्यपास्तेति दूषणं स्फुटत्वादुपेक्ष्य दूषणान्तरमाह—

आख्यातं तद्धितकृतोर्येव किंचिदुपदर्शकम् ।

गुणप्रधानभावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः ॥ ३४ ॥

तद्धितकृतोर्येव किंचिदर्थबोधकं विवरणमाख्यातं तत्रापि विपर्ययो दृष्टः । तथाहि । आक्षिकः कुम्भकार इत्यत्राक्षर्करणाक्रियाश्रयः कुम्भानुकूलव्यापाराश्रय इति बोधः । तद्विवरणेऽक्षैर्दीव्यतीत्यादावक्षनिष्ठव्यापारजन्या भावना । कुम्भं करोतीत्यत्र कुम्भनिष्ठोत्पत्त्यनुकूला भावनेति बोधः । तथा च विशेषणविशेष्यभावांशे समानार्थत्वविरहेऽप्यन्यांशे विवरणत्वं शक्तिनिर्णायकत्वं च समानार्थत्वात् स्यादिति भावः ॥ ३४ ॥

नन्वेवं सर्वत्र समासे शक्तिस्वीकारे कर्मधारयतत्पुरुषयोस्तुल्यत्वापत्तिस्तथा च लाघवात् कर्मधारय इति निषादस्थपत्यधिकरणविरोधः । स्वरादेरपि साधकान्तरस्याभावात् सिद्धान्तासंगतिश्चेत्यत आह—

पर्यवस्यच्छाब्दबोधाविदूरप्राक्क्षणस्थिते ।

शक्तिग्रहेऽन्तरङ्गत्ववहिरङ्गत्वचिन्तनम् ॥ ३५ ॥

पर्यवस्यश्चासौ शाब्दबोधश्च तस्मादविदूरश्चासौ प्राक्क्षणश्च । तदानींतनलाघवमादायाधिकरणाविरोध इत्यर्थः । अयं भावः । निषादस्थपतिपदं समासशक्तिपक्षे निषादरूपे स्थपतौ निषादानां स्थपतौ निषादस्वामिके पुरुषान्तरे चेत्त्येवं सर्वत्र शक्तत्वान्नानार्थम् । तथा च नानार्थं तात्पर्यवशाद्विशेषावगतिरिति निषादस्थपतिपदस्य निषादरूपे स्थपतौ निषादानां स्थपतौ वा तत्कल्प्यमिति संदेहे उपस्थित्यादिलाघवान्निषादरूपे तत्रैव तत् कल्प्यते । परेषामपि सति तात्पर्यं यष्टीः प्रवेशयेतिवल्लक्षणया दुर्वारत्वात् तात्पर्यमेव कल्प्यकोटाववाशिष्यत इति न कश्चिदोष इति । यत्तु परिमले षष्ठीसमासेऽपि कर्मधारयवत् पदार्थयोः पदैश्चत्वाद्भेदस्यैव षष्ठ्यर्थस्यापि संसर्गमर्यादया लाभाच्च लक्षणा

युज्यते । न च विग्रहवाक्ये विभक्त्यर्थस्य संसर्गतयाप्रतीतेः समासेऽपि तत्प्रकार-
कबोधार्थं लक्षणापेक्षेति वाच्यम् । पर्वतो वह्निमानित्यत्र मतुवर्थस्य पक्षसाध्य-
संबन्धस्येव विभक्त्यर्थसंसर्गस्यापि संसर्गतया प्रतीत्युपपत्तेरित्याशङ्क्यैक्ये
लाघवं संबन्धे भेदकल्पनागौरवमिति सार्वत्रिकः कर्मधारयबलीयस्त्वे हेतुः ।
राज्ञः पुरुष इत्यादौ तु भेदनियतपष्ठयाद्यनुरोधादैक्यत्याग इत्यब्रुवन् । तन्न श्रद्धे-
यम् । विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धप्रातिपदिकार्थयोरभेदस्यैवोक्तरीत्या युक्तत्वेन पष्ठ-य-
र्थद्वारा भेदेनान्वयस्यासंभवात् । एतेन पष्ठयर्थो लक्षणीय इति कल्पतरुकारा-
द्युक्तिरयुक्ता । तथा च संबन्धिन्येव लक्षणा । अत एव

‘निपादपदमेवं तु स्थपतौ लक्षणां व्रजेत् ।’

इति पार्थसारथिमिश्रेणोक्तम् । अत एव राजा चासौ पुरुषश्चेत्येव ते विगृ-
ह्णन्ति । एवं भेदे गौरवमिति सिद्धान्तोऽप्ययुक्तः । वस्तुतो भेदाभेदयोः सत्त्वेन
गौरवाद्यभावात् तत्र तात्पर्यं कल्पनीयमिति चेन्न । तस्य पदाप्रतिपाद्यतया
तत्कल्पनायोगात् । एवं मतुवर्थः संबन्धः संसर्ग इत्यप्ययुक्तम् । नैयायिक-
मीमांसकैः संबन्धिवाचकत्वस्यैव स्वीकारात् ।

‘भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयाने ।

संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवादयः ॥’

इति भाष्ये तु विशेष्यत्वेनैव वाच्यत्वस्वीकारादिति ध्येयम् । चिन्तनमित्यत्र
वासङ्गतमिति शेषः ॥ ३५ ॥

इति^१ वैयाकरणभूषणे समासशक्तिनिर्णयः ॥

शक्तिनिर्णयः ।

शक्तिप्रसङ्गात् पदमात्र एवातिरिक्तां शक्तिं समर्थयतो

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।

अनादिरर्थः शब्दानां संबन्धो योग्यता तथा ॥ ३६ ॥

इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां स्वविषयेषु चाक्षुषप्रत्यक्षादिषु यथानादिर्योग्यता बोधकारणता तथा शब्दानामपि सैव योग्यतेत्यर्थः । इयं च पदार्थान्तरम् । ननु कृत्तेश्वरेच्छैवास्तु पदार्थान्तरत्वे चातिगौरवमिति चेन्न । ईश्वरेच्छाज्ञान-प्रयत्नानामन्यतमपरिशेषे मानाभावात् सर्वेषां च तथात्वे गौरवम् । किं चेश्वरेच्छा-पञ्चशलाक्षणिकसाधारणीति तेषामपि शक्तत्वापत्तिः । अपि चेश्वरेच्छाया अति-प्रसङ्गाद्विशिष्य शक्तित्वासंभव इति वदन्ति । अत्रोच्यते । विनिगमकाभावे चास्वीश्वरज्ञानस्य शक्तित्वम् । अत एव लीलावत्युपाये प्रथमत एवेश्वरज्ञानं शक्तिरित्युक्तम् । वस्तुतस्तु कल्प्यमानपदार्थेनापि प्रत्येकं विनिगमकाभावाच्चा-तिरिक्ततत्सिद्धिः । न चेच्छाया अतिप्रसक्तत्वात्तदुपाधिवैशिष्ट्यापेक्षणानपेक्षे एव विनिगमकम् । घटपदाद् घटो बोद्धव्य इत्येतादृशविलक्षणविषयतासंबन्धे-नेयं घटपदस्य शक्तिरित्यभ्युपगमेनोक्तदोषाभावात् । नन्वेवं विनिगमनाविर-हात् पदार्थसिद्धिर्न स्यादिति चेन्न । स्यादेव । अपञ्चशलाद्यावपि तेन संबन्धेनाभावा-च्चातिप्रसङ्ग इति । यद्वा घटपदाद् घटो बोद्धव्य इत्येतादृशविलक्षणतत्पदार्थसं-बन्धत्वं शक्तित्वम् । अपञ्चशलाक्षणिकादौ च न तस्याः संबन्धत्वम् । संस्कृते तस्याः संबन्धत्वस्यावश्यकत्वादन्यत्र चारोपादेवोपपत्तेस्तत्कल्पकाभावात् । तथा च नातिप्रसङ्गादिदोष इति न सापेक्षत्वानपेक्षत्वे इति । मिश्रास्तु अस्माच्छब्दा-दयमर्थो बोद्धव्य इतीच्छयोच्चरितत्वं शक्तिरतो न लाक्षणिकाद्यातिप्रसङ्गः । न चाधुनिकमैत्रपदाव्याप्तिः । द्वादशेऽह्नि ^१पितेत्यादितो नामत्वेन तेषामी-श्वरोच्चरितत्वात् । न च नापञ्चशितवै इत्यादिनापञ्चशस्यापि तदुच्चरितत्वम् । तत्र तदिच्छयोच्चारणाभावात् । इह तु नामपदार्थालोचनयैव तथा तात्प-र्योन्नयनादित्याहुः । तत्र । वैदिकलाक्षणिके शक्त्यापत्तेः । किं च नाम-पदस्येश्वरोच्चरितत्वेऽपि चैत्रादिपदं तेनानुच्चारितमेवेति कथं तेषां तत्र शक्तिः । न च नामशब्देन तद्वाचकः शब्दस्तं प्रयुज्जीतेति तदर्थपथालोचने तद्वाचकत्व-

१ स्वविषयेऽप्यनादि° T. २ °पेक्षणानपेक्षणावेव T. ३ °वोपपत्तौ तत्कल्प° T. ४ पदा-व्याप्तिः Tr., D. ५ द्वादशेऽह्नि T. ६ पिता नाम कुर्यादित्यादितो D. ७ तदुच्चारि-तत्वम् D., D., K. ८ तत्र तेषां T.

रूपेण तत्तत्पदानामीश्वरोच्चरितत्वमस्येवेति वाच्यम् । तद्वाचकत्वं यदि तच्छक्तत्वं तदा शक्त्यनिर्णये दुर्ज्ञेयम् । यदि च तद्वोधकत्वमात्रं तदा यत्किञ्चित्-संकेतिते द्वादशेऽङ्गि पितृप्रयुक्ते शक्त्यापत्तेरिति दूषणमत्राहुः । तस्मादीश्वरसंकेतः शक्तिरिति स्थितम् । अत्र माध्वाः । शब्दार्थयोः स्वाभाविक एव संबन्धः । तथा च प्रथमाध्यायप्रथमचरणेऽनुव्याख्याने ।

‘प्रत्यक्षवच्च प्रामाण्यं स्वत एवागमस्य हि ।’

इति । विवृतं चैतत् सुधायां जयतीर्थेन । शब्दस्यार्थेन सह संबन्धः स्वाभाविकः संकेत एव वेति संशये सिद्धान्तयति । स्वत एवेति । स्वाभाविकेनैव संबन्धेनेत्यर्थः । तदुक्तं जैमिनिना । ‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः’ इति । ननु सति स्वाभाविके संबन्धे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि बोधः स्यात् । न ह्यग्निरविदितशक्तिर्न दहतीत्यत्र प्रत्यक्षादेः स्वाभाविकेऽर्थप्रत्यायकत्वे सत्यपि यथेन्द्रियसंनिकर्षापेक्षा तथात्रापि संकेतग्रहसचिवस्यैव बोधकत्वमित्याह । प्रत्यक्षवच्चेति । अथापि स्वाभाविकः संबन्धः सर्वेषां शब्दानां सर्वैरर्थैः सममास्थीयते कस्यचित् केनचिदेव समं वा । नाद्यः । शब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तेः । अन्त्ये आर्यम्लेच्छानामनियमाभावप्रसङ्गः । तथाहि । आर्या हि यवशब्दं दीर्घशूके प्रयुज्यते दीर्घशूकमेव च बुध्यन्ते म्लेच्छास्तु प्रियङ्गौ प्रयुज्यते प्रियङ्गुं च बुध्यन्ते इत्येवमनियमः स्वाभाविक्यां शक्तौ न स्यात् । न हि प्रदीपो रूपप्रकाशनशक्ती रसमपि प्रकाशयति । संकेतपक्षे संकेतानियमादनियमो युज्यत इति चेन्न वयं क्वचिदपि शब्दस्य संकेताद्वोधकत्वं नास्तीति ब्रूमः किं तु क्वचित् स्वाभाविक्या शक्त्या बोधः क्वचित् संकेतादित्यनियमो युज्यते । यद्वा स्वाभाविकी शक्तिरेकत्रैवास्ति । व्युत्पत्तिवशाद्व्यवहारनियमसंभवात् । यथा खलु शुक्तिसंनिकर्षेण चक्षुषा कश्चिच्छुक्तिकां प्रतिपद्यते कश्चिद्रजतम् । न चैतावता चक्षुषोऽर्थप्रत्यायकत्वं न स्वाभाविकम् । तथा शब्दस्यापि शक्त्यनुसार्यननुसारिव्युत्पत्ति-लक्षणसहकारिवशादनियमेऽपि स्वाभाविकशक्तिसद्भावः संभवतीति । तदिदमाह । प्रत्यक्षवच्चेति । ईयान् विशेषः । शब्दः संकेतेनापि बोधको न प्रत्यक्षमिति । ननु स्वाभाविकसंबन्धग्राहकत्वेन संकेतावश्यकत्वे किं स्वाभाविक्या शक्त्या । अथासति स्वाभाविके संबन्धे संकेतनियम एव कथं स्यात् । सत्यम् ।

१ तत्र तदा T. २ शक्त्यापत्तिरिति T. ३ प्रथमाध्याये प्रथमचरणे K. ४ संबन्धः संकेत एव T. ५ समास्थीयते K. ६ इयांस्तु विशेषः T. ७ प्रत्यक्ष इति T. ८ इति चेत् सत्यम् T.

स्वर्गादिभुंवां हि महर्षिदेवतानां परमेश्वरानुग्रहवतां परमेश्वरात् संकेतस्य सुश-
 क्त्वात् । तद्व्यवहाराच्चान्येषामित्यसत्पर्यन्तं सुग्रहः संकेतः । न चैवं साध्वसा-
 धुविभागो न स्यादिति वाच्यम् । यत्र परमेश्वरसंकेतः स साधुरित्यभ्युपगमा-
 दिति चेदत्र ब्रूमः । परमतेऽपीश्वरसंकेत एवाङ्गमस्मदादीनामपि वा । आद्ये कथ-
 मार्यम्लेच्छानामनियमो बोधकतायाम् । तत्रेश्वरसंकेतस्याभावात् । किं चेश्वरसं-
 केतोऽपि गृहीत एवाङ्गम् । अन्यथाव्युत्पन्नानां बोधापत्तेः । ग्रहश्चास्मदादिव्यव-
 हारात् तथा चास्मदाद्युपदेश एव शक्तिः । किमीश्वरसंकेतकल्पनया । इदानीन्तन
 संकेतेनेश्वरसंकेतो ज्ञाप्यते इति चेत्तर्ह्यस्मन्मतेऽपि स्वाभाविकः संबन्धो ज्ञाप्यत
 इति तुल्यम् । द्वितीये पदार्थोपस्थितिमात्रस्य प्रयोजनत्वात् साध्वसाधुविभागा-
 र्थकं व्याकरणादि व्यर्थमिति । औत्पत्तिकसंबन्धे एव किं मानमिति चेदधुनातनो
 न संकेतयिता । लोकोत्तरे च न मानमित्यतोऽन्यथानुपपत्तिरेव । तस्मादीश्वरसं-
 केतो न शक्तिरिति वदन्ति तत्तुच्छम् । क्वचित् संकेतस्य क्वचिच्छक्तेर्ज्ञानं कारण-
 मिति व्यभिचारादेकस्यापि तत्तथा न स्यात् । अस्माकं पुनः संकेतत्वरूपेणैव
 तज्ज्ञानं हेतुः । तच्चेश्वरसंकेतसाधारणम् । न चास्मदादीनामेव स तथास्तु ।
 नियतशक्तिसाधुत्वाद्यनुरोधेन भगवत एव तत्कल्पनात् । सृष्ट्यादिव्यवहारे
 त्वयापि तस्य शक्तिग्राहकत्वेनाभ्युपेतव्यत्वात् । उभयसिद्धेश्वरेच्छां त्यक्त्वातिरिक्त-
 कल्पने गौरवाच्च । तादृशेश्वरसंकेतितत्वं च साधुत्वम् । तत्परिच्छेदकं च व्याक-
 रणकोशादिकमिति न तद्वैयर्थ्यम् । एवं च सर्वथाप्यतिरिक्तपदार्थान्तरकल्पन-
 मयुक्तमिति संक्षेपः । तस्मादीश्वरेच्छैव शक्तिरिति नैयायिकानुसारिणः । रौद्रा-
 न्तस्तु न तावत् संकेतः शक्तिः । ईश्वरादेः संकेतमज्ञात्वापि मीमांसकादीनाम-
 र्थप्रत्ययेन तज्ज्ञानकारणतायां व्यभिचारात् । स्वरूपसञ्ज्ञेव सै हेतुरिति चेन्न ।
 अगृहीतशक्तिकादपि बोधापत्तेः । अपभ्रंशादपि बोधेन व्यभिचाराच्च । न च
 शक्तिभ्रमात् साधुशब्दस्मरणाद्वा तत्र बोधः । अनुपदमेव खण्डयिष्यमाणत्वात् ।
 एवं लौकिकानां गवादिपदे तत्तदर्थबोधार्जनकत्वग्रहानन्तरमेव बोधदर्शनात् संके-
 तत्वादिर्ह्येतेषां तज्ज्ञानकारणतायां व्यभिचार एव । एवं चार्थधीजनकत्वमेव
 पदस्य शक्तिः । यत्तु धीजनकत्वं तद्योग्यता । सा च तदवच्छेदकधर्मवत्वम् ।
 स च कृत्स्नत्वादीश्वरसंकेत एव । अकृत्स्नकल्पनायां गौरवात् । तवापि पदस्या-

१ भुवा K. २ सुग्रहत्वात् T. ३ स्वाभाविकसंबन्धो T. ४ विभागार्थकव्याकरणादि T.
 ५ कोशादीनामिति T. ६ सिद्धान्तस्तु T. ७ T. drops स. ८ K. drops जनकत्व.
 ९ D₁. has रूपेण for °रूपेणापि.

र्थधीजनकत्वं ज्ञाप्यसंबन्धं विनानुपपन्नं संबन्धत्वेन क्लृप्तत्वात् तमेव कल्पयति । यद्यपि संकेतत्वेन तज्ज्ञानं न कारणं व्यभिचारात् तथापि तद्धीजनकतावच्छेदकत्वेनैव वाच्यम् । न चेतोऽपि लाघवात् तद्धीजनकत्वेनैव तज्ज्ञानं कारणम् । आधुनिके देवदत्तादौ संकेतज्ञानादेव बोधेन व्यभिचारात् । न चात्रापि विशेषणतया तद्धीजनकत्वमवगाह्य एवेति वाच्यम् । स्वातन्त्र्येण तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा नेदं तद्धीजनकमिति जानतोऽस्माच्छब्दादयमर्थो बुद्धोऽनेनेति जानतस्तद्गर्हापत्तेरिति । तत्तुच्छम् । तद्धीजनकतावच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यार्थप्रतीतिहेतुत्वे गौरवात् । आधुनिकदेवदत्तादिपदे इदं पदमेनमर्थं बोधयत्विति संकेताद्बोधस्थलेऽवच्छेदकत्वेन ज्ञानस्य व्यभिचाराच्च । ननु तवाप्यत्र व्यभिचार इत्युक्तमिति चेद्भ्रान्तोऽसि । विशेषणतया तद्धीजनकत्वस्य तत्रावगाहनात् । न च नेदमिति पूर्वोक्तदोषः । तत्र बाधेन तद्धीजनकत्वस्यानवगाहनात् । अन्यथा नेदं रजतमिति जानतो भ्रान्तिज्ञस्य पुरोवर्तिनि तुल्ययुक्त्या रजतत्वभावे भ्रान्तत्वापत्तेरिति । केचित्त्वाधुनिकदेवदत्तादिपदस्थले तद्धीजनकत्वज्ञानमग्रे मानसं कल्प्यते ततो बोधः । लाघवानुरोधात् । अत एव परमते परामर्शान्यथाख्यात्योः सिद्धिरिति वदन्ति । नन्वस्तु तावद्बोधकत्वज्ञानमेवार्थस्मरणहेतुः । परं तु सर्वेषां पदानां लक्षणया शक्तिभ्रमाद्वा सकलबोधकत्वात् सर्वत्र सर्वेषां शक्त्यापत्तेरीश्वरेच्छा शक्तिरुच्यते । कारणं पुनरेतद् ज्ञानं न ब्रूम इति चेत् तथापि ईश्वरसंकेतः शाब्दबोधहेतुपदार्थस्मरणहेतुज्ञानविषय इति सिद्धान्तोऽसंगत एव । शेषमुपरिष्ठाद्वक्ष्यामः । तस्माद्बोधकत्वमेव शक्तिः । तच्च बोधजनकत्वमिन्द्रियादिवत् । अत एव कारणत्वं शक्तिरिति सिद्धान्तं स्फुटीकर्तुमेवेन्द्रियाणामिति वाक्यपदीयकारिकासुदाजहार ग्रन्थकारः । तथा स्मरणाभिमानप्रमोषखण्डने विवरणेऽप्युक्तम् । बोधजननसामर्थ्यमेव शब्दस्यार्थेन संबन्ध इति । एवमपभ्रंशानां वाचकत्वविचारे शब्दकौस्तुभेऽप्युक्तम् । घटबोधजननसामर्थ्यमेव घटादिपदानां शक्तिरिति । तच्चैतारिक्तमनतिरिक्तं वेत्यन्यदेतत् । अथैवं लक्षणोच्छेदः । एवं व्यञ्जनावदादे तदुच्छेदश्चेति चेदत्रोच्यते । लाक्षणिकेऽपि शक्तिरेव । शक्तिग्राहकस्य व्यवहारस्य मुख्यलक्षणिकसाधारणत्वात् । अत एव प्रायः सर्वे सर्वार्था इति सिद्धान्तप्रवादः । पदेन सति तात्पर्यं प्रायः सर्वेषां बोधनात् । युक्तं चैतत् । अन्यथा प्रत्य-

१ तामेव K. २ आधुनिकदेवदत्तादौ T. ३ तद्धीजनकतामव T. ४ ब्रह्मापत्तिरिति T. ५ गौरवाच्च T. ६ D. omits पद. ७ शाब्दबोधहेतु T. ८ जनक T. ९ शक्तिग्राहकव्यवहारस्य T. १० लक्षणासाधारणत्वात् T.

श्वादिजन्योपस्थितेः शाब्दबोधानङ्गत्वाच्छाब्दबोधं प्रति शक्तिजन्योपस्थितेर्लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम् । तथा च कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवं स्यात् । अस्माकं पुनः शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव कारणतेत्येक एव स इति लाघवम् । अपि च लक्षणावृत्तिस्वीकारे कार्यकारणभावस्य प्रत्येकं व्यभिचारः । शक्तिजन्योपस्थितिं विनापि लक्षणाजन्योपस्थितिः शाब्दबोधात् । न चाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन तत्तदुपस्थितिमत्त्वं कार्यतावच्छेदकम् । तत्तदुपस्थितित्वं च कारणतावच्छेदकम् । अनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात् । किं च पदार्थोपस्थितिं प्रत्यपि शक्तिज्ञानत्वेन लक्षणाज्ञानत्वेन च हेतुतेति व्यभिचारो गौरवं च पूर्ववदेवेति द्रष्टव्यम् । न चेदं पदमेतदर्थबोधजनकमित्यादि शक्तिज्ञानकार्यकारणभावकल्पनेऽपि पदतदर्थभेदेनानन्तकार्यकारणभावकल्पनं तत्रापि समानम् । परस्परं व्यभिचारवारणायाव्यवहितोत्तरत्वघटितत्वे च सुतरामिति वाच्यम् । शक्तिभ्रमानुरोधेन तत्तत्पदतत्तदर्थभेदेन तादृशकार्यकारणभावकल्पनागौरवस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । लक्षणाज्ञानकार्यकारणभावकल्पनागौरवं पुनर्भवतामतिरिच्यते । अथ वृत्तिजन्योपस्थितित्वेनैव शाब्दबोधे हेतुता वृत्तिज्ञानत्वेन च पदार्थोपस्थितिकारणतेति नानेकतत्कल्पनागौरवमिति चेत् वृत्तित्वं हि शक्तिलक्षणान्यतरत्वं शाब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलपदपदार्थसंबन्धत्वं वा न कारणतावच्छेदकत्वम् । शक्तित्वमपेक्ष्य गौरवात् । शाब्दबोधहेतुतावच्छेदकस्य पदार्थोपस्थितिवृत्तेरज्ञाने तद्वृत्तिकार्यकारणभावग्रहस्याप्यसंभवात् । किं च कार्यमेव कुत्र जायतां क्व नेत्यतिप्रसङ्गवारणार्थं तदवच्छेदकादरस्तच्च कार्यस्यावच्छेदकत्वे न संगच्छत इति । यत्तु शक्यसंबन्धरूपलक्षणायां शक्तेरपि प्रवेशान्ममापि पदार्थोपस्थितौ शक्तिज्ञानत्वेन शाब्दबोधे च शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुतेति तदश्रद्धेयम् । शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थित्योस्तत्कार्यकारणभावे समानविधेयत्वस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा घटमानयेति वाक्यं हस्तिनं च समूहालम्बनविधया स्मरतो घटपदादिभ्यो घटादेः गजाद्वस्तिपकस्य समूहालम्बनस्मरणे सति घटानयनवद्वस्तिपकस्यापि शाब्दबोधविधेयतापत्तिः । समूहालम्बनरूपायां पदा-

१ °कारणभाव° K. २ कारणतावच्छेदकम् T. ३ कार्यतावच्छेदकम् T. ४ °बोधेनानन्त° T. ५ परस्परव्यभिचार° T. ६ बोधहेतुता for शाब्दबोधे हेतुता K. ७ लक्षणाशक्ति° D., D₉. ८ शक्तिमत्त्वमपेक्ष्य T. ९ °ज्ञानेन तद्वृत्ति° T.; °ज्ञानं K., D₉. १० °बोधे एव D. ११ °विषयकत्वस्या° T. १२ समूहालम्बने स्मरणे T. १३ °विषयतापत्तेः T.

धोपस्थितौ वृत्तिजन्यत्वसत्त्वात् । किं चेह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतौत्यादिप्र-
सिद्धपदसमानाधिकरण्याद्वयवहाराद्वा शक्तिग्रहस्थले प्रत्यक्षादिना जातिरूपा-
धिकरणानामपि शक्यग्रहे ग्रहात् पदात् स्मृतेस्तेषां कदाचित् सर्वानुभवसिद्धौ
तदा शाब्दबोधविषयतापत्तिः । इष्टापत्तौ पदत्वादेरप्यशक्यतापत्तिः संबन्धिताव-
च्छेदकत्वेन नियतोपस्थितस्य वृत्त्यविषयत्वेऽपि शाब्दबोधविषयत्वोपपत्तेः ।
घटपदं घटे शक्तिमिति जानतस्तादृशार्थेऽपि पदोपस्थितौ ततस्तादृशपदवानाकाश
इति परम्परया आकाशोपस्थितेः शाब्दबोधोपपत्तेश्च । नन्वेवं नाकाशस्य
पदजन्योपस्थितौ शक्तिज्ञानोपयोगः पुत्रात् पितुरिव एकसंप्रतिबिम्बज्ञानादपरसंब-
न्धिसमरणमित्यन्यसाधारण्येनैव तदुपयोगादिति चेत्तर्हि गङ्गायामित्यत्रापि गङ्गा-
पदाद्वङ्गोपस्थितौ तर्था च तीरोपस्थितेः प्रत्यक्षादिसाधारण्याच्च शक्तिज्ञानोपयोग
इति तुल्यम् । न च पदाच्छब्दोपस्थितिस्ततो लक्ष्यबोध इति न ब्रूमः । किं
त्वाहस्य पदमेव स्वशक्यसंबन्धेन लक्ष्यं बोध्यतीति तत्र शक्तेः साक्षादेवोपयोग
इति वाच्यम् । एवं हि स्वशक्ताश्रयत्वसंबन्धेन पदादप्याकाशोपस्थितावतिप्रत्य-
क्षापत्तेरवारणादिति ध्येयम् । ननु शक्यसंबन्धग्रहादेव तीरं यत्रोपस्थितं तत्र
बोधस्य सर्वसिद्धत्वाल्लक्षणाज्ञानकार्यकारणभावकल्पनं तत्रापि समानमिति न
प्राक्तनगौरवावकाशो न वो शक्योपस्थितिपूर्वकतावियम इति चेन्मैवञ् । अत्य-
न्मते गङ्गापदात्तीरं बोध्यमिति वक्तुस्तार्थ्यज्ञाने एव गङ्गापदे तीरबोधकत्वस्य
ग्रहात्तस्यैव चोक्तरीत्या शक्तित्वात् समानविषयकशक्तिज्ञानस्यावाधेनादोषात् ।
अथवा तत्राप्यग्रे बोधकत्वज्ञानं तत एव बोध इत्यस्तु । न च ज्ञानार्थ्यतन्तरक-
ल्पना दोषाय । फलमुखत्वात् । वैस्तुतः सुषुप्त्यपगमक्षणमारभ्य पुनस्तदुत्पत्ति-
क्षणपर्यन्तं प्रत्यक्षात्मविशेषगुणोत्पादोऽवश्यं वाच्यः । अत एव सुषुप्तिभिन्नमत्य-
क्षात्मविशेषगुणशून्यः काल एव सूक्ष्मेत्युच्यते । तथा च तावत्कालमन्तराज्ञाना-
द्यावश्यकतया ज्ञानान्तरमपेक्ष्येदमेव कल्प्यत इति क गौरवमिति हि
वदन्ति । ननु तत्रापि बोधकत्वरूपशक्त्यन्तरकल्पना गौरवं स्यादिति चेन्मे-
वम् । गङ्गापदात् तीरोपस्थितौ तत्र तद्बोधकत्वस्यावश्यकल्प्यत्वात् ।

१ ग्रहपदार्थस्मृते° T. २ पदादस्मृते° D. ३ शक्यत्वापत्तिः T. ४ घटपदात् Tr., D.
५ नन्वेवमाकाशस्य T. ६ वृत्तिजन्यतया च T. ७ स्वशक्त्याश्रयत्वं T. ८ संबन्धे Tr.
९ कल्पने K. १० च T. ११ शाक्तोपस्थिति° T. १२ शक्तत्वात् T. १३ ज्ञानसं-
बन्धिनादोषात् T. १४ शक्त्यन्तर° T. १५ वस्तुतस्तु T. १६ सुषुप्त्यभिन्न° K.
१७ कल्पमिति T.

किं च गङ्गापदं तीरे शक्तमिति ज्ञाने सति विना लक्षणाज्ञानं ततस्ती-
रोपस्थितिः सर्वसिद्धा । न चात्र तद्ध्रमः । पदतदर्थवदितशक्तेर्भ्रमासंभवात्
तस्माल्लाक्षणिके शक्तिस्वीकार आवश्यकः । एतेन शक्यसंबन्धरूपा लक्षणा
कृता । तस्यां संबन्ध्यन्तरबोधजनकत्वमप्येकसंबन्धीति न्यायात् कृतम् । तज्ज-
न्यस्मृतेः शाब्दबोधोपयोगित्वमात्रं कल्प्यते । त्वया तु शक्तिधर्मी कल्पनीय इति
गौरवम् । किं च गङ्गापदजा तीरस्मृतिः शाब्दबोधोपयोगिनीति तवापि मतम् ।
तजनकत्वं शक्यसंबन्धस्यैव कल्प्यते कृतत्वात् । न त्वकृतशक्तिरिति निरस्तम् ।
उक्तरीत्या शक्तेरपि तत्र तत्र कृतत्वात् । कार्यकारणभावकल्पनागौरवाच्च । यदि
च शक्तिप्रयोज्यैवोपस्थितिर्हेतुरिति न लक्षणाज्ञानकार्यकारणभावान्तरं कल्प्यत
इत्युच्यते तदा भवतैव लक्षणा निरस्तेति सिद्धं नः समीहितम् । न हि शक्य-
संबन्धमेव लक्षणाखण्डकः खण्डयति न वा तस्य संबन्धत्वम् । किं तु पदपदार्थ-
संबन्धत्वं तज्ज्ञानकार्यकारणभावं चेत्याद्यवधेयम् । ननु लक्षणाया अकल्पने
सर्वेषां पदानां नानार्थत्वादक्षादिपदवदर्थसंदेहः स्यात् । किं च । एवं हि
लक्षणायां सर्वसिद्धानुपपत्तिज्ञानवैयर्थ्यम् । अन्यायश्चानेकार्थत्वमिति न्याय-
विरोधश्चेति चेन्न । यस्य नानार्थत्वज्ञानं नास्ति न तस्य सः । अपरस्य संशय
इष्ट एव । अत एवाक्षादिपदस्थले एकत्रैव शक्तिग्रहवतो न संदेहः । अत एव
गङ्गापदं तीरशक्तमिति व्यवहारापत्तिरित्यपास्तम् । परमतेऽपि लक्षणादिनार्था-
न्तरप्रतिपादनसंशयात् स्यादेव सः । प्रसिद्ध्यादिकं च समानम् । अन्वयानुपप-
त्तेस्तात्पर्यज्ञाने एवोपयोगः सर्वेषां नानार्थत्वाच्च तदावश्यकत्वात् । अन्याय-
श्चानेकार्थत्वं च लाघवमूलकम् । तच्च नेति प्रागेवोक्तम् । यत्पत्रंशे शक्ति-
निरासार्थं पदार्थसंबन्धत्वरूपं प्रागुक्तरीत्या शक्तित्वमेवं च लाक्षणिकस्थलेऽपी-
श्वरेच्छायाः संबन्धत्वं कल्पनीयं शक्यसंबन्धस्य च संबन्धत्वं कृतमिति गौरवमेव
तवेत्याहुस्तच्चिन्त्यम् । परमते शक्यसंबन्धरूपलक्षणाया द्वेश्वरेच्छायाः कृतत्वेन क-
ल्पनीयत्वाभावात् । न च शक्तिः संबन्धभेदाद्भिन्नेति गौरवम् । तवापि संबन्धानां
नानात्वात् । न च कृतेश्वरेच्छास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्येवंरूपा न कृतेति
वाच्यम् । सन्मात्रविषयिण्यास्तास्यास्तादृश्या अप्यावश्यकत्वात् । न चेच्छायाः कृत-
त्वेऽपि संबन्धकत्वं कल्पनीयमिति गौरवमेवेति वाच्यम् । अपत्रंशेऽपि शक्ति-

१ शक्तिभ्रमा° T. २ न च कृतशक्तिरिति K. ३ T. drops च ४ पदपदार्थसंदेहः T.;
पदवत्संदेहः Tr. ५ लक्षणायाः सर्व° T. ६ T. drops च. ७ तदापि T. ८ सत्त्वात् T.
९ तु कृतापीश्वरेच्छा T.

ग्रहाद्वोधानुरोधेन तथा कल्पनावश्यकत्वात् । वक्ष्यते चैतदुपरिष्ठात् । अस्मद्वी-
त्या चेच्छायाः शक्तित्वमेव नेति प्रागुक्तरीत्येदमसंगतमेवेत्यादि सुधीभिर्ध्येयम् ।
तस्माद्यत्रान्यत्र साधोस्तद्वृत्तिगुणसजातीयगुणबोधनायाप्रसिद्धे तत्प्रयोगस्तत्र
लक्षणेति व्यवहार इति ध्येयम् । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘ एकमाहुरनेकार्थं शब्दमन्ये परीक्षकाः ।
निमित्तभेदात् सर्वत्र सार्वार्थ्यं तस्य भिद्यते ॥
यौगपद्यमतिक्रम्य पर्यायेष्ववतिष्ठते ।
अर्थप्रकरणाभ्यां वा योगाच्छब्दान्तरेण वा ॥
यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते ।
तथा स एव गोशब्दो बाहीकेऽपि व्यवस्थितः ॥
सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्थानेकधर्मिणः ।
प्रसिद्धित्यागाद्वौणत्वं मुख्यत्वं बोधे जायते ॥ ’

इति तस्माद्वोधकत्वं शक्तिरिति मते न कश्चिदोष इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

नन्वेवं भाषादितोऽपि बोधदर्शनात् तत्रापि शक्तिस्वीकार आवश्यकः ।
न च शक्तिभ्रमात् ततो बोधो मानाभावात् । न च तत्परिच्छेदककोशाद्यभावा-
त् एव बाधकः । कोशस्येव वृद्धव्यवहारस्य सर्वेषामुपजीव्यत्वेन मुख्यस्य तत्र
सत्त्वात् । कोशादीनां व्याकरणसिद्धसाधुत्वमात्रबोधकताया वक्ष्यमाणत्वाच्च ।
तथा च शक्तिमत्त्वाविशेषाद्वाव्यादिशब्दानां साधुतापत्तिरिति चेदत्र नैयायिका-
दीनां समाधिमाह प्रथमार्धेन—

असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते ।

वाचकत्वाविशेषे वा नियमः पुण्यपापयोः ॥ ३७ ॥

असाधुर्गव्यादिः । अनुमानेन साधुस्मरणाच्छक्तिभ्रमाद्वा । कैश्चिन्नैयायिका-
दिभिरुच्यते । नातः साधुरिति शेषः । अयं भावः । संस्कृते एव शक्तिः । कल्पकस्य
व्यवहारादेस्तुल्यत्वेऽपि भाषाणां तत्तद्देशभेदेन नानात्वान्न शक्तिः । न च नाना-
र्थन्यायेनैकस्याप्यनेके वाचकाः स्युः । अन्यथा पर्यायोच्छेदश्च स्यादिति वाच्यम् ।
तत्र क शक्तिः क लक्षणेत्यत्र विनिगमकाभावात् । अन्यत्राप्यशक्तत्वेन लक्षणाया

१ ° बोधनया ° D₁. २ तत्र D₁. ३ ° वृद्धव्यवहारेऽपि वा T. ४ बोधजायते T., D₂.
५ सर्वशक्तेस्तु तस्यैव भ्रमात्ततो बोधो मानाभावात् T. ६ कल्पस्य T. ७ ° भेदे नाना ° T.

अप्यसंभवात् । अत्र च संस्कृतस्य सर्वदेशे एकत्वात् तत्रैव शक्तिः । भाषाणां च प्रतिदेशं भिन्नत्वात् संस्कृतैः सह पर्यायतापत्तेश्च न शक्तिः । न चापभ्रंशाद्बोधो न स्यादिति वाच्यम् । व्युत्पन्नस्य साधुशब्दस्मरणाद्बोधोपपत्तेः । उक्तं हि वाक्यपदीय आगमसमुच्चयकाण्डशेषे—

‘ ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः ।
तादात्म्यसुपगम्यैव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ।
न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः ।
नै यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात् साक्षादवाचकाः ॥
अव्यक्तेति यदा बालः शिक्ष्यमाणः प्रभाषते ।
अव्यक्तं तद्विद्वां तेन व्यक्ते भवति निर्णयः ॥
एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते ।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ ’

इति । अव्युत्पन्नस्य शक्तिभ्रमादेव बोधः । न च पामराणां शक्त्यग्रहे कथं तद्-
भ्रमः । पूर्वपूर्वभ्रमादुत्तरोत्तरभ्रमोपपत्तेः । प्रथमतस्तु व्युत्पन्नोऽपभ्रंशात् साधु-
शब्दं दुष्ठा व्यवहृतवान् । तन्मूलकः शक्तिभ्रमोऽन्येषामिति । इत्थं च संस्कृते
एव शक्तिसिद्धौ शक्यसंबन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात् तत्त्वं साधुत्वम् । तद्वि-
षया एव साधुभिर्भाषितव्यमित्यादयो विधयः । तथा च नातिप्रसङ्ग इति ।
एतज्ज्ञानं शब्दबोधकारणम् । ग्राम ग्राम इत्यादान्वयबोधादिति संप्रदायः ।
वस्तुतो वृत्तिर्मेत्वं न साधुत्वम् । संकेतत्वाद्यज्ञानेऽपि साधुत्वव्यवहारात् । समा-
सादौ साधुशब्दे संकेतादिसत्त्वे संकेतस्यैव शक्तित्वेन शक्त्यापत्तेश्च । प्रकृतिप्र-
त्ययसमुदायस्यासंकेतितत्वेनासाधुत्वापत्तेश्च । संकेतितत्वे च शक्त्यापत्तेः । प्रत्ये-
कशक्तिमादाय साधुत्वे च बाधत इत्यादिवद्बाधतीत्यस्यापि साधुतापत्तेः । तस्मान्न
संकेतितत्वघटितं साधुत्वम् । किं तु व्याकरणनिष्पाद्यत्वम् । यत्र यः शब्दो व्या-
करणे व्युत्पादितः स तत्र साधुः डिथ्यादिनाम्नामप्युणादयो बहुलमित्यनेन
व्युत्पादनसंभवान्नानुपपन्नम् । एवं नान्तरीयकादिशब्दानामपि । एवं साधुत्व-

१ असाधुष्वनुमानेन T. २ सुपगम्यैव T. ३ नियतं स्मृतिं Tr., नियतः स्मृतिं D.
४ अस्यां चोति यथा बालः T. ५ शिक्षमाणः T. ६ प्रवर्तते T. ७ शक्तिग्रहे T. ८ शा-
ब्दबोधे कारणम् T. ९ T. drops ग्राम. १० बन्धव्यबोधादिति Tr. ११ न वृत्तिमत्त्वं T.
१२ शक्त्यापत्तेः T.; शक्तापत्तेः Tr. १३ तत्र T. १४ व्युत्पादनं नानुपपन्नं T.

ज्ञानं कारणमित्युक्तम् । अवयवादिव्युत्पन्नेन पूर्वप्रयोगमज्ञात्वापि नवका-
व्यादिप्रयोगात् । किं त्वसाधुत्वनिश्चयः प्रतिबन्धकः । नातो ग्रामं गामादावन्व-
यबोधः । अत एव साधोरप्यसाधुत्वनिश्चयेन बोधः । एवं च गाव्यादेरसाधु-
त्वज्ञानरूपप्रतिबन्धकसत्त्वान्न बोधकत्वमिति साधुस्मरणाच्छक्तिभ्रमाद्वा तद्वाच्य-
मिति तु नवीनाः । अत्रोच्यते । अपभ्रंशानामबोधकत्वे ततो बोध एव न
स्यात् । न च साधुस्मरणाद्बोधः । तमविदुषां जायमानत्वात् । तस्मादजाय-
मानत्वाच्च । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधानृषु ।

प्रसिद्धिमागता येन तेषां साधुरवाचकः ॥

देवी वाग्यवकीर्णैर्यमशक्तैरभिधानृभिः ।

अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन्वादे बुद्धिविपर्ययः ॥’

इति । अवाचकोऽबोधकः । बोधकत्वस्यैवोक्तरीत्या शक्तित्वादिति भावः ।
अनित्यदर्शिनां बुद्धिविपर्ययः । एते एव वाचका नान्ये इति विपर्यय इत्यर्थः ।
नापि शक्तिभ्रमात्ततो बोधः । बोधकत्वस्याबाधेन तज्ज्ञानस्याभ्रमत्वात् । ईश्व-
रेच्छावादेऽप्युक्तरीत्या पदपदार्थघटितं तद्वाच्यं तच्च विशेषदर्शनात् अभ्ययोग्यम् ।
अत एव तत्तत्पदार्थघटितव्याप्तेर्न भ्रम इति तत्र तत्रोक्तम् । न च गगरीश-
ब्दाद् घटो बोध्य इत्येतादृशेच्छायाः कृताया अपि न संबन्धत्वमिति तदंशे भ्रमो
वाच्य इति वाच्यम् । तादृशेच्छायाः सत्त्वे तेन संबन्धेन संबन्धित्वाद्-
परोपस्थितौ तस्याः संबन्धत्वस्य दुर्बलत्वात् । अन्यत्र कृतसंबन्ध-
त्वस्य तस्मिन्नपि सत्त्वात् । किं च विनिगमनाविरहाद् भाषायामपि
शक्तिः । न चोक्तं गौरवं संस्कृतवन्महाराष्ट्रभाषायां शक्तेर्दुष्परिहरत्वात् । तस्याः
सर्वदेशे एवैकत्वात् । एतेन भाषान्तरैर्विनिगमनाविरहात्तत्र शक्तिरिति
परास्तम् । संस्कृतेऽपि प्रत्येकं विनिगमनाविरहात् । किं च न संस्कृतत्वं
न वा भाषात्वं शक्त्यवच्छेदकं किं त्वानुपूर्वी । सा च भिन्नभिन्नैव सर्वत्रेति घट-
कलशादिर्पर्यायेष्विव नैकेनापरान् यथा सिद्धिरिति भाषायां शक्तिरेव । अत एव

१ वावग्रामादावन्वय° T. २ तस्मादजायमानत्वाच्च T., Tr. ३ °दसंबन्धान् D.
४ विपर्यासः T. ५ नगरी° T. ६ T. drops किं च. ७ न चापभाषात्वं T.
८ °पदेष्विव T.

काव्यप्रकाशकारेण वाच्यस्य व्यञ्जकत्वे प्राकृतोदाहरणमलेखीत्यपि वदन्ति । एतदभिप्रायेणैव भाषाशब्दानां शक्तिरिति शब्दकौस्तुभे निर्णीतम् । आर्य-
 म्लेच्छाधिकरणे भट्टैरप्युक्तम् । 'प्रातिपदिकतामात्रं म्लेच्छेष्वप्यवगम्यते'
 इति । एवं नासाधुत्वनिश्चयः प्रतिबन्धकः । तत्सत्त्वेऽपि संस्कृतमविदुषां प्राकृ-
 तादेर्बोधात् । न चात्र मानसो बोधः । अन्यत्रापि तथात्वापत्तेः । शब्दप्रासा-
 ण्योच्छेदप्रसङ्गात् । तस्मात् परोक्तसमाधिर्न युक्त इत्याशयेनाह । वाचकत्वा-
 विशेषं वेत्यादि । अथैवं भाषाशब्दानामर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा किं न स्यात् ।
 स्यादेव को दोष इति चेत्तथा सति प्रातिपदिकत्वात् सुबुत्पत्तौ व्याकरणव्युत्पा-
 दत्वात् साधुत्वप्रसङ्ग इति चेत् वार्तमेतत् । 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे
 लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमो यथा लौकिकवैदिकेषु'
 इति वार्तिकेनैव निरस्तत्वात् । लोकतोऽर्थबोधार्थं प्रयुक्ते शब्दे इति
 व्याख्यानात् । न हि प्रकृतिप्रत्ययसमूहरूपेण वचन्तीत्यादिव्यापाशब्दानां
 प्रयोगः । एतन्मूलकमेवार्नभिधानान्न भवतीत्यादिकम् । किं चैवं भाषा-
 शब्दानां तत्तदर्थं व्युत्पादनविरहान्न साधुत्वमित्यादि सर्वमभिप्रेत्याह । नियम
 इति । अत्रेदं तत्त्वम् । यः शब्दो यत्रार्थे व्याकरणे व्युत्पन्नः स तत्र साधुः ।
 अपभ्रंशास्तु न तत्तदर्थं व्युत्पन्ना नातः साधवः । देवदत्तादिनाम्नामप्युणादयो
 बहुलमित्यनेन द्व्यक्षरं चतुरक्षरं स्पर्शमध्यमिति भाष्येण वा साधुत्वबोधनात् ।
 अत एवार्थाच्छक्तिपरिच्छेदः परंरीत्या । एतद्वोधार्थमेव कोशादिप्रणयनम् । न च
 लाक्षणिकानां तत्तदर्थं व्युत्पादनविरहात् तेषामसाधुतापत्तिः । गुणवाचकानां
 गुणे व्युत्पादनाद् गौणस्थले तत्पुरस्कारेण प्रवृत्तावनुपपत्त्यभावात् । एवं च
 विशिष्टवाचकानामेकदेशपुरस्कारेण प्रवृत्तौ लक्षणापरिभाषा । आधुनिकानां
 त्वसाधुत्वमिष्टमेव । अन्यथा न गृहीतमित्यर्थे लक्षणया गृहीतमित्युक्ते कूटसाक्ष्य-
 त्वानापत्तेः । अत एव गान्धादीनामनुकरणे व्युत्पादनात् तत्र साधुत्वमेव । यदि
 च यत्र कचिद्व्युत्पादितस्य सर्वत्रैव साधुता स्यात् तर्हि सर्वेषामनुकरणे तथा-
 त्वात् सर्वत्र साधुत्वे साध्वसाधुविभागोच्छेदः स्यात् । परंरीत्या गान्धादीनामश-

१ काव्यप्रकाशिकाकारेण T. २ व्यञ्जकत्वात् T. ३ 'दोहरणं व्याललि T.
 ४ प्रातिपदिकतामात्रं T. ५ विशेष इत्यादि T. ६ पचन्ती T. ७ एतन्मूलक एवा T.
 ८ 'नभिधानं T. ९ तदर्थेषु व्युत्पन्ना T. १० T. drops परंरीत्या. ११ कौटसाक्ष्यत्वापत्तेः T.
 १२ 'साक्षित्वा' Tr., D.

कृत्वाल्लक्षणाद्यभावेऽनुकरणेऽपि तन्न स्यात् । तत्रैव शक्तौ लक्षणया गवादौ साधुः
स्यादिति तत्तदर्थविशेष एव तद्वाच्यम् । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षते ।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशनम् ॥

यथा गौण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।

निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥’

इति । ननु व्याकरणव्युत्पाद्यत्वमस्तु साधुत्वं तथापि तज्ज्ञानस्य शाब्दबुद्धिहे-
तुत्वस्य तद्व्यतिरेकनिश्चयस्य शब्दे प्रतिबन्धकत्वस्य वा पूर्वं भवतैव निरस्त-
त्वाद् व्यर्थस्तद्विचार इत्यत आह । नियम इति । ‘साधुभिर्भाषितव्यम्’
‘नोपभ्रंशितवै न म्लेच्छितवै’ इत्यादौ पुण्यपापजननात् साध्वसाधुविधिप्रतिपे-
धविषयज्ञापनमेव तज्ज्ञापनफलमिति भावः । एतच्च याज्ञे कर्मणि । न म्लेच्छि-
तवा इत्यस्य क्रतुप्रकरणे पाठादिति भाष्यकाराः । नन्वेवं सति दर्शपूर्णमासप्र-
करणे नानृतं वदेदिति निषेधात् तत्र तद्विकृतिषु च न म्लेच्छितवै इत्यतः
सोमादौ च तन्निषेधप्राप्तेरनारभ्याधीतनिषेधान्तरानर्थक्यं स्यादिति चेन्न । पुरु-
षार्थकत्वर्थभेदेनोभयोरुपपत्तेः । ननु किमत्र पुण्यजनकतावच्छेदकं जातिरिति
चेत्तर्हि गोशब्दोऽश्वेऽपि साधुः स्यान्न हि गौः कंचित् प्रत्येव गौरिति
चेन्न । राजसूयादेर्ब्राह्मणफलाजनकत्ववदेतस्यार्थविशेषे प्रयुक्तस्यैव पुण्यजन-
कत्वात् । एतन्निर्णायकं च व्याकरणकोशादिकमिति संक्षेप इति प्रतिभातीति
दिक् ॥ ३७ ॥

अतिरिक्तशक्तेर्ग्रहोपायमाह—

संबन्धशब्दे संबन्धो योग्यतां प्रति योग्यता ।

समयाद्योग्यतासंबन्धादिपित्रादियोग्यवत् ॥ ३८ ॥

संबन्धो विषयः । योग्यतां प्रति योग्यताशब्दं प्रति । योग्यता विषयः । इति
समयात् व्यवहारात् । योग्यतासंबन्धो शक्तिग्रहः । अयं भावः । सा शक्तिरयं

१ प्रयुयुक्षते T., D. २ निवेशिनः K. ३ शाब्दप्रतिबन्धकत्वस्य K ४ नापशब्दि-
तवै T. ५ नोभयोपपत्तेः T. ६ चेन्न तर्हि T. ७ ब्राह्मणे फलजनकत्व T. ८ विशेष-
प्रयुक्तं T. ९ शक्तिग्रहो T. १० संबन्धिशब्दे K.

शब्द एतदर्थसंबन्धी एतद्वोधनयोग्य इत्यादि व्यवहाराद्वाह्या । प्राथमिकशक्ति-
ग्रहस्य व्यवहाराधीनत्वात् । प्राथमिकयोग्यतादिपदानां तद्गृहे सति स्थलान्तर
अनेन प्रकारेण सा ग्राह्येति । तत्र दृष्टान्तमाह । मातापित्रादीति । तद्यथा
लोकव्यवहारात्तथेदमपीति भावः ॥ ३८ ॥

इति ^१वैयाकरणभूषणे शक्तिनिर्णयः समाप्तः ॥

नञर्थनिर्णयः ।

नञर्थमाह—

नञ्समासे चापरस्य प्राधान्यात् सर्वनामता ।

आरोपितत्वं नञ्योत्यं न ह्यसोऽप्यतिसर्ववत् ॥ ३९ ॥

नञ्समासेऽब्राह्मण इत्यादौ । अपरस्य उत्तरपदार्थस्य । प्राधान्यात् सर्वनामता । असर्व इत्यादौ । अत आरोपितत्वं नञ्योत्यम् । द्योत्यत्वोक्तिर्निपातानां द्योतकत्वाभिप्रायेण । आरोपितत्वंमारोपविषयत्वम् । आरोपमात्रमर्थो विषयत्वं च संसर्ग इति नव्याः । इदमुक्तं भवति । आरोपितत्वमेव नञर्थः । अभावस्य तदर्थत्वे च तस्य विशेष्यत्वेनैव भानस्य सर्वसिद्धत्वाच्च नञर्थस्य विशेष्यत्वं स्यात् । तथा चासर्वस्यै इत्यादौ सर्वनामकार्यानापत्तिः । गौणत्वे तन्निषेधात् । इतरपदार्थविशेषणत्वेनोपस्थापितार्थकत्वं हि गौणत्वम् । तच्च तत्रायातम् । अभावे प्रतियोगिनो विशेषणत्वात् । आरोपित्वं च विशेषणमेवेति न दोषः । किं चाभावार्थकत्वे अविघ्नमित्यादौ परत्वादव्ययीभावं बाधित्वा तत्पुरुषत्वमेव स्यात् । नन्वस्तु गौणत्वेऽपि सर्वनामकार्यमत आह । न हीति । तथा चातिसर्वपदे सर्वनामकार्यापत्तिरिति भावः । सर्वादीनि सर्वनामानीति महासंज्ञाकरणमिह लिङ्गम् । इत्थं च वायौ रूपं नास्तीत्यत्र रूपाश्रिता आरोपिता सत्ता वायौ इति बोधः । पीतः शङ्खो नास्तीत्यत्र चारोपिता पीतशङ्खसत्त्वैत्यादि । ननु विशिष्टसत्ताया अप्रसिद्धेः कथमारोप इति चेन्न । घटादिस्थसत्तायास्तदधिकरणस्य रूपाणां च प्रसिद्धेः । विशिष्टमप्रसिद्धमिति चेन्न । विशिष्टं तौवन्तः पदार्था एव ते च प्रसिद्धाः । मिलनाप्रसिद्धिश्चाप्रयोजिका । अत एव तत्र शक्तिग्रहासंभवेन बोधाभावापत्तिः परास्ता । अस्तु वा विशिष्टमप्रसिद्धम् । तथाप्याहार्या प्रतियोगिप्रसिद्धिः संभवत्येव । प्रतियोगिज्ञानस्याभावधीहेतुत्वेनाहार्यत्वं न प्रवेक्ष्यते । गौरवात् । संबन्धिकपदार्थप्रत्यक्षेऽपि संबन्धितावच्छेदकप्रकारकाहार्यानाहार्यसाधारणज्ञानत्वेनैव हेतुता । आहार्यज्ञानादाहार्य एव स इत्यनेनैवातिप्रसङ्गभङ्गात् । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानकारणतैव प्रतियोगिज्ञानकारणतेति पक्षेऽप्याहार्यज्ञानादप्याहार्यविशिष्टवैशिष्ट्यबोधः । तथा चात्र प्रतियोगिज्ञानसं-

१ मारोपितविषयत्वम् T. २ नोपस्थापितार्थत्वं Tr., D. ३ तन्नावायातम् T. ४ तत्पुरुष एव T. ५ कार्यानापत्तिं D. ६ त्यादिः T. ७ तावद्यावन्तः T. ८ पते च T. ९ मिलितानामप्रसिद्धिं T.; मेलनां K. १० प्रकारतेति पक्षेऽपि संबन्धितावच्छेदकप्रकारताह्वयं T. ११ T. drops अपि.

भवाच्चानुपपत्तिः । न चैवमपि तत्र शक्तिग्रहाभावे कथं शब्दबोध इति शङ्क्यम् । आरोपितत्वं शक्यमिति मते तत्र शक्तिग्रहस्योन्यत्र संभवात् । अत एव शब्दविषाणजन्यं कार्मुकं नास्तीत्यादौ शब्दविषाणजन्यकार्मुकनिरूपिता आरोपिता सत्तेत्यादिबोधः । एतन्मते चार्थिकं घटो नास्तीत्यभावज्ञानमादाय नैवार्थविशेष्यको बोध इति व्यवहारः प्रतियोगिज्ञानप्रतिबन्धादिकं च सङ्गमनीयम् ॥३९॥

अथाभावस्य नञ्वाच्यत्वे घटो नास्तीति शब्दादभावबुद्धिर्न स्यात् तथा च घटवत्ताज्ञानप्रतिबन्धादिकं न स्यात् । न चाग्रे तज्ज्ञानं जायत इति वाच्यम् । नियमतस्तज्ज्ञापकाभावात् । आरोपितत्वज्ञानमेव तथेति चेन्न । प्रत्यक्षे व्यभिचारेण तज्ज्ञानस्य तत्राजनकत्वात् । न चारोपितत्वज्ञानस्यारोप एव । प्रतियोग्यधिकरणसंसर्गज्ञानस्यैव तत्त्वात् । तथा च स एव हेतुः प्रत्यक्षान्तरेष्वेवेति वाच्यम् । आरोपस्याभावबुद्ध्यावहेतुत्वात् । न चेदमिदं न नेदमिहेत्यनुभवसिद्धं तदिति वाच्यम् । द्वितीयेदमः सर्वत्राभावेनैव सहान्वयात् । अथ कदाचिदत्यन्ताभावस्य कदाचिदन्योन्याभावस्य बोधात् तत्र नियामकः संसर्गारोपस्तादात्म्यारोपश्च वाच्य इति चेन्न । संसर्गारोपनियामकस्यैवात्यन्ताभावबोधनियामकत्वसंभवात् सर्वदाप्यभावद्वयं बुध्यत एव । व्यवजिहीर्षावशात् व्यवहारकादाचित्कत्वमित्युपपत्तेश्च । अत एवारोपितरजतत्वायामेव शुक्तौ नेदं रजतमिति रजतत्वाभावः प्रतीयत इति लीलावत्युपायोक्तमपास्तम् । यत्तु प्रतियोग्यारोपस्याभावप्रमायां गुणत्वेन हेतुत्वात् सर्वत्रैव स हेतुरिति तन्न । प्रमाया गुणजन्यत्वे मानाभावात् । भावे वा अभाबसंनिकर्षादेव तथात्वात् । प्रमात्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वाच्च । अथ नेत्येव प्रत्यक्षापत्तिः । संनिकर्षसत्वादिति तन्निवृत्तये तज्ज्ञानं हेतुः । न च प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिप्रकारकाभावविषयचाक्षुषे स्वप्रतियोगितावच्छेदकप्रकारको निश्चयः कारणमित्यस्य निर्विकल्पत्वात् घटधीवारणार्थमावश्यकत्वे तत् एवोक्तदोषापगम इति वाच्यम् । एतन्मते तत्कार्यकारणभावास्वीकारात् । आरोपे सति तद्व्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकादर्शनादिति चेन्न । भौवानां निष्प्रकारघट इति प्रत्यक्षस्येव

१ वाच्यम् T. २ स्यात्यत्रेव K. ३ नञर्थे T. ४ नियमतं T. ५ T. drops न ६ स्यात्ताभावे बोधं T. ७ एवारोपितं रजतं T. ८ संनिकर्षादेरेव T. ९ Tr. drops अवच्छेदक. १० विषयकचाक्षुषे T. ११ निर्विकल्पकत्वात् T. १२ भवतां निष्प्रकारक घट इति K., D., D₂. १३ प्रत्यक्षस्यैव T.

तस्याप्यभ्युपगमे बाधकाभावात् । इदं त्वादिना तस्मै आदेर्भानस्य सर्वसिद्धत्वाच्च ।
वस्तुतो निष्प्रकारकमभावप्रत्यक्षं यदि नास्तुभवसिद्धमस्तु तर्हि तत्र सप्रकारक-
ज्ञानत्वेनैव कारणता । इत्थं च सर्वत्र विशिष्टबुद्धिसामग्री सुलभैवेति न नेति
प्रत्यक्षम् । संशयोत्तराभावप्रत्यक्षे च धर्मितावच्छेदकावच्छिन्नाभावविषयकत्वम् ।
यदि चोपस्थितविशेषणस्यासंसर्गग्रहस्तदापि धर्मितावच्छेदकानियन्त्रिततद्विशि-
ष्टबोधेन बाधकम् । एवं च नोक्तो गुरुः कार्यकारणभाव इति त्वस्मद्गुरवः ।
तस्मान्नारोपः कारणम् । अस्तु वा तथा तथापि न शब्दे । केवलं न नेत्यत्राभा-
वबोधस्य भाष्यकारैरुक्तत्वात् । निषेधपदादिना तद्वोधाच्च । अस्तु वा शब्दे स
हेतुस्तथापि न तद्वोधोऽनुभविकानाम् । अभावबोधस्यैव सर्वसिद्धत्वात् । न
चोक्ता युक्तिर्युक्ता । सर्वनामसंज्ञाया एतत्तदोरिति ज्ञापकादेव सिद्धेः । अन्य-
थाऽसः शिव इत्यादौ प्राप्तेरेवाभावात् । अकोरित्येकचसहितव्यावृत्त्या सर्व-
नाम्न एव प्रीतिः । अविघ्नमित्यादावव्ययीभावस्तु तत्पुरुषाव्ययीभावयोर्वैकल्पिक-
त्वान्नानुपपन्नः । 'रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम् ।' 'अद्रुतायामसंहितम्'
इति भाष्यवार्तिकाभ्यां विकल्पाभ्युपगमात् । तस्मादभाव एव नञर्थ इत्याशय-
वान् स्वमतमाह—

अभावो वा तदर्थोऽस्तु भाष्यस्य हि तदाशयात् ।

विशेषणं विशेष्यो वा न्यायतस्त्ववधार्यताम् ॥ ४० ॥

भाष्यस्य हीति । तथा च नञसूत्रे भाष्यम् । निवृत्तपदार्थक इति । निवृत्तः
पदार्थो मुख्यं ब्राह्मण्यं यस्मिन् स क्षत्रियादिरर्थः । सादृश्यादिनाध्यारोपित-
ब्राह्मण्यो नञद्योतिततदवस्थ इत्यर्थ इति कैयटो व्याचख्यौ । तत्र सार्धतीयः ।
आरोपितब्राह्मण्यस्य क्षत्रियादेर्नञ्वाच्यत्वात् । अन्यथा सादृश्यादेरपि वाच्यता-
पत्तेः । तस्मान्निवृत्तं पदार्थो यस्य । नपुंसके भावे क्तः इति भवेत् क्तः । अभा-
वार्थक इत्यर्थः । विशेषणमिति । प्रतियोगिनीति शेषः । अन्यथा अत्वं
भवसि अनहं भवामीत्यादौ पुरुषव्यवस्था न स्यात् । त्वदभावो मदभाव इति-
वदभावांशे युष्मदस्मदोरन्वयेन तिङ्क्षु युष्मत्सामानाधिकरण्याभावात् ।

१ तमतदेर्भानस्य T. २ विषयत्वं T. ३ विशेषणस्य संसर्गग्रहं T. ४ कारण K.
५ अस्तु वा तथापि K. ६ शब्दे K. ७ कारैरेवोक्तत्वात् T. ८ तद्वोधं व्यावृत्तिं D.
९ संहितस्यानुवृत्त्या T. १० तत्प्राप्तिः T. ११ इत्याशयवता T. १२ ब्राह्मण्या K.
१३ श्रद्धेयम् T. १४ T. drops भावे.

अस्मन्मते च भेदप्रतियोगित्वदभिन्नाश्रय इत्यर्थाद्युष्मत्सामानाधिकरण्यम् । अपि चैवं 'सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया' 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यादावेकवचननियमः । अत्राह्वण इत्यादाद्युत्तरपदार्थप्राधान्यात् तत्पुरुषत्वं चोपपद्यत इति भावः । विशेष्यो वेति । अयं भावः । घटो नास्तीत्यत्र घटाभिन्नाश्रयकास्तित्वाभाव इति बोधस्यानुभवसिद्धत्वात् तस्य विशेष्यतैव युक्ता । अत्वं भवसीत्यादौ च युष्मदस्तद्धिन्ने लक्षणा । नञ् द्योतकः । तथा च भिन्नेन युष्मदर्थेन तिङ्ः सामानाधिकरण्यात् पुरुषव्यवस्था । त्वद्धिन्नाश्रयिका भवनक्रियेति शाब्दबोधः । एवं न पचसीत्यत्र त्वद्धिन्नाश्रयकपाकानुकूलभावनाभाव इति बोधः । असमस्तनजः क्रियान्वयात् । अनेकमन्यपदार्थे इत्यत्रैकवचनं विशेष्यानुरोधात् । सुवामन्त्रित इत्यतोऽनुवर्तमानं सुवग्रहणं विशेष्यमेकवचनान्तमेव । किं चानेकशब्दाद् द्विवचनोपादाने बहूनां बहुवचनोपादाने द्वयोर्वहुव्रीहिर्न सिध्येदित्युभयसंग्रहायैकवचनं जात्यभिप्रायमौत्सर्गिकं वा । 'सेव्यतेऽनेकया' इत्यत्रापि योषयेति विशेष्यानुरोधात् प्रत्येकं सेवनान्वयानुरोधाच्चैकवचनम् । अत एव 'पतन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः' इत्यादि सूपपादमिति संक्षेपः ॥ ४० ॥

इति^१ वैयाकरणभूषणे नजर्यनिर्णयः ॥

१ D. has before this अत्राह्वण इत्यादावेकवचननियमः. २ °त्राश्रयकोऽस्ति° T.
३ युष्मदस्मदोस्तद्धिन्ने T. * तिङ्सामा° T. ५ श्रीवैया° T. ६ T. has संपूर्णः after it.

निपातार्थनिर्णयः ।

प्रादयो द्योतकाश्चादयस्तु वाचका इति न्यायमते स्थितं वैपम्यमयुक्तं युक्ति-
साम्यादिति ध्वनयन् निपातानां द्योतकत्वं समर्थयते—

द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा ।

उपास्येते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा ॥ ४१ ॥

परेण उपसर्गाणां द्योतकत्वस्वीकारात् तत्समं दृष्टान्तमाह । तथेति । अयं
भावः । प्रजयतीत्यत्र प्रकृष्टो जयः प्रतीयते । स च नोपसर्गावाच्यः । एवं हि
तस्याप्रकृत्यर्थत्वापत्तौ तत्राख्यातार्थप्रकृत्यन्वयो न स्यात् । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वि-
तस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः । न च जयमात्रं धात्वर्थः प्रकर्षः प्रशब्दार्थ इति वा-
च्यम् । तथापि तस्य धात्वर्थेऽन्वयासंभवात् । अभेदातिरिक्तसंबन्धेन प्रकृत्यर्थ-
प्रकारकशब्दबोधं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितेहेतुत्वात् । अन्यथौदनः पचतीत्यत्र
कर्मतासंबन्धेन पाके नामार्थान्वयापत्तेः । किं च प्रतिष्ठित इत्यत्र गमनत्वरूपेण
बोधो न स्यात् । धातोर्गतिनिवृत्त्यर्थकत्वेऽभावस्य प्रशब्दार्थत्वेऽपि गत्यभावो
नास्तीत्येव प्रत्ययः स्यात् । न चात्र तथा बोधसंभावनापि । गत्यभावसंबन्धि-
त्वेनानुपस्थितेः । अन्यथा घटः अभाव इत्यत्रापि तथाबोधापत्तेः । नञ्सम-
भिव्याहारस्थले चानादिसिद्धतथाव्युत्पत्तिस्वीकारान्न दोषः । न वा विशिष्टो जयो
धात्वर्थः । अर्थान्तरस्यैवोपसर्गं विनाप्येतदर्थप्रत्ययापत्तेः । न वा विशिष्टार्थः ।
प्रत्येकातिरिक्तविशिष्टाभावात् । तथा चोभयोर्वाचकत्वं कल्प्यम् । तद्वरं धातो-
र्जये कृतशक्तेरुपसर्गस्य शक्त्यवच्छेदकत्वम् । शक्त्यन्तरकल्पनमपेक्ष्य कृतशक्ते-
र्विशेषणविषयत्वमात्रकल्पने लाघवात् । तथा च प्रोत्तरजित्वेनैव प्रकृष्टजये
शक्तिः । न च जिपूर्वप्रत्वेनैव शक्तिरस्त्विति वाच्यम् । शक्त्यन्तरकल्प-
नापत्तेः । आख्यातार्थानन्वयप्रसङ्गाच्च । तस्मादुपसर्गाणां शक्ततावच्छेदकत्वमेव ।
तदेव च द्योतकत्वमपीति । यद्वा प्रतिष्ठित इत्यादौ विरोधिलक्षणया धातोर्गमना-
र्थकता न शक्तिः । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । प्रशब्दस्तु तात्पर्यग्राहकः ।
एतदेव च द्योतकत्वम् । कथं तर्हि व्यतिस इत्यादौ बोधः । लुप्तस्मरणदिव्य-
वेहि । दधि पश्येत्यादौ विभक्त्यर्थवत् । तमजानतस्तु बोधोऽसिद्ध एवेति हि

१ प्रशब्दार्थः प्रकर्ष इति वाच्यम् T. २ एवं हि for तथापि T. ३ न च तत्र D. ४ कृत-
शक्तिरूपं T. ५ प्रोक्त for प्रोत T. ६ गमनार्थकत्वाच्च शक्तिः T. ७ अनन्यलभ्यस्यैव
शब्दार्थत्वात् T.

नैयायिकाः । तच्चादिष्वपि तुल्यम् । चैत्रमिव पश्यतीत्यादौ चैत्रसादृश्यविशिष्टं चैत्रपदलक्ष्यमिव शब्दस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्य सुवचत्वादिति द्रष्टव्यम् । स्वयं युक्त्यन्तरमाह । उपास्येते इति । दृश्यत इत्यत्र कर्मणीति शेषः । अयं भावः । उपास्येते इत्यादावुपासना किमुपसर्गायौ विशिष्टस्य धातुमात्रस्य वा । नाद्यः । उपसर्गस्यैव सकर्मकत्वादासधातोरकर्मकत्वात् ततः कर्मणि लकारो न स्यात् । फलावच्छिन्नव्यापारवांचित्वं सकर्मकत्वमत्र सिद्धमिति चेन्न । फलावच्छिन्नत्वं यदि फलविशिष्टत्वं तद्धुपासनादिफलस्य धातुवाच्यत्वमायातम् । यदि च फलवैयधिकरण्यं तदपि सर्वेषां व्यापाराणां यत्किञ्चित्फलवैयधिकरण्यात् स्वार्थफलवैयधिकरण्यपर्यन्तं वाच्यम् । तथा च स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं पर्यवसितं भवति फलस्य धात्वर्थत्वसाधकम् । न द्वितीयः । विशिष्टस्य गणपाठाभावेन धातुत्वालाभेन लकारानुपपत्तेः । गणपाठो दिङ्मात्रमिति चेत् तथापि विशिष्टस्य धातुत्वे लिङादौ सति तन्निमित्तकं द्वित्वमजादे-
द्वितीयस्येति नियामकादुपसर्गनिपातावयवस्य स्यात् । अडादिकमुपसर्गात् प्राक् च स्यात् । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।

धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः ॥

तथा हि संग्रामयतेः सोपसर्गाद्विधिः स्मृतः ॥’

इति । अथ क्रियावाचकत्वं शुद्धधातोः फलवाचकत्वं तु विशिष्टस्य तथा च शुद्धस्य धातुत्वात् ततः प्रागेवाडादिकं भविष्यतीति चेत् तथापि निपातानां शक्तावच्छेदकत्वपर्यवसानादिष्टसिद्धिरेव । तृतीये त्वागतमेवोपसर्गस्य तत्त्वम् । धातोस्तैर्दर्थकत्वात् । तस्मादुपसर्गाणां द्योतकत्वमेवेति ॥ ४१ ॥

एतच्च निपातेऽपि सैममित्याह—

तथान्यत्र निपातेऽपि लकारः कर्मवाचकः ।

विशेषणाद्ययोगोऽपि प्रादिवच्चादिके समः ॥ ४२ ॥

अन्यत्र साक्षात् क्रियते अलंक्रियते नमस्क्रियते जरीक्रियते गुरुरित्यादौ । अत्रापि तत्तदर्थं धातोः कर्मणि लकारसिद्धयर्थं तत्तदर्थवाचकत्वं वाच्यमेवेत्युपसर्गवदेव द्योतकत्वममीषामपीति भावः । यद्यपि डुकृञ् करणे इत्यस्य सकर्मकत्वात् कर्मणि लकारो नानुपपन्नस्तथापि साक्षात्काराद्यर्थे स न स्यात् । अन्यथा

वायुर्विकुरुत इत्यादावपि स्यादिति ध्येयम् । इदमुपलक्षणम् । साक्षात्कारादेर-
धात्वर्थत्वे तत्कर्मत्वेन गुर्वादेरभिधानं न स्यात् । धात्वर्थाश्रयरूपकर्मण एव
तदुत्तराख्यातेनाभिधानात् । न वा तस्य कर्मत्वमपि । धात्वर्थफलाश्रयत्वस्य तत्त्वा-
दिति । अथ साक्षात्क्रियत इत्यादौ तत्तत्फलवाचकमेव साक्षात्पदादिकमस्तु
तदुत्पत्त्यनुकूलस्तु व्यापारो धात्वर्थः । तथा च साक्षात्क्रियते गुरुरित्यादौ गुर्वभि-
ज्ञाश्रयनिष्ठो यो विषयतासंबन्धेन साक्षात्कारस्तदुत्पत्त्यनुकूलो व्यापार इत्यादि-
र्बोधः । न च साक्षात्पदस्य साक्षात्काराद्यर्थवत्त्वे न मानमिति शङ्क्यम् ।
'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इति
'ऊर्यूरी चोररी च विस्तारेऽङ्गीकृतौ त्रयम्' इति चामरात् । नमःपदस्य नम-
स्काराद्यर्थकत्वस्य लोके च प्रसिद्धत्वात् । नन्वर्थविशेषान्तर्भावेणाकर्मकत्वादिवि-
भजनादत्रालंकाराद्यर्थे कथं कर्मणि लकार इति चेन्न । फलव्यधिकरणव्यापारवा-
चकत्वस्यैव सकर्मकत्वात् । सर्वस्य व्यापारस्य यत्किञ्चित्फलसमानाधिकरणत्वात्
स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं तत्त्वम् । तथा चोपासनादेर्धात्वर्थत्वेऽर्था-
देषां द्योतकत्वमिति चेन्न । स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरणव्यापारवा-
चित्वस्य सकर्मकत्वात् । कर्मत्वमप्येतादृशफलाश्रयत्वमेव । इत्थं च
कर्मणि लकारसंभवाच्चानयोपपत्त्या द्योतकत्वसिद्धिः । एवं दृष्टान्तेऽप्यु-
पपदस्योपासनार्थकत्वान्नानुपपत्तिरिति चेन्मैवम् । साक्षात्पदाद्यर्थसाक्षा-
त्कारस्य धात्वर्थे साक्षादन्वयायोगात् । अभेदातिरिक्तसंबन्धेन नामा-
र्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितेहेतुताया ओदनः पचतीत्यत्र
कर्मत्वसंसर्गेणान्वयवारणाय वाच्यत्वात् । स्तोत्रं पचतीत्यत्रेवाभेदान्वयस्तु यदि
साक्षात्कारादेर्धात्वर्थत्वं तदा स्यात् । तथा सति च साक्षात्पदस्यापि तद्वाचकत्वे
मानाभावात् द्योतकत्वमेव वाच्यम् । अनुशासनं च द्योत्यार्थवत्त्वमादाय नानु-
पपन्नमिति ध्येयम् । अपि च प्रादीनां वाचकत्वे भूयान् प्रकर्षः कीदृशो निश्चय
इतिवद् भूयान्प्रकीदृशो निरित्यपि स्यात् । अस्मन्मते च प्रादेरनर्थकत्वाच्च तद-
न्वय इत्यत एव प्रादयो द्योतका भविष्यन्तीत्यपि चादिषु सममिल्याह । विशेष-
णेत्यादि । शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इतिवच्छोभनश्च द्रष्टव्य इत्यस्याप्यापत्तेरिति
भावः । अथ वृक्षावित्यत्र द्वित्वं ब्रुवन् प्रत्ययो यथा परविशेषणत्वेनैव ब्रूते तद्व-
च्चकारादिः समुच्चयं वदन् परविशेषणत्वेनैव ब्रूत इति न विशेषणान्वय इति

चेन्न । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकव्युत्पत्तेस्तत्र तथास्त्वत्र च स्वात-
न्त्र्येण पदादुपस्थितिसत्त्वाद्विशेषणान्वयो दुर्वार एवेति भावादिति । किं च
निपातानां वाचकत्वे विना षष्ठीमनन्वयप्रसङ्गः प्रातिपदिकार्थयोर्विना विभक्त्यर्थं
भेदेनान्वयायोगात् । अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि राज्ञः पुरुष इतिवदन्व-
यापत्तेरित्यभिप्रेत्य तदेवाह । आदीति । धबखदिरयोः समुच्चय इतिवद्धवस्य
च खदिरस्य चेत्येव स्यादन्यथान्वयायोगादिति भावः । यत्तु चादीनां समुच्चिता-
भिधायकत्वमेव नातो भेदनिबन्धना षष्ठी । तथा च यः समुच्चितः स घट
इत्यभेदेनैवान्वयः । न चैवं सत्त्वार्थत्वाद्विभक्तिश्रवणापत्तिः । स्वभावात् समु-
च्चितपदाभिधेयस्य सत्त्वरूपत्वं न चाद्युपस्थाप्यस्येति संभवात् । यथा धातूप-
स्थाप्याया असत्त्वार्थत्वं घञाद्युपस्थाप्यायाश्च सत्त्वार्थत्वमिति समाधिमाहुस्तत्र ।
समुच्चिते धर्म्यंशेऽन्यलभ्यत्वाच्चकारशक्तिरूपनायोगात् । षष्ठीवारणाय तथा
कल्प्यत इति चेन्न । द्योतकत्वेनापि तदुपपत्तेः । एतेन समुच्चयस्यैकदेशत्वात्
पदार्थः पदार्थेन संबध्यते इति न्यायान्न भूयानित्यादिविशेषणान्वयापत्तिरिति
पूर्वोक्तं दूषणमलप्रकमिति निरस्तम् ॥ ४२ ॥

ननु प्रातिपदिकार्थयोर्भेदेनान्वयबोधे विभक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति व्युत्प-
त्तिर्निपातातिरिक्तविषयैवेति नोक्तदोष इत्याशङ्क्याह—

पदार्थः सैदृशान्वेति विभागेन कदापि न ।

निपातेतरसङ्कोचे प्रमाणं किं विभावय ॥ ४३ ॥

सैदृशा सदृशेन । समानाधिकरणेनेति यावत् । अन्वेति । अभेदेनेति शेषः ।
विभागेन असदृशेन । असमानाधिकरणेनेति यावत् । अयमभिप्रायः । अभेदसं-
बन्धेन प्रातिपदिकार्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धप्रातिपदिक-
धात्वन्त्यतरजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावस्य राज्ञः पुरुष इत्यत्राभेदबो-
धापत्त्यावश्यं वाच्यत्वादत्रापि चाद्यर्थसमुच्चयेन सह घटादीनार्मभेदान्वयः स्यात् ।
अत्र च निपातातिरिक्तेति विशेषणे गौरवापत्तिर्मानाभावाच्च । अत एव घटो
नास्तीत्यादौ घटपदं घटप्रतियोगिके लाक्षणिकमिति परे प्राहुः । नन्वत एवाभे-
दान्वये इष्टापत्तिरिति नायं दोष इति चेन्न । तथा सत्यभावत्वरूपेणापि लक्षण-

१ 'बोधकव्युत्पत्ते' T. २ घटाद्युप° T. ३ सदृशोऽन्वेति T. ४ कदाचन T.
५ T. drops सदृशः. ६ 'मभेदेनान्वयः' T. ७ 'भावात्' D.

योपपत्तौ नैर्शक्तिकल्पनागौरवात् । तात्पर्यग्राहकत्वेनैवैषामुपयोगात् । एवमन्य-
त्राप्यूह्यम् । अथाभावो घटः ओदैनः पचतीत्यत्राभावघटयोरोदनपाकयो-
रभेदान्वयः किं न स्यात् सामग्रीलत्वादिति चेन्न । योग्यताज्ञानरूपकारणविर-
हात् । न चात्राप्ययमेव निस्तारः । एवमपि भेदेनान्वयसिद्धये षष्ठ्यापत्तेर्दुर्ग-
रिहरत्वात् । अन्यथा घट अभाव इतिवदनन्वयापत्तिः । तथा च घटश्चेति वाक्यं
सूक्तमेव स्यात् । किं च निपातानां वाचकत्वसिद्धौ हि तथा कल्पना । न च
तद्युक्तम् । गौरवात् । प्रकर्षादिप्रतीतौ तदन्वयाद्यनुविधानं च द्योतकत्वेना-
न्यथासिद्धमेवेति द्योतकत्वमेवैषामिति दिक् ॥ ४३ ॥

अपि च काव्यादावन्वयानुपपत्तिमपि मानमाह ।

शरैरस्त्रैरिवोदीच्यालुद्धरिष्यन् रत्नानिव ।

इत्यादावन्वयो न स्यात् सुपां च श्रवणं ततः ॥ ४४ ॥

अत्रोल्लसदशैः शरै रसलदशालुदीच्यालुद्धरिष्यन्नित्यर्थः । अयं चोत्सादिशब्दा-
नां तत्सदृशपरत्वे इवशब्दस्य च द्योतकत्वे संगच्छते । तथाहि । उस्त्रैरिति
तृतीयया प्रकृत्यर्थगतं करणत्वमुच्यते । न चोत्सोऽत्र करणम् । तथा चेशब्दस्य
सदृशार्थकत्वेऽपि सदृशगतमेव करणत्वं तथा तृतीयया प्रतिपादनीयम् । तथा
च प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिभङ्गप्रसङ्गः । इवस्य तदप्रकृति-
त्वात् । न चेबोत्तरतृतीययेव तद्बोधनम् । असत्त्वार्थकतया कारकविभक्त्ययो-
गात् । तथात्वे वां श्रूयतेत्याह । सुपां चेति । सुपां श्रवणं चेत्यर्थः । चकारेण-
वशब्दात् तृतीयास्वीकारेऽपि उस्त्रपदोत्तरायास्तस्या अनन्वय एव बोध्यते । इत्या-
दावित्यादिपदाद्वागर्थविब पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे इत्यादौ वागर्थयोर्वन्दिर्कर्मत्वा-
भावाद् द्वितीयानन्वयापत्तिः सदृशार्थत्वे च वागर्थपदयोस्तदर्थपार्वतीपरमेश्वररूपे
कर्मत्वं सुसंगतमिति भावः । यदि च विशेषणविभक्तिर्न कर्मत्वाद्यर्थेत्युच्यते
तदापीत्थं योजनीयम् । तथाहि । उस्त्रशब्दस्योत्सोऽर्थस्तृतीया विशेषणविभक्ति-
त्वात् साधुत्वार्थाभेदार्था वा । इवशब्दार्थः सादृश्यं शरशब्दार्थः शरस्तृतीयार्थः
करणमिति हि पदार्थाः । तत्रोल्लसदशयोरयोग्यत्वादभेदेन निराकाङ्क्षत्वाच्च भेदे-

१ K. has नजः for न. २ शक्तिः कल्पना° T. ३ ओदैनं T. ४ दुर्गपरिहागात् T.
५ सदृशार्थत्वेऽपि T. ६ ना T. ७ श्रूयतेत्यत आह T. ८ °स्तदर्थे T. ९ कर्मत्वार्थे T.
१० °विभक्तिः K.

नान्वयायोगादनन्वय एव स्यात् । न चोन्ननिष्ठं यत्सादृश्यं निरूपकतया तद्वान्यः शर इति इवार्थे एवोन्नान्वयो न तयोरपि परस्परमन्वय इति वाच्यम् । तत्राप्युक्तरीत्यैवान्वयायोगात् । एवं शरेणापि सैमं नेवार्थान्वयसंभवः । द्योतकत्वपक्षे चोन्नसदृशार्थकमुखपदं तथा च तदभिज्ञो यः शर इति युक्तोऽन्वय इति न दोष इति भावः । इत्थमुत्तरदलेऽप्यवधेयम् । नन्विवाच्यः सदृशमस्तु तस्य चाभेदेनान्वयो नानुपपन्न इत्येत आह । सुपां चेति । चकारो भिन्नक्रमः सुपां श्रवणं चेत्यर्थः । अयमाशयः । सदृशधर्म्यर्थकत्वे सत्त्वार्थत्वं स्यात् तथा चोन्निपातत्वाद्भिभक्तिलोपाप्रसक्तेः श्रवणं तस्या भवेदिति । अथ धर्म्यर्थकत्वेऽपि लिङ्गाद्यनन्वयाद्यसत्त्वरूपत्वं नानुपपन्नम् । किं च इवशब्दस्य स्वरादौ पाठात् सत्त्वार्थत्वेऽपि नानुपपत्तिः । अत एव पृथिव्यामेव गन्ध इत्यत्र पृथिव्यां गन्धस्तदन्यत्र नेति बोधार्थमेवकारस्य समभिध्याहृतप्रातिपदिकसमानविभक्तिकत्वं तच्छ्रवणमपि लुका लुप्तत्वाच्चेत्यपरे वदन्तीत्यत आह । चेति । तथा चोन्नाभिन्नं यत् सदृशं तदभिज्ञा ये शरा इत्यादिरन्वयो वाच्यः । विरुद्धविभक्त्यनवरुद्धार्थयोरुन्नसदृशयोरिवसदृशयोरपि भेदेनान्वयायोगात् । तथा चानन्वय एव । न हि शराभिज्ञाभिन्नं उन्न इति भावः । अथवा सदृशशरादेस्तद्वाचिपदस्य एव लाभाभिज्ञिपातादेरपि तत्तच्छक्तिकल्पनं न चानन्वयवारणाय तत् कल्प्यते द्योतकत्वेनैतदुपपत्तेरिति पूर्वोक्तदोषा न वृत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ ४४ ॥

ननु त्वन्मते तावदुपसर्गादिभ्यो विभक्तिरेव न स्यात् । तेषामर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञाया एवाभावात् । किं च नञ्समासादावुत्तरपदार्थः प्रधानमिति व्यवस्था न स्यात् पूर्वपदस्य नञादेरनर्थकत्वादित्यत आह—

नञ्समासे चापरस्य द्योत्यं प्रत्येव मुख्यता ।

द्योत्यमेवार्थमादाय जायन्ते नामतः सुपः ॥ ४५ ॥

नञ्समासादौ योत्तरपदार्थप्रधानता सा द्योत्यमर्थमादायैव । तमेवार्थमादार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वं ततः सुबुत्पत्तिरित्यर्थः । अयं भावः । अर्थवत्त्वमर्थप्रतीतिजनकज्ञानविषयशब्दत्वं न तु शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्धेनार्थवत्त्वं तत्र

१ सममेवार्थां^० T. २ इत्याह K. ३ सत्त्वार्थकत्वं T. ४ च निपात^० T. ५ D₁ omits पाठान्. ६ सदृशशरयोरपि Tr., D., D₁. ७ भिन्नोन्न इति T. ८ The portion from अथवा to द्रष्टव्यम् is dropped in K. and D.

विवक्षितं येनोक्तस्थलेऽनुपपत्तिः संभाव्येत । तथा च प्रतिष्ठते विजयते घटश्चे-
त्यादौ निपातानां तादृशार्थवत्त्वस्याभावाद्भवति नामत्वम् । न चैवं राम इत्यत्र
राम इत्यतोऽपि विभक्त्यापत्तिः । स्त्रौजसमौद द्वैयेकयोरित्येतेषामेकवाक्यतया
विधानस्य तत्र तत्रोपपादितत्वाद्वा इत्यादेश्च संख्यावाचकत्वाभावेन विभक्त्यनु-
पपत्तेः । उक्तं हि हयवरदसूत्रे भाष्यकारेण 'संघातस्यैकत्वमर्थस्तेन वर्णात् सुबुत्प-
त्तिर्न भविष्यति' इति । अथवा प्रत्येकं वर्णेषु विभक्त्यनुपपत्तिरेकाजिद्वैचनन्या-
यात् । तथाहि । एकाचो द्वे प्रथमस्येत्यत एकाचसमुदायस्यैव द्वित्वं न प्रत्येकमिति
यथा तद्वत् समुदायादेव विभक्तिरिति कैयटादयः । यद्वा प्रत्येकं वर्णेषु विभक्त्यनु-
त्पावपि न श्रवणं लुका लुप्तत्वात् । अस्तु वा समासान्तमेकं रामपदम् । तत्र च
राजपुरुष इत्यत्र राजपदादिव विभक्त्यश्रवणं भविष्यतीति । अग्रेदं चिन्त्यम् ।
प्रथमपक्षे च निपातानामपि संख्यानभिधायकत्वाद्बिभक्तिर्न स्यात् एकवचन-
मुत्सर्गतः करिष्यत इति भाष्यसिद्धमेकवचनं भविष्यतीति चेद्वैराम इत्यादौ
प्रत्येकं वर्णेष्वप्येकवचनापत्तिरिति । एकाजिद्वैचनन्यायस्य च नात्रावकाश
इति समासशक्त्युक्तम् । तृतीयपक्षे च प्रातिपदिकानवयवत्वात् सुपो लोपाप्र-
सक्तेर्विभक्तिश्रवणं स्यात् । धनं वनमित्यादौ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्येत्यनेन न-
लोपापत्तिश्च झल्लं जशोऽन्त इति जश्वापत्तिश्च । इतोऽपि न चतुर्थः । किं च
पन्थानावित्यत्रापि ऋक्पूरब्धूःपथानक्षे इति समासान्तविधानात् पन्था-
वित्यापत्तिः पुरावित्यत्र पुरे इत्याद्यापत्तिश्चेति दिक् । तस्मादन्यथादापसुप
इति ज्ञापकादेव निपातेभ्यो विभक्तिरिति केचित् । निपातस्यानर्थकस्येत्येतस्मादेव
सेत्यन्ये । अस्याधिपरीत्येतज्ज्ञापकमादाय प्रत्याख्यानपक्षे तस्यैव सामान्यापेक्षं ज्ञाप-
कमभ्युपेत्य चादिनापि ज्ञापकादेव नामत्वसिद्धिरिति सिद्धे तस्मिन् सुबन्तत्वमपी-
त्यपरे । कृत्तद्धितसमासाश्चेत्यनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेणैषां संग्रह इति मूलग्रन्थकृतः ।
अथानन्तधातूनां नानार्थत्वमपेक्ष्य निपातानामेव वाचकत्वं युक्तमिति चेन्न । धातोः
प्रकर्षादौ लक्षणा तात्पर्यग्राहकः प्रादिः । अत एव नोपसर्गादिकं विना प्रक-
र्षादिप्रतीतिरिति स्वीकारात् । अनेकशक्तिकल्पना हि नानार्थे दूषकताबीजम् ।

१ 'स्यात्तादृशवति T. २ राम इत्यत्र is omitted in T. ३ द्वैयेकयोर्द्वैवचन इत्येतेषां
T. ४ T. drops तत्र. ५ 'द्वाम इत्या' T. ६ इति सूत्रे T. ७ विभक्त्यनुत्पत्तेः T.
८ 'त्यत पदैकाच्' T. ९ समस्तमेकं K. १० D., drops च. ११ 'मुत्सर्गः D., D.,
१२ चेन्न राम D. १३ तस्य for तस्मिन् T. १४ Tr. and D., drop मूल. १५ नाना-
र्थकत्वं K.

न चात्र तदिति ध्येयम् । अत एव न केवलानां तेषां प्रयोगः । वाचकत्वे चाति-
रिक्तशक्तिकल्पनापत्तिरिति युक्तो निपातानां द्योतकत्वपक्षः । उक्तं चाकृत्य-
धिकरणे भट्टैः ।

‘चतुर्विधे पदे चात्र द्विविधस्यार्थनिर्णयः ।
क्रियते संशयोत्पत्तेर्नोपसर्गनिपातयोः ॥
तयोरर्थाभिधाने हि व्यापारो नैव विद्यते ।
तदर्थद्योतकौ तौ तु वाचकः स विचार्यते ॥’

इति ।

‘उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
ग्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥’

इति चान्यैः । तस्माद्वैयायिककल्पितं प्रादिचाद्योर्ध्वव्यत्यययुक्तम् । यत्तु निपातानां
सर्वेषां वाचकत्वे निपातस्यानर्थक्येति विधिवैयर्थ्यम् । अर्थवत्सूत्रेणैव प्रातिप-
दिकत्वलाभात् । सर्वेषां द्योतकत्वेऽपि निपातस्यत्यनेनैवोपपत्तेरनर्थक्येति व्यर्थ-
मापद्यते । तस्मात् केचिदेवार्थवन्त इति वाच्यम् । तथा चोपसर्गा एव द्योत-
काश्चादयस्तु वाचका इति । तत्तुच्छम् । सर्वथानर्थकानां ‘तु हि च एव ह वै
पादपूरणे’ इत्यमरात् ‘कमीमिद्विति पादपूरणे’ इति निरुक्तात् ‘अधिपरी अन-
र्थकौ’ इति सूत्राच्चावगतानां संग्रहार्थत्वस्य कैयटादौ स्पष्टत्वात् । के वाचका
इत्यत्र नियामकाभावाच्चादीनामेव द्योतकत्वं प्रादयो वाचका इत्यस्याप्यापत्तेश्च ।
वस्तुतो वार्तिकमेतत् प्रत्याख्यातमेव भाष्यकारैरिति तन्मूलमेतदश्रद्धेयमेवेति
सर्वं चतुरस्रम् ॥ ४५ ॥

अथ सिद्धान्ते किमत्र द्योतकत्वम् । नैयायिकमतोक्तरीत्या शक्ततावच्छेदकत्वं
तत्त्वम् । उक्तं हि वाक्यपदीये

‘शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते’ ।

इतीति चेन्न । निपातधात्वादीनामानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वे गौरवात् । विशि-
ष्टस्य शक्त्यन्तरकल्पनावश्यकत्वे विशिष्टस्य तत्स्वीकारमपेक्ष्य शुद्धनिपाते एव
तत्स्वीकारौचित्याच्च । जयादिमात्रवाचकस्य प्रकर्षादिविशिष्टे लक्षणयोपपत्तौ गौर-
वग्रस्तोक्तकल्पनायोगाच्च । अस्तु तर्हि लक्षणार्था तात्पर्यग्राहकत्वमेव द्योतकत्व-

मिति द्वितीयः पक्ष इति चेन्न । तथा सति सुप्रतिष्ठामपि द्योतकतापत्तेः । धात्वादेः कर्तृकर्मादिविशिष्टे लक्षणयां तिङ् द्वितीयादेस्तात्पर्यग्राहकत्वसंभवात् । न चैवं घटादिपदानामेव कर्मत्वादिविशिष्टार्थकत्वे नामार्थधात्वर्थयोः साक्षादन्वयापत्तावभेदातिरिक्तसंबन्धेन नामार्थप्रकारकशाब्दबोधे विभक्तिजन्योपस्थितेः कारणत्व-
 विलोपापत्तौ घटः पश्यतीत्यत्र कर्मत्वसंबन्धेनान्वयाच्छाब्दबोधापत्तिः । घटादिप-
 दानां घटकर्मके लक्षणया स्तोके पचतीत्यत्रेवाभेदबोधस्यैव संभवात् । भेदसंबन्धेन
 बोधोऽनुभूयत इति चेन्न । राजपुरुष इत्यत्रापि तथानुभवाच्छत्त्यापत्तेः । नामार्थनि-
 र्णयकथितरीत्याप्युपपत्तेश्च । न चैवं गङ्गायां द्विरेफ इत्यत्र तीरगतभ्रमराननुभ-
 वापत्तिर्विभक्त्यर्थकत्वात् प्रकृतेश्च लाक्षणिकत्वेनानुभावकत्वादिति वाच्यम् ।
 वृत्तिमत्त्वेनैवानुभावकत्वात् । यत्तु लाघवाच्छक्त्येनैवानुभावकत्वमिति तन्न ।
 लाक्षणिकस्यापि शक्तत्वात् । तत्र शक्तं तमनुभावयतीति नियम इति चेत्
 तर्हि गङ्गायां घोष इत्यत्र तीरानुभवो न स्यादेव । स्वशक्त्यान्वयबोधकमेवानु-
 भावकं गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य तथात्वेऽपि सप्तम्यादेस्तथात्वात्तदेव
 तीरानुभावकं भविष्यतीति चेन्न । अपभ्रंशादननुभवापत्तेः । गौरवाच्च । बोध-
 कत्वेनैवानुभावकतायामतिलाघवाच्चेति । अपि च यत्र पदद्वयमपि लाक्षणिकं
 रूपे इत्यादौ तत्राननुभवापत्तिः । किं चानुमितिशब्दयोरनुभूतमिति प्रतीत्य-
 भावादनुभवत्वं प्रत्यक्षत्वमेव । तथा च शाब्दबोधाजनकत्वं तत्त्वं पर्थवसितम् ।
 तदपि साक्षात्पदानां तज्ज्ञानस्य वा शाब्दबोधाजनकत्वात् पदार्थस्मरणद्वारक-
 मपि तन्नास्तीति वाच्यम् । तच्चायुक्तम् । लक्षणाज्ञानजन्यपदार्थोपरिष्ठातेः शाब्द-
 बोधजनकत्वेन तद्वारकस्य तस्य दुष्परिहारात् । अन्यथा लक्षणाकल्पनमेवो-
 च्छिद्येतेति दिक् । अपि च धातोल्लक्षणयाप्युपपत्तेर्निपातानामन्वयकत्वे घटादि-
 पदस्य चरमवर्गस्यैकाक्षरनिघण्टुवशात् तत्तदर्थस्य घटत्वादिविशिष्टे लक्षणया
 बोधोपपत्तौ घटादिपदानामप्यन्वयकत्वप्रसङ्गः । न चावयवशक्तिमविवृष्टोऽपि
 समुदायशक्तिज्ञानात्तथा बोधात्तेषां शक्तिकल्पनम् । धातोः शक्तिमविवृ-
 ष्टोऽप्युपसर्गस्य तद्भवतो बोधात् तथात्वस्य तुल्यत्वात् । न च प्रकारतासंबन्धे-
 नाख्यातार्थविशेष्यकबोधं प्रति धातुजन्योपस्थितिर्हेतुरित्यादिकार्थकारणभावरू-
 पाकाङ्क्षाविरहादुपसर्गस्य शक्तिग्रहेऽपि न बोध इति वाच्यम् । तादृशकार्य-

१ K. has 'रनुभवामीति. २ K. drops तत्त्वं. ३ दुष्परिहृत्वात् T. ४ तत्तदर्थ-
 कस्य K., T. ५ वावयव T. ६ 'करण' K.

कारणभावशालिपुरुषीयशाब्दे एव तस्य हेतुत्वादिह चान्यस्य तत्संभवात् । किं चाख्यातार्थविशेषकतादृशबोधं प्रति निपातजन्याप्युपस्थितिः कारणं कल्पयताम् । व्यतिसे इत्यनुरोधत् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां घटादिपदबच्छक्तिसिद्धौ तथाकल्पनस्य युक्तत्वाच्च । एतेन प्रतिष्ठते इत्यत्र गमनत्वरूपेण प्रतीतेर्धातोरेव लक्षणा प्रशब्दस्य तदर्थत्वे च तन्नाख्यातार्थान्वयो न स्यादित्यपास्तम् । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकर्षादिस्तेषां वाच्य एव । एवं च प्रकारतासंबन्धेन धात्वर्थविशेषकबोधं प्रति कारकविभक्तिवन्निपातजन्याप्युपस्थितिर्हेतुर्वाच्या । तथा च न प्रथमः पूर्वोक्तोऽत्र दोषः । एवं नामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधे षष्ठ्यादिजन्योपस्थितिर्हेतुरित्यपि निपाततिरिक्तविषयं वाच्यमतो नान्येऽपि दोषाः । वस्तुतो नैत्येवोक्ते अभावशब्दस्य सर्वसिद्धत्वाच्च तत्र पदान्तरसमभिव्याहाराभावात् द्योतकत्वसंभवः । अत एव नन्सूत्रे महाभाष्येऽपि ननेत्यत्राभावो नास्तीत्यर्थदर्शनं कृतं संगच्छते । न च क्रियायोगं बिनाऽसमस्तनवोऽसाधुत्वादिदमनुपपन्नमिति वाच्यम् । गम्यमानाया अपि क्रियायाः कस्मात् त्वं नद्याः इत्यत्रेव निमित्तत्वमालम्ब्य नैवसंभवात् । अस्तु वा प्रकृत्यो धर्मी प्राद्यर्थस्तथा च स्तोत्रं पचतीतिवदभेदेनैवान्वयाच्च व्युत्पत्तिविरोधः । ननु निपातानां वाचकत्वे केवलानामपि प्रयोगः स्यादिति चेन्न । केषांचित् ते प्राग्धातोरिति नियमितत्वात् । केषांचिन्नञ्प्रभृतीनां तथात्वस्येष्टत्वात् । अन्येषां च वाचकत्वेऽपि केवलप्रत्ययप्रकृत्योरप्रयोगवदुपपत्तेः । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ।

समुच्चयाभिधानेऽपि व्यतिरेको न विद्यते ॥’

इति । यद्यपि प्रत्ययवदेषां परत्वं न स्मर्यते तथापि तैर्बोध्यप्रकर्षादेर्विना संबन्धिनमनन्वयात् केवलप्रयोगासंभवः । समुच्चिताभिधायकत्वेऽपि विशेषतस्तयोरुपस्थितिं बिना प्रतीतिरपर्यवसानाश्रित्यपरतन्त्रतैवेति न प्रयोगः । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘समुच्चिताभिधानेऽपि विशिष्टार्थाभिधायिनाम् ।

गुणैः पदानां संबन्धः परतन्त्रास्तु चादयः ॥’

१ एवं च निपाता एव वाचका धातुरेव द्योतक इत्यपि स्यात् is added in T. after this.
२ ०भाषेन T. ३ तत्संभवात् D. ४ K., Tr., D₂ drop च. ५ केवलं प्रत्यय^० K., D₂.

इति । तस्मान्निपातानां वाचकत्वे न दोषः । अत एव समुच्चयाधिकरणे मीमांस-
कैरुक्तम् । 'केवलवृक्षशब्दात् समुच्चयाबोधोच्चारणश्रवणे तद्वोधाच्चकार एव
तद्वाचको न द्योतकः । किं च द्योतकत्वे पदान्तराणां तत्र शक्तिः कैल्प्या चकारस्य
च द्योतकत्वशक्तिः कल्पनीयेति गौरवं स्यात्' इति । अत एव मीमांसाद्वयेऽपि नञः
पर्युदासे लक्षणेत्यादयो व्यवहाराः संगच्छन्ते । संगच्छन्ते च तत्र तत्र प्राची-
नव्यवहाराः । तस्मान्निपाता वाचका एवेत्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह—

निपातानां वाचकत्वमन्वयव्यतिरेकयोः ।

युक्तं वा न तु तद्युक्तं परेषां मतमेव नः ॥ ४६ ॥

अस्मन्मते निपातानां शक्तिग्रहाद्वात्वादेर्लक्षणाद्यग्रहादेव च बोधात् तच्छ-
क्तिज्ञानकार्यकारणभाव आवश्यकः । बोधकत्वरूपा शक्तिश्च निर्वाधा । लक्षणा-
पक्षेऽपि तत्कार्यकारणभाव आवश्यक एवेति किं गौरवम् । तस्माच्छक्तिज्ञानल-
क्षणाज्ञानयोः कार्यकारणभावद्वयस्यापि वाच्यतया शक्यत्वं द्योतकता चेत्पुन-
रप्युपपन्नम् । अत एव विभक्तेरपि समानन्यायतां मनसि निधाय

‘वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः ।’

इत्युक्तं वाक्यपदीये ।

अत एव

‘क्वचित् संभविनो भेदाः केवलैरनिर्दिशिताः ।

उपसर्गेण संबन्धे व्यज्यन्ते प्रपरादिना ॥

स वाचको विशेषाणां संभवाद् द्योतकोऽपि वा ॥’

इति वाक्यपदीयेऽपि पक्षद्वयमुक्तमिति भावः । मीमांसकास्तु वाचका एवैते न
द्योतका इत्याहुः । तदयुक्तम् । अन्यलभ्ये शक्तिकल्पनायोगात् । अस्मदुक्तरीत्या
तथाकल्पने च गङ्गादिपदानामपि तीरादौ शक्तिकल्पनापत्तेः । न वा तेषामुपप-
त्तिर्युक्ता । अन्वयव्यतिरेकयोस्तात्पर्यग्राहकत्वेनान्यथासिद्धेः । न च शक्तिद्वयक-
ल्पना । द्वितीयपदस्य लक्षणाङ्गीकारान्निपातानां तात्पर्यग्राहकत्वादित्यभिप्रेत्याह ।
न त्वित्यादि । तत् समुच्चयाधिकरणे स्थितम् । परेषां मीमांसकानाम् । मतं
वाचकत्वरूपम् । तदेव नः । किं तु द्योतकत्वमपीति भावः ॥ ४६ ॥

१ बोधाच्चकारश्रवणे तद्वोधाच्च चकार एव omitted in K. २ कल्पनीया T. ३ रूपश-
क्तिश्च T. ४ वेत्युमय° K. ५ संभाविनो Tr. ६ °रपि दंशिताः D. ७ T. drops अपि.
८ °कल्पने K. ९ तात्पर्यमात्रग्राहकत्वा° T.

उपसर्गा द्योतका निपाता वाचका इति नैयायिकमतं न युक्तं वैषम्ये बीजा-
भावादिति पर्यवसितमुपसंहरन्नाह—

निपातत्वं परेषां यत् तदस्माकमिति स्थितिः ।

व्यापकत्वाच्छक्ततायास्त्ववच्छेदकमिष्यते ॥ ४७ ॥

परेषां मते यदेव निपातत्वमसत्त्वार्थत्वे सति चादिगणपठितत्वं शक्तिसं-
बन्धेन निपातपदवत्त्वमित्याद्युपाधिरूपं वा जातिर्वास्तु उभयथा सामान्ये प्रमा-
णानां पक्षपातात् तदेव द्योतकतायाः शक्तताया वावच्छेदकं युक्तमित्यर्थः ।
व्यापकत्वात् । सामान्यत्वात् । शक्तताया इत्युपलक्षणं द्योतकताया इत्यपि
द्रष्टव्यम् । एतेन चादयः सन्तु द्योतकाः । उक्तयुक्तेः । अथशब्दस्तु वाचक एव ।
अन्यथा प्रकरणतुल्यतया 'सङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्येष्वथोऽथ' इति कोशासंगतिः
स्यात् । अथ शब्दानुशासनमित्यत्र वाचकपदसमभिव्याहाराच्च । द्योतकानां
वाचकपदसमभिव्याहारनियमात् । तस्मादथशब्दः प्रस्तावद्योतक इति चिन्त्य-
मित्यपास्तम् । चकारादावपि समुच्चयादेः कोशाद्युक्तस्य चार्थे द्वन्द्व इति सूत्राच्च
वाच्यत्वापत्तेरर्द्धजरतीयतादवस्थ्यात् । अथ शब्दानुशासनमित्यत्राप्यनुशासन-
शब्द एव तद्वाचकः । न च श्रवणादेरपि द्योतनापत्तिः । घटश्चेत्यत्राप्यापत्ते-
रित्यस्तामतिक्षुब्धधन्धनयेति दिक् ॥ ४७ ॥

इति वैयाकरणभूषणे निपातानां द्योतकत्ववाचकत्वनिर्णयः समाप्तः ॥

१ अयुक्तं T. २ दन्धनयेति T., Tr. ३ T. drops दिक्. ४ श्रीवैया° T. ५ संपूर्णः T.;
D. drops समाप्तः ६ After this T. has श्रीद्विष्टिर्विजयतेतराम्.

भावप्रत्ययार्थनिर्णयः

भावप्रत्ययार्थं निरूपयति—

कृत्तद्धितसमासेभ्यो मतभेदनिबन्धनम् ।

त्वतलोरर्थकथनं टीकायां हरिणा कृतम् ॥ ४८ ॥

कृत्तद्धितसमासेभ्यः संबन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनान्यत्र रूढ्यभिन्नरूपाव्य-
भिचरितसंबन्धेभ्य इति वचनं वार्तिककारीयमिति भ्रमं मीमांसकानां निराकुर्व-
न्नाह । टीकायामित्यादि । त्वतलोरिति भावप्रत्ययमात्रोपलक्षणमुक्तवचनानुरो-
धात् । अयमर्थः । राजपुरुष औपगवः पाचक इत्यादौ यद्यपि केवलः संबन्धो
नाभिधेयस्तथापि समासादौ शक्तिः कल्प्यमाना विग्रहप्रविष्टषष्ठ्याद्यर्थान्तर्भावे-
णैव कल्प्यते । अत एव तयोः समानार्थत्वम् । तथा च राजपुरुषत्वं पकृत्वमौ-
पगवत्वमित्यादौ स्वस्वामिभावः क्रियाकारकसंबन्धोऽपत्यापत्यवत्संबन्ध इति
बोधादेतेभ्यो भावप्रत्ययाः संबन्धमभिदधति । औपगवादावव्यभिचरितसंबन्धे
त्वर्थान्तरवृत्तिस्तद्धित उदाहार्यः । दामोदरत्वं कृष्णसर्पत्वमित्यादौ जातिविशेषे-
णैव बोधादाह । अन्धत्रेत्यादि । रुढेरभिन्नरूपादव्यभिचरितसंबन्धेभ्यश्चान्यत्र
संबन्धे एवार्थ इत्यर्थः । रुढिरुक्ता । द्वितीयं यथा । शुक्र इत्यादौ तदस्यास्त्य-
स्मिन्निति मनुषो गुणवचनेभ्यो मनुषो लुगिष्ट इत्यनेन लुप्तत्वात् तद्धितान्तत्वेऽपि
घटः शुक्र इति प्रतीत्या गुणगुणिनोर्भेदसंबन्धस्य न्यग्रभावाच्छुद्धत्वमित्यादि ।
अत्र गुणस्यैव प्रकारत्वं न संबन्धस्य । तृतीये सतो भावः सत्तेत्यादि । अत्र तु
जातावेव प्रत्ययः । राजपुरुषयोस्त्वव्यभिचरितसंबन्धाद्यभावाद्भवति संबन्धाभि-
धानमिति रीत्या द्रष्टव्यम् । एतच्च संबन्धो वृत्तावर्थ इति भेदः । संसर्ग उभयं
वैति पूर्वोक्तमतमाश्रित्येत्यभिप्रेत्याह । मतभेदनिबन्धनमिति । तथा च राज-
पुरुषत्वमित्यस्यापि वृत्तित्वात् तदीयैव शक्त्या निर्वाह इति भावः ॥ ४८ ॥

मीमांसकास्तु दण्डीत्यादौ मनुषः प्रकृत्यर्थविशिष्टद्रव्यमात्रवाचित्वमेव संब-
न्धस्य वाक्यार्थविधया विशेषणविशेष्यभावबोधोत्तरसर्धाद्वा प्रतीत्युपपत्तेः । अत
एव पाचक इत्यादावपि न सोऽर्थः । उक्तं च

‘पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः ।

पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचित् ॥’

१ केवलसंबन्धो T. २ T. drops रीत्या. ३ चेति for वेति in K. and T.

४ पाचं K.

इति । न चानन्तद्रव्येषु शक्तिग्रहासंभवः । एकमुपलक्षणीकृत्य संभवात् । न चोपलक्षणीभूता दण्डादयोऽपि नाना । तद्वृत्तिजात्यनुगमात् । न च तदपि दण्डत्वकुण्डत्वरूपमनेकम् । प्रकृत्यश्रित्वेन तदनुगमादित्यरुणाधिकरणोक्तरीत्या द्रष्टव्यमित्याहुः । तदर्धजरतीयत्वादुपेक्ष्यमित्याह—

अत्रार्धजरतीयं स्याद् दर्शनान्तरगामिनाम् ।

सिद्धान्ते तु स्थितं पक्षद्वयं त्वादिषु तच्छृणु ॥ ४९ ॥

अत्र कृदादौ । अयं भावः । दण्डीत्यादौ संबन्धावाच्यत्वे दण्डित्वमित्यत्रापि न स्यात् । प्रतीतेस्तथैवोपपत्तेः । न च त्वप्रत्ययवैयर्थ्यभीत्या तत् कल्प्यते । घटत्वमित्यादौ क्लृप्तप्रकृत्यर्थतावच्छेदकशक्त्यैवोपपत्तेः । कृत्तद्धितसमासेभ्य इति वचनात् तथा कल्प्यत इत्यप्ययुक्तम् । तस्य हरिवचनत्वात् । अस्तु तर्ह्यनुभवानुरोधाच्छक्तिकल्पनमिति चेन्न । शक्त्यन्तरकल्पनामपेक्ष्येनादीनां क्लृप्तशक्तावेव धर्मिवत् संबन्धविषयत्वकल्पनयोपपत्तौ पृथक्शक्तिकल्पनासंभवात् । तथा च सति क्लृप्तप्रकृत्यर्थतावच्छेदकशक्त्यैव तद्ज्ञानसंभवादेः प्राक् विवेचितत्वादिति दिक् ॥ ४९ ॥

सिद्धान्तनिष्कर्षमाह—

प्रयोगोपाधिमाश्रित्य प्रकृत्यर्थप्रकारताम् ।

धर्ममात्रं वाच्यमिति यद्वा शब्दपरादभी ॥

जायन्ते तज्जन्यबोधप्रकारे भावसंज्ञिते ॥ ५० ॥

प्रयोगे कर्तव्ये प्रकृत्यर्थे त्वप्रत्ययप्रकृत्यर्थे प्रकारतामापन्नमिति शेषः । तमुपाधिमाश्रित्य । शक्यतयेति शेषः । प्रकृतिर्जन्यप्रकारो भावप्रत्ययशक्य इत्यर्थः । ननु घटत्वमित्यादिपदजन्यबोधप्रकारो घटत्वत्वादिकमपि भावप्रत्ययोत्तरभावप्रत्ययस्य शक्यं स्यादित्यत्रेष्टापत्तिमाह । धर्ममात्रमिति । न च गौरवाल्लक्षणैव तत्रैव न शक्तिरिति वाच्यम् । शक्तावेव तदादरो न लक्षणायामित्यत्र विनिगमकाभावादिति भावः । तथा च तस्य भावस्त्वतलाविति सूत्रे भगवान् वार्तिककारः । यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति ।

१ इत्ययुक्तं T. २ अपेक्ष्येन्यादीनां K., D. ३ मापत्र इति T. ४ जन्यबोधप्रकारो K., T. ५ न तत्र for तत्र न K. ६ वार्तिककार आह D₂.

व्याख्यातं च कैयटेन । गुणशब्देन यावान् कश्चित् पराश्रयो भेदको जात्यादिः स सर्व इह गृह्यते । यस्य भावादित्येतावत्युच्यमाने पुत्रस्य भावात् पितरि पितृ-शब्दप्रयोगात् पितृत्वमिति पुत्रे भावप्रत्ययः स्यात् । पुत्रत्वमिति च पितरिति गुणग्रहणम् । भावाद्विद्यमानत्वादित्यर्थः । द्रव्यशब्देन विशेष्यभूतः सत्त्वभावापन्नोऽर्थ उच्यते । तस्मिन् द्रव्ये शब्दनिवेशः शब्दस्य प्रवृत्तिर्यस्य गुणस्य भावात् स त्वतलाद्यभिधेय इत्यर्थः । तत्र ^१ये रूपादयो गुणमात्रवृत्तयस्तेभ्यो गुणवृत्ति-जात्यभिधायी प्रत्ययो रूपत्वमिति यथा । ये तु शुक्लादयो गुणिपरा अभेदोप-चारादिना तेभ्यो गुणे प्रत्ययः । गुणपरेभ्यस्तु जातावेव । अणुमहद्दीर्घादयो ये निश्च परिमाणिनि वर्तन्ते न तु परिमाणमात्रे तेभ्यो गुणे भावप्रत्ययः । पाचक इत्यत्र क्रियाविशेषणकबोधात् तदुत्तरभावप्रत्ययेन विशेष्यतया सैवाभिधीयते । घटत्वमित्यादौ जातिरिति यथानुभवं द्रष्टव्यम् । तत्र घटत्वत्वादिकं जातावव-च्छेदकमुक्तं तत्र यद्यपि परेषां घटेतरावृत्तित्वे सति सकलघटसमवेतत्वरूपं तथा-प्यस्मन्मत अविद्या आविद्यको धर्मविशेषो ब्रह्मसत्तैव वा जातिरिति स्वीकाराद-खण्डमेव वाच्यम् । स्ववृत्तित्वादिसंबन्धेन व्यक्तिरेव वा प्रकारः । यद्यप्यत्रापि जातेरेकत्वे स्ववृत्तित्वसत्त्वाद् घटत्वमित्यत्र घटस्यापि प्रकारतापत्तिस्तथापि घटादिरेव च तत्रोपस्थित इति स एव प्रकारः । पटादेः शब्दादनुपस्थितौ शा-ब्दबोधे भानासंभवात् । अस्तु वा तत्तत्प्रकृतिसमभिव्याहारस्य तादृशबोधत्वं कार्यतावच्छेदकमतो न दोषः । एवं च

‘संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥’

इति वाक्यपदीयं संगच्छत इति दिक् । कैयटस्तु गवादयो यदि जातिमात्रवा-चिनस्तदा तेभ्यः शब्दस्वरूपे प्रत्ययः । तथाहि ॥ अर्थे जातौ शब्दस्वरूपमध्य-स्यते यो गोशब्दः स एवार्थ इति । ततः शब्दस्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तं नान्यदि-

१ प्रकाराश्रयो T. २ पुत्रशब्द° T. ३ स्ववृत्तिर्यस्य T. ४ ये is dropped in K. and D. ५ मात्रप्रवृत्तयः K., T. ६ गुणप्रत्ययः T. ७ भावप्रत्ययः D. ८ तत्र यद्यपि T. ९ यद्यप्यपरेषां D. १० T. drops वा. ११ पटस्यापि Tr., D., D₂.

त्याह । केचित्तु धर्ममात्रं धर्मत्वेनैव शक्यं भावप्रत्ययस्य न तु तत्तद्रूपेण । नानार्थ-
 तापत्तेः । ननु गुरुत्वं घटत्वमित्यादौ गुरुत्वत्वादिना प्रतीतिः सर्वसिद्धा न स्यादित्यत
 आह । प्रयोगोपाधीति । प्रयोगे उपाधिर्नियमेन भासते संस्कारमात्राच्च तु
 तत्रापि शक्तिः । तं प्रकारतयाश्रित्यानुपपत्त्यभाव इत्यर्थः । न चैवं धर्मत्वस्य
 शक्यत्वे न मानमिति वाच्यम् । शक्तेरवच्छेद्यत्वनियमात् । अन्यथा मास्तु तद-
 वच्छेदकमत एव पङ्कजपदे पद्मत्वं प्रयोगोपाधिरिति परे मन्यन्त इति व्याच-
 क्षेते । तच्चिन्त्यम् । एवं हि घटमित्यादौ धर्मत्वेनैव बोधे प्रतीतिवैचित्र्यं न स्यात् ।
 संस्कारवशाद्विशेषरूपभानमिति चेत् तथा सति तस्य वृत्त्यविषयत्वे शाब्दबोध-
 विषयत्वं न स्यादिति ध्येयम् । नव्यास्तु जातिगुणक्रियासाधारण्येनैकशक्तौ
 संभवन्त्यामनेकतत्कल्पने गौरवादस्तु धर्मत्वेन तेषां वाच्यता परंतु तत्र प्रकृ-
 त्यर्थो व्यक्तिरेव प्रकार इत्युक्तम् । सा च स्वेतरावृत्तित्वावच्छिन्ननिखिलस्ववृत्ति-
 त्वसंबन्धेन प्रकार इति स्वीकारेणानतिप्रसङ्गः । अत एव क्वचित् स्वसमवेतत्व-
 मात्रमेव संबन्धो यथा सत्त्वमित्यत्र नियामकं चात्राकाङ्क्षामात्रमिति तत्त्वमिति
 वैयाकरणमतं समर्थयन्ते । तन्न । उक्तसंबन्धस्य वैयाकरणमते घटत्वे बाधि-
 तत्वात् । महत्त्वं गुरुत्वमित्यादौ महत्त्वत्वगुरुत्वत्वादिप्रकारकबोधस्यानुभवसिद्ध-
 त्वाच्चेति दिक् । एवं च घटत्वादिजातिरभिधेया तत्र प्रकारः पुनर्व्यक्तिरिति
 प्रथमः पक्षः । अथवा जातौ शब्द एवावच्छेदकः । शक्ता तु प्रागुक्तजात्या-
 दिरेवेति पक्षान्तरमाह । यद्वेति । यद्वाशब्दो वार्तिकोक्त एव तत्सूचनाय
 पठितः । तथा च तत्रैव वार्तिकं 'यद्वा सर्वे भावाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषां
 भावः' इति । भवन्ति वाचकत्वेन प्रवर्तन्त इति भावाः शब्दास्ते स्वस्य
 वाच्यो योऽर्थस्तेन भवन्ति तत्र वाचकत्वेन प्रवर्तन्ते । अर्थप्रत्यायनार्थमेव
 शब्दप्रयोगाच्छब्दभवेऽर्थस्य करणत्वविवक्षया नृतीयादिप्रयोगः । स चार्थो
 द्विविधः । वाच्यः प्रवृत्तिनिमित्तं च वाच्यं च द्रव्यं शब्दो वा प्रवृत्तिनिमित्तं च
 घटत्वादिजातिर्जातिशब्देषु पाचकादिशब्देषु क्रिया राजपुरुषादिशब्देषु संबन्धः
 द्वित्यादिषु संज्ञेत्यादि सर्वमनुभवानुरोधादवधेयम् । स प्रवृत्तिनिमित्तरूपो-
 ऽर्थस्तदनुरोधेनैव शब्दानां प्रवृत्तेस्तेषां शब्दानां भावोऽर्थ इति समुदायार्थः ।
 ननु शक्यतावच्छेदकमेव भावप्रत्ययशक्यं चेत्तर्हि को विशेषः पूर्व-
 पक्षादिति चेत् पूर्वपक्षे व्यक्तिरेवावच्छेदिका । अत्र मते शब्द

एवावच्छेदक इत्येव । एवं चात्र पक्षे गोत्वं पाचकत्वं शुक्लत्वमित्यादौ
गोशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं पाचकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं शुक्लशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्या-
दिबोधो द्रष्टव्य इति कैयटाद्यनुसारेण वार्तिकार्थं वर्णयन्तो व्याचक्षते । वस्तु-
तस्तु सर्वे भावाः शब्दाः स्वेन स्वस्वरूपेणार्थेन भवन्ति प्रवर्तन्तेऽतः स तेषां
भावः प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । अयमभिप्रायः । अर्थवच्छब्दोऽपि द्रव्ये शक्यता-
वच्छेदकः । नलङ्काकुपृथुयुधिष्ठिररामकृष्णादिपदेभ्यस्तत्पदवाच्यो यः कश्चि-
दासीदित्येव बोधात् । एवमेवाप्रसिद्धार्थकपदेष्वनुभवः सर्वसिद्धः । न नु घटा-
दिपदेष्विव तज्जात्यादिरूपेण । असंभावितश्च तथा बोधस्तत्तद्रूपेणानुपस्थितौ
तथा शक्तिग्रहस्यैवासंभवात् । शब्दादन्येन तदुपस्थितेश्चासंभवात् । न च तत्त-
त्प्रकाराः संस्कारा अनादय एव सन्तीति सांप्रतम् । अजन्यसंस्कारानङ्गीकारात् ।
जन्यस्य कारणाभावेनायोगात् । न चानादिरेव भाविगोचरसंस्कारज्ञानयोर्धारा ।
अनेकजन्मसु तथा कल्पने मानाभावात् । फलान्यथानुपपत्तेरपि तत्तद्रूपेण बोध-
रूपफलस्यैवानुभवादंभवात् । विनैव तत्तद्वाचकपदश्रवणं तेषां स्मरणापत्तेश्च ।
बद्धोपधाधीनव्यवस्थाया ज्ञानसंस्कारयोः कारणत्वासिद्ध्यापत्तेश्च । एतेन प्रमे-
यत्वादिरूपेण सकलानुभवोत्तरं प्रमेयत्वांशे मोष इति प्रथमतस्तत्तज्जातिनिर्वि-
कल्पकं स्मरणं तैस्तत्तत्तद्रूपेण तत्तत्पदार्थोपस्थितिमादाय शक्तिग्रहः । न चैवं
सर्वेषामर्थानामेवं बोधापत्तौ सार्वज्ञ्यापत्तिः फलबलकल्प्योद्बोधकवशादेव स्मृतेः
क्रांदाचित्कत्वनियमादित्यादिकमपास्तम् । तादृशस्मरणस्यानुभवविरुद्धस्य
कल्पने मानाभावात् फलस्याप्यभावादित्युक्तम् । सर्वेषामेव पदानामेवं शक्ति-
ग्रहापत्तौ गृहीतशक्तिकानामिव संशयानापत्तेश्च । एतेनाभिमन्यधिकरणे मृदब्र-
वीदापोऽनुवञ्जित्यादौ देवतायां मृदादिशब्दानां शक्तिग्रहासंभवात् तत्परत्वेऽप्रा-
माण्यमाशङ्क्य पाशहस्तादिपदाहुँपस्थिते शक्तिग्रहः । न च तस्यापि शक्ति-
ग्रहासंभवादनुपपत्तिः । यौगिकेषु समुदायशक्तिग्रहानपेक्षणात् । अवयवानां च
पाशादिपदानां लोके शक्तिग्रहात् । एवमदृष्टादिपदेष्वप्युक्तमित्यादि माध्वीया
न्यायसुधा परास्ता । जातिविशेषरूपेण पाशहस्तादिपदाहुँपस्थित्यसंभवात् तेन
रूपेण शक्त्यग्रहात् । अन्यथा प्रत्यक्षेणोपस्थिते वरुणे वरुणादिपदानां शक्ति-
ग्रहवतामिव त्वदुत्तरस्या तद्भवतामपि पाशाद्यदर्शनेऽपि व्यक्तिसामान्यदर्शनाद्-

१ °दसंभवात् T.; Tr. drops अभावात्. २ सकलानुभवोत्तरप्रमेय° K. ३ प्रथमस्त° K.
४ K. drops ततः. ५ सार्वज्ञत्व° K. ६ क्रांदाचित्कक्राचित्कत्वनियमा° Tr., T.
७ °दुपस्थितिशक्तिग्रहः T. ८ °ग्रहस्यासंभवा° T. ९ एवं मृदादिपदेष्व° T.

रूणोऽयमित्यादि प्रत्ययापत्तेः । अस्माकं पदरूपेणोपस्थितौ रामादिपदं क्वचि-
च्छक्तं साधुशब्दत्वाद् घटपदादिवद् हकारादयो वर्णाः क्वचिच्छक्ता वर्णत्वाद-
कारोकारादिवदिति शक्तिग्रहोऽस्त्येव । अत एव रामादिपदवाच्यः कश्चित् पदार्थ-
इत्येव बोधः । जबगडदशित्युच्चारयेत्यादौ च घटो नित्य इत्यादिवद्योग्यतावशादि-
शेषणां शान्वय इत्युक्तम् । संबन्धितावच्छेदकरूपेणोपस्थितसंबन्धिन एव संबन्ध्य-
न्तरस्मारकत्वाच्च प्रत्यक्षेणोपस्थितवरुणेन पदस्मरणं तत्र पदस्यैवावच्छेदकत्वात् ।
तस्मादनुभवानुरोधाच्छब्द एवावच्छेदकः । अत एव विष्णुनारायणः कृष्ण
इत्यत्र सामानाधिकरण्यं संगच्छते । अन्यथा घटो घट इत्यत्रेव तन्न स्यात् । तस्मात्
पदप्रकारकबोधं एव सर्वसंगम इति । तथा जातिविशेषोऽप्यवच्छेदकः । शक्ति-
ग्रहवैलक्षण्याच्च बोधवैलक्षण्यम् । अत एवैकाकादिपदेषु तत्तत्पिण्डदर्शनाच्छ-
क्तिग्रहशालिनां तद्वृत्तिजातिप्रकारक एव बोधः । अस्मदादीनां च नेति संग-
च्छते । स च शब्दः शक्तिसंबन्धेनैवावच्छेदकः । शक्तिश्च शब्दैक्येऽपि नानैवेति
न नानार्थोच्छेदो न वा ब्राह्मणादिनाम्नः शूद्रस्य हननादोषः । अस्तु वैका सा
तथापि नानार्थोच्छेदः सर्वनामकक्षतया सर्वसमाधेयः । तथाहि । अनुभवानु-
रोधात् सर्वनाम्नां विशिष्योपस्थापकत्वमिति सर्वसिद्धम् । तच्च यदि बुद्धिवि-
षयत्वरूपेणोपस्थापितघटत्वपटत्वादिशालिषु बुद्धिविषयवति शक्तं तत्पदमित्येव
शक्तिग्रहो बुद्धिविषयत्वं तूपस्थितावनुगमकमात्रं न तु शक्यमिति न तच्छाब्दबोधे
भासते किं तु घटत्वादिकमेवेत्युच्यते तदात्रापि बुद्धिविषयत्वरूपेणोपस्थितपाशत्व-
विभीतकत्वादिशालिषु बुद्धिविषयवति शक्तमक्षपदमिति शक्तिग्रहस्य सुवचत्वात् ।
यदि वा बुद्धिविषये तदादिपदं शक्तमित्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानसहकृतेन मनसा
प्रकरणादिवशात् तदादिशब्दश्रवणानन्तरं विशेषरूपेणोपस्थिते शक्तिग्रह इत्यु-
च्यते तदात्रापि बुद्धिविषयेऽक्षपदं शक्तमित्याद्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानसहकृतेन
मनसा प्रकरणादिवशादक्षपदश्रवणानन्तरं विशेषरूपेणोपस्थिते शक्तिग्रह इति
तुल्यमेवेति । वस्तुतः शक्यतावच्छेदकनानात्वेन नानार्थतेति सर्वसिद्धत्वादत्र
जातेरनेकस्या अवच्छेदकत्वाच्चानार्थत्वं दुष्परिहरम् । ब्राह्मणं न हन्यादित्यत्रापि
जातिविशेषावच्छिन्नहननं पापजनकमिति स्वीकाराच्च दोष इति ध्येयम् । तस्मा-

१ घटपटादिशब्दवत् T. २ बोधे in all Mss. ३ सर्वसंगत K. ४ विषयत्ववति T.
५ तत्पदं शक्तं D. ६ विषयेऽक्षादिपदं K. ७ दक्षादिपदं T. ८ D₁ has
दुःपरिहरम्.

च्छब्दोऽवच्छेदकः स एव त्वप्रत्ययवाच्यः । एतच्च वृद्धिरादैजित्यत्र शब्दकौ-
स्तुभे स्पष्टम् । उक्तं च हरिणा—

‘सामान्याभ्यभिधीयन्ते सत्ता वा तैर्विशेषिता ।

संज्ञाशब्दस्वरूपं वा प्रत्ययैस्त्वतलादिभिः ॥’

इति । एतदेवाभिप्रेत्य यद्वेति भाष्यवार्तिके संगच्छते । अन्यथा सूत्रोक्तभावश-
ब्दार्थविचारे पक्षद्वयेऽपि तदेक्यादसंगत्यापत्तेः । अत एवाद्ये धर्मविशेषः प्रत्य-
यार्थो द्वितीये बोधप्रकार इति मनोरमायां पक्षद्वयोपन्यासः संगच्छते । अन्यथा
धर्मविशेषस्य पक्षद्वयेऽपि समानत्वादसंगत्यापत्तेः । एतेन पूर्वत्र लक्षणे जातिगु-
णद्रव्यलक्षणार्थाभिधायिभ्यो गवादिभ्यः शब्दस्वरूपसामान्यादिषु प्रत्ययः । इह
तु शब्दाभिधायिभ्यः पूर्वोक्तेष्वेवार्थेष्विति प्रकृत्यर्थभेदेऽपि प्रधानप्रत्ययार्थाभे-
दापेक्षो विकल्प इति कैयटोक्तिः परास्ता । तस्मात् संज्ञाशब्देऽपि शब्द एवा-
वच्छेदकस्त्वप्रत्ययेन कुत्वमित्यन्नेवाभिधीयत इति प्रतिभातीति दिक् । पक्षद्व-
येऽपि तैः प्रकृतिभूतैर्जन्यो यो बोधस्तत्र यः प्रकारस्तत्र त्वादयो जायन्ते । की-
दृशे प्रकारे । भावसंज्ञिते । तस्य भाव इति सूत्रे शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भाव
इति प्रसिद्धौ च भावशब्दवाच्ये इत्यर्थः ॥

इति वैयाकरणभूषणे भावत्वप्रत्ययार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

१ धार्तिकं भाष्यं च संगच्छते K. २ दसांगत्यापत्तेः T. ३ दसांगत्यापत्तेः T.
४ पूर्वलक्षणे D₁. ५ प्रसिद्धं T. ६ श्रीवैया° T. ७ त्व भाव for in T₂ Tr.

देवताप्रत्ययार्थनिर्णयः ।

सास्य देवतेत्यत्र देवताविशिष्टं देयं प्रत्ययार्थः । ऐन्द्रं वैश्वदेवीत्यादौ इन्द्रा-
देर्देवतात्वोत्थापकाभावात् तेन रूपेणोपस्थितये पृथक्शक्तिकल्पनावश्यकत्वात् ।
अत एव

‘आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः ।
आमिक्षापदसांनिध्यात् तस्यैव विषयार्पणम् ॥’

इति ।

‘केवलाद्देवतावांश्चैव तद्धितोऽग्नेः समुच्चरन् ।
नान्ययुक्ताग्निदेवत्वं प्रतिपादयितुं क्षमः ॥’

इति च मीमांसकैरप्युक्तमित्याशयेनाह—

प्रत्ययार्थस्यैकदेशे प्रकृत्यर्थो विशेषणम् ।

अभेदश्चात्र संसर्ग आग्नेयादावियं स्थितिः ॥

देवतायां प्रदेये च खण्डशः शक्तिरस्तु वा ॥ ५१ ॥

एकदेशे देवतारूपे तच्चाभेदेनेत्याह । अभेदश्चेति । वस्तुतस्तु चतुर्थ्यादौ
प्रकृत्यर्थस्य तथैव लब्धस्य चतुर्थ्या देवतात्वमात्रमुच्यते इति तद्वत्प्रकृत्युपात्ते-
न्द्रादेर्देवतात्वमेवेति हार्थः । मूलं तु न्यायसुधायामामिक्षाधिकरणे तथाभि-
धानादुद्देश्यश्चतुर्थ्यर्थ इति मतेन । ननु

‘तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः ।
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् ॥’

इति मीमांसकोक्तं तद्धिताच्चतुर्थ्यादौर्बल्यं कथमिति चेदित्यम् । चतुर्थ्या वाक्या-
द्देवतात्वसंबन्धलाभस्तद्धिते समानपदोपादानश्रुत्येति श्रुतिवाक्यबलाबलाधीनं
तदिति ध्येयम् । नन्वग्न्यादेः प्रत्ययार्थदेवतायां नाभेदेनाप्यन्वयसंभवः । पदा-
र्थैकदेशत्वादन्यस्यैवाभावादित्यत आह । देवतायामिति । तथा च पदार्थैकदे-
शतैव नास्तीति भावः ॥ ५२ ॥

नन्वाग्नेयादावग्नेर्देवस्य प्रकृत्या लाभाच्च शक्तिः कल्प्या । न च देवतात्वरू-
पेणोपस्थितये सा कल्प्यते । तेन रूपेणोपस्थितेर्लक्षणयाप्युपपत्तेः । उपस-
र्गाणां द्योतकत्वमते प्रजयतीत्यत्र प्रकृष्टजयप्रतीतिवदित्यभिप्रेत्याह—

१ केवलाद्देवता° Tr., D. २ °त्युपात्तेन्द्रादौ देवतात्वमेवार्थः T. ३ °देवतारूपत्वमेव K.
४ चतुर्थ्या K., D. ५ T. drops श्रुति. ६ वा T.

प्रदेय एव वा शक्तिः प्रकृते त्वस्तु लक्षणा ।

देवतायां निरुद्धेति सर्वे पक्षा अभी स्थिताः ॥ ५२ ॥

ऐन्द्रमित्येन्द्रविशिष्टं प्रतीयते । तत्रेन्द्रो देवता प्रकृत्यर्थो देयं द्रव्यं प्रत्य-
यार्थस्तयोः संबन्धः संसर्गः । न चानन्यलभ्यः शब्दार्थ इति न संसर्गदेवते
तदर्थः । न च द्रव्यमपि दध्यादिपदलभ्यं न शक्यम् । तद्वत्प्रवणेऽप्येन्द्रपदमात्रा-
द्देयमात्रप्रतीतिः । ऐन्द्रं दर्शयति सामानाधिकरण्याच्च सास्य देवतेत्यनुशासनाच्च ।
मीमांसकानां पुनः कर्तृकर्मणोराख्यातावाच्यत्वं स्वीकुर्वतां तुल्ययुक्त्यात्रापि
द्रव्यवाच्यत्वं न सिध्येदिति प्रयच्छितं प्राणिति ध्येयम् । देवतायामिति । देवता-
स्वरूपेणेत्यर्थः । निरुद्धेति । अनादिप्रयोगावच्छिन्नलक्षणाया तत्त्वादिति भावः ।
यत्त्वग्निप्रभृतिभ्यो माणवकादिसंकेतितेभ्यः प्रत्ययापत्त्या निरुद्धेत्युक्तमिति तच्च

‘ अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः ।

शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु ॥ ’

इति वाक्यपदीयेनैव निरस्तत्वात् । युक्तं चैतत् । पुराणादिप्रसिद्धैर्निरुद्धार्थकैः
शास्त्रस्य निराकाङ्क्षीकरणेनाधुनिकेष्वप्रवृत्तेः । अत एव क्षत्रियादिभिः स्वपुत्रस्य
ब्राह्मण इति नाम्नि कृतेऽपि न तद्धननं ‘ न ब्राह्मणं हन्यात् ’ इति वाक्यविषय
इति बोध्यम् ॥ ५२ ॥

अन्येव रीत्याऽन्यत्राप्यवधेयमित्याह—

क्रीडायां णस्तदस्यास्तीत्यादावेपैव दिक् स्मृता ।

वस्तुतो वृत्तिरेवेति नात्रातीव प्रयत्यते ॥ ५३ ॥

तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां ण इत्यत्र प्रहरणविशिष्टा क्रीडा प्रहरणक्रीडे
क्रीडामात्रं वेति दिगर्थः । आदिना लोऽस्य निवासः सास्मिन् पौर्णमासीति
ब्राह्मम् । निरुद्धलक्षणायाः शक्त्यनतिरेकात् पूर्वानुशयाच्चाह । वस्तुत इति ॥ ५३ ॥

इति ‘वैयाकरणभूषणे देवताप्रत्ययार्थनिर्णयः ॥

१ सर्वपक्षा D₁, २ प्रदीयते T. ३ निराकाङ्क्षा° K., T. ४ ध्येयम् T. ५ °क्रीडा T.
६ श्रीवैयाकरण° T. ७ D. has समाप्तः after it.

वृत्तौ विशेषणे अभेदैकत्वसंख्या प्रतीयत इति सिद्धान्तं निरूपयन्नाह—

अभेदैकत्वसंख्याया वृत्तौ भानमिति स्थितिः ।

कपिञ्जलालम्भवाक्ये त्रित्वं न्यायाद्यथोच्यते ॥ ५४ ॥

संख्याविशेषाणामविभागेनावस्थानमभेदैकत्वसंख्या । उक्तं हि वाक्यप-
दीये—

‘यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः ।

अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः ॥’

इति । परित्यक्तविशेषं वा संख्यासामान्यमभेदैकत्वसंख्या । उक्तं च

‘भेदानां वा परित्यागात् संख्यात्मा स तथाविधः ।

व्यापाराज्जातिभागस्य भेदापोहेन वर्तते ॥

अगृहीतविशेषेण यथा रूपेण रूपवान् ।

प्रख्यायते न शुक्लादिभेदापोहस्तु गम्यते ॥’

इति । अस्या वृत्तौ समासादौ भानं न्यायसिद्धमिति शेषः । अयमर्थः । राज-
पुरुष इत्यादौ राज्ञो राज्ञोः राज्ञां वेति जिज्ञासानुभवाद् विशेषजिज्ञासायाः
स्वासान्यज्ञानपूर्वकवनियमात् तद्रूपेण बोधाय शक्तिरावश्यक्री । बुध्यते च
कचिद्विशेषतोऽपि । यथा द्विपुत्रः पञ्चपुत्र इत्यादौ । एवं तावकीन इत्यादावे-
कत्वं तैवकव्यङ्ग्यम् । विशेषतस्तद्वोधकाभावे चाभेदैकत्वं प्रतीयते । एकत्व-
त्वरूपेणैव प्रतीयत इत्यत्र न्याय एव बीजमित्याह । कपिञ्जलेति । कपिञ्जल-
नालभेतेत्यत्र बहुवचनेन त्रय एव गृह्यन्ते । गणनायां त्रित्वस्य प्रथमोपस्थित-
त्वात् । प्रथमोपस्थितत्वागे च मीनाभावात् । एवं प्रकृतेऽपि विशेषतः संख्या-
बोधकाभावस्थले प्रथमोपस्थितैकत्वत्यागे मानाभाव इति भावः । अत्र वदन्ति ।
त्रित्वत्वेन प्रथमोपस्थितौ न नियमः । दशत्वादीनामपि प्रथमोपस्थितत्वात् ।
गणनायाश्चानियमात् । विपरीतगणनायामपि कस्यचिद्व्युत्पन्नत्वाच्च । अन्यथा
पदेकैकत्वविवक्षापि न स्यात् । एकत्वस्य गणनायां प्रथमोपस्थितत्वेन न्यायेनैव
तदुपस्थितिसंभवात् । एकत्वस्य त्वौत्सर्गिकम् । सन्नाहुद्वयसाय ज्योतिष्टोमेन
पृष्ठशमनीयेन यजेरन्नित्यत्र बहुवचनवद्वयायप्रासानुवादो वा । नन्वेवं सति

१ T. drops वा. २ एवं च तावकीन T. ३ तावकं D., T. ४ मानाभावादिति Tr.
५ दशत्वत्वादीनामपि K.

संख्याया अङ्गत्वं न स्यात् । तथा च द्वयोरनुष्ठानापत्तिः । एकत्वस्य न्यायेनो-
पस्थितावपि द्वयोरालम्भने साङ्ख्यागानुष्ठानापत्तिरिति चेन्न । पशुना यजेतेत्यत्र
पशुत्वस्य यागसाधनतोच्यते तथैकालम्भनेऽपि संपन्नमिति नाधिकालम्भनं
व्यर्थत्वात् । तावत्तैवार्थसिद्धेरमध्ये पश्वन्तरालम्भने प्रयोगप्रांशुभावरूपं पदार्थानां
संनिधानं च बाध्यते । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘प्रत्याश्रयं समासायां जाताद्येकेन चैव क्रिया ।

पशुना न प्रकल्प्येत तत् स्यादेतत् प्रकल्पना ॥

एकेन तु प्रसिद्धायां क्रियायां यदि संभवात् ।

पश्वन्तरसुपादेयसुपादानमनर्थकम् ॥

यथैवाहितगर्भायां गर्भाधानमनर्थकम् ।

तथैकेन प्रसिद्धायां पश्वन्तरमनर्थकम् ॥

तावत्तार्थस्य सिद्धत्वादेकस्याप्यनतिक्रमम् ।

केचिदिच्छन्ति न त्वत्र सङ्ख्याङ्गत्वेन गृह्यते ॥’

इति । कपिञ्जलानालभेतेत्यादौ बहुत्वान्नवानुसंधास्यैकालम्भनेन निर्वाह इति
विशेषः । अथोच्येत न हिंसादिति निषेधस्य वाक्यता विना विधेरनुपपत्तिस्तत्रैव
संकोच इति कपिञ्जलत्रयव्यतिरिक्ते तत्संकोचं विनापि शास्त्रार्थोपपत्तेस्तत्र
संकोचाकल्पनात् तस्य निषेधविषयत्वात् तद्विरोधान्न तत्र विधिप्रवृत्तिरिति ।
तत्र । न हिंस्येत्यस्यैकवाक्यतया वैधर्हिंसाभिज्ञा सा न कर्तव्येति शास्त्रार्थः । न
तु कपिञ्जलत्रयव्यतिरिक्ता सा न कर्तव्येति न निषेधानुसारेण विधिसंकोचः । किं
तु विपरीतम् । विशेषानाक्रान्ते सामान्यप्रवृत्तेर्न्याय्यत्वात् । यदि च विधिनिषे-
धविध्योर्न विरोधस्तदा नैवं शङ्कापि । वस्तुतस्तान् पर्यङ्गिकृतानारण्यानुत्सृज-
तीति वाक्यात् तेषां हननमेव नास्तीति किं वृथा विचारेण । अस्तु वा तथा ।
तथापि प्रकृत्यासंगतिरेव । न ह्येकत्वादिप्रतीतिरुक्तन्यायेन संभवति । अत एव
कपिञ्जलानालभेतेत्यत्रापि व्यक्तित्रयालम्भनस्यैव कारणतोच्यते । अन्यथान्येषा-
मपि तत्कल्पने गौरवापत्तिः । ब्राह्मणान् भोजयेदित्यत्रापि व्यक्तित्रयभोजने उक्त-
विधिर्निष्पन्न एव । अधिकभोजनं च फलविशेषार्थः । न चात्रापि चतुष्टयाद्याल-
म्भने फलविशेषापत्तिः । कल्पकाभावात् । ब्राह्मणभोजनादौ च स श्रुत एव ।

१ बोध्यते T. २ T. has इति after it. ३ कपिञ्जलान्वयव्यतिरिक्ते Tr. ४ कपिञ्जल-
त्रय^० K., T. ५ नैव D_१. ६ बहुलविशेषार्थः T.

न चैवमप्येषां त्रयाणामेषां वेति विनिगमनाविरहाद्ब्रूनामालम्भनापत्तिः । अयं पशुः स वेत्यनुरोधेन पशुनेत्यत्राप्यतिप्रसङ्गात् । न चैकवचनेन पर्यास्या द्वित्वानाश्रयस्य साधनतोच्यते इति नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । एकवचनस्य तथा-शक्त्यभावेन लक्षणाभ्युपगमे भित्त्वविशिष्टे तस्याः संभवात् तुल्यमेवेति परास्तम् । विधिनिषेधयोर्विरोधवादिनां कपिञ्जलत्रयोतिरिक्तालम्भनस्य पापजनकत्वकल्पनापत्तौ गौरवस्य तुल्यत्वाच्च । तस्मान्नैकत्वत्वेन तत्प्रतीतिः किं तु संख्यात्वसामान्यरूपेण । अन्यथा राजपुरुष इत्यादौ राज्ञो राज्ञोर्वेत्यादिजिज्ञासानापत्तेः । इष्टापत्तौ वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टमिति न्यायापातः । अनुभवश्च नास्त्येव तथा । तस्मादभेदैकत्वशब्देनैव व्यवहारः । कुतः । अभेदद्वित्वादिशब्देनापि तदौचित्यादित्याशङ्कायां कपिञ्जलन्याय उदाहृतः । प्राथम्यात् तथा व्यवहार इति भाव इति दिक् । नव्यास्तु पदार्थैकदेशत्वाद्राजपुरुष इत्यत्र राज्ञस्तत्र संख्यात्वरूपेणापि न तदन्वय इत्याहुः । समासादौ शक्तिः कल्प्यमाना संख्याविशिष्ट एव सा कल्प्येत्यभ्युपगमे तु नायं दोषः । परं त्वनुभवविरहाजिज्ञासानुरोधेन शक्तौ तु ज्ञानेच्छयोः समानप्रकारकत्वेन हेतुहेतुभद्भावाद्भिषिष्यैव वाच्यतापत्तेरिष्टापत्तौ जिज्ञासोच्छेदापत्तेर्मूलोच्छेदाच्छक्तिकल्पनमेवानर्थकमिति विभावयाम इति दिक् ॥ ५४ ॥

इति ^{११}वैयाकरणभूषणे अभेदैकत्वसंख्यानिरूपणं समाप्तम् ॥

१ नन्वेवमप्येषां त्रयमेषां वेति T. २ अथ पशुनेत्यनुरोधेन T. ३ चेत्य^० Tr. ४ याति-रिक्तात् संभवस्य D_१. ५ तत् प्रतिभातीति D_१. ६ शब्दव्यवहारः D_१. ७ भाव इति is dropped in D_१. ८ पदैकदेशत्वा^० T. ९ 'च्छेदापत्तेः पूर्वोच्छेदा' T. १० 'मिति दिक्' T. ११ श्रीवैया^० T. १२ संपूर्णम् T.

संख्याविवक्षानिर्णयः ।

संख्याप्रसङ्गादुद्देश्यविधेययोः संख्याविवक्षाविवक्षे निरूपयति—

लक्ष्यानुरोधात् संख्या च तन्त्रातन्त्रे मते यतः ।

पञ्चेकत्वादिहेतूनामाश्रयणमनाकरम् ॥ ५५ ॥

ग्रहं संमार्ष्ट्यत्र वाक्ये उद्देश्यग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमितिवन्नास्माकमुद्देश्यविशेषणाविवक्षानिर्णयः । आर्धधातुकस्येड् वलादेरित्यादावनुवाद्यार्धधातुकविशेषणस्य वलादित्वस्य विवक्षितत्वात् । एवं पशुना यजेतेतिवद्विधेयविशेषणं विवक्षितमित्यपि न । रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च द इत्यत्रैकत्वाविवक्षणात् । तथात्वे वा भिन्न इत्यत्र नकारद्वयलाभो न स्यात् । न च वाक्यभेदात् तल्लाभः । तत्कल्पन एव गौरवात् । एवमेव चकाराकरणे लाघवतरत्वात् । एवमेतयोरेविवक्षैव विवक्षैव वेत्यपि न । उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चेत्यत्र नञ्प्रभृतेर्विवक्षाया उपेयस्यैवविवक्षायाश्च स्वीकारात् । इको यणचील्यत्रानेक्यकारापत्तेः । एकत्वस्य विवक्षितत्वादित्यर्थः । पञ्चेकत्वादीत्यादिना ग्रहैकत्वसंग्रहः । अथ समानप्रत्ययोपात्तेन प्रातिपदिकादपि संनिहितेन प्रधानभूतेन च कारकेणावरुद्धमेकत्वं प्रातिपदिकार्थमनाहत्य क्रियाङ्गमवगम्यमानं वाक्यसमाप्तिर्नेन क्रियाविशेषेण संबध्य पश्चादङ्गैकहायनीन्यायेन पशुनार्थान् संबध्यते तादर्थ्यं तु यज्ञं प्रत्येवेति पञ्चेकत्वाधिकरणोक्तरीत्यात्रापि नकारादिविधायकेषु नकारस्यैकत्वादिविशिष्टस्यैवान्वयोऽस्तु । युक्तं चेत्तत् । अन्यथानन्तनकारापत्तेर्दुर्वारत्वात् ॥ ५५ ॥

न च प्रागुदाहृतवाक्यपदीयरीत्यैकेन चरितार्थत्वाच्च बहूनामापत्तिरिति शङ्क्यम् । भिन्न इत्यत्रापि नकारद्वयानापत्तेः । उभयोरेकेनोपपत्तेः । सर्वगर्दीर्घगुणादिवत् । एकः पूर्वपरयोस्त्रिकग्रहणस्थाने चकारसत्त्वादिति सर्वमभिप्रेत्याह—

विधेये भेदकं तन्त्रमन्यतो नियमो न हि ।

ग्रहैकत्वादिहेतूनामाश्रयणमनाकरम् ॥ ५६ ॥

भेदकं विशेषणम् । तन्त्रं विवक्षितम् । अन्यतोऽनुवाद्यस्य नियमो न हि क्वचित् तन्त्रं क्वचिन्नेत्यर्थः । नन्वेवं ग्रहं संमार्ष्ट्यत्रोद्देश्यग्रहगतमेकत्वमविवक्षितम् । वाक्यभेदापत्तेः । तथाहि । प्राजापत्या नवग्रहा इत्यत्र विहितग्र-

होद्देशेन संमार्गो विधीयते । तथा च संमार्गविधायकेऽप्येकत्वविवक्षायां ग्रहं
संमार्गं तच्चैकमित्यर्थः स्यात् । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘ग्रहास्त्वन्यत्र विहिता भिन्नसंख्याः पृथक् पृथक् ।

प्राजापत्या नवेत्येवमादिभेदसमन्विताः ॥

अङ्गत्वेन प्रतीतानां संमार्गो त्वङ्गिनां पुनः ।

निर्देशं प्रति या संख्या सा कथं स्याद्विवक्षिता ॥’

इति । किं च ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्य प्राधान्यं प्रतीयते एवमेकत्वस्यापि ।
तथा च ग्रहस्वरूपबदेकत्वविवक्षायामपि प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिरिति न्यायात्
सर्वत्र ग्रहे संमार्गसिद्धेर्यथैव तद्विवक्षा । एवमेव तकारदकारयोर्भिन्न इत्यत्र
नकारद्वयलाभः । यदि च पशुवद् ग्रहाणां गुणत्वं भवेत् तदा येन केनापि सिद्धे-
र्यावद्गुणं प्रधानावृत्तेरभावाच्च परिच्छेदकत्वेन पशुवत् संख्याविवक्षा स्यात् ।
न चैवम् । अथ संख्याविशिष्टपञ्चादिविधिवदेकत्वविशिष्टग्रहानुवादेन
संमार्गविधिः स्यादिति चेत् तथापि सर्वेषां प्रत्येकमेकत्वात् स्यादेव
प्रसङ्गः । न चैकत्वविशिष्टसंमार्गविधिः । तथापि द्वितीयोक्तप्राधान्यानुरोधेन
प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिरिति न्यायात् सर्वत्र संमार्गप्रसङ्गात् । न च सक्तुवल्लक्षणा ।
ग्रहाणामपि प्राधान्यानापत्तेरिति ग्रहाधिकरणन्यायविरोधादसंगतमेवान्यत इत्या-
दीत्यत आह । ग्रहैकत्वादीति । अयमाशयः । अस्तु तावद् ग्रहस्थले तथा न
त्वस्माकमयं दोषः । आर्धधातुकस्येड् वलादेरित्यत्र वलादित्वविशिष्टमार्धधातुक-
मनूद्येद्विधानसंभवात् । न चैवरीत्या ग्रहेष्वपि दोषः । तत्राकाङ्क्षाविरहादिति
दिक् ॥ ५६ ॥

नन्वेवं रदाभ्यामित्यतो नकारद्वयलाभो भिन्न इत्यत्र न स्यादित्यत आह—

रदाभ्यां वाक्यभेदेन नकारद्वयलाभतः ।

क्षतिर्नैवास्ति तन्त्रत्वे विधेये भेदकस्य तु ॥ १७ ॥

चैशब्दानुरोधाद् भाष्यादिसिद्धवाक्यभेदाक्षकारद्वयलाभ इत्यर्थः । न च वाक्य-
भेदे गौरवम् । उक्तरीत्या एकत्वस्यातन्त्रत्वे तस्यावश्यकत्वादिति भावः । नन्वेवं
वृद्धिरेचि आद्रुण इत्यादौ विधेयगतसंख्याविवक्षयैवेष्टसिद्धावेकः पूर्वपरयोरित्य-

त्रैकग्रहणानर्थक्यमिति चेत् को दोषः । मात्रालाघवेन हि वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते । प्रत्याख्यातं चैतद् भाष्यकारादिभिरपीत्यलं पल्लवेन । एवं चास्य ह्यादित्यादावनुवाद्यविशेषणत्वाच्च व्यक्तिर्विवक्ष्यते ग्रहैकत्ववदिति कैयटश्चिन्तनीय इति भावः ॥ ५७ ॥

इति वैयाकरणभूषणे संख्याविवक्षानिरूपणं समाप्तम् ॥

क्त्वाप्रत्ययादीनामर्थं निरूपयति—

अव्ययकृत इत्युक्तेः प्रकृत्यर्थे तुमादयः ।

समानकर्तृकत्वादि द्योत्यमेपापमिति स्थितिः ॥ ५८ ॥

तुमादयः तुमुनादयः । प्रकृत्यर्थे भावे । आदिना क्त्वादेः संग्रहः । भाव इत्यत्र मानमाह । अव्ययकृत इति । अव्ययकृतो भाव इति वार्तिकादित्यर्थः । भाष्यकारास्तु तुमर्थसूत्रे तुमर्थो भाव इति व्यवस्थाप्याग्रे तदनुवृत्तिं स्वीकृत्य च तुमुनः समानाधिकरणेऽव्ययकृतो भाव इत्यादि वार्तिकं प्रत्याचक्षणाः क्त्वादीन् भाव एवेच्छन्ति । अत एव समानकर्तृकयोरिति सूत्रे स्वशब्देनोपात्तत्वाच्चेति भाष्य-प्रतीकमादाय पौर्वापर्यकाले द्योत्ये क्त्वादिर्विधीयते न तु विषय इति भाव इति कैयटः । यत् समानकर्तृकयोः पूर्वकाल इति स्मरणात् कर्ता क्त्वाद्यर्थः । अन्यथा दृष्टकाः पक्त्वाहं भोक्ष्ये इत्यत्र मयेति तृतीयाप्रसङ्गात् । न चाख्यातेन कर्तुरभिधानान्न सेति वाच्यम् । भोजनक्रियाकर्तृरुक्तत्वेऽपि पाकक्रियाकर्तृसदभावात् । अनभिहिते भवतीति पर्युदासलक्षणाश्रयणात् । न त्वभिहितस्य नेति निषेधस्य । अत एव प्रासाद आस्ते इत्यत्र प्रासादनक्रियाधिकरणस्याभिधानेऽप्यासिक्रियाधिकरणस्यानभिधानात् सप्तमीति भाष्यवार्तिकयोः स्पष्टम् । तस्मात् क्त्वाप्रत्ययेन कर्त्रभिधानमाश्रित्य तृतीयाभाव उपपादनीय इति परिमले अप्यप्यदीक्षितैरुक्तं तन्निराचष्टे । समानकर्तृकत्वादीति । आदिना पूर्वकालिकत्वादिसंग्रहः । द्योतकत्वं च प्रकृत्यर्थयोः संसर्गे तात्पर्यग्राहकत्वम् । अयं भावः । भावोऽत्र साध्यावस्थापन्न एव स च धातुनैव लब्धः । तत्र च क्त्वाप्रकृत्यर्थभूता क्रिया क्रियान्तरविशेषणम् । तयोः संबन्धः सामानाधिकरण्यं तथोत्तरकालिकत्वं पूर्वकालिकत्वं जन्यत्वं व्याप्यत्वं वा । तत्र च तत्तत्संबन्धस्य तात्पर्यग्राहकाः क्त्वानुमुनादयः । तथा च भुक्त्वा व्रजति भुक्त्वैवाहं तृप्तो न तु पीत्वा अधीत्य तिष्ठति ईश्वरो ज्ञात्वा तिष्ठतीत्यादौ परेषामिवस्माकमपि बोधः । एवं च सति भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ समानकर्तृकता पूर्वकालता च प्रतीयत इति देवताधिकरणे भामत्या-मभिधानादनुभवाच्च समानकर्तृकत्वं पूर्वकालीनत्वं च क्त्वावाच्यम् । अत एव

१ इत्युक्ते D₂. २ अव्यये T. ३ T. drops च. ४ कर्तृकयोरिति स्मरणात् T. ५ पक्त्वाहं T. ६ निषेधः स्यात् अत एव T. ७ प्रासादनं T. ८ धानेऽपि व्यासिक्रियां K. ९ येति T. १० समानकर्तृता K. ११ अनुमानाच्च D₂.

बाधलक्षणे एकैकाधिकरणे ऋत्विगभ्युच्चयाधिकरणे च समानकर्तृकत्वमर्थमादाय पूर्वपक्षसिद्धान्तौ कृतौ । न चैवं दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति वाक्यादर्शपूर्णमासोत्तरकालः सोमाङ्गत्वेन विधीयत इति राद्धान्तासंगतिः । तत्रोत्तरकाले लक्षणया तथा लाभात् । सा च प्रकरणबाधभयात् । यद्वा भाविनि प्रमाणाभावेन तत्प्रागभावघटितपूर्वकालत्वस्यानिश्चयात् प्रवृत्तिर्न स्यादतो लक्षणादरः । अत एव प्रकरणबाधमपेक्ष्य श्रुतिबाधः प्रबल इत्यपास्तम् । अत एव 'सर्वं देवतैश्च हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यत्र देवताया एव व्याकर्तृत्वेऽनुप्रविश्येति क्त्वाश्रुतिर्जीवपरा भेदमादाय सिद्धान्तिता भाष्यभामत्यादौ । तस्मात् समानकर्तृकत्वं क्त्वावाच्यमिति मीमांसकाः । अत्र वदन्ति । कृतिवाचकाभ्यां कृत्तिङ्भ्यां सामानाधिकरण्येन संसर्गेण तयोर्बोधनेनैव समानकर्तृकत्वलाभाच्च तच्छक्यम् । तत्प्रकारकबोधस्तु नास्त्येव । किं तु पूर्वकालिकत्वंमेव । न चैवं सुखं व्यादाय स्वपितीति न स्याद्व्यादानस्य स्वापपूर्वकालीनत्वाभावादिति वाच्यम् । व्यादानोत्तरमपि स्वापानुवृत्तेस्तमभिप्रेत्यैव तथा प्रयोगात् । भामत्यां च प्रतीतिमात्रमुक्तम् । तत्तु संसर्गतयापि तत्सत्त्वानुपपन्नम् । अत एव ज्योतिर्दर्शनादित्यधिकरणे क्त्वाश्रुतेः पूर्वकालार्थायाः पीडनप्रसङ्गादित्युक्तिस्तस्यैव वाच्यतां ध्वनयति । तथापि पूर्वकालिकत्वमात्रं न शक्यम् । वर्षान्तरीयं भोजनमादाय तथाप्रयोगापत्तेः । किं त्वव्यवहितत्वमपि । तच्च योग्यता । सा च तात्पर्यादिभिर्दण्डमासमुहूर्तादिरवसीयते । तथा च भुक्त्वा व्रजति अद्य भुक्त्वा श्वो व्रजति इत्यादौ यथायथं व्यवधानेऽपि न दोषः । क्त्वोपस्थाप्यकालस्याद्येत्यनेनाभेदान्वयादिति नैयायिकाः । पूर्वकालिकत्वं न शक्यम् । भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ भोजनोत्तरं व्रजतीत्यन्वयबोधात् । व्रजनपूर्वकाले भोजनमित्यबोधाच्च । एवं नाव्यवधानमपि । वर्षान्तरीयं भोजनमादाय तथाप्रयोगः सति तात्पर्यं इष्ट एव । तदा योग्यताया अपि दुर्वारत्वात् । असति च तात्पर्यं तदभावादेव न बोधः । औत्सर्गिकं पुनरव्यवधानमाद्रियत एव । तस्मादानन्तर्यमेव शक्यम् । अत एव दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेति सोमप्रकरणस्थमपि वाक्यं निराबाधं दर्शोत्तरकालं सोमाङ्गत्वेन विधत्ते । अन्यथा क्त्वाश्रुतेः पूर्वकालार्थायाः प्रकरणानुरोधाद्वाधापत्तेरिति तत्सिद्धान्तासंगतिः स्यात् । एवमेव च तिङन्तक्रियायाः प्राधान्य-

मपि सिध्यति । एतदेव हि तस्याः प्राधान्यं यत् क्रियान्तराविशेषणत्वम् । भवति हि गच्छन् पश्यतीत्यादौ गमनकर्तृताविशिष्टे दर्शनकर्तृताधीर्न तु विपरीता । तथा च भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ भोजनविशेषणिका व्रजनविशेषिका धीः । भोजनस्यापि विशेष्यत्वे भुङ्क्ते व्रजतीतिवद् वाक्यभेदापत्तेः । तस्मादानन्तर्यं क्त्वाद्यर्थे इति नवीनाः । कृत्यानन्तर्यं विशिष्टं शक्यम् । कृतिरानन्तर्यमिति प्रत्येकं वा तथा । नाद्यः । कृतेः पदार्थैकदेशतया तस्यां क्रियाया अनन्वयापत्तेः । रथः स्थित्वा गच्छतीत्यादावभावाच्च । अत एव न द्वितीयः । क्रियानिरूपितमानन्तर्यं शक्यमिति चेन्न । स्थित्वा पश्यतीत्यादावभावात् । स्थितेर्दर्शनकालेऽपि सत्त्वेन तद्ध्वंसरूपानन्तर्यस्य बाधात् । अत एव रथ इत्यादौ कृत्यानन्तर्यस्य शक्यत्वेऽप्यानन्तर्यमात्रे लक्षणेति परास्तम् । तस्मात् तत्कालीनप्रागभावप्रतियोगित्वरूपं तदधिकरणसमयध्वंसाधिकरणसमयोत्पत्तिमत्त्वरूपं वानन्तर्यं शक्यमिति ततोऽपि नवीनाः परिष्कुर्वन्ति । रामकृष्णभट्टाचार्यास्त्वादुः । आनन्तर्यं वा पूर्वकालत्वं वा यत् किञ्चिच्छक्यमस्तु । सर्वथा सुखव्यादानोत्तरं तदभावकाले मुखं व्यादाय स्वपितीत्याद्यप्रयोगः कथम् । कथं बोभयानन्तर्याविशेषेऽपि भुक्त्वैवाहं तृप्तो न तु पीत्वेत्यपि । कथं वेश्वरो ज्ञात्वा तिष्ठतीत्यादिकम् । तस्माजन्यत्वव्याप्यत्वादिकमपि क्त्वाद्यर्थः । तथा च मुखं व्यादायेत्यादौ कालिकादिसंबन्धेन व्याप्यत्वाभिप्रायेणैव प्रयोगादन्यदातननिद्रायास्तथात्वाभावाच्च प्रयोगः । अत एवाध्ययनकालीनस्थितिमादायेवाधीत्य तिष्ठतीति प्रयोगो नाध्ययनाभावकालीनस्थितिमादायेत्युपपद्यते । अत एव 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति श्रुतौ ज्योतिर्दर्शनादिति न्यायेन ज्योतिःपदस्य ब्रह्मपरत्वे स्थिते उपसंपद्येति क्त्वाश्रुतेरुपपत्तिः क्वालिकव्यासेर्निर्वाधत्वादिति त्यादि सर्वमनादेयम् । उक्तीत्या संबन्धविधयैवैषां भागोपपत्तौ वाच्यत्वस्यायुक्तत्वात् । अत एव वाक्यार्थभूत एव संबन्ध इह द्योत्यो न पदार्थभूत इति कर्मप्रवचनीयेभ्यो वैलक्षण्यम् । तस्मात् समानकर्तृकत्वव्रजन्यत्वव्याप्यत्वपूर्वकालिकत्वानन्तर्यादयः संसर्गतयान्यलभ्या वाक्यार्थभूता न शक्याः । तथात्वे वा सर्वत्र वाक्यार्थस्य शक्यत्वापत्तिरिति तात्पर्यग्राहकाः क्त्वादयः । परिमल्लोक्तं तृतीयापादनमप्ययुक्तम् । स्वादुभिणमुल इति सूत्रे 'अव्ययकृतो भावे' इति भाष्यमादाय पक्त्वौदनं भुङ्क्ते देवदत्त इत्यत्र तृतीया-

माशङ्क्याख्यातान्तार्थः क्रिया प्रधानम् । कत्वान्तार्थो गुणीभूतः । तत्र प्रधान-
शक्त्यभिधाने गुणक्रियाशक्तिरभिहितैव । प्रधानानुरोधाद् गुणानां तद्विरुद्ध-
स्वकार्यारम्भकत्वाभावादिति कैयटेनैव निरस्तत्वात् । उक्तं च हरिणा—

‘ प्रधानेतरयोर्यत्र द्वयस्य क्रिययोः पृथक् ।

शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥

प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते ।

यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते ॥ ’

इति । कथं वान्यथा तेषां एकवैदमो भुज्यते देवदत्तेनेत्यत्र न द्वितीया ।
पाकक्रियाकर्मणोऽनभिहितत्वात् । अपि च वाचकत्वे कर्तुः समाने कर्तरीति
ब्रूयात् । अत एव च क्त्वादीनां नानार्थत्वमप्यपास्तम् । किं च पूर्वकालजन्यत्वा-
देवाच्यत्वे कृत्प्रत्ययस्थले प्रत्ययार्थविशेषत्वनिश्चयमात्रं तस्यैव विशेष्यत्वापत्तेः ।
न चेष्टापत्तिः । क्रियाप्राधान्यविरहेणाभीक्ष्ण्यद्विवाभावापत्तेः । न च
गुणीभूतक्रियामाश्रित्य तदिति वाच्यम् । पाचकादावत्तिप्रसङ्गात् । धातुसंबन्ध-
इत्यस्य बाधापत्तिश्च । न च परस्परान्तबन्धस्तदर्थः । गौरानाम् । अथावि-
ध्यनुप्रयोग इत्यादौ लाक्षात् संबन्धपरतया एव दर्शनात् । तथात्वे लाघवात् ।
भावेऽनुशासनं विधायकाविरोधाच्चेति दिक् ॥ ५८ ॥

इति वैयकरणभूषणे क्त्वादिप्रत्ययार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

१ °ख्यातार्थः T. २ The sentence क्रिया-पत्तेः is omitted in K. and D.
३ भावे विधायकानुशासनविरोधो D. ४ श्रीवैया° T. ५ क्त्वाणुनादि° D.; क्त्वाणमु-
लादि° D., ६ संपूर्णम् T.

प्रागुक्तस्य विचारस्यावास्तवत्वं ध्वनयितुं स्फोटस्यैव वाचकत्वसिद्धान्तमाह—
वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः ।

साधुशब्देऽन्तर्गता हि बोधका न तु तत्स्मृताः ॥ ५९ ॥

यद्यपि वर्णस्फोटः पदस्फोटो वाक्यस्फोटोऽखण्डपदवाक्यस्फोटौ वर्णपद-
वाक्यभेदेन त्रयो जातिस्फोटा इत्यष्टौ पक्षाः सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहण-
मनर्थकं दुरर्थकं च तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामन्येषामप्यवास्तवत्वबोधनाय
तदुपादानम् । अत एवाह । अतिनिष्कर्ष इति । मतस्थितिर्वैयाकरणानाम् ।
स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मादिति स्फोटो वाचक इति यावत् । तथा च वर्णस्फो-
टादिपदानां वर्णादयो वाचका इत्यर्थः । तत्र क्रमेण सर्वोस्तान् निरूपयन्
वर्णस्फोटं प्रथमत आह । साधुशब्द इति । साधुशब्दे निकृष्टपदे रामो भवती-
त्यादौ । अन्तर्गता विसर्गतिबादयः । बोधका वाचकाः । बोधकत्वमेव शक्ति-
रित्यधस्ताद्विवेचितत्वात् । न तु तैः स्मृताः स्वादयो लादयश्चेत्यर्थः । प्रयुज्यमान-
पदसमभिव्याहारानन्तर्गता वर्णा वाचका न वा इत्येवात्र विप्रतिपत्तिशरी-
रमिति भावः । अत्र विधिकोटिः परेषां निषेधकोटिरस्माकम् ॥ ५९ ॥

अत्र दर्शनान्तराभिनिवेशिनः प्रयोगसमवायिनस्तिबादयो न वाचकास्तेषां
बहुत्वादनन्तशक्तिकल्पनापत्तेः । शक्ततावच्छेदकत्वकल्पनार्थेनेकेषु स्यादिति
गौरवं च । किं तु तैः स्मृता आदेशिनो लकारा वाचका लत्वस्य जाति-
रूपतया तस्या एव शक्ततावच्छेदकत्ववौचित्यात् । न चैवं भू ल इत्यतोऽपि
बोधः स्यादिति वाच्यम् । तादृशबोधे भवतीत्यादिसमभिव्याहारस्यापि कारण-
त्वात् । अन्यथा भूतिवेत्यतोऽपि बोधापत्तेः । न चैवमपि तानजानतां बोधो
न स्यादिति वाच्यम् । तेषां तिङ्ङ्क्षेव शक्तिभ्रमाद्बोधात् । अपभ्रंशाद्बोधस्थले
कल्पनात् । अथैवं शत्रादिस्थले कर्तृकर्मणोर्वाच्यत्वं न स्यात् । स्याच्च कृतिमात्रं
तथा वाचकस्य स्थानिनो लकारस्य तिङादाविव तुल्यत्वादिति चेन्न । तत्र
लकारस्य कृतिमात्रमर्थः कर्ता च ज्ञानजाद्यर्थः कर्तरि कृदित्यनुशासनात् । तथा च
नोक्तदोषः । नामार्थयोरभेदानुरोधादस्तु वा तत्र कर्तैवार्थः । तस्मान्न श्रूयमाणानां
वाचकतेति न वर्णस्फोटो युक्त इति वदन्ति । तान् स्वोक्तं व्यवस्थापयन् निराचष्टे—

१ प्रागुक्तविचारस्य T., Tr. २ अन्येषामवास्तवत्व° D. ३ साधुशब्देऽन्तर्गता इति D. ४
°न्येतेषु T. ५ स्मृत K. ६ भूतल T. ७ पचती° K., D. ८ मातिवे T. ९ °त्यादिबोधा° T.
१० बोधस्थितिकल्पनात् T.

व्यवस्थितेर्व्यवहृतेस्तद्धेतुन्यायतस्तथा ।

किं चाख्यातेन शत्राद्यैर्लङ्घेव स्मर्यते यदि ॥

कथं कर्तुरवाच्यत्ववाच्यत्वे तद्विभावय ॥ ६० ॥

स्मृतानां वाचकत्वेऽव्यवस्था । तथाहि । राम इत्यत्र विसर्गेण किं सिः स्म-
र्तव्यः किं सुः किं वा रुः । कालापिनां सिः । आस्माकीनैः सुः । अपरैश्च रुः । तथा
च येनेदानीं सर्वमधीतं तस्य विनिगमनाविरहेण प्रतिबन्धः स्यादिति संप्रदाय-
विदः । तच्चिन्त्यम् । तेषां लिपिवदननुगमेऽपि क्षत्यभावात् । अत एव घट-
पदात् कलशपदाद्वा बोधे न कश्चिद्विशेषः । अत एव णलादिस्थले तिवादिस्म-
रणद्वारा लकारस्मरणम् । लडादौ साक्षादित्यव्यवस्थेति परास्तम् । अप्रयोजक-
वदिति । तस्माल्लकारस्य वाचकत्वे लकारमविदुषो बोधो न स्यात् । वाचका-
ज्ञानात् । न च तिङ्क्षेव शक्तिभ्रमात् ततो बोधः । तस्य भ्रमत्वे मानाभावात् ।
बहूनामानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वादिकल्पनापत्तिर्मानमिति चेन्न । तवापि
पूर्वोक्तक्रमेणादेशिनो नानात्वेन गौरवस्य तुल्यत्वात् । पदतदर्थघटितशक्ते-
र्भ्रमस्य ब्रह्मणाप्युपपादयितुमशक्यत्वाच्चेत्यव्यवस्था । यद्वा राम इत्यादौ वादि-
भेदेनादेशिनां नानात्वात् कः शक्यः को वा नेति नियामकाभाव एवाव्यवस्था ।
आदेशानां तु नियतत्वान्नयं दोष इति सुधियां पन्थाः । साधकान्तरमाह ।
व्यवहृतेरिति । व्यवहारस्तावच्छक्तिप्राहकशिरोमणित्वेन सर्वैर्मन्यते । स च
श्रूयमाणतिङादिर्धेवेति त एव शक्तास्तथा च गौरवं प्रामाणिकमिति भावः ।
किं च तद्धेतुन्यायत इति । अयं भावः । लकारस्य बोधकत्वे भू ल इत्यतोऽपि
बोधः स्यात् । तादृशबोधे पचतीति समभिव्याहारोऽपि कारणमिति चेदस्तु
तद्वावश्यकत्वात् समभिव्याहारस्यैव वाचकत्वशक्तिः । तत्रापि तादृशवर्णसम-
भिव्याहारो वा समभिव्याहृता वर्णा वा वाचका इत्यत्र विनिगमनाभावात्
प्रत्येकावृत्तिनः समुदायावृत्तिवाच्च समभिव्याहृता वर्णा एव वाचकाः । न च
द्वित्ववत् प्रत्येकावृत्तिवत्त्वेऽपि तत्संभवः । तत्रापि प्रत्येकं समवायेन वृत्तिव-
स्वीकारादिति । केचित्तु आदेशेनादेशी स्मर्यते तेनार्थो बोध्यत इति मते
येऽस्मन्मते वाचकतावच्छेदकास्ते तन्मते स्मारकतावच्छेदका वाच्यास्तथा च
तद्धेतुरिति न्यायेन त एव वाचकतावच्छेदका इति भावः । न च येन केनचिद्-

१ अस्माकीनैः T. २ वाधाभावात् Tr. ३ णादेशिनां K. ४ शक्तः D., D₂. ५ प्रत्ये-
कसमवायेन T. ६ तद्धेतोरिति D.

येण स्मारकत्वमिति शङ्क्यम् । अतिप्रसङ्गादित्याहुः । अत एवोक्तलाघवाल्ल-
कारो वाचक इति निरस्तम् । लकारस्योभयत्रापि साम्यात् कृत्तिङोः कर्तृभावना-
वाचकत्वनियमो भवत्सिद्ध एव न स्यादित्याह । किं चेति । आदेशानां वाच-
कत्वे तु तेषां नानात्वादुपपद्यतेऽयं विभाग इति भावः । यत्तु शानजादिभिर्मिन्नया
शक्त्या कर्ता उपस्थाप्यत इति तच्चिन्त्यम् । तेषां कर्तरि भिन्नशक्तेरसिद्धेः ।
कर्तरि कृदिति च नात्र प्रवर्तत इति विवेचितं द्वितीयकारिकायाम् ॥ ६० ॥

ननु नामार्थयोर्भेदेनान्वयायोगाच्चैत्रः पचमान इत्यादावनन्वयवारणाय कर्ता
वाच्यः स्यादित्यत आह—

तरवाद्यन्ततिङ्क्ष्वस्ति नामता कृत्स्विव स्फुटा ।

नामार्थयोरभेदोऽपि तस्मात्तुल्योऽवधार्यताम् ॥ ६१ ॥

पचतितरां मैत्रः पचतिकल्पं मैत्र इत्यादिग्रहणाल्लभ्यते । अत्रातिशयपाकानु-
कूलभावनाया ईषदसमासपाकानुकूलभावनायाश्च समं मैत्रस्याभेदासंभवात् तदर्थं
कर्ता वाच्यस्तिङामपि स्यात् । नामार्थत्वस्याविशेषादित्यर्थः । अथ तरवन्तं नाम
न तरवेवेति चेत् तर्हि पचमान इत्यत्र शानजन्तं नाम न शानजमात्रमिति
तुल्यम् । न च पचतिकल्पमित्यादौ कर्तरि लक्षणा । पचमान इत्यत्राप्यापत्तेः ।
न च शानचप्रत्ययस्यान्यत्र शक्त्यनिर्णयः । भावनायामेवाख्यातवच्छुद्धपचमान
इति प्रयोगस्थले कृतत्वात् । तस्य तिबादिवदवाचकत्वेन लकारस्यैवोभयत्र लाक्ष-
णिकत्वाच्चेति । तस्मात् समभिध्याहृतवर्णानामेवोक्तलाघवादन्यथाबाधकाच्च
वाचकत्वमिति सिद्धम् । अथ लः कर्मणीत्यनेन लकारस्यैव वाचकत्वकथनात्
तिङोऽवाचकत्वस्य केनाप्यबोधनाच्च लकार एव वाचको न तिङ् तिङां लादेश-
त्वेनैव कर्त्रार्थकत्वस्य प्राक् व्युत्पादितत्वाच्चेति चेत् सत्यम् । बोधकत्वरूपायाः
शक्तेर्वस्तुतस्तिङादिनिष्ठाया एवानुशासनलाघवाय कल्पिते लकारे कल्पितत्वात्
तदादायैव प्राचीनव्युत्पादनमप्यविरुद्धमिति दिक् ॥ ६१ ॥

इति वर्णस्फोटनिरूपणम् ॥

अथादेशा वाचकाश्चेत् पदस्फोटस्ततः स्फुटः ॥ ६२ ॥

एवं सिद्धे समभिध्याहृतवर्णस्य वाचकत्वे पदस्फोटोऽपि सिद्ध एवेत्याह ।
अथेति । आदेशास्तिङ्विसर्गणलादयः । पदस्फोटः पदं वाचकमित्यर्थः । अयम-

१ तिबादिवाचकत्वेन K. २ T. has इति श्रीवैयाकरणभूषणे वर्णस्फोटनिरूपणं समाप्तम्
for इति—निरूपणम् ।

भिप्रायः । अर्थबोधानुकूला शक्तिवर्णसमूह एव न प्रत्येकम् । तथा सति धनं वनमित्यादौ नलोपापत्तेः । प्रत्येकं वर्णानामर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वे सिद्धे नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नस्य तदन्तपदत्वात् । तथा प्रत्येकं सुबुत्पत्तौ श्रवणापत्तिः । किं च प्रत्येकं शक्तिमत्त्वे प्रत्येकं वर्णादर्थबोधापत्तिः । सर्वेषां वाचकशक्तिमत्त्वात् । घटकलशपदाभ्यामिव । तथा द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यमपि स्यात् । अथ प्रत्येकं वर्णैरर्थस्मरणं जन्यते । चरमेण पुनः स्पष्टं जन्यत इति वाच्यम् । न च प्रत्यक्षे वैजात्यं संभवति न स्मरण इति वाच्यम् । बाधकाभावेन तत्राप्यभ्युपगमात् । अत एव निर्विकल्पकं स्मरणं मेनिरे इति चेन्न । प्रतिवर्णमर्थस्मरणस्यानुभवविरुद्धत्वात् नानाभावादौरवाच्च । तस्मात् प्रकृतिप्रत्ययादौ तत्तत्समूहे शक्तिव्यासज्यवृत्तिर्न तु प्रत्येकवर्णपर्याप्तेति । एतच्चादेशानामवाचकत्वे न सिद्धयतीत्युक्तप्रयेतीति दिक् ॥ ६२ ॥

सुपतिङन्तं पदमिति स्वशास्त्रपरिभाषितपदस्यापि वाचकत्वमिति स्वीकर्तृणां मतमाह—

घटेनेत्यादिषु न हि प्रकृत्यादिभिदा स्फुटा ।

वस्नसादाविवेहापि संप्रमोहो हि दृश्यते ॥ ६३ ॥

प्रकृत्यादिभिदा प्रकृतिप्रत्ययभेदो न ह्यतो न प्रत्येकं ताभ्यामर्थविभागोत्तरं विशिष्टबोधस्तथा चावश्यकैव समूहशक्तिरिति शेषः । अयमर्थः । घटेनेत्यत्र घट इति प्रकृतिः । एनेति प्रत्यय इति वा । घटे इति प्रकृतिर्नेति च प्रत्यय इति वेत्यत्र नियामकाभाव इति । नन्वत्र टाङ्सिङ्सामिनात्स्या इत्येव भाष्ये कथितत्वात् घटेनेत्यादौ नेत्येव प्रत्यय इत्यस्य सुवचत्वात् नोक्तानुपपत्तिर्वैयर्थ्यकरणैः सुखेन ज्ञातुं शक्यत्वाच्चेत्याशयेनाह । वस्नसादाविति । बहुवचनस्य वस्नसादित्यतः समुदायस्यैव तद्विधानाच्च तद्विभागो ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः । वस्तुतोऽवैयाकरणानां प्रत्येकं तदज्ञानेऽपि समुदाये व्युत्पन्नानां बोधदर्शनात् घटेनेत्यादावप्यनुपपत्तितादवस्थम् । न च तेषां शक्तिभ्रमसंभव इत्यसकृदौवेदितमित्याशयेनाह । इवेत्यादि ॥ ६३ ॥

१ वाचकत्वशक्तिमत्त्वात् D. २ बोधेन for भेदो T. ३ घटेनेत्यत्र T. ४ वैयाकरणेन T. ५ शक्यत इत्यर्थः T. ६ ०दावेदितत्वादित्याशयेनाह T.

एवंरीत्या वाक्यस्फोटमप्याह—

हरेऽवेत्यादि दृष्ट्वा च वाक्यस्फोटं विनिश्चिनु ॥

अर्थे विशिष्य संबन्धाग्रहणं चेत् समं पदे ।

लक्षणादधुना चेत् तत्पदेऽर्थेऽप्यस्तु तत्तथा ॥ ६४ ॥

अत्र आदिना विष्णोऽवेत्यादि गृह्यते । अत्र पदयोः स्पष्टमज्ञानेऽपि समुदायव्युत्पत्त्या बोधादावावश्यिकैव समुदायशक्तिरिति भावः । ननु वाक्यस्य प्राक्शक्तिग्रहासंभवो वाक्यार्थेत्यापूर्वत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते । अर्थ इति । पदनिष्ठैव वाक्यार्थबोधानुकूला वृत्तिरिति पक्षेऽपि सममेतदित्यर्थः । अयमाशयः । येषां मते वाक्यार्थो लक्ष्यो येषां वान्विते शक्तिस्तेषामपि प्राक् तदनुपस्थिते-वृत्तिग्रहासंभवात् कथं निस्तारः । अथ पदैः पदार्थानामुपस्थितावाकाङ्क्षाज्ञानसाचिव्यात् तत एव वाक्यार्थोपस्थितावपि वृत्त्यानुपस्थितत्वान्न स बोधः शाब्द इति मध्ये लक्षणाग्रहः । प्राग्विज्ञातहरिद्रानामकनदीविशेषेण हरिद्रायां नद्यां घोष इति श्रुते वाक्ये नदीपदसमभिव्याहारेण तदानीमेव हरिद्राशब्दस्य नदीविशेषशक्तिग्रहेण नदीलिङ्गात् तत्संबन्धित्वेनावगततीरप्रत्ययवदिति परि-प्रलोक्यरीत्या वाच्यं समं तद्वैस्माकमपीति । यदि वान्विते शक्तिः परं त्वन्वयांशे सैवाज्ञाता पदार्थांशे च सैव ज्ञातोपयुज्यत इति 'कुब्जशक्तिवाद' इत्यभ्युपगमस्तद्वैस्माकमपि वाक्यशक्तिरज्ञाता पदशक्तिस्तु ज्ञातैव तथेति । नन्वाकाङ्क्षादिसहकारेण जातबुद्धेरेव शाब्दत्वात् तदतिरिक्तशङ्काभावादाद्यः पक्षो न युक्तः । आकाङ्क्षादिजन्यातिरिक्तशब्दबोधे प्रमाणाभावात् । किं चैव-मनधिगतार्थगन्तृता वेदस्य मीमांसाद्वयसिद्धोच्छिद्येत । अथ प्राथमिक-बोधस्य वृत्तिजन्यत्वाभावाच्छब्दत्वं न संभवतीति तज्जातिप्रकारकानुभवादेव बोधान्तरं कल्प्यते । पदजन्यपदार्थोपस्थित्याकाङ्क्षाद्यसहकृतप्रमाणबोध्यत्वं चाधिगतार्थगन्तृत्वमिति चेत् स्यादेवं यदि बोधद्वयमनुभवसिद्धं स्यात् । अन्य-थानुपपत्तेरभावाच्च । किं च वृत्तिजन्यत्वानुरोधेन बोधान्तरकल्पनेऽन्वितशक्तिरेव सिध्येत् । लक्षणाज्ञानकार्यकारणभावान्तरस्य आकाङ्क्षादिजन्योपस्थित्य-

१ तत्र° T. २ °शासनौचित्यात् T. ३ यदि चाव्विते K. ४ D. drops च. ५ शब्दत्वात् T. ६ °शब्दाभावा° T. ७ शब्दबोधे T. ८ °च्छब्दत्वं T. ९ °बोध्यबोध्य-कत्वं K. १० चाधिगन्तृत्व° Tr.

न्तरस्य चाकल्पनेन लाघवात् । एवमज्ञाताया वृत्तेरनुपयोगान्न द्वितीयः प्रकारः साधुरित्याशयेन प्रकारान्तरमाह । लक्षणादिति । लक्ष्यते तर्क्यते अनेनेति लक्षणं मनस्तस्मात् । अयमाशयः । वृद्धव्यवहारात् प्राथमिकशक्तिनिर्णयो यथा मनसा तथात्रापि पदैः पदार्थोपस्थितौ सत्यां मनसा तदुपस्थितिर्नानुपपन्ना । परं तु मानसं ज्ञानं संशयरूपं प्रायो दुर्वारमिति शब्दादरः । शक्तिग्रहे तु लिङ्गा-
देर्निर्णायकस्य सत्त्वान्न संशय इति । वस्तुतस्तत्पर्यज्ञानरूपामेवोपस्थितिमादा-
यान्वयांशशक्तिग्रहस्तात्कालिक एव । अत एवाकाङ्क्षादिसहकृतमनसः संश-
याजनकत्वेऽपि न दोष इति ध्येयम् ॥ ६४ ॥

इयमेव मीमांसकानां तदनुयायिनां च गतिरित्याह—

सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति ये विदुः ।

भाट्टास्तेऽपीत्यमेवाहुर्लक्षणाया ग्रहे गतिम् ॥ ६५ ॥

स्पष्टमेतत् ॥

अथ गामानयेत्यादौ पदैः पदार्थानामुपस्थितौ वाक्यार्थज्ञानसंभवान्मास्तु शक्तिः । न चान्न पदशक्त्यज्ञानेऽपि समुदायशक्त्या बोधोऽनुभवि-
कानाम् । यत्तु वाक्यमखण्डमेव न पदसमुदाय इति नायं दोष इति तन्न ।
अखण्डस्य पक्षान्तरत्वात् । तस्माद्धरेऽवेत्यत्रैव समुदायशक्तिरिति मतं व्याख्ये-
यम् । वस्तुतस्तु सर्वत्रैव पदैः पदार्था उच्यन्ते वाक्येन वाक्यार्थ इति सिद्धान्त-
मर्यादा । अत एव समासग्रहणं वाक्येऽतिव्याप्तिवारणायेति ग्रन्थाः संगच्छन्ते ।
तथा च पदैः पदार्थानामुपस्थितावपि वाक्यार्थे विना वृत्तिं न शाब्दबोधविष-
यत्वसंभव इति समुदायशक्तिरौघ्रियते । नन्वाकाङ्क्षादिसहकारेण पदान्येव
वाक्यार्थबोधकानि भविष्यन्तीति चेन्न । गुरुभूताकाङ्क्षायोग्यतादिज्ञानकारणत्वे
मानाभावात् । नन्वेवं घटः कर्मत्वमित्यत्रापि बोधापत्तिः । अयमेति पुत्रो राज्ञः
पुरुषोपसार्थतामित्यादौ राजपदस्य पुरुषेण सममन्वयानुभवे आकाङ्क्षायां पुत्रे-
णान्वयापत्तिश्चेति चेन्न । घटः कर्मत्वमित्यादौ शक्तिग्रहसत्त्वे इष्ट एव बोधः ।
स एव विपरीतव्युत्पन्नः । अन्यस्य तदभावादेव नेति संभवात् । अयमेती-
त्यादौ तात्पर्यज्ञानाभावाच्च बोधः । तस्य तवाप्यावश्यकत्वात् । तदघटिताया
आकाङ्क्षाया दुर्वचत्वात् । अथ घटमानयेत्यादौ घटपदाम्पदयोः प्रत्येकं गृही-

१ अनुभाविकानाम् Tr. २ ग्रन्थः संगच्छते T₂, D₂. ३ राश्रीयते T. ४ दुर्वचनत्वात् T.

तशक्तिकस्य तादृशानुपूर्वीज्ञानतात्पर्यज्ञानादिमतश्च घटकर्मकानयनमिति बोधा-
भावात् तादृशबोधे घटपदोत्तरं द्वितीयायास्ततो धातोस्तत आख्यातस्येत्यादि
समभिव्याहारः कारणमित्यादिकार्यकारणभावग्रहवतश्च बोधात् तादृशबोधे
तादृशकार्यकारणभावग्रहस्य हेतुत्वावश्यकत्वात् स एवाकाङ्क्षा । एवं चायमेती-
त्यादिवारणाय तात्पर्यज्ञानमपि हेतुरिति चेत् तथापि सिद्धो वाक्यस्फोटः । पद-
ज्ञानकार्यकारणभावरूपपदशक्तिज्ञानस्येव तत्समुदायरूपवाक्यज्ञानकार्यकारण-
भावरूपवाक्यशक्तिज्ञानस्यापि शब्दे हेतुतायास्त्वयाप्यभ्युपगमात् । एवं चै
वाक्यशक्तिरेवाकाङ्क्षेति परपरिभाषामात्रमवशिष्यते तदपि तस्यावृत्तित्वेन
विरुद्धम् । एवं चैतदनुरोधेनान्वयांशस्य शक्यत्वनिरसनमयुक्तम् । न चैवं समा-
सग्रहणं नियमार्थमित्यसंगतं स्याद् । गामानयेत्यादिसमुदाये त्वया शक्त्यनभ्यु-
पगमात् सुबन्ततिङन्तयोश्च प्रत्ययान्तत्वेनैव वारणादिति वाच्यम् । द्वितीया-
देर्धातुविशिष्टस्य प्रातिपदिकत्वापत्तेः । तयोरुक्तरीत्या शक्तिसत्त्वात् । न च धातोः
प्रत्ययान्तत्वादप्रत्यय इति पर्युदासापत्तिः । प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदा-
देस्तदन्तस्य ग्रहणमिति परिभाषया दोषविरहात् । अथवा गामानयेति वाक्ये
एका समुदायशक्तिरस्तु । तथा च नोक्तदोषसंभावनापि । न च तदज्ञानेऽपि
प्रागुक्तशक्तिज्ञानादेव बोधात् तस्य व्यभिचारः । विशिष्टशक्तिग्रहमात्रेणापि
त्वदुक्ततदग्रहे बोधात् । विशिष्टशक्तिग्राहकस्य तदादिबत् कारकविभक्तिविशिष्ट-
पदयोर्विशिष्टयोस्तत्कारकविशिष्टक्रियाबोधकत्वमिति सामान्यतः शक्तिग्रहोऽन-
न्तरं पदविशेषसमभिव्याहारे सति तात्पर्यवशात् पदार्थविशेषविशिष्टक्रिया-
विशेषबोध इत्यभ्युपगमात् त्वयापि सामान्यतः कार्यकारणभावस्वीकारात्
तत्कार्यकारणभावग्राहकस्यैव समुदायशक्तिग्राहकत्वमिति स्वीकारेणैव व्यभिचारा-
भावाच्च । न चैवमपि तत्तत्समभिव्याहारानन्याच्छक्त्यानन्यम् । तवापि तुल्यत्वात् ।
यदि घटप्रकारकशाब्दबोधमात्रे घटार्थकपदोत्तरविभक्त्यादिजन्योपस्थितिर्हेतुः ।
एवं विशेष्यतासंबन्धेन कर्मत्वप्रकारकशाब्दबोधे कर्मत्वार्थकपदप्राग्वर्तिपदजन्यो-
पस्थितिर्हेतुरित्यादि सामान्यत एव सर्वत्र कार्यकारणभाव इत्यभ्युपेयते तदात्र
पक्षे तत्र तत्र वाक्येऽनन्तशक्तिकल्पने गौरवमतिरिच्यते चेदस्माकमपि घटमानये-
त्यादिवाक्येषु सर्वत्रैवैका शक्तिर्वाक्यार्थविषयिण्यस्तु । निरूपितत्वादेः कर्मत्वादीनां

१ ° ज्ञानस्यैव T. २ शब्दे T. ३ D, drops च ४ ° त्यसंगतम् K. ५ ° विशि-
ष्टपदधातुपदयो T. ६ ° ग्रहानन्तरं T. ७ कर्मपदोत्तरविभक्त्यादिजन्यो Tr.

संबन्धस्यैकत्वात् । घटमानयेत्यादौ पटकर्मकबोधाभावः पटस्य पदादनुपस्थित-
त्वादुपपद्यते । अस्तु तावदेवं तथापि वाक्यनिष्ठबोधकतायाः शक्तित्वे किं मान-
मिति चेदुच्यते । विषयतासंबन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तेनैव संबन्धेन
वृत्तिजन्योपस्थितिर्हेतुतैव मानम् । अन्यथा घटमानयेत्यत्र घटपदशक्त्यज्ञानव-
तोऽपि तज्ज्ञानवत् इव बोधापत्त्या घटशाब्दबोधे घटार्थकपदवृत्तिजन्यज्ञानत्वेन
कारणता वाच्येत्यर्थभेदेनानेकक्रोटिकार्यकारणभावकल्पनापत्तावतिगौरवं स्यात् ।
अस्मद्रीत्या घटे विषयतया वृत्तिजन्योपस्थितिरूपकारणाभावाच्च शाब्दबोध
इति वरमेककार्यकारणभावकल्पनम् । ननु घटत्वविशिष्टघटप्रकारकशाब्दबोधे
वृत्तिजन्यघटत्वविशिष्टज्ञानत्वेन हेतुताया घटत्वमानयेत्यत्र घटवैद्व्योर्विशेषण-
विशेष्यभावव्यत्यासेन बुद्धिस्थले बोधवारणाय वाच्यतया तत् एव नोक्तातिप्र-
सङ्गः । न च न्यायनये घटमानयेति वाक्यसमभिव्याहृताविभक्तिकवटपदस्थले
बोधवारणायवश्यकेन घटत्वविशिष्टघटप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्ने घटार्थक-
पदोत्तरसार्थकविभक्तिनिपातादिजन्योपस्थितेर्हेतुतारूपाकाङ्क्षाकार्यकारणभावेनै-
वानतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । घटार्थकत्वं हि घटबोधफलोपहितत्वमन्यथा
लाक्षणिकघटपदाद् घटबोधापत्तेः । तथा च वृत्त्या तद्वोधकपदजन्यज्ञानत्वेन
कारणत्वेनैवानतिप्रसङ्गात् पृथक्वृत्तिज्ञानस्य हेतुत्वे मानाभावादिति चेन्न । अन-
न्तकार्यकारणभावे वृत्तिप्रवेशे गौरवमपेक्षयाकाङ्क्षायां पदजन्यज्ञानत्वेनैव प्रवेश-
स्योचितत्वात् । तथा च घटपदादाकाशस्य समवायेन देवदत्तयज्ञदत्तादेश्च जन-
कतयोपस्थितस्य शाब्दबोधविषयतापत्तेर्वैरिणाय विषयतया शाब्दबोधत्वाव-
च्छिन्ने वृत्तिजन्योपस्थितेस्तथाहेतुत्वमावश्यकम् । अस्माकं पदैः पदार्थानां
वाक्याद्वाक्यार्थस्य बोधाभ्युपगमाद्विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासासंबवाच्च । यथोप-
स्थितानामेव वाक्यशक्त्या संसर्गबोधात् । यत्तु घटशक्तं पदं घटान्वयबोधं जन-
यतीत्येव नियमस्वीकारान्नानुपपत्तिरिति तन्न । एवमपि वृत्तिज्ञानकार्यकारण-
भावानुरोधेन शक्तिकल्पनीयवश्यकत्वात् । उक्तरीत्यैवोपपत्तौ घटान्वयबोधं प्रति
घटशक्तपदज्ञानत्वेन हेतुतेत्यनेककार्यकारणभावान्तरकल्पने गौरवाच्च । न चैव-
मपि पदार्थशाब्दत्वमेव वृत्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकं वाच्यमिति वाच्यम् । संसर्ग-
स्यापि वाक्यार्थसंसर्गादिपदार्थत्वात् । तत्तत्समभिव्याहृतपदार्थबोधकत्वमवच्छेद-
कमित्यपि न । अनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात् । अथ विशेष्यत्वप्रकारत्वादिसं-
बन्धेन शाब्दबोधत्वमेव वृत्तिज्ञानकार्यतावच्छेदकमस्तु । तेन च संबन्धेन न

शब्दत्वं वाक्यार्थांशोऽतो न तत्र वृत्तिः कल्प्या । न च लाघवाद्विषयतैव तत्कार्यतावच्छेदिका । तस्या एकस्यास्त्रितयसाधारणाया अभावात् । विशेष्यत्वादि-
त्रयैव सामान्यशब्देनाभिधीयते । विशेष्यादित्रितयव्यवहारानुरोधेन विषयता-
त्रयस्यावश्यकत्वादिति चेन्मैवम् । ज्ञानातिरिक्तविषयतायां मानाभावात्
तज्ज्ञानसंबन्धेन शब्दत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वात् । तत्तद्विषयविशिष्टज्ञानस्यैव
विशेष्यत्वादिरूपत्वात् । अतिरिक्तविषयतापक्षेऽप्येवमेव व्यवहारवैलक्षण्योप-
पत्तौ त्रैविध्यानौचित्यात् । एवं च तत्रैव विशेष्यप्रकारविशिष्टविषयतायाः संब-
न्धत्वे विपरीतं गौरवं स्यात् । दण्डीति बोधोत्तरं दण्डिमानिति बोधात् तज्जन-
कतावच्छेदिका नायं दण्डीत्यादि ज्ञानप्रतिबन्धकतावच्छेदिका च दण्डीत्यत्र
दण्डपुरुषसंयोगसाधारण्येका विषयता वाच्या । सैव शक्तिज्ञानकार्यतावच्छेदि-
कास्ताम् । अत्र दण्ड इति शब्दादयं दण्डीत्यादि वारणं तु वाक्यशक्त्यैवेत्यपि
वदन्ति । एवं सत्यपि यद्यशब्दार्थ एव वाक्यार्थस्तर्हि पदार्थोऽपि तथैव स्यात् ।
उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत् ।

एवं सति च संबन्धः शब्दस्यार्थेन हीयते ॥’

इति । तस्माद्वाक्यार्थवाचकं वाक्यमिति सिद्धम् । अत एव तस्य वाक्यार्थ-
त्वकिंवदन्ती संगच्छत इति विभावयामः । माध्वास्तु न वाक्यार्थबोधकतया
वाक्यस्फोटसिद्धिः पदानामेवान्विताभिधायकत्वात् । पदैरेवार्थप्रतीत्युपपत्तौ तत्र
मानाभावात् । तदेतत् तृतीयाध्यायचरणसमाप्तावुक्तमनुव्याख्याने—

‘कर्तृकर्मक्रियाणां तु पूर्तो कोऽन्योऽन्वयो भवेत् ।

अपूर्तिश्चेत् पदैरुक्तैः किं नृशृङ्गेण पूर्यते ॥’

इति । अत्र जयतीर्थः ‘कर्मल्युपलक्षणं जिज्ञासितानां पदार्थानामित्यर्थः ।
भवेत् । प्रतिपादनीय इति शेषः । स्फोटमन्वयप्रतिपादकं वदता तत्र प्रमाणं
वाच्यम् । तच्च न । अन्वयबोधकस्य पदैरुपपत्तेरिति भावः । एवमनङ्गीकारे
बाधकमाह । अपूर्तिरिति । अन्वयस्येत्यादि । नृशृङ्गेण । स्फोटेन । अप्रमाणक-
त्वात् तत्सादृश्यम् । पदादन्वयबोधवादिनो लाघवं पदानामावश्यकत्वात् ।

१ शब्दत्ववाक्यार्थांशे K. २ साधारण्येकविषयता D. ३ अशब्दो K., T. ४ वाक्या-
र्थत्वं संगच्छत इति T. ५ पूर्वोक्तोऽन्यो T. ६ स्फोटान्वयप्रतिपादकवादिना T.

स्फोटवादिनो गौरवं निष्प्रमाणकस्फोटस्य तस्यान्वयबाधकत्वस्य च कल्पनीयत्वादिति भावः' इति व्याचक्ष्यौ । तस्माद्वाक्यार्थप्रतीत्यर्थं न स्फोट इत्याहुः । तदेतत्तुच्छम् । पदानामेवान्वित्ताभिधायकत्वे घटादिपदमितरान्वितघटे शक्तमिति व्युत्पन्नस्यापि घटमित्यानुपूर्वीज्ञानतात्पर्यज्ञानादिमतोऽपि च घटकर्मकानयनमिति बोधः प्रागुक्तकार्यकारणभावग्रहाभाववतोऽपि भवेत् । न चेष्टापत्तिः । विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहात् सामान्यत एव शक्त्या चेतरान्वितो घटः इतरान्वितं कर्मत्वमित्येवापत्तेः । न घटीयं कर्मत्वमिति । तथाशक्त्यनङ्गीकारात् । घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यत्रेतरान्विते^१ कर्मत्वे तादृश आनयने इत्यादि शक्तिग्रहवतो बोधापत्तेश्च । अत एव तत्रैवानुद्ध्याख्याने ।

‘यदा शेषविशेषाणामुक्तिः सामान्यतो भवेत् ।

पदैकेनाप्युत्तरेण विशेषावगतिर्भवेत् ॥

अतः सामान्यतो ज्ञातः पदान्तरवशात् पुनः ।

भवेद्विशेषतो ज्ञातस्तेन स्यादन्वितोक्तिता ॥’

इति । प्रथमाध्याये चोक्तं सुधायां शक्तिश्चैवान्विते स्वार्थे इति कारिकाभ्याख्यायां ‘विशेषान्वयप्रतिपत्त्यर्थं पदान्तरसमभिव्याहारोपयोगः’ इति ‘पदान्तरसमभिव्याहाराद्विशेषप्रतिपत्त्युपपत्तेः’ इति चेति । तस्मात् तादृशसमभिव्याहारकार्यकारणभावावश्यकत्वे मास्तु पदानामन्विते शक्तिरिति सिद्धम् । किं च सखण्डवाक्यस्फोटखण्डनमेतदखण्डस्य वा । नाद्यः । पदसमूहरूपस्य तस्य नृशृङ्गानुल्यतोक्तिविरोधापत्तेः । नान्य इति तु वक्ष्यते । तस्मात् स्फोटपदश्रवणमात्रात् खण्डनं तन्मताज्ञानविजृम्भितमेवेति ध्येयम् । एतेन कार्यान्विते शक्तिरपास्ता । केचित्तु पदानामन्विताभिधायकत्वे घटमानयेत्यत्र बोधचतुष्टयापत्तिः । इतरान्वितो घटस्तथा कर्मत्वं तथैवानयनं तथैव कृतिरिति । न च तवापि चैत्रो घटमानयतीत्यादौ घटीयं कर्मत्वं तदीयमानयनं तदीया कृतिस्तद्वांश्चैत्र इति विशेष्यभेदप्रयुक्तवाक्यभेदापत्तिरस्माकं सशक्यो भवतां पुनरशक्योऽध्याकाङ्क्षादिलभ्य इत्यत्रैव विशेषादिति वाच्यम् । न हि विशेष्यभेदादावृत्तिमापादयामः किं तु शक्तिभेदात् । मम तु घटप्रकारकर्मत्वविशेष्यकशान्दबोधे घट-

१ स्फोटवादिना K. २ निःप्रमाणक° D. ३ प्रतीत्यर्थो T. ४ भिधायकत्वं K.

५ मितरान्विताभिधायकत्वे घटादिपदमितरान्वितघटे शक्तमिति &c. T. ६ T. drops च.

७ T. has after it घटे इतरान्विते ८ °स्फोटस्य खण्डन° T.

पदोत्तरं द्वितीया इत्यादि कार्यकारणभावनानात्वविरहाद् दोष इत्याहुः । एतेन
 वृत्तिरिहाश्रमैस्तत्त्वविवेकादावुक्तं वृत्तिं विना शब्दबोधविषयत्वासंभवाद्वृत्ति-
 बाक्यार्थविषयिणी स्वीकार्या सा चातिरिक्ता गौरवाच्चेति कृतपदार्थशक्तिरेव
 तद्विषयिणी कल्प्यते । पदानामन्वयसामान्ये शक्तौ तु विशेषमविषयीकृत्य
 सामान्यबुद्धेरपर्यवसानात् तत्तत्पदसामान्यशक्तिभिरेव समभिव्याहृतपदोपस्था-
 पितपदार्थविशेषनिरूपितान्वयविशेषः सेत्स्यतीत्येकशक्तिलाघवम् । किं चैकपद-
 प्रयोगेऽप्यन्वयविशेषस्य नियमेन जिज्ञासादर्शनात् तस्याश्चान्वयसामान्यज्ञान-
 पूर्वकत्वात् तज्ज्ञानस्य च शब्दादन्यतोऽसंभवाच्छब्द एवान्वितमभिधत्त इति
 वाच्यम् । दृष्टे जम्बीरफलादौ रसविशेषजिज्ञासावद्भविष्यतीति चेन्न । तत्र निय-
 मेन तदभावात् । अन्यथा वैशेषिकमत इव व्याप्तिप्रतिसंधानदशायामेव
 शब्दादर्थसंसर्गः प्रतीयत इति शब्दोऽप्यप्रमाणं स्यादिति । यदप्यपरेऽन्वयांशे
 शक्त्यनभ्युपगमे घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरिति पदजातादन्वयधीः स्याद्योग्य-
 तादेः सत्त्वात् । न चैतादृशं पदजातं शिलाशकलमिवाङ्कुरस्वरूपायोग्यम् । एवं
 सति विपरीतव्युत्पन्नस्यापि बोधानापत्तेः । न च शक्तिभ्रमात् तस्यान्वयधीः ।
 स्वरूपायोग्यस्य सहकारिशतकेनापि कार्याजनकत्वात् । तस्मात् स्वरूपयोग्यमेवा-
 न्वयांशे शक्तिज्ञानरूपसहकारिसत्त्वाद्विपरीतव्युत्पन्नं प्रत्यन्वयबोधकम् । अन्यं प्र-
 तितद्वहितत्वात्त्वेनान्वयांशे शक्तिरवश्यमुपेयेति विवरणाचार्यानुयायिनो वदन्ति ।
 तदप्यपास्तम् । बोधकतारूपायाः शक्तेरन्वयबोधस्यापि जायमानत्वात् तदंशे
 स्वीकार आवश्यक इति सत्यम् । परं तु सा वाक्य एव स्वीकर्तव्या न तु पदे ।
 तथापि समभिव्याहारोऽपि कारणमिति तज्ज्ञानस्य हेतुत्वे गौरवापत्तिरित्युक्तम् ।
 घटः कर्मत्वमित्यादावाकाङ्क्षाज्ञानविरहाद्बोधविरहः । अन्वयांशे शक्तिज्ञानवतोऽ-
 प्यबोधाच्चेत्युक्तम् । एवं जिज्ञासानुरोधादन्वयसामान्ये शक्तिरित्यप्यसङ्गतम् ।
 ईदृष्टे समीचीनफले रसादिजिज्ञासावदुपपत्तेः । तर्हि तद्वदेवान्नापि जिज्ञासानि-
 यमो न स्यादिति चेदिष्टापत्तेः । किं चैवं ह्यन्वयो विशेषरूपेण शक्यः स्यात् ।
 जिज्ञासायास्तथात्वात् । ज्ञानेच्छयोः समानप्रकारकत्वेन हेतुहेतुमद्भावात् ।
 अन्यथा द्रव्यत्वादिना ज्ञाते सुवर्णत्वादिनाऽज्ञाते तेन रूपेणेच्छापत्तेः । नन्वेवं
 सति जिज्ञासोच्छेदः । येन रूपेण ज्ञानं वृत्तं तेन रूपेण सिद्धिसत्त्वादिच्छाया

१ ° नुयायिनोऽपि वदन्ति D₂. २ तथा सति K. ३ कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादा° D.
 ४ दृष्टे T. ५ °ज्ञातेन रूपेणे° D₂.

असंभवात् । येन च रूपेण न ज्ञातमेव तेन रूपेण कारणाभावेनासंभवादिति चेन्न । सिद्धत्वज्ञानस्यैव सर्वत्र प्रतिबन्धकत्वात् तदभावादेव जिज्ञासोपपत्तेः । घटो मेऽस्त्वितीच्छायामसिद्धेऽपि तस्मिन् तत्सिद्धत्वाज्ञानादिनेच्छानिवृत्तेर्दर्शनात् । न च येन रूपेण यत्रेच्छा तेन रूपेण सिद्धत्वधीरेव प्रतिबन्धकेत्यपरत्रास्तु । अत्र तु सा सिद्धिरेव प्रतिबन्धिका कल्प्यतां लाघवात् । घटज्ञानं मे जायतामितीच्छायां जाते तस्मिन्तत्सिद्धत्वप्रतिसन्धानमन्तरेणैवेच्छानिवृत्तेरा-
नुभविकत्वाच्चान्यथा गौरवाच्चेति वाच्यम् । चैत्रस्य ज्ञानं भवत्वितिच्छायामजाते च तस्य ज्ञानं जातमिति सिद्धत्वज्ञानादिच्छानिवृत्तेः सर्वानुभवसिद्धाया अप-
लापपत्तेः । सिद्धेर्व्यधिकरणत्वेन प्रतिबन्धकासंभवाच्च । तदानीं मे ज्ञानं भव-
त्वितिच्छायां तदानीं मे जातमित्यादिकालान्तरीयज्ञानविषयकसिद्धत्वज्ञानेनापि प्रतिबन्धाच्च । तस्मान्न जिज्ञासानुपपत्तिः । अथवा पूर्वं विशेषतः संसर्गावग-
मेऽपि स अपातरूप एव । कथमन्यथा ब्रह्मजिज्ञासा स्यात् । प्रपञ्चितं चैत-
द्विवरणतत्त्वविवेकादावेवेति ध्येयम् । एतेन सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो जिज्ञासेति वदन्तः सर्वेऽप्यपास्ताः । तथा च सामान्यतोऽन्वयः शक्य इत्यसङ्ग-
तम् । अथ सामान्यतोऽन्वयः शक्यस्तेनानुमिते विशेषे जिज्ञासेति नोक्तदोष इति चेन्न । तथा सत्यनुमानेन संसर्गोपस्थित्यैवोपपत्तेः शब्दप्रामाण्योच्छे-
दप्रसङ्गात् । अन्यथा वैशेषिकमत इवेति स्वोक्तिविरोधश्च । पदार्थैरेवानुमिते विशेषे जिज्ञासासंभवाच्च सामान्यतोऽप्यन्वयस्याशक्यत्वं स्यात् । अपि च पदार्थ-
वाक्यार्थयोरनियमस्य पूर्वं ग्रहात् फलविशेषदर्शनाद्रसाविशेषस्येव जिज्ञासा नानु-
पपन्ना । न चैवं शब्दस्यापि भवद्गीत्यैव प्रमाणत्वं न स्यादित्युक्तमिति वाच्यम् । न भवेदेव यदि नानुमितं न साक्षात्कृतं किं तु शब्दादेवानुगतमित्यनु-
भवो न स्यात् । तथा चेतादृशानुभवादाकाङ्क्षाज्ञाननिर्वाह्यविशेषणविशेष्य-
भावाद्यनुरोधाच्च शब्दः प्रमाणान्तरम् । न त्वत्र भवद्गीतिः साध्वी । पठितवि-
स्मृतशास्त्रस्य बोधादर्शनाच्छक्तिसरणमुद्बुद्धः शक्तिसंस्कारो वा हेतुरिति मतद्व-
येऽपि भवन्मते स्वातन्त्र्येण तत्प्रामाण्यासिद्धेः । तथाहि बोधकत्वं हि शक्तिरिति विवरणाचार्यादिभिरुक्तम् । तच्च बोधकारणत्वं तच्च शब्दस्य स्वज्ञानद्वारा लिङ्गस्यैवानुमितौ । तथा च कारणताया व्याप्तित्वात् तज्ज्ञानं व्याप्तिज्ञानमेवेति

१ °रानुभविकत्वादित्यथा K. २ ग्रहणात् T. ३ D₂ drops न. ४ शब्दो° T., Tr., D₂. ५ लिङ्गस्येवा° T.

कथं नानुमानविधया प्रामाण्यम् । उद्बुद्धो व्याप्तिसंस्कार एव हेतुरिति स्वीक-
र्तृणां भवतां परं सुतरां दोषः । तस्मात् प्रमाणान्तरेण संसर्गोपस्थित्यसंभवात्
तत्र शक्तिरित्युक्तमेवेति दिक् । यत्तु पदार्थास्तस्मृतिर्वा शाब्दबोधे हेतुर्न तु
पदज्ञानं वाक्यज्ञानं वा । व्यभिचारात् । उक्तं हि

‘पश्यतः श्वेतमारूपं ह्रैषाशब्दं च शृण्वतः ।

खुरविक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः ॥’

इति । तन्न । तथा सति चक्षुरादिना पदार्थोपस्थितौ शाब्दबोधापत्तेः । शब्दे-
नायमर्थो बुद्ध इत्यनुभवाच्च । पश्यत इत्यादावशब्दत्वानुभवादनुमानेनैव
निर्वाहाच्चेति दिक् । तस्माद्वाक्यार्थवाचकं वाक्यमिति सिद्धो वाक्यस्फोटः ।
नन्वेवं पदार्थवद्वाक्यार्थोऽपि नानुभूयेतेति चेन्न । न तावद्वाक्यार्थप्रतीतिरनुभवः ।
स्वर्गनरकादिकं शृण्वतोऽपि स्वर्गं नरकं वानुभवामीत्यप्रतीतेः । किं तु स्मृति-
त्वादिव्याप्यमन्यथा वा शाब्दत्वादिकं जातिरनुभवबलात् । तत्कारणं पुनरुक्त-
रीत्या वाक्यज्ञानमिति । नन्वेवमपि न पदज्ञानवाक्यज्ञानयोः संभवः ।
उत्पत्तिपक्ष एकदा तदभावात् । अभिव्यक्तिपक्षेऽप्येकदा तदभावात् ।
तथा च न वर्णसमूहरूपपदप्रत्यक्षं सुतरां तत्समूहरूपस्य वाक्यस्येति
चेन्न । दर्शनान्तरेऽप्युक्तदोषतादवस्थ्यात् । अथ प्रत्येकवर्णानुभवजनितसं-
स्कारसहकृतेनान्यवर्णप्रत्यक्षसमये सदसदनेकविषया पदप्रतीतिरेवं वाक्य-
प्रतीतिश्चोपपद्यत इति मतम् । तच्चिन्त्यम् । एवं हि गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्ते-
नेत्यत्रैव वाक्यज्ञाने समूहालम्बनरूपे विशेषाभावाद्बोधापत्तेः । सरो रसः नदी
दीन जरा राजेत्यादावप्युपस्थितेस्तुल्यत्वाद्बोधाविशेषापत्तेश्चेति । यत्तु जयतीर्थे-
नोक्तम् । अनुभवक्रमोपहितानामेव तेषां स्मृत्यावगाहनान्न क्रमव्युत्क्रमयोरविशेष
इति । तत्तुच्छम् । अनुभवस्मृत्योः क्रमे नियमाभावात् । दृश्यते च प्रपूर्वेद्युरनुभूतस्य
स्मरणमस्मृत्वापि पूर्वेद्युरनुभूतस्य स्मरणम् । किं च संस्कारस्मरणयोः समानविषय-
त्वात् क्रमस्य च संस्कारविषयत्वेन न स्मरणविषयत्वम् । एवं च समूहालम्बनरूपं
स्मरणमपि धकाराकारटकारा इति भवेन्न तु घट इत्येतादृशमिति । अथोत्तरवर्णप्रत्य-
क्षकालेऽव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन पूर्वपूर्ववर्णवत्त्वमुत्तरोत्तरवर्णे एवं तदुत्तरवर्णप्रत्य-
क्षकाले उपस्थितविशिष्टतद्वर्णवत्त्वमुत्तरवर्णे सुग्रहमिति तादृशानुपूर्वीघटितं पदत्वं

१ हेपा° K. २ °शाब्दत्वा° T. ३ निर्वाहश्चेति T. ४ पदार्थत्वाद्वा° T.
५ शब्दत्वा° T.

सुग्रहमेवं वाक्येऽपीति मतम् । सममेतदस्माकमपीत्येतेनैतदनुपपत्त्याऽखण्डस्फो-
टाभ्युपगमः कैयटोक्तो न श्रद्धेयः ॥ ६५ ॥

इदानीमखण्डपक्षमाह—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ ६६ ॥

पदे पचतीत्यादौ न वर्णाः । तत्र दृष्टान्तव्याजेनाह । वर्णेष्विति । यथा न
वर्णेष्ववयवास्तथेत्यर्थः । इवेति पाठः सुगमः । एवं वाक्येऽप्याह । वाक्या-
दिति । अत्यन्तं विवेको नास्ति । अयं भावः । वाक्यं पदं चाखण्डमेव । अन-
न्तवर्णकल्पने मानाभावात् । ककारादिकं शृणोमीति प्रतीतिर्मानमिति चेन्न ।
तस्याखण्डपदार्थविपर्ययात् । तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभिमतवायुसंयोगविशेषा-
भिव्यक्ताखण्डपदार्थस्यैव कत्वादिना प्रतीत्युपपत्तेः । अथाखण्डपदार्थस्यैव व्यञ्ज-
कत्वेचित्वात् कत्वादिना प्रतीतौ ककार उत्पन्न इति न स्यात् । स्फोटस्योत्पत्त्य-
भावात् । व्यञ्जकनिष्ठया उत्पत्तेस्तन्मारोपाभ्युपगमे ज्ञानादीनामपि नित्यतापत्तिः ।
किं च घटादेरपि कपालसंयोगविशिष्टस्फोटरूपत्वापत्तिर्नित्यत्वापत्तिश्चेति चेन्न ।
सत्कार्यवादिना नित्यताया ज्ञानादिगताया इष्टत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । घटादिकं
चाविद्याकल्पितो मृद एवावस्थाविशेषः । आविश्रकजलाहरणादिकार्यानुरोधेन
स्वीकारावश्यकत्वात् । उत्पत्त्यादिप्रतीतिरपि वक्ष्यमाणीत्या नानुपपत्तेरिति । नन्वेवं
विलक्षणो वायुसंयोग एव तद्वेतोरिति न्यायाद्वाचकोऽपि स्यादिति चेन्न । प्रत्य-
क्षोपलभ्यमानककारादेरेव वाचकत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् । स्फोटस्य च शृणोमी-
त्यनुभवादावश्यकत्वात् । तस्माद्वायुसंयोगनिष्ठं तत्तद्वर्णजनकतावच्छेदकं वैजा-
त्यमादायैव ककार इत्यादिप्रत्ययस्तार इत्यादिवत् । स्पष्टं हि भामत्यां तारत्वाद-
ि वायुनिष्ठं वर्णेष्वारोप्यत इति देवताधिकरणेऽभिहितम् । अस्मिन् पक्षद्वये वर्णा-
अप्यनावश्या इति चोक्तं शब्दकौस्तुभे । तथा च प्रत्यक्षाद्वाचकत्वान्यथानुप-
पत्त्या तदेवेदं पदं तदेवेदं वाक्यमिति प्रतीत्या चाखण्डस्फोटः सिध्यतीति
ध्येयम् । यत्तु प्रथमाध्यायप्रथमचरणे उक्तमनुव्याख्यानं

‘शक्तिश्चैवान्विते स्वार्थे शब्दानामनुभूयते ।

अतोऽन्विताभिधायित्वं गौरवं कल्पनेऽन्यथा ॥’

इति । व्यवहारेणान्विते एव शक्तिरनुभूयते । पदानामिति त्यक्त्वा शब्दाना-
भित्युक्तिः प्रकृतिप्रत्यययोरप्यन्विताभिधानमिति बोधयितुम् । परमतं दूषयति ।
गौरवमिति । अन्यथाकल्पने वाक्यं वाक्यार्थबोधकमिति कल्पने गौरव-
मिति वाक्यमेवाखण्डं कल्पनीयम् । तस्यार्थप्रत्यायनशक्तिश्च कल्पनीयेति
गौरवमिति भाव इति जयतीर्थः । तत्तुच्छम् । अर्थप्रतीत्याद्यन्यथा-
नुपपत्त्या तस्यावश्यकल्प्यत्वात् । अन्वितशक्तेश्च स्फुटतरं प्राङ् निषि-
द्धत्वात् । किं च गौरवं तथैव विपरीतम् । अनन्तवर्णादेः कल्पनात् ।
यस्वन्नाह जयतीर्थो नार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धिः । तथाहि किमयं
स्वरूपतोऽर्थप्रत्यायकः प्रतीतो वा । नाद्यः । सर्वदार्थबोधापत्तेः । अन्ये किमन-
यानुपपत्त्या तत्प्रतीतिरुत प्रमाणान्तरेण । नाद्यः । अन्योन्याश्रयात् । प्रतीते
स्फोटोऽर्थप्रतीतिस्तथा च तत्कल्पनमिति । नान्यः । प्रमाणान्तराभावात् । एकं
पदमेकं वाक्यं शुणोमीति प्रत्यक्षेण तद्गृह इति चेन्न । विचार्यतां तर्हि
किमयं प्रत्ययो वर्णानवगाहते न वेति । आद्येऽस्तु तेषामेव वाचकता । आव-
श्यकत्वात् । अन्ये प्रतीतिबाध एवेति । तदशुद्धम् । एकं पदमित्यादेर्वर्णविषय-
स्यापि तत्रोक्तरीत्या मौनत्वोपपत्तेरिति । अत एव ध्वनिरुभयसिद्ध एव । तथा
च ध्वनिस्फोटयोर्मध्ये नित्यवर्णाङ्गीकारे गौरवात् । मानाभावाच्च । ध्वनीनामेव
गत्वादिमत्त्वं त एव च वर्णाः । एवं च सा वर्णावली तत्तदर्थविशेषेणागृहीत-
संबन्धा स्फोटतदेकत्वाद्यभिव्यञ्जिका । गृहीतसंबन्धा वा । नाद्यः । काव्यादि-
श्रवणे तत्तदर्थैरगृहीतसंबन्धस्यापीदमेकं पदमिदमेकं वाक्यमित्यादिस्फोटस्य
तत्संख्यायाश्च प्रतीत्यापत्तेः । न द्वितीयः । एवं 'हि स्फोटाभिव्यञ्जकत्वरूपमेकं
भर्ममादायैवैकं पदमित्युपपत्तेर्नानयोपपत्त्या तत्सिद्धिः । उक्तं च

‘यस्त्वेकप्रत्ययः सोऽपि बाधकेन वलीयसा ।

औपाधिकतया नीतस्तस्मात् स्फोटो न मानभाक् ’ ॥

इति । एवं वाचकत्वमपि तादृशस्यैव स्यादिति न साप्यनुपपत्तिः । नापि तदेवेदं
पदं तदेवेदं वाक्यमिति प्रतीत्या तत्सिद्धिः । तदेवेदं नखं त एते केशाः सोऽयं समुद्र
इतिवदुपपत्तेः । अतिरिक्तकेशादिकमनुभवानारूढमिति चेन्न । गौरित्यत्रापि

१ बोधयति T. २ T. drops प्रत्यायन. ३ प्रतीतो T. ४ 'मन्वयानुपपत्त्या T.
५ मानत्वेनोपपत्तेः D. ६ 'संबन्धो वा K. ७ T. drops हि. ८ स्फोटाभावेऽप्येकार्था-
भिव्यञ्जकत्वं K.

गकारौकारविसर्गातिरिक्तस्फोटानुभवस्य कस्याप्यभावात् । किं च । पर्यायशब्दे-
 ष्वेक एव स्फोटो नाना वा । नाद्यः । घटकलशादिपर्यायाभिव्यक्ते स्फोटे गृही-
 तशक्तिकस्य पुंसेऽप्रसिद्धपर्यायश्रवणेऽपि प्रागगृहीतशक्तिकस्यैव स्फोटस्य तेना-
 भिव्यक्त्यर्थप्रतीत्यापत्तेः । न च तत्पर्यायाभिव्यक्ते स्फोटे शक्तिग्रहस्तत्पर्यायश्र-
 वणेऽर्थधीहेतुरिति वाच्यम् । एवं हि प्रतिपर्यायं शक्तिग्रहावश्यभावे तत्तत्पर्या-
 यगतशक्तिग्रहहेतुताया एवोचितत्वात् । तथा सति शक्तिग्रहत्वेनैव हेतुत्वे लाघ-
 वाच्च । अन्यथा तत्पर्यायाभिव्यक्तगतशक्तिग्रहत्वेन तत्त्वेऽवच्छेदकगौरवात् । न
 द्वितीयः । अनन्तपदार्थानां तेषां शक्तिं चापेक्ष्य क्लृप्तवर्णेष्वेव शक्तिकल्पनस्य
 लघुत्वात् । तस्मात् स्फोटवादोऽयुक्त एवेति न्यायपरक्षामणिपरिमल्योर्निष्कर्षो-
 ऽप्यपास्तः । वर्णप्रत्यक्षस्यापि तत्र मानतायाः स्वीकारात् । पर्यायस्थलेऽप्येकैव
 शक्तिः परं त्वानुपूर्व्येवावच्छेदिका । वर्णानामपि तदतिरिक्तानामभावेनोक्त-
 बाधकाभावादित्युक्तम् । ये तु वर्णानां तदतिरिक्तध्वनीनां वा स्वीकारपक्षेऽपि
 स्फोटस्य वाचकत्वं समर्थयन्ते । वर्णातिरिक्तः स्फोट एव वाचकत्वान्यथानुप-
 पत्त्या कल्प्यते । न च वर्णा वाचका इति युक्तम् । अनभिव्यक्तानां वाचकत्वेऽ-
 तिप्रसङ्गादभिव्यक्तेश्चासंभवात् । प्रत्यक्षे विषयस्यापि हेतुत्वात् । न च स्मरणं
 संभवति । एवमपि वर्णानामतीतत्वेन कर्णत्वायोगात् । तज्ज्ञानं कर्णमिति
 पक्षेऽपि पदार्थस्मरणोपयोगिनस्तस्यासंभवात् । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कार-
 सहकारेण श्रोत्रेणैकदा स्मरणं युक्तम् । तदेकमनेकं वा । आद्ये क्रमाभानात् सरो रस
 इत्यादौ विशेषो न स्यात् । अन्ये ज्ञानयोगपद्यापत्तिः । एवमेकं पदमेकं वाक्यमिति
 प्रतीतिरपि तत्र मानम् । न चैकं वनमिति वत् सा । वनराश्यादेरप्यतिरिक्त-
 त्वात् । किं च तत्रैकदेशावच्छिन्नत्वोपाधेरैकत्वेन सोपाधिरेव प्रतीतिः स्यात् ।
 प्रकृते चोपाधेरसंभवेन तदसंभवात् । न चैकार्थबोधहेतुत्वं तथा । व्याससमास-
 योरपि प्रसङ्गात् । नाप्यविशिष्टैकार्थप्रत्ययजनकत्वम् । समासेष्वव्यासेः घटं
 इत्यत्र प्रकृत्यंशेऽतिव्यासेश्च । अस्मन्मते चोखण्डं बोधकमेकं स्फोटमादायैकत्व-
 प्रत्ययः तद्व्यञ्जकाश्च वर्णाः । तदस्वीकारे ध्वनयः । प्रतीतिवैलक्षण्यमपि ध्वनि-
 कृतम् । तदुक्तं वाक्यपदीये—

१ K. omits नाद्यः. २ शक्तिग्रहहेतुतायाः एवोचितत्वात् तत्पर्यायं T. ३ वर्णातिरिक्त-
 स्फोट एव T. ४ कल्पते Tr. ५ ननु वर्णा T. ६ उक्तं T. ७ कारणत्वां T. ८ कारणं
 T. ९ K. drops one पूर्व. १० रसत्वेन T. ११ अघट K. १२ चाखण्डवाचकमेकं T

‘यथा मणिकृपाणादौ रूपमेकमनेकधा ।

तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभिद्यते ॥’

इति । सादृश्यादिप्रतीतिरपि व्यञ्जकध्वनिनिबन्धनैव । आह चैवं कैयटोऽपी-
त्याहुः । स्यादयं प्रागुक्तस्तेषां दोषः । किं च तत्रैवार्थबोधानुपपत्तिः । वर्णानां
प्रत्येकं व्यञ्जकत्वं समुदितानां वा । नाद्यः । प्रत्येकात् स्फोटप्रतीतौ तावतैवार्थबो-
धापत्तेः । नान्त्यः । त्वदुक्तरीत्यैवासंभवात् । संभवे वा तद्वेतोरिति न्यायेनार्थ-
बोधस्यापि तत् एवोपपत्तेर्न वाचकत्वान्यथानुपपत्तिरपि । अथ त्वन्मतेऽप्येष
दोषः । तत्तद्गुणोत्पादकत्वाभिमतवायुसंयोगानां प्रत्येकमभिव्यञ्जकत्वं समु-
दितानां वेति विकल्पगणग्रासादिति चेदत्रोच्यते । प्रत्येकमेव संयोगा अभिव्य-
ञ्जकाः । परंतु केचन कत्वेन केचन हत्वेनेत्यनेकैः प्रकारैः । अत एव वर्णानां
तदतिरेकास्वीकारोऽप्युपपद्यते । तच्च वायुसंयोगादिनिष्ठमेव तत्रारोप्यते । एवं
चाप्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन ध्वत्वं टकारे गृह्यते । एतादृशपदज्ञानकारणताया-
मविवादात् । परं त्वव्यवहितोत्तरत्वं स्वज्ञानाधिकरणक्षणोत्पत्तिकज्ञानविषयत्वं
वाच्यम् । अत एव वज्ञानानन्तरज्ञानविषयत्वरूपानुपूर्वीज्ञानमित्यादिनैयायि-
कबुद्धानां व्यवहारः । एवं च न कश्चिद्दोषः । यत्तु श्रूयमाणशब्दे किमयं हाला-
हलशब्दः किं वा हलाहलः किमयं मरकतशब्दो मकरतशब्दो वा । किमयं
कुशशब्दः कुसशब्दो वेति संदेहे यथा तथास्तु विपरत्नदर्भवाचको भवत्येवे-
त्यादि निश्चिन्वतो बोधो न स्यात् । स्फोटाभिव्यक्तौ स्पष्टाभिव्यक्त्यापत्तेः । अन-
भिव्यक्तौ बोधकाभावादिति न्याय्यरक्षामणालुक्तम् । तच्चिन्त्यम् । वर्णसमूह-
रूपपदज्ञानं कारणमिति स्वीकर्तृणां दर्शनान्तराणामपि तुल्यत्वात् । तदर्थ-
ज्ञापकत्वज्ञानं च ममापि सममिति । यद्वा किञ्चित् किञ्चित् प्रत्येकमेव स्फोटा-
भिव्यक्तिर्जायते । अग्रे अग्रे विशेदा जायते । पूर्वं जातापि नार्थबोधोपयोगिनी ।
यथा रत्नतत्त्वस्यैकदा दर्शनेऽपि नाभिव्यक्तिर्वारंवारं दर्शने तु भवति ।
उक्तं च

‘सामस्येन तु तद्व्यक्तिः सर्वान्ते मणितत्त्ववत्’

इति । ननु भूतिवेत्यादावर्थबोधोपत्तिरिति चेत् तत्रापि वाचकसत्त्वादर्थबोधा-
पत्तिः । वर्णानुपूर्वीनियामकनियम्याभिव्यक्तेरर्थबोधोपपत्त्युक्तत्वात् । न च दृष्टान्तो

१ °कारणताया अविवादात् T. २ विषदा Tr., D₁. ३ नार्थोपयोगिनी D.

४ भवति चेत्यादा° T., भवति वेत्यादा° D₁.

विषमः । एतादृशजातिमानसुकशब्दवाच्य इत्यत्रैव दर्शनान्तराणामपेक्षणादिति वाच्यम् । प्रथमदर्शने जातेरवगमे एतादृशजातिमानसुकशब्दवाच्य इत्यस्यापि ग्रहणापत्तेः । अस्माकं पुनर्जात्यग्रहादेव विलम्बः । तथा च विजातीयप्रत्यक्षाज्जातिग्रहवद्विजातीयाभिव्यक्त्यर्थबोध इति । अथ प्रथमदर्शने एव जातिर्गृह्यते यदं पुनस्तज्जात्यवच्छिन्नवाचकं न स्मर्यत इति चेन्न । समापि स्फोटो व्यज्यते । अर्थस्मरणं पुनर्जायत इत्युपपत्तेः । पदतदर्थयोः शक्तिलक्षणसंबन्धस्य परस्परस्मारकत्वाविशेषात् । विजातीयाभिव्यक्तेः पदस्मारकत्ववद्विजातीयाभिव्यक्तेरर्थस्मारकत्वादिति दिक् । यत्तु वर्णानां व्यञ्जकत्वेऽप्येवमेवोपपत्तिरिति तत्तुच्छम् । एवं हि स्फोटासिद्धेरुक्तत्वात् । अत एव च वकारविशिष्टप्रकार एव व्यञ्जकः पूर्वपूर्ववर्णविशेषितोत्तरवर्णविषयकप्रत्यक्षाभ्युपगमात् । एतेन प्रथमादिवर्णैरविशदस्फोटाभिव्यक्तिर्नानुभवसिद्धेति निरस्तम् । समाध्यन्तरसत्त्वादिति न्यायरक्षामणिस्थः स्फोटवादमङ्गीकृत्य समाधिः प्रत्युक्तः । ग्रन्थकृतस्त्वाहुः । वर्णमालायां पदमिति प्रतीतेर्वर्णातिरिक्त एव स्फोटः । अन्यथा कपालातिरिक्तघटान्सिद्धिर्ग्रसङ्गश्चेति दिगिति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ ६६ ॥

नन्वेवं शास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गः पदवाक्ययोरखण्डत्वात् । शास्त्रस्य च प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां पदव्युत्पादनमात्रार्थत्वादित्याशङ्कां समाधत्ते—

पञ्चकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता ।

उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः ॥ ६७ ॥

उपेयप्रतिपत्त्यर्था इत्यन्तेनान्वयः । तथाहि । भृगुवार्कणिवरुणं पितरं ब्रह्म पृष्टवान् । स उवाच । अन्नमिति । पुनरस्योत्पत्त्यादिकं समीक्ष्य पृष्टवान् । पुनः प्राणो ब्रह्मेति । तस्यापि तथात्वं बुद्ध्वा पृष्टवान् । ततो मन इति । तस्याप्यशितमन्नं त्रेधा भवति यत् स्थूलं तत्पुरीषं यन्मध्यमं तन्मांसं यदणीयस्तन्मन इति श्रुतावुत्पत्तिश्रवणात् पृष्टवान् । ततो विज्ञानमय इति । तस्यापि वृत्त्युपहितत्वेन तथात्वं बुद्ध्वा पृष्टवान् । तत आनन्दो ब्रह्मेति । पुनर्वस्तुतत्त्वं प्राप्य स्थित इति तु केचिद्व्याचक्षते । तन्न । पञ्चमस्य तत्रानुपायत्वात् । अकोशत्वाच्च । तस्य ब्रह्मत्वात् । तस्मान्न भृगुबल्लीहोदाहर्तव्या । किं त्वानन्दबल्ली । तत्रत्या हि पञ्चापि कोशा उपाया एव । तत्र हि ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र श्रूयमाणमेव ब्रह्मपदं मुख्यब्रह्मसमर्पकम् । अतः

एवाधारस्वार्थकः पुच्छशब्दोऽप्युपपद्यते। लाङ्गुलासंभवेन मुख्यार्थस्य बाधितत्वात्।
 कथं तर्हि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति वैयासिकसूत्रमिति चेदानन्दमयशब्दस्य
 तद्वाक्यशेषे श्रूयमाणब्रह्मपदे तात्पर्यादित्यादि शङ्करभगवत्पादप्रभृतिभिः प्रपञ्चि-
 तम्। एवं च यथा पञ्चकोशा अपि सर्वाधारब्रह्मबोधनायैवोक्तान तु वास्तवमेवां
 ब्रह्मत्वं तथैव प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्विचारोऽप्यखण्डस्फोटबोधनोपाय इति भावः।
 ननु प्रत्यक्षस्य स्फोटस्य श्रवणादितोऽपि बोधसंभवान्न शास्त्रं तदुपाय इति चेत्त-
 न्नाह। उपाया इति। उपायस्योपायान्तरादृषकत्वादिति भावः। अत एव केचित्
 सुप्रत्ययं केचित् सिप्रत्ययं केचित् रुप्रत्ययं च विदधति तदेतदभिप्रेत्याह
 वाक्यपदीये—

‘उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥’

इति। अत्र वदन्ति। नैतच्छास्त्रं स्फोटज्ञानार्थं पञ्चकोशवदुपायः शास्त्रज्ञानं
 विनापि गामानयेति वाक्यमात्रव्युत्पन्नस्य पामरादेरपि शाब्दबोधात्। तस्य
 स्फोटज्ञानं विना बोधानुपपत्तेस्तज्ज्ञानं च शास्त्रमन्तरेणेति व्यभिचारात्।
 शास्त्रस्योपायान्तरत्वे च शास्त्रजन्यस्फोटज्ञाने नृणजन्यतावच्छेदकमिव वह्नौ
 वैजात्यं वाच्यं तच्च न प्रमाणाभावात्। किं च प्रकृतिप्रत्ययादेः काल्पनिकत्वेन
 शशविषाणकल्पतया तेन न स्फोटात्मकवस्तुज्ञानसंभवः। पञ्चकोशादेश्च सदस-
 द्विलक्षणताया अद्वैतशास्त्रे व्युत्पादितत्वादिति। अत्रोच्यते। भाषासंस्कृतसाधा-
 रणः स्फोट एव वाचकस्तज्ज्ञानं च श्रोत्रप्रत्यक्षादिरूपमपीति सत्यम्। किं तु
 वर्णवत् प्रकृतिप्रत्ययापन्नोऽपि स एव। परंतु प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्व्युत्पादनपूर्वकं
 तज्ज्ञानं तत्पूर्वप्रयोगद्वारा शारीरशुद्धिहेतुर्यज्ञादिरिवान्तःकरणस्य। तथा च

‘तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।

पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥’

इति।

‘इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्वा राजपद्धतिः ॥

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ॥’

१ वैयासिकं सूत्रमिति Tr. २ न शास्त्रमन्तरेणेति T. ३ एवं च K., T. ४ मलानां D.
 ५ मजिह्वा K, T.

इति च वाक्यपदीयं संगच्छते । एवं च विजातीयज्ञान एव शास्त्रस्योपयोगः
इति न तृणादिवद्वयभिचारः । यत्तु अलीका प्रकृतिप्रत्ययकल्पनेति तन्न । पञ्चको-
शादिवदस्यापि सदसद्विलक्षणाया एव दिक्प्रदर्शनमात्रेणोपपादयिष्यमाणत्वा-
दिति दिक् । एवं रेखागवयन्यायेनापि शास्त्रमुपाय इत्यप्याहुः ॥ ६७ ॥

ननु वर्णानां स्फोटात्मकत्वे कत्वगत्वादिकं तन्निष्ठं व्यञ्जकवायुनिष्ठं वा ।
नाद्यः । तस्य नित्यत्वेन ककार उत्पन्न इति न स्यात् । अनित्यत्वेऽनुगतः क-
कार इति प्रत्ययो न स्यात् । कत्वस्य ककाररूपनाममात्रत्वापत्तेश्च । अन्त्ये
अमत्वं कादिप्रतीतीनां स्यादित्यत आह—

कल्पितानामुपाधित्वं स्वीकृतं हि परैरपि ।

स्वरदैर्घ्याद्यपि ह्यन्ये वर्णेभ्योऽन्यस्य मन्वते ॥ ६८ ॥

कुत्र स्वीकारस्तदाह । स्वरेत्यादि । उदात्तत्वादिकं ध्वनिनिष्ठमिति स्वीकारा-
दिति भावः । एवं दीर्घत्वादिकमपि । आदिना ह्रस्वत्वादिकमपि गृह्यते ।
अयं तेषामभिप्रायः । गकारादयो वर्णास्तावदेकैका एव । प्रहरात् पूर्वमैनुभूय-
मानस्य सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञानात् । न च गत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदा-
भावस्तद्विषयः । व्यक्त्यतिरिक्तगत्वानङ्गीकारात् । अयं गकार इति चेदं रूप-
मिति वदुपपद्यते । न च गत्ववानाकार इत्यनयोरविशेषापत्तिः सहप्रयोगश्च न
स्यादिति शङ्क्यम् । प्रतीतौ गत्वत्वस्यापि भानाविशेषसंभवात् । सहप्रयोग-
स्यापि घटत्ववान् घट इति वदुपपत्तेः । भिन्नेषु घटादिषु घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगि-
ताकभेदाभावसत्त्वात् । सोऽयमिति प्रतीत्यापत्त्या व्यक्त्यभेदस्यैव तत्र विषयत्वा-
वश्यकत्वाच्च । प्रत्यभिज्ञाया व्यक्तिविषयत्वे बाधकाभावाच्च । न च गकार उत्पन्न
इति प्रतीतिरेव बाधिका । तस्याः व्यञ्जकध्वनिनिष्ठोत्पत्त्यादेः परम्परासंबन्धेन
वर्णनिष्ठत्वविषयत्वेनाप्युपपत्तेरतिरिक्तवर्णासाधकत्वात् । परम्परया वर्णनिष्ठत्वा-
भ्युपगमाच्च न अमत्वम् । साक्षात् संबन्धांशे अम इत्यवशिष्यते । तदपि सोऽयमि-
त्यत्र व्यक्त्यभेदांशे तव अमत्ववत् तुल्यम् । परं तु ममातिरिक्तवर्णतत्प्रागभावध्वंस-
कल्पनागौरवापत्तिर्नैति लाघवमतिरिच्यते । तव तु तत् स्यादिति महदनिष्टम् । किं
च प्रागसत्त्वे सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेर्न वर्णेषु ग्रहणमैनुभविकम् । अत एव वर्णमु-

१ स्वीकृतं तत आह T. २ अयमेषामभिप्रायः T. ३ मनुभूयमानादनुभूयमानस्य
Tr., T. ४ गत्वस्यापि T. ५ मानुभाविकम् T.

चारयतीति प्रत्ययो न तूत्पादयतीति प्रत्ययो व्यवहारश्च । उच्चारितत्वं च तालवो-
 षसंयोगादिजन्याभिव्यक्तिविशिष्टत्वम् । तस्य चेदानींतनता सूत्रपादा । तथा
 च प्रागनुभूतेनेदानीन्तनानुभूतस्याभेदसिद्धौ तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्ना-
 शयिष्यतीति न्यायेन नित्यतैव । नन्वेवं स्त्रीप्रभवोऽयं शुक्रप्रभवोऽयमिति प्रती-
 तिस्तच्छ्रवणात् स्त्रीशुक्राद्यनुमानं च न स्यात् । न च वैजात्यं वायुनिष्ठम् । तद-
 ग्रहेऽपि वैजात्यबोधात् । नापि ध्वनिनिष्ठम् । तत्र तस्मिन् मानाभावात् । तदु-
 त्पादकशङ्काद्यभावाच्च । किं च सेयं गुर्जरी सेयं दीपकलिका इत्यादावपि नाशो न
 स्यादिति चेन्न । स्त्रीशुक्रादिजन्यतावच्छेदकं तालवोषसंयोगे तदभिघातजवायौ
 वा विद्यमानं वैजात्यं वर्णेष्वारोप्यत इत्यभ्युपगमात् । अत एव तारत्वादिरूप-
 विरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति निरस्तम् । न च वायवग्रहे तस्मिन्निष्ठजात्याद्यग्रहः । येन
 यस्य धर्मो गृह्यते तेन तदपीति नियमादिति वाच्यम् । बहिरिन्द्रियेषु व्यभिचा-
 रेण नियमाभावात् । चक्षुषः प्रभायाः स्पर्शनस्य वायोः रूपस्पर्शमात्रस्य रसना-
 देश्च रसादिमात्रस्य ग्राहकताया नैयायिकैः स्वीकारात् । अस्तु वा स्त्रीशुक्रादि-
 व्यङ्ग्यस्तारत्वादिश्च वर्णनिष्ठो जातिविशेषः । न च तेषां कश्चिद्विरोधः । योऽयं
 रामेणोक्तः स एवेदानीं कृष्णेनोच्यत इति । योऽयं तारो मया श्रुतः स एवेदानीं
 मैन्द्र इति च प्रतीतेः । गुर्जरीदीपादिस्थलेऽपि मानान्तरेण नाशसिद्धौ सोऽय-
 मित्यस्य भ्रमत्वमन्यथा तत्रापीष्ट एव नाशाद्यभावः । न चैवं वायुतालवोषसंयो-
 गादेर्गत्वं कार्यतावच्छेदकमपेक्ष्य तत्प्रत्यक्षत्वं त्वया वाच्यम् । तथा च गौरवमिति
 वाच्यम् । प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नविषयितया गत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकत्वात् । नन्वेवं
 घटोऽपि नित्य एव कपालसंयोगादिकं व्यञ्जकं भविष्यतीति चेन्न । प्रागसत्त्वे
 सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेस्तत्र गृहीताया विना बाधकं त्यागायोगात् । अत्र तद-
 ग्रहविपरीतग्रहयोः सत्त्वेन तदयोगात् । सत्कार्यवादाभ्युपगमे त्विष्टापत्तेश्च । न
 च गकारादेर्विना व्यञ्जकमननुभवेऽन्वकारस्थघटवत् संदेहापत्तिः । दोषाद्यभा-
 वादुपपत्तेः । अन्यथोत्पन्नत्वादिसंदेहोऽपि किं न स्यात् । एवं च वीचीतरङ्गा-
 दिन्यायेनानेकवर्णकल्पनायां गौरवमपास्तम् । तस्मान्नित्या एव वर्णाः । तस्माद्यथा
 गकारादिप्रतीतिस्तथा स्फोटप्रतीतिरपि गत्वादिरूपेणोपपन्नेति नोक्तशङ्केति
 भाव इति सुधीभिर्ध्येयम् ॥ ६८ ॥

इति व्यक्तिस्फोटनिरूपणम् ।

घोषदेवोक्तयुक्त्या जातिस्फोटमाह—

शक्यत्व इव शक्तत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम् ।

औपाधिको वा भेदोऽस्तु वर्णानां तारमन्दवत् ॥ ६९ ॥

अयमभिप्रायः । गकारादिव्यक्तयस्तावदवस्थाभ्युपेतव्याः । न चोक्ता रीतिः साध्वी । तथा सति सोऽयं गकार इतिवद् यो मया हकारः श्रुतः सोऽयं गकार इत्यापत्तिः । एकस्यैवाखण्डपदार्थस्य सकलवर्णरूपत्वात् । गकारोऽयं न गकार इत्यनापत्तेश्च । किं च गत्वाद्यतिरिक्तमभ्युपेयं न वा । आद्ये तदेव गकारोऽस्तु वर्णातिरिक्तगत्वाभावस्य वर्णनित्यतावादे शङ्करभगवत्पादप्रभृतिभिः सिद्धान्तितत्वात् । तथा चातिरिक्तस्फोटकल्पन एव गौरवम् । वर्णानामेव वाचकत्वोपपत्तौ तत्र मानाभावश्च । अन्ये गकारादिप्रतीतिविरोधः । वायुसंयोगादिवृत्तिवैजात्यमेव तत्तद्रूपेण प्रतीयत इति चेन्न । प्रतीतेर्विना बाधकं भ्रमत्वायोगात् । अस्तु वा वायुसंयोग एव गकारोऽपि तस्यातीन्द्रियत्वं दोष इति चेन्न । तद्गतधर्मवदेवोपपत्तेरिति गतमतिरिक्तस्फोटकल्पनया । तस्मात् सन्त्येव वर्णाः । तथा च यथा शक्त्या जातिरेव तथा शक्तापि । अन्यथा बहूनां वर्णानां वाचकत्वे गौरवं स्याद् बलवद्बाधकवशात् प्रत्येकं वाचकत्वस्य चास्वीकारात् । इदं घटपदमिति प्रतीत्या घटपदज्ञानत्वेन कारणत्वे कारणतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया च जातिविशेषस्यावश्यकत्वात् । न च वर्णानुपूर्व्येव प्रतीतिकारणत्वयोर्निर्वाहः । घटत्वादेरपि संयोगविशेषविशिष्टमृदैवान्यथासिद्ध्यापत्तेः । तस्मात् सा जातिरेव शक्ता तादात्म्येन तदवच्छेदिका चेति । ननु सरो रस इत्यादौ जात्योः सत्त्वाविशेषादर्थबोधभेदो न स्यादित्यत आह । औपाधिको वेति । वा त्वर्थे । उपाधिरानुपूर्वी भेदः कारणीभूतज्ञानस्य । उपाधिप्रयुक्तज्ञानवैलक्षण्ये दृष्टान्तमाह । वर्णानामित्यादिना । आनुपूर्वीविशेष एव जातिविशेषाभिव्यञ्जक आकारविशेष इव घटत्वादेस्तथा च नोक्तदोष इति भावः ॥ ६९ ॥

ननु जातेः प्रत्येकवर्णेऽपि सत्त्वात् प्रत्येकादर्थबोधापत्तिस्तुल्यैवेति प्रत्येकं वर्णा एव वाचकाः किं न स्युरत आह—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ।

कैश्चिद् व्यक्तय एवास्याः ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ॥७०॥

अयं भावः । त्रिविधजातिस्फोटेषु वर्णपक्षे यद्यप्ययं दोषस्तथापि पदवाक्यपक्षे नायम् । वर्णेषु तस्या व्यासज्यवृत्तित्वात् । तत्रापि पूर्ववत् पदार्थवाक्यार्थ-
योर्वाक्यपदस्फोटौ वाचकत्वेन स्वीक्रियेते । तथा चानेकाभिर्व्यक्तिभिर्वर्णव्यक्ति-
भिरभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता योगार्थतया । एतेन स्फोटस्य सदात-
मत्वात् सर्वदार्थबोधापत्तिरित्यपास्तम् । कैश्चिद् व्यक्तय एव ध्वनय इत्यभ्युपेयत
इति समुदायार्थः । उक्तं हि काव्यप्रकाशे । ‘बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोट-
व्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः’ इति ॥ ७० ॥

ननु का सा जातिस्तत्राह—

सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।

सत्यं यत् तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः ॥ ७१ ॥

प्रतिभावं प्रतिपदार्थम् । एतच्च

‘संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥’

इति वाक्यपदीये । नित्यं द्रव्यमिति प्रतीकमादायासत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं
द्रव्यशब्दवाच्यमित्यर्थः । ब्रह्मराशिरित्यादाय ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दस्वरूपतया
भातीति कैयटे च स्पष्टम् । एवं वाच्यं वाचकं च ब्रह्मैवेति भावः ॥ ७१ ॥

ननु प्रकृता जातिरेव नास्ति पदं पदमित्याद्यनुगतबुद्धेर्वर्णानुपूर्वैर्बोपपत्ते-
स्तस्या अपि नानात्वे तु परम्परया वर्णस्तजातिर्वा नियामिकास्तु । न च वटा-
द्यपि न सिध्येदिति शङ्क्यम् । इष्टापत्तेः । मृद एवावस्थाविशेषरूपत्वात् तस्य ।
अत एव ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति श्रूयते । व्युत्पादितं
घेतत् ‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः’ ‘पटवच्च’ इत्यादिना ऋषिपुङ्गवेन भगवता
व्यासेन । अत एवाकृतिरित्यादाय “‘ब्रह्मदर्शने च’ ‘गोत्वादिजातेरप्यसत्त्वाद-
नित्यत्वम्’ । ‘आत्मैवेदं सर्वम्’ इति श्रुतिवचनात्” इति कैयटः ।

‘शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैर्बोपवर्ण्यते ।

समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम् ॥’

इति वाक्यपदीयेऽपि । तदेतन्मनसि निधायाह—

इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।

ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥ ७२ ॥

‘नामरूपे व्याकरवाणि’ इति श्रुतिप्रसिद्धाद्वयी सृष्टिः । तत्र रूपस्येव नाम्नोऽपि तदेव तत्त्वम् । जन्ममरणादिकं तद्वत् प्रपञ्चश्च तत्राविद्याकल्पित इति वेदान्त-
तत्त्वमस्माकमपीष्टमेव । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘अजन्मनि तथा नित्ये पौर्वापर्यविवर्जिते ।

तत्त्वे जन्मादिरूपत्वं विरुद्धमुपलभ्यते ॥’

इति । तस्मादविद्यादशायामुत्तरीत्या जातिरेव स्फोटः । निष्कर्षे तु ब्रह्मैव स्फोट इति भावः । परं त्वविद्यादशायामपि वर्णानां वाचकत्वमभ्युपेत्य स्फोटखण्डन-
मयुक्तमिति ध्येयम् । ब्रह्मैवेत्यनेन ‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः’ ‘तमेव भान्तमनु-
भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ इति श्रुतिसिद्धं स्वपरप्रकाशत्वं सूचयन्
स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट इति यौगिकं स्फोटशब्दाभिधेयत्वं सूचयतीति
सिद्धम् ॥ ७२ ॥

विद्याधीशवर्देरुसंज्ञकर्येति श्रीमाध्वभट्टारकं

जित्वा केलदिवेङ्कटय्यसविधेऽप्यान्दोलिकां प्राप्तवान् ।

यश्चक्रे मुनिवर्यसूत्रविवृतिं सिद्धान्तभङ्गं तथा

माध्वानां तमहं गुरुपमगुरुं रङ्गोजिभट्टं भजे ॥ १ ॥

पाणिनीयवचसां खलु मूलं

चन्द्रशेखरभवानिनिरुद्धम् ।

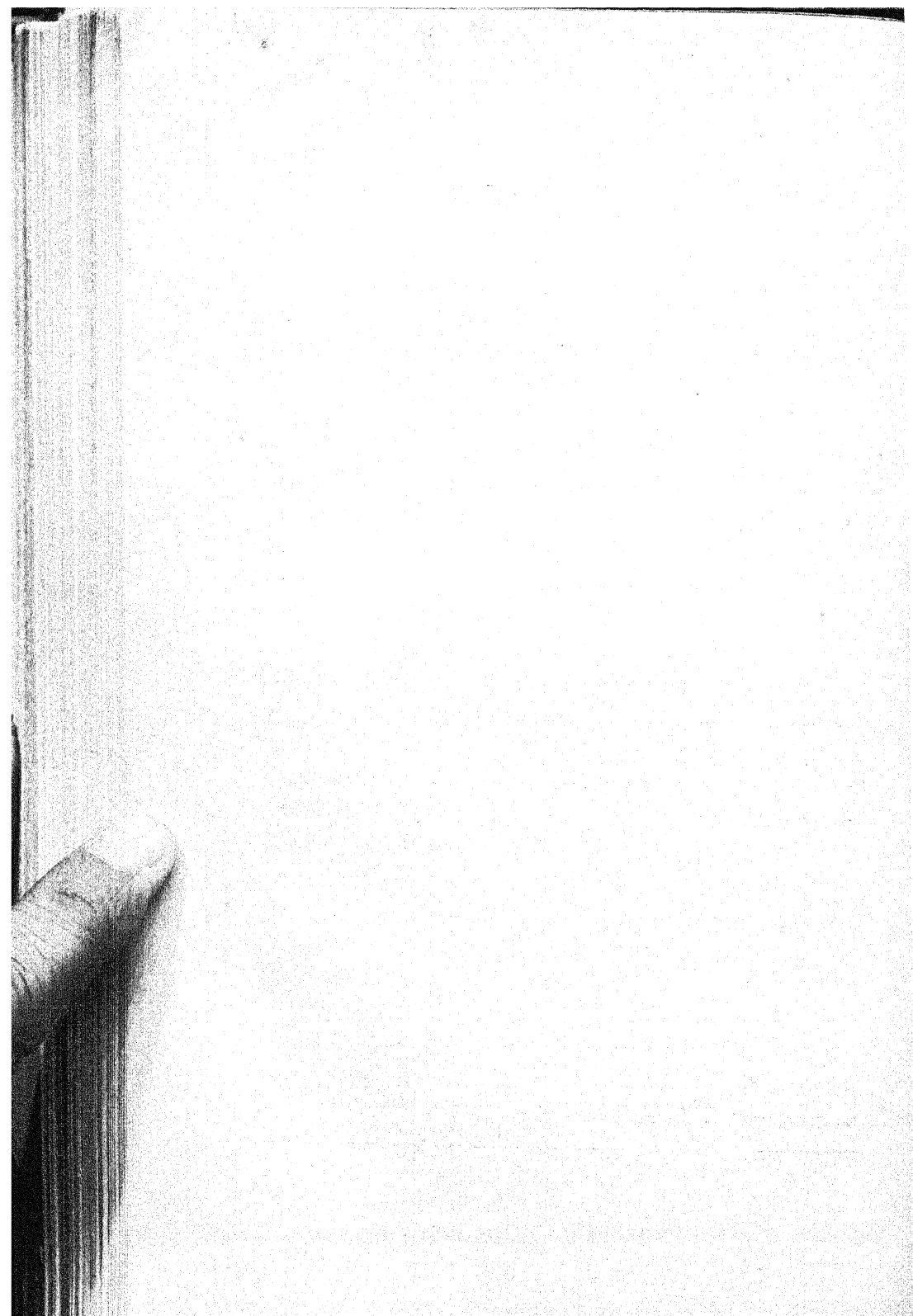
तेन भूषणमिदं हि तवैव

प्रीतये भवतु साम्बशिवस्य ॥ २ ॥

इति ‘श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपरारवारपारीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते

वैयाकरणभूषणे चरमः स्फोटः समाप्तः ॥’^१

१ °वरेण्यसंज्ञक° T. २ °पतिः T.; मति श्रीमाध्व° K. ३ °भाट्टारकं T. ४ °केवलवेङ्कट° K.;
केलदिवेङ्कट° K. ५ श्रीपदवाक्य° T. ६ °पारावारीण° K., D., D. ७ °धुरीण° K.
८ °रङ्गोजी T. ९ °कोण्डभट्ट° T.; कौण्डभट्ट° D.; कुण्डभट्ट° D. १० °कृतवैया° T.
११ चरमस्फोटवादः T.; चरमः स्फोटवादः Tr. १२ संपूर्णः T. १३ After this T.
has समाप्तश्चायं ग्रन्थः.



अथ कोण्डभट्टविरचितवैयाकरणभूषणसारः

काशिकाख्यव्याख्योपेतः ।

श्रीलक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम् ।

स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद्विवर्तते ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः । कालभैरववनशंकराभ्यां नमः ।

बन्दे गणपतिचरणौ विष्णुध्वान्तालिवारणौ द्योतौ ।

बन्द्यौ सुरगणसङ्घैः सर्वाभीष्टफलदातारौ ॥ १ ॥

भैरवं शंकरां नत्वा सिद्धेशां लोकमातरम् ।

व्याख्यां भूषणसारस्य काशिकां तनुते हरिः ॥ २ ॥

मुनित्रयं सर्वजनोपकारकं

प्रणौमि विशार्णवपात्रभूतान् ।

गुरुंश्च तातं विदुधेन्द्रवन्द्यं

यशःप्रकाशं जननीं च देवीम् ॥ ३ ॥

प्रारिप्सितग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्तये कृतं तावत् सकलजगत्कर्तृभूतश्रीलक्ष्मीरमणस्तुत्या-
त्मकं महत्त्वं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति । श्रीलक्ष्मीरमणमिति । श्रीलोकेशोत्तरशोभा
तद्युक्ता या महालक्ष्मीनिखिलप्रकृतिस्तस्या रमणं दधितं विष्णुं नौमि स्तौमीत्यर्थः । यद्वा
श्रीः पूर्वोक्ता नित्यत्वादिधर्मोपेता विलक्षणा बुद्धिर्वा तद्युक्तो लक्ष्मीरमण इत्यर्थः ।
अथवा श्रीः सरस्वती सा च लक्ष्मीश्च तयो रमण इत्यर्थः । ‘श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ’
इति श्रुतेः । तत्र श्रीशब्देन सरस्वती न तु लक्ष्मीः । लक्ष्मीशब्दस्य पृथुगुपादानात् ।
‘पत्न्यौ’ इति द्विवचनासंगत्यापत्तेरिति स्पष्टमेव । ननु ‘कुर्याद्भरिहरार्चनम्’ इति वचनाद्
‘यथा विष्णुस्तथा शिवः ।’

‘शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ।

विष्णुरुद्रान्तरं यच्च यो ब्रूते मूढधीस्तु सः ॥

गौरवादिषु घोरेषु नरकेषु पतत्यधः ॥’

इत्यादिवचनेभ्यश्चामेदेनैवोपासनाया विहितत्वाद्विपरीतायाश्च निषेधात् केवलविष्णु-
स्तुतिकरणे पार्थक्येन शिवविष्णुस्तुत्याचरणे च भेदभावना प्रतीयतेति तदनुत्पत्तये
लक्ष्मीरमणविशेषणमाह । गौरीति । गौरी पार्वती सा च कालिका

अशेषफलदातारं भवाब्धितरणे तरिम् ।
शेषाशेषार्थलाभार्थं प्रार्थये शेषभूषणम् ॥ २ ॥

‘तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती ।
कालिकेति समाख्याता’

इति मार्कण्डेयपुराणात् । ‘उमा कात्यायनी गौरी काली’ इति कोशाच्च । इत्थं च महाकात्यादित्रयस्यापि स्तुतिः कृता भवति । तस्या रमणः शिवस्तस्य रूपं तदस्यास्तीत्यर्थः । गौरीरमणेन रूपयति तदभिन्नतया गृह्णातीति वार्थः । कर्मकर्तरि णिनिः । गौरीरमणं स्वाभिन्नतया रूपयति ग्राहयतीत्यर्थः । पूर्वपक्षे तद्वित इनिः । उत्तरपक्षे ‘सुग्यजातौ—’ इति णिनिः । स कः । एतद् दृश्यमानं सर्वं जगत् यतः यस्य । अह्यादित्वात्तसिः । विवर्तते विषयसत्ताकं भवति । अतात्त्विकान्यथाभावाश्रयो भवतीत्यर्थः । तदुक्तम् । ‘तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामोऽतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः’ इति । अन्यथाभावश्च भ्रम एव । तदाश्रयत्वं तु विषयो जगदिति बोध्यम् । एतेन जगतो विवर्ताधिष्ठानत्वरूपं सर्वजगदुपादानकारणत्वमुक्तम् । तेन सर्वोत्कृष्टतया स्तुत्यत्वमावेदितम् । तदुपादानत्वं च ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्यमिसंविशन्ति’ इत्यादिश्रुतिसिद्धम् । एतच्छ्रुतिसिद्धे जगत्स्थितिलयकर्तृत्वेऽपि बोध्ये जगतो विशेषणं स्फोटः । स च सिद्धान्ते ब्रह्मस्वरूप इति स्पष्टं हर्षादिग्रन्थे । तद्रूपं तदभिन्नमित्यर्थः । ‘सर्वं खलु इदं ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतिसिद्धो ब्रह्माभेदः । लक्ष्मीरमणविशेषणं चैतत् । स्फोटस्य वैयाकरणोपास्यत्वेन समुचितदेवतास्तुतिसंपत्त्यर्थं तदुपादानम् ॥ १ ॥

पाणिन्यादिमुनित्रयमध्ये इदानीमतिप्रामाणिकत्वोत्कृष्टत्वादिनाभिमतो यः शेषस्तदिष्टदेवसंकीर्तनात्मकं मङ्गलं निबध्नाति । अशेषफलेति । शेषाशेषार्थलाभाय शेषस्य शेषनागस्य महाभाष्यकृतोऽशेषाः कृत्स्ना वाच्यादयः स्फुटा अस्फुटाश्च येऽर्था महाभाष्यस्यास्तेषां लाभाय ज्ञानाय । शेषभूषणं शेषो भूषणमलंकारत्वेन पर्यङ्कत्वेन भूषणं यस्य तं शिवं शेषशायिनं विष्णुं च प्रार्थय इति संबन्धः । ननु शेषार्थलाभः शेषादेव संभवति न तु शिवादेः । न हि देवदत्तीयार्थलाभो मित्रदत्तादेः । अतः शेष एव प्रार्थनीयो न तु शिवादिरित्याशङ्क्य निराचिकीर्षुस्तद्विशेषणमाह । अशेषफलेति । अशेषाण्यैहिकामुष्मिकाण्यपवर्णपर्यन्तानि फलानि तत्तत्कर्मफलानि तेषां दाता इति तृन्नन्तेन शेषषष्ठ्यन्तस्य समासः । यद्वा तृजन्तेन शेषषष्ठ्यन्तेन तस्य समासः । एतेन तृजन्तत्वे ‘तृजकाभ्याम्—’ इतिसमासप्रतिषेधापत्तिस्तृजन्तत्वे ‘न लोक—’ इति षष्ठीनिषेधापत्तिरिति दषणं प्रत्युक्तम् । कारकषष्ठ्या एव ‘न लोक—’ इति निषेधात् । तस्या एव समासनिषेधाच्च । फलदातृत्वं चेश्वरस्य ‘यादृगिव वै देवेभ्यः करोति तादृगिवासै देवाः कुर्वन्ति’

‘यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाचिंतुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥’

इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धम् । ‘वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति’ इति व्याससूत्रे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादस्थे तृतीयस्य द्वितीयपादस्यान्ते ‘पूर्वं तु वाद-
रायणो हेतुव्यपदेशात्’ इति व्याससूत्रे च भगवच्छङ्कराचार्यैः शारीरभाष्ये निपुण-
तरमुपपादितम् । तत्तज्जीवगतधर्माधर्मसापेक्षस्येश्वरस्यैव फलदातृत्वं न केवलकर्मणः । तत्र हि प्रथमे यथा पर्जन्यो ब्रीहियवादिष्ट्यै साधारणं कारणं ब्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्वी-
जगतानि सामर्थ्यानि शक्त्यपरपर्यायाणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरो देवादिष्ट्यै साधारणं
कारणं भवति । देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतादृष्टानि विलक्षणानि कारणानि भवन्ति ।
एवमीश्वरः कर्मसापेक्षत्वाद्वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां न दुष्यति यथा सेवानुरूपफलदाता राजा ।
कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमव्यमोत्तमसंसारं निर्मिमीत इति । ‘एष ह्येव साधु
कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमघो
निनीषते’ ‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन’ इति च । स्मृतिरपि ।

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।’

इत्यादि । अभिहितं तृतीये तु ‘धर्मं जैमिनिरत एव’ इति जैमिनिसूत्रमतं धर्मादेव
फलमिति पक्षः ‘तु’ शब्देन व्यावर्त्यते । तथा च कर्मसापेक्षादपूर्वसापेक्षाद्वेश्वरादेव फल-
मिति सिद्धान्तः । कुतः । ‘हेतुव्यपदेशात्’ । धर्माधर्मयोरपि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यप-
दिश्यते फलस्य दातृत्वेनेत्यभिधायैष ब्रह्मैवेति पूर्वोक्तश्रुतिः प्रदर्शितेत्याद्यन्यत्र विस्तरः ।
ननु प्रतिबन्धकानेकदुरितसत्त्वे कथं शेषाशेषफललाभः सत्येकस्मिन्नपि बाधके साधक-
सहस्रस्याप्यकिंचित्करत्वादित्याशङ्कामपनेतुं विशिनष्टि । भवबाध्नीति । भवः संसारः स
एवाब्धिरिति मयूरव्यंसादिवात् समासः । तरण्यामानुगुण्यात् । यद्वा भवोऽब्धिरिवेत्यु-
पमितसमासः । नाशरूपस्य तरणस्य तत्राप्यन्वयसंभवात् । ‘भाष्यादिवः क्वातिगम्भीरः’
इत्यत्रैव प्रकृते साधारणधर्मवाचकोपादानरूपबाधकाभावाच्च । भवान्येस्तरणं तत्र तरिनीका
साधनमिति यावत् । ‘तरति शोकमात्मवित्’ इति श्रुतेः । ‘स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः’
इत्यमरः । तथा चानन्यसाध्यानेकदुःखसमूहसंसारनिवर्तकत्वे प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिः
सुतरां ततो भविष्यति कैमुतिकन्यायादिति भावः । शेषालंकारत्वेन तन्मित्रयोजकत्वं तेन
तद्विशिष्टप्रार्थनयावश्यं शेषोक्ताशेषार्थलाभः । विघ्नेशजनकत्वेन विघ्नप्रचयनिवृत्तिरप्या-

वाग्देवी यस्य जिह्वाग्रे नरीनर्ति सदा मुदा ।
भट्टोजिदीक्षितमहं पितृव्यं नौमि सिद्धये ॥ ३ ॥

पाणिन्यादिमुनीन् प्रणम्य पितरं रङ्गोजिभट्टाभिधं
द्वैतध्वान्तनिवारणादिफलिकां पुंभाववाग्देवताम् ।
द्विण्डं गौतमजैमिनीयवचनव्याख्यातृभिर्दूषितान्
सिद्धान्तावुपपत्तिभिः प्रकटये तेषां वचो हृषये ॥ ४ ॥

वश्यकृति सूचितम् । एतेन विघ्ननिवारणसंपत्तये 'आदौ पूज्यो गणाधिपः' इत्यादि-
वाक्यानि च पादादौ गणेशप्रार्थनैवोचितेति तद्दूषणं निरस्तम् ॥ २ ॥

निखिलपण्डितमान्यं स्वगुरुभूतं पितृव्यं तत्कीर्त्यनुव्रत्तये तन्नामनि दैवतं स्तौति ।
वाग्देवीति । सिद्धये प्रारिप्सितग्रन्थसमाप्तये तत्प्रचाराय च । नरीनर्ति पुनः पुनरतिश-
येन वा नृत्यं करोति । वाग्देव्या जिह्वाग्रे नृत्यं च झटित्यनवरतं धारारूपेण प्रकाशरूपम् ।
एतेन लोकोत्तरं पाण्डित्यं वक्तृत्वं चावेदितम् । नृती गात्रविक्षेप इत्यतो धातोर्यङ्लुगन्ताल्लट् ।
शपो लुक् । 'चर्करीतं च' इति यङ्लुगन्तस्यादादौ पाठात् । 'रीगृदुपधस्य च' इत्य-
भ्यासस्य रीगागमः । छान्दसोऽपि यङ्लुक् 'हु'नुवोः सार्वधातुके' इति सूत्रे
हु'नुपहणात् 'बभूधाततन्थ-' इति सूत्रे निगमग्रहणाच्च ज्ञापकाद् भाषायामपि न विरुद्ध
इति भावः । अत्रेतादृशविलक्षणसामर्थ्यवतोपन्यासेन दीक्षितस्य देवांशत्वसूचनद्वारा तदी-
यस्तुतेरभोप्सितार्थसाधकत्वं समुचितत्वं च सूचितम् । एतादृशस्य देवांशत्वं

'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तेजो मामकं विद्धि'

इति भगवद्गीतायां स्पष्टमुक्तम् ॥ ३ ॥

व्याकरणप्रवर्तकाचार्यपाणिन्यादिमुनित्रयादिनमस्कारात्मकं चिकीर्षितं मङ्गलं निबध्नन्
प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽनुबन्धचतुष्टयं बोधयन् शिष्यावधानाय निरूपणार्थं प्रतिजानीते । पाणि-
न्यादीति । पाणिन्यादिमुनीन् रङ्गोजिभट्टाभिधं पितरं द्विण्डं गणपतिं प्रणम्य प्रकटं
साष्टाङ्गत्वेन विशिष्टनमस्कारं कृत्वा गौतमजैमिनिवचनव्याख्यातृभिर्दूषितान् । सिद्धान्तान्
वैयाकरणसिद्धान्तान् । उपपत्तिभिर्मुक्तिभिः । प्रकटये प्रकाशये । तेषां गौतमजैमिनीयव-

१ A., D., D₁, D₂, and D₃ omit verses 3 and 5. D₁ notices them in the margin. २ Verses 4 and 5 are given as 5 and 4 in all Mss. Here the order given in the Com. is followed.

नत्वा गणेशपादाब्जं गुरुनय सरस्वतीम् ।

श्रीकौण्डभट्टः कुर्वेऽहं वैयाकरणभूषणम् ॥ ५ ॥

चोव्याख्यातृणामाधुनिकताकिंमीमांसकानां वचो दूषये इति योजना । व्याख्यातृभिर्दूषितानिति व्याख्यातृग्रहणेन गौतमादिमुनीनां पाणिन्यादिभिः सहाविरोध इति सूचितम् । स च मञ्जूषायां तत्र तत्र स्पष्टीकृतः । इह क्वचित् प्रतिपादयिष्यते । पाणिनिरादिर्यथां ते पाणिन्यादयस्ते च ते मुनयश्चेति बहुव्रीहिगर्भः कर्मधारयः । अयं बहुव्रीहिस्तद्गुणसंविज्ञानः 'सर्वादीनि' इतिवत् । तेन पाणिनेरपि नमस्कारकर्मत्वलाभः । आदिपदप्राप्तौ कात्याय-
निपतञ्जली । रङ्गोजिभट्टेभ्यभिधा नाम यस्येति बहुव्रीहिः । गौतमश्च जैमिनिश्च गौतमजै-
मिनी न्यायमीमांसासूत्रप्रणेतारौ तयोरिमानि गौतमजैमिनीयानि । इदमर्थे 'कृद्वाच्छः'
इति छः । तानि च तानि वचनानि न्यायसूत्राणि मीमांसासूत्राणि चेति कर्मधारयः ।
तेषां व्याख्यातार इति अशेषफलदातृपदवत् षष्ठीसमासः । नमस्कार्यताप्रयोजकं पितृवि-
शेषणमाह । द्वैतध्वान्तेति । द्वे इत आश्रयत्वेन प्राप्तो द्वीतो भेदः । तस्येदं ज्ञानं द्वैतम् ।
यद्वा 'द्वेकयोः' इतिवद् द्विशब्दो द्वित्वपरः । तथा च द्वित्वविशिष्टौ द्वीतपदप्रतिपाद्यौ
तयोर्भवः । पुमान् भाव आकाररूपो यस्याः सा पुंभावा पुरुषाकृतिकत्यर्थः । सा चासौ
वाग्देवता सरस्वती तद्रूप इत्यर्थः । अजहलिङ्गत्वात् स्त्री प्रधानमिति वद् विभिन्नलिङ्गत्वेऽपि
समानाधिकरणविशेषणत्वमभिरुद्धम् । अनेन विशेषणेनाद्वैतप्रतिपादकोत्तरमीमांसायाम-
तिशयितनैपुण्यं प्रतिपादितम् । तेन विलक्षणोत्कर्षः सूचितः ॥ ४ ॥

प्रचुरविग्रशङ्कया पुनरपि गणेशादिनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरन् स्वकीर्त्यनुवृत्तये स्वस्य
चिकीर्षितग्रन्थस्य च निवव्राति । नन्वेति । श्रीकौण्डभट्टः श्रीनवनवोन्मेषशालिनी
स्फूर्त्याख्या मतिस्तथुक्तः कौण्डभट्टोऽहं गणेशपादाम्बुजं गणेशस्य गणानां शिवगणा-
नामीशो नियन्ता तस्येत्यर्थः । अथवा गणानां शत्रुगणानामीर्लक्ष्मीस्तां इयति तनूकरोती-
त्यर्थः । शो तनूकरण इति धातोरनैमित्तिक आत्वे कृते 'आतोऽनुसर्गे कः' इति कः ।
यद्वा गणानामिः कामस्तं कामोद्वगं कामेत्युपलक्षणं क्रोधादीनामपि तथा च कामादिष-
ड्वर्गं सदुपदेशादिद्वारा इयति खण्डयतीत्यर्थः । एतादृशस्य देवस्य पादाम्बुजं पादावेवा-
म्बुजं कमलमतिशयितसंक्षेपविशिष्टत्वेन ध्यातव्यसूचनायाम्बुजमित्येकवचनम् । गुरुन् ।
निगूढमर्थं गृणातीति गुरुः । 'कृप्नोरुच्च' इत्युणादिसूत्रेण गृ शब्द इति धातोः कुप्रत्ययः ।
सरस्वतीं सरोऽमृतसरस्तद्वती सरस्वती । 'सर इत्युदकनाम । सतैस्तद्वती' इति निरुक्तम् ।
सरोवरविशेषो वा यस्या आश्रयो वर्तत इति वार्थः । वैयाकरणभूषणमित्यन्वर्थं ग्रन्थनाम
तेन वैयाकरणानामवश्योपादेयता ध्वनिता ॥ ५ ॥

प्रारिप्सितप्रतिबन्धकोपशमनाय कृतं श्रीफणिस्मरणरूपं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं
निर्वन्धनश्रिकीर्षितं प्रतिजानीते—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः ।

तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते ॥ १ ॥

उद्धृत इत्यात्रास्माभिरिति शेषः । भाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृत इत्यु-
क्तिस्तु शब्दकौस्तुभोक्तार्थानामाधुनिकोत्प्रेक्षितत्वनिरासाय । अन्यथा तन्मूलक-
स्यास्य ग्रन्थस्याप्याधुनिकोत्प्रेक्षितसारत्वापत्तौ पाणिनीयानामनुपादेयतापत्तेः ।
तत्र निर्णीत इत्युक्तिरितोऽप्यधिकजिज्ञासुभिः शब्दकौस्तुभे द्रष्टव्यमिति ध्वन-
यितुम् ॥ १ ॥

प्रारिप्सतेति । प्रारब्धुमिष्टो यो ग्रन्थस्तस्य प्रतिबन्धकानि तेषां व्यूहः समूहस्तस्यो-
पशमनाय नाशयेत्यर्थः । एतेन समाप्तिं प्रति मङ्गलं न कारणमन्यथासिद्धत्वात् किं तु
वित्रध्वंसं प्रति समाप्तिस्तु सामग्रीत इत्यादि बोधितमित्याद्यन्यत्र विस्तरः । ननु तथापि
ग्रन्थाद्विहरेव मङ्गलान्तरमस्तु ग्रन्थमध्ये तन्निबन्धनं निष्प्रयोजनमत आह । शिष्य-
शिक्षार्थमिति । ग्रन्थारम्भसमये शिष्यैरपि तादृशनिबद्धश्लोके पठिते सति तेऽपि मङ्गल-
भाजो भवन्ति शिष्या अपि तत्प्रयुक्तफलभाजश्चेत्तदर्थमित्यर्थः । चिकीर्षितं कारिकावलीरूपं
ग्रन्थम् । अस्माभिरिति शेषवाक्येन अनेनेति कारिकावलीरूपग्रन्थकर्तुरतिशयितसामर्थ्य-
प्रकाशनद्वारा तत्कृतप्रकृतग्रन्थस्यावश्योपादेयता ध्वनिता । आधुनिकोत्प्रेक्षितनिरासप्रयो-
जनमाह । अन्यथेति । कौस्तुभोक्तानामाधुनिकोत्प्रेक्षितत्वनिरासाकरणे । आधुनिको-
त्प्रेक्षितेति । आधुनिकैरुत्प्रेक्षितो यः कौस्तुभस्तत्सारत्वापत्तौ तत्सारतन्निश्चयापत्तावित्यर्थः ।
पाणिनीयानां पाणिनिना प्रोक्तं शास्त्रमधीयानानाम् । मूले देवतान्तरं विहाय फणिन
एवोपादानं तु व्याकरणशास्त्रप्रणेतुमुनित्रयाभ्यर्हितत्वेनेष्टतमत्वसूचनायेतरभाष्यवद् व्याक-
रणभाष्यं नाधुनिकप्रणीतमपि तु विष्णुरूपिमहामुनिप्रणीतमतस्तदुक्तिष्वप्रामाण्यशङ्का नैव
विधेयेत्यस्यार्थस्य लाभाच्चेत्याहुः । मूले प्रथमतो धात्वर्थनिरूपणं तु 'सर्वोप्याख्यातजानि' इति
शाकटायननिरुक्तात् 'सर्व' नाम धातुजं निरुक्ते व्याकरणे शाकटस्य च तौकम्' इति
भाष्याच्च सकलप्रयोगमूलत्वेन धातोरभ्यर्हितत्वेन प्रायो वाक्यजन्यबोधे धात्वर्थस्य
प्राधान्याच्च तस्याभ्यर्हिततमत्वादिति बोध्यम् । आख्यातजानीत्यत्र त्वाख्यातशब्दस्तिङन्त-
समुदायात्मकाख्यातघटकधातुपरः । 'सर्व' नाम धातुजम्' इति भाष्याच्च नात्रस्तिङन्तजत्वा-
संभवाच्च ॥ १ ॥

१ 'प्रतिबन्धकन्यूहो' Com. २ 'पतञ्जलि' D₁. ३ 'शिक्षावै' D. ४ 'उपनिबन्ध' D₂.
५ D. omits शब्द. ६ 'प्रेक्षितत्वेन सार' A. ७ सारत्वस्यापत्तौ D₂.

प्रतिज्ञातमाह—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः ।

फले प्रधानं व्यापारस्तिङ्गर्थस्तु विशेषणम् ॥ २ ॥

धातुरित्यत्र स्मृत इति वचनविपरिणामेनान्वयः । फलं विङ्गित्यादि । व्यापा-

स्मृता इति बहुवचनान्तस्य धातुरित्यत्रान्वयो न संभवति विशेष्यवाचकपदसमानवचनत्वाभावादित्यत आह । स्मृत इति । वचनविपरिणामेति । अस्य वाचकत्वेनेति शेषः । फलव्यापारयोरिति द्विवचनान्तनिर्देशेन फले व्यापारे च पृथक् शक्तिर्न तु फलविशिष्टव्यापारे प्राचीनतार्किकाभिमतेका शक्तिः । तथा सति फलस्य पदार्थैकदेशतया द्वितीयादिपदार्थान्तरान्वयो न स्यात् । फलव्यापारयोः साध्यसाधनभावेनान्वयः । संसर्गस्यापदार्थत्वेऽपि क्षतिविरहात् । सांसर्गिकविषयतिरिक्तविषयताशालिशाब्दबोधं प्रत्येव वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः प्रयोजकत्वात् । तथा च जन्यतावच्छेदककोटौ सांसर्गिकविषयतातिरिक्तविषयतात्वेन विषयताया अनुप्रवेश इति केचित् । वस्तुतस्तु सांसर्गिकविषयतातिरिक्तविषयतात्वेन तदनुप्रवेशः । तथा निवेशोऽपि वृत्त्या घटपदाद् घटोपस्थितौ सत्यां पटादेर्विषयकार्यशाब्दबोधोपपत्तिः । अतस्तद्विशेष्यकतत्प्रकारकशाब्दवावच्छिन्नं प्रति वृत्त्या तत्तत्पदजन्यतत्तदर्थोपस्थितिर्हेतुरिति विशेष्यैव हेतुहेतुमद्भावो वक्तव्यः । एवं च सांसर्गिकविषयतामन्तर्भाव्य करणभावविरहात् शक्त्यानुपस्थितस्यापि संसर्गस्य भानं निष्प्रत्यूहमेव । किं च शक्त्या लक्षणया वोपस्थितस्य तत्तदर्थस्य शाब्दबोधे भानाद् द्विविधोपस्थितेरपि शाब्दबोधप्रयोजकत्वमुपपद्यते । तत्रानुगतानतिप्रसक्तागुरोः कारणतावच्छेदकधर्मस्यासंभवात् पृथुग्हेतुतावद्यं स्वीकार्यम् । तथा चैकविधोपस्थितिर्विरहेऽप्यन्यविधोपस्थित्या तत्तदर्थविषयकशाब्दबोधजननाद् व्यभिचार इत्यतः शक्तिप्रयोज्यतत्तदर्थोपस्थितिर्विशिष्टतत्तदर्थविषयकशाब्दत्वं च लक्षणाप्रयोज्यतत्तदर्थोपस्थितिर्विशिष्टतत्तदर्थविषयकशाब्दत्वं च कार्यतावच्छेदकमभ्युपेयम् । उपस्थितिर्विशिष्टं च स्वसमानाधिकरणस्याव्यवहितोत्तरत्वाभ्याम् । एवं च संसर्गविषयकशाब्दबोधस्य कार्यतावच्छेदकानाक्रान्ततया शक्यस्यापि तस्य भानं निष्प्रत्यूहमिति परे । संबन्धो वाच्य इति वैयाकरणाः । लक्ष्य इति भट्टा इति दिक् । ननु तथापि विभिन्नपदोपस्थितयोरेव परस्परान्वयबोध इति व्युत्पत्तेः कथमेकधातूपस्थितयोराधाराधेयभावावगाहिशाब्दबोधापत्तेर्वारणस्य वाशाब्दादित उपस्थितयोर्विकल्पाद्योरर्थयोः परस्परान्वयबोधार्थं वारणस्य च प्रयोजनत्वादिति चेन्न । परमते लिङाद्यर्थयोश्च परस्परमन्वयबोधदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तेः संक्रोचनीयतया फलव्यापारयोरपि परस्परमन्वयबोधसंभवात् । नव्यनैयायिकैरपि स्वीकृतत्वाच्च । फल-

व्यापारयोरेवादावन्तरङ्गत्वादन्वयस्तदन्तरमेवार्थान्तरेणान्वयोऽनुभूयते । अत एव गमनं न स्पन्द इति वाक्यात्र स्पन्दान्वयानुभवः । विशेषभूतव्यापारे तद्वोधात् । फलस्येतरविशेषणत्वापन्नत्वादिति भावः । अमेदेन स्तोकादेवान्वयो भवत्येव । व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । एवं च कर्मधारयस्य भेदेनापि न स्तोत्रं पचतीत्यादेरसंगतिः । मञ्जूषाकारास्तु फलविशिष्टव्यापारे व्यापारविशिष्टफले च शक्तिः । फले व्यापारे च पृथक्शक्तिस्वीकारे व्यापारोद्देश्यकफलविधेयकबोधस्य फलोद्देश्यकव्यापारविधेयकबोधस्य चापत्तिः । तादृशबोधप्रयोजिकायाः पृथगुपस्थितेः सत्त्वात् । विशिष्टशक्तिमते तु न तादृशबोधपत्तिस्तत्प्रयोजिकायाः पृथगुपस्थितेरभावात् । न च पृथगुपस्थितेस्तादृशबोधप्रयोजकत्वमसिद्धमिति वाच्यम् । घटपटादिजन्यैकोपस्थितिष्वययोर्घटपटेत्याद्योस्तथाबोधानुभवबल्लेन तथाविधबोधपत्तिरिति वाच्यम् । तादृशबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने गौरवात् । कर्तृभावप्रत्ययसमभिव्याहारः फलविशिष्टव्यापारबोधनियामकः । कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारो व्यापारविशिष्टफलबोधनियामकः । न च विशिष्टद्वये शक्तिज्ञानद्वयस्य धातुजन्यविशिष्टविषयोपस्थितिद्वयस्य च शब्दबोधं प्रति हेतुत्वं कल्पनीयमिति गौरवमिति वाच्यम् । ग्रामाणिकत्वेन तस्यादोषत्वात् । पृथक्शक्तिवादेऽपि भिन्नपदोपस्थित्या एवान्वयबोध इति व्युत्पत्तेस्त्यागस्य व्युत्पत्त्यन्तरस्य च कल्पनीयतया गौरवम् । अपि च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजोपस्थितेः फलप्रकारकव्यापारविशेष्यकबोधं प्रति कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजोपस्थितेर्यापारप्रकारकफलविशेष्यकबोधं प्रति हेतुतायाः कल्पनीयतया कार्यकारणभावद्वयकल्पनागौरवम् । धातोरर्थद्वये शक्तिद्वयस्य कल्पनीयतया च । न च भवन्मतेऽपि तादृशविशिष्टविषयकोपस्थितिद्वयस्य कारणतायास्तथाविधेऽर्थद्वये शक्तिद्वयस्य च कल्पनीयतया साम्यमिति वाच्यम् । बोधजनकत्वस्य विषयासंबद्धेऽनुपपत्त्या तत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहृतधातौ विशिष्टद्वयनिरूपितसंबन्धद्वयस्य कल्पनीयतया गौरवस्य जागरूकत्वात् । अन्यथा शक्तेरुच्छेदः । एवमन्यत्रापि पृथक्शक्तिकल्पना निरसनीयेति प्रोचुः । फलव्यापारयोरिति मूलमपि तदुभयसमुदाये शक्तिरित्येतावन्मात्रतात्पर्यकं न तु पृथक्शक्तितात्पर्यकम् । एवं च शाब्दबोधे एकविशिष्टस्यैवापरस्य भानादुक्तविशिष्टद्वयेऽपि शक्तिर्मूलभ्यैवेत्येतदभिप्रायोऽवगन्तव्यः । मूलेऽक्तमानुरोधाद् व्यापारात् प्राक् फलंशां व्याचष्टे । फलं विक्लिप्त्यादीति । विक्लित्तिः शिथिलीभावोऽवयवविभागविशेषस्तत्संयोगविशेषो वा । तस्य च विक्लित्तिव्याध्यात्मकविशेषरूपेण वाच्यता न तु फलत्वेन । विशेषरूपेणैव शाब्दबोधस्यानुभवात् । विक्लिप्त्यादिनिष्ठफलत्वं तु तद्वात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्वात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम् । जन्यत्वमारोपितानारोपितसाधारणम् । तेन वारयतीत्यादौ संयोगानुकूलव्यापारभावादेः फलत्वनिर्वाहः । विभागजन्यसंयोगादिरूपे पतत्याद्यर्थे

रस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।

आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥’ इति

न च साध्यत्वेनाभिधाने मानाभावः । पचति पाकः करोति कृतिरित्यादौ धात्वर्थावगमाविशेषेऽपि क्रियान्तराकाङ्क्षानाकाङ्क्षयोर्दर्शनस्यैव मानत्वात् । तथा

विभागस्यापि गम्यादिरूपयत्किञ्चिद्धात्वर्थजन्यत्वात्तदवस्थ एवोक्तदोष इति तत्पदोपादानम् । न च विभागजन्यत्वनिरूपकसंयोगस्य स्वजन्यक्रियाद्वारा विभागजन्मकतया तद्दोषतादवस्थमिति वाच्यम् । उपधायकतारूपजनकतानिरूपितजन्यतायां क्रियाद्वारिकाया वा जन्यताया निवेशनीयत्वात् । तत्रैव संयोगे फलत्ववारणाय प्रकारतावत्त्वस्य निवेशः । पतति भवतीति वाक्यजन्यबोधीयभवतिक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वात्तद्धात्वर्थनिष्ठेति । विशेष्यताविशेषणकर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे तण्डुलः पच्यते तण्डुलः पक्व इत्यादौ विक्रियादेर्विशेष्यत्वात्तत्र तस्य फलत्वं न स्यादतः कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारेति । यद्वा । तदनुपादाने शाब्दत्वावच्छेदेन तादृशप्रकारतावत्त्वं लभ्यते तथा चासंभवः स्यादतस्तदुपादानम् । तथा च तादृशप्रकारवत्त्वमुपलक्षणं न विशेषणम् । अतो न कर्मप्रत्ययस्थले विक्रित्यादेरतत्त्वापत्तिरिति भावः । अत्र यत्किञ्चित्प्रत्ययसमभिव्याहारे इत्यभिप्रायस्तथोक्तिस्तादृशबोधस्थलप्रदर्शनाय । व्यापारं निरूपयति । व्यापारस्त्विति । भावनेति । उत्पत्त्यनुकूलो व्यापार इत्यर्थः । उत्पत्त्यर्थकभवतेर्ण्यन्तात् ‘ण्यास-श्रन्थः—’ इति भावे युच् । अभिधेति । अभिदधाति जनयति फलमित्यभिधा साध्यत्वेन धातुनाभिधीयत इति वाभिधा । तत्र प्रथमे ‘आतश्चोपसर्गे’ इति कर्तरि कः । द्वितीये तेनैव सूत्रेण कर्मण्यङ्प्रत्ययः । तथा च भावनाभिधापरनामिका साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया व्यापार इत्यर्थः । भावनाभिधेत्युक्तिस्तु व्यापारस्य धात्वर्थत्वेऽपि भावनादिनामकस्यार्थविशेषस्य आख्यातार्थत्वमेवेति भ्रमनिवारणार्था । क्रियेत्युक्तिर्ण्यन्तस्य भवतेः शुद्धेन करोतिना तुल्यार्थत्वप्रदर्शनार्था च । यावत्सिद्धेति । पचति पश्यतीत्यादावसिद्धमपाक्षीदित्यादौ सिद्धं वा साध्यत्वेन तत्प्रकारेणाभिधीयमानं वस्तु क्रियेत्यभिधीयते । कुत इत्याकाङ्क्षायां योग्यस्य हेतुं प्रदर्शयति । आश्रितेत्यादिना । क्रियतेऽवयवानां क्रमेणोत्पत्त्यात एवाश्रितक्रमरूपेत्यर्थः । आश्रितं क्रमरूपं ययासौ । कृतिरित्यादितोऽविलक्षणप्रतीत्या तत्रेवात्रापि क्रियान्तराकाङ्क्षापद्येत तदभ्युपगमे च सिद्धस्यैव क्रियान्तरनिवर्तकस्य दर्शनात् साध्यत्वेन प्रतीतौ क्रियान्तरानाकाङ्-

च क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपं साध्यत्वम् । तद्रूपवत्त्वमसत्त्वभूत-
त्वम् । एतदेवादाय

‘असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते’

इति वाङ्मयपदीयमिति द्रष्टव्यम् । अयं च व्यापारः फूत्कारत्वाधःसन्तापनत्व-
यत्नत्वादितत्तद्रूपेण वाच्यः । पचतीत्यादौ तत्तत्प्रकारकबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् ।

क्षानिर्वाहः । अनुत्थापकतावच्छेदकमिति । तदुत्थितिप्रतिबन्धकतावच्छेदक-
तयासिद्धजातिविशेषरूपमित्यर्थः । तद्रूपमिति । धातूपस्थितक्रियामात्रवृत्तिवैजात्यसिद्धौ
लाघवात्तस्यैवासत्त्वरूपत्वं स्वीकर्तुं युक्तं न तु लिङ्गाद्यनन्वयित्वादेरिति भावः । परं तु
तद्वैजात्यलिङ्गाद्यनन्वयित्वसमानाधिकरणं पूर्वापरीभूतावयवत्वसमानाधिकरणमेव । एतदेवे-
त्यस्योक्त एवाभिप्रायः । तिङ्पदैरिति तिङन्तपदैरित्यर्थः । एतत्प्रतिद्वन्द्वितया क्रियाका-
ङ्क्षोत्थापकतावच्छेदकजातिविशेषः सिद्धत्वमिति बोध्यम् । न चैवं हिरुगाद्यभ्यानां ताड-
शसाध्यत्वेन रूपेण तत्तदर्थानुपस्थापकतया क्रियाप्रधानत्वव्यवहारो विरुध्यतेति वाच्यम् ।
तदर्थस्य क्रियामात्रविशेषणनिबन्धनत्वात् । अत एव हिरुगाद्यर्थेन कारकाणामन्वयः ।
कारकान्वययोग्यतावच्छेदकवैजात्येनाभानात् । नन्वेवं कृष्णं नमेचेत् सुखं यायादित्यत्र
नमनसुखप्राप्तिरूपक्रिययोर्हेतुहेतुमद्भावेनान्वयो न स्यादिति चेन्न । चेच्छब्दसमभिव्याहार-
साचित्र्येन क्रियाकाङ्क्षोत्पादनादित्याहुः । वस्तुतः साध्यत्वं निष्पाद्यत्वमेव तेनैव रूपेण बोध-
स्यानुभवसिद्धत्वात् । स्पष्टं चेदम् ‘उपपदमतिङ्’ ‘सुट् कात्पूर्वः’ इत्यत्र । तत्र ‘उपप-
दमतिङ्’ इति सूत्रे धातूपपदयोः समासमाशङ्क्य ‘पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते’ इति पूर्वं
तिङ्गविशिष्टेनैव सामर्थ्यं स्यात् । तत्र ‘अतिङ्’ इति निषेधान्न तिङन्तेनैकार्थीभाव इति
समाहितम् । ‘सुट् कात् पूर्वः’ ‘गतिर्गतौ’ इत्यत्र धातूपसर्गयोः कार्यं यत्तदन्तरङ्गमित्या-
द्युक्त्वा ‘नैतत् सारं पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति
तामुपसर्गो विशिनष्टि’ इत्युक्तम् । साधनं तद्वोधकप्रत्ययः क्रियां निर्वर्तयति साध्यत्ववैशिष्ट्येन
बोधयत्यतस्तत्प्रयुक्तकार्यं पूर्वमिति वृद्धास्तदर्थमाहुः । ‘उपपदमतिङ्’ इत्यत्र भाष्येऽप्येत-
दाशयेनैव पूर्वं साधनसंबन्धाभिधानम् । एतेन शब्दशक्तिस्वभावेन तिङन्ते क्रियानाकाङ्-
क्षासिद्धौ न साध्यत्वभानमिति दूषणं प्रत्युक्तमिति बोध्यं ‘सुट् कात्पूर्वः’ इत्यत्र भाष्ये ।
अनुभवसिद्धत्वादिति । अत एव पचतीत्यादिलक्षणादेव बोधे सति फूत्कारत्वादिरूपेण

न च नानार्थतापत्तिस्तदादिन्यायेन बुद्धिविशेषादेः शक्यतावच्छेदकानामनुगम-
कस्य सत्त्वात् । आख्याते क्रियैकत्वव्यवस्थाप्यवच्छेदकं बुद्धिविशेषैक्यमादायैव ।
उक्तं च वाक्यपदीये—

‘गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः ‘क्रियेति व्यपदिश्यते ॥’ इति

न तत्संशयः । नानार्थतापत्तिरिति । शक्यतावच्छेदकानां फूत्कारत्वादीनां नानात्वादेक-
शक्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव हर्यादिपदस्य नानार्थत्वाभ्युपगमः । तदादीति । तदादिप-
दस्य यथा बुद्धिविषयत्वरूपबुद्धिस्थत्वेन घटत्वादीनि समुपगम्य तदवच्छिन्ने शक्तिः स्वीक्रियते
घटत्वादिविशेषरूपेणानुभवसिद्धबोधनिर्वाहार्थं तथा प्रकृतेऽपि संभवात् नानार्थत्वापत्तिः ।
शक्यतावच्छेदकनानात्वेऽपि शक्यतावच्छेदकस्यैकस्यैव संभवादित्यर्थं तज्जन्यशब्दबोधे
भानं मा भूदित्येतदर्थं तस्योपलक्षणत्वोपगमः । उपलक्षणत्वं च तत्तत्पदजन्यबोधविषयत्वेन
तत्तत्पदशक्तिग्रहविषयत्वे । बुद्धिविशेषादेरिति । फूत्कारादिविषयकबुद्धेरित्यर्थः । बुद्धेः
शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वं विषयतासंबन्धेन । तस्य वृत्तिनियामकतयावच्छेदकताघटक-
त्वानङ्गीकारेणाह । आदेरिति । आदिना बुद्धिविशेषविषयत्वतदवच्छेदकत्वयोः परिग्रहः ।
परे तु हर्यादिवत् पञ्चादीनां नानार्थत्वे इष्टापत्तिः । तदादिशब्दानां तु बुद्धिस्थत्वाद्यात्मक-
सामान्यरूपेणैव बोधकत्वम् । तदुक्तं ‘शेषे’ इति सूत्रभाष्ये । ‘इदंविशेषा ह्येतेऽपत्यं निवासः
समूहः’ इति वदन्ति । नन्ववयवरूपव्यापाराणां नानात्वादाद्युत्तरविनाशिनां क्रमिकाणां तेषां
युगपदवस्थानासंभवेन समूहगतैकक्रियाभिप्रायत्वासंभवाच्चाख्यातेनैका क्रिया प्रत्याग्यत
इति व्यवस्थानुपपत्तिः । न च तादृशव्यवस्था सिद्धैव मानाभावादित्याशङ्कां निराचष्टे ।
आख्याते इति । व्यवस्थापि । क्रियैकैव प्रत्याग्यत इति नियमोऽपि । अवच्छेदक-
मिति । शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकीया बुद्धिव्यवस्थेति भावः । अथवा तादृशबुद्धिस्थ-
समूहैक्यमादायैवेत्यर्थः । उक्तार्थं हरिसंमतमाह । उक्तं चेत्यादिना । गुणभूतैरिति ।
क्रमजन्मनामेषां व्यापाराणां समूहं प्रति गुणीभूतैस्तत्तद्रूपेण भ्रसमानैरवयवैर्युक्तः संकल-
नात्मिकैकैकविषयबुद्ध्या प्रकल्पिताभेदस्तद्रूपसमूहरूपो यः समूहः क्रियेति व्यवहित
इत्यर्थः । अभेदश्चावयवभूतव्यापाराणाम् । अत्रावयवाश्रयं पौर्वापर्यं समूहगतमेकत्वं च
स्पष्टमेव लभ्यते । एकैकावयवेऽपि समूहत्वरूपारोपादधिप्रत्यगाद्येकावयवदशायामपि पञ्चती-
त्यादिव्यवहारोपपत्तिः । आरोपे च प्रतीतिरैवावलम्बनम् । अध्यासगृहीतयैव क्रियायामश-
क्तिरूपसंबन्धग्रहो बोध्यः । तदतिरिक्तमुख्यार्थसद्भावात् धात्वर्थस्य गौणत्वमेवं सत्याश-

१ नानार्थकतापत्तिः P. २ व्यवस्थापि शक्यतावच्छेदकं D_१. ३ बुद्धिविशेषमा^२ D_१.
४ हि D. ५ प्रकल्पितोभेदः D_१, D_३. ६ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥ D.

धात्वर्थं निरूप्य तिङ्महः । आश्रये त्विति । फलाश्रये व्यापाराश्रये चेत्यर्थः । फलाश्रयः कर्म व्यापाराश्रयः कर्ता । तत्र फलव्यापारयोर्धातुलभ्यत्वाच्च तिङ्स्तदंशे शक्तिरन्यलभ्यत्वात् । शक्यतावच्छेदकं चाश्रयत्वं तत्तच्छक्तिविशेषरूपमिति

इक्यम् । यस्य हि मुख्योऽर्थोऽतिरिक्तोऽस्ति तस्यैव गौणत्वं यथा सिंहो माणवक इत्यादौ । यद्वा तादृशानेकव्यक्तिगता पचित्वादिजातिरेव क्रिया स्वतःसाध्यत्वविरहेऽपि तस्या व्यक्तिद्वारकं तदवाधितमेव । स्फोटवदस्याः क्रमवद्भिरपि क्षणैरभिव्यक्तिस्तत्साधकश्चानुगतव्यवहारः । उक्तं च वाक्यपदीये

‘जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम् ।

असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलक्ष्यते ॥’ इति ।

फलस्यापि स्वहेतुव्यापारवर्तिपौर्वापर्यारोपेण साध्यत्वेनैव भानम् । अत एव पच्यत तण्डुलः स्वयमेवेत्यादौ फलमात्रवाचकता पच्यादेरिति मतेऽपि तस्य धातुसंज्ञानिर्वाहः कारकाणां भावनयैवान्वय इति नियमश्च संगच्छते । अन्यथा द्वितीयाद्यर्थकर्मकारकस्य फलेनैवान्वयात्तदसंगतिः स्पष्टैव । **फलाश्रय** इति । ननु कारकचक्रप्रवर्तकत्वाद् व्यापारांशस्य प्राधान्याच्च व्यापाराश्रय इति प्रथमतो वक्तुमुचितं न तु फलाश्रय इति इति चेन्न । शक्तिग्राहक ‘लः कर्मणि’ इति सूत्रे मूले च फलाश्रयस्य कर्मणः प्राङ् निर्देशात्तस्यैवादावभिधानस्य युक्ततरत्वात् । व्यापारस्य सर्वप्राधान्यमिति नियमाभावाच्च कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे व्यभिचारात् । ननु कर्मकर्त्रोः शक्तिग्राहकसूत्रसत्त्वेऽपि फलाश्रयव्यापाराश्रययोर्न किञ्चिदाख्यातस्य शक्तिग्राहकं कर्मकर्तृपदयोर्लोके कृतिमतोरेव प्रसिद्धेरित्याशङ्क्याह । **फलाश्रयः कर्मेति** । कृत्रिमाकृत्रिमन्यायेनेतयोरेव कर्मादिपदेन ग्रहणं युक्तमिति भावः । ‘स्वतन्त्रः कर्ता’ इति सूत्रेण धात्वर्थतया प्रधानीभूतव्यापाराश्रयस्यैवात्राश्रय कर्तृसंज्ञाविधानात् । कृतिमत एव तद्विधाने घटो भवति काष्ठानि पचन्तीत्यादौ घटादेः सा न स्यादिति दिक् । ननु फलव्यापारयोरप्याख्यातार्थत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । देवदत्तः पचतीत्यादावख्यातेन धातुना च फूत्काराद्युपस्थितौ निराकाङ्क्षत्वेनान्वयानुपपत्तेः फूत्कारादिविशिष्टस्य फूत्कारादावन्वये आकाङ्क्षविरहात् । अत एव कर्म गच्छतीति न प्रयोगः । एवं पच्यते तण्डुल इत्यादावपीत्याशङ्कां निरसितुमाह । **तन्नेत्यादिना । धातुलभ्यत्वादिति** । अनन्यलभ्यस्यैव शब्दशक्यत्वादिति भावः । नन्वाश्रये शक्तिस्वीकारे आश्रयत्वं शक्यतावच्छेदकत्वमभ्युपेयम् । आश्रयत्वं चाधारत्वं तच्च निरूपकादिभेदाद् भिन्नं तदानन्त्याच्छक्त्यानन्त्यापत्तिरत आह । **तत्तच्छक्तीति** । कर्तृत्वादिशक्तिस्वरूपमित्यर्थः । यद्यपि शक्तेर्निरूपकभेदानानात्वमभ्युपेयमन्यथाय भुक्तायां ह्येह ह्यहाद्वा भोक्तेत्यत्र ‘सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये’ इत्यत्र कारकपदस्य शक्तिपरत्वेऽप्यनुप-

सुबर्थनिर्णये वक्ष्यते । नन्वनयोरित्यातार्थत्वे किं मानम् । प्रतीतेर्लक्षणायाक्षेपात्

पत्तितादवस्थं घटवदित्यनुमितिजनकं व्याप्तिज्ञानादिकमाक्षेप एवं चाख्यातेन भावना-
ज्ञानमर्यापत्त्या तुल्यमित्यादौ वा कर्ता विषयीक्रियत इति पर्यवसानं मीमांसकैराक्षेपलभ्य-
स्यापि शाब्दबोधविषयत्वाभ्युपगमाद्वा स्यात्तथाप्याश्रयत्वादिनानुगतस्य तस्य शक्यतान-
वच्छेदकत्वे दोषानवकाशादिति भावः । अत एव कृतिविशिष्टवाचितुचः कृत्यर्थककृधातु-
समभिव्याहारे आश्रयपरत्वमिति नैयायिका मन्यन्ते । एवं कृतिविशिष्टवाचितुचप्रत्यय-
स्थले भावनांशस्याक्षेपलभ्यत्वादाश्रयमात्रमर्थ इति मीमांसकाः । न चाश्रयस्याख्यात-
वाच्यत्वेनाभावः । न च पञ्चतीत्युक्ते आश्रयप्रतीतिर्जायमानाख्यातस्य शक्तिकल्पनायां
मानं गवाद्यर्थप्रतीतिरिव गवादिपदे तत्तदर्थशक्तिकल्पनायामिति वाच्यम् । अन्यथानुप-
पन्नप्रतीतेरेव मानत्वात् । अन्यथा गङ्गादिपदस्य तीरादावपि शक्तिकल्पनापत्तेः । तत्र
लक्षणयैवोपपत्तिरिति चेत् प्रकृतेऽन्यन्यथोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । न च 'लः कर्मणि-'
इत्यादि सूत्रमेव मानम् । तत्रत्यकर्मपदस्यानुवृत्तकर्मपदस्य च लाघवेन धर्ममात्रपरत्वात् ।
तत्सूत्रस्य कर्मादिबोधका लकारा इत्यर्थप्रतिपादकत्वाद्वा । एवं च बोधस्य वक्ष्यमाणरी-
त्यापि निर्वाहेन तस्य तच्छक्तिग्राहकमित्याशयेन पृच्छति । नन्वनयोरित्यादिना ।
प्रतीतेरिति । फलाश्रयव्यापाराश्रयप्रतीतेरित्यर्थः । लक्षणास्वीकारे पदव्युत्तिकल्पनागौर-
वादाह । आक्षेपादिति । आक्षेपो नामार्थापत्तिर्मीमांसकमते तार्किकमतेऽनुमानम् । येन
विना यदनुपपन्नं तेन तत् कल्प्यते । यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र भोजनं
विनानुपपन्नेन योगाभ्यासाद्यजन्यपुष्टत्वेन भोजनं कल्प्यते तच्च दिने बाधे रात्रिभोजन-
मादाय पर्यवस्यति । तथा प्रकृते भावनायाः कर्तारं विनानुपपत्त्या कर्तृरूपाश्रयं सा कल्प-
यति । तथा चानुपपत्तिज्ञानमर्यापत्त्यपरनामाक्षेपस्तज्जन्यं ज्ञानमपि तन्नामकं प्रमित्यन्तरम् ।
तार्किकमते तु भावना क्वचिदाश्रिता गुणत्वात् सकर्तृका वा वाक्यार्थत्वाद्वटवदित्यनु-
मितिजनकं व्याप्तिज्ञानादिकमाक्षेपः । एवं चाक्षेपेण भावज्ञानोत्तरमर्यापत्त्यानुमित्या वा
कर्ता विषयीक्रियत इति पर्यवसन्नम् । मीमांसकैराक्षेपलभ्यस्यापि शाब्दबोधविषयत्वाभ्यु-
पगमादाख्यातजन्यशाब्दबोधे मानं विरुद्धम् । एवं फलस्यापि स्वाश्रयं विनानुपपत्त्या तेन
साक्षिप्यत इत्यर्थः । ननु वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधहेतुत्वेनाक्षेपलभ्यस्य
शाब्दबोधविषयत्वं न संभवति । किं चानुपपत्त्यादिविधुराणामप्यनुभवसिद्धतद्वावो ह्यनुप-
पत्तिः । आक्षिप्ते तत्राख्यातार्थसंख्यान्वयानुपपत्तिश्च । वृत्त्या पदानुपस्थितत्वात् । तथा
चोच्यते । 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति । शाब्दी शाब्दबोधविषयिणी ।
आकाङ्क्षा जिज्ञासा । शब्देनैव प्रपूर्यते । वृत्त्या पदार्थोपस्थितिद्वारा विषयसिद्धिसंवादेन

प्रथमान्तपदाद्वा संभवादिति चेदत्रोच्यते 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति सूत्रमेव मानम् । अत्र हि चकारात् 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रोक्तं कर्तरिस्थेनुकृष्यते । बोधकतारूपां तिबादिशक्तिं तत्स्थानित्वेन कल्पिते लकारे प्रकल्प्य लकाराः कर्मणि कर्तरि चानेन विधीयन्ते । नकार-
 विसर्गादिनिष्ठां कर्मकरणादिबोधकशक्तिमादाय शसादिविधानवत् । न च सूत्रे कर्तृकर्मपदे कर्तृत्वकर्मत्वपरे तथा च कर्तृत्वं कृतिः कर्मत्वं च फलमेवा-
 र्थोऽस्त्विति शङ्क्यम् । फलव्यापारयोर्धातुलभ्यत्वेन लकारस्य पुनस्तत्र शक्ति-
 निवार्यते तत्तदर्थं इत्यत आह । प्रथमान्तेति । उत्तरयति । अत्रोच्यत इत्यादिना ।
 नन्विदं सूत्रं कर्मणि शक्तिग्राहकं न कर्तरि तत्र कर्तृपदासत्त्वादित्याशङ्क्याह । अत्र हीति ।
 चकारादिति । भाष्येऽनुकर्षणार्थं सर्वचकारप्रत्याख्याने सति कथं तदनुवृत्तिरिति चेत्
 स्वरितत्वप्रतिज्ञानाद्यपेक्षावशाच्चान्यस्यान्यत्रेवात्रापि तदनुवृत्तिसंभव इत्यवेहि । भावे लका-
 रस्तदनुवादको नापि द्योतको धातुत एव तस्य स्फुटप्रतीतिः । संख्याकालार्थकश्च सः ।
 तदर्थं संख्याया एकत्वरूपाया क्रियायामन्वयसंभवात् । अत एव भाष्येऽन्येभ्य इवैक-
 वचनानुत्पत्तिर्नाशङ्कितेति स्पष्टं मञ्जूषाशेखरादौ । न च तेन सूत्रेण लकारे कर्मादि-
 बोधकताहपा शक्तिर्गृह्यते न तु तिबादौ स्थान्यर्थ इति तत्रापि तत्सिद्धिरिति वाच्यम् ।
 स्थानिनोऽप्रयोगेण बोधाजनकत्वादित्याशङ्कां निराचिकीर्षुराह । बोधकतारूपमि-
 त्यादिना । अतिरिक्तशक्तिपक्षेऽपि तत्समनैयत्य एव तत्स्यादिति बोध्यम् ।
 तिबादिशक्तिमिति । तन्निष्ठां शक्तिमित्यर्थः । व्यवहारदशायां तत्प्रयोगादेवार्थबोधात् ।
 तत्स्थानित्वेन । तिबादिस्थानित्वेन । कल्पिते । लाघवेन प्रक्रियानिर्वाहार्थं
 कल्पिते । ननु लस्येत्यनुक्त्वा तिप्तसङ्गीत्यादिना स्वतन्त्राणां तिप्तस्वादीनामेव विधान-
 मस्तु । एवं 'लः कर्मणि' इति सूत्रे तिङ् कर्मणीत्यस्तु वर्तमाने तिप् शतृशानच्चावप्रथमा-
 समानाधिकरणे इत्यादिन्यासैस्तिबादीननूद्य तत्तत्कालविधिरस्त्विति चेन्न । 'टित आत्मने-
 पदानाम्—' इत्यादेरसंगतत्वापत्तेः । न च वर्तमाने तिङ् इदं अनद्यतने तिङ् इत्यादि-
 न्यासैस्तत्तत्कालार्थकतिबादेस्तत्तदनुबन्धासङ्गः क्रियतां तथा च 'टित आत्मनेपदानाम्—'
 इत्यादेर्नासंगतिरिति वाच्यम् । 'लिटस्तन्नयोरेशिरेच्' 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इत्या-
 देस्तथासंगत्यापत्तेः । तत्र तत्र न्यासान्तरकरणे गौरवापत्तेश्चेत्यास्तां विस्तरः । प्रकल्प्य ।
 आरोप्य । अर्थवत्येव स्थान्यादेशभाव इति नियमानुरोधात्तदारोप इति भावः । कर्तृ-
 त्वकर्मत्वपरे इति । लाघवानुरोधात् । धर्मिपरत्वे गुरुभूतधर्मधर्मिणोरुभयत्र शक्तिः
 कल्प्या । अनन्तानां कृतीनां फलानां च शक्यतावच्छेदकत्वमुपेयम् । तथा चातिगौरवम् ।

कल्पनायोगात् । अथ दर्शनान्तरीयरीत्या व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावात् तत्र लकारविधिः स्यादिति चेत्तर्हि कृतमपि कर्तृकर्मादिवाचित्वं न सिध्येत् । 'कर्तरि कृत्' इति च 'लः कर्मणि—' इत्यनेन तुल्ययोगक्षेपम् । अपि च मीमांसकानां कृतमिवाख्यातानामपि कर्तृवाचित्वमस्तु । भावनाया एवाक्षेपेण कृदादिवत् प्रतीतिसंभवे वाच्यत्वं मास्तु । तथा सति प्राधान्यं तस्या न स्यादिति

कृतेः शक्यत्वे तु कृतित्वस्य जातिरूपस्य शक्यतावच्छेदकतया लाघवमिति भावः । दर्शनान्तरीयरीत्या । भावार्थाधिकरणोक्तमीमांसकरीत्या । धात्वर्थत्वाभावादिति । विक्रित्यादिफलमेव धात्वर्थो न व्यापारः । बहूनां धातूनां तत्र शक्तिकल्पनापेक्षणात्तदपेक्षयाल्पानां प्रत्ययानां तत्कल्पने लाघवात् । प्रतीत्यत्राख्यातस्य भावनार्थककृतधातुना विवरणाच्च तस्यैव भावनार्थकतेत्यत्र क्रियाशब्दकत्वं युक्तं विव्रियमाणाविव्रियमाणयोः समानार्थकत्वस्य क्लृप्त्वादिति भावः । फलस्यापि 'कर्मवत् कर्मणा—' इत्यत्र क्रियाशब्दव्यवहर्तव्यतया दृष्टत्वेन तन्मात्रवाचिनोऽपि धातुसंज्ञासिद्धिः । एवमेव पच्यते तण्डुलः स्वयमेवेत्यत्र भवन्मतेऽपि पच्यादेशात्तुत्वमिति भावः । तत्र व्यापारे व्यापारत्वं फूत्कारत्वादिकं वा शक्यतावच्छेदकमेवं फलस्य धातुलभ्यत्वेऽपि तदाश्रयत्वरूपे कर्मत्वे एव लकारविधिः स्यादिति पूर्णीयम् । अत एव कर्तृकर्मादिवाचित्वं नेत्युत्तरग्रन्थे कर्मादिग्रहणं संगच्छते । पूर्वपक्षे कर्मवाचकत्वाङ्गीकारे तदसंगतिः स्पष्टैव । कृतमपीति । कर्त्राद्यर्थे विहितानां ण्वलुत्वव्यवादीनाम् । न सिध्येदिति । उक्तयुक्तिसाम्यादिति भावः । ननु 'कर्तरि कृत्' 'तयोरेव कृत्य—' इत्याद्यनुशासनबलात् कृतां कर्त्रादिवाचित्वासिद्धिः । तत्रत्यकर्त्रादिपदस्य धर्मपरत्वादित्यत आह । 'कर्तरि कृत्' इति चेति । चेन 'तयोरेव—' इत्यादीनां परिग्रहः । तुल्ययोगक्षेपमिति । तुल्यो योगक्षेपोऽर्थप्रतिपादकता यस्येत्यर्थः । अयं भावः । यदि लाघवमात्रपक्षपातेन 'लः कर्मणि—' इति सूत्रस्थकर्मादिपदस्य धर्मपरत्वाङ्गीकारस्तर्हि तत्रापि तथैव स्वीकार उचितो वैपम्ये बीजाभावात् । ननु देवदत्तादिनाभेदान्वयानुभवबलात् कृतां धर्मिवाचकत्वपुरस्कारः । भावनायास्त्वाक्षेपाच्च सेतस्यतीत्याशङ्क्य प्रकृतेऽपि तथान्वयानुभवबलादेव तथात्वमुरीकर्तुमुचितमित्याह । अपि चेति । मीमांसकानामित्यस्य मते इति शेषः । तथा सति । आक्षेपलभ्यत्वे सति । न स्यादिति । आख्यातावाच्यत्वाद्वाच्यस्यैव प्राधान्यमिति नियमात् । अन्यथाभिमानयेत्यादावाक्षिप्तपात्रादेरपि प्राधान्यापत्तेः । किं च मयूरः पर्वतेतरस्मिन्न नृत्यति चेत्यत्र नृत्यस्याधिकरणं विनानुपपत्त्या कल्प्यमानमधिकरणमितरवाधात् पर्वतरूपमधिकरणं सिध्यतीति मीमांसकसिद्धान्तः । तत्र तस्याधिकरणस्य

चेन्न । घटमानयेत्यादावाक्षेपितव्यक्तेरपि प्राधान्यवदुपपत्तेः । पचतीत्यादौ भावनाया विवरणदर्शनाद्वाच्यत्वमिति चेत् पाकानुकूलव्यापारवतः कर्तुरपि विवरणविषयत्वाविशेषात् । न च कर्तुर्विवरणं तात्पर्यार्थविवरणं पाकं करोतीत्यशब्दार्थकर्मत्वविवरणवदितरेतरद्वन्द्वे हि समुच्चयांशविवरणवद्वा न तदर्थनिर्णायकमिति वाच्यम् । भावनायामपि तुल्यत्वात् । किं च पचति देवदत्त इत्यत्राभेदान्वयदर्शनात् कर्तुर्वाच्यत्वमावश्यकं पक्ता देवदत्त इति-

प्राधान्यापत्तेः । अत एव विपरीतं न तिङ्क्षिव कृत्स्वपि भावनायाः प्रत्ययवाच्यत्वादाक्षिप्तकर्त्रेपेक्षाया प्राधान्यापत्तेः । तथा चोक्तं भट्टैः । यदि कर्त्रा धात्वर्थो न वा भावनावगम्येत ततः पाचकपाठकादिपदे इव तिरोहितस्वस्वरूपावगम्येत प्राधान्यानुशब्दार्थत्वाध्यवसानमिति भावः । घटमानयेत्यादाविति । जातेर्येन कर्मत्वान्वयानुपपत्त्या तदन्वयोपपत्तये जात्याक्षिप्तायाः स्वाश्रयव्यक्त्येया प्राधान्यमनुभवसिद्धं तद्वदाख्यातवाच्यकर्त्राक्षिप्तभावनाया अनुभवसिद्धप्राधान्यमुपपादयितुं शक्यमित्यर्थः । उक्तनियमस्य व्यभिचारादिति भावः । न च प्रत्ययवाच्यत्वात् कर्तुरेव प्राधान्यापत्तिः प्रत्ययार्थाक्षिप्तस्याप्राधान्यनियमात् । अत एवाक्षिप्तमात्रस्याप्राधान्यनियमे आकृत्यधिकरणोच्छेद इति दूषणस्यापि नात्रसर इति वाच्यम् । तादृशनियमे मानाभावात् । गोमन्तमानयेत्यत्र मतुबर्थसंबन्धाक्षिप्तधर्मिणः प्राधान्यानुभवेन व्यभिचाराच्च । विवरणदर्शनात् । पाकं करोतीति भावनार्थककृष्णानुना विवरणदर्शनात् । वाच्यत्वम् । प्रत्ययवाच्यत्वम् । विवरणविषयत्वाविशेषादिति । करोतिनाख्यातेन कर्तुर्विवरणं ततः कर्तुरपि बोधाद् विव्रियमाणस्यापि तदर्थकत्वमावश्यकमिति भावः । तात्पर्यार्थेति । पचतीत्यतः कर्तुर्बोधो जायतामिति यत्तात्पर्यं तद्विषयीभूताक्षेपलभ्यकर्तुर्विवरणं न शब्दार्थविवरणमित्यर्थः । ननु शब्दार्थविवरणस्यैव दृष्टत्वेनेदमशब्दार्थविवरणादशब्दार्थस्यापि संसर्गस्य विवरणदर्शनेऽपि तदतिरिक्ताशब्दार्थविवरणमदृष्टचरमेवेत्यनुशयानो दृष्टान्तान्तरमाह । इतरेतरद्वन्द्व इति । समुच्चयांशेति । चद्वयेन समुच्चयांशो विव्रियते । तुल्यत्वादिति । भावनायाः शब्दार्थत्वविरहेऽप्युक्तरीत्या विवरणोपपत्तौ भावनाया अप्याख्यातार्थत्वं न सिध्येदित्यर्थः । ननु लाघवाद्भावना प्रत्ययवाच्या न तु कर्ता गौरवात् । तथा सति कृतामपि तथात्वं स्यादिति न शङ्कनीयम् । देवदत्तः पक्तेत्यादौ देवदत्तादिनाभेदान्वयबोधस्यानुभवसिद्धत्वादित्यत आह । किं चेति । अभेदान्वयदर्शनात् ।

१ वाक्षिप्तव्यक्ते° P., D. २ चेन्न D, D₁. ३ इतरेतरयोगद्वन्द्वसाहित्यांशविवरणवद्वा D. ४ D₂ drops it. ५ P. and A. have तदनुरोधेन after दर्शनात्.

वत् । न चाभेदबोधे समानविभक्तिमत्त्वं नियामकं तच्चात्र नास्तीति वाच्यम् । सोमेन यजेत स्तोत्रं पचति राजपुरुष इत्यादावप्यभेदबोधानापत्तेः । न च लक्षणया कर्तुरुक्तत्वाद् सामानाधिकरण्यम् । पिङ्गाक्ष्यादियौगिकानामपि द्रव्यवाचित्वानापत्तेः । एवं वैश्वदेवीत्यादितद्वितानामपि 'अनेकमन्यपदार्थे' 'सास्य

अभेदान्वयस्यानुभवसिद्धत्वात् । समानविभक्तिमत्त्वमिति । तादृगन्वयप्रतियोग्यनुयो-
गिविशेष्यविशेषणवाचकपदयोः समानविभक्तिमत्त्वं तच्च विशेषणवाचकपदे विशेष्यवाच-
कपदोत्तरविभक्तिः सजातीयविभक्तिमत्त्वं वा । साजात्यं विभक्तिविभाजकतावच्छेदकप्रथ-
मादित्वादि नाना । अतः प्रथमाद्वितीयादीनां सर्वासां विभक्तित्वादिना साजात्यान्नीलो
घट इत्यादिवाक्यादभेदान्वयबोधापत्तिः । नियामकम् । प्रयोजकम् । नास्तीति ।
प्रथमातिङ्गविभक्त्योरेकरूपेण साजात्याभावात् । एवं वाक्याभेदान्वयबोधप्रयोजकाभावा-
दभेदान्वयबोधासंभवात् धर्मिणि शक्तिस्वीकारो युक्त इति भावः । व्यभिचारात् समा-
नविभक्तिमत्त्वस्य नियामकत्वं न संभवतीत्याह । सोमेन यजेतेति । सोमपदस्य
सोमवति लक्षणा सोमवतो यागेनाभेदान्वयः । अभेदान्वयानुरोधादेवात्र मत्वर्थलक्षणा-
भ्युपगम इति न्यायप्रकाशादौ विस्तरः । स्तोत्रं पचतीति । अत्र स्तोकपदार्थस्य
धात्वर्थफलेऽभेदान्वयः । राजपुरुष इति । राजस्वत्ववतो लक्षणया राजपदार्थस्य
पुरुषेण तथान्वयः । अत्राद्यस्थलद्वये विभक्तयोः सजातीयत्वाभावयुक्तो विशिष्टभावः ।
चरमे तु विशेष्याभावप्रयुक्तः स इति विवेकः । अभेदान्वयबोधानापत्तेरिति ।
उक्तसमानविभक्तिमत्त्वविरहादिति भावः । तथा चोक्तस्थलेऽभेदान्वयबोधो निष्प्रत्युह-
स्तदुपपत्तये कर्त्रादौ शक्तिरावश्यक्येति तात्पर्यार्थः । शङ्कते । न चेति । सामानाधिकर-
ण्यमेकधर्मिबोधकत्वं तथा च लक्षणयैवाभेदान्वयबोधनिर्वाहे तत्र शक्तिस्वीकारो निरर्थक
इति भावः । द्रव्यवाचित्वानापत्तेरिति । लक्षणयैव द्रव्यबोधनिर्वाहात् । इत्यादित-
द्वितानामपि । इत्यादिसमुदायघटकतद्वितानामपीत्यर्थः । अत्रापि द्रव्यवाचित्वानुपपत्तेरि-
त्यनुपपत्तेरान्वयः । ननु समस्यमानपदार्थसंबन्धिन्येव बहुव्रीहेरनेकमन्यपदार्थेऽनुशासना-
द्विग्रहवाक्याद्यनुपसर्जनको वर्तिपदार्थस्थः प्रतीयते स स्वाम्यादिरेवान्यपदार्थः । विग्रहवा-
क्यवृत्तिवाक्ययोर्विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासरूपमेव वैलक्षण्यमित्यन्यत् । तथा च कुतो
यौगिकानां द्रव्यवाचित्वानुपपत्तिः । एवं वैश्वदेव्यादिषु तद्वितस्यापीत्याशङ्कमानोऽनुपपत्ति-
मुपपादयति । अनेकमिति । इत्यनुशासनेन प्रधानपञ्चार्थे एवानुशासनलाभादिति

१ विभक्तिमत्त्वं P., D₂; विभक्तित्वं D. २ द्रव्यत्ववाचित्वानापत्तेः D₃; द्रव्यवा-
चित्वापत्तेः P.

देवता' इत्यनुशासनेनापि पिङ्गे अक्षिणी यस्या विश्वे देवा देवता अस्या इति विग्रहदर्शनात् प्रधानषष्ठ्यर्थ एवानुशासनलाभात् । तथा च 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायस्या सोमं क्रीणाति' इति वाक्ये द्रव्यानुक्तेरारुण्यस्य स्ववाक्योपात्तद्रव्य एवान्वयप्रति-

योजना । इत्यनुशासनेन । इति विग्रहप्रदर्शनादेतद्रूपेणानुशासनेन शास्त्रेण । अनुशासनेनेति करणे ल्युट् । एतादृशविग्रहप्रदर्शनहेतोः प्रधानीभूतषष्ठ्यर्थे एवानुशासनस्य साधुत्वाच्चाख्यातस्य लाभादित्यर्थः । अयमनुशासनशब्दो भावल्युडन्तः । विग्रहात् षष्ठ्यन्तार्थे तल्लभः । षष्ठ्यन्तेन च प्रकृत्यर्थोपसर्जनको विभक्त्यर्थः संबन्ध एव प्रतीयते । अतस्तत्रैव तस्य साधुत्वं लभ्यते इति समुदिततात्पर्यार्थः । उक्तं चारुणाधिकरण-वार्तिके—

‘बहुव्रीहिः समासोऽयं मतुवर्थे विधीयते ।

अस्यात्रेति च संबन्धे मत्वर्थीयः प्रवर्तते ॥’ इति ।

आकृत्यधिकरणन्यायेनारुणादिपदस्यारुण्यादिगुणे एव शक्तिकल्पनात् । पिङ्गाक्ष्यादिपदस्योक्तरीत्या संबन्धे एव शक्तिकल्पनाच्चेति भावः । स्ववाक्येति । खं कथ्यभावना तत्प्रतिपादकवाक्यघटकपिङ्गाक्ष्यादिपदोपात्तेत्यर्थः । अत्रारुण्यस्यामूर्तत्वात् करणभावनां प्रति करणत्वासंभवात् तामुद्दिश्य तद्विधानासंभवाद्गुणवाचकस्याप्यस्य लक्षणया द्रव्यबोधकत्वसंभवेन क्रियापृथग्भूतप्राकरणिकद्रव्याण्युद्दिश्य तत्परिच्छेदकत्वेनारुण्यरूपो गुणो विधीयते । येन द्रव्येण किञ्चित् क्रियते तदरुणगुणकेनेति । ननु लक्षितद्रव्यस्य क्रये एव करणत्वसंभवात् किमिति वाक्यभेदमुरीकरोषीति चेन्न । एकहायनवाक्यावरुद्धक्रिये लक्षितद्रव्यान्तरविध्यसंभवात् । न चैकहायनीमेवानूद्य गुणाविधिरस्तु नैवं सति वाक्यभेद इति वाच्यम् । तथा सति तस्याः कथ्यं प्रति गुणीभावः स्वार्थत्वं च स्यात् । तच्चैकोच्चारणेन न संभवति गुणीभूतत्वप्रधानत्वयोर्विरोधात् । तस्मादावृत्तिप्रसङ्गः । अतो वाक्यभेदं परिकल्प्य प्राकरणिकद्रव्यमात्रे आरुण्यनिवेश इति पूर्वपक्षयित्वा तृतीयया गुणस्यैव करणत्वं कथं प्रति विस्पष्टं गम्यते तच्च द्रव्यद्वारेण युज्यत इति सिद्धान्त उक्तः । यद्यपि गुणस्यामूर्तत्वात् कथं प्रति साधनत्वं न संभवति तथापि द्रव्यपरिच्छेदद्वारा संभवत्येव । तथा चायमर्थो भवति । अरुणपरिच्छिन्नेन द्रव्येण कथं कुर्यादिति । एवं श्रौतस्यैव गुणस्यैकवाक्यत्वे संभवति लक्षणा वाक्यभेदश्च न युज्येते । क्रियार्थत्वे च तदीयद्रव्ये एव निवेश इत्यभिहितं पार्थसारथिमिश्रैरित्यलं विस्तरेण । एवं वैश्वदेव्यादिपदघटकतद्वितस्योक्तरीत्या द्रव्यवाचकत्वाभावे

पादकारणाधिकरणोच्छेदापत्तिः । द्रव्यवाचकत्वसाधकमूलयुक्तेः सामानाधिकर-
ण्यस्योक्तरीत्योपपत्तेरिति प्रपञ्चितं बिस्तरेण वैयाकरणभूषणे । तिङ् इति ।

‘आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्वितः ।

आमिक्षापदसांनिध्यात् तस्यैव विषयार्पणम् ॥’

इति भाट्टसिद्धान्तविरोधस्तन्मूलकगुणाधिकरणोच्छेदश्च द्रष्टव्यः । तथाहि ‘तप्ते पयसि
दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्’ इति चातुर्मास्यान्तर्गतवैश्वदेवपर्वणि
श्रूयते । तत्र वाजिभ्यो वाजिनमिति वाक्येन प्रक्रान्तवैश्वदेवयागे वाज आमिक्षारूपमन्नं
येषामस्तीति व्युत्पत्त्या वाजिपदलब्धविश्वदेवानुद्दिश्य वाजिनरूपो गुणो विधीयते इति
पूर्वपक्षमुक्तव्योत्पत्तिशिष्टश्रौतामिक्षारूपद्रव्यावरुद्धत्वेन निराकाङ्क्षतया प्रकृतयागे वाजिनस्य
निवशासंभवेन तद्गुणकर्मपूर्वदेवताकं कर्मान्तरं विधीयते । प्रकृतयागे वाजिनसंबन्धो भवन् वा
खेन स्यात् । ततः पूर्वमेव तद्वितश्रुत्या प्रवलयामिक्षासंबन्धसंपादनं कृतमिति निराकाङ्क्षमा-
मिक्षेतिपदं तदपेक्षासत्त्वेऽपि स्वभिन्नार्थकपदान्तरापेक्षणं श्रौतत्वमेव विनियोगस्य यत्र भिन्ना-
र्थकपदान्तरापेक्षा तत्र वाक्यप्रमाणकत्वम् । तथा चोक्तगुणकर्मान्तरविधानमिति सिद्धान्त
उक्तः । उक्तरीत्या तदसंगतिः स्पष्टेवेति । मूलयुक्तेः सामानाधिकरण्यस्य ।
पिङ्गाक्षी गौः वैश्वदेव्यामिक्षेत्यत्रानुभवसिद्धसामानाधिकरण्यं तस्योक्तरीत्याक्षेपादिनोप-
पत्तेरित्यर्थः । एवं च यौगिकानां गोमत्पिङ्गाक्ष्यादिपदानां तद्वटकस्य प्रत्ययस्य च न
किञ्चिद् द्रव्यवाचकत्वसाधकं तत्प्रतीतिराक्षेपादिनोपपत्तेरिति तेषां तद्वाचित्वं न स्यादिति
भावः । नन्वेवं गोमत्त्वमित्यतः संसर्गप्रत्ययो न स्यात् पदार्थतावच्छेदकस्यैव त्वार्थ-
त्वादिति चेन्न । गोत्वादिपदेभ्यः शक्यजातिमानवत्तद्धानोपपत्तेः । तत्प्रकृतिजन्यबोधे
आक्षिप्तव्यक्त्यर्थो प्रकारतया तद्धानोपपत्तिरिति चेन्न प्रकृतेऽपि साम्यात् । यत्तु मीमांसा-
वार्तिककारैर्मनुबादेर्द्रव्यवाचकतासाधकयुक्तिरुपन्यस्ता मनुवादेर्न संबन्धसामान्यं वाच्यं
पर्यायतापत्तेः न संबन्धविशेषस्तत्र संबन्धिरूप एव हि विशेषस्तस्यावश्यं वाच्योऽनभि-
हितस्य व्यावर्तकत्वासंभवात् । प्रातिपदिकेनैकसंबन्धमिधानेऽपि संबन्धस्योभयनि-
रूप्यत्वेन द्वितीयाभिधानावश्यकत्वे प्रत्युत गौरवं स्यात् । अतो लाघवाद् द्रव्यमेव
मनुवादिवाच्यं तेनाक्षेपाद्भागेन संबन्धेन शक्तिः । उक्तं च

‘सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते ।

न हि संबन्धवाच्यत्वं संभवत्यतिगौरवात् ॥’

किं च

‘संबन्धिनैव संबन्धः प्रत्येतुं यदि शक्यते ।

पुनस्तस्याभिधाशक्तिं कः श्रुतेः परिकल्पयेत् ॥’

परिकल्पयेदिति भावेनैव संबन्धाभिधानं न स्यादिति चेन्न ।

‘यदा स्वसमवेतोऽत्र वाच्यो नास्ति गुणोऽपरः ।

तदा गत्यन्तराभावात् संबन्धो वाच्य आश्रितः ॥’

इत्यनेन तदभिधाने युक्तेरुक्तत्वात् । मतुबर्थविशेषणीभूतानां गवां पुरुषासमवेतत्वात् समवेतगुणाभिधायिना त्वप्रत्ययेन ग्रहणासंभवेनागत्यार्थाक्षिसंबन्धस्तदर्थ इत्याश्रीयते इति तदर्थः । यदप्येकं हायनमस्या इति विग्रहे संबन्धप्राधान्यदर्शनात् संबन्धार्थकृता तादृशसमासः स्यादिति दूषणं तदपि न । अनुभूय मतुबर्थानुसारेण चित्राणां गवामयमित्यादिवाक्यस्यैव विग्रहत्वस्वीकारात् । तदुक्तम् ।

‘अभिधेयो बहुव्रीहेर्यद्यप्यस्येति कथ्यते ।

तथापि प्रथमान्तेन तुल्योऽसौ संप्रतीयते ॥’ इति ।

अत्राहुर्वृहद्दूषणकृतः । मतुवादीनां द्रव्यसामान्यवाचकत्वे पर्यायतापत्त्या तुल्यत्वमत विशेषत एव तद्वोधकत्वाङ्गीकार आवश्यकः । तत्र विशेषः संसर्गो वा प्रातिपदिकार्थो वा । आयेऽप्रतीतस्यानभिहितस्य विशेषकत्वासंभवाद्वाच्यत्वं तस्याङ्गीकार्यमेवं च गौरवं स्पष्टमेव । अन्त्ये संसर्गवाचितामतेऽपि प्रातिपदिकार्थस्य गवादेर्व्यावर्तकतया विशेषणत्वसंभवे तत्पक्षोऽपि नाचितः । संबन्धप्रत्यक्षे एव यावत्संबन्धप्रत्यक्षं कारणमन्यथा घटाकाशसंयोगप्रत्यक्षापत्तेः । एवं चोभयनिरूप्यं संबन्ध इति द्वितीयसंबन्धिज्ञानं विना तद्वोधानिर्वाहत्तद्वाचकतावश्यकतीति दूषणं निरस्तम् । तथा च गोमत्पदाद्गोविशिष्ट इतिवद्गोसंबन्ध इति बोधो निष्प्रत्यूह एव । शब्दशक्तिस्वभावादेव भावनापदोपात्तभावनाया आश्रयानाक्षेपकत्वमाख्यातोपात्तायास्तस्यास्तदाक्षेपकत्वमितिवत् संबन्धपदोपात्तसंबन्धस्याश्रयानाक्षेपकत्वेऽपि मतुवाद्युपात्तस्य तस्य तदाक्षेपकत्वं संभवति । यद्वा स्वसमवेत इत्याद्यपि मत्वादेः स्वसमवेतगुणवाचकत्वनियमासिद्धेर्जातेः पदार्थत्वमते प्रकृत्यर्थवाचकत्वस्वीकारेण मतुवादेः संबन्धवाचकत्वे गोमत्त्वमित्यतस्तत्प्रत्ययानापत्तेः प्रकृत्यर्थसमवेतवाचकत्वेऽतिगौरवापत्तेः । घटत्वत्वमित्यतो घटत्वस्यैव बोधापत्तेश्च । घटादिपदेन घटत्वाभिधानेऽपि प्राधान्येऽपि बोधार्थं त्वादिशक्तेरावश्यकतेति न वैयर्थ्यशङ्केति बोध्यम् । तस्मात् संबन्धवाच्यत्वे

बोधकारूपा शक्तिस्तिङ्क्ष्वेवेत्यभिप्रेत्येदम् । पदार्थं निरूप्य वाक्यार्थं निरूप-
 दोषाभावादनृशासनलभ्यत्वाच्च तस्यैव वाच्यत्वं स्यान्न तु द्रव्यस्य । सामानाधिकरण्यानु-
 रोधेन द्रव्यं मनुबादिवाच्यमिति चेत् प्रकृतेऽपि तुल्यमित्यादि विस्तरेण बृहद्भूषणे निरू-
 पितमित्याशयेनाह । विस्तरेणेति । ननु 'लः कर्मणि—', 'तिप्त्सञ्ज्ञि—', 'द्व्येकयो-
 द्विवचनैकवचने', 'बहुषु बहुवचनम्' इत्येषां सूत्राणामेकवाक्यतया कर्त्रादिगतैकत्वादौ
 लकारस्य स्थाने एकवचनादिसंज्ञकास्तिवादयो भवन्तीति वाक्यार्थपर्यवसानादेकत्वादि-
 संख्याया एव वाच्यत्वमनुशासनाल्लभ्यते न कर्तृकर्मणोः । शबरस्वामिभिः पुरस्कृ-
 तोऽयमर्थ इति चेन्न । एकवचनादिसंज्ञाया आधेयनिष्ठतया तिवादिविधिनैव 'द्व्येकयो—'
 इत्यादेरेकवाक्यता न तु 'लः कर्मणि—' इत्यनेनापि । तत्र च न कर्तुरित्यादिकमस्ति ।
 अत उक्तार्थत्वासंभवाद्भविष्यतिवादिबिध्योस्तु न पदैकवाक्यतापि तु वाक्यैकवाक्यता
 लविधिलभ्यलकारानुवादेनादेशविधेः प्रवृत्तेः । स चैकवचनादिसंज्ञाविनिर्मुक्त एव । 'लः
 कर्मणि—' इत्यनेनादौ वाक्यार्थबोधने कृते सत्येवान्येनैकवाक्यता तेन च कर्त्रादिकमर्थ-
 मुपादाय तत्र लकारस्य विधानात्तस्यावाच्यत्वं दुष्परिहरमेव । ननु 'वर्तमाने लट्'
 इत्यादिना विहितलकारमुद्दिशोक्तरीत्या पदैकवाक्यतासंभव इति चेदेवमपि सुप्स्वि-
 तिङ्क्ष्वपि कर्त्रादीनां प्रत्ययार्थत्वसंख्यायास्तद्विशेषणत्वं च दुर्वारम् । अपि च कर्माशोऽन्ये-
 वमेवापत्तौ कर्मणोऽन्यवाच्यत्वात् पच्यते तण्डुल इत्यादौ भावनायाः कर्मव्यभिचारितया-
 क्षेपासंभवेन कर्मणो बोधानापत्तिः । आख्यातार्थसंख्ययाश्रयाक्षेपसंभवेऽपि कर्म-
 त्वशक्तिमत्त्वेन बोधानुपपत्तिर्दृढैव । ननु कर्तुर्वाच्यत्वे नानृतं वदेदिति निषेधस्य प्रकरणा-
 पेक्षया श्रुतेर्वलवत्त्वात् पुरुषार्थत्वमेव स्यान्न कत्वर्थत्वं तथा च कर्तौ तादृशापभाषणे कृतेऽपि
 क्रतुब्रंशप्रायश्चित्तानापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । याज्ञिकसमाचारविरोधात् । 'परावरज्ञाः
 केचिदृषयो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे कर्मणि पुनर्ना-
 पभाषन्ते यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः' इति पस्पशाह्निकस्थभाष्यस्वरसविरोधाच्चेति
 चेन्न । प्रकरणसचिवश्रुत्या क्रतुयुक्तपुरुषार्थत्वसंभवेनादोषात् प्रमाणयोर्विरोधे एव बलाबल-
 चिन्ताप्रवृत्तेः प्रकृते विरोधाभावादन्यथा 'जज्ञभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षकृत' इत्यत्र कृतावपि
 जज्ञभ्यमानपुरुषसत्त्वादविरुद्धाभ्यां वाक्यप्रकरणाभ्यां पुरुषसंस्कारमुखेन कत्वर्थत्वसिद्धा-
 न्तस्त्वदीयो भज्येतेति मञ्जूषादौ विस्तर इत्यलं पल्लवितेन । ननु 'लः कर्मणि—' इत्यनु-
 शासनेन लकाराणां शक्तिबोधनात् 'आश्रये तु तिङः' इत्युक्तमित्याशङ्क्याह ।
 बोधकतेति । तत्र कर्त्राद्यर्थानां मध्ये कर्तृकर्मणीत्यत्र विशेषमित्यनुषज्यते । ननु धात्वर्थस्य
 प्रकृत्युपस्थापिततया तस्यापि प्रत्यासन्नतया तत्र कुतो न विशेषणं किं च प्रत्ययार्थस्य
 प्रकृत्यर्थ एवान्वयस्य न्याय्यत्वात् सुवर्थसंख्यायाः प्रकृत्यर्थे एवान्वयस्य दृष्टत्वाच्च तत्रैव

यति । फल इत्यादि । विद्धित्यादि फलं प्रति तिङ्-र्थः कर्तृकर्मसंख्याकालाः । तत्र कर्तृकर्मणी व्यापारफलयोर्विशेषणे । संख्या कर्तृप्रत्यये कर्तरि कर्मप्रत्यये कर्मणि । समानप्रत्ययोपात्तत्वात् । तथा चाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधं प्रत्याख्यातजन्यकर्तृकर्मोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावः फलितः । नैयायिकादीना-

तदन्वयं उचित इत्याशङ्कं निराकर्तुं कर्त्रादौ विशेषणत्वे हेतुमाह । समानेति । तथा च धात्वर्थापेक्षया प्रत्यासत्त्यतिशयात्तत्रैव तदन्वय उचितः । अत एव 'अनभिहिते' इति सूत्रभाष्ये 'प्रातिपदिकार्थे-' इति सूत्रे तदनुवृत्तौ सत्यां संख्याया एवैतद्विशेषणं स्यादन्यस्यासंभवात् । तथा च पचत्योदनं देवदत्त इत्यादौ प्रथमा न स्यात् तिङोक्तत्वादेकत्वादीनामित्युक्तमाज्जयेन संगच्छते । क्रियायां तदन्वये तु तदसंगतिः स्पष्टैव । अत एव 'पचतीति कर्तुरेकत्वं तिङाभिहितमिति प्रथमा न स्यात्' इति कैयटोपाध्यायैरुक्तम् । रूपसूत्रे 'साधनापेक्षं पचत इत्यादौ द्विवचनम्' इति भाष्यमपीत्यमेव व्याख्यातं तैः । क्रियायामनारोपितद्वित्वासंभवश्च सर्वत्रारोपे मानाभावश्च । 'तिवन्तं चापि किञ्चिद्विभक्त्यर्थप्रधानं किञ्चित् क्रियाप्रधानम् । काण्डे कुड्ये इति विभक्त्यर्थप्रधानं रमते ब्राह्मणकुलमिति क्रियाप्रधानं न चैतयोरर्थयोरलिङ्गसंख्याभ्यां योगः' इति 'ह्रस्वो नपुंसके-' इति सूत्रस्थाभाष्यविरोधश्च न । तत्र प्रायेणेति शेषः । तेन हतशायिका इत्यादौ तद्योगं विनासंगतिः । पचतोरूपमित्यादावप्यौत्सर्गिकमेव वचनं पचतिरूपमिति वत् । वस्तुतस्तु हतशायिका इत्यादावपि नासत्त्वभूतक्रियायां संख्यानन्वयः । परं तु भाष्यकारवचनादेव तत्र बहुवचनमिति प्रामाणिका इति बृहद्भूषणादौ स्पष्टम् । अन्ये तु भावतिङन्ते एकवचनमौत्सर्गिकमसत्त्वभूतत्वात् क्रियायाः । अन्यथा ब्राह्मणाभ्यामास्यते इत्यादौ द्विवचनाद्यापत्तेः । क्रियाभेदेन कर्तृभेदस्यावश्यकत्वादिति वदन्ति । मीमांसकनैयायिकादीनामपि साधन एव संख्यानन्वयोऽभिमतो न क्रियायामियानेव परं भेदो यत्तन्मते पदान्तरोपस्थापितादौ तदन्वयः स्वमते तिङुपस्थापिते इति । न चानेकः पचति द्वौ पचत इत्यादौ साधनेऽप्यारोपितसंख्यानन्वय आवश्यक इति वाच्यम् । तत्रागत्या तदङ्गीकारेऽपि सर्वत्र तदङ्गीकारे मानाभावादिति भावः । सुब्विभक्त्यर्थसंख्यायास्तु समानप्रकृतेः प्रत्ययोपात्तेऽन्वयासंभवात् प्रकृत्यर्थे एवान्वयः । कर्मादीनां विभक्तिवाच्यतामते तत्संभवेऽपि द्योत्यतामते तदसंभव एव । तथा चोक्तं 'बहुषु बहुवचनम्' इति सूत्रभाष्ये । 'एवं तर्हि एकवचनं द्विवचनं बहुवचनमिति शब्दसंज्ञा एताः । येष्वर्थेषु स्वादयो विधीयन्ते तेषु बहुषु । केष्वर्थेषु स्वादयो विधीयन्ते । कर्मादिषु । न वै कर्मादयो विभक्त्यर्थाः । के तर्हि । एकत्वादयः । एकत्वादिष्वपि वै विभक्त्यर्थेष्ववश्यं कर्मादयो निमित्तत्वेनोपादेयाः । कर्मण एकत्वे कर्मणो द्वित्वे कर्मणो बहुत्वे इति' इति ।

अत्रानभिहिताधिकाररम्भसामर्थ्यात् संख्या विभक्तिवाच्या । चतुर्थ्यं प्रातिपदिकार्थं इत्याशयको 'न वै कर्मादयः' इत्यादिः 'के तर्हि । एकत्वादयः' इत्यन्तो ग्रन्थ इत्याहुः । परे तु पञ्चकं प्रातिपदिकार्थं इत्याशयकोऽयं ग्रन्थः । अर्ध-जरतीयस्यायुक्तत्वात् । अत्रापि पक्षे एकत्वादीनामाश्रयाकाङ्क्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादि-भिरेव वाक्यत्वे सति प्रत्यासन्नतया संभवेन च निमित्तत्वमित्याशयेन 'एकत्वादिष्वपि वै' इत्यायुक्तं भाष्ये । 'एकत्वादयः' इत्युक्तिस्तु तादृशैकवाक्यत्वे कर्मादिकं प्रत्येकत्वादीनां प्राधान्याभिप्रायिका इत्याहुः । तथा च समानप्रत्ययोपात्तत्वप्रत्यासत्त्याख्यातार्थसंख्यायास्तदर्थान्तरे आश्रये एवान्वयः । एवं 'लः कर्मणि-' 'तिप्त्स्-' 'ल्लेकयोः-' इत्यादीनामेकवा-क्यतयैकत्वादिविशिष्टकर्त्रादौ तद्विधानादित्यपि बोध्यम् । परे तु तेषां पूर्वोक्तरीत्या वाक्यै-कवाक्यता न पदैकवाक्यता सा च लकाराणां कर्मादौ भवति तेषां च स्थाने एकत्वादौ तिवादयो भवन्तीत्येवरूपा । तत्र हि द्वितीयस्य कर्मणीत्यादिपदस्यासत्त्वात् कर्मादिवैकत्वा-देर्विशेषणत्वं न संभवति । आवृत्तौ च मानाभावः । तस्माद्भात्वर्थे एव संख्यान्वयः । कस्यैकत्वादावित्याकाङ्क्षायामुपस्थितप्रकृत्यर्थगतैकत्वादावित्येवार्थः । एवं हि सुपृतिद्विषये 'ल्लेकयोः-' इत्यादीनामैकरूप्यं भवति । अत एव समानप्रत्ययोपात्तत्वमप्यकिंचित्करम् । कर्मणीत्यादेरपि विधेयं प्रति गुणत्वाद्गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायेन संख्यया तत्संबन्धा-संभवात् । स्वप्रकृतिकप्रत्ययवाच्यसाधनगतसंख्यारोपेण च न द्विवचनाद्यनुपपत्तिः । मूलभूतसाधनधर्मिकतत्संख्याप्रकारकमानसनिश्चयसत्त्वान्न कर्त्रादौ तत्संशयः । देवदत्तचञ्च-दत्ताभ्यां भूयते सुष्यत इत्यादौ कर्तृगतद्वित्वादन्त्यनिबन्धनद्विवचनादिकं नापादनीयम् । शक्तिस्वभावात् स्वप्रकृतिकप्रत्ययवाच्यसाधनगतसंख्याया एव क्रियायामारोपो न तु भिन्न-पदोपात्तसाधनगतसंख्याया इत्यङ्गीकारात् । अनेकः पञ्चतीत्यत्रारोपिताया एव साधनगत-संख्यायाः प्रसाधकत्वस्य भाष्यसिद्धान्ते क्लृप्तत्वादुत्तरपदार्थप्रधानो नञ्त्तत्पुरुष इति भाष्यसिद्धान्तात् । पञ्चकृत्वः पच्यत इत्यादौ पदान्तरसमभिव्याहारेण बहुत्वावगमेऽपि लक्ष्यानुसारेण पदसंस्कारपक्षस्यैवाङ्गीकाराच्च बहुवचनायापत्तिः । धातुना च निवृत्तभेदैव क्रियापत्तिरापाद्यते । तदुक्तं हरिणा

‘एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसंख्यया ।

भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रयः ॥’ इति ।

व्याख्यातं चैतद्वेल्लाराजेन । एकपदोपात्तकर्तृकर्मलक्षणसाधनाधारकद्वित्वबहुत्वाभ्यां पचतः पचन्ति पच्येते पच्यन्ते इति क्रिया विशेष्यते तेन हि द्विवहुसाधनसाध्यत्वं प्रतीयते क्रियायाः । एवं तद्वत्लिङ्गे योगो न शब्दार्थप्रतीतेः स्वाभाविकत्वेन युक्त्यगम्यत्वादिति ।

माख्यातार्थसंख्यायाः प्रथमान्तार्थ एवान्वयादाख्यातार्थसंख्याप्रकारकबोधे प्रथ-

तथा 'संबन्धाज्जातभेदोऽयम्' इति हरिकारिकाप्रतीकमुपादाय 'यथाख्याते प्रत्ययवाच्यकार-
कभेदे सति तत्संबन्धधात्वर्थक्रियायामपि भेदः प्रतीयते यथा पचतः पचन्ति' इति पुञ्जराजः ।
अत्र द्विवचनान्तोदाहरणादेकत्वं स्वगतमेव प्रतीयत इत्यभिप्रेतम् । अत एव ङ्याप्सूत्रे
भाष्ये तत्सूत्रानारम्भे पचतीत्यादौ तिङन्तात् स्थायुत्पत्तिशङ्कैकत्वादीनामुक्तत्वात् परिहृता ।
तव मते साधनगताया उक्तत्वेऽपि प्रधानभूतधात्वर्थगतसंख्याविरहादित्याशङ्क्य क्रिया-
प्रधानमाख्यातं क्रिया चैका न द्वित्वादिमतीति तिङन्ताद्रेदानवगतेः । झीबत्वं च
स्वभावात् । यद्येका क्रिया पचत इत्यादौ कथं द्विवचनादीत्याशङ्क्य साधनापेक्षं तदि-
त्युक्तम् । अत्र साधने द्वित्वाद्यन्वय इति व्याख्या न साधीयसी । एकत्वस्य क्रियायाम-
न्वयः द्वित्वादेः साधने इति वैरूप्यापत्तेः । यद्यपि क्रियागतमेकत्वं तिङोक्तं तथाप्यनेन
ग्रन्थेन पचतोरूपं पचन्तिरूपमित्यत्रानुपपत्तिः परिहृतेति भावः । अत एव तदप्रे पचतोरूप-
मित्यादावपि पचत इतिवद् द्विवचनाद्यापत्तेस्तिङोक्तत्वात् परिहारे कृते सति 'एकवचनमपि
तर्हि न प्राप्नोति' इत्युक्तम् । पचतीत्यत्र तिङोक्तत्वादेकत्वस्यैकवचनं न प्राप्नोतीति तदाशयः
'कैयटोपाध्यायैरुक्तः । तदप्रे च 'एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते' इति तत्परिहार उक्तः । न
चौत्सर्गिकमेकवचनं पचतोरूपमित्यादावपि भविष्यति तथा च क्रिया चैकेत्याद्युक्तिर्निर्-
र्थिकेति वाच्यम् । 'द्व्येकयो' इति तथाश्रुततत्सूत्राभिप्रायेण तस्य सत्त्वात् । औत्स-
र्गिकमेकवचनमिति पक्षेऽपि पूर्वोक्तक्रियागतैकत्वस्याखण्डनाच्च तस्यानभिप्रेतत्वमिति
बोध्यम् । एको द्वौ बहव इत्यादौ द्वयोरेकस्य बहुषु त्रयाणामित्यादिनिर्देशैः प्रातिपदि-
कार्यसूत्रे वचनशब्देन च संख्याप्रवृत्तिनिमित्तकैकादिशब्दैश्चानुवादकविभक्त्यैव न केव-
लेति नियमपरिपालनेऽप्यन्यत्रौत्सर्गिकैकवचनेनैतत्परिपालनं लक्ष्यानुरोधादुक्तभाष्यप्राप्ता-
प्याच्च । अतो न पचतोरूपमित्यादौ द्विवचनाद्यापत्तिः । एवं भावे स्वगतैकत्वनिबन्धन-
मेवैकवचनं न त्वौत्सर्गिकम् । धात्वर्थे तदन्वयानुपगमे पचति भवति पचतो भवतीत्यादौ
भूधातूत्तराख्यातार्थसंख्यानुचितैव स्यात् । न चेष्टापत्तिः । 'भवतिः पुनर्वर्तमानकालं चैवैकत्वं
च' इति भूवादिमूत्रस्थभाष्येण तस्य संख्यार्थकत्वप्रत्यायनादित्यादि समूचिरे । विस्तरो
मञ्जूषायामनुसंधेयः । आख्यातार्थसंख्याप्रकारकेति । कर्तृकर्मविशेष्यकेत्यपि पूर-
णीयम् । यथा चाख्यातोपस्थितसंख्याप्रकारककर्तृभूतार्थविशेष्यकबुद्धित्वं तत्रविशिष्टकर्मत-
द्विशेष्यकबुद्धित्वं च कार्यतावच्छेदकमाख्यातजन्यकर्तृपस्थितित्वं तत्कर्मोपस्थितित्वं कारण-
तावच्छेदकं समावायः कार्यकारणयोरवच्छेदकः संबन्धः । कर्तृप्रत्ययेन कर्त्रादिविशेष्यकबोध-
जननादाख्यातजन्योपस्थितेर्व्यभिचारात् कार्यतावच्छेदकदिशि प्रकारकतन्निवेशसुबर्थसंख्या-

मान्तपदजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावो वाच्यः । सोऽपि चन्द्र इव मुखं दृश्यते देवदत्तो भुक्त्वा व्रजतीत्यादौ चन्द्रत्वार्थयोराख्यातार्थानन्वयादितरा-

प्रकारकतादृशशुद्धेरुदयान्न दोषतादवस्थं स्यादत आख्यातार्थेति संख्याविशेषणम् । तदर्थसंख्याया अपि आख्यातशङ्क्यतया तदवस्थो दोष इति तदुपस्थितिपरं तज्जन्योपस्थिति-सहकारे संख्याप्रकारकबोधप्राप्त्यकम् । अन्यथा सुबुपस्थितायास्तिदुपस्थितायाश्च संख्याया एवोक्तदोषतादवस्थापत्तिः । तण्डुलं पञ्चतीत्यत्राख्यातार्थसंख्यायाः करणादावनन्वयबोधवारणाय कर्तृविशेष्यकत्वादेः कार्यतावच्छेदककोटौ निवेशः । ननु तथापि कर्तृप्रत्यये कर्मणि कर्मप्रत्यये कर्तरि तदापत्तिरिति चेन्न । कर्तृकर्मणोराख्यातार्थत्वस्य निवेदनीयत्वात् । तस्य च पूर्ववदेवार्थोऽतो न तदवस्थो दोषः । पदान्तरेण कर्त्राद्युपस्थितिस्तदादृशबोधवारणायाख्यातजन्यत्वं तत्तदुपस्थितौ निवेशितम् । चैत्रस्य तथाविधसंख्योपस्थितिसत्त्वे मैत्रस्य तादृशवारणाय समवायस्य तदघटकतया निवेशः । वस्तुतस्तु कर्मविशेष्यत्वं कार्यतावच्छेदके न निवेश्यम् । कर्तृत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतासंबन्धेन कार्यकारणभावाङ्गीकारान्न पूर्वोक्तदोषः । उद्बोधककार्यताकारणतावच्छेदककोटौ तत्पुरुषीयत्वप्रवेशान्न चैत्रस्येत्यादिदोषः । तत्पुरुषीयत्वनिवेशात् कार्यकारणभावबाहुल्यमिति तु न शङ्क्यम् । विषयनिवेशापेक्षया कार्यकारणभावानामल्पत्वाद् विषयापेक्षया पुरुषाणामल्पत्वात् । परमते कार्यकारणभावप्रयुक्तं गौरवमाह । नैयायिकेति । वक्ष्यमाणकार्यकारणभावाभ्युपगमे युक्तिमाह । आख्यातार्थेत्यादिना नान्वयादित्यन्तेन । तथा च तदनभ्युपगमे तथाविधनियमानुपपत्त्या स आवश्यकः । द्वितीयाद्यन्तपदोपस्थापितेऽपि तदन्वयापत्तेरिति भावः । आख्यातार्थेति । पूर्ववदाख्येयपदप्रयोजनमप्यवगन्तव्यम् । जन्योपस्थितिरिति । विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या कार्यत्वकारणत्वपक्षे प्रथमान्ततत्पदार्थनिष्ठविषयताकारणतावच्छेदकतया प्रवेदयानामन्तसमूहालम्बनप्रथमान्तपदजन्येत्यादिना पदान्तरजन्योपस्थितेः कारणताभ्युपगमात् । एतन्मते स्वमतापेक्षया गौरवमावेदितम् । सोऽपि । उक्तकार्यकारणभावोऽपि । चन्द्रादेरपि प्रथमान्तार्थतया दृश्यते व्रजतीत्याद्याख्यातार्थसंख्याप्रकारकान्वयबोधोपात्तिः । न चेष्टापत्तिः । अननुभवात् । चन्द्र इव दृश्यते मुखे इत्यादौ दृश्यते इति द्विवचनाद्यनुपपत्तिः । चन्द्रस्यैकत्वेन द्वित्वान्वयासंभवात् । न च कारणेन कार्यजननाद्विशेषत आदराभावः । सामर्थ्या एवापादकत्वात् । मुखे एव तदन्वयबोधो न चन्द्रे इति नियमानिर्वाहस्योद्भावनीयत्वाच्च । इतराविशेषणत्वेति । समवायेन कार्यकारणभावपक्षे इतरविशेषणता यत्र प्रथमान्तार्थविशेषणत्वं कार्यतावच्छेदककोटावन्तर्भावीयम् । द्वितीयपक्षे इतरविशेषणतात्रा-द्यन्तनिष्ठविषयतैव प्रत्यासत्तित्वेन निवेदयेत्यर्थः । चन्द्रभोजनस्य व्रजनक्रियायां चार्थसाह-

विशेषणत्वघटित इत्यतिगौरवम् । इदमपि कर्तृकर्मणोराख्यातार्थत्वे मानमिति स्पष्टं
 भूषणे । कालस्तु व्यापारे विशेषणम् । तथा हि 'वर्तमाने लट्' इत्यत्राधिकाराद्
 धातोरिति लब्धम् । तच्च धात्वर्थं वदत् प्राधान्याद् व्यापारमेव ग्राहयतीति तत्रैव
 तदन्वयः । न च संख्यावत् कर्तृकर्मणारेवान्वयः शङ्क्यः । अतीतभावनाके
 कर्तरि पचतीत्यापत्तेः । अपाक्षीदित्यनापत्तेश्च । पाकानारम्भदशायां कर्तृसत्त्वे
 पक्ष्यतीत्यापत्तेश्च । नापि फले तदन्वयः । फलानुत्पत्तिदशायां व्यापारसत्त्वे
 पचतीत्यापत्तेः । पक्ष्यतीत्यापत्तेश्चेत्यवधेयम् । न चामवातजडीकृतकलेवरस्यो-
 त्थानानुकूलयत्नसत्त्वादुत्तिष्ठतीति प्रयोगापत्तिः । परयत्नस्याज्ञानादप्रयोगात् ।
 किञ्चिच्छेष्टादिनावगतौ चायमुत्तिष्ठति शक्त्यभावात् फलं तु न जायत इति
 अस्य विशेषणत्वान्नोत्तापत्तिः । अतिगौरवमिति । स्वमते चन्द्रादेस्तत्राख्यातार्थत्ववि-
 रहेण तत्र संख्यान्वयबोधस्याप्रसक्ततया नेतरविशेषणत्वं तत्रान्तर्भावनीयमिति भावः ।
 इदमपि । उक्तगौरवमपि । स्वमते परमतापेक्षया लाघवमपीति वार्थः । ननु व्यापारे
 विशेषणत्वमन्याथ्यं समानप्रत्ययोपात्तयोः कर्तृकर्मणोरेव तदन्वयस्योचितत्वात् । न च
 धातोरित्यनुवृत्त्या प्रयोगसमये धातोर्वर्तमानत्वस्याविवक्षणात्तदर्थगतवर्तमानत्व इत्यर्थला-
 भाद् व्यापारे एव तदन्वयाङ्गीकार इति वाच्यम् । फलस्यापि धात्वर्थस्याविशेषेण व्यापारे
 एव तदन्वये विनिगमकाभावादित्यत आह । तथा हीति । तच्च । धातुपदं च ।
 धात्वर्थं वदत् । उक्तरीत्या धात्वर्थं बोधयत् । प्राधान्याद् । प्राधान्याधिकारेण
 लक्ष्यानुरोधपरिग्रहत्वेन पच्यते पच्यमान इत्यादौ फलस्य प्राधान्येऽपि न क्षतिः ।
 कर्तृकर्मणोरेवेति । न च पूर्वोक्तयुक्त्या व्यापारे एवान्वय इति वाच्यम् । अनुवृत्तधा-
 तोरित्यस्य पञ्चम्यन्ततया तथा वाक्यार्थसंभवात् । आद्यतौ मानाभावात् । लक्षणैकचक्षुष्कस्य
 लक्ष्यदर्शनाभावाच्चेति भावः । लक्ष्यैकचक्षुष्कदर्शनाभिप्रायेण समाधत्ते । अतीतेति ।
 अनिष्टप्रसज्जनमुक्त्वेष्टासिद्धिमप्याह । अपाक्षीदिति । ननु फले एव तदन्वयः स्वीक्रियतां
 तत्र च न पूर्वोक्तदोषावसर इत्याशङ्क्य निराचष्टे । नापीत्यादिना आपत्तेश्चेत्यन्तेन ।
 प्रयोगापत्तिरिति । फले तदन्वयाङ्गीकारपक्षे तु फलस्यावर्तमानतया नायं दोषः । तथा
 चायमपि पक्षो दुष्टः । एवं च सर्वपक्षाणां दुष्टत्वे तुल्ये एतत्पक्षस्यैवाश्रयणमनुचितमिति
 भावः । अज्ञानादप्रयोगादिति । ज्ञानस्यैव बोधविषयप्रयोगे निमित्तत्वात् शुकादिवत्
 प्रयोगस्त्विष्ट एव । ननु परप्रत्यक्षाप्रत्यक्षत्वेऽप्यानुमानिकादिज्ञानसंभवात्तथाविधप्रयोगो
 दुर्वार एवेत्याशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति । किञ्चिदिति । किञ्चिच्छेष्टादिनेत्यर्थः । आदिना

१ विशेषणघटितं D₁, २ वैयाकरणभूषणे D₁, ३ रेव तदन्वयः D₁, ४ वार्थं D₂,
 ५ उत्तिष्ठतीति D₂, ६ जातमिति D₁.

लोकप्रतीतेरिष्टत्वात् । एवं च तिङर्थो विशेषणमेव । भावनैव प्रधानम् । यद्यपि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमन्यत्र दृष्टं तथापि 'भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति निरुक्ताद् भूवादिसूत्रस्थक्रियाप्राधान्यबोधकभाष्याच्च धात्वर्थभावनाप्राधान्यमध्यवसीयते । अपि चाख्यातार्थप्राधान्ये तस्य

तदीयलेखादिः । वृहद्भूषणकारादयस्तु तदीययत्नो नोत्थानात्मककलानुकूलेऽपि तु तदुद्देश्यकोऽत एव तत्रोत्थानाय यतत इत्येव प्रयोगो नोत्तिष्ठतीति । अनुकूलताविषयस्यैव फलव्यापारयोः संसर्गतयाम्बुपेयत्वात् । अत एव तण्डुलकयणादिदशायामयं पचतीति न प्रयोग इत्याहुः । एवं चेति । एवं पूर्वोक्तोक्तीनामवदयाश्रयणीयत्वे । भावनैव । धात्वर्थ एव । ननु भावनाया धातुवाच्यत्वे कर्मादेस्तिङ्वाच्यत्वे तस्याः प्रत्ययार्थसाधनं प्रति विशेषणत्वापत्तिः । संख्याकालाद्यतिरिक्तप्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यस्यैव नियतत्वादिति सीमांसकादिप्रोक्तं दूषणमाशङ्क्य निराचष्टे । यद्यपीति । भावप्रधानमिति । आख्यातं तिङन्तं तिङर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितधात्वर्थनिष्ठविशेष्यताकबोधजनकम् । सत्त्वप्रधानानि नामानीति । सत्त्वं द्रव्यं लिङ्गायन्विताधानकबोधजनकम् । तन्निष्ठमुख्यविशेष्यताकबोधजनकमित्यर्थः । मुख्यविशेष्यतानिवेशाच्च पचतीत्यादौ तिङन्ते आश्रयत्वसंख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपितकर्त्रादिसत्त्वनिष्ठविशेष्यताकबोधजनकत्वेऽपि नातिप्रसङ्गः । क्रियानिष्ठप्रकारतानियतविशेष्यतानिवदेशेन तत्रातिप्रसङ्गवारणात् । धात्वर्थभावनाप्राधान्यमध्यवसीयत इति । तथा च निरुक्तभाष्यप्रामाण्येनोक्तनियमसंकोचोऽवश्यमङ्गीकार्यः । भवतामेव प्रत्युत निरुक्तादिविशेष इति भावः । ननु भावयतीति भाव इति व्युत्पत्त्या भावयतेरजन्तभावपदेन कृतिरूपा भावनोच्यते । क्रियापदेनापि सैव तथा तिङर्थकालादिमध्ये कृतिरूपतदर्थस्यैव धात्वर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितकृतिनिष्ठविशेष्यताशालिबोधः । कालादिमध्ये कृतिरूपतदर्थस्यैव धात्वर्थबोधजनकमाख्यातमिति तदर्थः । एवं च न निरुक्तादिकं भवदभिमतार्थसाधकमस्मत्प्रतिकूलं वाचयतीत्यादितः कृतिनिष्ठविशेष्यताकबोधोत्पत्तेरिति वाच्यम् । रथो गच्छति जानातीत्यादावव्याप्तेः । आये कृतेरप्रतीतेः । करोतीत्यत्र तत्प्रतीतावपि तिङर्थत्वाभावात् । एवं पच्यत इति कर्माख्याते सुप्यत इति भावाख्यातेऽव्याप्तेश्च तन्निष्ठप्रत्यये तत्कृतेरबोधनात् । न चैवं तद्वष्टिताद् देवदत्तेन पच्यत इत्यादिवाक्यात् कृतिप्रतीतिर्न स्यादिति वाच्यम् । तृतीययैव तद्वबोधसंभवात् । न बाधेयत्वमेव तन्मते तृतीयार्थः । अत एव देवदत्तेन पच्यते न यज्ञदत्तेनत्यतो यज्ञदत्तवृत्तित्वस्याश्रयत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसंभवः । तस्याः कृत्यर्थकत्वे तु कृतेर्ज-

देवदत्तादिभिः सममभेदान्वयात् प्रथमान्तस्य प्राधान्यापत्तिः । तथा च वश्य
न्यत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः क्रियायां बोधनीयः । स च न संभवति ।
जन्यत्वस्य वृत्तिनियामकतया प्रतियोगितावच्छेदकत्वासंभवात् । आश्रयत्वसंबन्धावच्छि-
न्नप्रतियोगिताकाभावभानोपगमने च यद्भदत्तकर्तृकेऽपि तादृशाभावस्याबाधिततया ताद-
शप्रयोगापत्तिः । तथा च तत्र तिङ्प्रत्ययस्यैव तदर्थकत्वमभ्युपगम्यते इति न तत्राव्या-
प्तिरिति वाच्यम् । देवदत्तेन पाकस्तण्डुल इत्यतः कृतिबोधानापत्त्या तृतीयायास्तदर्थकत्वा-
वश्यकत्वात् । अत एव 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनुशासनमपि साधु संगच्छते ।
प्राचीननैयायिकैर्वृत्त्यनियामकसंबन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाङ्गीकाराच्च न न्यसम-
न्विद्याहारे दोषः । नव्यमते कृतिजन्यत्वस्य तृतीयार्थत्वान्नोक्तदोषः । एवं च तृतीययैव
तद्बोधनसंभवे कर्माख्यातस्य तद्बोधकत्वाभावात् पच्यत इत्यादावव्याप्तिर्दुष्परिहरैव ।
तृतीयाया आधेयत्वमेवार्थः कर्माख्यातेनैव कृतिबोध्यते कृत्प्रत्ययस्थले तृतीयायाः कृतौ
कृतिजन्यत्वे वा लक्षणा इत्यभ्युपगमेऽपि कर्माख्याते कृतेः प्राधान्याभावादव्याप्तिस्तदव-
स्थैव । न च कृतिपदं संख्याकालाद्यतिरिक्ततिङ्मन्त्रपरं तथा च न रथो गच्छति
जानाति नश्यतीत्यादौ पच्यत इत्यत्र चाव्याप्तिः । तत्राप्याश्रयत्वविशेष्यकबोधाङ्गीकारा-
न्नाव्याप्तिसंभवः । चैत्रेण सुप्यतेऽङ्गे न स्थायत इत्यादितश्चैत्रवृत्तिकृतिजन्यत्वापापगम-
वृत्तिः स्थितिरित्येव बोध उभयसिद्ध इत्युक्तत्वात् । न च जनितबोधके पचतीत्यादा-
वव्याप्तिवारणाय तथाविधबोधजनकतावच्छेदकानुपूर्व्यादिकत्वमेव वक्तव्यमेवं च न
भावाख्यातेऽव्याप्तिर्भूयते इत्यादितोऽपि कर्मत्वतात्पर्यत्वग्रहदशायां प्रत्ययार्थः । विशे-
ष्यबोधजननेन तादृशानुपूर्व्या अपि तथाविधबोधजनकत्वाक्षतेः । अथवा चैत्रेण सुप्यत
इत्यादितः पूर्वोक्तबोधोऽङ्गीक्रियतेऽत एव भावनाविशेष्यविरहादनन्वितैव संख्येत्याख्यात-
वादस्थदीधितिग्रन्थः संगच्छते । तन्मुख्यविशेष्यताकबोधानुभवेनेतरविशेष्यताकबोध-
विरहादित्यर्थकत्वात् । धात्वर्थे निरूपकतासंबन्धेन भावनाप्रकारकबोधसंभवेन यथा-
श्रुतेऽसंगतेः तिङ्मन्त्रभावनाया धात्वर्थविशेष्यताकबोधस्यान्यत्रकूपस्यापेक्षया एतादृशनिरु-
क्ताद्यनुरोधेन तादृशबोधस्वीकारस्योचितत्वाच्च । मीमांसकनये प्रत्ययार्थव्यापाररूपभाव-
नायाः प्रथममयैव संभवात् । तथा च पचतीत्यादावाख्यातप्रत्ययार्थः कृत्यादिरूपा भावना
सैव च प्रधानमिति मतमेव सम्यक् प्रकृतिप्रत्यययोरिति नियमस्यासंकोचेनैव निर्वाहादि-
त्यत आह । अपि चेति । अभेदान्वयादिति । इदं कर्तुः प्रत्ययार्थत्वपक्षे । कृतेस्त-
दर्थत्वपक्षे त्वाश्रयत्वसंबन्धेनान्वयादिति बोध्यम् । प्राधान्यापत्तिरिति । प्रत्ययार्थ-
कृत्यादेरितरविशेषणतानापन्नतया प्रथमान्तार्थे प्रकारतया बोधजनकसामग्रीसत्त्वान्नैयायि-
कमतसिद्धतथाविधबोधस्वीकारापत्तिरिति भावः । ननु प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधे

मृगो धावतीत्यत्र भाष्यसिद्धैकवाक्यता न स्यात् । प्रथमान्तमृगस्य धावनक्रियाविशेष्यस्य इतिक्रियायां कर्मत्वापत्तौ द्वितीयापत्तेः । न चैवमप्रथमासामानाधिकरण्याच्छतृप्रसङ्गः । एवमपि द्वितीयाया दुर्वारत्वेन पश्य मृग इति वाक्यस्यैवासंभवापत्तेः । न च पश्येत्यत्र तमिति कर्माध्याहार्यम् । वाक्यभेदप्रसङ्गात् । उक्तधावनक्रियाविशेष्यस्यैव दर्शनकर्मतयान्वयस्य

इष्टापत्तिः । यतस्तदक्षीकारेणैव प्रथमान्तार्थोद्देश्यकभावनाविधेयान्वयबोधस्य सर्वानुभवसिद्धस्य निर्वाहो भवति । क्रियाविशेष्यकबोधस्वीकारे देवदत्तः पचतीति वाक्यजन्यबोधदशायां देवदत्तः पाकानुकूलकृतिमान् न वेति संशयानुत्पत्तिनिर्वाहश्च क्रियाप्राधान्यमते न स्यात् । समानविशेष्यककोटिप्रकारैकनिश्चयस्यैव तत्तदभावकोटिकसंशयनिवर्तकत्वादिति शङ्कां परिहर्तुमाह । तथा चेति । भाष्येति । 'का तर्हीयं वाचोयुक्तिः पचति भवति पचसि भवति पक्षयति भवति' इति प्रश्ने उत्तरं 'पचादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति' इति भूवादिसूत्रस्थभाष्यार्थः । अत्र पक्षयति भवतीत्यस्य भविष्यती पाकक्रिया सूक्ष्मरूपेण भवतीत्यर्थः । एतेन भविष्यत्पाकक्रियाकर्तृकवर्तमानभवनस्य बाधात् तादृशप्रयोगानिर्वाह इति दूषणं प्रत्युक्तम् । अत्र क्रिययोः क्रियाकारकभावेनान्वयाङ्गीकारास्तुल्यभावेन पश्य मृग इत्यत्रापि क्रिययोस्तथाबोधस्तदभ्युपगत इति भावः । एवं 'कर्मणायमभिप्रेति—' इति सूत्रे क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति वाक्यखण्डनार्थं 'क्रियापि कृत्रिमं कर्म क्रियया हि क्रियेप्सिता भवति । कया क्रियया । संदर्शनादिक्रियया' इति भाष्ये उक्तम् । तद्रीत्या धावनक्रियाया दर्शनक्रियां प्रत्यपि कर्मत्वमभिमतमेव । एवं च मृगकर्तृकं धावनकर्मकं दर्शनमित्यर्थे तद्वाक्यं भाष्यकृतामभिमतमिति भावः । हरिणाप्युक्तम्—

'सुवन्तं हि यथानेकं तिङन्तस्य विशेषणम् ।

तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम् ॥' इति ।

'पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनम्' इति माघपद्ये 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रे कौमुद्युदाहृते स्पष्ट एव तिङन्तार्थक्रियाणां विशेष्यविशेषणभावः । परमते एकवाक्यतानुपपत्तौ बीजमाह । प्रथमान्तेति । प्रथमान्तमृगपदोपस्थापितस्येत्यर्थः । विशेष्यस्येत्यनेन धावनं प्रति विशेष्यत्वादर्शने साक्षाद्विशेषणत्वादन्तरङ्गादपि प्रधानकार्यस्य बलवत्ताया 'हेतुमति च' इति सूत्रभाष्यसंमतत्वेनान्तरङ्गमपि प्रथमां बाधित्वा द्वितीया स्यात् । मम तु नायं दोषः । मृगस्य धावनं प्रति विशेषणत्वेनान्तरङ्गाज्जातस्य प्रथमारूपसंस्कारस्यानिवृत्तिरिति सूचितमिति वदन्ति । द्वितीयापत्तेरिति । तथा च धावनाश्रयमृगकर्म-

कदर्शनाश्रयस्त्वमित्यर्थे पश्य मृगं धावतीति वाक्यस्यैव संभवेन तादृशवाक्यस्यैवासिद्धि-
रिति भावः । खमते तु न द्वितीयापत्तिः । धावनस्य धात्वर्थतया कर्मभूततद्वाचकधातो-
रप्रातिपदिकत्वात् । न च द्वितीयाविरहे कर्मत्वभानानापत्तिर्वृत्त्या पदानुपस्थितत्वादिति
वाच्यम् । मीमांसकनयेऽर्थोपस्थितिमात्रस्यैव शाब्दबोधने हेतुतया पदजन्योपस्थितिं
विनापि कर्मत्वप्रकारकबोधसंभवात् । तादृशोपस्थितिहेतुतावादिसते तु संसर्गकबोधस्यैवा-
भ्युपगमात् । न च तार्किकमतेऽपि न द्वितीयापत्तिः । धावनक्रियाविशिष्टमृगस्यैव कर्म-
तासंबन्धेन दृशिक्रियायामन्वयो न तु केवलमृगस्य । विशिष्टस्य शुद्धादनतिरेकेऽपि
मृगत्वावच्छिन्नविषयत्वापेक्षया धावनविशिष्टमृगत्वावच्छिन्नविषयताया भिन्नत्वात् । नामार्थ-
धात्वर्थयोः साक्षाद् भेदेनान्वय इति व्युत्पत्तिविरोधोऽपि न । तादृशव्युत्पत्तेः केवलनामार्थ-
धात्वर्थान्वयविषयत्वात् । अतः 'श्रुत्वा ममैतन्माहात्म्यं तथा चोत्पत्तयः शुभाः' 'जानामि
सीता जनकप्रसूता' इत्यादि संगच्छते । भवन्मते उत्पत्तिपदादितो द्वितीयापत्तेरसंगतिः
स्पष्टैव । एवं च प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधाङ्गीकारे न कोऽपि दोष इति वाच्यम् ।
नीलादिविशिष्टघटादेः कर्मत्वबोधे नीलघटमित्यत्र द्वितीयानापत्तेः प्रथमापत्तेश्च । न
चेष्टापत्तिः । अनभिहितसूत्रस्थभाष्यविरोधात् । तत्र हि भीष्ममुदारं कटं कुर्वित्यत्र
विशिष्टस्य कर्मत्वपक्षे कटपदादुत्पन्नया द्वितीयया अभिधाने भीष्मादिपदात्तदुत्पत्तिर्न
स्यादिति तिङादिपरिगणनमित्युक्तम् । न च कर्मत्वस्य प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया विवक्षा-
यामेव द्वितीया न तु संसर्गतया विवक्षायामपि प्रकृतभाष्यग्रन्थस्य कर्मत्वस्य विशेष्यता-
परत्वादिति न तद्विरोध इति वाच्यम् । भाष्यकारमते सर्वत्र विभक्त्यर्थस्य संसर्गतया
भानात् तथा वक्तुमशक्यत्वात् । नीलादिविशिष्टघटादिक्रियायामाहरणादेरकारणत्वादिसं-
बन्धेन बोधतात्पर्ये नीलो घट आहर विद्वान् ब्राह्मणो देहीत्यादिप्रयोगाणामुक्तार्थे काव्य-
पुराणादावनुपलम्भात् । नीलो घट आनय शुक्लस्तण्डुलः पचतीत्यादिषु 'तिङ्समानाधिक-
रणे प्रथमा' 'अभिहिते प्रथमा' इत्यनुशासनात् प्रथमाया अप्यनुत्पत्त्या तादृशप्रयोगासिद्धिश्च ।
एवं 'तथा चोत्पत्तयः शुभाः' इत्यादिप्रयोगा आर्षत्वादेव समाधेयाः । अनार्षस्त्वसाधु-
रेव । दशधातोस्तकटधावनकर्तृकमृगकर्मकदर्शने मृगकर्तृकोत्कटधावनकर्मकदर्शने वा
लक्षणा इतरपदानि तात्पर्यग्राहकाणि । अतो न व्युत्पत्तिविरोधलेशोऽपि । मृगकर्तृकोत्क-
टधावनकर्मकदर्शनस्य प्रतिपिपादधिषितस्य बोधनिर्वाहोऽपि भवतीति तु न युक्तम् । उक्त-
रीत्या लक्षणां विनैव निर्वाहे तदाश्रयणस्यानुचितत्वात् । अनुपपत्तिप्रतिसंधानं विनापि बोधो-
दयाच्च । ननु तथापि क्रियामुख्यविशेष्यको बोधो न युक्तोऽपि तु प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक
एव युक्तस्तथा हि 'अनभिहिते कर्तरि तृतीया' इत्यस्य समभिव्याहृततिङादिना कर्तुरवाच्यत्वे
तृतीयेति नार्थः शाब्दिकैः स्वीकर्तुं शक्यस्तिइसामान्यस्यैव कर्तुनिष्ठशक्तिनिरूपकत्ववाच-

कतया चैत्रेण पच्यते तण्डुल इत्यत्रापि तृतीयानुपपत्तेः । कर्तरि यकोऽसाधुत्वादेव चैत्रः पच्यत इत्यादिप्रयोगवारणसंभवे यगाद्यनु तडन्तत्वादेर्गौरवेण वाचकावच्छेदककोटावनुप्रवेशाभावात् । नाप्यबोध्ये कर्तरि तृतीयेत्यर्थः । चैत्रेण पच्यत इति वाक्यस्य कर्तृविषयकबोधजनकत्वे तद्धटकसकलपदानामपि तद्बोधजनकतया कर्तृतिङ्बोध्यत्वात्तदोपताववस्थ्यात् । न च तच्छाब्दौपयिकाकाङ्क्षाशून्यत्वमेव तद्बोधकत्वं निवेदयम् । पच्यत इत्यत्र तद्बोधप्रयोजकाकाङ्क्षाशून्यत्वमक्षतमेव । चैत्रादिपदोत्तरतृतीययैव तद्बोधसंभवात्तत्र तादृशाकाङ्क्षाया अकल्पनादिति वाच्यम् । चैत्रेण पच्यत इत्यादौ तृतीयानुपपत्तेः । चैत्रः पच्यत इत्यतश्चैत्रप्रकारककर्तृविशेष्यकक्रियामुख्यविशेष्यकस्य केवलात् पच्यत इत्यतश्च कर्तृप्रकारकक्रियाविशेष्यकस्य बोधस्थोदयात्तत्रानुपूर्वीरूपाकाङ्क्षायास्तच्छाब्दौपयिकत्वावश्यकत्वात् । न च समभिव्याहाररूपैवाकाङ्क्षा विवक्षणीया प्रकृते त्वानुपूर्वीरूपैव सा तथाविधेति नोक्तदोष इति वाच्यम् । तथा सति चैत्रेण पचतीत्यादावपि तृतीयानुपपत्तेः । तादृशसमभिव्याहारस्य तद्बोधोपयिकत्वाभावात् । तस्मात् तत्तत्प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया कर्तृविवक्षायां तत्तत्प्रातिपदिकात् तृतीयेत्येव 'अनभिहिते तृतीया' इत्यस्यार्थो वाच्यः । तथा च चैत्रः पचतीत्यत्रापि चैत्रपदात् तृतीयानुपपत्तिश्चैत्रेण पच्यत इत्यादाविव । कर्तृचैत्रपदार्थं प्रति विशेष्यत्वाविशेषात् । तस्मात् प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक एव बोधो युक्तोऽङ्गीकर्तृमिति चेदत्र वदन्ति । प्रातिपदिकार्थविशेष्यकतयेत्याशुक्तीत्यनुसरणेऽपि न चैत्रेण पचतीति प्रयोगापत्तिः । क्रियामुख्यविशेष्यकबोधवादिमते कर्तृविशेष्यता । अथवापन्नायामेव क्रियायां तृतीयया कर्त्रन्वयबोधना । एकपदोपात्तत्वप्रत्यासत्त्या पूर्वमेव तिङर्थान्वयबोधस्य जातत्वात् । तिङादेः कर्त्रनभिधायकत्वं तत्तात्पर्यशून्यत्वं तदतात्पर्यं चैत्रेण पचतीत्यत्र तृतीययाः साधुत्वेऽपि भावकर्मणोरित्यात्मनेपदेन बाधान्न परस्मैपदं साध्विति न तादृशप्रयोगापत्तिः । चैत्रेण पचतीति प्रयोगस्तत्र स्यादित्यपि न कर्तृतात्पर्याभावेन शपोऽविषयतया यको दुर्वारत्वात् । तथा च तत्तत्प्रातिपदिकार्थस्य तिङाशुपस्थितकर्त्रन्वयाविवक्षायां ततस्तृतीयेति तदर्थः । तथा च तादृशकर्त्रनन्विततत्तत्प्रातिपदिकार्थविशेष्यत्वेन कर्तृविवक्षया तृतीयेति पर्यवसितार्थ इति न कोऽपि दोषः । यद्वात्वर्थकर्तरि तृतीयादिके विधित्सितं समभिव्याहृततिङाशुपस्याप्यं तद्वात्वर्थकर्त्रनन्वितत्वमुपादेयमतो भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यत इत्यत्र शानजर्थकर्त्रन्वितत्वेऽपि चैत्रस्य न चैत्रपदात् तृतीयानुपपत्तिः । पचिक्रियाकर्त्रनन्वयात् । तत्तद्वात्वर्थक्रियाव्यक्तितत्त्वक्षित्वेनोपादाय तथाविधतत्तत्क्रियाकर्त्राद्यनन्वितत्वं निवेदयम् । तेन चैत्रेण दृश्यमानं मैत्रं देवदत्तः पश्यतीत्यादौ न मैत्रादिपदाद् द्वितीयानुपपत्तिः । वस्तुतः कर्तुः समभिव्याहृततिङादेस्तात्पर्यशून्यत्वे कर्तृपरप्रातिपदिकात् तृतीयेति अनभिहिते कर्तरि

तृतीया' इत्यस्यार्थः । चैत्रेण पच्यत इत्यत्र तिङ्प्रत्ययस्य कर्त्रतात्पर्यकत्वाच्चैत्रः पचतीत्यत्र तस्य तत्तात्पर्यकत्वात्तृतीयातच्छून्यप्रयोगनिर्वाहः । एवमेव 'अनभिहिते कर्मणि द्वितीया' इत्यादेरर्थोऽवसेयः । ननु पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः पक्ता भुज्यत ओदन इत्यादौ क्रमेण कृता कर्तृकर्मानभिधानाच्चैत्रपदात्तृतीयाया ओदनपदाद् द्वितीयाया आपत्तिः । न च समभिव्याहृततिङाभिहितत्वसामान्याभावस्यैव विवक्षणात् प्रथमे कर्तुः कृतानभिधानेऽपि तिङाभिधानाद् द्वितीये कृता कर्मणोऽनभिधानेऽपि तिङाभिधानाभोक्तदोष इति वाच्यम् । चैत्रेण पक्वमोदनं मैत्रो भुङ्क्ते पाचकेन चैत्रेण भुज्यते ओदन इत्यादि ओदनचैत्रपदाभ्यां द्वितीयातृतीययोरनुत्पत्त्यापत्तिः । कृता कर्मणः कर्तुश्चाभिधानादिति चेन्न । प्रधानक्रियानिरूपितशक्तेरभिधानेऽपि तत्तद्विभक्तेः साधुत्वानङ्गीकारात् । तदुक्तं भर्तृहरिभिः—

‘प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।

शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥

प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते ।

यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते ॥’

इति । प्रथमकारिकोक्तं प्रधानक्रियानिरूपितशक्त्यनुरोधं प्रपञ्चयति । प्रधानविषयेति । गुणे गुणनिरूपिता अनुक्तापि तद्वदुक्तवत् प्रतीयत इति योजना । तुल्यन्यायाद्गुणनिरूपिताया उक्तत्वेऽपि प्रधाननिरूपितशक्तेरनुक्तत्वे गुणनिरूपिताप्यनुक्तवत् प्रकाशत इत्यपि लभ्यत इति बोध्यम् । अत एव प्रासादे आस्ते इत्यत्र सदिनिरूपिताधिकरणत्वस्याभिधानेऽप्यासिनिरूपिताधिकरणत्वनिमित्तिका सप्तमी सिध्यति । अनभिहित इति पर्युदासाङ्गीकारात् । इदं च 'स्वादुमि णमुल्' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । तत्र हि आ च तुमुनः समानाधिकरणेऽनु प्रयोगेण प्रत्यया वक्तव्याः । अन्यथा स्वादुकारं भुज्यते यवागूर्देवदत्तेनेत्यत्र णमुल् कर्तरि स्यात् । तेनाभिधानाद् देवदत्तशब्दात् तृतीया न स्यादित्यादिकमुक्त्वाव्ययकृतो भावे इत्याश्रित्योक्तवचनं खण्डितम् । तत्र कैयटेन यथेवं पक्त्वौदनं भुङ्क्ते देवदत्तः पक्त्वौदनो भुज्यते देवदत्तेनेति क्त्वाप्रत्ययेन कर्तृकर्मणोरनभिधानात् पाकापेक्षया तृतीयाद्वितीये कस्मान्न भवतः इत्याशङ्क्य प्रधानक्रियानिरूपितशक्त्यनुरोधेन पूर्ववत् समाहितम् । एवं चैतद्वाग्याशयप्रकाशिके इमे हरिकारिके इति स्पष्टमेव तद्विदाम् । समानाकारज्ञानभेदाद्विषयताभेदमानाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानक्रियानिरूपितकर्मत्वशक्त्योर्भेदाच्चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यतीत्यत्र तिङ्प्रकृतिभूतदृश्यर्थनिरूपितानभिहितकर्मत्वशक्तिप्रयुक्तद्वितीयासिद्धिः । विषयताया द्वितीयाद्यर्थत्वं तु नानुशासनसिद्धम् । आवरणभङ्गानुकूलव्यापारस्य विषयतासंबन्धावच्छिन्नज्ञानानुकूलात्ममनोयोगरूपव्यापारस्य वा दृश्याद्यजानात्यर्थत्वेन फलस्य क्रियादिभेदेन भिन्नतया फलरूपत्वेऽपि कर्मत्वशक्तेर्न

प्रतिपिपादयिषितत्वात् । अध्याहारेऽनन्वयापत्तेश्च । एवं च भावनाप्रकारकबोधे प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणमिति नैयायिकोक्तं नादरणीयम् । किं त्वाख्या-
तार्थकर्तृप्रकारकबोधे धातुजन्योपस्थितिर्भावनात्वावच्छिन्नविषयतया कारणमिति
कार्यकारणभावो द्रष्टव्यः । भावनाप्रकारकबोधं प्रति तु कृज्जन्योपस्थितिवद्भात्वर्थ-

क्षतिरित्यलं प्रसङ्गागतविचारप्रपञ्चेन । आनय धावति मृग इत्येकं वाक्यं न स्यात् ।
क्रियायाः प्राधान्यवादिमते क्रियाया आनयनकर्मत्वासंभवात् । मन्मते तु धावनविशिष्ट-
मृगस्य तत्संभवानुपपत्तिरेकवाक्यताया इति तु न शङ्क्यम् । शिखी ध्वस्त इति-
षदुपपत्तेः । एवमेव ब्राह्मणानां शतं भोज्यतामित्यादिप्रयोगसंगतिः । तादृशैक-
वाक्यत्वे मानाभावाच्चेति दिक् । एतेन 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति निरुक्ताधनु-
रोधात् तिङ्मर्थस्य क्रियां प्रति विशेषणत्वोपगमेऽपि पचति देवदत्त इत्यत्रैक-
कर्तृकपचिक्रियाश्रयो देवदत्त इति प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधसंभवात् स एवा-
ङ्गीक्रियतामिति प्रत्युक्तम् । कुतो वाक्यभेद इत्यत आह । अध्याहारे इति ।
अनन्वयापत्तेश्चेति । चो हेत्वर्थः । तथा च परस्परमनन्वयापत्त्या भाष्यकृदभिमतै-
कवाक्यत्वहानिरित्यर्थः । परमतदूपणमुपसंहरति । एवं चेति । एवम् । उक्तरीत्या कर्तु-
राख्यातार्थत्वे धात्वर्थप्राधान्ये च । भावनाप्रकारकेति । संख्याकालाद्यतिरिक्तस्तिङ्मर्थो
भावना । अत एव रथो गच्छति चैत्रो जानातीत्यादिजन्यबोधसाधारण्यम् । कारण-
मिति । विशेष्यतासंबन्धेन भावनाप्रकारकशाब्दबोधं प्रति तत्तत्प्रथमान्तार्थनिष्ठविशेष्यता-
संबन्धेन तत्तत्प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेः कारणमित्यर्थः । तेन समूहालम्बनोपस्थितिर्विषय-
तामादाय नातिप्रसङ्गः । भावनात्वावच्छिन्नेति । इदं धातुना भावनात्वप्रकारकबोध
इत्यभ्युपेत्य । यदि तु विशेषरूपेणैव बोधनानुभवानुरोधाद्विशेषधर्मावच्छिन्ने एव शक्ति-
स्तर्हि तत्तद्भात्वर्थतावच्छेदकविशेषरूपावच्छिन्नविषयतयेति बोध्यम् । कार्यतावच्छेदकस्तु
विशेष्यतासंबन्धो बोध्यः । तिङ्मर्थकर्मप्रकारकबोधे व्यभिचारवारणाय कार्यतावच्छेदकदिशि
कर्तृप्रकारकत्वनिवेशः । एवं तिङ्मर्थप्रकारकबोधे तत्तत्फलनिष्ठविशेष्यतासंबन्धेन धातुजन्यो-
पस्थितिः कारणमित्यपि कार्यकारणभावो द्रष्टव्यः । ननु धात्वर्थव्यापारस्य कृदर्थं प्रत्येव
प्रकारत्वं न तिङ्मर्थं प्रतीति नियमनिर्वाहाय भावनाप्रकारकशाब्दबोधे कृज्जन्योपस्थितिः
कारणमिति कार्यकारणभाव आवश्यकः । तथा च पचत्यादितः क्रियाप्रकारकक्रियाविशेष्य-
कबोधो न संभवति । तद्वेतुभूतकृज्जन्योपस्थितेरभावादित्याशङ्कां निराकर्तुमाह । भावनेति ।
कृज्जन्योपस्थितिवदिति । यद्यपि यत्र कृज्जन्योपस्थितौ शब्दादिज्ञानात् तदर्थोऽपि

१ नैयायिकोद्घोषो नादरणीयः P.; नैयायिकाद्युक्तं नादरणीयम् D₂. २ धात्वर्थभावनोप-
स्थितिरिव A., D₃.

भावनोपस्थितिरपि हेतुः । पश्य मृगो धावति पचति भवतीत्याद्यनुरोधादिति दिक् ।
इत्थं च पचतीत्यत्रैकाश्रयिका पाकानुकूला भावना पच्यत इत्यत्रैकाश्रयिका या
विक्रित्तिस्तदनुकूला भावनेति बोधः । देवदत्तादिपदप्रयोगे त्वाख्यातार्थकर्त्रा-

विषयस्तादृशसमूहालम्बनोपस्थिति विषयता घटाद्यर्थेऽप्यस्तीत्यतिप्रसङ्गस्तदवस्थस्तथापि स्व-
जनकज्ञानीयकृद्भूतिप्रकारकतानिरूपितविशेष्यताविशिष्टविशेष्यतासंबन्धेन कृज्जन्योपस्थिते-
हेतुत्वान्नातिप्रसङ्गः । स्वमुपस्थितिः समूहालम्बनोपस्थितिजनकं शक्तिसंबन्धेन यत्कृ-
त्प्रकारकं तदर्थविशेष्यकं ज्ञानं तादृशज्ञानीयकृन्नेष्टप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायास्तदर्थकर्त्रा-
दावेव सत्त्वात् । धात्वर्थभावनेति । धातुजन्यभावनानिष्ठविशेष्यतासंबन्धेनोपस्थिति-
रित्यर्थः । अन्यथा सत्तादिपदोपस्थितस्यापि सत्तादेर्धात्वर्थानपायादतिप्रसङ्गापत्तेः ।
भावनापदं च तन्निष्ठविशेष्यतालाभार्थमेव । दिगिति । तदर्थस्तु पूर्वं विस्तरेण निरूपितः ।
यद्वा ननु तिङन्तसमुदायस्याप्येकवाक्यत्वे 'तिङ्गतिङः' इति सूत्रे 'अतिङः' इति व्यर्थं
तिङन्तात्परं तिङन्तस्य समानवाक्यस्थत्वाविरहान्निघाताप्राप्तेरिति भाष्यविरोध इति भाव
इत्यन्यत्र विस्तरः । इत्थं चेति । प्रत्ययार्थस्य कर्त्रादेर्धात्वर्थविशेषणत्वे तदर्थसं-
ख्यायास्तदर्थकर्त्रादिविशेषणत्वे च । एकाश्रयिकेति । वर्तमानकालिकीत्यपि
बोध्यम् । नव्यमते त्वेककर्तृकेति बोधाकारो द्रष्टव्यः । पाकानुकूलेति । विक्रित्यनुकूले-
त्यर्थः । एकाश्रयिका या विक्रित्तिस्तदनुकूला भावनेति । 'भावप्रधान-
माख्यातम्' 'क्रियाप्रधानमाख्यातम्' इति निरुक्तभाष्यानुरोधात् कर्मप्रत्ययान्तजबोधेऽपि
भावनायाः प्राधान्यमिति भावः । वस्तुतस्तु कर्मकृदन्ते फलस्य व्यापारं प्रति
प्राधान्यं दृष्टमिति कर्मतिङन्तेऽपि तस्यैव मुख्यविशेष्यत्वं युक्तम् । अत एव प्रत्ययार्थे
साक्षात् प्रकृत्यर्थविशेष्यान्वयित्वस्य सर्वत्र कृप्तस्य न त्यागः । अत एव इष्यते पुत्रः इष्टः
पुत्र इत्यर्थे न पुत्रीयतीति प्रयोगो भिन्नार्थत्वादपि तु पुत्रमिच्छतीत्यर्थे एव । क्यजन्तात्
कर्मणि प्रत्ययस्तु दुर्लभोऽकर्मकत्वादित्युक्तं 'सुप आत्मनः—' इत्यत्र भाष्ये । अन्यथा
मत्पित्रापीच्छानुकूलव्यापारस्यात्मनः संयोगाद्यात्मकस्य प्राधान्याद्यविशेषात् तदसंगतिः ।
मन्मते त्वेकत्र व्यापारो विशेष्योऽपरत्र फलमिति भिन्नार्थत्वं स्पष्टमेव । तथा चोक्तं
कैयटेन । 'यदा क्रियाफलस्य कर्मणः प्राधान्यं तदा इष्टः पुत्र इष्यते पुत्र इति वाक्यमेव
न तु क्यजन्तः तस्याकर्मकत्वात् कर्मणि प्रत्ययानुत्पादात्' इति । परे ब्राह्मः । यद्यपि कर्म-
प्रत्यये भावनायाः प्राधान्येऽपि तदर्थसंख्यायाः कर्मणि विशेषणत्वं कर्तृप्रत्यये कर्तरि
तावता भिन्नार्थत्वोपपत्तिराश्रयान्वयमादायापि तदुपपत्तिस्तथापि भिन्नमुखविशेष्यकबोधज-
नकत्वरूपं भिन्नार्थत्वं विवक्षितं तदसंगतिर्दृष्टवै । यत्किंचिदंशे विभिन्नप्रकारकबोधजनकत्व-

दिभिस्तदर्थस्याभेदान्वयः । घटो नश्यतीत्यत्रापि घटाभिन्नाश्रयको नाशा-
नुकूलो व्यापार इति बोधः । स च व्यापारः प्रतियोगित्वविशिष्टनाशसामग्रीसं-
भवधानम् । अत एव तस्यां सत्यां नश्यति तदत्यये नष्टस्त्वभावित्वे नष्ट्यतीति
प्रयोगः । देवदत्तो जानातीच्छत्यादौ च देवदत्ताभिन्नाश्रयको ज्ञानेच्छाद्यनुकूलो
वर्तमानो व्यापार इति बोधः । स चान्तत आश्रयतैवेति रीत्योह्यम् ॥ २ ॥

नव्याख्यातस्य कर्तृकर्मशक्तत्वे पञ्चतीत्यत्रोभयबोधापत्तिः कर्तृमात्रबोधवत्
कर्ममात्रस्यापि बोधापत्तिरित्यतस्तात्पर्यग्राहकमाह—

मेव भिन्नार्थकत्वं विवक्षितमिति चेदिच्छापदनिर्दिष्टप्रत्ययार्थांशे वृत्तवाक्ययोर्भिन्नार्थत्वविरहे
प्रत्ययावारणेन तस्माकिंचित्करत्वादिति भावः । ननु सर्वधातूनां व्यापारार्थकत्वं न संभवति
नश्यतीत्यादौ तदननुभवादत् आह । नश्यतीत्यत्रेति । प्रतियोगित्वविशिष्टेति ।
अन्यप्रतियोगिकनाशसामग्रीसमवधानेऽपि घटो नश्यतीत्यप्रयोगात् प्रतियोगित्वविशिष्टेति
स्वप्रतियोगित्वविशिष्टार्थकम् । अत एव । नशधातोस्तादृशसामर्थ्यकत्वादेव । इति
प्रयोग इति । तदर्थकत्वाभावे नश्यति नष्ट्यतीति प्रयोगोपपत्तावपि नाशस्यातीतत्वविर-
हान्नष्ट इति प्रयोगो न स्यात् । चिरविनष्टेऽपि नश्यतीत्येव प्रयोगः स्यात् । सामर्थ्य-
कत्वे तु सामर्थ्यामेव प्रत्ययार्थकालान्वयान्नोक्तापत्त्यनुपपत्ती इति भावः । इदं च दूषणं
वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वरूपमतीतत्वं प्रत्ययार्थ इति मते । वर्तमानध्वंसप्रतियोगिकालवृत्ति-
त्वस्य तदर्थत्वे तु नोक्तं दूषणमिति बोध्यम् । अन्तत आश्रयतैवेति । वस्तुत
आत्मनःसंयोगोऽपि ज्ञानानुकूलः संभवतीति भावः । अत्र फलतावच्छेदकः संबन्धो
विषयता तेन घटादेः कर्मत्वमिति बोध्यम् । ज्ञानमेव फलं तदेव तदनुकूलो व्यापारः
फलतावच्छेदकः संबन्धो विषयता व्यापारतावच्छेदकस्तु समवाय इति मतान्तरं बोध्यम् ।
ऊह्यमिति । इच्छतीत्यादावूह्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

उभयबोधापत्तिः कर्तृकर्मोभयबोधापत्तिः । उभयत्रापि शक्तेः सत्त्वादित्यर्थः ।
ननु यत्र तात्पर्यग्रहस्तस्यैव बोधो न त्वपरस्य । एकदोभयबोधे तात्पर्यग्रहसत्त्वेऽप्येकेन
प्रत्ययेनैकदोभयबोधस्याव्युत्पन्नत्वान्नैकदोभयबोधापत्तिरित्यतो दूषणान्तरमाह । कर्तृमात्र-
बोधवदिति । बोधापत्तिरिति । हर्यादिपदात् कदाचिदिन्द्रमात्रस्य कदाचिद्विष्ण्वादि-
मात्रस्य बोधोत्पादवदिति भावः । तात्पर्यग्राहकप्रकरणादेः समानत्वादिति भावः ।
तात्पर्यग्राहकमिति । अनादितात्पर्यग्राहकमित्यर्थः । तथा च पच्यत इत्यत्र कस्यचित्
कर्तृबोधे तात्पर्यसत्त्वेऽप्यनादितात्पर्याभावान्न कर्तृबोध इति भावः ।

फलव्यापारयोस्तत्र फले तड्यक्चिणादयः ।

व्यापारे शप्श्रमाद्यास्तु द्योतयन्त्याश्रयान्वयम् ॥ ३ ॥

तडादयः फल आश्रयान्वयं द्योतयन्ति । फलान्वयाश्रयस्य कर्मत्वात् तद्द्यो-
तकाः कर्मद्योतकाः व्यापाराश्रयस्य कर्तृत्वात् तद्द्योतकाः कर्तृद्योतका इति
समुदायार्थः । द्योतयन्ति तात्पर्यं ग्राहयन्ति ॥ ३ ॥

नन्वेवम्—‘क्रमादसुं तारद इत्यबोधि सः’ इत्यादौ पच्यत ओदनः स्वयमेवे-
त्यादौ च व्यभिचारः । कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां कर्तरि लकारे सति ‘कर्मवत्
कर्मणा तुल्यक्रियः’ इत्यतिदेशेन यगात्मनेपदचिण्चिण्वदिदामैतिदेशाद्यगादि-
सत्त्वेऽपि कर्तुरेव बोधाद् व्यापार एवाश्रयान्वयाच्च । अबोधोत्पन्नापि बुध्यतेः
कर्तरि लुङ् चिलस्तस्य ‘दीपजन-’ इति चिण् । ‘चिणो लुक्’ इति तस्य लुगिति
साधनादित्याशङ्क्यामाह—

उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृविषयादौ विपर्ययात् ।

तस्माद्यथोचितं ज्ञेयं द्योतकत्वं यथागमम् ॥ ४ ॥

कर्मकर्तृविषयादौ पच्यत ओदनः स्वयमेवेत्यादौ । अत्र ह्येकौदनाभिन्नाश्र-
यकः पाकानुकूलो व्यापार इति बोधः । क्रमादित्यादिपदग्राह्यम् । अत्र सामा-

कारिकायां तत्रेति तयोरित्यर्थकम् । तथा च तयोः फलव्यापारयोर्मध्ये इत्यर्थः ।
नन्वेवं तडादयः कर्मद्योतका इत्यादिव्यवहारः कथमुपपादनीय इत्यत आह । फला-
न्वयेत्यादिना समुदायार्थ इत्यन्तेन । शक्त्युद्बोधकत्वरूपद्योतकत्वासंभवादाह ।
तात्पर्यं ग्राहयन्तीति । यत्प्रतीतीच्छां ग्राहयन्ति । तड्यगादिः समभिव्याहृतो बोध्यः ।
तेन धत्ते इत्यादौ नातिप्रसङ्गः ॥ ३ ॥

एवम् । तडादीनां फले आश्रयान्वये तात्पर्यग्राहकत्वे । ननु ‘भावकर्मणोः—’
इत्यादिसूत्रविहिततडादीनां कथं कर्तरि साधुत्वमित्याशङ्क्याह । ‘कर्मवत् कर्मणा-’
इत्यादिना साधनात् इत्यन्तेन । मूले उत्सर्गोऽयमिति । अयं तडादिः कर्मद्योतक
इत्यादिः पूर्वोक्तोऽर्थः । उत्सर्गः प्राधिकः न सार्वत्रिक इत्यर्थः । कुत इत्याशङ्क्या-
माह । कर्मेति । विपर्ययात् वैपरीत्यात् । यथागमं यथाशास्त्रम् । तच्च व्याख्यानं
स्पष्टम् । पच्यत ओदनः स्वयमेवेत्यादौ व्यापारे एवाश्रयान्वये इति स्पष्टयितुं शाब्दबोधं

१ फलाश्रयस्य D₁, D₂; फलान्वयाश्रयस्य D₁, D₃. २ व्यापारान्वयाश्रयस्य D₂.
३ ‘मतिदेशादिसत्त्वेऽपि D₃.

व्यविशेषज्ञानपूर्वक एकनारदविषयकज्ञानानुकूलः कृष्णभिन्नाश्रयकोऽतीतो व्यापार इति बोधः । यथोचितमिति । सकर्मकधातुसमभिन्नाहृतभावसाधारणविधिविधेयचिष्यगादिकर्मद्योतकमिति भावः ॥ ४ ॥

एवं लडाद्यन्ते भावनाया अवाच्यत्वं वदतः प्राभाकरादीन् प्रैति सूचीकटा-
हन्यायेन सोपपत्तिकं वाक्यार्थमुपवर्ण्य फलव्यापारयोरिति प्रतिज्ञातं धातो-
र्व्यापारवाचित्वं व्यवस्थापयति—

व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया ।

कृत्रोऽकर्मकतापत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते ॥ ५ ॥

पचति पाकमुत्पादयति पाकानुकूला भावना तादृश्युत्पादनेति विवरणाद्
विन्निवृत्तमात्रस्यापि तद्वाचकतेति भावः । व्यापारपदं फलकारादीनामयत्नानामपि
फलकारत्वादिरूपेण वाच्यतां ध्वनयितुमुक्तम् । अत एव पचतीत्यत्राधःसन्ता-
वर्णयति—अत्र हीति । एकनारदेति । एको यो नारदस्तद्विषयकं ज्ञानमित्यर्थः । अत्र
निपातेनेति शब्देन कर्मणोऽभिधानात् नारदशब्दोत्तरं द्वितीयेति भावः । नव्यमते तु नारद
इत्याकारकं यज्ज्ञानं तदनुकूल इत्यादिशब्दबोधोऽवगन्तव्यः । तैः क्वचिन्निपातेनाभिधान-
मिति नानुमन्यते । तिङादिपरिगणनस्यैव भाष्ये उक्तत्वात् । सकर्मकधात्विति समभिन्ना-
हृतान्तोपादानं तण्डुलः पच्यते स्वयमेवेत्यादौ कर्मवदित्यनेन भावकर्मणोरिति शास्त्रमति-
दिश्यते इति पक्षेऽतिप्रसङ्गवारणाय । अबोधि श्रीकृष्ण इत्यादावतिप्रसङ्गवारणाय
भावसाधारणेति । यगादीति । आदिना चिष्वदिद् । तत्तद्विधायकशास्त्रज्ञानशून्यस्य
तु प्रकरणादिकमेव तात्पर्यग्राहकम् । एवं लिङादावपि । अन्यथा पेचे इत्यत्र कर्तृकर्मणो-
रुभयोरपि समानत्वात् तात्पर्यग्राहकदुर्भिक्षमेव स्यात् ॥ ४ ॥

भावनाया अवाच्यत्वमिति । तस्या धातुवाच्यत्वे प्राधान्यानुपपत्त्या तदवाच्य-
त्वमित्यर्थः । व्यापाररूपभावनाया अवाच्यत्वमेवत्यर्थ इति वा । वाच्यतां ध्वनयितु-
मिति । तथा च यत्तन्मित्रो व्यापारो न धातुवाच्यो नापि तिङ्वाच्योऽपि तु फलमात्रं
धात्वर्थः कृतिः प्रत्ययार्थ इति प्राचीननैयायिकादिमतं न सम्यगिति सूचितम् ।
कस्यचित् काश्चिच्छब्दः प्रसिद्ध इत्यनेकपर्यायोपादानम् । अथवा चेतनाचेतनसाधारण-

१ पूर्वकैकं D_1 . २ A. and D_3 drop अतीतः. ३ P., D., and D_1 have
लडाद्यन्ते भावनाया अवाच्यत्वं वदतः प्राभाकरादीन् प्रति after धातोर्व्यापारवाचित्वं.
४ A. drops it. ५ वाक्यार्थं निरूप्य P. ६ तादृशुत्पादनेति D_3 ; इत्युत्पादनेति D_2 .
७ नेत्यादि D_1 .

पनत्वफूत्कारत्वचुल्लुपपरिधारणत्वयत्नत्वादिभिर्बोधः सर्वसिद्धः । न चैवमेषां शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवापत्त्या कृतित्वमेव तदवच्छेदकं वाच्यम् । रथो गच्छति जानातीत्यादौ च व्यापारत्वादिप्रकारकबोधो लक्षणयेति नैयायिकरीतिः साध्वी । शक्यतावच्छेदकत्वस्यापि लक्ष्यतावच्छेदकत्ववद् गुरुणि संभवात् । तयोर्वैषम्ये

फूत्कारयत्नादीनां धातुवाच्यत्वक्रियात्वयोर्वोधनार्थं तत् । अत एव । तेन तेन रूपेण व्यापारस्य वाच्यत्वादेव । सर्वसिद्ध इति । सर्वानुभवसिद्ध इत्यर्थः । सर्वानुभवसिद्धस्यापलापोऽनुचित इति भावः । एवं देवदत्तः पचतीति वाक्यजन्यबोधदशायां देवदत्तः फूत्कारादिमात्रं वेति संशयोऽप्यत एव नेत्यपि बोध्यम् । एवम् । उक्तप्रकारेण फूत्कारादिव्यापाराणां वाच्यत्वे । गौरवापत्त्येति । फूत्कारत्वादीनामुपाधिरूपत्वात् । तदवच्छेदकमिति । प्रकृतिस्वरूपकृतित्वमिष्टसाधनताज्ञानकार्यतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषोऽस्तदेवाख्यातशक्यतावच्छेदकं लघवादिमिति भावः । तथा च फलं धात्वर्थोत्पन्न आख्यातार्थ इति प्राचीननैयायिकमतं पर्यवसन्नम् । यत्नत्वं धातुशक्यतावच्छेदकमिति तु नार्थः । तथा सति प्रत्ययस्याश्रयार्थकतापत्तेः । तच्च न नैयायिकाभिमतम् । अत एव कालसंख्ययोरेव प्रत्ययवाच्यतेत्यपि न । नैयायिकानभिमतत्वात् । धातुवाच्ययत्नस्य प्रथमान्तार्थेऽन्वयानापत्तेश्च । नामार्थधात्वर्थेति व्युत्पत्तिविरोधात् । 'लः कर्मणि-' इति सूत्रविरोधाच्च । ननु रथो गच्छतीत्यादौ यत्नस्य बाधाद् व्यापारादिप्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धा कथं निर्वाह्येत्यत आह-रथो गच्छतीति । 'जानाति' इत्यस्य देवदत्त इत्यादिः शेषो बोध्यः । आदिपदात् इच्छतिपश्यतीत्यादिपरिग्रहः । व्यापारत्वादिनाश्रयत्वप्रतियोगित्वपरिग्रहः । घटो नश्यतीत्यतो नाशानुकूलव्यापारस्य नाशाश्रयत्वस्य च प्रतियोगिनामप्येकत्र बाधान् प्रतियोगित्वमेव तत्र भासत इति बोध्यम् । एवं रथो गच्छतीत्यत्रापि व्यापारभावमिति न साधुनामनाकूलनोदनादिमित्येकत्र स्थितेऽपि चैत्रादौ चत्रो गच्छतीति प्रसङ्गात् । गुरुणि संभवात् । शक्तिलक्षणयोरुभयोरपि पदतदर्थसंबन्धत्वाविशेषाद् गुरुधर्मावच्छिन्ने लक्षणायाः स्वशक्तेरपि संभवादित्यर्थः । वैषम्यबीजाभावादिति । ननु कारणतावच्छेदकत्वप्रतियोगितावच्छेदकत्ववच्छक्यतावच्छेदकत्वं स्वरूपसंबन्धविशेषरूपं संभवति लघुधर्मो गुरुणि न कल्पयेत् । अत एव लघुधर्मवत् कारणतावच्छेदकता प्रतियोगितावच्छेदकता च कल्प्यते । अत एव प्रमेयधूमे प्रमेयत्वविशिष्टभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं नास्तीति प्रतीतिः सिद्धा धूमत्वे नास्तीति तार्किकप्रवादः संगच्छते । अत्र संभवतीत्यस्य संभवतदवच्छेदकताके इत्यर्थः । तथा च संभवतदवच्छेदकताकधर्मापेक्षया

बीजाभावात् । न च पचति पाकं करोतीति यत्नार्थककरोतिना विवरणाद्यत्न
एवाख्यातार्थ इति वाच्यम् । रथो गमनं करोति बीजादिनाङ्कुरः कृत इति
दर्शनात् कृजो यत्नार्थकताया असिद्धेरिति । किं च भावनाया अवाच्यत्वे घटं

यो गुरुः स तदनवच्छेदताक इति व्याप्तिः पर्यवसिता । संभवतदवच्छेदकताकत्वं च तदवच्छे-
दकत्वबाधकशून्यत्वं बाधकं चावच्छेद्यप्रतियोगित्वाद्यसमनैयत्यम् । तथा च तत्समनैयत्यमेव
संभवतदवच्छेदकताकत्वम् । समनैयत्यघटकदलद्वयनिवेशाद् घटपटान्यतराभावमहा-
नसीयवृद्धभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वं घटत्ववद्विषयपेक्षया गुरोरपि तादृशान्य-
तरत्वमहानसीयवद्विषयदेर्निर्वहति । प्रतियोगितायाः समनैयत्वं च तदन्यनवृत्तित्वे सति
तद्विरूपाभावविरोधितावच्छेदकत्वम् । अतो गुणकर्मान्यत्वादिबिषयसत्ताद्यभावप्रतियो-
गितावच्छेदकत्वस्य न सत्तात्वसमनियततादृशविशिष्टसत्तात्वेऽनुपपत्तिः शक्यतावच्छेद-
कत्वमेव स्वरूपसंबन्धविशेषो न लक्ष्यतावच्छेदकत्वमिति चेन्न । स्वरूपसंबन्धस्य तत्त-
त्स्वरूपरूपत्वे गुरुधर्मस्वरूपगामपि सत्त्वात् तद्वारणासंभवात् । किं च गुरुधर्मेऽववच्छे-
दकत्वास्वीकारे तदभावस्वीकार आपत्तिः । तद्वरमवच्छेदकत्वस्वीकार एव ।
भावकल्पनायां लाघवात् । अन्यकृप्ताभावस्य संबन्धमात्रं कल्प्यते लाघवादिति
चेदन्यत्र कल्प्यमानावच्छेदकत्वस्य संबन्धकल्पनैव युक्ता । गुरुधर्मे अन्यनानति-
रिक्तवृत्तिस्वरूपावच्छेदकत्वस्यानपायाचेति बृहद्भूषणादितोऽवगन्तव्यम् । यत्नार्थक-
करोतिनेति । यत्नजन्यत्वप्रतिसंधानदशायां पाठाङ्कुरयोः कृताकृतव्यवहारानुपपत्तस्य
यत्नार्थकत्वमावश्यकमिति भावः । रथो गमनमिति । रथपदानुक्तौ गमनानु-
लक्ष्यतेऽत्रादिसमवेतायाः सत्त्वान्न तादृशप्रयोगानुपपत्तौ रथो रथ इति । अङ्कुरः
कृत इत्येतावन्मात्रस्येश्वरकृतिजन्यत्वमादायोपपत्तेराह-बीजादिनेति । विवरणा-
दिति । इदमुपलक्षणं किं करोतीति यत्ने पृष्ठे पचतीत्युत्तरस्य यत्नार्थकत्वं विनानुपपत्तेश्चे-
त्यपि द्रष्टव्यम् । यत्नार्थकताया असिद्धेरिति । न च रथो गमनं करोतीत्यादौ करोते-
र्व्यापारसामान्ये लक्षणेति वाच्यम् । मुख्यार्थत्वे संभवति लक्षणाकल्पनस्यान्याय्यत्वादिति
भावः । ननु व्यापारशक्तत्वे यत्नजन्यत्वाजन्यत्वाप्रतिसंधानदशायां पटः कृतः अङ्कुरः कृत
इति व्यवहारानुपपत्तिः । व्यापारजन्यत्वप्रतिसंधानविशेषात् । ईश्वरीयकृतिजन्यत्वेऽपि
चैत्रादिकृतिजन्यत्वाभावप्रतिसंधानदशायां तादृशव्यवहारस्येष्टत्वात् । तदुक्तमाचार्यैः—

‘कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया ।

यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥’ इति ।

भावयतीत्यत्रेव घटो भवतीत्यत्रापि द्वितीया स्यात् । न चात्र घटस्य कर्तृत्वेन तत्संज्ञाया कर्मसंज्ञाया बाधान्न द्वितीयेति वाच्यम् । अनुगतकर्तृ-
त्वस्य त्वन्मते दुर्बलत्वेन घटस्याकर्तृत्वात् । कृत्याश्रयत्वस्य कारकचक्रप्रयोक्तृत्वस्य
वा घटादावभावात् । धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयत्वस्य च कारकमात्रातिव्यापक-
त्वात् । अपि च भावनाया अवाच्यत्वे धातूनां सकर्मकत्वाकर्मकत्वविभाग
उच्छिन्नः स्यात् । स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं स्वार्थव्यापारव्यधिकरणफल-
तत्र कृतौ यत्ने । परस्मिन् मते मीमांसकमते इत्यर्थः । निरुद्धलक्षणा एव कर्तृपदस्थ-
ओऽपीति चेन्नघवात् कृतित्वावच्छिन्ने एव शक्तिरस्तु व्यापारे एव लक्षणास्तु लघुधर्माव-
च्छिन्ने एव शक्तैर्मिमांसकादिमतसिद्धत्वात् लक्षणया बोधात् तत्पदजन्यबोधविषयत्वप्रका-
रकभाववदिच्छायाः सन्मात्रविषयिण्यास्तत्रावश्यकत्वेऽपि लघुधर्मावच्छिन्ने एव संबन्धत्व-
मङ्गीक्रियते न गुरुधर्मावच्छिन्ने । अनुभवबलेन गौरवज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्
शक्यसंबन्धरूपलक्षणायास्तु तत्रापि संबन्धत्वं क्लृप्तं न कल्प्यमिति वैषम्यमत एव लक्ष-
णोच्छेद इति सकलतान्त्रिकसिद्धमित्यत आह—किं च भावनाया इति । अवाच्यत्वे ।
व्यापाररूपभावनाया धातोस्तिङ्श्चावाच्यत्वे । द्वितीया स्यादिति । तस्या अवाच्यत्वे
स्वजनकव्यापारव्यधिकरणधात्वर्थफलाश्रयत्वं कर्मत्वं वक्तव्यं धात्वर्थफलाश्रयत्वमेव वा ।
एवं च घटं भावयतीत्यत्रेव घटो भवतीत्यत्रापि घटपदाद् द्वितीयापत्तिः । उभयत्रापि
घटस्य धात्वर्थोत्पत्तिरूपफलाश्रयत्वाविशेषादित्यर्थः । कर्मसंज्ञाया बाधादिति ।
घटस्य फलाश्रयत्वेऽपि द्वितीयायां प्रयोजककर्मसंज्ञाया विरहान्न द्वितीयापत्तिरित्यर्थः ।
अनुगतेति । चेतनाचेतनसाधारणेत्यर्थः । घटस्याकर्तृत्वमुपपादयति—कृत्याश्रयत्व-
स्येति । तद्वात्वर्थफलानुकूलकृत्याश्रयत्वस्य । कारकेति । प्रकृतधात्वर्थकारकचक्रेत्यर्थः ।
अभावात् । अचेतनत्वात् कारकचक्रप्रयोक्तृत्वाभाव इति भावः । तथा च कृत्या-
दिमत एव कर्तृसंज्ञाविधानात् कृत्याद्यभावे कर्तृसंज्ञाप्राप्त्यभावेन कर्मसंज्ञाया अनपवादाद्
द्वितीयापत्तिर्दुर्बलैरिति भावः । ननु धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयत्वं स्वतन्त्रपदेन वीक्षणीयं
तच्च घटेऽबाधितमेवेत्यत आह—धात्वर्थेति । कारकमात्रेति । कारकमात्रे प्रकृतधा-
त्वर्थानुकूलव्यापारवत्त्वात् सर्वकारकेष्वतिप्रसङ्गः । ननु कारकचक्रप्रयोक्तृत्वं कर्तृत्वं
तच्च वैवक्षिकमतो नातिप्रसङ्गः । अत एव स्थाली पचतीत्यपि भवति । स्पष्टं चेदं 'कारके'
इति सूत्रभाष्ये इत्यत आह—तथा चेति । भूप्रभृतावतिप्रसङ्गवारणाय स्वार्थफल-
व्यधिकरणेति । भूप्रभृतेरपि पच्यादिधात्वर्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वादतिप्रसङ्ग-
तादवस्थ्यम् । अतः स्वार्थत्वं फले निवेशितम् । फलव्यधिकरणत्वं च फलतावच्छेदक-

वाचकत्वं वा सकर्मकत्वं भावनाया वाच्यत्वमन्तरेणासंभवि । अन्यतमत्वं तत्त्वमिति चेन्न । एकस्यैवार्थभेदेनाकर्मकत्वसकर्मकत्वदर्शनात् । तदेतदभिसंधायाह । कृञ इति । अयं भावः । व्यापारावाच्यत्वपक्षे फलमात्रमर्थ इति फलितम् । तथा च करोतीत्यादौ यत्नप्रतीतेस्तन्मात्रं वाच्यमभ्युपेयं तथा च यती प्रयत्ने इतिवत् फलस्थानीययत्नवाचकत्वाविशेषादकर्मकतापत्तिरुक्तरीत्या संबन्धेन यत्किञ्चित्तत्फलधिकरणभिन्नवृत्तित्वं नातो गम्यादेरसंग्रहः । फलतावच्छेदकसंबन्धनिवशाद् भूयभ्यर्थकत्वस्य कालिकादिसंबन्धेन यदधिकरणं कालादि तद्भेदस्य स्वजनकव्यापाराधिकरणे सत्त्वेऽपि नातिप्रसङ्गः । चैत्रग्रामोभयनिष्ठसंयोगव्यक्त्यधिकरणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य चैत्रेऽसत्त्वादगम्यादेरसंग्रहस्तदवस्थ इति यत्किञ्चित्फलव्यधिकरणे निवेशितम् । यद्वा फलाधिकरणयत्किञ्चिदवृत्तित्वं फलव्यधिकरणत्वं च । विनिगमनाविरहादाह-**स्वार्थव्यापारेति** । व्यापारव्यधिकरणत्वं व्यापारानधिकरणवृत्तित्वम् । संबन्धनिवेशनं पूर्ववद्बोध्यम् । अथवा स्वानधिकरणवृत्तितत्तदफलकत्वं फलव्यधिकरणत्वम् । नातो ग्रामस्यापि कालिकसंबन्धेन चैत्रवृत्तिव्यापारवत्त्वेऽपि क्षतिः । तद्वृत्तित्वं च फलतावच्छेदकसंबन्धे तेन नाकर्मकेऽतिप्रसङ्गः । **वाच्यत्वम्** । धातुवाच्यत्वम् । **अन्यतमत्वमिति** । सकर्मकत्वेनाभिमतता यावन्तो धातवस्तद्वृत्त्यन्यतमत्वमित्यर्थः । तच्च तत्तद्भात्वानुपूर्व्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसमुदायवद्विन्नत्वम् । **एकस्यैवेति** । एकानुपूर्विकस्यैवेत्यर्थः । तेन भारं वहति नदी वहतीति वाक्यद्वयघटकवहधातुव्यक्त्योरुच्चारणभेदानार्थभेदेन परस्परभेदावश्यकत्वेनैकस्यैवेत्यसंगतमिति निरस्तम् । यद्वार्थभेदादिसत्त्वेऽपि शब्दाभेदमते इदमिति बोध्यम् । एवं च सकर्मकत्वेनाभिमतधातूनां तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदानामन्यतमत्वरूपभेदप्रतियोगितावच्छेदककोटौ प्रवेशितनिस्तारैरिति बोध्यम् । ननु सकर्मकत्वं स्वजनकव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं तच्च करोतेरक्षतम् । यत्नस्य फलतावच्छेदकविषयतासंबन्धेन स्वजनकात्मनोयोगादिरूपव्यापारानधिकरणवृत्तित्वात् तदभिन्नत्वमकर्मकत्वं तच्च करोतौ न संभवतीति कृञोऽकर्मकतापत्तेरित्यसंगतमित्याशङ्क्याह-**अयं भावः** इति । **अर्थः** इति । अस्य धातोरित्यादिः । **यती प्रयत्ने** इतिवदिति । तथा च नोक्तरूपं सकर्मकत्वं वक्तुमुचितं यत्धातावतिप्रसङ्गात् । आप तु स्वार्थफलेत्याद्युक्तेवास्मदीत्या । पररीत्या फलविशिष्टव्यापारवाचकत्वमेव । तच्च करोतेर्यत्नमात्रवाचकत्वे न संभवतीत्यकर्मकतापत्तिर्दुर्वैरेवेति भावः । ननु धातुमात्रस्य व्यापारावाचकत्वे धातुमात्रस्याकर्मकतापत्तिसंभवात् कृञ इति विशेषो-

१ A, D₂, and D₃ drop सकर्मकत्वं. २ °मन्तरेण न संभवति A. ३ अन्यतरत्वं A., D₂, D₃. ४ °दर्शनाच्च D₃.

दुर्वरेति । तथा च न हि यत्न इत्यत्र फलस्थानीयत्वेनेति शेषः । कृञ् इति धातुमात्रोपलक्षणं सर्वेषामप्यकर्मकता सकर्मकता वा स्यादिति भावः । अथवा व्यापाये भावनेयत्वेन व्यापारस्य वाच्यत्वं प्रसाध्य फलांशस्यापि तत् साधयन् नैयायिकाभ्युपगतं जानातिकृजादेः केवलज्ञानयत्नादिक्रियामात्रवाचित्वं दूषयति । कृञ् इति । अयं भावः—फलांशस्यावाच्यत्वे व्यापार एव धात्वर्थः स्यात् तथा च स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वादिरूपसकर्मकत्वोच्छेदापत्तिः । न च कृजादौ सकर्मकत्वव्यवहारो भाक्त इति नैयायिकोक्तं युक्तम् । व्यवहारस्य भाक्तत्वेऽपि कर्मणि लकारा-

क्तिरनुचितेत्याशङ्क्याह—कृञ् इतीति । फलवाचकत्वं सकर्मकत्वमित्यभिप्रेत्याह—सकर्मकतेति । तथा च सकर्मकाकर्मकविभागोच्छेद इति तात्पर्यम् । तत् । सकल-धातुवाच्यत्वम् । एतेन व्यापारो भावनेति कारिकया व्यापारस्य धातुवाच्यत्वसाधनेऽपि फलांशस्य तदसाधनेन न्यूनतेति दूषणं प्रत्युक्तम् । कृञ् इतीति । यती प्रयत्न इतिवद् यत्नार्थकतापत्तिरित्युक्तम् । अन्यथा वायुर्विकुरुते सैन्धवा विकुर्वते इत्यादिप्रयोगदर्शना-द्यथाश्रुतेऽसंगत्यापत्तेः । ननु फलवाचकत्वेऽपि फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वं कृजादेरप्यक्षतमेव । उत्पत्त्यादिरूपफलव्यधिकरणयत्नाद्यात्मकव्यापारवाचकत्वादित्याशङ्क्याह—अयं भाव इति । धात्वर्थ इति । सकलधात्वर्थ इत्यर्थः । सकर्मकत्वोच्छेदापत्तिरिति समनन्तरोक्तं न सकर्मकत्वमाश्रयितुमर्हं यतिस्यन्या-यतिव्यापकत्वादिति भावः । ननु सकर्मकत्वव्यवहारानुरोधादस्तु पच्यादेः फलांशोऽपि वाच्यः । अत एव धातोर्व्यापारमात्रवाचित्वे फलं द्वितीयाद्यर्थो वाच्यः । तथा च प्रयागात् काशीं गच्छति चैत्रे प्रयागं गच्छति चैत्रः काशीं त्यजतीत्यपि प्रयोगः स्यात् । एवं ग्रामं स्थन्दते इति प्रयोगापत्तिश्च । एकस्यैव व्यापारस्य गम्यादिवाच्यस्य पूर्वापर-देशनिष्ठविभागसंयोगजनकत्वात् । तत्तत्फलविशेषान्वयबोधेन तद्भातुजन्योपस्थितेहेतुत्वकल्पनयोक्तप्रयोगापत्तेर्वारणे तु गौरवम् । त्यजिगम्योः पर्यायताभ्रमदशायां गच्छति ग्रामं त्यजति ग्राममिति वाक्यद्वयादप्यविलक्षणबोधोत्पत्त्या तथाविधहेतुहेतुमद्भावकल्पन-मशक्यं च व्यभिचारात् । तत्पुरुषीयतथाविधभ्रमशून्यकालिकतत्पुरुषीयतत्तत्फलान्वय-बुद्धित्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वं स्वीकृत्य व्यभिचारवारणे त्वतिगौरवम् । तथाविधभ्रमद-शायामपि ताहगन्वयबोधो नाभ्युपेत इति तु न युक्तमनुभवसिद्धस्यापलापानर्हत्वात् । एवं त्यजति गच्छति त्यागो गमनमित्यतोऽप्यविलक्षणबोधापत्तिः । न च तत्र फलविशेषावच्छि-न्नव्यापारो लक्षणास्वीकारान्नोपपत्तिरिति वाच्यम् । अनेककर्मप्रत्ययानां तत्तत्फलविशेषे

संभवात् । न हि तीरे गङ्गापदस्य भाक्तत्वेऽपि तेन स्नानादि कार्यं शक्यं कर्तुम् ।
एवं च न हि यत्न इत्यत्र यत्नमात्रमित्यर्थः ॥ ५ ॥

अत एवाह—

किं तूत्पादनमेवातः कर्मवत् स्याद्यगाद्यपि ।

कर्मकर्तर्यन्यथा तु न भवेत् तदृशेरिव ॥ ६ ॥

उत्पादनमुत्पत्तिरूपफलसाहितं यत्नादि कृत्र्यं इत्यर्थः । फलस्य वाच्यत्वे
युक्त्यन्तरमाह—अत इत्यादि । यतः कृत्रो यत्नमात्रमर्थो नेष्यतेऽतः कर्मवत्

शक्तिकल्पनां कर्मप्रत्ययासमभिव्याहृतगम्यादेस्तत्फलवच्छिन्ने लक्षणाकल्पनां चापेक्ष्य
गम्यादेरेव विशिष्टवाचकत्वस्योचितत्वात् । एवं पच्यते तण्डुलः स्वयमेवेत्यादिप्रयोगानुप-
पत्तिश्च फलस्य धात्ववाच्यत्वे कर्मस्यक्रियकत्वाभावेन कर्मवद्भावाप्राप्तेरित्यादिदोषाणाम-
नवतार एव । तथा पच्यादेरुक्तरीत्या फलवच्छिन्नव्यापारार्थकत्वेऽपि कृत्रादेर्यत्नादिरूप-
व्यापारमात्रार्थकत्वे बाधकाभावः । तत्र सकर्मकत्वव्यवहारः कर्मान्वितार्थकत्वनिमित्तको
गौणः । एवं तत्र धात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वरूपमुख्यकर्मत्वविरहेऽपि विषयत्वरूपं
लक्षणिकमेव कर्मत्वं संभवतीत्याशङ्क्याह न च कृत्रादाविति । लकारासं-
भवादिति । गौणमुख्ययोरिति न्यायादिति भावः । तदेव दृष्टान्तेन दर्शयति—न हीति ।
उत्पत्त्यनुकूलयत्नार्थकत्वे कृत्रो नोक्तदोषसंभव इत्यत आह—एवं चेति । यत्नमात्र-
मितीति । मात्रपदेनोत्पत्तिरूपफलव्यवच्छेदः । तथा च पराभिमतयत्नमात्रार्थकत्वं
निषिध्यते उत्पत्तिविशिष्टयत्नार्थकत्वं तु स्वाभिमतमेवेति भावः ॥ ५ ॥

अत एव । यत्नपदस्य तन्मात्रपरत्वादेव । अन्यथोत्पादनपदस्योत्पत्त्यनुकूलयत्ना-
वर्धकतयासंगतिः स्पष्टैवेति भवत्युपष्टम्भकता । यत्नादीत्यादिपदेनान्यव्यापारस्यापि
परिग्रहः । वीजादिनाङ्कुरः कृत इत्याद्यनुरोधात् । तत्र यत्नवाधात् तत्त्यागेऽपि शक्त्यैवेतरव्यापा-
रभानमिति भावः । ननु प्रत्ययार्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वमस्तु । प्रत्य-
यार्थफलश्रयत्वमेव कर्मत्वमतो न कश्चिद् दोष इति चेन्न । घटं भावयतीत्यादौ फल-
स्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिभूतधातुवाच्यत्वे सति गौरवान्मानाभावाच्च । तस्य प्रत्ययार्थ-
त्वाभावेन तत्र लक्षणद्वयस्याप्यव्याप्त्यापत्तेः । किं च फलस्य प्रत्ययार्थत्वे पचतीत्यादौ
फलविषयकबोधानापत्तिरिति दिक् । युक्त्यन्तरमाहेति । मुख्यभाक्तसाधारणकर्मत्वा-
न्वितस्त्वार्थबोधकत्वमेव सकर्मकत्वम् । कर्मत्वानामननुगमेऽपि कर्मत्वपदवत्त्वेन तेषामनु-
गमः । गौणेऽपि कर्मत्वे घटं जानाति करोतीत्यादिप्रासाणिकप्रयोगानुरोधाद् द्वितीयादयो
यथा शाब्दिकमते आरोपितकर्तृत्वादिकमादाय तृतीयादयः । अत एव शृणोत श्रावाण

स्यादिति पदेन 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इति सूत्रं लक्ष्यते । अयमर्थः—
यत् एतस्योत्पादनार्थकतातः पच्यत ओदनः स्वयमेवेतिवत् क्रियते घटः स्वयमे-
वेति यगादयोऽप्युपपद्यन्ते । अन्यथा यत्नस्य कर्मनिष्ठत्वाभावात् तन्न स्यात्
दृशिवत् । यथा दृश्यते घटः स्वयमेवेति न दर्शनस्य घटावृत्तित्वात् तथा
यत्नस्यापीति तथाप्रयोगानापत्तेरिति ॥ ६ ॥

इत्यादि संगच्छते । अत एव च कारकचक्रप्रयोक्तृत्वं कर्तृत्वमिति भाष्यमते घटो भवतीत्या-
दिप्रयोगनिर्वाहः । न च कारकाधिकारे गौणमुख्यन्यायाप्रवृत्तेः सिद्धान्तसिद्धतया द्वितीया-
दिसिद्धावाप तत्र लकाराद्यसिद्धौ ज्ञायते क्रियते घट इत्यादिप्रयोगासिद्धिरेवेति वाच्यम् ।
स्वरितत्वप्रतिज्ञया अधिकः कारोऽधिकारोऽधिकं कार्यमित्यर्थक 'स्वरितेन—' इति सूत्रेण
तेषामपि सिद्धेः । धातुविशेषजन्ययत्नाद्युपस्थिते द्वितीयाद्यर्थविषयत्वान्वयबोधे नियामकत्वान्न
घटाय यतत इति वक्तव्ये घटं यतत इत्यादयः प्रयोगाः । अस्तु वा तत्र विषयतैव फलं
तस्या अपि ज्ञानादिप्रयोज्यत्वरूपफलत्वसत्त्वात् । एवं च मुख्यमेव कर्मत्वमिति नोक्त-
न्यायावतारोऽपि । अथवा पाणिन्यादिसंकेतसंबन्धेन कर्मपदवदर्थान्वयार्थकत्वमेव सकर्म-
कत्वम् । एतेदेवैतच्छात्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वयार्थकत्वमुच्यते । एतच्च भवतोऽप्यावश्यकमत
एवाध्यासिता भूमय इत्यादि सिद्धम् । अन्यथा स्वार्थफलेत्यादेस्तत्साधारण्याभावेन कर्मणि
प्रत्ययानुपपत्तेरित्यतो युक्त्यन्तरमाहेत्यर्थः । ननु वचनाभावात् कर्मकर्तारं कर्मवत्
स्याद्यगाद्यपीति मूलमनुपपन्नमित्यत आह—कर्मवत् स्यादिति पदेनेति । सूत्रं
लक्ष्यत इति । सूत्रविहितमित्यर्थः । अन्यथा यगादीत्यनेनान्वयापत्तेः । कार्यातिदेशपक्षे
साक्षादेव तत्सूत्रविहितत्वं यगादेः शास्त्रातिदेशपक्षे तु परम्परयेति बोध्यम् । तन्न
स्यादिति । कर्मस्यक्रियया तुल्या क्रिया फलरूपा फलसमानाधिकरणव्यापाररूपा वा यत्र
तादृशकर्ता कर्मवदित्यर्थकस्य 'कर्मवत् कर्मणा—' इति सूत्रस्याप्राप्तेः कृजः फलवाचक-
त्वाभावात् । तदर्थयत्नस्य तु घटादिसमवेतत्वाभावात् । तत्र कर्मवद्भावाभावे इष्टापत्तिस्तु
न । प्रकृतसूत्रभाष्यविरोधात् । ननु कर्मणि समवायेन यत्नस्यासत्त्वेऽपि विषयतया
तन्निष्ठत्वमक्षतमेव । अत एव घटं जानातीत्यादिवद् घटं करोतीति प्रयोग उपपद्यते ।
फलतावच्छेदकविषयतासंबन्धेन ज्ञानादिवद् यत्नस्य घटनिष्ठतया तस्य कर्मत्वात् । न
चैवं घटं यतत इत्यपि स्यादिति वाच्यम् । तदुपस्थितयत्नस्य विषयतया फलत्वव्यवहारा-
भावेन विषयतायाः फलतावच्छेदकत्वानङ्गीकारात् । एवं च क्रियते घटः स्वयमेवेत्युपपन्न-
मेवेत्याशङ्क्य नैवं वक्तुं शक्यं दृश्यते घटः स्वयमेवेत्यादिप्रयोगापत्तेरित्याशयेन
मूलोक्तं दृष्टान्तमुपपादयति—यथा दृश्यते घट इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं कृषादेरिव ज्ञानात्यादेरपि विषयावच्छिन्नावरणभङ्गादिफलवाचित्वमा-
वश्यकम् । अन्यथा सकर्मकतानापत्तेः । तथा च ज्ञायते घटः स्वयमेवेति किं न
स्यात् । एवं ग्रामो गम्यते स्वयमेवेत्याद्यपित्याशङ्कां मनसि कृत्वाह—

निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मवद्भाव इष्यते ।

न तु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तो हि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

ईप्सितं कर्म त्रिविधम्—निर्वर्त्ये विकार्ये प्राप्यं च । तत्राद्ययोः कर्मवद्भावो
नाम्ये । प्राप्यत्वं च क्रियाकृतविशेषानुपलभ्यमानत्वमिति सुबर्धनिर्णये वक्ष्यते । न
ज्ञायं घटः केनचिद् दृष्टो ग्रामोऽयं केनचिद् गत इति शक्यं कर्मदर्शनेनावगन्तुम् ।
घटं करोतीति निर्वर्त्ये सोमं सुनोतीति विकार्ये च तज्ज्ञातुं शक्यमिति न
तत् प्राप्यम् । तथा च घटादेर्दृश्यादौ प्राप्यकर्मत्वान्नोक्तातिप्रसङ्ग इति भावः ।

एवम् । फलव्यधिकरणेत्यादेरेव सकर्मकत्वरूपत्वे । विषयावच्छिन्नेति । अवच्छे-
दकतासंबन्धेन विषयनिष्ठ आवरणभङ्ग इत्यर्थः । भङ्गादीत्यादिपदेन विषयतापरिग्रहः ।
किं न स्यादिति । तथा च फलव्यधिकरणेत्यादिरूपं सकर्मकत्वमपि स्वीकारयोग्यं न
भवतीति तात्पर्यम् । किं च गम्यते ग्रामः स्वयमेवेत्यादिप्रयोगापत्तिरूपोऽपि दोष इत्याह—
एवं ग्राम इति । निर्वर्त्यादिस्वरूपज्ञानार्थमाह—ईप्सितमिति । तेन तदभिन्नकर्मण
आधिक्येऽपि न क्षतिः । क्रियाकृतविशेषेति । क्रियाकृतविशेषेण तद्विशिष्ट्येनानुपल-
भ्यमान इत्यर्थः । यद्वानुपलभ्यमानः क्रियाकृतविशेषो यत्रेति बहुव्रीहौ राजदन्तादित्वा-
दिना विशेषणस्यापि परनिपातः । विषदष्टिसर्पदृष्ट्योर्येद्यपि मूर्च्छादिरूपो विशेषो दृश्यते
तथापि न सर्वत्र । तथा यद्वातुकर्मणि प्रायः क्रियाकृतविशेषोपलम्भाभावस्तद्वातुकर्म
प्राप्यं कर्मेति पर्यवसन्नम् । वक्ष्यत इति ।

‘क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।

दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ॥’

इति वाक्यपदीयादिति वक्ष्यत इत्यस्यार्थः । नोक्तातिप्रसङ्ग इति । तद्वीजं तु
‘कर्मवत् कर्मणा—’ इति सूत्रे कर्मणेत्युपादानात् कर्मस्थक्रियाणां कर्मस्थभावकानामेव
धातूनां ग्रहणं विनाप्यन्तरङ्गत्वात् प्रकृतधात्वर्थाश्रयकारकेणैव तुल्यक्रियत्वलाभेन साध्व-
सिम्भिनत्तीत्यत्र वारणात् कर्तृभिन्नं च प्रकृतधात्वर्थाश्रयीभूतं कर्मेवेति भावः । क्रिया-
व्यवस्था चेत्यमुक्ता भर्तृहरिभिः—

धातूनां फलावाचकत्वे त्यजिगभ्योः पर्यायतापत्तिः क्रियावाचकत्वाविशेषात् । फल-
स्योपलक्षणत्वेऽप्येकक्रियाया एव पूर्वदेशविभागोत्तरदेशसंयोगजनकत्वादुक्तदो-
षतादवस्थमित्यपि वदन्ति । तस्मादावश्यकं सकर्मकाणां फलवाचकत्वम् ।
अकर्मकाणां तु तन्निर्विवादमेव । भू सत्तायामित्याद्यनुशासनाच्च । अत एव द्वयर्थः
पचिरिति भाष्यं संगच्छत इति दिक् ॥ ७ ॥

‘विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।

क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्देरेव प्रकल्पिता ॥’

इति । पूर्वार्थस्य तूक्त एवार्थः । ननु चिन्तयति पश्यत्यादीनां कर्तरि क्रियाकृतविशेषानु-
पलम्भात् कर्तृस्थभावकत्वानुपपत्तिरतः सिद्धान्तिमतमाह-अन्येषामिति । मत इति
शेषः । यत्र कर्तृकर्मोभयसाधारणं फलं शब्देन प्रतिपाद्यते स कर्तृस्थभावकः । यथा
पश्यति घटं ग्रामं गच्छतीत्यादौ । ज्ञानरूपफलस्य समवायविषयतासंबन्धाभ्यामुभय-
निष्ठत्वात् संयोगस्य च समवायेनोभयनिष्ठत्वम् । एवं हास्यापि चित्तवृत्तिविशेषस्यो-
भयनिष्ठत्वम् । अत एव जानतेरावरणभङ्गाद्यनुकूलव्यापारार्थकत्वे कर्तृस्थक्रियकत्वानापत्तिः
कर्मस्थक्रियकत्वापत्तिश्चेति ज्ञानानुकूलव्यापारार्थकत्वमेव स्वीक्रियते । यत्र तु कर्त्रवृत्तिफलं
स कर्मस्थभावको यथा भिनत्तीत्यादौ । न हि द्विधामवनादिकं कथमपि कर्तृगतं
भवतीति हेलाराज इत्यन्यत्र विस्तरः । धातोः फलवाचकतासाधिकामन्येषां युक्तिमाह-
धातूनामिति । क्रियावाचकत्वाविशेषादिति । एकजातीयक्रियावाचकत्वाविशेषा-
दित्यर्थः । अत एव धातुमात्रस्य पर्यायतापत्तिर्न कृता । अपि वदन्तीत्यनेनाखरसः
सूचितः । तद्विजं तु द्वितीयया तत्तत्फलबोधे तत्तद्धानुजन्योपस्थितेहेतुत्वकल्पनया प्रयागं
त्यजतीति प्रयोक्तव्ये प्रयागं गच्छतीत्यादिप्रयोगवारणं सुकरमिति । निर्विवादमिति ।
भवतीत्यादितः सत्तादिबोधस्य सर्वमतसिद्धत्वादित्यर्थः । पचतीत्यादित एव फलबोधे
विवादः । तत्र फलबोधो द्वितीयादित एवेति पराभ्युपगतत्वात् । अत एव । धातोः
फलवाचकत्वावेव । संगच्छत इति । तण्डुलानोदनं पचतीत्यत्र तण्डुलानां विकार्य-
कर्मत्वमोदनस्य निर्वर्त्यकर्मत्वमभिमतं तन्निर्वाहार्थमुत्पत्तिविकृतिरूपकद्वयार्थकत्वपर एव
स भाष्यग्रन्थः । एकस्यैव व्यापारस्योक्तफलद्वयजनकतया व्यापारद्वयपरत्वे असंगतिः
स्पष्टैवेति भावः । नन्वेवं जानात्यादेः सकर्मकत्वाय ज्ञानाद्यनुकूलव्यापारवाचित्वं तथा च
चक्षुरादिकं जानातीति स्याच्चक्षुरादावपि ज्ञानानुकूलचक्षुर्मनःसंयोगादेः सत्त्वादिति
चेन्न । स्थाली पचतीतिवदिष्टापत्तेरित्याशयेनाह-दिगिति ॥ ७ ॥

१ किं च धातूनां D₁. २ अकर्मकाणां P., D₂. ३ मित्यनुशासनाच्च P., D₁, D₂.
४ भाष्यप्रयोगः P., D₂.

एवं सिध्यतु फलव्यापारयोर्वाच्यत्वम् । किं त्वाख्यातवाच्यैव सा भावना । न धातोः प्राधान्येन प्रतीयमानव्यापारस्य धात्वर्थतायाः 'प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थप्राधान्यम्' इति न्यायविरुद्धत्वात् । तदागमे हि दृश्यते इति न्यायविरुद्धत्वाच्च । एवं च स्वयुक्ताख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वं सकर्मकत्वमा-

पूर्वोक्तयुक्तिभिः फलव्यापारयोर्वाच्यत्वे साधिते तिङ्प्रत्ययवाच्यैव भावनेति मण्डन-
मिश्रानुयायिमताशङ्क्य निराकुरते—एवं सिध्यत्विति । तदागमे हीति । 'शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषाम्' इति जैमिनि-
सूत्रम् । पशुना यजेतेत्यत्रैकवचनोपात्तैकत्वस्य करणत्वेन न क्रियायामन्वयः किं तु प्रकृत्यर्थे प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितेति व्युत्पत्तेरिति स्वीकारे एकत्वस्य यागाङ्गत्वाभावा-
त्तदभावेऽपि यागावैशुण्यात्तदविवक्षितमेव स्यादिति पूर्वपक्षे इदमुत्तरसूत्रम् । तदर्थस्तु शब्दवच्छब्दबोध्यं यथा भवति तथोपलभ्यते एकत्वं हि यतस्तदागमे एकवचनश्रवणे दृश्यतेऽतस्तस्याङ्गत्वज्ञानं यथान्येषां पशुत्वलौहित्यादीनामिति तथा च विशिष्टस्य श्रुत्याङ्गत्व-
बोधनेन पशुवाचित्ववच्छब्दबोध्यस्यास्य विशेषणस्याङ्गत्वोपपत्तिरिति भावः । एवं च तत्र यथा एकवचनगमे एकत्वं दृश्यतेऽतस्तदर्थत्वमेवं पञ्चतीत्यादावाख्यातश्रवणे सति व्यापारबोधात् तस्य तदर्थत्वमेवाङ्गीकार्यमन्यथोक्तन्यायविरोधापत्तेरिति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं भट्टपादैः

‘तथा क्रमवतो नित्यं प्रकृतिप्रत्ययांशयोः ।

प्रत्ययश्रुतिवेलायां भावनात्मावगम्यते ॥’ इति ।

नन्वेवं पूर्वोक्तसकर्मकत्वाकर्मकत्वविभागोच्छेदः । व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावात् । एवं देवदत्तः पञ्चतीत्यादौ धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वरूपकर्तृत्वस्य दुर्वचत्वेन देवदत्तादिरूपे कर्तरि प्रत्ययो न स्यादित्यतः सकर्मकत्वादिकमन्यादृशमाह—‘एवं च स्वयुक्तेति । भव-
त्यादेः पच्यादिपृक्ताख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणफलवाचकत्वात् सकर्मकत्वापत्तिरतः स्वयुक्तेत्याख्यातविशेषणम् । योगश्च स्वाव्यवहितोत्तरवर्तित्वम् । तेन देवदत्तः पचति भवति घट इत्यत्र पच्युत्तराख्यातस्य भूधातुयुक्तत्वेऽपि नातिप्रसङ्गादव-
स्थम् । स्वोत्तरवृत्तित्वमात्रनिवेशे घटो भवति पचति देवदत्त इत्यत्र भूधाताव-
तिप्रसङ्गः । अव्यवहितोत्तरवर्तित्वमात्रनिवेशे अतिपपाचेत्येतद्घटकातिपच्योः संग्रहेऽपि पचति अस्त्यतीत्येतत्समुदायघटकयोरसंग्रहः । अतो द्वितीयदलप्रवेशः । तेन

१ D. drops सा. २ प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम् D., D₁; प्रत्ययार्थः प्रधानम् P. ३ सा दृश्यते D₂.

ख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वं च कर्तृत्वं वाच्यमित्यादि वदन्तं 'मीमांसकमन्यं प्रत्याह—

तस्मात् करोतिर्धातोः स्याद्व्याख्यानं न त्वसौ तिङाम् ।
पक्वान् कृतवान् पाकं किं कृतं पक्वमित्यपि ॥ ८ ॥

तस्मात् अभिप्रायस्थहेतोः । स चेत्थं फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे प्रामो गमनवा-
निति प्रतीत्यापत्तिः । संयोगाश्रयत्वात् । फलानुत्पाददशायां व्यापारसत्त्वे पाको
भवतीत्यनापत्तिः । व्यापारविगमे फलसत्त्वे पाको विद्यत इत्यापत्तिश्च । यत्तु

घटं भावयतीत्यादौ भवत्यादेर्णिजर्थव्यापारव्यधिकरणोत्पत्त्याधिकफलवाचकत्वस-
त्वाभासप्रग्रहः । उत्पत्त्यादिवाचकत्वं प्रकृतिभूतभृष्टतावेव न ण्यन्तस्येति ण्यन्तस्य
सकर्मकत्वाभावे भाव्यते घट इति ण्यन्तात् कर्मणि लकारानुपपत्तिरिति न
वाच्यम् । स्वस्वघटकान्यतरवृत्त्या तद्वोधकत्वरूपस्य तद्वाचकत्वस्य निवेशेनादोषात् ।
तदघटकभूधातावतिप्रसङ्ग इति तु न शङ्क्यम् । इष्टापत्तेः । एवं स्वयुक्तप्रत्ययार्थव्यापार-
समानाधिकरणफलवाचकत्वमकर्मकत्वं स्वयुक्तप्रत्ययार्थव्यापारजन्यफलाश्रयत्वं कर्मत्व-
मित्यपि बोध्यम् । कर्तृत्वं वाच्यमिति । यथा देवदत्तः पचतीत्यादौ देवदत्तादेश्चैत्रो
मैत्रेण पाचयतीत्यादौ प्रयोज्यप्रयोजकयोरपि णिजार्थाख्यातार्थाश्रयत्वात् कर्तृत्वं देवदत्तेन
पच्यते देवदत्तेन स्वीयत इत्यत्राप्याख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वाद् देवदत्तस्य कर्तृत्वमिति ।
आदिपदादुक्ताकर्मकत्वलक्षणादिसंग्रहः । मीमांसकमन्यमिति । 'आत्ममाने खश्च'
इति खश् । अनेन भावनामुख्यविशेष्यको बोध इति सूचितम् । गमनवानिति
प्रतीत्यापत्तिरिति । फलव्यापारयोर्धात्वर्थत्वमतेऽपि तदापत्तिरिति तु न शङ्क्यम् ।
अन्तरङ्गत्वात् फलस्य व्यापारे एवान्वयाङ्गीकारात् । एवं गमनं न स्यन्द इति प्रयोगाप-
त्तिश्च बोध्या । संयोगाश्रयत्वादिति । अस्य प्रामस्येत्यादि । ननु कर्मणः कर्तृत्ववि-
वक्षायां तादृशप्रयोगापत्तिः सिद्धान्तेऽपीति चेन्न । कर्मदेवदत्तादेरेव कर्तृत्वविवक्षायामपि
तदापत्तिरित्याशयात् फलमात्रार्थकात् तत्समानाधिकरणव्यापारार्थकाच्च ल्युडादेरनभिधा-
नाद्वैति भावः । व्यापारविगमे । व्यापारनाशे । इत्यापत्तिश्चेति । धातोर्व्यापारावा-
चकत्वे पाकपदार्थफलमेव वाच्यम् । तथा चोक्तानापत्तिरनुक्तापत्तिश्चेति भावः । फलानु-
त्पाददशायां फलकर्तृकसत्ताया वर्तमानत्वाभावात् । व्यापारविगमेऽपि फलकर्तृकसत्ताया
वर्तमानत्वाच्चेति भावः । पूर्वाक्तस्थले पचतीत्यनापत्तिस्तदापत्तिश्च न संभवति । प्रत्ययार्थे

१ मीमांसकमन्यं D., D₂. २ गतवानिति D₂. ३ त्वनापत्तेः A., D., D₁, D₂.

४ व्यापत्तेश्च A., D., D₁, D₂.

भावप्रत्ययस्य घञादेरनुकूलव्यापारवाचकत्वान्नानुपपत्तिरिति तन्न कर्त्राख्यात-
वत् 'कर्तरि कृत्' इत्यत एव तद्विधानलाभे भावे विधायकानुशासनवैयर्थ्यापत्ते-
स्तन्नाप्यविरोधापत्तेः । अथ व्यापारोऽपि धात्वर्थ इत्यभ्युपेयमिति चेत्तर्हि धातुत
एव सकलव्यापारलाभसंभवेनाख्यातस्य पृथक्शक्तिकल्पने गौरवमिति । पचती-

व्यापारे एव समानाभिधानश्रुत्या तदर्थकालान्वयोपगमात् । उक्तदूषणोद्धारं तदुक्तं
निराकुरुते-यत्तु भावेति । नानुपपत्तिरिति । उक्तदोषाणामनवकाशादेस्तन्मतानु-
पपत्तिर्नेत्यर्थः । कर्त्राख्यातवदिति । यथा 'लः कर्मणि-' इति सूत्रेऽनुवृत्त 'कर्तरि'
इत्यस्य कर्तृत्वपरत्वमभ्युपगम्य तत्सूत्रेण व्यापारे लकारविधानं मीमांसकैरङ्गीक्रियते तथा
घञादीनामपि 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रेण व्यापारे विधिसंभव इत्यर्थः । न केवलं तद्वैय-
र्थ्यमपि तु तद्भाष्यविरोधोऽपीत्याह-तन्नाप्यविरोधेति । घञादेरप्यसत्त्वभूतकारका-
न्वययोग्यव्यापारार्थकत्वे 'भावे' इति सूत्रभाष्यविरोधापत्तेरित्यर्थः । तत्र हि सत्त्वभूत-
भावो घञादेरर्थ इति प्रतिपादितमित्यग्रे वक्ष्यते । ननु द्विविधभावोऽपि घञायर्थोऽ-
स्त्वतो न तद्विरोध इत्यतस्तदभाष्यविरोधापत्तेःचेति चेन्नान्येषां दूषणानां संग्रहः
सूचितः । तथा हि । आख्यातप्रत्ययस्य कर्तुरवाच्यत्वेऽभिधानानभिधानव्यवस्थोच्छेदः
कर्तृकर्मकृतां व्यापारावाचकत्वे तण्डुलानां पाचकः देवदत्तेन पक्व इत्यादौ षष्ठाद्यनुपपत्तिः
कर्मत्वाद्यसंभवात् । तेषामपि भावनार्थकत्वे गौरवम् । अनुशासनेन तदर्थकत्वालाभश्च ।
न च 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रस्थकर्तृपदस्यावृत्त्या धर्मधर्म्युभयबोधकतया भावनायां
तद्विधिलाभ इति वाच्यम् । आवृत्तौ प्रमाणाभावात् । एवमपि कर्मकृतां तदर्थकत्वानुपपत्तिः
स्थिरैव । न च 'तयोरेव कृत्य-' इत्यादावपि कर्तृग्रहणमनुवर्त्य भावनायामपि तेषां
विधानमिति वाच्यम् । गौरवापत्तेः । एवं गुरुः शिष्याभ्यां पाचयतीत्यत्र 'हेतुमति च'
इति सूत्रबलात् प्रयोजकव्यापारस्य णिजर्थत्वे स्थिते प्रयोज्यव्यापार एवाख्यातार्थो वाच्यः ।
एवं च णिजर्थव्यापारस्य प्रकृत्यर्थतया आख्यातार्थव्यापारान्वयिन्येव तदर्थसंख्यान्वयादु-
रुगतसंख्यानभिधाने गुरुपदात् प्रथमानापत्तिः शिष्यपदात् तदापत्तिश्चेत्याद्यन्यत्र विस्तारः ।
इत्यभ्युपेयमिति । पूर्वोक्तदूषणगणनिरासाय यत्नातिरिक्तो व्यापारोऽपि धात्वर्थो यत्न-
जाख्यातार्थ इत्यभ्युपेयत इति भावः । सकलव्यापारलाभसंभवेनेति । विनिगम-
नाविरहाद्यलोऽपि धातुवाच्य इत्यर्थः । गौरवमिति । संख्यायां कालादौ तच्छक्तिरस्तु
न तु यत्नेऽप्यन्यलभ्यतया तत्र शक्तिकल्पनानौचित्यादित्यर्थः । व्यापारत्वेन धातुत एव
लाभे प्रत्ययस्य यत्नत्वावच्छिन्ने शक्तिकल्पनायां गौरवादित्यर्थः । तथा सत्यनुभवसिद्ध-

स्यस्य पाकं करोतीति विवरणात्मा करोतिर्धातोरेव व्याख्यानं विवरणम् । अतस्तदपि नाख्यातार्थत्वसाधकमिति भावः । मीमांसकोक्तं बाधकमुद्धरस्तन्मतं दूषयति—न त्वित्यादिना । नासौ तिङ्गं व्याख्यानं पक्ववानित्यादावनन्वयापत्तेरित्यर्थः । अयं भावः—‘प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थप्राधान्यम्’

फूत्कारत्वादिना बोधस्यानिर्वाहात् तत्तत्फलानुकूलयत्नलाभेऽपि तदनुकूलव्यापारानुकूलयत्नलाभात् तल्लभार्थमाख्यातस्य यत्ने शक्तिरिति नव्यमीमांसकोक्तमपि न युक्तम् । तथानुभवात् । अन्यथा व्यापारानुकूलव्यापारालाभात् तत्रापि शक्तिकल्पनापत्तेः पाकं करोतीति धात्वर्थात् पृथक् करोतिना विव्रियमाणतया विक्लिच्त्यादिफलानुकूलव्यापारानुकूलयत्नादिरूपा भावना आख्यातार्थः । व्यापारविगमे फलसत्त्वदशायां पाको विद्यते इत्यप्रयोगात् । घञन्तपाकादिपदस्य फलावच्छिन्नव्यापारार्थताया आवश्यकत्वादिति त्ववाच्यम् । पाकं करोतीत्यत्रत्यपाकपदस्य फलमात्रार्थकत्वात् । फलानुत्पादसमये फूत्कारादिव्यापारसत्त्वेऽपि पाको भविष्यतीत्यादिव्यवहारात् क्वचित्तस्य फलमात्रपरत्वस्यापि दर्शनात् । अन्यत्र फलावच्छिन्नव्यापारपरत्वान्नोक्तदोष इति भावः । ‘कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादय इति । यदेषां करोतिना सामानाधिकरण्यम् । किं करोति पचतीति धातुरेव क्रियामाह’ इति भूवादिसूत्रे भाष्यमप्यत एव संगच्छते । अत्र गौरवमित्यन्तेन तस्मादित्यनेन सूचितो बुद्धिस्थहेतुसमुदायः प्रतिपादितः । उक्तहेतुतः करोतिः पचादिधातोरेव व्याख्यानं विवरणमिति मूलार्थमाह—पचतीत्यस्येत्यादिना । बाधकम् । प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थेति न्यायविरोधात्मकं बाधकम् । तन्मतमाख्यातवाच्यैव भावना करोतिना विवरणात् । धात्वर्थस्यैव विवरणमिति तु न । विनिगमकाभावात् । अस्मन्मते च व्यापारविशेष्यकबोधानुपपत्तिरेव मानम् । तदुक्तम्—

‘प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्रकृतिप्रत्ययौ सदा ।

प्राधान्याद् भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवधार्यते ॥’

इति मीमांसकमतमित्यर्थः । ननु पदपदार्थोपस्थित्यादिघटितसामग्रीसत्त्वे कुतोऽन्वयबोधाभावः । न च कारकाणां भावनायामेवान्वय इति नियमान्न परस्परमन्वय इति वाच्यम् । कारकरूपेणान्वयासंभवेऽपि मीमांसकरीत्या संबन्धसामान्येनान्वयसंभवादित्यत आह—अयं भाव इति । सहायं ब्रूत इति । एकार्थान्वितस्वार्थं बोधयतः । अर्थद्वयमप्ये

१ D₂ drops विवरणम्. २ नाख्यातार्थत्वे साधकं P., D₂; नाख्यातार्थसाधकं D₁.

३ प्रत्ययार्थः प्रधानम् A.

इत्यस्य हि विशेष्यतया प्रकृत्यर्थप्रकारकबोधं प्रति तदुत्तरप्रत्ययजन्योपस्थिति-
हेतुरिति कार्यकारणभावः फलितः । तथा च पक्वानित्यत्र पाकः कर्मकारकं
क्तवतुप्रत्ययार्थः कर्तृकारकम् । तयोश्चार्हणाधिकरणरीत्या वक्ष्यमाणान्मन्वया
चान्वयासंभव इति प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरन्वयनियमस्यैवाभावे क प्राधान्यबोधक
वक्तृकार्यकारणभावः । न च—

‘संबन्धमात्रमुक्तं च श्रुत्या धात्वर्थभावयोः ।

तदेकांशनिवेशे तु व्यापारोऽस्या न विद्यते ॥’

इति भट्टपदोक्तरीत्या संबन्धसामान्येन कारकाणामन्वयः शङ्क्यः । योग्यता-
विरहात् । अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वस्य तत्त्वात् । क्रियात्वमेव हि कारकान्वयिताव-
च्छेदकमिति वक्ष्यते । तदेतदाविष्कर्तुं विवरणेन धात्वर्थक्तवत्त्वर्थयोः कर्मत्वकर्तृत्वे
दर्शयति—कृतवान् पाकमिति । वस्तुतः ‘प्रत्ययार्थः प्रधानम्’ इत्यस्य यः
प्रधानं स प्रत्ययार्थ एवेति वा यः प्रत्ययार्थः स प्रधानमेवेति वा नार्थः ।

कस्य विशेष्यत्वं कस्य विशेषणत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—तयोरिति । फलिता-
र्थमाह—इत्यस्य हीति । प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः परस्परानन्वयप्रयोजकमुभयोः कारक-
त्वमाह—पाकः कर्मकारकमिति । पाकः फलांशस्तस्य क्रियानिर्वर्त्यतया व्यपदे-
शिवद्भावेन स्वाश्रयतया च कर्मत्वमित्यर्थः । अरुणाधिकरणे हि कारकाणां क्रियायामेवा-
न्वय इत्युक्तम् । वक्ष्यमाणेति । क्रियात्वस्य चैतदन्वयितावच्छेदकतया तद्विशिष्टक्रिया-
यामेवान्वय इति वक्ष्यमाणेत्यर्थः । तत्र इयान् परं भेदो यन्मीमांसकमते अरुणया
पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणातीत्यादौ विशेष्यविशेषणानां सर्वेषां क्रियायामन्वयः ।
परस्परमन्वयस्तु पाणिष्ठिकः । स्वमते तु विशेषणविशिष्टविशेष्यस्येति । अत एव नीलो-
त्पलमित्यादौ सामर्थ्यात् समास उपपद्यते । नियमस्यैवाभावे इति । भवन्मते एता-
दृशस्थले व्यभिचारादुक्तनियमस्यैवासंभवे इत्यर्थः । न च ‘संबन्ध-’ इति । यजेते-
त्यत्र श्रुत्या धात्वादिश्रुत्या धात्वर्थभावयोर्धात्वर्थभावनयोः संबन्धमात्रं संबन्ध-
सामान्यमुक्तम् । तत्र तृतीयादिविभक्त्यभावेन करणत्वादिविशेषरूपेणान्वयासंभवात्
संबन्धसामान्येनान्वयः प्रतिपाद्यते । तदेकांशनिवेशे संबन्धविशेषबोधने अस्याः
श्रुतेर्व्यापारः सामर्थ्यं नेति तदर्थः । अर्थाबाधरूपयोग्यतासत्त्वात् तद्विरहोक्तिरसंगतेत्यत
आह—अन्वयेति । तन्मतेऽपि तस्यैव योग्यतात्वात् । अत एव स्थूलजलाभिप्रायकं
पयसा सिंचतीति वाक्यं न योग्यम् । द्रवद्रव्यत्वस्यैवान्वयितावच्छेदकत्वात् । अन्वयप्र-

अजाश्वा छागीत्यादौ स्त्रीप्रत्ययार्थस्त्रीत्वस्यैव प्राधान्यापत्तेः शान्यादेरनापत्तेश्च ।
किं तूत्सर्गोऽयम् । विशेष्यत्वादिना बोधस्तु तथाव्युत्पत्त्यनुरोधात् ।
अत एव नैयायिकानां प्रथमान्तविशेष्यक एव बोधः । लक्षणायामालंकारिकाणां
शक्यतावच्छेदकप्रकारक एव बोधो न नैयायिकादीनाम् । घटः कर्मत्वमानयनं-
मित्यादौ विपर्ययेणापि व्युत्पन्नानां नैयायिकनव्यादीनां बोधो न तद्व्युत्पत्ति-

योजकपदेनान्वयितावच्छेदकस्यैवाभिधानात् । यद्वच्छिन्नेऽन्वयस्तस्यैव ह्यन्वयिताव-
च्छेदकत्वम् । न च स्थूलजले द्रवद्रव्यत्वज्ञानदशायां सेको नैतज्जलकरणक इति
बाधकप्रमासत्त्वेऽपि शाब्दबोधापत्तिरिति वाच्यम् । स्वरूपसयोग्यताया हेतुत्वात् । यद्वा
बाधकप्रमाविरहोऽप्यपेक्षणीय इति भावः । नियमद्वयेऽपि दूषणमाह-अजाश्चेत्यादिना ।
स्त्रीत्वस्यैवेति । यः प्रधानः स प्रत्ययार्थ एवेति नियमेऽजादेः प्रत्ययार्थत्वविरहेण
प्राधान्यानापत्तिः किं तु स्त्रीत्वस्यैवेति भावः । द्वितीयनियमे तु स्पष्टमेव दूषणम् । ननु
विशेष्यत्वादिना बोधे नियामकाभावेऽनियत एव बोधः स्यादित्यत आह-विशेष्य-
त्वादिनेति । व्युत्पत्त्यन्विति । तथा च व्युत्पत्तिरेव तत्र नियामिकेति भावनाया
आत्वर्थत्वेऽपि न प्राधान्यानुपपत्तिरिति भावः । व्युत्पत्त्यनुसारित्वं बोधस्य दर्शयति-अत
एवेत्यादिवा शक्यतावच्छेदकप्रकारक एवेति । अत एव गङ्गायां घोषः

‘जाता लता हि शैले जातु लतायां न जायते शैलः ।

संप्रति तद्विपरीतं कनकलतायां गिरिद्वयं जातम् ॥’

इत्यादौ गङ्गात्वलतात्वादिनैव बोधः । अत एव विलक्षणशैत्यपावनत्वादिप्रतीतिचम-
त्कारोऽपि । अन्यथा गङ्गातीरे घोष इत्यतः न कोऽपि विशेषः स्यात् । विपरीतपदप्रति-
पाद्यं वैपरीत्यं च न भवेदित्याहुरालङ्कारिकाः ।

‘कचतल्लस्यति वदनं वदनात् कुचमण्डलं त्रसति ।

मध्याद्विभेति नयनं नयनादधरः समुद्विजति ॥’

इत्यत्र कचत्वादिना बोधो न त्रासकरोऽपि तु राहुत्वचन्द्रत्वादिनैव । अत एव गङ्गायां
घोष इत्यादौ तीरत्वादिना बोधः । कचपदं राहौ वदनपदं चन्द्रे कुचमण्डलपदं चक्रवाक-
क्ष्मपत्योर्म्यपदं सिंहे नयनपदं हरिणेऽधरपदं प्रवाले लाक्षणिकम् । गङ्गापदेन स्ववृत्त्या-
प्रतिपादनादेव विलक्षणशैत्यपावनत्वादिप्रतीतिनिर्वाह इति नैयायिकादय आहुः ।
विपर्ययेणेति । वैपरीत्येन । व्युत्पन्नानाम् । तादृशवाक्ये आधारार्थेयभावसंबन्धेन

विरहितानामन्येषां तन्निराकाङ्क्षमेवेत्यादिकं संगच्छते । अत एव 'प्रधान-
प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्वप्रमाणत्वात्' इत्याह भगवान् पाणिनिः । प्रधानं
प्रत्ययार्थ इति वचनं न कार्यमर्थस्य तथाबोधस्यान्यप्रमाणत्वाद् व्युत्पत्त्यनुसा-
रित्वादिति हि तदर्थः । एवं सत्यपि नियामकापेक्षणे च 'भावप्रधानमाख्यातम्'
इति वचनमेव गृह्यतामिति सुधीभिरुह्यम् । 'तदागमे हि' इति न्यायो विव-
रणं चातिव्यासमित्याह-किं कृतं पक्वमिति । कृत्रा विवरणं प्रतीतिश्च
पक्वमित्यत्रापीति तत्रापि भावना वाच्या स्यादिति भावः । नन्वस्तु तिङ इव
कृतामपि भावना वाच्येत्यत आह-अपीति । तथा चोभयसाधारण्येन तत्प्रती-
तेरुभयसाधारणो धातुरेव वाचक इति भावः । भवद्वीत्या प्रत्ययार्थत्वात्

घटप्रकारकर्मत्वविशेष्यकबोधजनकताग्रहवताम् । नैयायिकेति । कर्मधारयसमासे
नैयायिकशब्दस्य क्रियाशब्दतया पाठकपाचकादौ पाठकादिवत् पूर्वनिपातः । बोधः ।
उक्तबोधः । न तदिति । अत्र बोध इत्यनुषज्यते । तथाव्युत्पत्तिरहितानां घटवृत्तिक-
र्मत्वमित्याकारको बोध इत्यर्थः । न तु बोधसामान्यानुदयोऽर्थः । अयोग्यतानिश्चयशून्य-
समये तथाव्युत्पत्तिरहितानामपि तादात्म्यसंबन्धेन घटप्रकारकर्मत्वविशेष्यकबोधोदयात् ।
अत एव । बोधस्य व्युत्पत्त्यनुसारित्वादेव । वचनमेवेति । एवकारेण प्रकृतिप्रत्यययो-
रित्यस्य व्यावृत्तिस्तस्यैतसिगित्वात् सामान्यवचनत्वाच्चेतस्य विशेषवचनत्वादिदमेव ग्राह्य-
मिति भावः । तत्राख्यातपदेन धातुहच्यते । आख्यायते सर्वप्रधानभूतोऽर्थोऽनेनेति
व्युत्पत्तेः । नामादिप्रकृतीनामेवोद्देशात् । तत्र 'नामान्याख्यातजानि' इति निरुक्ताच्च । न
ह्याख्यातप्रत्ययजं तदन्तजं वा नाम संभाव्यते । अत एव 'सर्वं नाम धातुजमाह व्याकरणे
शकटस्य च तोकम्' इति पूर्वोक्तनिरुक्तसमानार्थकं वाक्यं महाभाष्ये पठ्यते । तथा च वाक्ये
सर्वापेक्षया प्रधानीभूतभावार्थकत्वं धातुलक्षणं पर्यवसन्नम् । प्राधान्योक्तित्तु तन्मुख्यविशेष्यक
एव बोधो जायत इति स्फोरणाय न तु तस्य लक्षणे निवेश इति मूषणकारानुमता सरणिः ।
मञ्जूषाकारास्तु तत्राख्यातशब्देन तिङन्तम् । 'आख्यातमाख्यातेन' इत्यादौ तथैव
प्रतीतेः । 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इत्युपक्रमाच्च । 'भावकालका-
रकसंख्याश्चत्वारोऽर्था आख्यातस्य । तत्र भावः प्रधानम्' इति तद्वाच्याच्चेत्यादिकमाहुः ।
विस्तरस्तु तत एवावगन्तव्यः । भावस्य प्रागुक्तयुक्तिभिर्धार्तत्वर्थत्वे स्थिते तत्प्राधान्यनि-
यामकं भवतीति ध्येयम् । इत्यत्रापीति । अपिना पक्वानित्यस्य समुच्चयः ।
उभयसाधारण्येन । तिङन्तकृदन्तोभयसाधारण्येन । धातुरेव वाचक इति ।

१ 'रहितानां' D₃. २ 'निराकाङ्क्षमेवेति संगच्छते P. ३ कर्तव्यमर्थस्य D., D₂, D₃.

४ पक्वमिति D₇. ५ 'अत्रापि D₃.

प्राधान्यापत्तिश्चेति द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

व्यापारस्य धात्वर्थत्वे साधकान्तरमाह—

किं कार्यं पचनीयं चेत्यादि दृष्टं हि कृत्स्वपि ।

किं च क्रियावाचकतां विना धातुत्वमेव न ॥ ९ ॥

कार्यमित्यत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' इति कर्मणि ण्यत् । पचनीयमित्यादौ चानीयर् । आदिना ज्योतिष्टोमैयाजीत्यादौ णिनिः कर्ण उपपदे कर्तरि । एते च क्रियायोगमन्तरेणासन्तरतद्वाच्यतां बोधयन्ति । विना क्रियां कारकत्वासंभवेन तद्वाचकप्रत्ययस्याप्यसंभवात् । न च गम्यमानक्रियामादाय कारकयोग इति भ्रादुरीतिर्युक्ता । आख्यातेऽपि तथात्वापत्तौ तत्रापि भावनाया वाच्यतासिद्ध्यापत्तेः । अथ लिङ्गसंख्यानवयानुरोधात् कर्तृर्वाच्यत्वमावश्यकमिति तेनाक्षेपाद्भावनप्रत्ययः स्यादिति मतं तर्हि संख्यानवयोपपत्तेराख्यातेऽपि कर्ता वाच्यः स्यात् । पक्वानित्यादिकालकारकान्वयानुरोधाद् भावनाया अपि वाच्यत्वस्यावश्यकत्वाच्चेति भावः । अपिना हेत्वन्तरसमुच्चयः । तथा हि नखैर्भिन्नो नखभिन्नः हरिणा त्रातो हरित्रात इत्यादौ 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासो न स्यात् । पुरुषो राज्ञो भार्या देवदत्तस्येत्यादिवदसामर्थ्यात् । न चाध्याहृतक्रियाद्वारा सामर्थ्यं वाच्यम् । दध्योदनो गुडधाना इत्यादिवत् । अन्यथात्रापि 'अन्नेन व्यञ्जनम्' 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' इति समासो न स्यादिति वाच्यम् । तत्र विध्यानर्थक्यादगत्या तथा स्वीकारेऽपि हरिकृतमित्यादौ साक्षाद्भावनान्वयेनोपपद्यमानस्य

उभयत्रापि पचिधातोरेकत्वेन लाघवात् । प्रत्ययानां भिन्नतया तद्वाचकतायां गौरवादिति भावः । प्राधान्यापत्तिश्चेति । कृतामपि भावनावाचकत्वे भावनयैवाक्षेपात् कर्तृकर्मलाभसंभवे तिङ्शिववात्रापि तस्या एव प्राधान्यापत्तिरिति भावः ॥ ८ ॥

लिङ्गसंख्यानव्येति । पक्वान् पक्वती पक्वत् इत्यादौ पुंस्त्वस्त्रीत्वादिलिङ्गैकत्वादिसंख्यानवयायेत्यर्थः । कर्तृर्वाच्यत्वमिति । इदं पक्वत्पण्डुल इत्यादौ कर्मादेरप्युपलक्षणम् । समासानुपपत्तौ हेतुमाह—पुरुष इति । राजसंवन्धी पुरुषो देवदत्तसंवन्धिनी भार्येत्यन्वये विवक्षिते राज्ञो भार्या इत्यनया यथा समासो न भवति असामर्थ्यादनन्वयादेवं नखैर्भिन्न इत्यादावपि स न स्यादित्यर्थः । असामर्थ्यादिति । कारकाणां भावनायामेवान्वयेन परस्परमन्वयात् परमते तिङादेर्भावनवाचकत्वात् । साक्षाद्भावन-

1 A. and D₃ drop व्यापारस्य धात्वर्थत्वे. २ मयाजीदित्यादौ D₃. ३ करणे D₃. करणोपपदे A. ४ D₂ drops कर्तरि. ५ गम्यमानो किं D₃. ६ प्रत्ययोऽपि स्यात् P.

कर्तृकरणे इत्यस्याक्षेपेण परम्परासंबन्धे प्रवृत्त्ययोगात् । न चैकस्यां क्रियायामन्वयित्वमेव सामर्थ्यमिति शङ्क्यम् । असूर्यपश्या इत्यादेरसमर्थसमासत्वानापत्तेः । इष्टापत्तौ कृतः सर्वो मृत्तिकयेत्यत्र कृतः सर्वमृत्तिक इत्यापत्तेः । न चात्र समासविधायकाभावः । 'सह सुपा' इत्यस्य सत्त्वात् । अन्यथासमर्थसमासोऽपि विधायकाभावान्न स्यादिति । किं च भावनायास्तिङ्गर्थत्वे भावयति घटमितिवद्ववति घटमित्यपि स्यात् । धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वसत्त्वात् । न चाख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वेन कर्तृत्वात् तत्संज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधान्न द्वितीयेति वाच्यम् । आख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वस्य कर्तृत्वे पाचयति देवर्थत्वान्वयेनेति । कृधातोस्तन्मतेऽपि कृतिरूपभावनार्थकत्वादिति भावः । परम्परेति । स्वकर्तृकादिक्रियाजन्यत्वरूपपरम्परैत्यर्थः । शङ्कते-न चेति । तथा च नोक्तपरम्परासंबन्धेन तयोरन्वयः । अपि त्वेकस्यां क्रियायामन्वयित्वरूपमेव सामर्थ्यं नीलोत्पलमित्यादिसमाससिद्धये तैरङ्गीकर्तव्यं तत्राप्यस्तीति न समासानुपपत्तिरिति भावः । असमर्थेति । असूर्यपश्या राजदारा इत्यत्र दर्शनक्रियाया एवाभावबोधेन सूर्यपदार्थेन नञर्थस्यान्वयधिरहादसमर्थसमासत्वेन भाष्यकारादेरभिमतः । तथा समर्थसमासत्वं तव मते भज्येत न सूर्यं पश्यन्तीत्यर्थे नञ्पूर्वप्रदार्थयोरेकक्रियान्वयित्वरूपसामर्थ्यसत्त्वादिति भावः । आदिपदादश्राद्धभोजी ब्राह्मणः अपुनर्गेयाः श्लोका इत्यादेः संग्रहः । इत्याद्यनापत्तेरिति । न चात्रापीष्टापत्तिः । तत्र समासाभावस्यैव सर्वानुमतत्वात् । अत एव 'सर्वचर्मणः कृतः—' इति निपातनात् समास इत्युक्तम् । ननु कृतः सर्व इत्यादावनभिधानान्न समासः । किं च 'सह सुपा' इत्यसार्वत्रिकम् । तेनैव सर्वत्र समाससिद्धौ 'द्वितीया श्रिता—' इत्यादिना समासविधानात् । अन्यथा तत्तत्सूत्रैस्तत्पुरुषादिसंज्ञा एव विधीयन्त । अत एवानेन समासस्यागतिर्व तत्र तत्रोक्तम् । किं चैवं 'कर्तृकरणे कृता—' आदिना सामान्यसूत्रप्रणयनसामर्थ्यात् क्रियाद्वारकसामर्थ्यमादाय कृदन्तेन कारकस्य समास-इत्यभ्युपगमात् दोषः । कृद्रहणसामर्थ्यादप्ययमर्थः सिध्यति । 'कर्तृकरणे' इति न्यासेनैव 'सुरा' इत्यनुवृत्त्या कृदन्तेनैव समासस्य सिद्धेः काष्ठैः पचतितरामित्यत्र समासस्य बहुलग्रहणेनापि वारयितुं शक्यत्वाद् बहुलग्रहणेनैव सुबुत्तिप्रागेव समासस्य सिद्धत्वादित्यभिप्रेत्य दूषणान्तरमाह-किं चेति । धात्वर्थफलेति । उत्पत्तिरूपफलेत्यर्थः । ननु भवन्मतेऽपीयमापत्तिस्तुत्या कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधानेति समाधानमपि तुल्यमित्याशङ्कां निराचष्टे-न चाख्यातार्थेति । तथा च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् ।

१ इत्यादेरसमासत्वा° D₁; इत्याद्यनापत्तेः Com. २ कृतसर्वमृत्तिक P. ३ इत्यारम्भात् P.
४ 'फलाश्रयकर्मत्वसत्त्वात् A., D₂; D₁ drops रूप; D. has °कर्मत्वस्य सत्त्वात्.

दत्तो विष्णुमित्रेणेत्यत्र विष्णुमित्रस्याकर्तृतापत्तौ तृतीयानापत्तेः । ग्रामं गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रमित्यत्र विष्णुमित्रस्याकर्तृत्वापत्तौ ग्रामस्य गमिकर्मतानापत्तेश्च । तथा च ग्रामाय गमयति देवदत्तो विष्णुमित्रमित्यपि न स्यात् । ' गत्यर्थकर्मणि

दृष्टान्ते प्रयोजकव्यापारो णिजर्थः । दार्ष्टान्तिके तु प्रयोज्यव्यापार आख्यातार्थः । एवं च घटं भावयतीत्यत्र घटस्य कर्तृत्वाभावेन णिजर्थभावनां प्रति कर्मत्वं निरपवादमेव । घटो भवतीत्यत्र आख्यातार्थव्यापाराश्रयतया कर्तृसंज्ञया बाधितत्वान्न घटस्य कर्मत्वमित्यर्थः । अकर्तृत्वापत्ताविति । सर्वस्यैव यत्किंचिदाख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वात् समभिव्याहृतेत्यावश्यकम् । प्रकृते चाख्यातस्य न प्रयोज्यव्यापारोऽर्थः । अपि तु णिजर्थव्यापार एव तेनानूयते । अत एव प्रयोजकस्य कर्तृत्वनिर्वाहः । अत एवाख्यातार्थव्यापारान्वयिन्येव तदर्थसंख्यान्वयनियमाद्गुरुः शिष्याभ्यां पाचयतीत्यत्र गुरुपदात् प्रथमोत्पत्तिः पाचयतीत्येकवचनोपपत्तिश्च । एवं चाख्यातार्थव्यापारानाश्रयत्वात् प्रयोज्यस्य कर्तृत्वानुपपत्तिरिति भावः । करणतृतीयैवेयमिति तु न शङ्क्यम् । तथा सति कर्तुः प्रयोजकस्यैव हेतुतया देवदत्तस्य हेतुतापत्तौ णिजुत्पत्तेरेवासंभवापत्तेः । 'तत्प्रयोजक—' इत्यत्र तत्पदेन धात्वर्थानुकूलव्यापारवान् ग्राह्योऽतो न णिजनुत्पत्त्यापत्तिः । प्रयोज्यस्य कर्तृसंज्ञाविरहेऽपि धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयत्वादिति न वाच्यम् । 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति पूर्वसूत्रेण कर्तृसंज्ञाविधानात् तत्पदेन कर्तृसंज्ञकस्यैव परामर्शाहत्वात् । कारकमात्रस्यैव धात्वर्थानुकूलव्यापाराश्रयतया कारकमात्रप्रयोजकव्यापारे णिजुत्पत्त्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । काष्ठैः पाचयति दर्शयति भवं भक्त इत्यादिप्रयोगाणां दर्शनादिति वाच्यम् । काष्ठानि पचन्ति पश्यति भव इत्यर्थे काष्ठादीनां कर्तृविवक्षायां तत्प्रेरणायामेव तादृशप्रयोगाणामिष्टत्वादिति भावः । गमिकर्मतानापत्तेरिति । कर्तुरीप्सितस्यैव कर्मत्वात् । ननु त्वत्सिद्धान्तेऽपि कर्मसंज्ञाविधायके 'कर्तुरीप्सिततमम्—' इति सूत्रे कर्तृपदं स्वतन्त्रमात्रपरं न तु कर्तृसंज्ञकपरं देवदत्तो विष्णुमित्रं ग्रामं गमयतीत्यत्र ग्रामस्य कर्मत्वानापत्तेः । प्रयोज्यस्य गत्यादिसूत्रेण कर्मसंज्ञायां कर्तृसंज्ञाविरहात् । एवं च ममापि मते न दोषः । प्रयोज्यस्य धात्वर्थसंयोगानुकूलव्यापाराश्रयत्वरूपस्वातन्त्र्यसत्त्वादिति चेन्न । एतन्मते आख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वस्यैव स्वातन्त्र्यपदार्थत्वं न तूक्तस्य कारकमात्रेऽतिव्याप्तेः । तस्य च प्रयोज्येऽसत्त्वात् । प्रकृतधातुसंबन्धकारकचक्रप्रयोक्तृत्वरूपं तद्धातुकर्तृत्वं त्वचेतने न संभवतीत्युक्तमेवेति भावः । ग्रामस्य णिजन्तकर्मत्वं संभवत्येव तत एव द्वितीयानिर्वाह इत्यत आह—गमिकर्मतेति । ननु तदभावे का क्षतिरित्याशङ्क्यामाह—तथा चेति । इत्यापि न स्यादित्यत्र हेतुमाह—गत्यर्थकर्मणि—' इति । अश्वभिन्ने गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ स्तथेष्टायां

द्वितीयाचतुर्थौ चेष्टायामनध्वनि' इति गत्यर्थकर्मण्येव चतुर्थीविधानात् । एतेन णिजन्त आख्यातार्थ उभयं तदाश्रयत्वाद् देवदत्तयज्ञदत्तयोः कर्तृतेत्यपास्तम् । किं च तस्मिन् प्रयोगे यं आख्यात इत्यस्यावश्यकत्वेनाख्यातशून्ये देवदत्तः पक्तेत्यादौ देवदत्तस्याकर्तृतापत्तेरिति दिक् । सूत्रानुपपत्तिमपि मानत्वेन प्रदर्शयन्नुक्तार्थस्य स्वोत्प्रेक्षितत्वं निरस्यति—किं चेति । धातुसंज्ञासत्यामिति तत्सूत्रार्थः । तन्मते गत्यर्थकर्मत्वं संयोगरूपगत्यर्थकधातुसमाभिव्याहृताख्यातार्थव्यापाराश्रयरूपकर्तुरीप्सिततमत्वं तादृशकर्तृनिष्ठाख्यातार्थक्रियाजन्यफलाश्रयतयेच्छाविषयत्वरूपं तच्चोक्तरीत्या ग्रामस्य न संभवतीति णिजन्तकर्मत्वनिबन्धनद्वितीयासिद्धावपि चतुर्थी न सिध्येदिति भावः । एतेन । उक्तप्रयोगानिर्वाहेण । उभयम् । प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारोभयम् । अपास्तमिति । उक्ताख्यातस्य णिजन्तधातुयुक्तत्वेऽपि गत्यर्थकधातुयुक्तत्वाभावेन प्रयोज्यस्य स्वयुक्ताख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वरूपगत्यर्थकर्तृत्वाभावाद्गत्यर्थकधातुकर्मत्वानापत्तौ चतुर्थ्यनापत्तितादवस्थ्यादिति भावः । ननु गत्यर्थकर्मपदेन तदर्थसंयोगाश्रयत्वे सति तदनुकूलव्यापाराश्रयत्वेन विवक्षितो यस्तदभिन्नोऽर्थो विवक्षितः । लक्ष्यानुरोधात् । किं च 'गत्यर्थकर्मणि—' इति सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम् । तथा च गत्यर्थकर्मत्वाभावेऽपि न क्षतिः । पत्ये शेते इतिवचचतुर्थी सिद्धेति स्पष्टं भाष्यादावत आह—किं चेति । नन्वाख्यातशून्यस्थलेऽपि प्रथमानुरोधेन तिङन्ताध्याहार आवश्यकः । अन्यथा तिङ्समानाधिकरणे प्रथमेत्यनुशिष्टप्रथमायाः साधुत्वं न स्यात् । एवं च देवदत्तः पक्तेत्यापि अस्तीत्याद्यध्याहाराद् देवदत्तस्य कर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेन्न । एवं सत्यप्यस्धातुकर्तृत्वोपपत्तावपि पचिकर्तृत्वानुपपत्तितादवस्थ्येन ततः कर्तरि तृजनापत्तेः । ननु यद्वातुप्रकृतिकाख्यातार्थव्यापाराश्रयत्वं यस्य गृहीतं तत्र तद्वातोः कृद्भवतीत्येव 'कर्तरि कृत्' इत्यस्यार्थोऽभ्युपेयते सामर्थ्यात् । आक्षिप्तभावनाश्रयत्वेन यदा यो विवक्षितस्तदा तस्मिन् वाच्ये इति च । यद्वा कृत्प्रत्ययस्य व्यापारोऽप्यर्थोऽङ्गीक्रियते । एवं च प्रत्ययार्थाश्रयत्वमेव कर्तृत्वमभ्युपेयते इति चेन्न । क्लिष्टत्वापत्तेः । इत एव वास्वरसादाह—दिगिति । तदर्थस्तु भवता धात्वर्थफलप्रकारकानुकूलत्वसंसर्गकभावनाविशोध्यकबोधे धात्वाख्यातानुपूर्वीधातुकृद्वानुपूर्व्योः कारणतावच्छेदकत्वमङ्गीकरणायम् । मया तु धात्वानुपूर्व्या एव तथात्वमङ्गीकर्तव्यमिति लाघवमित्यादि बृहद्भूषणतोऽवगन्तव्यम् । ननु 'भूवादयः' इत्यस्य भूरादिर्येषामिति बहुव्रीहिणा भूप्रभृतयो धातुसंज्ञा इत्येवार्थो न तु भूवादिगणपठिताः क्रियावाचका धातुसंज्ञा इति । तद्वोधकबन्दाभावात् । कथं तर्हि 'भूवादयः' इति निर्देशोपपत्तिः । निपातनाद्वकारागम इति गृह्णान् । ननु तथापि तदानर्थत्रयं

विधायकं 'भूवादयो धातवः' इति सूत्रम् । तत्र भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः । आदि-
शब्दयोर्व्यवस्थाप्रकारवाचिनोरेकशेषः । ततो भूवावादी येषामिति बहुव्रीहिः ।
तथा च भूप्रभृतयो वासदृशा धातव इत्यर्थः । तच्च क्रियावाचकत्वेन । तथा च
क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वं पर्यवसन्नम् । अत्र हि 'क्रियावाचि-
त्वमात्रोक्तौ वर्जनादिरूपक्रियावाचके हिरुङ्गानेत्यादावतिव्याप्तिरिति भ्वादि-
गणपठितत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

तावन्मात्रोक्तौ चाह —

सर्वनामाव्ययादीनां यावादीनां प्रसङ्गतः ।

न हि तत्पाठमात्रेण युक्तमित्याकरे स्फुटम् ॥ १० ॥

गणपठितत्वमात्रोक्तौ सर्वनामा यो या तस्यापि धातुत्वं स्यात् । तथा च याः
पश्यसीत्यादौ 'आतो धातोः' इत्याकारलोपापत्तिः । ननु लक्षणप्रतिपदोक्तयोः

दुष्परिहरमेवेति चेन्न ।

'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' ।

इति वार्तिककारैरेव परिहृतत्वात् । मङ्गलार्थः मङ्गलसूचकः । यथा पूर्वस्य
द्व्ययादेर्लोभो लोके मङ्गलसूचकस्तथेत्यर्थः । अथवा सति वकारेऽविकृतभूशब्दोच्चा-
रणेन महाव्याहृतिरेफान्तभूशब्दस्मरणसंवादनद्वारा तस्य मङ्गलसूचकत्वमिति कैयटीये
स्पष्टम् । एवं च न सूत्रानुपपत्तिः परमते इत्याशङ्का निराचिकीर्षुः सूत्रार्थमाह—तत्र
भूश्चेत्यादिना व्यवस्थेति । नियमेनावधिसाकाङ्क्षप्रथमरूपोऽर्थः । क्रियावाचक-
त्वेनेति । शब्दत्वादिना सादृश्याभ्युपगमे वादय इत्यस्याव्यावर्तकतापत्तिः । अदादित्व-
गत्यर्थकत्वेन तत्स्वीकारे सकलभ्वादीनामसंग्रह इत्यतो व्याख्यानाच्च क्रियावाचकत्वेनैव
तदभ्युपगम इति भावः । हिरुगादीनां क्रियामात्रं प्रति विशेषणत्वेऽपि तेषां क्रियावाचक-
त्वाभाव इत्यभिप्रेत्याह—इत्यादाविति । आदिना शिश्ये इति भावतड आणपयत्यादेश्व
संग्रहः ॥ ९ ॥

आकारलोपापत्तिरिति । नन्वेतस्याकारस्य लाक्षणिकतया न लोप इति चेन्न ।
पशुषा इत्यसिद्ध्यापत्तेः । पशुं सनोतीत्यर्थे 'जनसन—' इति विद् । 'विड्वनोः—' इत्यात्वम् ।

१ 'भूवादयः—' इति D., D₁. २ D., D₁ drop धातवः. ३ भ्वादिगण° A., D.
४ D., D₁, and D₂ drop it. ५ D. and D₁ drop it. ६ आह D₁. ७ सर्वनामा-
व्ययादीनामपि D. ८ इत्यालोपापत्तिः P., A., D., D₁.

प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणान्न सर्वनाम्नो ग्रहणं तस्य लाक्षणिकत्वादित्यत आह-वेत्यादि । अद्यप्ये वेत्यादावतिप्रसङ्गस्तादृशस्यैव गणेऽपि पाठेन निर्णयासंभवात् । तथा च विकल्पार्थको वातीति प्रयोगः स्यादिति भावः । न च गतिगन्धनाद्यर्थनिर्देशो नियामकः । तस्यार्थानादेशनादिति भाष्यपर्यालोचनयाधुनिकत्वलाभात् ॥ १० ॥

लाक्षणिकत्वादिति । प्रतिपदोक्तस्य पाया इत्यस्यैव भवादपदेन ग्रहणं न सर्वनाम्न इति भावः । यदि तु

‘नकारजावनुस्वारपञ्चमौ शलि धातुषु ।

सकारजः शकारश्च पाठवर्गस्तवर्गजः ॥’

इत्यभियुक्तोक्तेर्धातुसंज्ञासूत्रे लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाप्रवृत्तिर्विस्तृतमशक्येत्येतत्परिभाषाप्रवृत्तौ हि धातुविशिष्टघटकत्वं नकारादेरसंभवीति तथाभियुक्तोक्त्या धातुसंज्ञायामुक्तपरिभाषा न प्रवर्तत इत्यङ्गीकार्यमित्युच्यते तर्ह्यस्तु धातुसंज्ञा । तथापि ‘आतोऽजापः’ इति वार्तिकान्न प्रकृते आकारलोप इत्यत आहृत्यवतरणिका बोध्या । ननु निपातस्य वेत्यस्य धातुत्वेऽपि न क्षतिः । वातीति प्रयोगस्येष्टत्वात् । अत आह-विकल्पार्थक इति । तथा च गत्याद्यर्थकस्य वातिप्रयोगस्येष्टत्वेऽपि विकल्पार्थको नेष्ट इति भावः । किं च तस्य धातुत्वे ‘अधातुः’ इति पर्युदासान् प्रातिपदिकत्वानापत्तौ सुवन्तत्वाभावे पदत्वानापत्तिः । एतेन हन्तेर्गत्यर्थत्वेऽपि हन्तीत्यतः प्रायस्तदर्थानिवगतिवत् वातीत्यतो विकल्पानवगतिनिर्वाह इति तस्य धातुत्वेऽपि न क्षतिरिति दोषानवकाशः । यद्यपि निपातस्थानर्थकस्येत्यवदयमनर्थकनिपातानां प्रातिपदिकसंज्ञार्थमारब्धव्यं तथा च तत्रानर्थकस्येति न पठनीयमेवं च तेनैव वा इत्यस्य प्रातिपदिकत्वनिर्वाहस्तथापि निपातस्येत्यस्यानर्थकस्येति निपातस्य संज्ञाविधानेन चरितार्थतया सर्वतो बलीयसो निषेधवाधे मानाभावा इत्याशय इत एवास्वरसाद्वा यावादीनामित्यादिपदम् । अर्थानादेशनादिति भाष्येति । मण्डनमिश्रेत्यादिसूत्रस्थेत्यादि । अत एव प्रकृतसूत्रे ‘परिमाणग्रहणं कर्तव्यमियानवधिर्यातुसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । कुतो ह्येतद्भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति न पुनर्भवेदशब्द इति’ वार्तिकं तद्व्याघ्रं च संगच्छते । अर्थानादेशनादित्यस्य सर्वत्रार्थानादेशनादित्यर्थः । अत एव ‘एवमर्थं स्वल्पाप्याचार्यश्चित्रयति । क्वचिदर्थानादिशति क्वचिन्न ।’ इति ‘नमोवारिवश्चित्र-’ इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । अत एव च ‘कुर्दुर्दुर्द क्रीडायामेव’ इत्येवकारस्य धातूनामनेकार्थत्वे ज्ञापकतोक्ता संगच्छते । अर्थनिर्देशस्योपलक्षणात्वाच्चेत्यपि बोध्यम् ॥ १० ॥

नन्वस्तु क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं धातुत्वं क्रिया च धात्वर्थ एव न व्यापार इति शङ्कां समाधत्ते—

धात्वर्थत्वं क्रियात्वं चेद्धातुत्वं च क्रियार्थता ।

अन्योन्यसंश्रयः स्पष्टस्तस्मादस्तु यथाकरम् ॥ ११ ॥

यदि क्रियात्वं धात्वर्थत्वमेव तर्हि धातुत्वग्रहे तदर्थत्वरूपक्रियात्वग्रहः क्रियात्वग्रहे तदवच्छिन्नवाचकत्वघटितधातुत्वग्रह इत्यन्योन्याश्रय इति ग्रहपदं पूरयित्वा व्याख्येयम् । यथाश्रुते चान्योन्याश्रयस्योत्पत्तौ ग्रहे वाप्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमेनासंगत्यापत्तेः । न चान्यतमत्वं धातुत्वम् । 'भूवादयः' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेरित्यभिप्रेत्याह—अस्तिवति । व्यापारसंतानः क्रिया तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वमित्यर्थः । ननु सत्तादीन् फलांशानन्यतमत्वेनादाय तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वं लक्षणमुच्यताम् । धात्वर्थत्वात्तेषां क्रियाशब्देन व्यवहारो भाष्यादौ

ग्रहपदपूरणप्रयोजनमाह—यथाश्रुते चेति । उत्पत्तौ ग्रहे वेति । देवदत्तस्य यज्ञदत्ताद् यज्ञदत्तस्य च देवदत्तादुत्पत्तिर्न संभवति । एवमित्पदार्थज्ञाने हल्पदार्थज्ञानस्य कारणत्वं हल्पदार्थज्ञाने चेत्पदार्थज्ञानस्य कारणत्वं न संभवति । कार्याव्यवहितनियतपूर्ववर्तिन एव कारणत्वं तच्चोभयत्र न संभवतीति तत्रैव तस्य प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः । न चान्यतमत्वमिति । यावन्तो धातुपदव्यवहार्यास्तदन्यतमत्वरूपं धातुत्वं धात्वर्थत्वं क्रियात्वमित्येतद्घटकमतो नान्योन्याश्रयावकाश इति भावः । वैयर्थ्यापत्तेरिति । 'धातोः कर्मणः—' इत्यादौ तादृशान्यतमत्ववत् एव ग्रहणेनेष्टसिद्धेस्तत्परिचयार्थमेव सूत्रमिति चेदेतद्वाक्यार्थबोधात्मकपरिचयासंभवे तावदन्यतमत्वेनोपादानासंभव इति भावः । लक्षणमिति । सूत्रजवाक्यार्थरूपमित्यर्थः । फलांशानामन्यतमत्वेनोपादाने सूत्रवैयर्थ्ये शङ्कापि नेति भावः । नन्वेवं कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पञ्चादयो यदेषां करोतिना सामानाधिकरण्यं क्रियावाचनो धातुरिति भूवादिसूत्रे भाष्यव्यवहारः कथं संगमनीयः फलांशस्य क्रियात्वाभावादित्यत आह—धात्वर्थत्वादिति । तथा च गौणो व्यवहार इत्याशयः । अत्र वदन्ति । लडाश्रुत्पत्तौ भ्वादिगणपठितत्वे सति क्रियावाचकत्वं न नियामकं क्रियात्वस्यानुगतस्याभावात् । किं तु संज्ञाशब्दत्वात् संज्ञाविशेषः संज्ञाशब्दानां जातिवाचित्वपक्षे जातिविशेष एव । सूत्रं तु तत्परिचायकमेव । कारिकायां क्रियाशब्दस्य साध्यत्वेनाभिधीयमानव्यापारे सांकेतिकशक्तेः

कृतोऽप्युपपत्स्यत इति चेन्न । अन्यतममध्ये विकल्पस्यापि विकल्पप्रतीति प्रयोगानुसारात् प्रवेशावश्यकत्वेन तदर्थके वेत्यव्यय उक्तीत्या गणपठितत्वसत्त्वेनातिव्याप्तेरिति ॥ ११ ॥

नन्वस्यैव धातुत्वेऽस्तीत्यादौ क्रियाप्रतीत्यभावादस्यादीनां तदवाचकानामधातुत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—

अस्यादावपि धर्म्यंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना ।

अन्यत्राशेषभावाच्च सा तथा न प्रकाशते ॥ १२ ॥

अस्यादौ 'अस् भुवि' इत्यादौ धर्म्यंशे धर्मिभागे भाव्ये भाव्यत्वेन विवक्षितेऽस्त्येव प्रतीयत एवायमर्थः । स ततो गतो न वेति प्रश्ने महता यत्नेन तिष्ठतीति प्रयोगे सत्तारूपफलानुद्भूता भावना प्रतीयत एव । उत्पत्त्यादिबोधने तु सुतरां

स एव गृह्यते । सूत्रे वाशब्दः सूचनायेति न सूत्रं धातोः क्रियावाचकत्वसाधनायामिहितं किं तूक्तयुक्तिभिः साधितार्थस्य स्वोत्प्रेक्षितत्वनिरासायेवेति तत्त्वम् । एतेन भ्वाद्यन्यतमत्वमेवास्तु धातुत्वं तच्च न क्रियात्वगर्भमथवा गणपठितत्वे सति सनायर्थकत्वमेव भूधातोर्धातुत्वम् । एवं तत्तदर्थमुगदाय तत्तद्भातुत्वमूढम् । अर्थस्य विशेष्योपादानाच्च नान्योन्याश्रयोऽपि । अथवा सर्वफलान्यन्यतमत्वेनोपादाय गणपठितत्वविशेषिततद्वाचकत्वमेव सूत्रार्थः कल्प्यतामित्यपास्तम् । उक्तीत्येव निर्वाहेऽन्यतमत्वादिगर्भमवबुद्धपक्षाणां दुरुक्तत्वात् । चरमपक्षे विकल्पार्थकवाशब्देऽतिप्रसङ्गादवस्थ्याच्च । विकल्पार्थकस्य विकल्पयतीति प्रयोगस्य दर्शनाद्विकल्पस्याप्यन्यतममध्ये निवेशावश्यकत्वादिति । एतेन यस्माद्धातोर्यो योऽर्थः प्रतीयते लोके तत्तदर्थविशिष्टस्य तस्य तस्यैव गणे पाठेन भ्वादिगणपठितत्वमेव निर्दिष्टमिति परास्तम् ॥ ११ ॥

अस्यैव । वादिगणपठितत्वे सति क्रियावाचकत्वेव । प्रतीत्यभावादिति । अस्य क्रियाया इत्यादिः । तत्तत्कालसंबन्धरूपसत्ताया एव ततः प्रतीतिः । अत एव किं करोतीति प्रश्ने पचतीतिवदस्तीत्युत्तरं न । धर्मिभागे । सत्तादिरूपे धर्मिभागे । वस्तुसतोद्भाव्यस्य भावनाप्रतीत्युपयोगित्वं न संभवतीत्यत आह—भाव्यत्वेनेति । सुतरामिति । उत्पत्त्यनुद्भूतभावनाप्रतीतिः सकलानुभवसिद्धत्वात् सत्तार्थकत्वे क्वचिदेव तत्प्रतीतिः । उत्पत्त्याद्यर्थकत्वे तु सर्वत्रेति बोधनाय तरप्प्रत्ययः । उत्पत्त्यादीत्यादिपदात् पराभवतीत्यादौ पराभवा-

१ धातुव्यापारसन्तानत्वे D₃. २ परेति । अपमयः । D₁. ३ अस्तीति D. ४ बुद्ध-
लभावना D.

‘रोहितो लोहितादासीद्वन्धुस्तस्य सुतोऽभवत्’ ।

इत्यादिदर्शनात् । किं चात्र भावनाविरहे लडादिव्यवस्था न स्यात् । तस्या एव वर्तमानत्वादिविवक्षायां तद्विधानात् ।

‘क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका’ ।

इति वाक्यपदीयादिति । नन्वेवमस्तीत्यत्र स्पष्टं कुतो न बुध्यत इत्याह—
अन्यत्रेति । अशेषभावात् भावनायाः फलसमानाधिकरणत्वात् । तथा च भावनायाः फलसमानाधिकरण्यं तत्त्वष्टत्वे दोष इति भावः । नन्वेवं किं करोतीति प्रश्ने पचतीत्युत्तरस्येवास्तीत्युत्तरमपि स्यादिति चेदिष्टापत्तिः । आसन्नविनाशं कंचिदुद्दिश्य किं करोतीति प्रश्नेऽस्तीत्युत्तरस्य सर्वसंमतत्वात् । इतरत्र तु सुस्थतया निश्चिते किं करोतीति प्रश्नः पंचादिविशेषगोचर एवेत्यवधारणादस्तीति नोत्तरमिति ॥ १२ ॥

दिसंग्रहः । उत्पत्त्यर्थकत्वे रामायणप्रयोगं प्रमाणयति—‘रोहित’—इति । सत्तार्थकत्वेऽनुभवविरोधः । वंशावल्यामुत्पत्तेरेवानुभवात् । पञ्चम्यर्थहेतुत्वान्वयानुपपत्तेः । पञ्चम्यनुपपत्तेश्चेति भावः । अस्त्यादिः सत्तातुल्यभावनार्थकत्वे साधकान्तरमप्याह—किं चेति । तस्या एवेति । भावनाया एवेत्यर्थः । एवेन फलांशव्यवच्छेदः । तत्र मानमाह—क्रियाभेदायेति । स्वविशिष्टक्रियाया इतरक्रियातो व्यावर्तनाय । क्रियायां कालान्वये सतीतरव्यावृत्तिरिति क्रियायामेव कालान्वयः क्रियाभेदायेत्यस्य सावधारणत्वात् संख्या सर्वस्येत्युत्तरवाक्यात् । तथा च भाष्यकाराद्यनुभव एव मानमिति भावः । तथा चोक्तं भूवादिसूत्रे भाष्ये ‘नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते । अस्त्यादिभिश्चापि भूतभविष्यद्वर्तमानकाला व्यज्यन्ते’ इति । अत एव च वर्तमानक्रियावृत्तेरिति व्याख्यातम् । अत एवास्तीत्यादौ क्रियात्वनिर्वाहः । अस्तिभवतिविद्यतीनामात्मभरणमर्थः । अत्यासन्ना सत्ता चाषष्ठाद्भावविकारादनुस्यूतं यद्वृत्तं सदिति प्रत्ययवेद्यं तत्तद्विषयव्यापारश्चात्मभरणस्वरूपधारणपदाभ्यामुच्यते । स्पष्टं चेदं भूवादिसूत्रे भाष्ये ‘निरुक्तेऽपि ‘अस्तीत्युत्पन्नसत्त्वस्यावधारणम्’ इति । ‘अस्तीति चोत्पन्नस्य सत्त्वस्य सत्तावतोऽवधारणमाचष्टे’ इति तद्भाष्यकृतः । अशेषभावपदार्थं व्याचष्टे—फलसमानाधिकरणत्वादिति । दोष इति । तदनुपपत्तिप्रयोजकः । तथा च दूरत्वादिकमिव तद्भावनायाः स्पष्टप्रतीतो प्रतिबन्धकमित्यर्थः । सुस्थतया निश्चिते इति । सत्तानुकूलव्यापारनिश्चिते किं करोतीति प्रश्नेऽन्य-

विषयक एवेत्यवधारणादस्त्युत्तरं तत्र नेत्यर्थः । बृहद्भूषणकारास्तु वस्तुतो भूवादय इति सूत्रानुरोधाद्धातूनां क्रियावाचकत्वावश्यकत्वेऽपि फलवाचकत्वं नावश्यकम् । अतोऽस्त्यादौ सत्तादिरेव क्रिया । अत एव पश्यति भवं पच्यते तण्डुलः स्वयमेवेत्यादौ विषयतादिरूपफलस्यैव क्रियात्वात् तदाश्रयभावादेः कर्तृत्वोपपत्तिरित्युक्तम्

‘एकदेशे समूहे वा व्यापाराणां पचादयः ।

स्वभाववत् प्रवर्तन्ते तुल्यरूपं समाश्रिताः ॥’

इति वाक्यपदीयव्याख्यावसरे हेलाराजीयेऽपि । तद्धात्वर्थक्रियात्वं च तद्धात्वर्थाविशेषणत्वे सति तद्धानुजन्यशाब्दबोधविषयताविशिष्टत्वम् । अतो न तण्डुलं पचति घटं भावयति पश्यति भवमित्यादौ विक्रियादिरूपक्रियाश्रयत्वात् कर्तृतापत्त्या कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञावाधात् द्वितीयानापत्तिः । तस्मिन् प्रयोगे फलस्य तद्धात्वर्थविशेषणत्वेनोक्तक्रियात्वाभावात् । कर्मकर्तृप्रयोगे तु फलस्योक्तक्रियात्वसंस्वादुपपद्यन्ते तण्डुलः पच्यते स्वयमेवेत्यादयः प्रयोगाः । सत्यन्तघटकतत्पदानुपादाने पचति भवतीत्यादौ पच्याद्यर्थस्य क्रियात्वानापत्तिरतस्तदुपादानम् । न च यथाश्रुतेऽपि घटं भावयतीत्यादौ कर्मसंज्ञा पचति देवदत्त इत्यादौ सावकाशां कर्तृसंज्ञां बाधत इति नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । चेन्नो ग्रामं गच्छति पश्यति भवमित्यादावपि धातूपात्तफलाश्रयत्वाच्चेन्नादेरापि कर्मत्वापत्त्या द्वितीयापत्तेः । घटं भावयतीत्यत्र भवनस्य गिजन्तधात्वर्थविशेषणत्वेन भ्वर्थक्रियात्वापत्त्या तदाश्रयस्य कर्तृत्वापत्तिस्तु न । इष्टापत्तेः । अत एव क्रियाभेदादुभयमप्यस्तीति ‘प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः’ इति भाष्ये उभयथापि व्यवहारः कृतः । नन्वेवं क्रियात्वस्य धातुत्वघटिततयान्योन्याश्रयतादवस्थमिति चेन्न । धातुत्वस्य जात्यादिरूपत्वात् । भूवादिसूत्रं तु तत्परिचायकमिति प्रागेवोक्तम् । तद्धात्वर्थफलत्वमपि तद्धात्वर्थविशेषणत्वविशिष्टतद्धात्वर्थत्वम् । पश्य मृगो धावतीत्यत्र धावनक्रियाया दृशिफलत्ववारणाय प्रथमदले तत्पदम् । अन्यथा मृगपदाद् द्वितीयापत्तिः । एवं च पच्यते ओदनः स्वयमेव घटो भवतीत्यादौ आश्रयत्वं व्यापारं प्रकल्प्य फलव्यापारोभयार्थत्वकल्पनं तत्र तत्रोक्तमनादेयम् । भावयतीत्यादौ भवनाश्रयत्वानुकूलव्यापारप्रतीतेरनुभवविरहाच्च । भवनानुकूलव्यापारस्यैव ततः प्रतीतेः । तथा चैतन्मते केवलव्यापारार्थकत्वमकर्मकत्वम् । फलव्यापारोभयवाचकत्वं सकर्मकत्वं बोध्यम् । जीव प्राणधारणे नृती गात्रविक्षेपे स्त्रिभुषंस् अधःपतने इत्याद्यनुशासनेनैतादृशानां प्राणादिविशिष्टधारकसंयोगगात्रविशिष्टविक्षेपादिक्रियामात्रवाचकत्वेनोभयवाचकत्वाभावाविशिष्टस्यैव क्रियात्वात् । दधात्यादेस्तु संयोगधारणक्रियोभयवाचकत्वात् सकर्मकत्वोपपत्तिः । गात्रं धत्त इत्यादिप्रयोगोपपत्तिश्च । पतधातोरपि गमिबहुभयार्थकत्वादूर्ध्वं पतति नरकं पतित इत्यादिप्रयोगनिर्वाह इत्याहुः ॥ १२ ॥

ननु भावनायाः फलनियतत्वात् फलाश्रयस्य कर्मत्वात् सर्वेषां क्रियावाचकत्वे सकर्मकतापत्तिरित्यत आह—

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः ।

धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥ १३ ॥

एकनिष्ठतायामेकमात्रनिष्ठतायां भिन्नाधिकरणावृत्तितायामिति यावत् । तेन गम्यादौ फलस्य कर्तृनिष्ठत्वेऽपि नातिव्याप्तिः । अकर्मको यथा भ्वादिः । तयोः फलव्यापारयोराश्रयभेदे सकर्मक इत्यर्थः । उक्तं च वाङ्मयपदीये—

‘आत्मानमात्मना विभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते ।

अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः ॥’ इति

विभ्रदिति । स्वधारणानुकूलो व्यापारोऽत्रापि गम्यत इति भावः । तेन कर्मणा । सकर्मकत्वं तु नान्तर्भावात् । फलांशेन सामानाधिकरण्यसत्त्वादित्यर्थः । आत्मानं जानातीच्छतीत्यादौ च द्वावात्मानौ शरीरात्मान्तरात्मा च । तत्रान्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवतीति ‘कर्मवत् कर्मणा—’ इति सूत्रीयभाष्योक्तरीत्या भिन्नाधिकरणनिष्ठतामादाय सकर्मकत्वमित्यवधेयम् ॥१३॥

फलनियतत्वादिति । फलानुकूलव्यापारस्यैव भावनापदार्थत्वादिति भावः । तद्व्यक्तिभिन्नानिष्ठत्वे सति तन्निष्ठत्वमेकमात्रनिष्ठत्वम् । फलव्यापारयोरन्यतरस्यान्यतराधिकरणभेदाधिकरणवृत्तित्वमित्यर्थः । मात्रान्तर्भावस्य प्रयोजनमाह—तेनेति । तत्र विशेष्यदलवैयर्थ्यादाह—भिन्नाधिकरणेति । आत्मानं सत्तामात्मना स्वेन विभ्रतु तदनुकूलव्यापारवान् भवन् सत्तात्यागानुकूलव्यापारस्यैवात्र तदनुकूलव्यापारस्य प्रतीतिरिति भावः । नन्वेवमात्मानं जानातीत्यादौ ज्ञानादिरूपफलस्य कर्तृमात्रनिष्ठतया सकर्मकत्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—आत्मानमिति । भाष्योक्तेति । तथा चान्तःकरणावच्छिन्न आत्मा कर्ता । शरीरावच्छिन्नः कर्म । तथा चौपाधिको भेद इति भावः । एवंरीत्या जीवत्यादेर्न सकर्मकत्वम् । फलाश्रयावाचकत्वे सतीति विशेषणानुप्रवेशात् । अत एवास्तेरात्मधारणानुकूलव्यापाराद्यर्थकत्वेऽप्यात्मरूपाश्रयवाचकत्वान्न सकर्मकत्वमित्याहुर्भूषणकृदादयः । मञ्जुषाकारास्तु एतच्छास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वयार्थकत्वं सकर्मकत्वम् । तेन अध्यासिता भूमय इत्याद्युपपद्यते । अत्र तु ‘अधिशीङ्ग्यासाम्—’ इत्याधारस्य कर्मत्वमन्वयश्च पृथगुपस्थितयोः संसर्गरूपोऽन्वयपदस्य तत्रैव व्युत्पत्तेस्तेन जीवत्यादिषु न दोषस्तत्र प्राणादिरूपकर्मणो धात्वर्थात् पृथगुपस्थितेः । एवं चाश्रयावाचकत्वरूपविशेषणाननुप्रवेशाल्लाघवमपीति प्राहुः ॥ १३ ॥

१ D. and D₂ have तेन before स्वधारणा°. २ तथा चान्तरात्मा D₂. ३ न अनुभवतीति A.

नन्वेतत्त्वभूतक्रियाया धात्वर्थत्वे पाक इत्यत्रापि तत्प्रत्ययापत्तिः । न चेष्टा-
पत्तिः । 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति भाष्यविरोधादित्यत आह—

आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्तिता ।

प्रकल्पिता यथा शास्त्रे स घञादिष्वपि क्रमः ॥ १४ ॥

आख्यातशब्दे पश्य मृगो धावतीत्यादौ । भागाभ्यां तिङन्ताभ्याम् । प्रकृति-
प्रत्ययभागाभ्यामिति विवरणकारौक्तमपव्याख्यानम् । पचतीत्यत्रापि भागद्व-
यसत्त्वात् । साध्यसाधनवर्तिता यथाक्रमं ग्राह्या । साध्यत्वं क्रियान्तराकाङ्-
क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वम् । साधनत्वं कारकत्वेनान्वयित्वम् । स घञादि-
ष्वपीति । प्रकृत्या साध्यावस्था । प्रत्ययेन साधनावस्था । इयान् विशेषः ।
घञाद्युपस्थाप्या लिङ्गसंख्यानव्यिनी कारकान्वयिनी च आख्यातान्तोपात्ता तु
नैवम् । तथापि कारकत्वेनान्वयित्वमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकतेत्यवधेयम् । न च
घञन्ते धातुना तथाभिधाने मानाभावः । ओदनस्य पाक इति कर्मषष्ठ्या
मानत्वात् । न च भवतीत्यध्याहर्तृक्रियान्वयात् षष्ठी । 'कर्तृकर्मणोः कृति'

भाष्यविरोधादिति । तादृशभाष्यात् कृदन्तात् सत्त्वेनैव प्रतीतेर्लभादित्याशयः ।
मृगो धावतीत्यादाविति । मृगो धावति पश्येति साध्यसाधनरूपतेत्यनुपदमेव
वाक्यपदीयेऽभिधानात् । आख्यातशब्दे इत्यस्य तिङ्समुदाये इत्यर्थः । भागद्वय-
सत्त्वादिति । तथा च तत्रापि सिद्धावस्थापन्नक्रियाप्रतीत्यापत्तिः । साध्यत्वसाधनत्वाभ्यां
प्रतीतिमात्रेऽप्यं दृष्टान्तः । यथा पचतीति तिङन्ते धातुरूपप्रकृत्या साध्यत्वेन स्वार्थो बोध्यते
साधनत्वरूपस्वार्थस्तिङा तथा पाक इत्यत्र धातुना साध्यत्वेन क्रिया प्रत्याप्यते प्रत्ययेन
सिद्धत्वरूपेणेत्यर्थः । अत एवाख्याते शब्दे इत्येकवचनं स्वरसतः संगच्छते । इदमेव
व्याख्यानं हेलाराजीये दृश्यत इति परे । कारकत्वेनान्वयित्वमिति । कर्तृत्वकर्म-
त्येतत्कारकत्वव्याप्यरूपेणान्वयित्वमित्यर्थः । तेन पचति भवतीत्यादौ कर्तृत्वकर्मत्वरूपे-
णान्वयित्वसत्त्वेऽपि नासत्त्वमङ्ग इत्युक्तं प्राक् । नैवमिति । तथा च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-
योर्वैषम्याद् दृष्टान्तत्वं नोपपद्यत इति भावः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावे सर्वांशे साम्यं न
नियमकम् । तथा सति चन्द्रमुखोद्योरपि स न भवेत् । अपि तु किञ्चिदंशे एव । तच्च
प्रकृतेऽस्तीत्याह—तथापीति । मानत्वादिति । साध्यत्वेन प्रतीयमानार्थे एवकारान्वयात्
प्रकृते तथातुपस्थितौ कर्मत्वानुपपत्तौ 'कर्तृकर्मणोः—' इति षष्ठ्यनुपपत्तिरिति भावः । षष्ठीति ।

१ 'नुत्थापकरूपवत्त्वम् A., D., D. २ कर्मणि षष्ठ्या P. ३ न चाध्याहृतं D., D.
४ 'हृततिङ्'तार्थक्रियान्वयात् D.

इति कृदन्तेन योग एव तद्विधानात् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' इति
लादेशयोगे षष्ठीनिषेधाच्च । एवंरीत्या काष्ठैः पाक इत्याद्यपीष्टमेव । एवं फलां-
शोऽपि धातुनासत्त्वावस्थापन्न एवोच्यते । अत एव स्तोत्रं पचतीतिवत् स्तोत्रं
पाक इत्युपपद्यत इति ॥ १४ ॥

तथा च घञन्ते तथा प्रतीतावप्युपपद्यमानया षष्ठ्या तत्कल्पना न संभवतीति भावः ।
नन्वध्याहृततिङन्तोपस्थितक्रियाद्वारको योगः कृदन्ते नास्त्यतो न षष्ठ्यनुपपत्तिरित्यभिप्रे-
त्याह-न लोकेति । न च 'कर्तृकर्मणोः' इति विधिवैयर्थ्यम् । वल्लस्य कृतिरित्यादौ
चरितार्थत्वात् । एवमोदनपाक इत्यादौ समासोऽपि न भवेत् । असामर्थ्यात् ।
'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति वचनस्य वल्लकृतिरित्यत्र चारितार्थ्यात् । न च शेषषष्ठ्यैव
वाक्यं समासश्चेति वाच्यम् । तलपाक इत्यादौ तलकर्तृत्वादिप्रकारकबोधस्यानुभव-
सिद्धस्यानापत्तेः । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेनेत्यसिद्ध्यापत्तेश्च । 'उभयप्राप्तौ-'
इत्यस्यानन्तरस्येति न्यायेन 'कर्तृकर्मणोः—' इत्यस्यैव नियामकतया अगोपपदात्
शेषषष्ठ्या दुर्वारत्वादित्याद्युह्यमिति वदन्ति । नन्वेवं सति काष्ठैः पाक इत्यापद्येत । आख्या-
तेनैव भावना साध्यतयोच्यते इति मीमांसकमते तस्यानिष्टत्वाशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति-एवं-
रीत्येति । तथा च नन्वसत्त्वभूतक्रियाया इत्यादिपूर्वपक्षे इष्टापत्तिरेवेति तात्पर्यम् ।
नन्वेकस्यैव धात्वर्थस्य विरुद्धसाध्यत्वसिद्धत्वाभ्यां भानं न संभवतीति चेन्न । यथा संव-
न्धिभेदादेकस्यैवाचार्यत्वं मातुलत्वं च तथैकत्रैव कारकलिङ्गादिरूपसंवन्धिभेदादुभयसंभवेन
तयोर्विरोधस्यैवाभावात् । यथा वा पश्य मृगो धावतीत्यत्रैकस्यैव धावनस्य मृगं प्रति
साध्यत्वं दर्शनं प्रति साधनत्वं तथैकस्यैव धात्वर्थस्य साध्यत्वेन प्रकारता सिद्धत्वेन
विशेष्यता । एकनिष्ठत्वाच्च न तयोः स्फुटं ग्रहो बोधे । अत एव घञ्वाच्यो भावः
प्रधानमिति ग्रन्थाः संगच्छन्ते । 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रे भाष्ये चोक्तं 'घञ्वाच्यो भावो
बाह्यः प्रकृत्यर्थात्' इति । इत्युपपद्यत इति । अन्यथा कारकाणां साध्यत्वेनोपस्थिते
एवान्वय इति नियमादभेदेनान्वयेऽपि साध्यत्वेनोपस्थितिरपेक्षितेति स्तोत्रं पाक इति
नोपपद्येतेति भावः । व्यापारान्वये तु शोभनः पाक इत्येव । व्यापारस्याकर्मतया तद्वि-
शेषणे द्वितीयाया अप्राप्तेः । फलान्वये द्वितीयां बाधित्वा 'कर्तृकर्मणोः' इति षष्ठी तु न ।
कर्तृसाहचर्येण धात्वर्थेऽभेदेनान्वयिकर्मण एव ग्रहणात् । स्पष्टं चेदं 'पूजनात् पूजि-
तम्—' इत्यत्र भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १४ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना ।

सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः ॥ १५ ॥

न च घञादिभिः सिद्धत्वेनाभिधाने मानाभावः । पाक इत्युक्ते भवति जायते नष्ट इत्याकाङ्क्षोत्थानस्यैव मानत्वात् । धातुपस्थाप्यायां तदसंभवस्योक्तत्वात् ।
 स्तोकः पाक इत्यनापत्तेश्च । तस्माद्धात्वर्थान्वये प्रथमा पुंलिङ्गता चेति तत्सिद्धये
 घञादेः शक्तिरूपेया । एतेन घञादीनां प्रयोगसाधुतामात्रमिति नैयायिकनव्यो-
 क्तमपास्तम् । न च घञन्तशक्त्योपस्थाप्यान्ये स्तोकः पाक इति भवतीति
 वाच्यम् । घञन्तानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वे गौरवादनुशासनाच्च घञादेरेव तथा
 शक्तिकल्पनादिति दिक् । एवं च घञशक्त्यभिप्रायेण कृद्भिहित इति भाष्यमतो
 न तद्विरोध इति भावः ॥ १५ ॥

मूले साध्यत्वेनेति । तत्र घञायन्ते । अत्र प्रतीयत इति शेषः । तद्वोधकमाह-धातु-
 रूपेति । धातुरूपं निबन्धनं निमित्तं यस्या इत्यर्थः । प्रतीतिनिष्ठं निमित्तत्वं प्रतीयमाने
 उपचरितमिति बहुव्रीहौ क्रियायाः प्राधान्योपपत्तिः । सिद्धभावः । सिद्धत्वेन प्रतीतिः ।
 इत्यनापत्तेरिति । धातुपस्थाप्यक्रियाया लिङ्गानन्वयितया तत्र स्तोकपदार्थान्वये तत्रापि
 पुंस्त्वानुपपत्त्या सामान्ये नपुंसकस्यैवापत्तेरिति भावः । धात्वर्थान्वये । धात्वर्थफलान्वये ।
 प्रथमेति । उक्तरीत्या द्वितीयाया अप्राप्त्या प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यर्थः । घञो न
 शक्तिरभ्युपेयते इति तु घञन्तस्य पदान्तशक्त्योपस्थितान्वये स्तोकः पाक इत्युपपद्यत एवेति
 कातन्त्रपरिशिष्टकारादयोऽनुमन्यन्ते तन्मतमाशङ्क्य निराकुरुते-न च घञन्तेति ।
 न च भवत्सिद्धान्तेऽपि समुदायशक्तिर्द्युतिमात्रेऽभ्युपेयते एव । अन्यथार्थवत्त्वाभावेन
 प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात् 'कृतद्वित-' इति सूत्रेण्यर्थवत्पदानुक्तत्वात् प्रत्ययार्थस्य
 प्रकृत्यर्थे एवान्वयाद्विभक्त्यर्थसंख्याद्यन्वयोऽपि न स्यात् । समुदायशक्तेरावश्यकत्वेन
 अनुशासनाद् घञेऽपि शक्तिरावश्यक्येवान्यथा ण्वुलादेरपि शक्तिर्न सिध्येत् । न
 चेष्टापत्तिः । समुदायशक्त्यैव तत्रापि कर्त्रादिबोधसंभवादिनि वाच्यम् । 'कर्तरि कृत्'
 इत्याद्यनुशासनविरोधात् । न च भ्वाद्यन्तर्भावेन समुदायशक्तिकल्पनायां तन्नियामकमिति
 वाच्यम् । क्लिष्टत्वात् सकलतान्त्रिकसिद्धान्तविरोधात् खशादौ शब्दानुपपत्त्या जनमेजयाद्य-
 सिद्ध्यापत्तेश्च खशो डित्वेन गुणनिषेधादित्याशयेनाह-दिगिति ॥ १५ ॥

ननु कारकाणां भावनान्वयनियम एवोपाक इत्यत्रापि कर्मपष्ठयनुसारेण भावनाया वाच्यत्वं सिध्येत् स एव कुत इत्याशङ्कां समाधत्ते—

संबोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः कारकं प्रथमो वतिः ।

धातुसंबन्धाधिकारानिष्पन्नमसमस्तनञ् ॥ १६ ॥

संबोधनान्तस्य क्रियायामन्वयः । त्वं ब्रूहि देवदत्तेत्यादौ निघातानुरोधात् ।
'समानवाक्ये निघातयुग्मदस्मदादेशाः' इत्यनेन समानवाक्य एव तन्नियमात् ।
उक्तं हि वाक्यपदीये—

संबोधनान्तस्येति । संबोधनविभक्त्यन्तार्थस्येत्यर्थः । अर्थद्वारा तस्यैव वा ।
निघातानुरोधादिति । देवदत्तेत्यस्य ब्रवणेऽन्वये सत्येवैकवाक्यत्वोपपत्तौ सत्त्वाम्
'आमन्त्रितस्य च' इति निघातोऽनुदात्तः सिध्यति नान्यथेति भावः । नन्वेकवाक्यत्वा-
भावेऽपि निघातः कुतो न इत्यत आह—समानवाक्ये इति । निमित्तनिमित्तिनोरेक-
वाक्यस्थत्वे सतीत्यर्थः । संबोधनपदमिति । अत्र पुञ्जराजः—'आख्यातं सविशेषणं
वाक्यमिति समर्थसूत्रभाष्योक्तवाक्यलक्षणस्य संबोधनपदार्थे क्रियाविशेषणत्वाभावे
निघातो न स्यात्' इति । संबोधनविभक्तेरनुवाद्याविषयतया विधेयक्रियायामेवान्वयस्यौचि-
त्येन न्यायसिद्धये वायमर्थः । तदुक्तं हरिणा—

‘सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं संबोधनं विदुः ।

प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते ॥’ इति ।

अभिमुखीभावः परोक्तवचनार्थग्रहणे सादरत्वाभ्युपगमः । एवं च 'राम मां पाहि' इत्यस्या-
भिमुखीभवद्रामोद्देश्यकं प्रवर्तनाविषयमत्कर्मकं रक्षणमिति बोधः । अत्र सविशेषणमि-
त्यनेन साक्षात् परंपरासाधारणं विशेषणत्वमिष्टं न तु साक्षादेव । तेन नद्यास्तिष्ठति कूले
इत्यर्थे नद्यास्तिष्ठतीत्यत्र समर्थसूत्रभाष्यसंमतोदाहरणे निघातासिद्धिः । ब्रजानि देवदत्तेत्यत्र
जानीहीत्यध्याहारः । अत एव क्रियासु विनियुज्यते न विरोधः । ज्ञानक्रियायां देवदत्त-
स्योद्देश्यतया ब्रजनस्य कर्मतयान्वयेन समानवाक्यत्वोपपत्तिः । वाक्यैकदेशन्यायेन
श्रूयमाणादेव ज्ञानबोधः । अयमेव चाध्याहारपदार्थः । अतो न तत्र 'एकतिङ् वाक्यम्' इति
लक्षणस्याव्याप्तिरिति वदन्ति । अन्ये तु संबोधनं ज्ञानोद्देश्यकेच्छा ज्ञाने इच्छायां च
विशकलितशक्तिद्वयम् । ज्ञाने प्रकृत्यर्थस्य समवेतत्वसंबन्धेनान्वयः । प्रकृत्यर्थान्वितज्ञाने
उद्देश्यतासंबन्धेनेच्छायाः । इच्छान्वितज्ञानस्य विशिष्टविषयतासंबन्धेन वाक्यार्थेऽन्वयः ।

‘संबोधनपदं यच्च तत् क्रियाया विशेषणम् ।

व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥’ इति ।

पचति भवति देवदत्तेत्यादौ तु सूत्रभाष्यादिरीत्यैकवाक्यतासत्त्वात् स्यादेव निघातः । ‘तिङ्ङतिङः’ इति सूत्रयता तिङन्तानामप्येकवाक्यतास्वीकारात् । ‘एकतिङ् वाक्यम्’ इति वदतां वार्तिककाराणां मते परं न । वस्तुत एकतिङ् विशेषणकं वाक्यमिति तदभिप्रायस्य हेलाराजीयादौ वैयाकरणभूषणेऽस्माभिश्च प्रतिपादितत्वात् तन्मतेऽपि भवत्येवेत्यवधेयम् । कृत्वोऽर्थाः ‘क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच’ इति क्रियायोगे तत्साधुत्वोक्तेः । क्रियाया अभ्यावृत्तिः पुनः पुनर्जन्म तस्मिन् द्योत्ये इति तदर्थत् । कारकम् । कारक इत्यधिकृत्य तेषां व्युत्पादनात् । कारकशब्दो हि क्रियापरः करोति कर्तृकर्मदिव्यपदेशानिति व्युत्पत्तेः । तथा चाग्निमेवपादानादिसंज्ञाविधिषु क्रियार्थकारकशब्दानुवृत्त्या

एवं च प्रातिपदिकार्थसमवेतज्ञानस्योद्देश्यतया प्रातिपदिकार्थस्य ज्ञानसमवायितयोद्देश्यत्वरूपं संबोध्यत्वं प्रातिपदिकार्थस्य प्रतीयते । एतदेव संबोध्यत्वमाभिमुख्यपदेन काशिकादावुक्तम् । एवं च राम मां पाहीत्यादाविच्छाविषयसमवेतज्ञानविषयो मत्कर्मकत्वकर्तृकाशकाविषयो रक्षणमित्याद्याकारो बोध इत्याहुः । एकवाक्यतासत्त्वादिति । आख्यातं सविशेषणमिति वाक्यलक्षणसत्त्वादित्यर्थः । तत्रैव वाक्यतायां सूत्रकारसंमतिमाह-‘तिङ्ङतिङः’ इति । अतिङ्पदघटितं सूत्रं कुर्वतेत्यर्थः । पचति भवतीत्यादौ तिङन्तात् परस्य निघातवारणप्रयोजनकमतिङ्ग्रहणमुक्तस्थले वाक्यत्वाभावेऽनर्थकं सत्तिङन्तसमुदायो वाक्यमित्यर्थः । अत्रापि विशेषणविशिष्टक्रियार्थकत्वं विशेषणं निवेशनीयम् । तेन तिष्ठति देवदत्तः पचति मैत्र इत्यस्य देवदत्तः पचतीत्यनयोरेकवाक्यत्वं न । तथा सति पचतीत्यस्य निघातापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । आख्यातं सविशेषणमिति वाक्यलक्षणमिति पक्षेऽनिष्टत्वात् । अत एव च ‘तिङ्ङतिङः’ इति सूत्रे पचति करोतीति प्रतीकमुपादाय ‘विनापि चशब्देन समुच्चयावगमात् संबन्धसद्भावः’ इत्युक्तं कैयटीये । ‘क्रियाकर्मभावेनाप्यन्वयः सुवचः’ इत्युक्तं प्रदीपोद्भव्योते । मते परम् । मते एव नेत्यत्र निघात इत्यनुपपद्यते । संभवति मतैक्ये मतभेदो न न्याय्य इत्याशयेनाह-वस्तुतस्तिवति । एकतिङ् तिङन्तं विशेष्यो मुख्यविशेष्यार्थप्रतिपादकं यत्रेत्यर्थः । तथा च मुख्यविशेष्यीभूतार्थबोधकैकतिङन्तघटितसमुदायत्वमिति पर्यवसन्नम् । परे तु ‘एकतिङ् वाक्यम्’ इति स्वशास्त्रीयनिघातादिकार्यमात्रोपयोगि तेन पश्य मृगो धावतीत्यादावेतदसत्त्वेऽपि न क्षतिः । अत एवैतदाश्रित्य ‘तिङ्ङतिङः’ इति सूत्रस्थमतिङ्ग्रहणं प्रत्या-

क्रियान्वयिनामेव संज्ञेति भाष्ये स्पष्टम् । प्रथमो वतिः । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति विहितः । तत्र यत् तुल्यं सा क्रिया चेदित्युक्तत्वात् । धातुसंबन्धाधिकारे । 'धातुसंबन्धे प्रत्ययाः' इत्यधिकृत्य तेषां विधानात् । असमस्तनञ् । समासायोग्यः प्रसज्यप्रतिषेधीयो नजित्यर्थः ।

ख्यातमष्टमे भाष्ये । एवं चोक्तस्थले देवदत्तेत्यस्य निघाताभाव एव लभ्यते यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यादिति प्राहुः । तदर्थादिति । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते इत्यादौ पञ्चादिशब्दास्तत्संख्योत्पत्तिपराः स्वद्योतक एव प्रत्यये तादृशोत्पत्तेश्च क्रियायामेवान्वय उचितः । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति सूत्रस्वारस्यादिति भावः । तत्राभ्यावृत्तिपदं पुनःपुनर्जन्मार्थकम् । तत्र प्रत्ययो द्योतकः । एवं च पञ्चसंख्योत्पत्तिका वर्तमानकालिका एककर्तृका भुजिक्रियेति बोधः । अत्र सूत्रे क्रियापदं स्पष्टार्थं द्रव्यादेरुत्पत्तेरेकत्वेन तस्य गणनयोग्यजन्माप्रसिद्धेः । अनेकस्या अपि क्रियायास्तु निवृत्तमेदाया धातुवाच्यतायास्तादृशो जन्मसंभवः संख्यायास्तत्तत्संख्यावत्तथाबोधनरूपगणनहेतुतया गणनलाभे गणनपदं गणनायां ये प्रसिद्धा कालादयस्तेषामेव परिग्रहार्थं तेन युग्मोभादिशब्दा नेति स्पष्टप्राकारे इति दिक् । क्रियान्वयिनामेवेति । 'ध्रुवमपाये—' इत्यत्र क्रियायामित्यनुवृत्तौ क्रियायां जनकाकाङ्क्षया क्रियायां यदपाये ध्रुवमित्यनेन क्रियाजनकमित्यर्थसंपत्त्या जनकस्य जन्याकाङ्क्षया तत्रैवान्वय उचित इति तदन्वयिनामेवापादानादिसंज्ञेत्यर्थः । इत्युक्तत्वात् । यथा ब्राह्मणवदधीते इत्यत्र ब्राह्मणशब्दस्तत्कर्तृकाध्ययनपरः । देवदत्तवन्मैत्रः सुंदर इत्यत्र भवतीत्यध्याहारो बोध्योऽन्यथा क्रियाग्रहणस्य निरर्थकत्वापत्तेरेवं च तदर्थस्य क्रियैवाश्रय इति स्पष्टमेव । मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्राकार इत्यत्र वत्यर्थस्य प्राकारे एवान्वयेन क्रियायामनन्वयात् प्रथमो वतिरित्यभिदधौ । तत्र मथुराशब्दस्य तत्संबन्धिप्राकारे वृत्तिः । षष्ठ्यर्थसप्तम्यन्तादेव प्रत्ययो न त्वधिकरणसप्तम्यन्तादिवार्थेनासामर्थ्यादिति स्पष्टं शेषरादौ । विस्तरस्तत एवावगन्तव्यः । तेषां विधानादिति । याहि याहीति याति । अत्र लोडन्तार्थस्य यातीतिपदोपस्थितक्रियायां सामान्यविशेषभावेनान्वयः । बृहद्ब्रूषणे तु भोक्तुं पचतीत्युदाहृतम् । तत्र यद्यपि 'तुमुनृषुलौ—' इति विहितस्तुमुन् न धातुसंबन्धे इत्याधिकारे विहितस्तथापि क्रियावाचिन्युपपदे एव विहितत्वात् क्रियासंबन्धनिमित्तकत्वमक्षतमेवेत्युदाहरणसंगतिः । ननु घटो न पट इत्यत्रासमस्तनञः क्रियायामनन्वयेन नियमासंगतिरित्याशङ्कमानोऽसमस्तनञित्यस्य विवक्षितार्थमाह—समासायोग्य इति । प्रसज्येति । प्रसज्यप्रतिषेधपदयोः सुप्सुपेति समासे तमर्हतीत्यर्थे 'तदर्हति' इति सूत्रेण छः । क्रियान्वययोग्य इत्यर्थः ।

उत्तरपदार्थान्वयेऽपि समासविकल्पेन पक्षेऽसमस्तत्वात् । यथाश्रुतग्रहणायोगात् । न चासमस्तनञः क्रियान्वये मानाभावः । न त्वं पचसि न युवां पचथः चैत्रो न पचति घटो न जायत इत्यादौ क्रियाया एव निषेधप्रतीतेः । अत एव विद्यमानेऽपि घटे तथा प्रयोगस्तथा च घटो नास्तीत्यत्राप्यस्तित्वाभाव एव बोध्यते । न हि घटो न

तदन्वययोग्य उत्तरपदार्थानन्वितः । तथा चोक्तम्—

‘प्रसज्यप्रतिषेधस्तु क्रियाया सह यत्र नञ् ।

पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥’ इति ।

व्याख्याप्रयोजनं दर्शयति—उत्तरपदार्थेति । उत्तरपदार्थान्वयेऽपि असमस्तत्वादिति योजना । असमस्तत्वे हेतुमाह—समासविकल्पेनेति । ननु घटो नास्तीत्यत्र घटाभाव एव प्रतीयते न तु क्रियाभावः । न च भूतलाधिकरणघटकर्तृकसत्ताया एवाभावो नञा बोध्यत इति वाच्यम् । अनुभवविरोधात् । यत्र भूतले वर्तमानकालावच्छेदेन घटसंबन्धाभावस्तत्र तदधिकरणवर्तमानकालिकसत्ताया अप्रसिद्ध्या तदभावबोधनासंभवाच्चेत्याशये—नाशङ्कते—न चासमस्तेति । समाधत्ते—न त्वमित्यादिना । क्रियाया एव निषेध इति । अत एव शुष्मदादिसामानाधिकरण्येन मध्यमपुरुषाद्युपपत्तिः । अन्यथा त्वद्भावो मदभावोऽस्तीतिवत् त्वं न पचसीत्यादावपि शुष्मदस्तत्सामानाधिकरण्यविरहान्मध्यमोत्तमयोरनुपपत्तिः प्रथमस्थापत्तिश्च स्यादिति भावः । चरमे क्रियानिषेधप्रतीतौ युक्तिमाह—अत एवेति । जननक्रियाया अभावप्रतीतेरेव । विद्यमानेऽपि घटे । घटस्य विद्यमानतादशायामपि । घटस्य विद्यमानत्वे घटाभावबोधनस्याशक्यतया तत्प्रक्रियानिषेधबोधोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति भावः । यद्यप्यविद्यमानदशायामपि घटात्यन्ताभावे नित्ये जननाश्रयत्वस्य बाधाद् घटाभावबोधनं न संभवति अतस्तत्रापि क्रियाया एव निषेधबोधोऽभ्युपगन्तव्य एवं च विद्यमानत्वोक्तिर्निरर्थिका तथाप्युत्पादविनाशयोग्यभावभ्युपगमपक्षे घटाभावे जननाश्रयत्वबोधः संभवतीति तस्य विद्यमानत्वानुसरणम् । तथा चेति । त्वं न पचसीत्यादावुक्तक्रमेण क्रियानिषेधावश्यकत्वे चेत्यर्थः । अस्ति-त्वाभाव एवेति । घटकर्तृकसत्ताया एवेत्यर्थः । एवेन घटाभावव्यावृत्तिः । ननु पूर्वोक्तस्थले अनुपपत्त्या क्रियानिषेधस्वीकारेऽपि घटो नास्तीत्यादौ घटाद्यभावप्रतीतिरेव स्वीक्रियतां बाधकाभावात् तथा च तत्रैवोक्तनियमभङ्ग इत्याशङ्क्याह—न हीति । तथा च तथाभ्युपगमे वैरूप्यं स्यात् तच्च न युक्तमिति भावः । यदधिकरणकघटादिकर्तृकवर्तमानसत्ता अप्रसिद्धा तत्राप्यारोपितादिरूपा सास्त्येवेति नोक्तदोष इति भावः । ननु भूतले न घट इति क्रियावाचकपदरहितवाक्ये घटे भूतलवृत्तित्वाभाव एव बोधनी-

जायते नास्तीत्यनयोर्धात्वर्थभेदमन्तरेणास्ति विशेषः । तथा च भूतले न घट
इत्यत्राप्यस्तीत्यध्याहार्यम् । प्रकारतासंबन्धेन नञर्थविशेष्यकबोधे धातुजन्यभा-
वनोपस्थितेहेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात् । शेषं नञर्थनिर्णये वक्ष्यते ॥ १६ ॥

तथा यस्य च भावेन षष्ठी चेत्युदितं द्वयम् ।

साधुत्वमष्टकस्यास्य क्रिययैवावधार्यताम् ॥ १७ ॥

‘यस्य च भावेन भावलक्षणम्’ इत्यत्र भावनार्थकभावशब्देन तद्योगे
साधुत्वाख्यानलाभात् ‘षष्ठी चानादरे’ इति तदग्रिमसूत्रेऽपि चकाराद्यस्य च
भावेनेत्यायातीत्यर्थः । साधुत्वमिति । तत्स्वरूपं तु वक्ष्यते । क्रिययैवेति ।

यस्तथा च तत्रैव नियमभङ्ग इत्यत आह—तथा च भूतल इति । अध्याहारे हेतुमाह—
प्रकारतेति । प्रकारतासंबन्धेन नञर्थविशेष्यकशाब्दबुद्धिवावच्छिन्नं प्रति भावनानि-
ष्ठविषयतासंबन्धेन धातुजन्योपस्थितिहेतुरिति हेतुहेतुमद्भावः पर्यवसन्नः । नञर्थे विषय-
तासंबन्धेन तादृशबुद्धेर्जननाद् व्यभिचारस्तद्वारणाय प्रकारतात्वेन विषयताया निवेशः ।
प्रकारता चाभावत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपिता बोध्या । नातो घटो नास्तीति वाक्यजन्य-
बोधीयप्रकारताया घटादौ सत्त्वेऽपि व्यभिचारात्तदवस्थ्यम् । क्लृप्तत्वादिति । एतादृश-
कार्यकारणभावानङ्गीकारे उक्तनियमानिर्वाह इति तस्यावश्यकत्वादित्यर्थः । शेषम् ।
आरोपितत्वं नञ्योत्यमित्यादि ॥ १६ ॥

तथा यस्य चेति । यस्य च भावेनेत्यनेन तद्वदितं षष्ठी चेत्यनेन च
तच्छब्दघटितं सूत्रं लक्ष्यत इत्याशयेन व्याचष्टे—‘यस्य च भावेन भावलक्ष-
णम्’ इत्यत्रेति ‘षष्ठी चानादरे’ इतीति च । तथा च गोषु दुह्यमानासु गत
इत्यत्राद्यसूत्रेण सप्तमी रुदति रुदतो वा प्राव्राजीदित्यत्र द्वितीयेन षष्ठीसप्तम्यौ च
क्रियायोगे एव साधुत्वेनान्वाख्यायेते इति समुदितार्थः । गोषु दुह्यमानास्वित्यत्र गोपदो-
त्तरसप्तम्या ज्ञाप्यज्ञापकभावात्मकः संबन्धोऽर्थः । दुह्यमानानां गवां ज्ञापकत्वं ज्ञाप्यत्वं च
गमनक्रियायां शब्दतः प्रतीयते पर्यवसानं तु तद्गतदोहनक्रियायां निर्ज्ञातकालक्रियाया
एवानिज्ञातकालक्रियायाः स्वसहचरितकालावच्छिन्नज्ञापकत्वात् । एवमपरत्रापि रुदती-
त्यादौ अनादरः पुत्रादिविषयकोऽधिको भासत इति बोध्यम् । वक्ष्यत इति । असा-
धुरनुमानेनेत्येतद्व्याख्यावसरे अनपभ्रष्टतानादिरित्यादिना वक्ष्यत इत्यर्थः । ननु
क्रियाशब्दस्य धात्वर्थमात्रे प्रसिद्धतया फलान्वयेनैवोक्ताष्टकस्य साधुत्वलाभे सति न

अयं भावः—भूवादिसूत्रादिषु प्रायः क्रियाशब्देन भावनान्वयपदेशात् तत्र तस्य सांकेतिकी शक्तिः फलांशे क्वचित्कः क्रियत इति यौगिकः प्रयोगः । तथा च संज्ञाशब्दस्यानपेक्षप्रवृत्तत्वेन बलवत्त्वाद्भावनान्वय एव साधुता लभ्यते । अत एव संज्ञाशब्दप्राबल्यादथन्तरमुत्तराग्रन्थपठितरूपेण गेयं^३ न तु वेदे तदुत्तर-पठ्यमानरूपिणो नवमे निर्णीतम् । किं च फलांशोऽपि भावनायां विशेषणं कारकाण्यपि क्वचित्तथाभूतानीति 'गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात् स्यात्' इति न्यायेन सर्वे सेवका राजानमिव भावनायामेव परस्परनिर्पेक्षाप्यन्वियन्ति । न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके इति न्यायेनापि

भावनान्वयनियम इति न तदनुरोधेन पाक इत्यादौ भावनाया वाच्यतावश्यकतेत्याशङ्कां निराकुरुते—अयं भाव इत्यादिना । संज्ञाशब्दकस्यानपेक्षप्रवृत्तकत्वेन बलवत्त्वे नाव-मिकाधिकरणं प्रमाणयति—अत एवेति । निर्णीतामिति । नवमाध्याये 'यद्योन्यां गायति तदुत्तरयोः' इति वचनस्योत्तराशब्देन रथन्तरयोन्युत्तरयोस्तत्तत्पठितयोश्चोत्तरयोर्ग्रहणमुत्तराग्रन्थपठितयोरवेति संदेहे उत्तरशब्दस्य 'प्रशस्ततरमुत्तरं बहिषः सादयति' इत्यादौ संबन्धिशब्दत्वदर्शनाद्यैव योनेः परतः पठिता सैवोत्तरा ततश्च योनिग्रन्थे रथन्तरयोनेः परतो बृहद्योनेः पठितस्यामृचि रथन्तरस्य गानमुत्तराग्रन्थे च रथन्तरयोनेः परतो 'न त्वा वा अन्यो दिवान पाथिवः' इत्यस्यामपि विकल्पेनेति प्राप्ते उत्तराशब्दस्य उत्तराग्रन्थपठितोत्तराखेव वैदिकप्रयोगादसंबन्धिकतया रूढोऽयं शब्द इति निश्चयः । ततश्चोत्तराशब्देनात्रोत्तराग्रन्थे पठितयोरेव झटित्युपस्थितिः कृतेति तत्रैव रथन्तरं गेयं न बृहद्योनौ इति सिद्धान्तितम् । एवं तत्र यथा संबन्धिशब्दस्य तत्तत्संबन्धिप्रतीतिसापेक्षप्रवृत्तिकृतं दुर्बलत्वं संज्ञाशब्दस्य निरपेक्षप्रवृत्तिकृतं प्रबलत्वं तथा प्रकृते योगार्थसापेक्षप्रवृत्तिकयौगि-कापेक्षया संज्ञाशब्दस्य तदनपेक्षप्रवृत्तिकतया प्रबलत्वम् । विलम्बेनोपस्थापकत्वशीघ्रोपस्थापकत्वयोर्दौर्बल्यप्राबल्ये प्रयोजके इति पर्यवसानादिति भावः । ननु फलस्यापि 'कर्मवत् कर्मणा—' इति सूत्रे क्रियाशब्देन व्यवहारात् साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वादस्त्यादौ सत्तादेरेव क्रियात्वोपपादनाच्च तस्यापि सर्वत्र क्रियाशब्देन ग्रहणे बाधकभाव इत्याशयेनाह— किं च फलांशेति । क्वचित् तथाभूतानि । देवदत्तस्तण्डुलं पचतीत्यादौ कारकादिभावानां प्रति विशेषणतापन्नानीत्यर्थः । कृदन्ते कारकाणां भावानां प्रति विशेष्यत्वात् क्वचिदिति भावनायां कारकान्वये विशेषातिदेशाध्यायाधिकरणं न्यायं साधकतयोपपन्नस्यति— न हि भिक्षुक इति । तथा च कारकाणां नित्यपरतन्त्राणां विशेष्याकाङ्क्षायां

फलं स्वत्वा भावनायामेवान्वियन्तीति मीमांसका अपि मन्वन्ते । एवं च विशेष्यतया कारकादिप्रकारकबोधं प्रति धातुजन्यभावनोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावस्य क्लृप्तत्वाद्यत्रापि पक्ता पाचक इत्यादौ भावना गुणभूता तत्रापि क्लृप्तकार्यकारणभावानुरोधात् तस्यामेवान्वय इत्यवसीयत इत्यादि भूषणे प्रपञ्चितम् । केचित्तु भूतले घटो देवदत्तो घटमित्यादावन्वयबोधाकाङ्क्षानि-
वृत्त्योरदर्शनाच्च तद्व्यतिरेकेण साधुत्वलाभ इत्याहुः ॥ १७ ॥

फलांशस्य तथान्वययोग्यत्वेऽपि विशेष्याकाङ्क्षायां न हि भिक्षुक इति न्यायेन भावना-
यामेवान्वयमङ्गीकुर्वन्ति न्यायविदः । तत्तुल्यतया कारकाणामपि भावनायामेवान्वय
उचित इति तात्पर्यार्थः । एवं च । भावनायामेव कारकान्वयनियमे च । कारकादी-
त्यादिदेन धात्वर्थफलांशपरिग्रहः । तस्यामेव । विशेषणीभूतभावनायामेव । एवेन
फलांशव्यवच्छेदः । ननु विशेषणत्वाविशेषात् फले एवौदनस्य पक्तेत्यादौ कारकान्वयोऽस्तु
एवं च तदनुरोधात् फलोपस्थितेरेव कारकान्वयबोधं प्रति हेतुतायाः क्लृप्तत्वादौदनस्य
पाक इत्यादावपि फलेऽन्वयो नानुपपन्न इति चेन्न । कारकीभूतधात्वर्थस्य भावनाया-
मनन्वयापत्तेः । न हि स्वयमेव स्वकारकम् । फलांशस्य भावनां प्रति करणत्वेनान्वये
तत्र कारकान्वये वाजपेयाधिकरणभङ्गापत्त्या करणान्तरोपसंग्रहेण प्रयोगविधेरबोधकतापत्ते-
श्चेत्यादिकं बृहद्भूषणेऽनुसंधेयमित्याशयेनाह-भूषणे प्रपञ्चितमिति । तस्मात्
पाकादावौदनस्येत्यादिकारकान्वयसिद्धये भावनाया वाचकत्वमावश्यकमिति सिद्धम् ।
प्रकारान्तरेण कारकाणां भावनान्वयनियमं साधयतामन्येषां वैयाकरणानां मतमाह-
केचित्त्विति । अन्वयबोधाकाङ्क्षानिवृत्त्योरिति । अन्वयबोधस्याकाङ्क्षानि-
वृत्तेश्चेत्यर्थः । भूतले घट इत्यत्र भूतलनिरूपितमाधेयत्वमेकत्वविशिष्टो घट इत्यन्वय-
बोधस्य परमते स्वमते च भूतलाभिन्नमधिकरणमित्याद्यन्वयबोधस्य देवदत्तो घटमित्यत्र
घटवृत्तिकर्मत्वमेकत्वविशिष्टो देवदत्त इत्यन्वयबोधस्य परमते स्वमते च घटाभिन्नं
कर्मैत्याद्यन्वयबोधस्योदयेऽपि वाक्यघटकयावत्पदार्थानां परस्परमन्वयबोधानुदय इति
बोध्यम् । न च कियारूपार्थाध्याहारेणैव शब्दबोधादेः संभवादलं तद्वाचकपदाध्याहारेणेति
वाच्यम् । पदजन्यपदार्थोपस्थितेरेव शब्दोपयोगित्वात् पदानां संभूयान्वयबोधकत्वव्युत्पत्तेश्च ।
इत्याहु रित्यस्वरसमूचनम् । तद्वीजं तु फलान्वयनियमेनान्युपपत्तौ भावनान्वयनियमालाभ
इति ॥ १७ ॥

स्वयमुपपत्तिमाह—

यदि पक्षेऽपि वृत्त्यर्थः कारकं च नञादिषु ।

अन्वेति त्यज्यतां तर्हि चतुर्थ्याः स्पृहिकल्पना ॥ १८ ॥

पर्वतो वह्निमान् धूमान्महानसवत् । भूतले न घटः । भूतले घट इत्यादिपदात् ।
एवमादिष्वनुशासनविरोधेऽपि यदि साधुत्वमन्वयश्चाभ्युपेयते तर्हि चतुर्थ्याः
स्पृहिकल्पनापि त्यज्यतामित्यर्थः । अनुशासनानुरोधतौल्येऽर्धजरतीयमयुक्त-
मिति भावः ॥ १८ ॥

एवं कर्त्रादौ विहितानामिन्यादीनां क्रियैवान्वय इत्याह—

अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।

क्रिया संवध्यते तद्वत्कृतपूर्व्यादिषु स्थिता ॥ १९ ॥

न विविच्य ग्रहो ग्रहणं यस्याः साविग्रहा गुणीभूतेति यावत् । तथा च ग्रामं
गत इत्यत्र यथा क्तप्रकृत्यर्थं गुणीभूतापि क्रिया ग्रामादिकर्मभिः संबध्यते तथा
कृतपूर्वा कटमित्यत्रापि गुणभूता इत्यादिभिरित्यर्थः । न च वृत्तिमात्रे समुदाय-
शक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् तन्त्रान्तर्गता भावना पदार्थैकदेश इति कथं तन्त्रान्वय इति

स्वयमुपपत्तिमिति । भूतले न घट इत्यतो भूतलवृत्त्यभाववान् घट इति बोधोदयाप्त
क्रियापदापेक्षा । एवं पर्वतो वह्निमान् भवितुमर्हति धूमान्महानसवत् इति वेदान्त्युक्त-
न्यायान्तर्गतप्रतिज्ञावाक्ये क्रियापदप्रयोगो वृथेति क्वचित् तर्कग्रन्थे स्थितं तद्रूप्यमुपपत्ति-
माहेत्यर्थः । नञादिष्वित्यादिपदग्राह्यमाह—भूतले घट इत्यादिपदादिति ।
चतुर्थ्याः स्पृहीति । पुष्पेभ्य इति चतुर्थ्यन्तमात्रप्रयोगे स्पृहयतीति शब्दाध्याहार एव
चतुर्थ्याः साधुत्वार्थमनुस्रियते न तु तत्समानार्थकधात्वन्तरघटितपदाध्याहारो नाप्यर्था-
ध्याहारो नैयायिकैस्तत् त्यज्यतामित्यर्थः । अर्धजरतीयमिति । जरत्या अर्धमिवार्ध-
जरती तत्सदृशमर्धजरतीयम् । 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छः । यथा जरत्या अर्धं
कामयतेऽर्थं न तथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

विविच्य । पृथग्भूय । इतराविशेषणत्वेनेति यावत् । इत्यत्रापि गुणभूतेति ।
क्तप्रत्ययः कर्मसामान्ये इति पक्षे । तत्र भाव इति पक्षेऽपि तत्रैव विशेषणतामापन्नेत्यर्थः ।
कथं तन्त्रान्वय इतीति । पदार्थः पदार्थेनैवेति व्युत्पत्तेस्तन्त्रान्वयस्यासंभवादिति भावः ।
अन्वयाभ्युपगमादिति । इदं च समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । हरिरन्याह—

वाच्यम् । नित्यसापेक्षेष्वेकदेशेऽपि देवदत्तस्य गुरुकुलं चैत्रस्य नसेत्यादाविवान्व-
याभ्युपगमात् । एवं भोक्तुं पाको भुक्त्वा पाक इत्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

‘संबन्धशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।

वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ॥’ इति

समासे तदघटकपूर्वपदे वा प्राचीनतार्किकमते शक्तेर्लक्षणायाश्चाभावेन गुरुर्न पदार्थैकदेश
इति स्थलान्तरमनुसरति-चैत्रस्य नप्तेति । जन्यशरीरजन्यशरीरं नमृपदार्थः । तदेक-
देशजन्यत्वे चैत्रनिरूपितत्वादिरूपषष्ठ्यन्तार्थान्वयः । न च षष्ठ्यर्थसंबन्धस्य विशेष्ये एवा-
न्वयोऽस्तु किमेकदेशेऽन्वयस्वीकारेणेति वाच्यम् । चैत्रस्य पुत्रेऽपि तथाविधप्रयोगापत्तेः ।
तस्यापि पितामहजन्यजन्यत्वात् । चैत्रनिरूपितजन्यत्वात्मकसंबन्धाश्रयत्वाच्च । न च प्रयो-
ज्यत्वं परम्पराजन्यत्वमेव संबन्धस्तत्र षष्ठ्यर्थ इति चैत्रपुत्रे न तादृशप्रयोगापत्तिरिति
वाच्यम् । चतुर्थ्यादिपुरुषेऽपि तथाविधप्रयोगापत्तेरिति भावः । ननु प्रयोज्यत्वविशेष एव
संबन्धस्तत्र षष्ठ्यर्थ इत्यभ्युपगमान्न प्रयोगातिप्रसङ्ग इत्यत आह-इत्यादाविवेति ।
आदिना घटादन्यः घटात् पृथुगित्यादिपरिग्रहः । अन्यपदार्थैकदेशे भेदे पञ्चम्यन्तार्थघट-
प्रतियोगित्वादेः पृथक्पदार्थैकदेशे पृथक्त्वे पञ्चम्यन्तार्थघटावधित्वादेरन्वय इष्ट इति
भावः । यद्यपि सर्वत्रैकदेशघटितपरम्परासंबन्धेनान्वय इति पक्षान्तरमपि समर्थसूत्रभाष्ये
उक्तं हरिरप्याह

‘समुदायेन संबन्धो येषां गुरुकुलादिना ।

संस्पृश्यावयवास्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह ॥’ इति

तथाप्युक्तस्थले एकदेशे एवाकाङ्क्षासत्त्वादनुभवानुरोधाच्च प्रथमपक्ष एवात्रोपरीकृतः ।
अत एव देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधानन्तरं गुरुर्देवदत्तीयो न वा
जन्यत्वं चैत्रीयं न वेत्यादिसंशयानुत्पत्तिश्चाजस्येन संगच्छते । विशेष्ये एवैकदेशघटित-
परम्परासंबन्धेनान्वय इति पक्षे तु भावनायामेवान्वय इत्यस्य भावनायामेव साक्षात् संबन्ध
इत्यर्थः । स च विशेष्यभूतभावनायां संबन्धघटितायां वा । एवं च तादृशनियमेन
भावनाघटितसंबन्धं विनान्यत्रान्वय एव व्यावर्त्यत इति बोध्यम् । उक्तमर्थमन्यत्राप्य-
तिदिशति-एवमिति । भोक्तुं पाक इति । ‘तुमुन्णुलो-’ इति सूत्रेण विहितस्य तुमुः
क्रियायोगे एव विधानादसत्त्वभूतधातूपस्थापितक्रियायामन्वयात् साधुत्वं बोध्यमित्यर्थः ।
एवं भुक्त्वा पाक इत्यत्रापि क्त्वाप्रत्ययस्यापीति भावः । भाष्यप्रदीपोद्ध्योतकृतस्य
‘उपपदमतिङ्’ ‘गतिकारकोपपदान्-’ इति सूत्रभाष्याद् भोक्तुं पाक इत्यादेरसाधुत्वं
लभ्यते तथा हि ‘उपपदम्-’ इति भाष्ये हि तत्रातिङ्ग्रहणस्य कारको व्रजतीत्यादिके

अतिप्रसङ्गमाशङ्क्य समाधत्ते—

कृत्वोऽर्थाः क्त्वातुमुन्वत् स्युरिति चेत् सन्ति हि कचिव ।

अतिप्रसङ्गो नोद्भाव्योऽभिधानस्य समाश्रयात् ॥ २० ॥

भोक्तुं पाको भुक्त्वा पाक इत्यादौ 'तुमुन्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्'

प्रत्युदाहरणे सुप् सुपेति वर्तत इत्युक्त्वा खण्डिते तिङित्यनेन तिङन्तार्थो लक्षणया गृह्यते तथा च प्रधानभूततदर्थक्रियावाचकशब्दस्य समासप्रतिषेधोऽतिङित्यनेन क्रियते । एवं च सुप् सुपेत्यस्यानुवृत्तावपि कारको गत इत्याद्येतद्भावर्यं भविष्यतीति तात्पर्यकम् 'अतिङिति तदर्थप्रतिषेधः' इत्युक्तम् । तदनन्तरं चोपपदमक्रियेति स्पष्टप्रतिपत्तये 'वक्तव्यम्' इत्युक्तम् । तस्याप्युक्त एवार्थः । 'अथ अक्रिया इत्यस्य किं प्रत्युदाहरणम्' इति प्रश्नोत्तरं कारको गत इति प्रत्युदाहरणे प्रदर्शिते 'नेतत् क्रियावाचि' इति तत्खण्डनं कृतम् । तस्यायमाशयः । अत्र 'तुमुन्वुलौ' इति सूत्रेण ण्वुलेव न भवति तत्र 'क्रिया- र्थायाम्' इति ह्रीलिङ्गनिर्देशेन तत्फलकक्रियाया एव लाभसंभवे क्रियाग्रहणसामर्थ्यात् प्रत्यासत्त्या च क्रिययोः सजातीयत्वलाभे प्रत्ययार्थविशेषणतानाश्रयसाध्यतामात्रापन्नक्रिया- वाचकपदे एव तुमुनादिविधानात् । अत एव सिद्धान्ते तत्र न समासापत्तिः । किं च क्रियावाचकत्वाभावात् समासप्रतिषेधो न तुमुन्वुलौ तु भवत इत्यस्य वैषम्यस्यानुचित- त्वं च । न च गतशब्दस्यानुपपदान्न समासः । तस्य प्राधान्येन क्रियावाचकत्वाभावात् । धातोस्तु कृदर्थसंसृष्टार्थकतया निष्कृष्य पदार्थान्तरेणैकार्थीभावासंभवात् स इति वाच्यम् । येन विधिस्तदन्तस्यानुपसर्जनात् 'समर्थः पदविधिः' इति सूत्रभाष्यविरोधात् । तत्र हि निष्कृष्यैकार्थीभावविरहेऽपि तद्वितसमासवृत्तेरभ्युपगमात् । तथा च 'येन विधिः—' इति सूत्रभाष्ये परमगार्ग्यस्यापत्यमित्यर्थे गार्ग्यशब्दात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषया यजन्तत्वप्रयुक्तो 'यजिजोश्च' इति फक् इत्युक्तम् । 'अनुपसर्जनात्' इत्यत्रैतदधिकाराभावे तदन्तविध्य- भावेन कुम्भकारैकदेशकारशब्दस्यैवाणन्ततया तत एव डीपि अनुपसर्जनह्रीप्रत्यये तदा- दिनियमप्रतिषेधेऽपि कदाचित्कारीशब्दाद् ढक् स्यादित्युक्तम् । 'गतिकारकोपपदात्—' इत्यत्र भाष्ये तत्र सूत्रे कृद्ग्रहणाभावे तिङन्तेन समासाभावाद्यक्रियायुक्ता इत्यनेन निष्कौ- शाम्न्यादेर्वीरणाद् गत्यादिभ्यः परस्य क्रियावाचककृदन्तस्यैवोत्तरपदस्य लाभसंभवे कृद्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्कायां यत्क्रियेत्यस्य प्रभवन्मित्यत्रैव स्यात् क्रियायाः प्राधान्यात् न तु प्रणायकः प्रणीरित्यादौ क्रियाविशेषणकबोधजनकेऽतः कृद्ग्रहणं कृदन्तामात्रसंप्रहर्ह-

१ A. drops च. २ इत्यस्यावैषम्यं K. ३ A. drops हि.

‘समानकर्तृकयोः पूर्वकाले’ इति क्रियावाचकोपपदे क्रिययोः पूर्वोत्तरकाले विधीयमाना अपि तुमुनादयो गुणभूतां तामादाय यथा जायन्ते तथा कृतवोऽर्थ अपि स्युरेकः पाक इत्यत्र ‘एकस्य सकृच्च’ द्वौ पाकौ त्रयश्चत्वार इत्यत्र ‘द्वित्रि चतुर्भ्यः सुच्’ पञ्चैत्यत्र कृत्वसुच् स्यात् । तथा च सकृत्पाकः द्वित्रिश्चतुः पाका इत्याद्यापत्तिरिति चेदिष्टापत्तिः । द्विवचनमित्यादिदर्शनात् । अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानान्नेत्याह—अतीति । ‘न हि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यते’ इत्याद्यभियुक्तीत्या समाधेयमिति भावः । केचित्तु ‘क्रियाभ्यावृत्तिगणने—’ इत्यत्र क्रियाग्रहणं व्यर्थं तस्या एवाभ्यावृत्तिसंभवेन सामर्थ्यात् तद्भावात् । तथा च साध्यमात्रस्वभावाक्रियालाभाय तदिति वाच्यम् । न च पाक इत्यादौ तादृशीति नातिप्रसङ्गः । द्विवचनमिति च द्विः प्रयोगो द्विवचनमिति व्युत्पत्त्या ‘द्विवचनेऽचि’ इति ज्ञापकं वाञ्छि-

मित्युक्तम् । तदुपादानसामर्थ्याद्विशेषणीभूतक्रियकेऽपि प्रवृत्तिरिति भावः । क्रियावाचकशब्दग्रहणं प्रधानीभूतसाध्यमात्रावस्थक्रियाग्रहणं कृतं ज्ञापयति । क्रियारूपार्थग्रहेण तु अतादृश्या अपि तस्या ग्रहणमतः कारकविभक्तिकृत्वसुजादयः सिद्धावस्थापन्नगुणीभूतक्रियायामपि भवन्ति । प्रपञ्चितराभित्यादाहुत्तरपदप्रकृतिस्वरानापत्तिः । कृद्ग्रहणासत्त्वे तु साध्यावस्थापन्नक्रियामात्रबोधकोत्तरपदस्यासंभवादधिकार्ये प्रणायकादाविवात्रापि स्वरप्रवृत्तिर्निष्प्रत्यूहैव । प्रभवन्मित्यत्रापि न साध्यावस्थैव क्रिया प्रतीयते । तदुक्तं भाष्ये—‘यदि कृद्ग्रहणं क्रियते आसन्ते स्वरो न प्राप्नोति’ । ‘तस्मात् कृद्ग्रहणं कर्तव्यम्’ इत्यनन्तरं ‘यदि कृद्ग्रहणं क्रियते आसन्ते स्वरो न प्राप्नोति’ इत्यादिः सर्वोऽपि ग्रन्थः शङ्कान्त एव । समाधिस्त्वयमेव । एवं च भोक्तुं पाक इत्याद्यप्यनिष्टमेवेति ग्राहः । पूर्वोत्तरकाले इति । क्रियार्थक्रियावाचके उपपदे अर्थात् फलीभूतक्रियावाचकधातोस्तुमुन्ण्डलौ विधीयते फलीभूता च क्रियोत्तरकालवृत्तिरेवेति भावः । द्विवचनमित्यादि इति । आदिपदाद् द्विरण्वविद्विरावृत्तिर्द्विप्रयोग इत्यादेः परिग्रहः । अतिप्रसङ्गः । सकृत्पाकः द्विःपाकावित्यादिप्रयोगातिप्रसङ्गः । अनभिधानादिति । तादृशप्रयोगात् क्रियाजन्मगणनाप्रतीतेरित्यर्थः । तदुक्तं भाष्ये । द्वौ पाकावित्यत्र कस्मान्न भवति । नैतत् क्रियागणनमभिमुखी प्रवृत्तिरभ्यावृत्तिरिति सा च जन्मरूपा । एवं च नैतत् क्रियाजन्मगणनमिति तदर्थः । क्रियाजन्मगणनार्थकत्वे तु द्वौ पाकाविति द्विवचनापत्तिः । अत एव द्विप्रयोग इतीत्यत्र द्विवचनं न । द्विप्रयोगो द्विवचनमिति तु बाहुलकात् कर्मणि । अत्र आहुरित्यनेनास्वरसः सूचितः । तद्विजं तु भावार्थकद्विरावृत्तिरित्यादेस्तथाप्यनिर्वाहः । ‘द्विवचनेऽचि’ इत्यादिप्रयोगदर्शनात् ।

त्योपपादनीयमित्याहुः ॥ २० ॥

ननु सिद्धान्ते बोधकतारूपा शक्तिराख्यातशक्तिप्रहवतां बोधादावश्यक्येति धातोरेव भावना वाच्या नाख्यातस्येति कथं निर्णय इत्याशङ्कां समाधत्ते—

भेद्यभेदकर्तृबन्धोपाधिभेदनिबन्धनम् ।

साधुत्वं तदभावेऽपि बोधो नेह निवार्यते ॥ २१ ॥

भेद्यं विशेष्यं भेदकं विशेषणं तयोर्व्यः संबन्धस्तस्य यो भेदस्तन्निबन्धनं साधुत्वम् ।
अयमर्थः—व्याकरणस्मृतिः शब्दसाधुत्वपरा । तत्रैवानच्छेदकतया कल्प्यमान-
धर्मस्य शक्तित्वं वदतां सीमांसकानां पुनः शक्तत्वं साधुत्वमित्येकमेवेति तद्वीत्या
विचारे साधुत्वनिर्णय एव शक्तिवनिर्णय उच्यते । अतिरिक्तशक्तिवादेऽप्याख्या-

क्रियासात्रग्रहणस्यैवान्याय्यत्वम् । क्रियाग्रहणं तु स्पष्टार्थमुत्तरार्थं वेति स्पष्टमन्यत्रेति ॥ २० ॥

आख्यातशक्तिप्रहवतामिति । तिवादिप्रत्यये भावनाशक्तिप्रहवताम् । बोधात् ।
तिवादिप्रत्ययाद् भावनाबोधात् । तस्मिन्नन्वयम् । विशेष्यविशेषणभावसंबन्धनिमित्तकमि-
त्यर्थः । यथाश्वत्थजातिप्रवृत्तिनिमित्तको दन्त्यसंस्कारघटितोऽस्त्रशब्दस्तुरगेऽसाधुर्धनराहित्य-
प्रवृत्तिनिमित्तकस्तु साधुः । तालव्यशकारघटितस्तु तत्रैव वैपरीत्येन साधुरसाधुश्च भवति ।
ननु व्याकरणं साधुत्वान्नाख्यायकमेव न तु शक्तिग्राहकमत एव 'अथ शब्दानुशासनम्'
इत्येव महाभाष्ये उक्तम् । 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे लोकतोऽर्थप्रत्युक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण
धर्मनियमः' इति वचनं त्वर्थबोधकमित्यादि

‘साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।’

इति व्याकरणपदीयेऽपि 'साधुत्वज्ञानविषया' इत्येवोक्तमित्याशङ्कां निराकुर्वन्तात्पर्यमाह—
अयमर्थ इति । अयम् । वक्ष्यमाणः । तत्रैव । साधुराब्दे एव । अवच्छेदकतया । बोधक-
तावच्छेदकतया । शक्तित्वमिति । बोधकता बोधजनकता । जनकतायाश्चावच्छिन्नत्वनियमेन
तदवच्छेदकतया धर्मकल्पनावश्यक्येति तस्यैव शक्तित्वं युक्तम् । पुनः शब्दस्त्वर्थे । शक्तत्वं
साधुत्वमित्येकमेवेति । साधुराब्देभ्य एव बोधोत्पत्त्यङ्गीकारेण शक्तेः साधुमात्रवृत्तितया
शक्तत्वमेव साधुत्वमिति भावः । तद्वीत्या । सीमांसकरीत्या । साधुत्वनिर्णय एवेति ।
तथा च व्याकरणस्य शक्तिनिर्णायकत्वस्य निष्प्रत्यूह्यतया 'लः कर्मणि—' इति व्याकर-
णविरोधाद् भवनाभिप्रायेण तिङ्प्रयोगो साधुरेवेति तात्पर्यम् । अतिरिक्तेति । साधुत्वा-

तानामसाधुता भावनायां स्यादेव । तथा च चतुर्थ्यर्थे तृतीयाप्रयोगवद्
धात्वर्थभावनायामाख्यातप्रयोगे याज्ञे कर्मण्यसाधुशब्दप्रयोगात् 'नानृतं वदेत्'
इति निषेधोल्लङ्घनप्रयुक्तं प्रायश्चित्तं दर्शान्तर्रीयव्युत्पत्तिमतां स्यादिति । ननु
त्वन्मते नानृतमिति निषेधः कृत्वर्थ एव न सिध्येत् । आख्यातेन कर्तृरुक्तत्वा-
च्छ्रुत्या पुरुषार्थतैव स्यात् । प्रकरणाद्धि कृत्वर्थता तच्च श्रुतिविरोधेन

पेक्षयातिरिक्त्यर्थः । साधुत्वमनपभ्रष्टतेत्यादिरूपं शक्तिरिच्छाविशेषः पदार्थान्तरं वा ।
अत एव साधुः शक्त इत्यादिव्यवहार उपपद्यत इति भावः । स्यादेवेति ।
व्याकरणस्मृतेः साधुत्वज्ञापनार्थं प्रवृत्तत्वेऽपि साधुत्वस्य पूर्वोक्तरीत्यार्थविशेषनिबन्धनत्वे-
नार्थवशसंपन्नमेव शक्तिनिर्णायकत्वमिति व्याकरणविरोधाच्चतुर्थ्या तृतीयाप्रयोगवद् भाव-
नायां तिवादिप्रत्ययस्यासाधुत्वं स्यादेवेति तात्पर्यार्थः । नन्वेवं महामुनिजैमिनि-
सूत्रविरोधेन पाणिनिस्मृतिर्बाध्यते चेन्न । साधुत्वांशे पाणिनिस्मृतेर्बलवत्त्वात् साधुत्वा-
नुशासनार्थमेव प्रणीतत्वात् । वस्तुतस्तु जैमिनीयवचनव्याख्यातृग्रन्थविरोधेऽपि
तत्सूत्रविरोधलेशोऽपि नावतरति । तथा हि 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीये-
तैव ह्यर्थो विधीयते' इति हि भावार्थाधिकरणे जैमिनिसूत्रम् । दद्याज्जुहुयादित्यादयः
कर्मशब्दा भावार्थाः प्राधान्येन क्रियार्थकाः । 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति निरुक्तात् ।
अतस्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत । हि प्राधान्याद्धेतोः । एष एव क्रियारूप एवार्थो विधीयते
न तु द्रव्यरूपः क्रियायाश्चाशुतरविनाशित्वात् कालान्तरभाविफलजनकता न संभवतीति
द्वारमपूर्वं कल्प्यमिति तदर्थः । एतत्सूत्राद् भावना प्रत्ययार्थो न कर्तेत्यादिकं तु न
लभ्यते इति विभावनीयमिति दिक् । प्रकरणात् । दर्शपूर्णमासप्रकरणात् । तत्प्रकरणे
नानृतमित्यस्य पाठात् । तच्च । प्रकरणप्राप्तं कृत्वर्थत्वं च । बाध्येतेति । तथा च
कृतावपभाषणे क्रतुप्रेषप्रायश्चित्ताचरणरूपसकलयाज्ञिकमीमांसकशिष्टाचारविरोधः स्यात् ।
अतो नेष्टापत्तिः कर्तुं शक्येति भावनावाचकत्वमेव तिवादीनामभ्युपेयम् । न चैवं
'लः कर्मणि—' इति व्याकरणस्याप्रामाण्यमिति वाच्यम् । वृद्ध्यादिपदस्य लोके
आकारादिबोधकत्वेनादृष्टस्यापि स्वशास्त्रे तत्र वृद्ध्यादिपदं परिभाषितम् । एवं
च व्याकरणस्य सर्वशक्तिनिर्णायकत्वाभावेनादोषात् । किं चासन्नेव लकारः कल्पितस्तथैव
कर्तृकर्मवाचकत्वस्यापि काल्पनिकस्यापि संभवात् । यत्र तु न्यायाविरोधस्तत्र लोकवेद-
योरपि न तदुक्तार्थाभ्युपगमः । न चैतावतापि शास्त्रस्याप्रामाण्यम् । अर्थवादानामिति
तात्पर्यार्थे प्रामाण्यनिर्वाहात् । 'जज्ञभ्यमानो ब्रूयान्मयि दक्षकतू' इत्यादौ वाक्यात्

बाध्यते इति चेन्न । 'तिङ्र्थस्तु विशेषणम्' इत्यनेन परिहृतत्वात् । न हि गुण-
भूतः कर्ता निषेधं साङ्गत्वेन ग्रहीतुमलम् । भावना तु प्रधानं तं ग्रहीतुं समर्थेति
प्रकरणात् कत्वर्थतैव । अस्तु वा क्रतुयुक्तपुरुषधर्मः । अनुष्ठाने विशेषाभावात् ।
'जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू' इतिवाक्योक्तमन्त्रविधिवदित्यादि सूषणे

पुरुषार्थत्वसिद्धये कर्तुर्वाच्यत्वमावश्यकमित्युक्ता प्रतिबन्दितापि नेति मीमांसकोक्तमेवाश्र-
यितुं युक्तमिति भावः । तिङ्र्थस्य विशेषणत्वेऽपि श्रुत्यर्थत्वानपायात् कथं न निषेधस्य
कत्वर्थत्वमतस्तदुपपादयति—न हि गुणेति । विशेष्ये एवाङ्गत्वस्य न्याय्यत्वाद् विशेष-
णोऽङ्गसंबन्धे प्राधान्यमप्राधान्यं च विरुद्धद्वयमापद्यते । अत एव सोमेन यजेतेत्यत्र
सोमस्य यागे करणत्वेनान्वयो निराकृतः सोमसाध्येन यागेनेति मीमांसकैः । ननु धात्वर्थ-
भावनापि कथं निषेधे भावनाविशेषणं तथा च विशेषणत्वेनेतरान्वितस्यान्यत्र विशेषण-
तयान्वयासंबन्धेऽपि तिङ्र्थे प्रति विशेष्यायास्तस्या नञर्थे विशेषणतयान्वयो नानुपपन्न इति
सा ग्रहीतुं समर्थैवेति भावः । एवं च निषेधस्य तद्भावनाया वा कैमर्थक्यात् प्रक-
रणात् कत्वर्थतैवेति भावः । श्रुतिप्रकरणयोरङ्गत्वग्राहकत्वसंबन्धे एव श्रुतिरेव ग्राहिका
बलीयस्त्वात् प्रकृते तु नैवमिति तात्पर्यम् । नन्वेवं न हिंस्यात् सर्वभूतानि न
कलञ्जं भक्षयेदित्यादिनिषेधानामपि श्रुत्या पुरुषार्थत्वं न स्यात् श्रुत्युप-
स्थितकर्तुः क्रियाविशेषणत्वात् । यदि च तत्रान्यस्याङ्गिनोऽसंभवात् विशेषणीभूत-
कर्तुरपि निषेधोऽङ्गमिति चेदुक्तनियमव्यभिचारेण नानृतं वदेदित्यत्रापि निषेधः कर्तुरङ्गं
स्यादत आह—अस्तु चेति । यद्वा श्रुत्यपेक्षया विलम्बेन विनियोजकतया प्रकरणस्य
दौर्बल्यं क्लृप्तं श्रुतेरितरनैरपेक्ष्येण प्रकरणात् पूर्वमेव विनियोजकत्वेन प्राबल्यात् । अतः
प्रकृतेऽपि प्रबलायाः श्रुतेः प्रकरणबाधकत्वमभ्युपेत्येत्यं परिहारः कृतः । वस्तुतस्तु
प्रमाणयोर्विरोधे एव बलाबलचिन्ता । अन्यथा वक्ष्यमाणरीत्या जञ्जभ्यमानाधिकरण-
विरोधः । प्रकृते तु श्रुतिप्रकरणाभ्यामविरोध एवेत्याह—अस्तु चेति । क्रतुयुक्तपुरु-
षधर्म इति । अस्य श्रुतिप्रकरणाभ्यामित्यादिः । तत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह—जञ्जभ्यमान
इति । तत्र यथा विरुद्धाभ्यां प्रकरणाभ्यामुक्तमन्त्रजपस्य क्रतुयुक्तपुरुषधर्मत्वं तथा
श्रुतिप्रकरणयोगाभ्यामनृतनिषेधस्यापीत्यर्थः । तदुक्तं भट्टपादैरपि—

१ बाध्यते D., Com. २ जञ्जभ्यमानो ब्रूया° A. ३ K. reads differently.
Before यदि च तत्रा° &c. K. has श्रुत्यपेक्षया विलम्बेन.....जञ्जभ्यमानाधिकरण-
विरोधः । प्रकृते तु यदि च तत्र.....अस्तु चेति । ४ प्राबल्यं A.

प्रपञ्चितम् । नन्वाख्यातस्य भावनायामसाधुत्वे ततस्तद्वोधो न स्यात् साधुत्व-
ज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वादित्यत आह-बोध इति । असाधुत्वेऽपि साधुत्वभ्र-
माद्वोधोऽस्तु नामापभ्रंशवत् । असाधुत्वं तु स्यादेवेति भावः । वस्तुतः
साधुत्वज्ञानं न हेतुस्तद्व्यतिरेकनिर्णयोऽपि न प्रतिबन्धक इति 'असाधुरनुमानेन'
इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

‘ह्युपायमांसभक्षादिपुरुषार्थमपि श्रितः ।

प्रतिषेधः कतोरङ्गमिष्टः प्रकरणाश्रयात् ॥’ इति ।

भक्षादीति नपुंसकद्वयान्तं तद्विषयीकृत्य यः प्रतिषेध इत्यर्थः । अत एव यदर्थः प्रकृति-
स्तदर्थः प्रतिषेध इति नियमस्य नानृतं वदेदित्यत्र भङ्गो न । वस्तुतः उक्तप्रद्वेत्तया
तादृशनियमो न सार्वत्रिक इति बोध्यम् । अनारभ्याधीतो नानृतं वदेदिति निषेधस्त्वर्था-
नृतपर एव । ‘यर्वागस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुर्याज्ञे कर्मणि पुनर्नापभाषन्ते’ इति पस्प-
शाह्निकस्थभाष्यस्वरसात् । अत एव भाष्यान्ते ‘असुरा हेल्यो हेल्य इति कुर्वन्तः पराबभू-
वुः’ इति क्रतुप्रकरणपठितभाष्ये लिखितश्रुत्यन्तराच्च दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितो नानृतमिति
निषेध उभयविधस्याप्यनृतस्येति ध्येयम् । तदेतद् ध्वनयन्नाह-भूषणे प्रपञ्चितमिति ।
यथापभ्रंशानां साधुत्वभ्रमादबोधकत्वेऽप्यसाधुत्वं तथा भावनाबोधकत्वेऽपि तस्यां
तिवादेरसाधुत्वं स्यादेवेत्यर्थः । न चेत्तदनुशासनस्य निर्मूलत्वेन तिवादेर्भावनाबोधकत्वेऽपि
साधुत्वं निराबाधमेवेति वाच्यम् । ‘ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’ इति श्रुतेः

‘पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम् ।

सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन ॥’

इति पराशरोपपुराणादेशमूलत्वात् । न च लकारवत् कर्त्रार्थकत्वमिति कल्पितमिति
वाच्यम् । सर्वत्र प्रकृतिप्रत्ययविभागं कल्पितं तत्तदर्थं वादायैव साधुत्वबोधनात् । ज्ञानं
न हेतुरिति तद्व्यतिरेकेऽपि शाब्दबोधानुभवात् । तस्य हेतुत्वाभावेऽपि असाधुत्वज्ञानसत्त्वे
शाब्दबोधानुदयात् तस्य प्रतिबन्धकं कल्पनीयम् । एवं च भावनायामसाधुत्वादिरिति
ज्ञानसत्त्वे कथं ततस्तद्वोधः । न च तदा तद्वोधो न जायत एवापि त्वसाधुत्वज्ञानविरह-
दशायामेव तद्वोध इति वाच्यं तदापि बोधस्यानुभवसिद्धत्वादित्याशङ्कं निराकरोति-
तद्व्यतिरेकेति । साधुत्वव्यतिरेकनिर्णय इत्यर्थः । वक्ष्याम इति । साधुत्वज्ञानरहि-
तानामसाधुत्वज्ञानवतामपि गगर्थादिशब्देभ्यो बोधस्य सर्वानुभवसिद्धतया साधुत्वज्ञानं
न हेतुस्तद्व्यतिरेकज्ञानं न च प्रतिबन्धकमिति वक्ष्यत इति नः सर्वेष्टसिद्धिरिति भावः
इति शिवम् ॥ २१ ॥

रङ्गोत्तिमदृष्टेन कौण्डभट्टेन निर्मिते ।

पूर्णे भूषणसारेऽस्मिन् धात्वाख्यातार्थनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्वैयाकरणभूषणसारे धात्वर्थाख्यातसामान्यार्थ-
योनिरूपणं समाप्तम् ॥

केशवाहजविप्रस्य हरिरामस्य निर्मितौ ।

पूर्णे भूषणटीकायां धात्वर्थाख्यातनिर्णयः ॥

इति श्रीमद्वैयाकरणभूषणटीकायां कालोपनामकहरिरामविरचितायां
धात्वाख्यातसामान्यार्थनिरूपणं समाप्तम् ॥

१ A. and D₃ drop the verse. २ कौण्डभट्टेन P., D₁. ३ P. has कौण्डभट्टविर-
चिते before वैयाकरण. ४ श्रीवैयाकरण. ५ धात्वर्थाख्यातार्थयोनिरूपणं समाप्तम्
D₂. ६ सामान्यार्थनिर्णयः समाप्तः P. ७ धात्वाख्यातार्थ. K.

अथ लकारविशेषार्थनिरूपणम् ।

प्रत्येकं दशलकाराणामर्थं निरूपयति—

वर्तमाने परोक्षे श्वोभाविन्यर्थे भविष्यति ।

विध्यादौ प्रार्थनादौ च क्रमाज्ज्ञेया लडादयः ॥ २२ ॥

लडादयश्चितः षट् क्रमेणार्थेषु द्रष्टव्याः । तथा हि—वर्तमानेऽर्थे लट् । 'वर्तमाने लट्' इति सूत्रात् । प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं भूतभविष्यद्विज्ञत्वं वा वर्तमानत्वम् ।

प्रत्येकम् । एकैकस्येत्यर्थः । वीप्सायामव्ययीभावात् । **दशलकाराणामिति ।** 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । सप्तर्षिवदियं लडादीनां संज्ञेति भावः । अवयवावयविभावसंबन्धे षष्ठी । प्रत्येकमित्यत्रान्वयः । **अर्थमिति ।** सामान्याभिप्रायेणैकवचनम् । **निरूपयतीति ।** लकारसामान्यार्थज्ञाने सति लकारविशेषार्थज्ञासौदयात् । तथा च प्रसङ्गसंगत्या तन्निरूपणमिति बोध्यम् । वर्तमानत्वं लक्षयति—**प्रारब्धेति ।** प्रारब्धस्तत्तत्फलानुकूलव्यापारध्वंसासमानकालिकतत्तत्फलानुकूलकृतिविषयीभूतो योऽपरिसमाप्तस्तत्तत्फलानुकूलचरमक्रियाध्वंसप्रागभावाधिकरणकालवृत्तिः । प्रागभावानङ्गीकारे तु तादृशध्वंसानधिकरणकालवृत्तिरित्यर्थोऽवसेयः । एतादृशो यः क्रियात्मकोऽर्थस्तत्तत्फलानुकूलव्यापारसंतानात्मकक्रियारूपतदधिकरणत्वोपलक्षितसमयत्वमित्यर्थः । वर्तमानत्वस्य कालगतत्वेन सर्वानुभवसिद्धत्वात् । अत एवाख्यातार्थः काल इति प्रवादोऽपि संगच्छते । **भूषणेऽप्यत एवेत्यमेवोक्तम् ।** भाष्ये न्याय्या त्वेषा वर्तमानकालतारम्भानपवर्गादवश्यं भुज्जनो हसति जल्पति पिबति निमिषति चेत्युक्तम् । नान्तरीयकत्वात् तासां न विच्छेदकत्वमिति हसनादिदशायामपि भुङ्क्ते इति प्रयोगोपपत्तिः । यद्वा तासामपि तत्तद्वात्वर्थफलानुकूलत्वेन भुज्यादिधात्वर्थत्वविवक्षेति तद्भाव इति **कैपटः** । अनेकदिनादिसाध्यग्रन्थाध्ययनसमये मौजनगमनादिनानाविधक्रियाणामपि तथाविधत्वमिति भावः । अत एव संहिताद्यध्ययनसमाप्तिपर्यन्तं देवदत्तः संहितां पठतीत्यादिप्रयोगोपपत्तिः । परं तु पठधात्वादेस्तथाविधबहुतरव्यापारवाचकत्वकल्पनायां गौरवात् कण्ठाद्यभिघातादिव्यापारेष्वल्पेष्वेव शक्तिरुचितेति पूर्वोक्तमेव सम्यगिति प्रतिभाति । जलताडनाद्यनेकक्रियाणां तदनुकूलत्वे मानाभावाच्च । संहिताद्यध्ययनप्रारम्भक्षणतत्समाप्तिक्षणान्तरालिकसमये निरुक्तवर्तमानसत्त्वादुक्तप्रयोगनिर्वाहः । उक्तभाष्यस्याप्येतादृशवर्तमानत्वपरिग्रहे तात्पर्यम् । प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं च विशेषणं न तूपलक्षणम् । तेनातीतादिक्रियायामपि तत्तत्कालावच्छेदेन प्रारब्धापरिसमाप्तत्वसत्त्वेन पचतीति प्रयोगोपपत्तिर्न । अन्यथा तु स्यात् तदापत्तिः । न च लिङादिना बाधान

पचतीत्यादावधिश्रयणाद्यधःश्रयणान्ते मध्ये तदस्तीति भवति लक्षप्रयोगः ।

तदापत्तिरिति वाच्यम् । वक्ष्यमाणरूपभूतत्वाद्यविवक्षायां तदप्राप्तेः । प्रारब्धापरिसमाप्त-
क्रियोपलक्षितत्वमिति भूषणग्रन्थपर्यालोचनयेदं तत्तत्कालोपलक्षकमात्रं न तु तस्य
शाब्दबोधे भानम् । शाब्दबोधे तु वास्तवमेतादृशवर्तमानत्वं यत्र स कालत्वने
भासते । अतस्तत्कालत्वेनैव लब्ध्वाच्यता । परं तु कालगतभूतत्वानयतनत्वादे-
रपि लिङादिप्रयोगनानापत्तिः । तेषामनुभवबलाच्चेद् भानमिति तेषां लिङादि-
वाच्यतेति चेत् प्रकृतेऽपि तथेति प्रतिभाति । अत एव वर्तमानकालिकी पचि-
क्रियेति बोध्यं वर्णयन्ति प्रामाणिकाः । पपाचेत्यादिजन्यबोधे सति भूतत्वानयतनत्वादि-
संशयानुदयात् तस्य वाच्यत्वे प्रकृतेऽपि तुल्यम् । अतीतादिसमये पाककर्तारि वर्तमानसमये
सत्कर्तृत्वशून्ये देवदत्तादावपाक्षीत् पक्ष्यति देवदत्तो न पचतीति प्रयोगानुपपत्तिश्च । चैत्र-
कर्तृकपाकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य बाधितत्वानुपपत्तिरुक्तप्रयोगस्य प्रतियोगि-
प्रसिद्धिश्चान्तत आहार्यारोपरूपैवेति ध्येयम् । अग्निर्देहतीत्यादौ निरुक्तप्रारब्धत्वस्यारोपात्
'शृणोत प्रावाणः' इति श्रुतिबलात् सर्वस्यैव चैतन्यत्वोपपत्तिर्बोध्यः । तत्तत्फलानुकूलक्रिया-
ध्वंसानधिकरणतदनुकूलक्रियाधिकरणसमयरूपाद्यक्षणरूपं वा प्रारब्धत्वं निवेदयम् । अत्र
पक्षे गौरवाल्लघुवर्तमानत्वमाह-भूतेति । तथा च भूतभविष्यद्विन्नकालत्वं वर्तमानत्व-
मित्यर्थः । तत्र भूतत्वं वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वम् । भविष्यत्त्वं वर्तमानप्रागभावप्रति-
योगित्वम् । वर्तमानत्वं च ध्वंसादौ प्रकृतप्रयोगाधिकरणकालवृत्तित्वम् । प्रकृतप्रयोगाधि-
करणकालश्च प्रहरदिनाद्यात्मको बुद्धिस्थस्त्रत्र विशिष्य निवेदयः । तेन तदधिकरणप्रहरा-
द्यात्मककालान्तर्गतासु कासुचिद् घटिकास्वपि तदधिकरणकिञ्चित्कालवृत्तिध्वंसप्रतियोगि-
त्वादिसत्त्वेऽपि भूतभविष्यद्विन्नत्वस्य नासंभवः । अत्र भूतत्वादिकं परिचायकं भेदप्रतियो-
गिकालविशेषस्य । तत्तत्कालभेदविशिष्टकालत्वावच्छिन्ने एव शक्तिः । तादृशभेदस्यापि
शाब्दबोधे भानानङ्गीकारे तु भेदान्तं परिचायकं तत्तत्कालत्ववत्येव शक्तिरिति बोध्यम् ।
भिन्नत्वं वेत्यत्र वाशब्देनानास्थावेदिता । तन्मूलं तु वर्तमानभविष्यद्विन्नत्वं भूतत्वमि-
त्याद्यपि वक्तुं शक्यम् । विनिगमनाविरहात् । तथा च न भूतादिभेदघटितं वर्तमानत्वं
वक्तव्यं किं तु भूतत्वादिवद्वर्तमानत्वमप्युक्तभेदाघटितमेवेति । **अधिश्रयणमादिर्य-**
स्याधःश्रयणमन्तो यस्येति बहुव्रीहिद्वये सति कर्मधारयः समूहः । कर्मधारयेऽपि
स एव विशेष्यः । तादृशसमूहान्तर्गतमध्ये इत्यर्थः । तत् । उक्तवर्तमानत्वम् । नन्वा-
त्मास्ति पर्वताः सन्तीत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः । तत्रात्मधारणानुकूलव्यापारस्य नित्यतया
साध्यत्वाभावात् क्रियात्वाभावात् तद्वर्मस्य प्रारब्धापरिसमाप्तत्वरूपवर्तमानत्वाभावादित्याशङ्का

आत्मास्ति पर्वताः सन्तीत्यादौ तत्तत्कालिकानां राज्ञां क्रियाया अनित्यत्वात् तद्विशिष्टस्योत्पत्त्यादिकमादाय वर्तमानत्वमूढ्यम् । उक्तं च भाष्ये—‘इह भूतम विष्यद्वर्तमानानां राज्ञां क्रियास्तिष्ठतेरधिकरणम्’ इति ।

‘परतो भिद्यते सर्वमात्मा तु न विकल्पते ।

पर्वतादिस्थितिस्तस्मात् पररूपेण भिद्यते ॥’

इति वाक्यपदीये च । एवं ‘तम आसीत्’ ‘तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्’ ‘अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च’ इत्यादिश्रुतयोऽपि योज्याः । तच्च वर्तमानत्वादि लडादिभिर्द्योत्यते । क्रियासामान्यवाचकस्य तद्विशिष्टे

निराचष्टे—आत्मेत्यादिना । तद्विशिष्टस्य । तादृशराजक्रियाविशिष्टस्यात्मादिकर्तृकोक्त-
व्यापारस्येत्यर्थः । उत्पत्त्यादिकमित्यत्र आदिपदात् समाप्तेस्तत्कालभेदस्य च परिग्रहः ।
तथा चात्मादिकर्तृकोक्तव्यापारस्य नित्यतयोत्पत्त्यादिविरहेऽपि तत्तत्कालिकराजक्रियावि-
शिष्टस्य तस्योत्पत्त्यादिमत्तया निरुक्तवर्तमानत्वं सूचयदमिति भावः । तत्र ‘वर्तमाने
लट्’ इति सूत्रस्थभाष्यं प्रमाणयति—उक्तं च भाष्ये इति । तिष्ठतेरधि-
करणमिति । तत्र कैयटोपाध्यायोऽपीत्थं व्याचष्ट—‘तत्र राज्ञां स्थितिर्भूतादिभेदेन
भिन्ना पर्वतादिस्थित्यादेर्भेदिकेति क्रियारूपत्वं कालत्रययोगश्चोपपद्यते’ इति । अन्यथा पर्वता-
दिस्थितीनां सदृशावयवत्वात् पूर्वापरीभूतावयवसमूहत्वरूपक्रियात्वानुपपत्तिः । एवं तासां
दुरवधारभेदतया कालभेदानुपपत्तिश्च स्यादिति भावः । क्रियायाः कालरूपत्वे क्रिया
तिष्ठतेरधिकरणम् । कालिकसंबन्धेनाधिकरणमित्यर्थकतया यथाश्रुतमेव साधु । प्रकृतिपरिणा-
मभूतोऽतिभङ्गरोऽविभुः क्षणस्तद्द्वारात्मक एव काल इति मते तु क्रियापदस्य तत्परिच्छे-
दककालपरत्वेन तदीयकालस्य पर्वतादिस्थितावात्मसत्तायां चाधेयतासंबन्धेनारोप इत्याश-
यकं बोध्यम् । परतो भिद्यत इति । सर्वं स्वात्मसत्तादिकं सर्वं परतो भिद्यते परत एव
भिद्यते भेदे स्वाधिकं स्वातिरिक्तमेव । आत्मा तु स्वस्वरूपं तु न विकल्पते स्वतोऽभे-
दवान् भवति । पररूपेण भिद्यत इत्यस्योक्त एवार्थो हेलाराजीये स्पष्टः ।
तम आसीदिति । तमोऽज्ञानं तस्य सर्वदा सत्त्वेन भूतकालार्थकप्रत्ययप्रयोगोऽपीत्थमेव
निर्वहति । एवमेव पिहितमज्ञानेनावृतमासीदित्यादावपि बोध्यम् । वर्तमानत्वादीति ।
वर्तमानकालादीत्यर्थः । ननु लडादेद्यौतकत्वं शक्त्याधायकत्वं शक्त्युद्बोधकत्वं रूपं
वाच्यम् । तच्च धातोर्वर्तमानकत्वादौ शक्तिं विना न संभवति । एवं च बहूनां धातूनां

१ तत्तत्कालिकराज्ञां A., D₂, D₃. २ हि तत्कालिक° A., D₂, D₃; तत्तत्कालिक° D.
३ विकल्पते P., D₂. ४ For ‘नाभ्व’, A. has ‘ताव’, D. ‘नात्व’, D₂ ‘नाभ्व’, and
D₃ ‘ताव’.

लक्षणायां लडादेस्तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगात् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्रूपं लडादि वाच्यमेव । अन्यथा प्रत्ययानां वाचकत्वबिलोपापत्तिरित्यपि पक्षान्तरम् ।

लिङ्गमाह—परोक्ष इति । ‘परोक्षे लिङ्’ इति सूत्रात् । कालस्तावदद्यत-
नानद्यतनभेदेन द्विविधोऽपि भूतभविष्यद्रूपः । तत्रानद्यतने भूते परोक्षे
तत्र शक्तिकल्पनायां गौरवादल्पतरप्रत्ययानां वाचकत्वमेव स्यान्न तु द्योतकत्वमत आह—
क्रियासामान्येति । वाचकस्येत्यनन्तरं धातोरिति शेषः । तद्विशिष्टे इति ।
वर्तमानत्वादिविशिष्टक्रियायामित्यर्थः । तात्पर्यग्राहकत्वेनेति । विशिष्टलक्षणायां
तात्पर्यग्राहकत्वमिह प्रकृते द्योतकत्वमिति भावः । लक्षणास्वीकाराच्च न शक्तिकल्पनाप्रयुक्तं
गौरवं वृत्तिद्वयेनैकशब्दजन्यबोधानभ्युपगमाद्विशिष्टलक्षणानुसरणं गङ्गायां मीनघोषौ स्त
इति वाक्यघटकगङ्गापदच्छक्तिः लक्षणाभ्यामुपस्थितप्रवाहतीरयोर्बोधानुभवाद्वृत्तिद्वयविरोधे
मानाभाव इति मताभ्युपगमे तु वर्तमानत्वादावेव लक्षणेति बोध्यम् । लडादेर्वर्तमानत्वा-
दिवाचकत्वपक्षे तु कर्त्रादेर्लडादिवाच्यत्वं न स्यात् । विशेषणसामान्यवाधात् । तथा च
चैत्रमेतौ पचत इत्यादौ कर्तुरभानात् तद्वत्तद्वत्वाद्यप्रतीतौ द्विवचनबहुवचनानापत्तिः
शबाद्यनुपपत्तिस्तृतीयापत्तिश्च चैत्रादिपदात् स्यात् कर्तुरनभिधानात् । अतो द्योतकतापक्ष
एव युक्तः । यद्यपि निरवकाशत्वमेवं सति कर्त्रादीनां स्यात् लोडादिस्थलेऽपि विध्याद्यर्थै-
र्वाधात् किं च तत्क्रौण्डिन्यायस्य विधेयविषयतयार्थस्य समर्थसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्याद-
भिधेयतया वाधप्रसक्तिरेव न स्पष्टं चेदं ‘नित्यं कौटिल्ये गतौ’ इत्यादि सूत्रे भाष्यप्रदी-
पोद्घोतादाविति स पक्षोऽपि सूत्रपदस्थापि वाचकतापक्षे प्रत्ययार्थतया प्राधान्यापत्तिस्तदर्थं
प्रकृतिप्रत्यययोरिति नियमसंकोचः कल्पनीयः । द्योतकतापक्षे तु ‘हेतुमति च’ इति
सूत्रभाष्यप्रामाण्येन द्योत्यार्थस्य विशेषणत्वनियमसिद्धौ प्रत्ययवाच्यविषयस्य प्रकृतिप्रत्य-
ययोरित्यस्यावतार एवात्र नेति न संकोचकल्पनाप्रसक्तिः । स्पष्टं चेदं मञ्जूषादवित्ययं
पक्ष एव साधीयानिति बोध्यम् । अत एवात्राण्यत्र इत्यपि पक्षान्तरमिति अपिपदव-
टितमस्वरससूचकमुक्तम् । तद्रूपम् । वर्तमानत्वादिरूपम् । लडादि वाच्यमिति । वाच-
कतावच्छेदकं लट्त्वलिङ्त्वादिकं तदपि लडादेशे तिवादावनुभवसिद्धमेव । तच्च तत्रारो-
पितम् । अत एव यजेतेत्यत्रास्थंशद्वयमाख्यातत्वं लिङ्त्वं च । तत्र लिङ्त्वेन शाब्दी
भावनाभिधीयत इति मीमांसकग्रन्थः संगच्छते । अन्ये तु तिवादिकमेव तथा लट्त्वादि-
ज्ञानविधुरस्यापि शाब्दबोधोत्पत्तेः । तत्तदानुपूर्वीविशेषस्य तद्वोधे तात्पर्यग्राहकत्वाच्च
न पक्ष्यतीत्यादौ वर्तमानत्वादिविबोधापत्तिरित्याहुः ।

लिङित्यर्थः । तेनाद्यतने भूतेऽनद्यतने भविष्यति भूतेऽप्यपरोक्षे च न लिङप्रयोगः । परोक्षत्वं च साक्षात्करोमीत्येतादृशविषयताशालिङ्गानाविषयत्वम् । न च 'क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्' इति भाष्यात् तस्या अतीन्द्रियत्वेन परोक्ष इत्यव्यावर्तकमिति शङ्क्यम् । पिण्डीभूताया निदर्शयितुमशक्यत्वेऽप्यवयवशः साक्षात् करोमीति प्रतीतिविषयत्वसंभवात् । अन्यथा पश्य मृगो धावतीत्यत्र तस्या दर्शनकर्मता न स्यादिति प्रतिभाति । व्यापाराविष्टानां क्रियानुकूलसाधनानामेवात्र परोक्ष्यं विवक्षितमतो नोक्तदोषः । अयं पपाचेत्याद्यनुधोधाद् व्यापारा-

अनद्यतने भूते इति । अद्य भवोऽद्यतनस्तदभिन्नकालावृत्तिः परोक्षा या क्रिया तदर्थकादातोर्लिङिति सूत्रार्थः । एवमेव 'अनद्यतने लुट्' इत्यादौ व्याख्यानं बोध्यम् । एवं चैतन्मते तदर्थबोधको लिङित्यर्थः । पक्षान्तरे तु तद्वाचक इत्यर्थः । क्रमेण 'अनद्यतन' इत्यादिविशेषणप्रयोजनमाह-तेनेत्यादिना । तेन । अनद्यतन इत्यादिविशेषणोपादानेन । अद्यतने भूते इत्यादिसप्तम्यन्तयुगलत्रिकस्य न लिङप्रयोगः इत्यनेनान्वयः । एतादृशविषयताशालिङ्गानाविषयत्वम् । एतादृशशब्दामिलिङ्यमानाविषयतेत्यर्थः । ज्ञाने वक्तृवृत्तित्वं निवेद्यं तेनान्यवृत्तितादृशज्ञानविषयत्वेऽपि अयं पपाचेत्यादिप्रयोगस्य नानुपपत्तिः । अव्यावर्तकमिति । कस्याश्चित् क्रियायाः प्रत्यक्षविषयत्वे तथाविधाभिप्रायेण तादृशप्रयोगव्यावर्तनाय परोक्षे इति सार्थकं भवेत् क्रियामात्रस्य परोक्ष्ये तु तन्निरर्थकमित्याशङ्कते इत्यर्थः । अपरिदृष्टेति पाठमाश्रित्य पूर्वापरीभूता अवयवा यस्याः अत एव पिण्डीभूता निदर्शयितुं न शक्या पूर्वापरीभूतावयवकत्वेन पिण्डीभावस्यैवाभावादिति भाष्यस्य व्याख्यानमनुसृत्य समाधत्ते-पिण्डीभूताया इति । अवयवशः । एकैकस्यावयवस्येत्यर्थः । 'संख्यैकवचनाच्च' इति शस् । प्रत्यक्षत्वसंभवादिति । तथा च क्रियावयवानां वक्तृपरोक्षत्वदशायां लिङप्रयोगस्य साधुत्वव्यावर्तनाय तदावश्यकमेवेति भावः । प्रकारान्तरेण परोक्षपदसार्थक्यं कथयतामन्येषां मतमाह-व्यापाराविष्टानामिति । व्यापारविशिष्टानामित्यर्थः । नोक्तदोष इति । व्यापाराविष्टसाधनानां वक्तुः प्रत्यक्षदशायामयं पपाचेति प्रयोगवारणार्थतया सार्थक्ये सत्यव्यावर्तकरूपो दोषो नेत्यर्थः । व्यापारस्य विशेषणविधया निवेशप्रयोजनमाह-अयं पपाचेति । कर्तुः प्रत्यक्षदशायां तादृशप्रयोगानुपपत्तिरिति व्यापारविशिष्टनिवेशः । वक्तुः प्रत्यक्षाविषयकर्तृकस्थले चैत्रः पपाचेत्यादावेव लिङप्रयोगः स्यादिति भावः ।

विष्टानामितीत्यपि वदन्ति । कथं तर्हि 'व्यातेने किरणावलीमुदयनः' इति । स्वक्रियायाः स्वप्रत्यक्षत्वादिति चेदसंगतमेव । व्यासङ्गादिना स्वव्यापारस्य परोक्षत्वोपपादनेऽप्यनद्यतनातीतत्वयोरभावेन तदर्थकलिङ्संभवात् ।

अत एवेदंशब्दघटितानुधावनम् । अपि वदन्तीत्यनेनाहचिसूचनं कृतं तद्दीजं तु क्रियायामेव परोक्षेति विशेषणान्वयेऽप्युक्तरीत्या सार्थकत्वे संभवति तथाविधसाधनान्वयानौचित्यं 'धातोः' इत्यधिकारात् क्रियायाः शीघ्रोपस्थितेरित्यादिकमवसेयम् । भाष्यप्रदीपोद्घोतादिकृतस्तु शतपत्रभेदेन कर्तुरसंनिष्ठस्यापि स्वाङ्गुल्यादिगतक्रियाभेदादेरनवगमेन पदार्थसौक्ष्म्यवत् सूक्ष्मकालावच्छिन्नत्वस्यापि प्रत्यक्षप्रतिबन्धकतया क्रियावयवानामपि प्रत्यक्षत्वं न संभवति । आश्रयनाशजन्यगुणनाशस्य विरोधिगुणप्रयुक्तत्वमिति नियमे मानाभावेन विभागानभ्युपगमेन क्रियाणां त्रिक्षणावस्थायित्वं मन्यन्ते । तथा हि प्रथमे क्षणे क्रियोत्पत्तिस्ततो द्वितीये पूर्वसंयोगनाशस्तृतीये उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिश्चतुर्थे क्रियायां नाशः । स्वजन्यसंयोगनाशहेतोः पूर्वक्षणे सत्त्वात् । एवं सूक्ष्मकालावच्छिन्नत्वम् । यैस्तुत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिर्द्वितीयक्षणे एवाङ्गीक्रियते पूर्वदेशसंयोगनाशात्मकस्वीकारात् तस्यैतन्मते तस्याः क्षणावस्थायित्वेन सुतरां सूक्ष्मकालावच्छिन्नत्वम् । अत एव 'क्रिया नामेयम्-' इत्यादि भाष्यम् 'अपरदृष्ट' इतिपाठाभिप्रायेण परेण प्रधानेन प्रत्यक्षात्मकप्रमाणेनात्यन्तमदृष्टमवयवरूपेण समूहरूपेण चेत्यर्थः इति व्याख्यातं 'निष्ठा' इति सूत्रे कैद्योपाध्यायैः । 'पिण्डीभूत' इति त्वाशुतरविनाशिनां कमिकाणां मेलनासंभवात् पिण्डीभावासंभवात्पर्यक्रमेव । तस्मादुत्तरदेशसंयोगात्मकफलविषयकदर्शनविवक्षया वोपपत्तिः । एवं च व्यर्थमेव परोक्षपदोपादानमित्याशङ्क्य व्यापाराविष्टानामिति पक्षमेवाङ्गीचक्रुः । मनोरमायामप्ययमेव पक्षः स्थितः । यद्यपि क्रियाया अप्रत्यक्षत्वे तद्विशिष्टसाधनप्रत्यक्षं दुरुपपादमतस्तद्वैयर्थ्यं तदवस्थमेव तथापि व्यापारवैशिष्ट्यसमये साधनपारोक्ष्यस्य विवक्षितत्वान्नोक्तदोष इति भावः । कथंताया हेतुमाह-स्वक्रियाया इति । प्रत्यक्षत्वात् । स्वात्मकवस्तुरवश्यं प्रत्यक्षविषयत्वात् । पक्षान्तरे क्रियाविष्टसाधनस्य स्वप्रत्यक्षत्वादिति हेतुरुन्नेयः । ननु विषयान्तरसंचररूपव्यासङ्गादिना स्वव्यापारस्य व्यापारविशिष्टस्य च स्वप्रत्यक्षविषयत्वाभावरूपपारोक्ष्यसंभवाच्च लिट्प्रयोगासंगतिरित्याशङ्क्य भूतत्वाद्यसंभवनिवन्धनां तामाह-व्यासङ्गादिनेति । अत एव 'बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहम्' इति प्रयोग उपपन्नः । अनद्यतनेति । किरणावलीकर्मकविस्तारानुकूलव्यापारावच्छेदेनाद्यतनभिन्नत्वाभावाद्तीतकालसंबन्धाभावाच्चेत्यर्थः । इदं चानद्यतनत्वमतीतत्वं च द्वयं कालाघटितं क्रियाविशेषण-

लुडर्थमाह-श्रोभाविनीति । अनद्यतने भाविनीत्यर्थः । 'अनद्यतने लुड' इति सूत्रात् । यथा श्रो भवितेत्यादौ ।

मिति मतमाश्रित्याभिहितम् । अद्यतनभिन्नातीतकालस्य क्रियाविशेषणत्वमिति निष्कृष्ट-
भाष्यमते तु तादृशक्रियायामद्यतनभिन्नातीतकालसंबन्धाभावादिति हेतुर्वोध्यः । अन-
द्यतनकालवृत्तित्वातीतकालवृत्तित्वयोरिति वा भूतानद्यतनातीतत्वयोरित्यस्यार्थो बोध्यः ।
अत्र क्रियायामनद्यतनभूतकालसंबन्धस्य परोक्षत्वस्य चारोपादुपपद्यत एव लिङ्प्रयोगः ।
आरोपप्रयोजनं तु सुकरत्वशीघ्रनिर्वर्त्यत्वादिवोधनम् । तत्फलं त्वध्येतृणां पदार्थतत्त्व-
निश्चयफलकैतदग्रन्थं ज्ञातुं सौत्कण्ठानामाह्लादः । परोक्षत्वारोपोऽप्येतत्फलकः । अनायासेन
ग्रन्थनिर्माणमप्यत्र व्यङ्ग्यम् । एवमेव 'इयं नु कदा गन्ता येवं पादौ निदधाति' देवे वृष्टे
'देवश्चेद्वृष्टः संपन्नाः शालयः' इत्यादि प्रयोगोपपत्तिः । आवे अद्यतनेऽन्यनद्यत-
नत्वारोपः । अतिविलम्बगमनप्रत्यायनं प्रयोजनम् । अन्ये हेतुभूतमेधोत्पत्तिगतमतीतत्वं
वृष्टौ तद्गतमतीतत्वं च शालिसंपत्तावारोप्यत इति भूते क्तः । अत एव मेधो-
त्पत्त्यनन्तरकालेऽभ्युक्तप्रयोगनिर्वाहः । एतेन तादात्म्यस्य कार्यसंपत्तिकारणीभूताऽशालि-
संयोगेऽध्यासात् तस्यातीतत्वेन वृष्ट्यनन्तरं तथाविधप्रयोगोपपादनेऽपि मेधोत्पत्त्यनन्तरं
तदुपपादनासंभव इति शङ्का निरस्ता । एवं ग्रामान्तरं जिगमिषुभिः स्थलविशेषे कूपसत्ता-
निर्णयवद्भिर्भाविनि तल्लभे कूपो भविष्यत्यतीते कूपेऽभूदिति प्रयुज्यते तत्रापि लाभगत-
भावित्वादेरारोप एव तत्प्रयोगनिर्वाहक इति 'क्षिप्रवचने लुड' इत्यादिसूत्रभाष्ये प्रतिपन्नम् ।

ननु श्रोभाविनीत्युक्तम् । तृतीयादिदिनभाविन्यपि पाकादौ पक्तेत्यादिप्रयोग-
स्येष्टत्वात् । श्व इत्यस्य निर्मूलत्वाच्चेत्याशङ्कमान आह-अनद्यतन इति । तथा च
तदुपलक्षणं वृत्तानुरोधेन तु तदुक्तिरिति भावः । भावित्वं भविष्यत्त्वं तच्च वर्तमानप्राग-
भावप्रतियोगिसमयत्वम् । तत्र प्रमाणमाह-'अनद्यतन'-इति । तत्र 'भविष्यति गम्या-
दयः' इत्यतो भविष्यतीत्यनुवर्तते । एवं च पक्तेत्यत्रानद्यतनभविष्यत्कालिकी एककर्तृका
पचिक्रियेति बोधः । श्वःपदाद्युपस्थापितकालविशेषस्य क्रियायामन्वयो न प्रत्ययार्थ-
घटकप्रागभावे न वा तदर्थकर्त्रादौ । प्रागभावस्य पदार्थैकदेशत्वेन पदार्थः पदार्थेनेति
व्युत्पत्तिविरोधात् । परश्वो भाविनि परश्वः पक्तरि च श्वो भविता श्वः पक्तेत्यादिप्रसङ्गाच्च ।
आद्यक्षणप्रारब्धपाकादिस्थले परश्वः पक्ता परश्वो भवितेत्यादेरनुपपत्तेश्च परश्वस्तन-
सत्तादेः प्रागभावे श्वस्तनत्वबाधात् । अन्ये तथाविधपाकादिप्रागभावे परश्वस्तनत्वबा-
धात् । चरमपक्षे श्वः पक्तरि परश्वः पक्तेत्याद्यापत्तेस्तस्याधिकरणकारकत्वेन क्रियान्वयस्यैव
न्याय्यत्वाच्च । ननु क्रियायामन्वयाभ्युपगमेऽपि श्रोभाविनि परश्वो भवितेति प्रयोगापत्तिः ।
धात्वर्थसत्तायां परश्वस्तनत्वस्याबाधात् । न च तत्कर्तृकधात्वर्थत्वावच्छेदेन तदन्वयाभ्यु-

लङर्थमाह-भविष्यतीति । भविष्यत्सामान्ये इत्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति सूत्रात् । यथा घटो भविष्यतीत्यादौ । तत्त्वं च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिसमयोत्पत्तिमत्त्वम् ।

लोटोऽर्थमाह-विध्यादाविति । 'लिङर्थे लृट्' इति सूत्रात् । लिङर्थश्च विध्यादिरिति वक्ष्यते ।

लोटर्थमाह-प्रार्थनेति । आदिना विध्याद्याशिषो गृह्यन्ते । 'आशिषि लिङ्-लोटौ' 'लृट् च' इति सूत्राभ्यां तथावगमात् । यथा भवतु ते शिवप्रसादपगमान्नेयमापत्तिरिति वाच्यम् । श्वोभाविन्यापि श्वो भवितेति प्रयोगानापत्तेः परश्वस्तनतदीयसत्तायाः श्वस्तनत्वाभावादिति चेन्न । तत्रोत्पत्त्यर्थः एव धातुतः प्रतीयत इत्यनुभवात् श्वःपदाद्युपस्थापितकालवृत्तित्वस्य स्वनिरूपककालोत्पत्तिकत्वविशिष्टाश्रयत्वसंबन्धेन वा क्रियायामन्वयोपगमादुक्तदोषो निरसनीयः । अनद्यतनभविष्यत्यपि भविष्यत्वमात्रविवक्षायां लृडेव । 'सावर्णिक्को नाम मनुर्भवान् भविष्यति' इत्यादौ यथा एवमनद्यतनभविष्यत्यपि भविष्यत्वमात्रविवक्षायां लृङ् । यथा 'सुरथो नाम राजाभूत्' इत्यादौ । अत एवानद्यतनत्वादेर्वीच्यत्वाङ्गीकारः । वस्तुतस्तस्य प्रयोगसाधुत्वमिति तत्त्वाभ्युपगमे तु 'इयं नु कदा गन्ता' 'भवान् भुवि भविष्यति' इत्यादिप्रयोगानिर्वाहात् । एवं प्रहरानन्तरमयैव गमनकर्तारि देवदत्ते 'गमिष्यति देवदत्तो न गन्ता' इत्यादिप्रयोगानुपपत्तेश्च भविष्यत्कालिकदेवदत्तकर्तृकगमनाभावस्य बोधनीयस्य बाधात् । अनद्यतनत्वस्य वाच्यत्वे तु तद्विशिष्टभविष्यत्कालिकतादृशक्रियाभावोत्थाबाधादुक्तप्रयोगोपपत्तिरिति बोध्यम् । एवमादौ भविष्यत्वमात्रविवक्षायां लृट् । ततः श्वःशब्दयोगेऽनद्यतनत्वप्रतीतावपि न तस्य निवृत्तिरन्तरङ्गसंस्कारस्यानिवर्तनात् । अत एव 'श्वः पक्ता' इत्यादिप्रयोगोपपत्तिः । 'लृट् शेषे च' इतीति । अत्र 'भविष्यति गम्यादयः' इति सूत्राद् 'भविष्यति' इत्यनुवर्तते । क्रियार्थक्रियावाचकपदासत्त्व शेषपदार्थः । 'तुमुन्षुलो क्रियायाम्-' इति सूत्रोत्तरमेतस्य पाठात् । चकारात् तत्सत्त्वेऽपि लृट् । समयोत्पत्तिमत्त्वमिति । उत्पत्तौ श्वःपदादिप्रतिपाद्यकालविशेषसंबन्धान्वयेन श्वोभाविनि परश्वो भवितेत्याद्यतिप्रसङ्गो न । एतदर्थमेवोत्पत्त्यनन्तरभावः । अन्यथोत्पत्तिमत्त्वस्थाने वृत्तित्वमेव निवेशनीयं स्यात् । तदनन्तरभावे तु पूर्वोक्ता रीतिरेवानुसर्तव्या ।

विध्यादाविति । आदिना निमज्जणादीनां तत्सूत्रोक्तानां परिग्रहः ।

प्रार्थनेति । प्रार्थनस्यादिः प्रार्थनमादिर्हस्येति तत्पुरुषबहुव्रीह्योस्तत्रेण निर्देश इत्याशयेनाह-आदिना विध्याद्याशिष इति । तत्राशिष्युदाहरति-यथा भवत्विति ।

इत्यादावेतयोरर्थो लिङर्थ एव । त्रयाणां समानार्थत्वादिति तन्निर्णयेनैव निर्णयः ॥ २२ ॥

लङादिक्रमेण डितामर्थमाह—

ह्योभूते प्रेरणादौ च भूतमात्रे लङादयः ।

सत्पां क्रियातिपत्तौ च भूते भाविनि लङ् स्मृतः ॥ २३ ॥

लङर्थमाह—ह्योभूते इति । अनद्यतने भूत इत्यर्थः । ‘अनद्यतने लङ्’ इति सूत्रात् । यथास्य पुत्रोऽभवदित्यादि ।

लिङर्थमाह—प्रेरणादाविति । ‘विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्’ इति सूत्रात् । विधिः प्रेरणं भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । निमन्त्रणं नियोगकरणम् । आवश्यकं प्रेरणेत्यर्थः । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा । अधीष्टः सत्कारपूर्वको

आशीः प्रयोक्तृनिष्ठा हितविषयिणीच्छा तस्या विषयतासंबन्धेन कारकविशिष्टक्रियायामन्वयः । तथा चाशीर्विषयत्वसंबन्धिशिवकर्तृकप्रसादकर्तृकसत्तेति बोधः । विध्यादिपदार्थानामिदानीं निर्णयाभावात्तदुदाहरणानुपन्यासः । ननु विध्याद्यर्थानिर्णये कथं लेटलोटेरर्थनिर्णय इत्यत आह—एतयोरिति । तन्निर्णयेन । लिङर्थनिर्णयेन । विध्यादीनां लिङ्विधायके एवोपादानात् तत्रैव तदर्थो निर्णय्यत इति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

लङादिक्रमेणेति । लङादीनां क्रमो लङादिक्रमस्तेन । तेषां क्रमस्तु लोकप्रसिद्धः । ह्योभूतविवक्षणे दिवादिव्यवहितभूतकाले न स्यादतस्तदुपलक्षणमित्याह—अनद्यतने भूत इति । तत्र प्रमाणमाह—‘अनद्यतने लङ्’ इतीति ।

भृत्यादेरिति निकृष्टोक्तिः स्वसमानोत्तमयोः प्रवर्तनायामतिव्याप्तिवारणाय । आज्ञाप्यत्वेन निकृष्टत्वं विवक्षितमिति बोधयितुं भृत्यादेरिति । अत एव स्वापेक्षयाधिकवयस्कभृत्यादिप्रेरणायाः संप्रहः । प्रवर्तनत्वं च प्रेरयित्रभिलषितविषयकं बोध्यम् । इयमेवाज्ञेत्युच्यते । अप्रवृत्तप्रयोज्यस्य तदभिलषिताज्ञातोपायप्रवर्तनमुद्देशः । यथा ‘स्वर्गकामो यजेत’ यथा वा ‘अनेन पथा याहि’ इति । आवे स्वर्गोऽभिलषितः । अन्ये कार्यादिप्राप्तिः । आवश्यकं इत्यस्य श्राद्धभोजनादाविति शेषः । कामचारेति । स्वाभिलषिते कामचारेण प्रवर्त्यप्रवर्तनम् । कामचारश्च प्रवर्त्यस्यैव । प्रवृत्तस्य प्रयोज्यस्य निवृत्तिप्रवन्धद्वारा तद्धिते प्रवृत्तिप्रयोजिकोक्तिरनुज्ञा आरब्धं कुर्वित्येवमात्मिका । ‘तथा कुरुष्व यथा हितम्’ इत्युक्तिरप्यनुज्ञैव । एतत् सर्वमामन्त्रणपदेनोपलक्ष्यते । सत्कारपूर्वको व्यापार इति । यथा ‘मां पाठय’ इति । एषैवाभ्यर्थनोति गीयते । प्रार्थना

व्यापारः । एतच्चतुष्टयानुगतप्रवर्तनात्वेन वाच्यता लाघवात् । उक्तं च—

‘अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि ।

तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ॥

न्यायच्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा ।

विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम् ॥’ इति ।

प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम् । तच्चेष्टसाधनत्वस्यास्तीति

तु स्वाभिलषितवस्तुदानादिप्रवर्तिकोक्तिः । एतच्चतुष्टयेति । अधीष्टान्तचतुष्टयानुगतं यत् प्रवर्तनात्वं तेनेत्यर्थः । स्वाभिलषितदानादिविषयकेच्छाप्रार्थनं तच्च न प्रवृत्तिजनक-मन्यथासिद्धत्वादित्यभिप्रेत्य चतुष्टयेत्युक्तम् । वक्ष्यमाणद्वारिकारिकायां चतुर्णामित्य-प्येवमेव पूर्वोक्तस्वरूपत्वे तु पञ्चानुगतेति बोध्यम् । एवं कारिकास्थचतुर्णामित्यपि प्रार्थन-स्योपलक्षणं बोध्यम् । प्रवर्तनेति । प्रवर्तनाया रूपं प्रवर्तनात्वमित्यर्थः । तत्रैव । प्रवर्त-नात्ववत्येव । प्रवर्तनात्वमखण्डोपाधिः । आकृत्यधिकरणन्यायेन धर्ममात्रशक्तिरिति मते तु यथाश्रुतमेव साधु । अथवा तत्रैव तस्मिन् सत्येव । एवं च तद्विशिष्टे विधावलामः । न्यायेति । विधिपदार्थविवरणार्थमित्यर्थः । यद्वा विध्याद्यनुगतप्रवर्तनात्वरूपेण वाच्यतेति बोधनार्थमित्यर्थः । ननु लोकव्युत्पत्त्यैव तदवगमो भविष्यतीत्यत आह—प्रपञ्चार्थमिति । आदित आदावित्यर्थः । आदादित्वात्तसिः । तथा च ‘प्रवर्तनासंप्रश्नयोऽलिङ्’ इति सूत्रं कर्तव्यमिति भावः । प्रवृत्तिजनकेति । प्रवृत्तिजनकं यज्ज्ञानं तद्विषयतावच्छे-दकमित्यर्थः । भवति हि यागो यदिष्टसाधनमिति ज्ञानं प्रवर्तकं तदीययागनिष्ठविशेष्यता-त्मकविषयतानिरूपकत्वरूपं तदवच्छेदकत्वमिष्टसाधनत्वस्येत्यर्थः । तादृशज्ञानीयविशे-ष्यतानिरूपितप्रकारतालाभार्थं विषयत्वमपहाय विषयतावच्छेदकत्वानुसरणम् । एतेनेष्ट-साधनत्वे तादृशज्ञानविषयतायाः स्वरूपसंबन्धरूपावच्छेदकत्वं न संभवति । यागविशेष्य-ताया इष्टसाधनत्वप्रकारतानिरूपिताया इष्टसाधनत्वानवच्छेद्यत्वादिति दूषणं निरस्तम् । तच्च । उक्तविधिप्रवर्तनात्वं च । तदेव । इष्टसाधनत्वमेव । तादृशप्रवर्तनात्वप्रकारेण बोधाननुभवे तुलक्षणीभूय वाच्यतावच्छेदकत्वं तस्येति बोध्यम् । अन्यथा पुनर्विशेषणी-भूय तदवच्छेदकत्वं बोध्यम् । मीमांसकानां पुनर्विशेषणत्वपक्षो निर्भरो दृश्यते । ननु कृत्यसाध्यतानिश्चयविषयमेव नियमादौ प्रवृत्तिवारणाय कृतिसाध्यताज्ञानस्यापि प्रवृत्ति-हेतुत्वमभ्युपेयम् । न च कृत्यसाध्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनयैवोपपत्तावलं कृति-साध्यताज्ञानस्य हेतुत्वेति वाच्यम् । तादृशनिश्चयाभावत्वे कारणत्वापेक्षया कृति-साध्यताज्ञानत्वेन कारणत्वे लाघवात् तत्कल्पनस्यैवोचितत्वादित्याशङ्क्य निराचष्टे—

तदेव विध्यर्थः । यद्यप्येतत् कृतिसाध्यत्वस्यापि तज्ज्ञानस्यापि प्रवर्तकत्वात्
तथापि यागादौ सर्वत्र तल्लोकत एवावगम्यत इत्यन्यलभ्यत्वान्न तच्छक्यम् ।
बलवदनिष्ठानुबन्धित्वज्ञानं च न हेतुः । द्वेषाभावेनान्यथासिद्धत्वात् ।
आस्तिककामुकस्य नरकसाधनताज्ञानदशायामप्युक्तटेच्छया द्वेषाभावदशयां

यद्यपीत्यादिना । एतत् । प्रवर्तनात्वम् । लोकत एवावगम्यत इति । यागो मल्लुति-
साध्यत्वविरोधिविधर्मानधिकरणत्वादित्याद्यनुमानेनेत्यर्थः । स्वर्गादीष्टसाधनत्वं तु न लोक-
तोऽवगन्तुं शक्यते अपि तु वेदेनैवेति । तत्र शक्तिकल्पनावश्यक्येति भावः । अन्ये तु
कृतिसाध्यताज्ञानं न प्रवर्तकं तदसाध्यत्वेन निश्चिते प्रवृत्तिस्तु न तत इष्टाभावेन वृथा
श्रमजनकत्वेन द्वेषात् । चिकीर्षानुरोधेन तत्र शक्तिकल्पनमावश्यकमन्यथा कृतिसाध्यता-
ज्ञानविरहेण कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छात्मकचिकीर्षानुपपत्तेरिति तु न शङ्क्यम् । लोकत
एव तदनुगमेन चिकीर्षोपपत्तेः । न चानिष्टजनके उदासीने च कष्टं कर्मेति न्यायेन
वृथा श्रमजनकत्वेन द्वेषादेवाप्रवृत्त्युपपत्ताविष्टसाधनताज्ञानस्यापि प्रवृत्तिहेतुतानापत्तिरिति
वाच्यम् । इष्टजनके आन्तरालिकश्रमे द्वेषाभावदशायामप्रवृत्तेः । सर्वसिद्धतया तदनुरोधेन
तज्ज्ञानस्य तद्वेतुत्वादित्याहुः । ननु मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ प्रवृत्तिवारणाय बलवद-
निष्टजनकत्वज्ञानस्यापि प्रवृत्तिहेतुत्वं कल्पनीयं तथा च तत्रापि शक्तिरावश्यक्येति शङ्का
निराकृते-बलवदिति । बलवदुक्त्या यागपाकादेरपि नान्तरीयकालपदुःखजनकतया
यागादौ प्रवृत्त्यनापत्तिर्निरस्ता । द्वेषाभावेनेति । बह्वायाससाध्ये बहुतरदुःखजनकतया
प्रवृत्त्यनापत्त्या बलवदनिष्टजनकत्वज्ञानं न प्रवृत्तिहेतुः । अपि तु तज्जन्यदुःखविषयक-
द्वेषप्रयुक्तस्तद्विषयकद्वेषस्तत्र प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावो हेतुरित्यवश्यमाश्रयणीयम् ।
यागादिजन्यस्वर्गादिफले रागौत्कण्ठेन यागादिजन्यदुःखे द्वेषानुत्पादेन तत्र प्रवृत्तिर्नि-
धत्तुर्हेव । एवं च तद्भावादेव मधुविषसंपृक्तान्नभोजने प्रवृत्तिनिर्वाहे तेनान्यथासिद्धं
बलवदनिष्टजनकत्वज्ञानं न प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । ननु नान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वं
बलवदनिष्टजनकत्वं तज्ज्ञानस्य हेतुस्तथा च न बह्वायाससाध्ये प्रवृत्त्यनापत्तिस्तज्जन्यबहु-
तरदुःखस्यापि बलवत्त्वाभावात् । न चावश्यकद्वेषाभावेन तस्यान्यथासिद्धिरिति वाच्यम् ।
स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशालितयोक्तज्ञानस्य हेतुत्वावश्यकत्वात् । द्वेषाभावदशयां तथाविध-
ज्ञानं विना प्रवृत्त्यापत्तेश्चेत्याशङ्क्य व्यभिचारान्न हेतुत्वं तस्येत्याह-आस्तिके-
त्यादिना । आस्तिकत्वोत्कीर्तनं परकीयसुन्दरीगमने नरकसाधनताज्ञानसत्त्वावश्यकत्वसू-
चनाय तेन तथाविधज्ञानविधुरनास्तिकस्य परकीयकामिनीप्रवृत्तौ न व्यभिचारस्तस्य

प्रवृत्तेर्व्यभिचाराच्च । तस्मादिष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तना । उक्तं च मण्डनमिश्रैः—

‘पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।

प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥’ इति

बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानस्यापि संभवादिति शङ्काव्युदासः । दशायामित्यन्तेन तदभावद-
शायां प्रवृत्तौ नरकाजनकत्वज्ञानस्य भ्रमरूपस्य संभवेन तस्य व्यभिचाराभावेऽपि न
क्षतिरिति सूचितम् । व्यभिचारात् । व्यतिरेकव्यभिचारात् । तथा च नियतान्वयव्यति-
रेकावसिद्धौ क्वाचित्कान्वयव्यतिरेकौ त्वकिञ्चित्करौ तादृशज्ञानं विना द्वेषाभावदशायां प्रवृ-
त्ताविष्टापत्तिश्चेति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । कृतिसाध्यत्वस्य लोकावगतत्वात्
बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वस्य च प्रवृत्त्यनुपयोगादित्यर्थः । इष्टेति । इष्टसाधनत्वमेवात्र
प्रवर्तनात्वेन वाच्यमित्यर्थः । यथाश्रुतं तु न संगच्छते । कृतिसाध्यत्वस्यापि प्रवर्तनात्वात्-
कृतिसाध्यताज्ञानस्य हेतुत्वाभावाभिप्रायको वायं ग्रन्थः । पुंसामिति । पुंसां प्राणिनाम् ।
इष्टाभ्युपायत्वात् । इष्टसाधनत्वं तस्मात् । अन्यः प्रवर्तको न । प्रवर्तकज्ञानविषयो
नापि त्विष्टसाधनत्वमेव तथेत्यर्थः । ननु कथं तस्य प्रवर्तनापदव्यवहार्यत्वमत आह—प्रवृ-
त्तीति । प्रोपसृष्टवृत्तेर्हेतुमणिजन्ताद् भावे युचि निष्पन्नप्रवर्तनापदं प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापारपर-
मिति भावः । अत एव ‘सर्वं इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते’ इति ‘हेतुमति च’ इति सूत्रे भाष्ये
उक्तम् । अत्रेदं बोध्यम् । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो
यज्यर्थः फलं तस्य तदर्थकृत्यादिरूपभावनां प्रति करणत्वेनान्वयः । तस्यामे-
वेष्टसाधनत्वान्वयः । एवं च भावनागतस्येष्टकरणत्वस्य लिङाभिधानेऽपि भावना-
भाव्यनिवर्तकत्वरूपभावनानिरूपितत्यागनिष्ठकरणत्वस्यानभिहिततया समानाधिकरण-
ज्योतिष्टोमादिपदात् तृतीयासिद्धिः । ज्योतिष्टोमादिनामधेयमपि त्यागस्यैव । तद्वष्टि-
तकर्मकलापे तथा व्यवहारस्तु गौणस्तस्य स्वर्गकरणत्वव्यवहारोऽप्येवमेवेति । अयं भावः—
इष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रवृत्तिसामान्ये हेतुत्वात् तस्यैव विधिप्रत्ययार्थत्वमुचितं न तु
लिङादिघटितप्रयोगादिरूपप्रवर्तनायाः । तस्या वाच्यत्वपक्षेऽपि आप्तोक्त्येष्टसाधनत्वमनु-
मायैव प्रवृत्तिरित्यवश्यमभ्युपेयम् । तथा च यजेतेत्यादिवाक्यजन्यबोधोत्तरं सर्वत्र तदनु-
मितितत्साधनसामग्रीकल्पनायामतिगौरवं व्याप्त्यादिमतिविधुराणामनुभवसिद्धप्रवृत्त्यनिर्वा-
हश्च । न चैतन्मते बहुविधायामसाध्यज्योतिष्टोमादौ ज्योतिष्टोमेनेत्यादिवाक्यात् प्रवर्तक-
ज्ञानानिर्वाहः । विशिष्य स्वर्गादिरूपफलसाधनताज्ञानस्यैव तत्रापेक्षितत्वात् यजेतेत्या-
दितश्चेष्टसाधनं यागो यागविषयिणी प्रवर्तनेत्यादिवोधस्यैवोत्पत्तेः स्वर्गत्वाद्यवच्छिन्नसाधन-

तद्वशक्तौ शक्त्यानन्त्यमिति वाच्यम् । तदादिन्यायेनेच्छाविषयत्वावच्छेदकत्वेनोपलक्षणी-
भूतेन स्वर्गत्वादीननुगमय्य तदवच्छिन्ने साधनत्वे शक्तिस्वीकरेणादोषात् । चिकीर्षादि-
नान्यथासिद्धिस्तु न । व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वाभावात् । अन्यथा संनिकर्षेणे-
न्द्रियस्यापि प्रत्यक्षं प्रत्यन्यथासिद्धाकारणत्वोपपत्तेः । स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकितयेन्द्रियं
नान्यथासिद्धमिति चेत् प्रकृतेऽपि तुल्यम् । नन्विदं नेष्टसाधनं तस्मात् त्वं कुर्विति प्रयो-
गानुपपत्तिः । पौनरुक्त्यापत्तेः । न चेदं पौनरुक्त्यमेकान्तत इष्टसाधनत्वबोधनाय । किं
च प्रवर्तनात्वेनेष्टसाधनत्वस्य लिङादिवाच्यतया न पौनरुक्त्यमेवेति वाच्यम् । तस्मादि-
त्यस्यानन्वयापत्तेः । अभेदे हेतुहेतुमद्भावासंभवादिति चेन्न । कुर्वित्यस्यावश्यकर्तव्यार्थक-
तयादोषात् । परमतेऽप्यत्र मया प्रवर्तितोऽतस्त्वमिदं कुर्वित्यत्रेत्यमेव वाच्यत्वाच्च । न च
राज्ञा प्रवर्तितोऽहमित्यादिव्यवहारात् प्रवर्तनाप्रवर्तकपुरुषनिष्ठा सैव विधिप्रत्ययेनोच्यते ।
अत एव विधिनियोग इति वात्स्यायनोऽप्याह । इष्टसाधनत्वं तु न प्रवर्तकपुरुषनिष्ठ-
मिति न तल्लिङादिवाच्यमिति वाच्यम् । इष्टसाधनत्वस्यापि स्वज्ञापनवत्त्वसंबन्धेन प्रवर्तक-
निष्ठत्वाद्विष्टसाधनताज्ञानस्यापि तन्निष्ठत्वात् । प्रवर्त्येष्टसाधनत्वं ज्ञात्वेव वाक्यप्रयोग-
करणात् । लिङाद्यन्तप्रयोगरूपव्यापारस्यापि ज्योतिष्टोमेनेत्यादिप्रवर्तकत्वेदनिष्ठत्वात्तद-
भावाच्च तद्बोधनानुभवाच्च । तथा हि 'हेतुमति च' इति सूत्रे भाष्ये 'पृच्छतु
मा भवानित्यत्र णिच् कस्मान्न भवति' इति प्रश्ने उत्तरम् 'अकर्तृत्वात्' इति । क्रियाविशिष्ट-
प्रेरणायां णिच् 'हेतुमति च' इति सूत्रेण हेतुव्यापारे णिज्विधानात् कर्तुः प्रयोजकस्य
हेतुत्वान्निष्क्रियद्रव्यमात्रप्रेरणायां लोड्डिधानादिति तदाशयः । तदुक्तम्

‘द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छयादेर्लोङ् विधीयते ।

सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः ॥’

इति । प्रयोजनं प्रयोगः प्रेरणमिति यावत् । न च सक्रियस्य प्रेरणा निरर्थकेति वाच्यम् ।
आलस्यादिना विरामाभावशङ्कया तत्सार्थक्यात् । ननु संभाविततत्तत्क्रियाकर्तृत्ववानेव
प्रेष्यते तत्र णिच् प्रत्यय इष्यते तत्प्रयोजक इत्यत्र तत्पदेन व्यापारावेष्ट एव गृह्यते इत्यत्र ना-
ग्रह इत्याशयेन 'अथापि कथंचित् कर्ता स्यादेवमपि न दोषः । लोटोक्तत्वादस्मिन्न भविष्यति'
इति द्वितीयमुत्तरमुक्तं तद्विरोधः । इष्टसाधनत्वस्य लोटोक्तत्वेऽपि तस्य णिजर्थत्वाभावेन
तदसंगतेः स्पष्टत्वादिति वाच्यम् । लोटा प्रवर्तनात्वेन रूपेण प्रवर्तनासामान्यस्योक्तेरित्या-
शयात् । यद्वा लोटोक्तत्वं गम्यमानं तथा च लोडन्तप्रयोगेण शाब्दबोधोत्तरं प्रेरणायाः
प्रतीयमानत्वात् णिजिति तात्पर्यादित्याहुर्मण्डनमिश्रानुयायिनः । अन्ये तु मीमांसकाः
क्षाब्दिदाश्चोक्तभाष्यादिवलात् प्रवर्तनेष्टसाधनत्वातिरिक्तैव लिङाद्यर्थ इति प्रतिपत्ताः । सा

च द्योत्यैव । पचेतेत्यादितो विनापि प्रत्ययं तत्प्रतीतेः । अत एव तस्या धात्वर्थविशेषणत्वम् । द्योत्यत्वेऽपि तस्या विशेष्यत्वमिति तु न । द्योत्यार्थानां विशेषणताया एव 'हेतुमति च' इति सूत्रभाष्यसिद्धत्वेन युक्तत्वात् । किं च तस्या विशेष्यत्वे प्रवर्यस्य प्रधानधात्वर्थव्यापारानाश्रयतयाकर्तृत्वे तत्र पचेतेत्याद्यनुपपत्तिः । किं च स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यादिवाक्यात् प्रवर्तनाविशेषणकस्यैव बोधस्योत्पादेन सर्वत्र तस्या विशेषणत्वस्वीकारस्यैवोचितत्वाच्चेति प्राहुः । यत्तु **प्राभाकरा** आशुतरविनाशिनो यागादेः कालान्तरभाविस्वर्गादिसाधनत्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वाच्चेष्टसाधनत्वं विध्यर्थः । द्वारानुपस्थित्या च न परंपरया साधनत्वस्यापि ग्रहः संभवति । योग्यताज्ञानस्य शाब्दबुद्धिहेतुत्वात् । सा चान्वयप्रयोजकरूपवत्त्वं यथा घटेन जलमाहरेत्यत्र सच्छिद्रेतरघटत्वम् । न चैवमपि साधनत्वसामान्येन बोध उपपद्यत एवेति वाच्यम् । एकविशेषबाधे सामान्यज्ञानस्य तदितरप्रकारकत्वनियमात् । तस्मात् कार्यत्वरूपेणापूर्वं लिङादिशक्यम् । कार्यत्वरूपेण घटादौ शक्तिप्रहायोग्यतावशादपूर्वव्यक्तिलाभः । न हि यागविषयकं कार्यमपूर्वादित्यत्वं संभवति । न च ज्ञानादिकं तादृशं संभवत्येवेति वाच्यम् । कार्ये स्वर्गकामस्य नियोज्यनियोजकभावलक्षणान्वयाङ्गीकारेणादोषात् । तथा हि कामी नियोज्यो नियोजकं कार्यम् । नियोजकत्वं तत्कामिकार्यतया प्रतीयमानत्वम् । अत्रतान्वयप्रयोजकं काम्यसाधनत्वम् । न हि कामी काम्यादन्यत् काम्यासाधनत्वेन ज्ञातं कार्यतयावैति । यागविषयकज्ञानादिकं न काम्यस्वर्गादिसाधनमतो योग्यताबलाद्यागविषयकं कार्यं स्वर्गकामीयं स्वर्गकामो यागविषयकार्यवानिति वा शाब्दानुभवो जायमानोऽपूर्वालम्बनो भवति । एवं च काम्ये क्लृप्तशक्तिर्लिङादिर्नित्यनैमित्तिकयोर्निषेधे वापूर्ववाचकः । फलाश्रवणाच्च तत्र फलालाभः । वैदिककर्मण्युद्देश्यत्वेन बोधितापूर्वमुद्दिश्यैव हि प्रवर्तते । एवं च काम्ये फलावाप्तिरानुषङ्गिकी नित्येऽप्यपूर्वस्योद्देश्यस्य सत्त्वात् प्रवृत्तिः । तस्मात् कृत्युद्देश्यरूपं कार्यमेव शक्यमिति प्रोचुः । अत्र तार्किकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते । अपूर्वस्य वाच्यत्वे मानाभावः । न चोक्तानुगतिरेव मानम् । एकविशेषबाधेऽपि सामान्यरूपेणैव तदितरबोधः । घटेन जलमाहरेत्यत्र हि योग्यतया वस्तुतो यच्छिद्राहितो घटः स घटत्वेनैव बोधविषयो भवति न तु सच्छिद्रेतरत्वविशिष्टघटत्वेन तदुपस्थापकाभावात् । न च लक्षणया घटपदेनैव तेन रूपेणोपस्थितेर्मानाभावात् । न चान्वयप्रयोजकरूपवत्त्वप्रयोग्यताज्ञानस्य हेतुतया तदुपस्थितिरावश्यकतीति वाच्यम् । वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेरेव शाब्दबोधहेतुतया तेन रूपेण भानासंभवात् । उपस्थिताबाधितपदार्थान्तरभानप्रसङ्गाच्च । एवं च साधनत्वसामान्यबोधानुपपत्तिः । ननु तथाप्याशुतरविनाशिनः कालान्तरभाविफलजनकत्वे फलसमयस्यापि व्यापारजनकत्वस्य योग्यतयापूर्वानुपस्थितौ तादृगयोग्यता-

ज्ञानासंभवाद्यागादावपीष्टसाधनत्वं प्रहीतुमशक्यमेवेति चेन्न । द्रवद्रव्यत्वस्य करकाल्म-
जलेऽपि सत्त्वेन तदभिप्रायकपयसासिंचतीतिवाक्यस्यापि योग्यत्वापत्त्या तज्ज्ञानदशायां
सेको नैतज्जलकरणक इति बाधकप्रभानसमयेऽपि तज्जलकरणकशाब्दबोधापत्त्या चान्वय-
प्रयोजकरूपवत्त्वस्य योग्यतात्वानभ्युपगमात् । अपि तु तत्पदार्थे तत्पदार्थवत्त्वस्यैव
तत्त्वाभ्युपगमात् संशयनिश्चयसाधारणतज्ज्ञानस्यैव कारणतया तन्निश्चयासंभवेऽपि संशया-
त्मकतज्ज्ञानस्य धात्वर्थनिष्ठस्यैव प्रवर्तकत्वादपूर्वस्य तथात्वसंभावनापि न तादृशस्य
लोकत एव संभवाच्चेत्याद्युक्तमेवेति । यत्तु निष्फले सन्ध्यावन्दनादौ बाधादिष्टसाधनत्वं
न विध्यर्थ इति तन्न । अप्रवृत्तिमात्रे इष्टसाधनताज्ञानस्य हेतुतया तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न च
वेदबोधितापूर्वोद्देशेनैव प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । तद्रूपमेवेष्टमादायेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थ-
त्वोपपत्तेः । वस्तुतः सुखदुःखाभावान्यतररूपत्वाभावेनेष्टसाधनत्वाभावेन च तदुद्देशेन
प्रवृत्तिर्न संभवत्येव । न च वेदबोधितत्वात्रिष्फलेऽपि प्रवृत्तिः । निष्फलत्वज्ञानदशायां
वेदबोधितत्वज्ञानेऽप्यप्रवृत्तेः । तदुक्तं 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति ।
तस्मात् प्रत्यवायपरिहारः फलं नित्येऽपि भवति । न च

‘अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यद्यव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥’

इति भगवद्गुणाविरोध इति वाच्यम् ।

‘यज्ञो दानं तपः कर्म पावनानि मनीषिणाम् ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥’

इत्यष्टादशाध्याये पावनत्वोक्तेः । सङ्गः कर्तृत्वाभिमानः । तथा चानुद्दिष्टस्यापि प्रत्यवाय-
परिहारस्य फलत्वेन फलानुसंधानं विनापि क्रियमाणस्य पावनत्वं भवतीति भावः । अतः
एव नित्यज्योतिष्टोमादेः स्वर्गादिसिद्धये करणेऽपि नित्यप्रयोगसिद्धिरिति सिद्धान्तः
संगच्छते । नित्यस्य सर्वथा निष्फलत्वनियमे तु तदसंगतिः स्पष्टैव । किं चार्थवादिकमपि
फलं रात्रिसत्रन्यायेन तत्र वक्तुं शक्यम् । रात्रिसत्रे हि ज्योतिर्ज्योतिरित्यादिकश्चान्य-
वाक्यबोधिते प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्तीत्यर्थवादोक्तं प्रतिष्ठात्मकं फलं
स्वीकृतं तद्वदत्रापि

‘सन्ध्यामुपास्ते ये तु सततं संशितव्रताः ।

विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥’

इत्यर्थवादोक्तफलसंभवः । अन्यथा एतस्य

‘एतत् सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मणं यदधिष्ठितम् ।

यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते ॥’

इत्यस्य वचनस्य च वैयर्थ्यापत्तिः । न च स्तावकत्वमात्रेणोपयोग इति वाच्यम् । सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोम इत्येतयोरपि तथात्वापत्तेः । न च चतुर्थीसान्वित्येन फलबोधकत्वम् । ऊर्जोऽवरुध्वै इत्यत्रेवार्थवादत्वेनैवोपपत्तेः । किं च स्तावकत्वेनोपयोगेऽपि स्तुतिवैयर्थ्यं दुर्वारमेव । बहुदुग्धेयं धेनुरिति वाक्याप्रामाण्य-
ज्ञानसत्त्वेन तद्वाक्यादिव प्ररोचनार्था सेति न शङ्क्यम् । प्ररोचनाया एव निष्फलत्वापत्तेः । अर्थवादानामप्रामाण्यं जानतः प्रवृत्त्यसमवेतप्रवृत्तिफलकताया स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । ननु स्वर्गाद्यर्थकतायामप्रामाण्येऽपि तत्तात्पर्यविषयीभूत-
प्राशस्त्ये प्रामाण्यं संभवत्येवेति चेन्न । तत्तत्फलसाधनत्वातिरिक्तप्राशस्त्यस्य कुत्राप्यकल्पनात् तज्ज्ञानस्य प्रवृत्त्यनुपयोगाच्च । तस्मात् स्वार्थे एवैषां प्रामाण्यम-
भ्युपगन्तव्यम् । एवं च सन्ध्याभुपासीतेति विधित इष्टागमेऽपि अवान्तरूपेण बोधनद्वारा शीघ्रोत्पत्तिप्रत्यायनद्वारा वा प्रवृत्तिविशेषसंपत्तिफलका अर्थवादा इति ध्येयम् । अत एव ‘सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात्’ इति सर्वशक्त्य-
धिकरणपूर्वपक्षसूत्रे ‘काम्यं यथा फलोपदिष्टं तथा नित्यमपि’ इत्युक्तं **भट्टाचार्यैः** । न च नित्येऽपि फलजनकत्वस्वीकारे नित्यत्वहानिरिति प्रत्यवायपरिहारातिरिक्तफला-
जनकत्वरूपस्य प्रत्यवायकारणीभूताभावप्रतियोगित्वरूपस्य वा नित्यत्वस्याक्षतत्वात् । काम्यत्वमपि स्यादित्यपि न । इष्टापत्तेः । प्रत्यवायपरिहारातिरिक्तफलजनकत्वमुक्तनित्य-
भित्तत्वविशिष्टफलजनकत्वं काम्यत्वमित्यभ्युपगमाद्वा । ननु यत्रार्थवादिकं फलं नास्ति तत्र प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वं न युक्तम् । दुरितध्वंसरूपस्य तस्य सुखदुःखाभावान्य-
त्वादिष्टाजनकत्वाच्चेच्छाविषयत्वाभावात् । न च प्रत्यवायपरिहारस्य दुःखानुत्पादफलकत्वा-
दिष्टत्वमिति वाच्यम् । प्रागभावरूपस्य तस्योक्तक्रमेणेच्छाविषयत्वरूपफलत्वाभावात् । न च दुःखात्यन्ताभाव एव फलमाप्नोत्विति वाच्यम् । प्रागभावात्यन्ताभावयोर्विरोधेन तदा तस्य तत्रासत्त्वादिति चेन्न । तयोर्विरोधस्य दीधितिकारेणैव तिरस्कृतत्वात् । न च तथापि तस्य नित्यतया तज्जनकत्वासंभवः । स्वस्वव्याप्येतरयावत्कारणसत्त्वे यत्सत्त्वे पदव्यवहितोत्तरक्षणे यत्सत्त्वं यदसत्त्वे यदसत्त्वमित्येवंरूपस्य योगक्षेमसाधारण-
जन्यजनकभावस्य संभवादित्यलं पल्लवितेन । अत एवान्तरा श्यामदशायामत्यन्ताभाव-
विषयक्रो रक्तं रूपं नास्तीति प्रत्यय उपपद्यते । ध्वंसाद्यवलम्बन एवासाविति चेन्न । मध्ये रक्तेऽपि तथाप्रत्ययप्रसङ्गादिति दिक् । न कलञ्जं भक्षयेदित्यादौ नञ्समभिव्याहृत-

लिङादेरनिष्ठसाधनत्वमर्थो नञ् तात्पर्यग्राहको न त्वभावावर्थकः कलञ्जभक्षणादावपि तृत्या-
दिरूपेष्टसाधनत्वसत्त्वेन तदभावस्य बोधयितुमशक्यत्वात् । नापि कलञ्जभक्षणाभाव-
इष्टसाधनमिति बोधः स्वीकर्तुं युक्तः । प्रत्ययार्थप्रकृत्यर्थयोरन्तरा पदार्थान्तरप्रवेशस्याव्युत्प-
न्नत्वात् । नानुपमृद्य प्रादुर्भावादित्यादावप्यारोपितप्रादुर्भावहेतुकत्वबोधस्यैव शब्दतोऽङ्गीका-
रेण न प्रकृतिप्रत्ययार्थमध्यनिवेशो नञर्थोभावस्येति बोध्यम् । प्रादुर्भावाभाव-
हेतुकत्वबोधस्तु मानसः । किं च तथाबोधाङ्गीकारे कलञ्जभक्षणादेर्निवृत्तिजनकज्ञानानु-
त्पादनेन नञ्घटिततादृशवाक्यस्य निवर्तकत्वानुपपत्तिः । न च यदभावो यस्येष्टसाधनतया
बोध्यते तत्तस्यानिष्ठसाधनमिति व्याप्त्या कलञ्जभक्षणेऽनिष्ठसाधनत्वानुमानान्नोक्तदोष-
इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । ग्रीष्मसमये सूक्ष्मकम्बलाद्यभावस्य सुखविशेषजनकत्व-
बोधेऽपि तस्यानिष्ठसाधनत्वाभावात् । सूक्ष्मकम्बलादेः शीतसमयेऽनिष्ठजनकत्वाभावेऽपि
ग्रीष्मकाले दुःखात्मकानिष्ठजनकत्वस्यानुभूयमानतयोक्तव्याप्तेः सुस्थत्वमिति चेत्तथापि
वाक्यस्य साक्षान्निवर्तकज्ञानजनकत्वानिर्बाहः । तथाविधव्याप्तिप्रतिसंधानशून्यस्यानुमि-
त्यनुपपत्तिश्च । किं च विधिनिषेधवाक्ययोस्ताथा सत्येकार्थत्वमेव स्यात् तच्च न युक्तम् ।

‘अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्रमेधयोः ।

दृश्यते तादृगेवेदं विधानप्रतिषधयोः ॥’

इति । अन्यमते इष्टसाधनत्वातिरिक्तप्रवर्तना लिङाद्यर्थः । तन्मते निवृत्त्यनुकूलव्यापार-
रूपनिवर्तना लिङादिः प्रतिपादयति नञ् द्योतकः । नञः स्वसंवन्धिप्रतिपक्षबोधकत्वस्व-
भावात् । अत एवास्तीत्यनेन संबध्यमानो नञ् सत्त्वप्रतिपक्षभूतमसत्त्वं गमयति । परे तु
न कलञ्जमित्यादावारोपितं कलञ्जभक्षणं प्रवर्तनाविषय इति वाच्योऽर्थः । कलञ्जभक्षणा-
भावः प्रवर्तनाविषय इत्युदीच्यो मानसबोधः । ‘तत्तु समन्वयात्’ इति सूत्रभाष्ये
शङ्कराचार्या अपि न ब्राह्मणं हन्यादित्यादौ हन्यर्थानुराग्येष नञ् एष एव नञ्स्वभावो
यत् स्वसंवन्धिनोऽभावबोधनं निषेध्याभावबुद्धिश्च निषेध्यविषयौदासीन्ये कारणमित्याहुः ।
औदासीन्यं निवृत्तिः । प्रवृत्त्यभावसमानाधिकरणो निवर्तत इति पदगम्यः क्रियाविशेषो
निवृत्तिर्न तु प्रवृत्त्यभावस्तस्य प्रवृत्तिरूपतापत्तेः । विनिगमनाविरहात् । तस्मात् प्रवृत्ति-
बन्निवृत्तिरपि पदान्तर्गतैवेति प्राहुः । अन्ये तु पूर्वमुपवर्णितमुदीच्यबोधमेव वाक्यार्थबो-
धमङ्गीकुरुः । एतन्मते नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् पटो न दण्डादित्यादाविव व्युत्पत्तिवैचित्र्येण
प्रकृतिप्रत्यययोरन्तरा नञर्थोभावस्य प्रवेशाङ्गीकारान्नानुपपत्तिः । ननु गङ्गाज्ञानादितोऽपि
स्वर्गोत्पत्तेः पुराणप्रसिद्धतया दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यादिश्रुत्या दर्शपूर्णमासा-
देरपि स्वर्गसाधनत्वबोधे तद्व्यभिचारेण ज्योतिष्टोमादौ तत्साधनत्वबाधात् कथं

तद्वोधनीयमिति चेदत्राहुर्भूषणकारादयः । विजातीयस्वर्गसाधनत्वे एव शक्त्या तादृशस्वर्गसाधनत्वमेव तेन वाक्येन बोध्यते तच्च तत्रावाधितमेव । यद्यपि स्वर्गकामेति समुदायान्तर्गतस्वर्गपदसमुत्थापितस्वर्गसाधनत्वमेव प्रत्यासत्तिन्यायेन लिङ्शक्यमित्यनुमन्यन्ते स्वर्गपदं च स्वर्गत्वेनैव बोधकं न तु विजातीयस्वर्गत्वेनेति नोक्तरीत्या विजातीयस्वर्गसाधनत्वे शक्तिसंभवस्थापि वाक्यान्तरपर्यालोचनसाचिव्येन विजातीयस्वर्गत्वेनेति साधनत्वे मनसोपस्थिते शक्तिग्रहसंभवेन नानुपपत्तिः । ह्यादिपदवन्नानार्थत्वमिष्टमेवेति । रामकृष्णमहाचार्यास्तु न वैजात्यान्तर्भावेण शक्तिरपि तु स्वर्गसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽभावे च खण्डशक्तिस्तादृशावच्छेदकत्वस्य विजातीयस्वर्गसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन लिङ्पदार्थेऽभावेऽन्वयः । तेन वैजात्यस्य पूर्वमनुपस्थितावपि न क्षतिः । उक्तसंबन्धेन स्वर्गसमाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावश्च तादृशावच्छेदकत्वविशेषाभावो न तु तत्सामान्याभावः । स च ज्योतिष्टोमत्वादाववाधित एव तादृशावच्छेदकत्वाभावस्य स्वाश्रयज्योतिष्टोमत्वसंबन्धेन ज्योतिष्टोमादावन्वय इति न पदार्थः पदार्थेनेत्यादिव्युत्पत्तिविरोधः । गुरुधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वपक्षे कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति वाक्याद् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन नञर्थभावेऽन्यन्वयबोधस्याभ्युपगमात् । अत एव यत्किंचिदघटवति न तादृशावाक्यप्रयोगः । अपि चान्वयितावच्छेदिकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वव्युत्पत्तिर्नञ्समभिव्याहारविषयेति न तद्विरोध इति समादधिरे । नव्यतार्किकास्त्वन्यथासिद्धिनिरूपकतानवच्छेदकनियतोत्तरवर्तितावच्छेदकधर्मवत्स्वर्गकत्वमेव स्वर्गकारणत्वं तादृशधर्मश्चोत्तरकाले कल्पो जातिविशेषः शाब्दबुद्धौ नियतोत्तरवर्तितावच्छेदकात्मकसामान्यधर्मेण भासते । तादृशं स्वर्गकारणत्वं च यागेऽवाधितमेव । नियतोत्तरवर्तितावच्छेदकत्वं च हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नतद्व्यापारान्यतराभावाधिकरणताविशिष्टोत्पत्तिक्षणावच्छिन्नाधिकरणतानिरूपकतानवच्छेदकत्वम् । अधिकरणतावैशिष्ट्यं च स्वावच्छेदकक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणावच्छिन्नस्वाश्रयनिष्ठत्वसंबन्धेन । भवति हेतादृशं दण्डनियतोत्तरवर्तितावच्छेदकत्वं घटत्वे उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नकपालनिष्ठघटाधिकरणतायां दण्डत्वावच्छिन्नतद्व्यापारान्यतराभावाधिकरणतावैशिष्ट्येनोक्तसंबन्धेनापि तूत्पत्तिक्षणावच्छिन्नघटाद्यधिकरणतायामेव तन्निरूपकतानवच्छेदकत्वस्य घटस्थे स्वस्थत्वात् । अथवा स्वर्गनिष्ठधर्मावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वमेव स्वर्गकारणत्वम् । नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वं च स्वर्गनिष्ठधर्मावच्छिन्नाव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन तदधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपदैशिकव्यापकतायाः स्वाश्रयत्वस्वाश्रयनिरूपितव्यापारत्वान्यतरसंबन्धेनावच्छेदकत्वम् । अन्यतरसंबन्धेन तथाविधव्यापकतावच्छेदकत्वं च तेन

प्रपञ्चितं चेत्तद् वैयाकरणभूषणे । आदिना 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति सूत्रोक्ता हेतुहेतुमद्भावादयो गृह्यन्ते । 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयात्' इति यथा ।

संबन्धेन तथाविधव्यापकतानतिरिक्तवृत्तित्वादिरूपं बोध्यम् । ज्योतिष्टोमत्वादेः स्वाश्रय-
निरूपितव्यापारत्वसंबन्धेनादृष्टात्मकव्यापारगततादृशव्यापकतावच्छेदकत्वसत्त्वात् स्वर्गनिष्ठ-
धर्मावच्छिन्ननिरूपितनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वं निराबाधमेव । एतेन नियतोत्तरत्वाद्युक्त-
कारणत्वस्य विध्यर्थतामते यागधर्मिकतादृशकारणताग्रहस्य प्रवृत्तिहेतुताभ्युपगन्तव्या ।
तदपेक्षया तद्व्यष्टकनियतोत्तरवर्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मकायागसाध्यत्वप्रकारकस्वर्गधर्मिक-
ज्ञानस्य हेतुत्वे तादृशसाध्यत्वस्य विध्यर्थत्वे च लाघवमितीष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वं
प्रवृत्तिप्रयोजकत्वं च भज्येतेति दूषणं निरस्तम् । व्यापकताघटितकारणतायाः
साध्यताघटिततया लाघवेन प्रवर्तकत्वादिसंभवात् तादृशसाधनताशरीरे व्यापकता-
वच्छेदकत्वेनैव कारणतावच्छेदकस्य प्रवेशात् । यत्र तस्य विशिष्यानुपस्थितिः कारणं
च न्यूनवृत्ति नातिप्रसक्तेन वा धर्मेणोपलक्षितं तत्र शब्दात् कारणत्वग्रहानुपपत्तिः । ननु
तथापि तद्वर्त्मप्रकारकेच्छाधीनः प्रवृत्तिस्तद्वर्माभावसाधनतावच्छिन्ननिरूपितसाधनताधीप्रयो-
जिका । ज्योतिष्टोमेत्यादिवाक्यात् स्वर्गत्वोपलक्षितवैजात्यावच्छिन्ननिरूपितसाधनताज्ञानस-
त्त्वेऽपि स्वर्गत्वावच्छिन्ननिरूपितज्ञानविरहेण स्वर्गत्वप्रकारकेच्छाधीनप्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति
चेन्न । वह्नित्वादिप्रकारकेच्छापि तृणादिसमवधाने भ्रान्तप्रवृत्तेरानुपपत्तिकत्वाद् भूयःसुखा-
र्थिनामपि भ्रान्तिरहितानां क्रियाविशेषे प्रवृत्तेश्च तद्वर्त्मप्रकारकफलेच्छाधीनवृत्तौ तद्वर्त्म-
प्रकारेण भासमाननिरूपितसाधनताज्ञानस्यैवापेक्षितत्वात् । न हि वह्नित्वादिकं तृणादि-
जन्यतावच्छेदकम् । तृणादिकं विनापि जायमाने वह्नौ सत्त्वात् । भूयस्त्वादिकमर्थवशसंपन्न-
तया न कस्यापि जन्यतावच्छेदकत्वं घटत्वावच्छिन्नेऽपि तन्त्वादौ प्रवर्तते तन्त्वादेरपि घट-
त्वाद्युपलक्षितजन्यसत्त्वादिविशिष्टनिरूपितद्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनतावत्त्वादिति न शङ्क्यम् ।
फलानुप्रधाननिश्चयस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धकत्वात् फलोपधायकतात्मकसाधनत्वस्य लिङादि-
शक्यतया न घटकामस्तन्तुमुगददीतेति प्रयोग इति प्राप्नोति कृतं पल्लवैः । 'हेतुहेतुम-
तोर्लिङ्' इत्यस्योदाहरणमाह-यो ब्राह्मणायेति । अवगोरणं हननार्थं दण्डाद्युद्यमनम् ।
ब्राह्मणायेति पत्ये शेते इतिवत् संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । तथा च यत्कर्तुं ब्राह्मणोद्देश्यकं
दण्डाद्युद्यमनं तद्वेतुकतादृशपुरुषकर्मकयमद्वूतकर्तृकशतयातना इति वाक्यार्थबोधः । कारक-
विशिष्टतादृशक्रियाया यातनारूपक्रियायां हेतुहेतुमद्भावसंबन्धेनान्वयो न तु हेत्वाद्यर्थ-

लुङ्गर्थासाह—भूतमात्र इति । भूतसामान्य इत्यर्थः । भूत इत्यधिकृत्य 'लुङ्' इति सूत्रात् । अत्र विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम् । तच्च क्रियायां निर्वाधमिति विद्यमानेऽपि घटे घटोऽभूदिति प्रयोगः । विद्यमानध्वंसप्रतियोगी घटभिन्नाश्रयक उत्पत्त्याद्यनुकूलो व्यापार इति बोधः । अयमत्र संग्रहः—कालो द्विविधः । अद्यतनोऽनद्यतनश्च । आद्यस्त्रिविधः । भूतभविष्यद्वर्तमानभेदात् । अन्त्यो द्विविधः । भूतो भविष्यश्च । तत्र वर्तमानत्वे लट् । भूतत्वमात्रे लुङ् । भविष्यन्मात्रे लृट् । हेतुहेतुमद्भावाद्यधिकार्थविवक्षायासनयोर्लुङ् । अनद्यतने

कत्वं लिङः । हेतुहेतुमद्भूतक्रियार्थकधातोर्लिङिति सूत्रार्थात् । तेन संबन्धेनान्वयबोधे तात्पर्यग्राहकत्वेनैव सूत्रस्य सार्थक्ये तत्र शक्तिकल्पनायोगात् ।

भूतमात्रे इति । मात्रशब्दोऽवधारणे इत्यभिप्रेत्याह—भूतसामान्य इति । भूतत्व-
पसामान्यधर्मेण विवक्षायां न तु विशेषरूपेण विवक्षायामित्यर्थः । तत्र मानसाह—भूते इत्य-
धिकृत्येति । क्रियायामित्युपलक्षणम् । क्रियाधिकरणसमये इत्यपि बोध्यम् । भूतत्वस्य समान-
प्रत्ययोपात्ते कर्त्रादेवान्वयोऽस्त्वित्याशङ्कां निराकर्तुमाह—विद्यमानेऽपीति । अभूदिति
प्रयोग इत्युपपन्न इति शेषः । विद्यमानध्वंसप्रतियोगिसमयवृत्तित्वरूपभूतत्वस्य प्रत्ययार्थत्वपक्षे
तु पूर्वं स्थले अभूद् घट इत्युत्पत्त्यर्थकप्रयोगनिर्वाहेऽपि विद्यमानत्वे सत्तार्थकतादशप्रयोगोऽपि
स्यात् । वर्तमानध्वंसप्रतियोगिसमयवृत्तित्वस्य तदानीं घटे सत्त्वात् क्रियायां तदन्वये तु
न दोषः । घटकृतृकात्मधारणानुकूलयावद्द्रव्यव्यापारसमूहे तस्यासत्त्वात् । तादृशभूतत्वस्य
बुद्धिस्थधानुवाच्ययावदवयवसमूहे एवाधाराधेयभावसंबन्धेनान्वयाभ्युपगमात् । उत्पत्ते-
स्तात्पर्यविषयत्वेऽप्युत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे घटोऽभूदिति प्रयोगानुपपत्तिर्द्रव्या कर्त्रादाव-
न्वयाभ्युपगमे । इति बोध इति । तादृशसमयवृत्तित्वं भूतत्वमिति पक्षे विद्यमानध्वंस-
प्रतियोगिसमयवृत्तिरित्याद्याकारको बोधोऽवसेयः । अयमत्रेति । अद्यं बुद्धिस्थो वक्ष्य-
माणः । संग्रह इत्यस्य द्रष्टव्य इत्यनेन संबन्धः । आद्य इति । अद्यतन इत्यर्थः ।
भेदादिति । तथा चाद्ये अपाक्षीद् देवदत्तः पचति पक्ष्यतीति धिविधप्रयोगोऽपि
दृश्यते । अन्त्योऽनद्यतनः । अनयोर्भूतभविष्यत्कालयोः । लुङिति । 'लिङ्निमित्ते—'
इति सूत्रेण भविष्यति भूते च तादृशे लृङ्विधानात् । तत्त्वेन विवक्षिते इति ।
भूतत्वेन विवक्षिते इत्यर्थ इति केचिद् श्रुते । वस्तुतस्तु भूतत्वस्थेवानद्यतनत्वस्यापि
बोधस्यानुभवसिद्धतयानद्यतनभूतत्वेन विवक्षित इत्येव व्याख्योचिता । अन्यथा
भूतत्वेऽपि शक्तिर्न सिध्येत् । वस्तुगत्या तादृशभूतकालवृत्तिर्या क्रिया तदर्थकधातोर्लुङ्

भूते तत्त्वेन विवक्षिते लङ् । तत्रैव परोक्षत्वविवक्षायां लिट् । तादृशे भविष्यति लुट् इति द्रष्टव्यः ।

लृङ्मह-सत्यामिति । क्रियाया अतिपत्तिरनिष्पत्तिस्तस्यां गम्यमानायाम् । भूते भाविनि हेतुहेतुमद्भावे सति लङ्निमित्तः । 'लङ्निमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ' इति सूत्रात् । लिङ्गे निमित्तं हेतुहेतुमद्भावादि । यथा सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् सुभिक्षमभविष्यत् । वह्निश्चेत् प्राञ्जलिष्यदोदनमपक्ष्यदि- इत्यर्थस्वीकारेणैवातिप्रसङ्गाभावात् युक्त्यन्तरमिति प्रागुक्तमनुसंधेयम् । तत्रैव अन- द्यतनभूतत्वे विवक्षिते सत्येव । तादृशे भविष्यतीति । अनद्यतनभविष्यतीत्यर्थः ।

भूते भाविनीति । हेतुहेतुमद्भावे हेतुहेतुमद्भावादौ सति भूतकाले भविष्यत्काले इत्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह- 'लङ्निमित्ते' इत्यादिना । सुवृष्टिरिति । सुवृष्टिभवनं सुभिक्षभवनस्य हेतुः सुभिक्षभवनं हेतुमदिति तत्समर्पकाभ्यामुभाभ्यामापि धातुव्याक्तिभ्यां लङ् । हेतुहेतुमद्भावः स्वरूपसन्निमित्तं न तु तत्रापि शक्तिः शाब्दबोधेऽभावात् । एवं क्रियानिष्पत्तिरपि मानान्त- रगम्या न तु वाच्या । ननु सुवृष्टिभवनसुभिक्षभवनयोः साधनवैकल्याभियतानुत्पत्तिः स्वयम- वगत्य प्रतिपाद्यते तत्र भविष्यत्वादेवानुत्पत्तिः । उत्पन्न एव सत्त्वादिक्रमेण भूत इत्युच्यते । सामग्रीसमवधाने संभावितोत्पत्तिकश्च भविष्यन्नित्युच्यते । अत्र च साधनाभावात् संभावि- तापि न तदुत्पत्तिरिति चेन्न । अभूते अभविष्यति इत्यपि भूतत्वभविष्यत्त्वे आरोप्येते निषेध- प्रतियोगित्वायेति दोषाभावात् । सुभिक्षभवने हेतुं सुवृष्टिभवनं संभावयत एव हि तदुक्तिः । एवं हि क्रियानिष्पत्तिः प्रतिपादिता भवति । अत्र भूतत्वाद्यभावनिश्चयसत्त्वेऽपि भूतत्वादिप्र- कारकबोध आहार्यारोपात्मक एवावश्यमभ्युपेतव्यः । अन्यथा गत बाधनिश्चयस्य शाब्दबोधं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वे त्वनाहार्यारोपात्मकोऽपि संभवति । युक्तं चैतत् । अन्यथा मुखं चन्द्र इत्याद्यभेदरूपकादौ प्रहसनादौ च बाधनिश्चयसत्त्वेऽप्यनुभवसिद्धशाब्दबोधापलापपत्तिः । कलहादौ मिथ्याभिलाषापवचनाच्छाब्दबोधानुपपत्तिश्च । तत्र शाब्दबोधानुगमे क्रोधानुप- पत्तिः । एवमेष वन्ध्यासुतो यातीत्यादिवाक्याच्छाब्दबोधानुपगमे सहृदयाह्लादानुपपत्तिः । ननु मुखं चन्द्र इत्यादौ चन्द्रादिपदं चन्द्रादिसदृशे लाक्षणिकं तस्य चाभेदोऽबाधित एव मुखे बोध्यते । एवं मिथ्याभिलाषापस्थले एष वन्ध्यासुत इत्यादौ च शब्दात् पदार्थोपस्थितौ मानसो विशिष्टबोधस्तेन क्रोधादेर्नानुपपत्तिरिति चेन्न । एवं हि चन्द्रसदृशं मुखं चन्द्रो मुखमिति वाक्ययोरनुभवसिद्धविलक्षणबोधजनकत्वानुपपत्तिः । अभिलाषापवचनादिस्थले मानसबो- धाङ्गीकारे सर्वत्रैव तथात्वापत्तौ शब्दप्रामाण्योच्छेदापत्तेश्च । अत एव खण्डनकृताप्युक्तम्

१ भूतत्वेन विवक्षिते D. २ द्रष्टव्यम् P., A. ३ सूत्रणात् A., D₁, D₂.; सूत्रस्मरणात् D₃. ४ लङ्निमित्तं D₄.

त्यादौ । अत्र बह्व्यभिन्नाश्रयकप्रज्वलनानुकूलव्यापाराभावप्रयुक्त ओदनाभिन्ना-
श्रयकविक्रित्यनुकूलव्यापाराभाव इति शाब्दबोध इतिरीत्या द्रष्टव्यम् ।
अयं चार्थनिर्देश उपलक्षणम् । अर्थान्तरेऽपि बहुशो विधानदर्शनात् । प्रसि-
द्धत्वादेःपेवार्थेषु शक्तिरन्यत्र लक्षणेति मतान्तररीत्या ^१वोक्तम् । एतेषां क्रमनि-
यामकश्चानुबन्धक्रम एव । अत एव पञ्चमो लकार इत्यनेन मीमांसकैर्लङ्
व्यवह्रियत इति दिक् ॥ २३ ॥

इति ^२श्रीवैयाकरणभूषणसारे लकारविशेषार्थ-
निरूपणं ^३संपूर्णम् ॥

‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि ।’

इति । न चैवं योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वानुपपत्तिः । इष्टापत्तेः । न चैवं सेको
बह्विकणकः इति बाधनिश्चयसत्त्वेऽपि शाब्दबोधापत्तिः । इष्टापत्तेः । शाब्द बोधं प्रति
बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वमनङ्गीकुर्वद्भिर्योग्यताज्ञानस्य हेतुतां स्वीकुर्वद्भिः परैरप्याहा-
र्ययोग्यताज्ञानात्तत्र शाब्दबोधाङ्गीकाराच्च । न चैवं सति प्रवृत्तिरापादनार्हा बाधनिश्चयेन
तत्र बोधेऽप्रामाण्यज्ञानजननेनागृहीताप्रामाण्यकज्ञानस्यैव प्रवृत्तिजनकत्वादित्यलं पल्ल-
वितन । लङ्समभिव्याहारे धातोर्लङो वाभावोऽप्यर्थः । अभावे धात्वर्थव्यापारस्या-
न्वयः । अभावयोश्च प्रयोजकभावसंबन्धेनान्वय इत्यभिप्रेत्याह-अत्र बह्व्यभिन्नेति ।
अर्थान्तरेऽपीति । यथा ‘लट् स्मे’ इत्यादिना भूतादावपि लडादेर्दर्शनादित्यर्थः ।
दर्शनान्तररीत्येति । स्वमते तु सर्वस्मिन्नुक्तेऽर्थे शक्तिरेव न तु लक्षणेति बोधयितुं
दर्शनान्तररीत्येत्युक्तम् । प्रसङ्गाल्लडादिक्रमनियामकमाह-एतेषामिति । एतेषां लका-
राणाम् । अनुबन्धक्रम एवेति । अनुबन्धानाम् । अकाराद्यनुबन्धानाम् । उक्तेऽर्थे
मीमांसकव्यवहारमपि प्रमाणयति-अत एवेति । इति एवादौ तु न गणिता ‘वर्तमाने
लट्’ इत्यादिना पाणिनिना टितामेव निर्देशात् । लकारेति । लकारविशेषाणां लडा-
दीनामर्थ इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारव्याख्यायां लकारविशेषार्थ-
निरूपणं समाप्तम् ॥

१ दर्शनान्तररीत्या Com. २ चोक्तं D₂. ३ P. has श्रीकौण्डिन्यविरचिते before it ;
श्रीमद्वैया D₂. ४ समाप्तम् D₂, P.

अथ सुवर्थनिर्णयः ।

सुवर्थमाह—

आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः संबन्धः शक्तिरेव वा ।

यथायथं विभक्त्यर्थः सुपां कर्मेति भाष्यतः ॥ २४ ॥

द्वितीयातृतीयासप्तमीनामाश्रयोऽर्थः । तथा हि 'कर्मणि द्वितीया' तच्च

सुवर्थमाहेति । पदत्वप्रयोजकतित्थनिरूपणानन्तरं तत्प्रयोजकसुवर्थनिरूपणमिति भावः । ननु द्वितीयादीनां 'कर्मणि द्वितीया' इत्याद्यनुशासनबलात् कर्मादीनां तदर्थ-
लाभोऽनाश्रये विन्यभावादित्याशङ्कामपनिनीपुराह—तथा हीत्यादिना । तच्चेति । तत्
कर्म । चकारस्वर्थे । कर्तुरीप्सिततममिति । 'कर्तुरीप्सिततमम्—' इति सूत्रेण
तस्य कर्मसंज्ञाविधानात् । नन्वभिप्रेतरुढेप्सितशब्दात्तमन्यतिशयिताभिप्रेतरूपार्थ एव
लभ्यते नाश्रय इत्याशङ्क्याह—क्रियाजन्येति । तथा चाग्नेतेः संबन्धार्थकात् सन्न-
न्तात् कर्मणि वर्तमानकाले 'मतिदुष्टिपूर्वार्थेभ्यश्च' इति क्तान्त ईप्सितशब्दः क्रियाशब्द
उपात्तो नाभिप्रेतार्थको रुढशब्दः । तथा सति पयसौदनं भुङ्क्ते इत्यादौ पयआदेरपि
कर्मसंज्ञापत्तिः । विशिष्टभोजनस्याभिप्रेतत्वेन तस्यानभिप्रेतत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अत
एव कृतभोजनोऽपि पयोऽलोमेच्छया भोजने प्रवर्तते इति लोकसिद्धमेव । क्रियाशब्दादेरे
तु प्रकृष्टोपकारकत्वमात्रविधवायां क्रियाजन्यफलाश्रयत्वेऽपि तत्त्वेनानुद्देश्यतया न कर्म-
त्वापत्तितादवस्थ्यम् । स्पष्टं चेदं प्रकृतसूत्रभाष्यादौ । 'वारणार्थानाम्—' इति सूत्रभाष्ये
चायं क्रियाशब्द इति स्पष्टम् । 'कर्तुरीप्सिततम्—' इत्यत्र कर्तुरिति 'तस्य च वर्तमाने'
इति कर्तारं षष्ठी । तथा च कर्तुः समभिव्याहृतधात्वर्थव्यापाराश्रयस्याप्तुं संबद्धमिष्टतमं
कारकं कर्मसंज्ञमिति सूत्रार्थः । कर्तुः संबन्धश्च कर्तृपदार्थविशेषणीभूतक्रिया-
द्वारक एव ग्रहीतुमुचितः । उपस्थितत्वात् । स च तज्जन्यफलाश्रयत्व-
रूपः । तथा चेप्सिततमत्वं तादृशव्यापारप्रयोज्यसमभिव्याहृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वं
पर्यवसन्नम् । प्रयोज्यत्वनिवेशो दुष्टादेर्विभागाद्यनुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकत्वे पयआदेः
कर्मत्वसिद्धिफलक इत्यन्यत्र विस्तरः । ननु क्रियाघटितक्रियाप्रयोजकत्वादिसंबन्धस्य
कारकान्तरेऽपि सत्त्वे कथं तथाविधफललाभोऽत आह—क्रियाजन्येति । संज्ञान्तर-
विधानादिद्वानुरोधाच्चोक्तसंबन्ध एव गृह्यते इति भावः । अथवा ननु सना इच्छया
बोधनादीप्सिततमपदेन तादृशफलवत्त्वेनोद्देश्यस्यैव लाभात् क्रियाजन्यफलाश्रयमात्रो-

कर्तुरीप्सिततमं क्रियाजन्यफलाश्रय इत्यर्थः । क्रियाजन्यफलवत्त्वेन कर्मण एव कर्तुरीप्सिततमत्वात् । 'तथा युक्तं चानीप्सितम्' इत्यादिसंग्रहाच्चैवमेव युक्तम् । ईप्सितानीप्सितत्वयोः शाब्दबोधे भानाभावेन संज्ञायामेव तदुपयोगो न तु वाच्यकोटौ तत्प्रवेशः । तथा च क्रियायाः फलस्य धातुनैव लाभादनन्यलभ्य आश्रय एवार्थः । तत्त्वं चाखण्डशक्तिरूपमवच्छेदकम् । ओदनं पचतीत्यत्र विक्रित्याश्रयत्वात् कर्मता । घटं करोतीत्यत्रोत्पत्त्याश्रयत्वात् । उत्पत्तेर्धात्वर्थत्वात् । जानातीत्यत्रावरणभङ्गरूपज्ञाधात्वर्थफलाश्रयत्वात् । अतीतानागततादिपरोक्षस्थलेऽपि ज्ञानजन्यस्य तस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा यथापूर्वं न जानामीत्यापत्तेः । अतीतादेराश्रयता च विषयतया ज्ञानाश्रयताया नैयायिकानामिव

क्तिरसंगतेत्याशङ्क्याह-क्रियाजन्येति । कर्मण एव । तादृशफलाश्रयस्यैव । तथा च तादृशफलवत्त्वेन कर्तुरेदृश्यत्वं तादृशसंज्ञायामेवोपयोगि न तु वाच्यकोटौ तस्यान्तर्भाव इति भावः । तत्र युक्तिमाह- 'तथा युक्तं च—' इति । इत्यादि इत्यादिपदाद् 'गतिबुद्धि—' इत्यादेः परिग्रहः । एतत्सूत्रविहितकर्मसंज्ञिकसाधारण्यार्थं तादृशफलाश्रय एव द्वितीयादेः शक्तिरिति भावः । संग्रहादिति । फलस्यापि हेतुत्वेन विवक्षायां पञ्चमी । एवमेव । द्वितीयादेरुक्तार्थकत्वकल्पनमेव । ईप्सादेः शाब्दबोधे भानेनैवमेव युक्तमित्युक्तमित्याशङ्क्याह-ईप्सितेति । ईप्सितत्वानीप्सितत्वयोरित्यर्थः । ननु तथापि क्रियाजन्यफलविशिष्ट एवाश्रये शक्तिर्लभ्यते न तु केवलाश्रय इत्याशङ्कां निराकरोति- तथा चेत्यादिना । तथा च क्रियाजन्यफलाश्रयस्य कर्मत्वे च । परे तु तादृशफलाश्रयत्वे- नेच्छोद्देश्यत्वस्यापि वाच्यत्वमावश्यकमत एव पयसौदनं भुङ्क्ते इत्यादौ तथाविधफलाश्रयस्यापि पयआदेस्तादृशोद्देश्यत्वविरहान्न कर्मत्वमिति प्राहुः । नन्वाश्रयत्वस्य निरूपकादिभेदाद् भेदेन शक्त्यानन्तर्यं स्यादित्यत आह-तत्त्वं चेति । आश्रयत्वं चेत्यर्थः । शक्तेर्भेद एवेति भाष्यसिद्धान्ते त्वाश्रयतात्वेनाश्रयतानामनुगतो बोध्यः । नव्यमते तु कर्मत्वरूपशक्तिमत्त्वेनाश्रयः शक्य इति ध्येयम् । उत्पत्त्याश्रयत्वादित्यादौ कर्मते- त्यस्यानुपपन्नान्वयः । उत्पत्तेर्धात्वर्थत्वादिति । निरूपितमेतत् प्राक् । जानात्या- देर्ज्ञानादिमात्रार्थकतया घटादेः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वाभावात् कर्मत्वानुपपत्तिरित्याशङ्कां पूर्वोक्तावरणभङ्गासूत्रकूलव्यापारार्थकतामाश्रित्य परिहरति-जानातीत्यत्रेति । घटं जानातीत्यादवित्यर्थः । घटादेरिति शेषः । अतीतानागतयोः फलाश्रयत्वानुपपत्तिः । असत् आश्रयत्वाभावात् । न च ज्ञानसमये तज्जन्यावरणभङ्गस्यातीतादिघटेऽस्तत्वेऽपि

सत्कार्यवादसिद्धान्ताद्वोपपद्यत इति । उक्तं च

‘तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता ।

लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते ॥’ इति ॥

ननु चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामस्येव चैत्रस्यापि क्रियाजन्यग्रामसंयोगरूपफलाश्रयत्वात् कर्मतापत्तौ चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यापत्तिः । प्रयागतः काशीं गच्छति चैत्रे प्रयागं गच्छतीत्यापत्तिश्च । क्रियाजन्यसंयोगस्य काश्यामिव विभागस्य प्रयागेऽपि सत्त्वादिति चेन्न । ग्रामस्येव चैत्रस्यापि फलाश्रयत्वेऽपि तदीयकर्तृसंज्ञया

तद्वटादिसमयावच्छेदेन तदाश्रयत्वमक्षतमेवेति वाच्यम् । व्यापारस्य स्वशून्यकालोत्तरकालिकत्वारम्भकत्वासंभवात् । एवं स्वपूर्वकालिकफलारम्भकत्वसंभवाच्च कार्याव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिन एव फलारम्भकत्वादित्याशङ्कां परिहरति-अतीतेत्यादिना । कालान्तरे फलारम्भकत्वासंभवेऽपि व्यापारेण स्वाव्यवहितोत्तरकाल एवोत्पादितावरणभङ्गात्मकफलाश्रयता स्वीक्रियते नैयायिकैरुक्तानागतयोर्विषयतया ज्ञानाश्रयता यथाज्ञोक्रियते तथेति भावः । अन्यथा यथापूर्वं न जानामीत्यस्य मतद्वयेऽप्यापत्तिः । तदानीं तत्रावरणभङ्गस्य ज्ञानस्य च स्वरूपविषयतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकामावसत्त्वात् । आवरणभङ्गे ज्ञाने चाधेयत्वविषयितासंबन्धावच्छिन्नस्यातीतघटादेर्भावस्य सत्त्वाच्च नवाकारकविशिष्टक्रियाभावप्रतिपादनमिति स्वमते आवरणभङ्गाद्यभाववोधासंभवेऽपि तदभावप्रयुक्तकारकविशिष्टक्रियाया आरोपितक्रियाया बोधसंभवात् तादृशप्रयोगापत्तिः । तत्र विषयतासत्त्वेऽपि विषयतया ज्ञानाश्रयत्वे विवादादाह-सत्कार्येति । अत एव घटो जायत इत्यत्र घटस्य क्रियाजनकत्वरूपं कारकत्वं कर्तृत्वं चोपपद्यते । अन्यथास्तस्तदनुपपत्तिः । तत्र भर्तृहरिसंमतिमाह-उक्तं चेति । सैव । तिरोभावरूपेव । नास्तिता । नष्टता । लब्धेति । लब्धः क्रमो येन तादृशे तिरोभावे सतीत्यर्थः । लब्धक्रम इत्यनेन व्यापाररूपतावेदिता । प्रतीयत इत्यनेन प्रतीतिः प्रमाणत्वेनोक्ता । तिरोभावो नाम सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेवं च तत्रावरणभङ्गाश्रयत्वस्य नानुपपत्तिः । एवमनागतेऽपि द्रष्टव्यम् । फलाश्रयत्वादिति । तदाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वादित्यपि बोध्यम् । विभागस्य प्रयोगेऽपीति । फले धातृपातत्वानिवेशाद् विभागरूपफलशालित्वात् प्रयागस्यापि कर्मत्वापत्तिरिति भावः । कर्मसंज्ञाया बाधेनेति । परत्वाद् बाधेनेत्यर्थः । आकडारीयत्वात्

कर्मसंज्ञाया बाधेन चैत्रश्चैत्रमिति प्रयोगासंभवात् । द्वितीयोत्पत्तौ संज्ञाया एव नियामकत्वात् । अन्यथा गमयति कृष्णं गोकुलमित्यत्रेव पाचयति कृष्णेन-
त्यत्रापि कृष्णपदाद् द्वितीयापत्तेः । शाब्दबोधश्चैत्रश्चैत्रमित्यत्र स्यादिति चेन्न ।
तथाव्युत्पन्नानामिष्टापत्तेः । उच्यतां वा प्रकारतासंबन्धेन धात्वर्थफलविशेषक-
बोधं प्रति धात्वर्थव्यापारानधिकरणाश्रयोपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावान्तरम् ।
प्रकृते चैत्रस्य व्यापारानधिकरणत्वाभावाच्च दोषः । प्रयागस्य कर्मत्वं तु
संज्ञयोरपि बाध्यबाधकभाव इति भावः । ननु फलाश्रयत्वकर्मसंज्ञयोर्मध्ये संज्ञाया एव
नियामकत्वमित्यत्र किं बीजं किं च संज्ञानियामकत्वेनावश्यकतादशफलाश्रयत्वस्यैव
द्वितीयानियामकत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह—द्वितीयोत्पत्ताविति । फलाश्रयत्वस्य न्या-
मकत्वे दूषणमाह—अन्यथेति । कृष्णपदाद् द्वितीयापत्तेरिति । कृष्णस्य पाच-
यति धात्वर्थव्यापारप्रयोज्यविक्रित्यनुकूलव्यापारात्मकफलाश्रयत्वाद् द्वितीयान्तस्य साधुत्वं
स्यादित्यर्थः । अणिजन्तधात्वर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वस्यैव द्वितीयानियामकत्वाभ्युप-
गमात्रेयमापत्तिरिति शङ्कानिराकरणाय गमयति कृष्णमित्यादिदृष्टान्ताभिधानम् । तथा
च पूर्वोक्तरीत्यभ्युपगमे गमयति कृष्णमित्यत्रापि द्वितीयान्तस्य साधुत्वं न स्यादिति भावः ।
ननु नोक्तस्थले द्वितीयान्तस्य साधुत्वमापादयामि किं तु तादृशप्रयोगाच्छाब्दबोधमित्या-
शङ्कामिष्टापत्त्यापहरति—शाब्दबोध इति । शाब्दबोधश्चैत्रकर्तृकं चैत्रकर्मकं गमन-
मित्याद्याकारकः शाब्दबोधः । चैत्रश्चैत्रमित्यत्रेति । चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यत्रेत्यर्थः ।
तथाव्युत्पन्नानामिति । तस्मिन् वाक्ये तादृशबोधजनकत्वग्रहवतामित्यर्थः । तादृश-
वाक्यादुक्तः शाब्दबोधो नानुभवसिद्ध इत्यत इष्टापत्तिरयुक्त्याशङ्क्य परिहरति—
उच्यतां वेति । स्वीक्रियतामित्यर्थः । प्रकारतासंबन्धेनेति । प्रकारतासंबन्धः
कार्यतावच्छेदकः कारणतावच्छेदकसंबन्धस्तु धात्वर्थव्यापारानधिकरणाश्रयनिष्ठविशेष्यता ।
तथा च प्रकारतासंबन्धेन तादृशफलबोधे तादृशविशेष्यतासंबन्धेन विभक्तिजन्योपस्थितिः
कारणमिति कार्यकारणभावः पर्यवसन्नः । धात्वर्थव्यापारानधिकरणेत्यादिग्रन्थश्चोक्तसं-
बन्धप्रदर्शक एव । चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामरूप आश्रये तादृशविशेष्यतासंबन्धेन
द्वितीयाजन्योपस्थितिरास्ति । अतस्तत्र धात्वर्थसंयोगरूपफलस्य प्रकारतासंबन्धेन बोध-
निर्वाहः । उपस्थितौ विभक्तिजन्यत्वनिवशाद् गम्यमानो ग्राम इत्यत्र नान्वय-
व्यभिचारः । चैत्रश्चैत्रमित्यत्रातिप्रसङ्गव्यावृत्तिं दर्शयति—प्रकृते चैत्रस्येति ।

१ A. and D₃ have द्वितीयार्थोपपत्तिप्रकारकबोधं प्रति धात्वर्थव्यापारव्यधिकरणफलस्य
पातुजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावान्तरम् for प्रकारता—कार्यकारणभावान्तरम्. २ चैत्र-
निष्ठसंयोगस्य तदीयव्यापा° A., D₃. ३ व्यापारव्यधिकरणत्वा° A.

संभावितमपि न । समभिव्याहृतधात्वर्थफलशालित्वस्यैव क्रियाजन्यत्वेनेन विवक्ष-
णस्योक्तप्रायत्वात् । नैयायिकास्वाद्यदोषवारणाय परसमवेतत्वं द्वितीयदोषवारणाय
धात्वर्थतावच्छेदकत्वं फले विशेषणं द्वितीयावाच्यमित्युपाददते । परसमवेतत्वं
धात्वर्थक्रियायामन्वेति । तथैव कार्यकारणभावान्तरकल्पनात् । परत्वमपि द्वितीयाया

उक्तप्रायत्वात् । क्रियाजन्यफलाश्रयस्येत्यनेनोक्तप्रायत्वात् । तत्र धात्वर्थफलेत्यनुक्तत्वात्
प्रायःपदोपादानम् । अत एव यदा पुष्ट्यर्थं माषभक्षणाय माषक्षेत्रेश्चो वक्ष्यते तदा
माषेष्वश्वं बध्नातीत्यर्थः । बन्धनप्रयोज्यभक्षणरूपफलाश्रयत्वेऽपि माषाणां न कर्मत्वम् ।
प्रयागस्य कर्मत्वसंभावना संभवोक्तिर्विभागो गच्छत्याद्यर्थो न भवतीत्यभिप्रेत्यापादानप्र-
करणे वक्ष्यमाणरीत्या तस्य तदर्थत्वे त्ववधिनिष्ठसंबन्धस्य फलतानवच्छेदकतयोक्तदोष-
परिहारेऽवसेयः । प्रकारान्तरेण स्थलद्वये दोषं वारयतां नैयायिकानां मतं दूषयितुमुपन्य-
स्यति-**नैयायिकास्त्विति** । **परसमवेतत्वमिति** । आद्यदोषवारणाय परसमवेतत्वं
द्वितीयावाच्यमुपाददते स्वीकुर्वन्तीत्यन्वयो द्वितीयदोषवारणाय धात्वर्थतावच्छेदकत्वं फले
विशेषणमुपाददत इत्यपरोऽन्वयः । विभागस्य गमधात्वर्थतावच्छेदकत्वाभावात् प्रयागात्
काशीं गच्छतीत्यत्र प्रयागेऽतिप्रसङ्गः । धात्वर्थतावच्छेदकं च धातुशक्यांशे विशेषणता-
पन्नत्वम् । द्वितीयावाच्यपरसमवेतत्वस्य फले तदाश्रयादावन्वयेऽपि नोक्तदोषवारणसंभवः ।
संयोगग्रामादौ चैत्रभिन्नसमवेतत्वसत्त्वादित्यत आह-**परसमवेतत्वमिति** । **धात्वर्थ-**
क्रियायामन्वेतीति । फलजनकसमभिव्याहृतधात्वर्थक्रियायामन्वेतीत्यर्थः । स्वपदं
यत्फलव्यक्तिमत्त्वेन कर्मत्वमभिमतं तद्व्यक्तिपरम् । तेन पचन्तं चैत्रं मैत्रो गच्छति
गच्छन्तं चैत्रं मैत्रो गच्छतीत्यत्र च पाकक्रियायां चैत्रसमवेतायां संयोगानु-
कूलक्रियायां च चित्रभिन्नसमवेतत्वाभावेऽपि न चैत्रपदाद् द्वितीयानुपपत्तिः ।
द्वितीयस्थले समभिव्याहृतगम्युपात्तसंयोगजनकक्रियायां स्वसमवेतायां स्वभिन्नसमवेत-
त्वाभावेऽपि मैत्रप्रतियोगिकचैत्रानुयोगिकसंयोगव्यक्तिजनकक्रियायां तस्याक्षतत्वा-
न्नानुपपत्तिः । परो भेदवान् तत्समवेतत्वमित्यर्थः । चैत्रो ग्रामं गच्छ-
तीत्यत्र व्युत्पत्तिवैचित्र्येण भेदवत्समवेतत्वैकदेशे भेदे द्वितीयाप्रकृत्यर्थग्रामस्य
प्रतियोगितानिरूपितानुयोगितासंबन्धेनान्वयः । ससंबन्धकत्वाच्च पदार्थैकदेशेऽपि
भेदे देवदत्तस्य पितृत्वाद्देवदत्तनिरूपितत्वस्य पितृपदार्थैकदेशे जनकत्वे इवान्वयो
नानुपपन्नः । तदन्वितभेदवत्समवेतत्वस्य क्रियायामाश्रयत्वसंबन्धेनान्वयः । चैत्रेण गम्यते
ग्राम इत्यत्राख्यातार्थः परसमवेतत्वं तद्वटकभेदे यत्र फलाश्रये कर्मणि प्रत्ययस्तस्य
ग्रामादेः प्रतियोगितयान्वयः । न च चैत्रेऽपि द्वित्वादिना चैत्रभेदसत्त्वाच्चैत्रश्चैत्रं गच्छ-
तीति दुर्वारमेव । प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्य द्विती-

स्वप्रवृत्त्यर्थपेक्षया बोध्यते । तथा च चैत्रस्तण्डुलं पचतीत्यादौ तण्डुलान्यसमवेत-
यार्थभेदेऽव्याङ्गीकारे देवदत्तो द्रव्यं गच्छति मल्लो मल्लं गच्छतीत्याद्यनुपपत्तिः ।
देवदत्ते द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य मल्ले मल्लत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभे-
दस्य चासत्त्वात् । न च वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगितात्वस्यैव
संबन्धताङ्गीकारान्न चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यस्यापत्तिरिति वाच्यम् । तादृशी प्रति-
योगिता प्रकृत्यर्थावच्छेदकावच्छिन्नैव संभवतीति देवदत्तो द्रव्यमित्यादावनुपपत्ति-
तादवस्थ्यादिति चेन्न । तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्यान्यथा-
ङ्गीकारादुक्तदोषाभावात् । एवं चैत्रेण ग्रामो गम्यते इत्यत्र परसमवेतत्वमाश्रयश्च कर्मा-
ख्यातार्थः । तार्किकमते आश्रयत्वं च कर्माख्यातार्थ इति बोध्यम् । परसमवेतत्वघटकभेदे
ग्रामादिकर्मणस्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेनान्वयः । तेन चैत्रश्चैत्रेण
गम्यत इत्यस्य नापत्तिः । न वा चैत्रेण द्रव्यं गम्यते मल्लो मल्लेन गम्यत इत्यस्यानुप-
पत्तिः । अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्यैव संसर्गत्वमिति व्युत्पत्तिस्तु तमु-
पस्थाप्याभावशाब्दबोधविषयिणीति भावः । न चोभयकर्मजसंयोगस्थले चैत्रानुयोगिक-
संयोगजनकमैत्रवृत्तिक्रियायां चैत्रभिन्नसमवेतत्वस्य निराबाधतया तद्दोषस्तदवस्थ इति
वाच्यम् । अन्यनिष्ठक्रियायां चैत्रभिन्नसमवेतत्वसत्त्वेऽपि चैत्रनिष्ठसंयोगजनकचैत्रभिन्न-
समवेता यान्यनिष्ठक्रिया तदाश्रयत्वस्य चैत्रेऽसत्त्वाच्चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यस्य चैत्रकर्तृक-
क्रियायां चैत्रान्यसमवेतत्वाभावाच्चैत्रान्यसमवेतक्रियाजन्यसंयोगवत्त्वस्य चैत्रेऽसत्त्वा-
च्चैत्रेण गम्यत इत्यस्यापत्तेरयोगादित्यन्यत्र विस्तरः । यद्वा भेद आधेयत्वं चार्थः । तत्र
भेदे प्रकृत्यर्थस्य पूर्ववदेवान्वयः । भेदस्य सामानाधिकरण्यसंबन्धेन व्यापारे आधेयत्वे च
प्रकृत्यर्थस्य । एवं च ग्रामं गच्छति चैत्र इत्यतो ग्रामवृत्तिसंयोगजनको ग्रामप्रतियो-
गिकभेदसमानाधिकरणो यो व्यापारस्तदाश्रयश्चैत्र इति बोधः । चैत्रेण ग्रामो गम्यत
इत्यतश्चैत्राश्रयकग्रामभेदसमानाधिकरणव्यापारप्रयोज्यसंयोगाश्रयो ग्राम इति बोधः ।
ननु परसमवेतत्वस्य फलादावेवान्वयः स्यात् तथा चातिप्रसङ्गतादवस्थ्यमत आह-
तथैव कार्येति । विशेष्यतासंबन्धेन द्वितीयाद्यर्थपरसमवेतक्रियानिष्ठबोधं प्रति स्वविशे-
ष्यतासंबन्धेन धातुजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभाव इत्यर्थः । द्वितीययेत्युप-
लक्षणं सुविभक्तैः । तेन चैत्रो ग्रामाय गच्छतीतिवचैत्रश्चैत्राय गच्छति चैत्रेण ग्रामस्य
गमनमिति वचैत्रेण चैत्रस्य गमनमित्यादिर्न प्रयोगः । तथा च परसमवेतक्रियाजन्य-
फलशास्त्रित्वं कर्मत्वमेतन्मते पर्यवसन्नमित्याशयेन तदुदाहरति-तथा च चैत्रस्त-
ण्डुलमिति । धात्वर्थतावच्छेदकेत्युक्तिर्विक्रितेर्धात्वर्थतावच्छेदकत्वप्रकटनाय । न तु

व्यापारजन्यधात्वर्थतावच्छेदकविकृतिशालित्वात् तण्डुलानां कर्मता । शाब्द-
बोधस्तु तण्डुलसमवेतधात्वर्थतावच्छेदकविकृत्यनुकूलतण्डुलान्यसमवेतक्रिया-
जनककृतिमांश्चैत्र इत्याहुः । तन्न रोचयामहे । परसमवेतत्वादेगौरवेणावाच्य-
त्वात् । अतिप्रसङ्गः किं द्वितीयायाः शाब्दबोधस्य वा । नाद्यस्तावत् । वाच्य-
कथनेऽपि तत्तादवस्थ्यात् । गमयति कृष्णं गोकुलमिति वत् पाचयति कृष्णं गोप
इत्यापत्तेः । तण्डुलं पचति चैत्र इति वत् तण्डुलं पच्यते स्वयमेवेत्यापत्तेश्च ।
विकृत्यनुकूलतण्डुलान्यसमवेताभिसंयोगरूपधात्वार्थाश्रयत्वात् । शाब्दबोधा-
तिप्रसङ्गोऽप्युक्तरीत्यैव निरस्तः । परसमवेतत्वस्य शक्यत्वेऽपि परत्वस्य परसम-
वेतत्वस्य चेष्टान्वयलाभायानेकशः कार्यकारणभावाभ्युपगमे गौरवतरत्वादिति
स्पष्टं सूषणे ।

एतच्च सप्तविधम्—

‘निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम् ।

तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम् ॥

तेन रूपेण शाब्दबोधे भानं तदवच्छिन्ने शक्त्यभावात्तेन रूपेण बोधाननुभवाच्चेति
बोध्यम् । नन्वतिप्रसङ्गनिरासाय गुरुभूतपरसमवेतत्वे शक्तिः कल्पनीयैवेत्यत आह—
अतिप्रसङ्ग इति । तत्तादवस्थ्यात् । अनिष्टस्थले द्वितीयातिप्रसङ्गात्तादवस्थ्यात् ।
चैत्रश्चैत्रं गच्छतीत्यतिप्रसङ्गस्योक्तरीत्यासंभवादन्यत्रातिप्रसङ्गमाह—पाचयति कृष्ण-
मिति । इत्यापत्तेरिति । प्रयोज्ये कृष्णे स्वभिन्नप्रयोजकसमवेतक्रियाजन्यणि-
जन्तधात्वर्थतावच्छेदकीभूतप्रकृत्यर्थक्रियात्मकफलशालित्वरूपकर्मत्वसत्त्वाद् द्वितीयापत्ति-
रित्यर्थः । दृष्टान्तोपादानं पूर्ववत् । कर्मकर्तारि द्वितीयातिप्रसङ्गमुपपादयति—
विकृत्यनुकूलेति । विकृत्यनुकूलस्तण्डुलान्यसमवेतोऽभिसंयोगरूपो धात्वर्थः
पचधात्वर्थस्तज्जन्यफलेत्यर्थः । अत्राभिसंयोगो धात्वर्थतया विवक्षित इत्यभिप्रे-
त्येदं दूषणम् । कर्मकर्तारि फलमात्रस्य धात्वर्थत्वं विकृत्यनुकूलतण्डुलमात्रवृत्तिव्यापारस्य
धात्वर्थत्वमिति पक्षे नेदं दूषणमिति बोध्यम् । इष्टान्वयेति । परत्वं द्वितीयादिप्रकृत्यर्थ-
प्रतियोगिकमेव बुध्यते नान्यप्रतियोगिकं परसमवेतत्वस्य तादृशक्रियायामेवान्वयो न
त्वन्यत्रेति द्विविधनिर्यमानिर्वाहाय । तत्तत्कार्यकारणभावस्वीकारे गौरवाधिक्यादित्यर्थः ।
सामान्यप्रकारकज्ञानस्य विशेषरूपेण जिज्ञासाहेतुत्वाद्विशेषरूपेण ज्ञानेच्छायां सत्यां प्रस-
ङ्गसङ्ख्या कर्म विभजते—एतच्च सप्तविधमिति । निर्वर्त्यमिति । तदीप्सिततमं कर्म
निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति त्रिधा मतमिति योजना । अन्यन्तु । ईप्सिततमभिन्नं तु ।

औदासीन्येन यत् प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम् ।

संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम् ॥'

इति वाक्यपदीयात् ।

‘यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत् प्रकाशते ।

तन्निर्वर्त्यं विकार्यं तु द्वेधा कर्म व्यवस्थितम् ॥

प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्सवत् ।

किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥

क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते ।

दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ॥’

इति च तत्रैवोक्तम् । घटं करोतीत्याद्यम् । काष्ठं भस्स करोतीति सुवर्णं कुण्डलं करोतीति च द्वितीयम् । घटं पश्यतीति तृतीयम् । तृणं स्पृशतीत्युदासीनम् ।

चतुर्विधत्वमाह—औदासीन्येनेति । ईप्सितत्वाभावे द्वेष्यत्वाभावे च सति यत् प्राप्यं क्रियाजन्यफलाश्रय इत्यर्थः । अनीप्सितम् । द्वेष्यमित्यर्थः । अन्यपूर्वकमिति । अन्यसंज्ञापूर्वकं यथा क्रूरमभिकुध्यतीत्यत्र ‘कुधद्बुहेर्व्या—’ इति संप्रदानसंज्ञा प्राप्ता । निर्वर्त्यादित्रितयस्य लक्षणमाह—यदसदिति । प्रकृत्युच्छेदेति । प्रकृतिभूतस्यात्मन उच्छेदं संभूतं प्राप्तम् । भू प्राप्तावित्यस्मात् कर्तरि क्तः । प्रकृतेः काष्ठादेः । क्रमेणोदाहरणान्याह—घटं करोतीति । आद्यम् । निर्वर्त्यम् । घटस्यासत् एवोत्पत्तिर्नैयाधिकमते । सांख्यादिमते स्वमते च सत् एव । तदुक्तं हरिणा—

‘उत्पत्तेः प्रागसद्भावो बुद्ध्यवस्थानिवन्धनः ।

अविशिष्टः सतान्येन कर्ता भवति जन्मनः ॥

कारणं कार्यभावेन यदा वा व्यवतिष्ठते ।

कार्यशब्दं तदा लब्ध्वा कार्यत्वेनोपजायते ॥

यथाहेः कुटिलीभावो व्यग्राणां वा समग्रता ।

तथैव जन्मरूपत्वं सतामेके प्रचक्षते ॥’ इति ।

प्राप्यलक्षणमाह—क्रियाकृतेति । दर्शनादिति । प्रत्यक्षात् । निर्वर्त्ये स्वरूपलाभात्मको विशेषः प्रत्यक्षगम्यः । विकार्येऽपि क्वचित् स्वरूपलाभः क्वचिद्गुणान्तरात्मकः । अनुमानाद्यथा पुत्रः सुखमनुभवति । अत्र हि सुखप्रसादेन सुखानुमानं भवति । स्पष्टं चेदं ‘कर्मण्यण्’ इति सूत्रे कैयटादौ । द्वितीयम् । विकार्यम् । अत्र काष्ठसुवर्णयोरेव

विषं मुक्क इति द्वेष्यम् । गां दोग्धीति संज्ञान्तरैरनाख्यातम् । क्रूरमभिकुध्यती-
त्यन्यपूर्वकम् ।

कर्तृतृतीयाया आश्रयोऽर्थः । तथा हि 'स्वतन्त्रः कर्ता' स्वातन्त्र्यं च धात्वर्थ-
व्यापाराश्रयत्वं

‘धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते ।’

इति वाक्यपदीयात् । अत एव यदा यदीयो व्यापारो धातुनाभिधीयते तदा
स कर्तेति स्थाली पचति अग्निः पचति एधांसि पचन्ति तण्डुलः पच्यते

विकार्यता । भस्मकुण्डलोस्तु काष्ठसुवर्णयोः परिणामित्वविवक्षाविवक्षयोरपि निर्वर्त्यते-
वेति बोध्यम् । केचित्तु

‘सती वा विद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी ।

यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥’

‘प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यं कैश्चिदन्यथा ।

निर्वर्त्यं च विकार्यं च कर्मशास्त्रे प्रदर्शितम् ॥’

इति वाक्यपदीयाद् घटं करोतीत्यत्र घटस्य प्रकृतिः सत्यपि परिणामित्वेन न विव-
क्षितेति घटस्य निर्वर्त्यतैव । भस्म करोतीत्यत्र भस्म प्रकृतिः काष्ठरूपा भस्मदशायाम-
विद्यमाना विवक्षितेति भस्मनो निर्वर्त्यतैव । घटं करोतीत्यत्र प्रकृतेः परिणामित्वविव-
क्षायामेवं विकार्यतेवेति स्वीचक्रुः । काष्ठं भस्म करोति सुवर्णं कुण्डलं करोतीत्यादौ
कृधातोर्विकारानुकूलव्यापारपूर्वकोत्पत्त्यनुकूलव्यापारोऽर्थः । काष्ठं विकुर्वन् भस्मात्पाद-
यतीति प्रतीतिः । अत उभयोरपि कर्मत्वनिर्वाहः । आद्ये उच्छेदरूपो विकारः । अन्ये
आकारविशेषात्मकः स घटस्य । स्वातन्त्र्यस्येतरानधोनत्वरूपस्याश्रयणे देवदत्तेन पाच-
यति मित्रदत्त इत्यादौ प्रयोज्यस्य प्रयोजकाधोनतया कर्तृत्वानापत्तिरित्याशङ्कापनोदार्थं
विवक्षितार्थमाह-स्वातन्त्र्यं चेत् । धातूपात्तेति । प्रकृतधातूपात्तेत्यर्थः । यत्कि-
ञ्चिद्धातूपात्तस्याव्यावर्तकत्वात् । व्यापारश्च प्रधानाभूतो ग्राह्यः । तेन नयतेः संयोगानुकूल-
व्यापारानुकूलव्यापारार्थकत्वे देवदत्तो ग्राममजां नयतीत्यत्राजाया न कर्तृत्वम् । न च
कर्मसंज्ञा बाधाय तदापत्तिरिति वाच्यम् । ‘कर्तुराप्सिततमम्-’ इति कर्मसंज्ञायाश्चेन्न तण्डुलं
पचतीत्यादौ तण्डुलादौ लब्धावकाशतयापवादत्वाभावात् परत्वाभावाच्च । प्रत्युत परत्वात्
कर्तृसंज्ञेव बाधिका स्यात् कर्तृत्वविवक्षायां च न ‘अकथितम्-’ इत्यस्य प्राप्तिः ।

स्वयमेवेत्यादि संगच्छते । नन्वेवं 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' [ब्रह्मसू० १-२-४] इति सूत्रे मनोमयः प्राणशरीर इति वाक्यस्थमनोमयस्य जीवत्वे वाक्यशेषे तस्य 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' इति प्रासिकर्मत्वकर्तृत्वव्यपदेशो विरुद्ध इति भगवता व्यासेन निर्णीतं कथं संगच्छताम् । उच्यते—जीवस्यैव ज्ञेयत्वे प्राप्ति-

‘दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिश्चिचिनामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥’

इति परिगणनवार्तिके नयत्यादेरपाठाच्च । प्राधान्यं च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृततत्ताद्वातुजन्य-
बोधीयतत्तद्वात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानाश्रयत्वम् । पक्वस्तण्डुलो देवदत्तेनेत्यत्र
व्यापारस्य फलं प्रति विशेषणत्वादेवदत्तस्य कर्तृत्वानापत्तिरिति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे इति
स्वतन्त्रपदस्य निरुक्तार्थकत्वे मानमाह-**धातुनोक्तेति** । धातुनोक्तक्रिये कारके कर्तृता
नित्यमिष्यते इति योजना । नन्वेतादृशस्वातन्त्र्याश्रयणे स्थात्यां पचतीत्यादावपि
स्थात्यादेः कर्तृत्वापत्तिः । पचधातूपात्तधारणाद्यात्मकव्यापाराश्रयत्वादित्यत आह-**अत
एव यदेति । अत एव** । उक्तस्थले स्थात्यादावतिप्रसङ्गादेव । ननु निरवकाशाभिरधि-
करणादिसंज्ञाभिः कर्तृसंज्ञाया बाध इति वाच्यम् । कर्तृसंज्ञाविषयेऽप्यधिकरणसंज्ञा प्राप्ता
तस्या अपि निरवकाशतया पर्यायतापत्तिरित्याशयात् । यदा यो धातूपात्तव्यापाराश्रयः
स तदा कर्तेति स्वीकारे एकस्य कर्तृत्वकर्मत्वयोः संभवे कर्तृकर्मव्यपदेशादित्यधिकरण-
विरोधमाशङ्क्य परिहरति **नन्वेवमिति । एवम्** । एकस्य कर्तृत्वकर्मत्वोभयाङ्गीकारे ।
तस्येति । तस्य मनोमयत्वादिगुणयुक्तस्य । एतमितमित्यादिश्रुतौ कर्तृकर्मव्यपदेशो
विरुद्ध इति संबन्धः । **एतमिति** । प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यमानमात्मानं कर्म-
त्वेन प्रासिकर्मत्वेन व्यपदिशति-**अभिसंभवितास्मीति** । शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन
प्रासिकर्तृत्वं अभिसंभवितास्मीत्यस्य प्राप्तास्मीत्यर्थात् । न च सत्यां गतादेकस्य कर्म-
कर्तृव्यपदेशो युक्त इति शङ्करभाष्यम् । अत्राभिसंभवितास्मीति कर्तृत्वेनेत्यत्र व्यपदि-
शतीत्यस्यानुपपत्तेरान्वयः । सत्यां गतावित्यादिनात्मानमात्मना हन्तीत्यादिवदौपाधिकर्मे-
दकल्पनागतिकरूपा न युक्तेति सूचितम् । संभवितास्मीति समुपसृष्टात् प्राप्त्यर्थ-
काद्भवतेरात्मनेपदिनो व्यत्ययेन लुटः स्थाने परस्मैपदम् । एकस्य समयभेदेन
संज्ञाद्वयसंभवेऽपि न युगपत् । प्रकृतश्रुतौ तु युगपदेव संज्ञाद्वयप्रयुक्तकार्यद्वयो-
पलम्भो विरुद्ध इत्याशयेन समाधत्ते-**उच्यत** इत्यादिना । ज्ञेयत्वे मनोमय इत्यादिना

कर्मत्वमपि वाच्यम् । कर्तृत्वं च तस्याख्यातेनोक्तम् । न चैकस्यैकदा संज्ञाद्वयं युक्तम् । कर्तृसंज्ञया कर्मसंज्ञया बाधात् । तथा चेतमिति द्वितीया न स्यात् । कर्मकर्तृतायां च यगाद्यापत्तिरिति शब्दविरोधद्वारा भवति स भेदहेतुः । एवं च व्यापारांशस्य धातुलभ्यत्वादाश्रयमात्रं तृतीयार्थः । कारकचक्रप्रयोक्तृत्वं कृत्याश्रयत्वं वा दण्डः करोतीत्यत्राव्याप्तम् । अयं च त्रिविधः । शुद्धः प्रयोजको हेतुः ज्ञेयत्वेन बोधितत्वे । कर्मत्वं वाच्यमिति । एतमित्यनेन कर्मत्वं वाच्यमेतच्छब्दस्योपक्रान्तपरामर्शकत्वादिति भावः । बाधादिति । परत्वादिति भावः । कर्मणः कर्तृत्वे दूषणान्तरमप्याह—**कर्मकर्तृतायामिति** । संभवितास्मोति न शुद्धे कर्तार लकार अपि तु कर्मकर्तरीति भावः । **यगाद्यापत्तिरिति** । आदिपदग्राह्यात्मनेपदापत्तिरिति भावः । व्यत्ययं विनैव निर्वोहे तदभ्युपगमो न युक्त इत्याशयः । **भेदहेतुरिति** । जीवपरमात्मनोभेदहेतुरित्यर्थः । तथा च मनोमय इत्यादिपदेन परमात्मैव निदिष्ट इति सिद्धमिति नोक्ताधिकरणविरोध इति तात्पर्यार्थः । **एवं च** । धातूपात्तव्यापाराश्रयत्वम् कर्तृत्वे च । अत एव घटो भवतीत्यत्र घटीव्यापारस्य धातूपात्तत्वाद् घटस्य कर्तृत्वमुपपद्यत इति **भाष्य्यां वाचस्पतिमिश्रेरभिहितं** धातूपात्तव्यापाराश्रयकर्तृति कर्तृलक्षणयोगाद् घट एव कर्तेति **कल्पतरुकारैरुक्तं** च संगच्छते । अत एव बाधलक्षणेऽस्थियज्ञे 'कत्वर्थं तु क्रियते गुणभूतत्वात्' इति कत्वर्थाभ्युचयाधिकरणे^१ न चेतन्यापेक्षं कर्तृत्वं काष्ठादीनामपि ज्वलनादौ कर्तृत्वाद् यस्यैवान्यापेक्षयाख्यातोपात्तव्यापारसमवायः स कर्ता तस्माच्छुक्रान्वारम्भणादिकर्मास्थिभिः कर्तव्यमिति सिद्धान्तितम् । शुक्रं यजमानोऽन्वारभेतत्यादौ यत्र यजमानो गुणभूतस्तत्कर्म सत्रिणां मध्ये कश्चिन्मृतस्तदस्थिभिः सहेतरैर्जाविद्विरारब्धसत्रैः कर्तव्यमुक्तस्वातन्त्र्यरूपकर्तृत्वस्य तत्रापि संभवादिति तत्रत्यसिद्धान्ताशयः । पूर्वमांसायां दशमाध्याये प्रथमचरणे स्पष्टमिदम् । **कारकचक्रेति** । समभिव्याहृतधात्वर्थव्यापारकसमुदायेत्यर्थः । तच्च देवदत्तः काष्ठैस्तण्डुलं स्थात्या पचतीत्यादौ देवदत्तस्यैवेति तस्मिन्नेव लकारः । उक्तापेक्षया लाघवमभिप्रेत्याह । **कृतीति**—प्रकृतधात्वर्थव्यापारानुकूलकृत्याश्रयत्वं तद्भात्वर्थकर्तृत्वमित्यर्थः । तेनान्यव्यापारानुकूलकृतिमादाय नातिप्रसङ्गः । आश्रयत्वं समवायेन ग्राह्यम् । तेन पाकानुकूलकृतेः कालिकसंबन्धेनाश्रयत्वस्य घटे सत्त्वेऽपि न घटः पचति घटेन पच्यत इत्यादेरापत्तिः । **अव्याप्तमिति** । कारकचक्रप्रयोजकत्वरूपप्रयोक्तृत्वस्य कृतिमत्त्वस्य चाचेतने दण्डादौ बाधादित्यर्थः । अत्र कृतिमत्त्वं कर्तृत्वमिति मते आश्रयांशस्य देवदत्तादिशब्दलभ्यतया कृतिमात्रं विभक्त्यर्थ इति स्वीकारे कृतेर्धातुत एव लाभान्न तत्र विभक्तिशक्तिसंभव इति दूषणं संभव-

दपि नोद्विग्नम् । फलानुकूलकृतेर्धातुतो लाभेऽपि व्यापारानुकूलाया अलाभात् तत्र विभ-
क्तिशक्तिसंभवात् । तदनुकूलकृतिर्न भासत इत्यस्य शपथनिर्णयत्वात् । अथवा कृतेर्धातु-
लभ्यतयाश्रय आश्रयत्वमेव वा तृतीयाद्यर्थ इति स्त्रीकारे उक्तदूषणासंभवेनेदमेव दूषणम-
भिहितम् । परे तु कारकचक्रप्रयोक्तृत्वमेव स्वातन्त्र्यं भाष्यसंमतं तच्च देवदत्तादावनारो-
पितं प्रयोजकत्वस्यारोपादेव भिक्षा वासयतीत्यादिप्रयोगनिर्वाहः । तदुक्तं 'कारके' इति
सूत्रभाष्ये । 'प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा । किं पुनः प्रधानम् । कर्ता । कथं
ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति । यत् सर्वेषु साधनेषु संनिहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति' इति ।
एवं स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वमपि स्वातन्त्र्यम् । तच्च प्रयोजकसंनिध्येऽपि स्वार्थ-
सत्त्वासत्त्वयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रयोज्यस्य संभवति । एतच्च 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति
सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । इदमपि घटादावारोपितं देवदत्तादावनारोपितम् । प्रधानधात्वर्थ-
व्यापाराश्रयत्वमेव न तत् । तत्र स्वतन्त्रपदस्यापरिभाषणाश्लोके उक्तार्थयोरेव तत्पदप्रवृत्तेश्च ।
अत एव प्रयोज्यस्यास्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वानुपपत्तिशङ्कायां स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिनिवृत्ति-
कत्वरूपं साधितम् । एतादृशस्वातन्त्र्याश्रयनिष्ठो व्यापारो धातुनोच्यते । तदभिप्रेत्येव
धातुनोक्तक्रियमित्यादिकं हरिणोक्तमिति न तद्विरोधः । अत एव

‘प्रागन्यतः शक्तिलाभाद्यग्भावापादनादपि ।

तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥

अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेके च दर्शनात् ।

आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुंरुच्यते ॥’

इति वाक्यपदीये उक्तम् । तदर्थस्तु करणादितः प्रागेवान्यतोऽर्थतादेरेव निमित्तात्
कर्ता प्रवर्तते । करणादिकं तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिकम् । किं च करणादेरभावे प्रतिनिधिर्दृ-
श्यते ब्रीह्यभावेऽपि यागकरणात् । कर्तुः स नास्ति तद्वेदे क्रियान्तरमेवेति प्रसिद्धेः ।
अपि च कारकान्तरानुपादानेऽप्यसौ दृश्यत इत्येतद्वन्थस्यात्रैव तात्पर्यमिति प्राहुः । अत्रेदं
बोध्यम् । सर्वेषां कारकाणां स्वस्वान्तरक्रियाद्वारा प्रधानक्रियानिवर्तकत्वमत एव तेषां
भावनायामेवान्वयः । क्रियाजनकमिति ज्ञाने च जन्याकाङ्क्षानियमेन तत्रैवान्वयौचि-
त्यात् । न च कारकशब्दकर्तृशब्दयोरैकार्थ्यात् कारकं करणमिति व्यवहारः कर्ता कारक-
मितिवदनुपपन्नः । कर्ता कारकमिति च पौनरुक्त्यान्न स्यादिति वाच्यम् ।

‘निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके ।

व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसंभवः ॥’

कर्मकर्ता च । मया हरिः सेव्यते । कार्यते हरिणा । गमयति कृष्णं गोकुलम् ।
 मदभिन्नाश्रयको हरिकर्मकसेवनानुकूलो व्यापारः । हर्षभिन्नाश्रयक उत्पादनानु-
 कूलो व्यापारः । गोकुलकर्मकगमनानुकूलकृष्णाश्रयकव्यापारानुकूलो व्यापार
 इति शाब्दबोधः । करणतृतीयायास्त्वाश्रयव्यापारौ वाच्यौ । तथा हि 'साधक-
 इति हरिग्रन्थेनैव समाधानात् । सर्वेषां स्वातन्त्र्येणैव स्वस्वव्यापारद्वारा प्रधानक्रिया-
 निष्पादकतया कर्तृत्वात् कारकत्वम् । तेन करणं कारकमिति व्यवहार उपपन्नः । विशेषे
 कारकत्वरूपसामान्यधर्मस्य सत्त्वात् । एवमीदृशे स्थले कर्मादीनामिवापादानस्य कर्तृत्वेऽपि
 ग्राम आगच्छतीति प्रयोगो नानभिधानात् । करणत्वाद्यवस्थायां कर्तृसंज्ञाया असत्त्वान्न
 करणं कर्त्रित्यादिव्यवहारापत्तिः । कारकपदानुवृत्त्यैव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुनः स्वतन्त्रग्रहणं
 यस्य स्वातन्त्र्यमेव विवक्षितं न तु पारतन्त्र्ययुक्तस्वातन्त्र्यं तस्यैवेत्यर्थलाभार्थमतो न
 करणत्वाद्यवस्थायां सा कारकसंज्ञा तु वस्तुसत्स्वातन्त्र्यस्य स्थितिमात्रेण करणादीनां
 विधानसामर्थ्यात् प्रवर्तते । यद्वा ज्वलनादिरूपस्वस्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् तेषां व्यापाराणां
 धातुवाच्यत्वे एध्वः पचन्तीत्यादिप्रयोगदर्शनात् तात्कालिकं कर्तृत्वमादाय कारकत्वम् ।
 स्वस्वव्यापारद्वारा प्रधानक्रियानिष्पादकत्वेन च करणत्वादि । संप्रदानापादानयोरपि
 स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यमादायैव कारकत्वं विप्रो ददाति ग्राम आगच्छतीति प्रयोगाभावेऽपि
 संप्रत्यते । तदुक्तं भाष्ये—'पर्याप्तं करणाधिकरणकर्मणां कर्तृत्वं निदर्शितमपादानकर्तृत्व-
 निदर्शनाय' इति । वृक्षोऽवधिभावमुपगच्छति विप्रोऽनुमन्यत इत्यादौ स्वस्वव्यापारप्रवृत्ते-
 स्तयोरपि कर्तृत्वं दृश्यते तद्व्यापारस्य पतिदाधातुवाच्यता नानभिधानादिति ध्येयम् ।
 कारकत्वं चोपलक्षणं सदेव तत्तत्संज्ञोपयोगि । स्पष्टं चेदं भाष्ये । अथवा धातूपात्तव्या-
 पारत्वरूपस्वातन्त्र्यं न करणत्वाद्यवस्थायामिति नातिप्रसङ्गः कारकत्वं पूर्ववद्भवत्येवेत्यलं
 विस्तरेण । कर्तारं विभजति—अयं चेति । त्रिविधो धर्मत्रयवान् । क्रमेणोदाहरणान्याह—
 मयेति । प्रयोजकत्वकर्मत्वासमानाधिकरणरूपशुद्धकर्तृत्ववानयम् । प्रयोजकत्वकर्मत्वे
 तत्तद्भावार्थनिरूपित ग्राह्ये । नातोऽप्रसिद्धिः । अथवा कर्मत्वप्रयोजकत्वाविवक्षासमान-
 कालिकविवक्षाविषयकर्तृत्वं शुद्धकर्तृत्वम् । कार्यत इति । करोतेर्णिजन्तात् कर्मणि लट्
 यक् । अत्र हरिः प्रयोजककर्ता । गमयति कृष्णमिति । अत्र कृष्णस्याणो कर्तृर्षन्ते
 'गतिबुद्धिः' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाविधानात् कृष्णः कर्मकर्ता । तथा च कर्म चासौ
 कर्तेति कर्मधारयः । कर्मसंज्ञाया कर्तृसंज्ञाया बाधात् तदभावेऽपि प्रकृतभूतधातूपात्तव्या-
 पाराश्रयत्वरूपकर्तृत्वस्य न क्षतिः । सेवनानुकूलो व्यापार इति । सेवा पादसंवाहना-
 दिर्कं प्रीतिर्वा । नव्यमते तु मदभिन्नाश्रयकव्यापारजन्या हरिकर्मसेवा इत्यादिः शाब्द-

तमं करणम्' । तमबर्थः प्रकर्षः । स चाव्यवधानेन फलजनकव्यापारवत्ता तादृशव्यापारवत् कारणं च करणम् । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥
वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येवा विवक्षा दृश्यते यतः ॥’

इति । विवक्ष्यत इत्यनेन सकृदनेकेषां तदभावाद् द्वितीयासम्भ्यादेरवकाशो सूचयति । न चैवं ‘कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्’ [ब्र० सू० २-३-३३] इत्युत्तरमीमांसाधिकरणे ‘शक्तिविपर्ययात्’ [ब्र० सू० २-३-३८] इति सूत्रेणान्तः—

बोधोऽवसेयः । एवं कार्यते हरिणेत्यत्रापि तादृशव्यापारजन्योत्पादनेति बोधोऽनुसंधेयः । नन्वाश्रयव्यापारयोः करणतृतीयावाच्यत्वे प्रमाणाभावः । साधकतमस्यैव करणसंज्ञाविधानादित्यत आह—तथा हीति । अव्यवधानेनेति । अव्यवधानेन फलजनको यो व्यापारस्तद्वैत्यर्थः । अव्यवधानेनेति तृतीयाया वैशिष्ट्यमर्थः । तथा च तद्विशिष्टकाल इत्यर्थः । तस्य च जननेऽन्वयः । क्रियायाः फलस्य धात्वर्थफलस्य साध्यतया प्रतीयमानत्वात् क्रियात्वेन व्यवहारः कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय इत्यत्र यथा । तथा चाश्रयव्यापारयोः शक्यत्वे साधकतममिति सूत्रं प्रमाणमिति भावः । एवं च मूले आश्रय इति व्यापारस्याप्युपलक्षणमिति तात्पर्यम् । बाणेन हतौ वालीत्यत्र बाणस्य प्रकृत्यर्थस्याभेदेन तृतीयार्थाश्रयेऽन्वयः । तस्य च व्यापारेऽपरतृतीयार्थे आधेयतया तस्य च जन्मत्वसंबन्धेन धात्वर्थव्यापारे फले वा प्राणवियोगात्मनि । अन्ये तु व्यापारे न शक्तिराश्रयस्यैव तृतीयार्थस्य स्ववृत्तिव्यापारजन्यत्वादिसंबन्धेनान्वय इत्याहुः । परे तु करणत्वशक्तिमानर्थोऽन्वयः पूर्ववदित्याहुः । विवक्ष्यत इत्यस्य प्रयोजनं कारिकया स्पष्टयति—
वस्तुत इति । तत् करणत्वं वस्तुतो वस्तुविशेषनिष्ठत्वेनानिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यम् । तत्र हेतुमाह—न हीति । हि यस्माद्वैतोस्तन्न वस्तुव्यवस्थितं गोत्वादिवद् वस्तुविशेषमात्रनिष्ठम् । वस्तुविशेषमात्रनिष्ठत्वे हेतुमाह—**स्थाल्ये**ति । अधिकरणस्य निश्चयविषयीभूतापि स्थाली तनुतरकपालतया वैवक्षिकं करणत्वं भजति । उक्तरीत्या सर्वेषां करणत्वेऽपि न युगपत् सर्वेषां करणत्वविवक्षेति न सर्वत्र तृतीयापत्तिरिति ध्येयम् । सर्वेषां विवक्षया करणत्वाभ्युपगमेऽधिकरणविरोधमुद्भाव्य परिहरति—
न चैवमित्यादिना मीमांसाधिकरण इति । द्वितीयाध्यायस्य तृतीयादस्थाधिक-

करणस्य कर्तृत्वे करणशक्तिविपर्ययापत्तिरुक्ता न युज्येतेति वाच्यम् । 'तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति श्रुत्यन्तरे करणतया क्लृप्तस्य कर्तृतां प्रकल्प्य शक्तिविपर्ययापत्तिर्निष्प्रमाणा कल्प्येतेत्यभिप्रायात् । वस्तुतस्त्वेभ्युच्चय-
मात्रमेतदिति 'यथा च तक्षोभयथा' [ब्र० सू० २-३-४०] इत्यधिकरणे भाष्य एव स्पष्टमित्यादि प्रपञ्चितं भूषणे । सप्तम्या अप्याश्रयोऽर्थः । 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्यधिकरणे सप्तमी । तच्च 'आधारोऽधिकरणम्' इति सूत्रादाधारः । तच्चाश्रयत्वम् । तत्राश्रयांशः शक्यः । तत्त्वमवच्छेदकम् । न चाश्रयत्वमात्रेण कर्तृकर्मकरणानामाधारसंज्ञा स्यात् । स्यादेव यदि ताभिरस्या न

रणे जीवः कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । एवं हि यजेत जुहुयादित्यादिशास्त्रं सार्थकं भवति । कर्तृत्वे सत्येव यागादिकमुपदेष्टुं शक्यते नान्यथेति सूत्रार्थः । 'शक्तिविपर्ययात्' इतीति । विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धि-
रेककर्त्री स्यात् ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चाप्येत सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वं स्यादित्यादि शङ्करभाष्ये प्रतिपादितम्-
अन्तःकरणस्येति । अन्तःकरणं बुद्धिपरिणामः । परिणामपरिणामिनोरभेदात् भाष्य । विरोधः । करणतयेति । तथा च करणत्वं सर्वेषां न वैवक्षिकमित्यभिप्रायकं न सूत्रभा-
ष्यादिकमपि त्वन्तःकरणे करणत्वस्य क्लृप्तस्य हानिरक्लृप्तकर्तृशक्तिश्चाप्येतेत्येतदभि-
प्रायकमिति भावः । एकत्र श्रुतौ करणतया क्लृप्तत्वेऽप्यन्यत्र कर्तृत्वविवक्षायां न किञ्चिद्
बाधकं युगपदुभयविवक्षाया एव विरुद्धत्वादित्याशङ्क्याह-वस्तुतस्त्विति । भाष्य
एवेति । शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतुभिः साधितं जीवस्य कर्तृत्वं न स्वाभाविकमपि त्वौपाधि-
कम् । तस्य स्वाभाविकत्वे मुक्तिर्न स्यात् । कर्तृत्वस्य दुःखस्वरूपत्वात् । तस्य स्वभा-
वत्वे हि अग्नेरिवौष्ण्यादात्मनः कर्तृत्वाद्वियोगासंभवात् । तदेतदाहाचार्यः-**यथा च तक्षोभयथा** इति । चशब्दस्त्वर्थः । यथा तक्षा वास्यादिकरणहस्तो दुःखीभवति तद्रहितस्तु सुखी संपद्यते । अनेन दृष्टान्तेन कर्तृत्वमौपाधिकमेवेति स्पष्टमिति शङ्करभाष्ये उक्तम् । एवं च पूर्वोक्तशक्तिविपर्ययस्याभ्युच्चयरूपत्वं स्पष्टमेवेति भावः ।
तच्च । अधिकरणसंज्ञं च । नन्वाधारस्य सप्तम्यर्थत्वेऽप्याश्रयः कथं सप्तमीशक्य आधारत्वा-
श्रयत्वयोर्भेदादित्याशङ्क्याह-तत्त्वं चेति । आधारत्वं चेत्यर्थः । आश्रयत्वमिति ।
आधारत्वस्यातिरिक्तत्वे मानाभावात् । तथा च नान्नि भेदो न वस्तुनीति भावः । आश्रयत्वमात्रेणेति आश्रयत्वमात्रपुरस्कारेण विहितेत्यर्थः । आधा-

बाधः स्यात् । 'कारके' इत्यधिकृत्य विहितसप्तम्याः क्रियाश्रय इत्येव यद्यपि तात्पर्यं तथाप्यत्र कर्तृकर्मद्वारा तदाश्रयत्वमस्येव स्थाल्यादेर्भूतलकटादेश्चेति स्थाल्यां पचति भूतले वसति कटे शेत इत्याद्युपपद्यते । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्वारयत् क्रियाम् ।

उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥’

इति । एतच्च त्रिविधम् । औपश्लेषिकं वैषयिकमभिव्यापकं च । कटे शेते गुरौ

रसंज्ञेति । आधारस्य संज्ञाधिकरणसंज्ञेत्यर्थः । आधारसंज्ञाया अविधानाद्यथा-
श्रुतेऽसंगते । न चाधारसंज्ञैवाधिकरणस्य विधीयत इति वाच्यम् । तस्य प्राङ्निर्दिष्टत्वात्
पश्चान्निष्ठस्यैव संज्ञात्वात् । स्पष्टं चेदं वृद्धिसूत्रे भाष्ये । 'सप्तम्यधिकरणे' इत्यादेरसं-
गत्यापत्तेश्च । ताभिः । कर्मादिसंज्ञाभिः । बाधः स्यादिति । तथा च निरवकाशाभि-
स्ताभिरधिकरणसंज्ञाया बाध उचित एवेति न कर्मादीनामधिकरणसंज्ञापत्तिरिति भावः ।
क्रियाश्रय इत्येवेति । साक्षात् क्रियाश्रय इत्यर्थः । एवेन चैत्राद्याश्रयकटादेर्व्यावृत्तिः ।
तथा च तादृशस्य कर्तुरेव संज्ञा स्यात् फलाश्रयकर्मणोऽपि वा स्यात् न तु कटादेरिति
तात्पर्यार्थः । साक्षात् क्रियाश्रयस्य कर्तृकर्मसंज्ञाविधानात् । परिशेषात् साक्षात् क्रियाश्रय-
द्वारा क्रियाश्रयस्य ग्रहणमित्याशयेनोत्तरयति—तथाप्यत्रेति । अत्र कारकाधिकारात्
क्रिया लब्धा सा च फलरूपापीत्याशयेनाह—कर्तृकर्मद्वारेति । तदाश्रयत्वमिति ।
कर्तृकर्मगतव्यापारफलात्मकक्रियाश्रयत्वमित्यर्थः । उक्तेऽर्थे हरिसंमतिमाह—कर्तृकर्म-
व्यवहितामिति । स्वाश्रितकर्त्राद्याश्रितामित्यर्थः । उपकुर्वदिति । स्वीयया क्रियया
प्रधानक्रियानिर्वर्तकम् । इदं च 'कारके' इत्यधिकारलब्धम् । औपश्लेषिकमिति ।
उप समीपे श्लेषः संबन्धस्तत्कृतमौपश्लेषिकम् । एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽप्यौपश्लेषिकम् ।
तत्रापि श्लेषस्य समीपमुपश्लेषं तत्कृतमिति व्युत्पत्तिसंभवात् । तत्रायम् 'इको यणचि'
इत्यादाविति 'संहितायाम्' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । यन्मासेऽतिक्रान्ते दीयते
तस्य दानस्य स मास औपश्लेषिकमधिकरणमिति 'तत्र च दीयते—' इत्यत्र भाष्ये
उक्तम् । 'तदस्मिन्नधिकम्—' इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टमिदम् । वैषयिकमिति ।
औपश्लेषिकाभिव्यापकाभिन्नाधिकरणमित्यर्थः । अभिव्यापकमिति । सर्वावयवावच्छे-
देनाश्रयसंबन्धाश्रय इत्यर्थः । यथा तिलेषु तैलं दधि सर्पिरिति । अत्र यावत्तिलदध्यवयवा-
वच्छेदेन तैलसर्पिःसंबन्धस्य सत्त्वेनाभिव्यापकाधारतानिर्वाहः । इदमेव मुख्यमधिकरणं

वसति मोक्ष इच्छास्ति तिलेषु तैलमिति । एतच्च 'संहितायाम्' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

अवधिः पञ्चम्यर्थः । 'अपादाने पञ्चमी' । तच्च 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इति सूत्रादपायो विश्लेषस्तजनकक्रिया तत्रावधिभूतमपादानमित्यर्थकादवधिभूतमिति भावः । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाचलम् ।

ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥

पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ ।

तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते ॥

उभावप्यध्रुवौ मेघौ यद्यप्युभयकर्मके ।

विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते ॥

तद्विन्नं सर्वं गौणमिति 'स्वरितेन' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । गुरौ वसतीति । गुर्वधी-
नत्वविवक्षायां गुरौ वसतीति । परे तु तादृशावधित्वसमानाधिकरणापादानत्वशक्तिस्तद्वान्
पञ्चम्यर्थ इत्याहुः । इदं मोक्ष इच्छास्तीति च वैषयिकोदाहरणम् ।

अवधेः पञ्चम्यर्थत्वे सूत्रं प्रमाणयति—‘अपादाने पञ्चमी’ इति । ननु सूत्रेणा-
पादानस्य पञ्चम्यर्थत्वलाभेऽप्यवधेः कथं तदर्थत्वलाभ इत्यत आह—तच्चेति । तच्च ।
अपादानं चेत्यर्थः । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इति सूत्रादवधिभूतमिति योजना । तथा
चोक्तसूत्रेणावधेः संज्ञाविधानादर्थत्वमिति तात्पर्यम् । परे तु तादृशावधित्वसमानाधिकर-
णापादानत्वशक्तिमान् पञ्चम्यर्थ इत्याहुः । 'भीत्रार्थानाम्' इत्यादिसूत्रे हेत्वादी-
नामपादानसंज्ञाविधानेऽपि वाच्यत्वमितरत्र लक्षणेति भावः । वस्तुतस्तु 'भीत्रार्थानाम्'-
इत्यादिसूत्राणां भाष्यकारेण प्रत्याख्यानादपादानसंज्ञावधेरेव तथा च कारकपञ्चम्यर्थोऽव-
धिरेवेत्यभिप्रायकमिदम् । तेनान्यादिशब्दयोगे विहिताया 'विभाषा गुणे' इति विहिता-
याश्च तस्याः संबन्धहेत्वर्थकत्वेऽपि न क्षतिः । अपायो विश्लेष इति । विश्लेषो
विभागः । अपायपदमपायजनकक्रियापरमित्यभिप्रेत्याह—तज्जनकक्रियायामिति ।
अवधिभूतोऽयं ध्रुवपदार्थ उक्तः । ध्रुवं स्थिरं तच्च क्रियानाश्रयः । सा च प्रत्यासत्त्या
प्रकृतधातुपात्ता । एवं चेदमवधिभूतमेवेति भावः । वाक्यपदीयकारिकायामुभयकर्मक
इति पाठे उभे कर्मणी जनके यस्येति बहुव्रीहिविध्यः । उभयकर्मजन्य इत्यर्थः ।
उभयकर्मज इति पाठस्तु ऋजुरेव । अपाये यदुदासीनमित्यत्राप्राये इति

मेपान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक्पृथक् ।

मेपयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक्पृथक् ॥'

इति । अस्यार्थः । अपाये । विश्लेषहेतुक्रियायाम् । उदासीनम् । अनाश्रयः । अतदावेशात् । तत्क्रियानाश्रयत्वात् । एवं च विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वं फलितम् । वृक्षात् पर्णं पततीत्यत्र पर्णस्य तद्धारणाय सत्यन्तम् । धावतोऽश्वात् पततीत्यत्राश्वस्य क्रियाश्रयत्वाद्विश्लेषहेत्विति । कुड्यात् पततोऽश्वात् पततीत्यत्राश्वस्य विश्लेषजनकक्रियाश्रयत्वेऽपि तन्न विरुद्धमित्याह-

विभागजनकक्रियापरं लक्षणयेत्याशयेन व्याचष्टे-विश्लेषहेत्विति । ध्रुवपदार्थं उदासीनपदेनोक्तः । औदासीन्यं तदनाश्रयत्वमित्यभिप्रेत्याह-उदासीनमनाश्रय इति । फलितार्थमाह-एवं चेति । अपाये ध्रुवमित्यनेन विश्लेषजनकक्रियोदासीन्यविवक्षणे चेत्यर्थः । विश्लेषाश्रयत्वमिति । धात्वर्थविभागाश्रयत्वमित्यर्थः । एतदप्यर्थान्तरं । एतन्निवेशनं तु देवदत्तो ग्रामात् काशीं यातीत्यादौ काश्यादावतिव्याप्तिवारणाय । यद्यपि कर्मोदिसंज्ञाभिः परत्वेन बाधादपादानसंज्ञातिप्रसङ्गे नेति चेत् तथापि विभागसमानाधिकरणैवापादानशक्तिरिति बोधनाय तदिति भावः । तद्धारणाय । अपादानसंज्ञावारणाय । सत्यन्तमिति । इदं च ध्रुवत्वपदार्थः । तदनुपादाने कर्तृसंज्ञापवाद एव स्यात् । अपायविषये यत् कारकमुक्तापायरूपक्रियाश्रयरूपमपादानमित्यर्थसंभवात् । कर्तृसंज्ञायास्तु पचति चैत्र इत्यादिरवकाश इति भावः । एतेन परत्वात् कर्तृसंज्ञया बाधादिदमसंगतमित्यपास्तम् । नन्वपायशब्दो विभागार्थक एवास्तु सति सप्तम्यपाय इति । कारकाधिकाराद्वातुलाभः । तथा च प्रकृतधात्वर्थविभागाश्रयत्वे सति यत् कारकं तदपादानमिति सूत्रार्थाङ्गीकारे नेयं संज्ञा कर्तृसंज्ञापवादिका ग्रामादौ चरितार्थत्वात् । इत्थं च परया कर्तृसंज्ञया बाधान्न कर्तर्यतिप्रसङ्ग इति चेत् पूर्वोक्तार्थस्यापि संभवात् स्पष्टार्थमेव तदित्याहुः । ननु प्रकृतधातूपात्तक्रियानाश्रयत्वविवक्षणेन कर्तर्यतिप्रसङ्गवारणे अलं विश्लेषहेतुत्वनिवेशनेनेत्यत आह-धावत इति । अश्वात् पततीत्युक्ते क्रियानाश्रयत्वदशायामेव तादृशः प्रयोगोपपत्तिरित्याशङ्क्येत । अतस्तद्वावृत्तये धावत इति विशेषणोपादानम् । तथा चोक्तविवक्षायां प्रकृतधातूपात्तधावनरूपक्रियाश्रयत्वेनैव तादृशप्रयोगानुपपत्तिर्दृढेवेति भावः । धावनं तु व्यभिचारादन्यथा सिद्धत्वाच्च न विभागहेतुरिति नोक्तदोषतादवस्थयम् । एतदर्थमेव च अपाये इति सूत्रे उपात्तम् । अन्यथा ध्रुवपदेन स्थिरस्यैव लाभोपपत्त्योक्तप्रयोगानुपपत्तिप्रसङ्गः । विश्लेषजनकेति ।

यस्मादश्वादि तिति । तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सतीति विशेषणीयमिति भावः । एवमश्वनिष्ठक्रियानाश्रयत्वात् कुड्यादेरपि ध्रुवत्वमित्याह-तस्यापीति । उभयकर्मजविभागस्थले विभागस्यैक्यात् तद्विश्लेषजनकक्रियानाश्रयत्वाभावात् परस्परस्मान्मेषावपसरत इति न स्यादित्याशङ्क्य समाधत्ते-उभावपीति । मेषान्तरेति । यथा निश्चलमेषादपसरद्वितीयमेषस्थले निश्चलमेषस्यापसरन्मेषक्रियामादाय ध्रुवत्वं तथात्रापि विभागैक्येऽपि क्रियाभेदादेकक्रियामादायापरस्य ध्रुवत्वमिति । तथा च विश्लेषाश्रयत्वे सति तज्जनकतत्क्रियानाश्रयत्वं तत्क्रिया-

अश्वकुड्ययोर्विश्लेषस्तज्जनकपतनाश्रयत्वेऽपीत्यर्थः । विश्लेषसामान्योपादाने उक्तस्थलेऽश्वस्यापादानत्वानुपपत्तिसत्त्वेऽपि विश्लेषविशेषोपादाने न दोषः । अश्वनिष्ठपतनस्याश्ववदेव तद्विभागाजनकत्वादिति समाधानाशयमाह-तद्विश्लेष इति । यद्विश्लेषावधित्वं तद्विश्लेषव्यक्तीत्यर्थः । अश्वनिष्ठेति । अश्वकुड्यविभागजनकाश्वनिष्ठक्रियेत्यर्थः । क्रियानाश्रयत्वाभावादिति । मेषद्वयस्यापि तद्विश्लेषजनकक्रियाश्रयत्वादिति भावः । अन्यतरकर्मजविभागस्थले तद्विभागजनकक्रियानाश्रयत्वस्यान्यतरस्मिन् संभवान्मेषो मेषादपसरतीत्यस्य नानुपपत्तिरित्येतेन सूचितम् । उभावप्यध्रुवावित्यादिना विभाग इत्यन्तेन शङ्का प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते इति समाधानम् । तदेव मेषयोरित्यादिना स्पष्टीकृतमिति बोध्यम् । तत्रान्यतरकर्मजविभागस्थलीयमनुरूपं दृष्टान्तमाह-यथानिश्चलेति । निश्चलो विभागजनकक्रियानाश्रयो यो मेषस्तस्मादित्यर्थः । अपसरदिति । अपसरंस्तादृशक्रियाश्रयो यो द्वितीयमेष इत्यर्थः । तत्तत्क्रियानाश्रयत्वेऽपि तत्तन्मेषस्य तद्विश्लेषजनकक्रियाश्रयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावासत्त्वादनुपपत्तिर्दुर्परिहरैवेत्याशङ्कापनुत्तये आह-तथा चेति । तत्क्रियानाश्रयत्वमिति । तथा च तद्विश्लेषजनकक्रियाव्यक्ति तद्व्यक्तित्वेनोपादाय तदनाश्रयत्वनिवेशादेकैकमेषस्य तद्विश्लेषजनकमेषान्तरसमवेतक्रियानाश्रयत्वान्नानुपपत्तिरिति भावः । परे तु कर्तृभेदेन क्रियाभेदसत्त्वेऽपि स न प्रतीयते तिङन्ते निवृत्तभेदाया एव क्रियाया धातुनोपस्थानात् । अत एव सरूपसूत्रे 'न वै तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति' इत्युक्तम् । एवं च नोक्तरीत्यानुपपत्तिपरिहारसंभवः । अपि तु शब्दभेदेन वाच्यभेदमाश्रित्य मेषशब्दोपस्थितयोस्तादृशक्रियाश्रयत्वात् कर्तृत्वं

१ P. has before तद्विश्लेषं the following तथा च पुरुषपतनहेतुक्रियानाश्रयत्वं न विरुद्धमिति भावः । २ A and D₂ have तथा च पुरुषपतनहेतुक्रिया—भावः (found in P.) after विशेषणीयमिति भावः ३ A. and D₂ drop क्रिया. ४ 'मादाय परस्य P., D₁, D₂. ५ विश्लेषानाश्रयत्वे A.

यामपादानत्वं वाच्यम् । क्रिया चात्र धात्वर्थो न तु स्पन्दः । तेन वृक्षकर्मज-
विभागवति वृक्षे वृक्षाद्वृक्षं पततीति संगच्छते । वस्तुतो नैतावत् पञ्चम्या वाच्यं
किं त्ववधेर्लक्षणमात्रम् । द्वितीयार्थोक्तरीत्या प्रयोगातिप्रसङ्गस्यासंभवेन वाच्यकोटौ
प्रवेशस्य गौरवेणासंभवादिति तु प्रतिभाति । न चैवमपि वृक्षात् स्पन्दत इति
स्यादिति शङ्क्यम् । आसनाच्चलित राज्याच्चलित इतिवदिष्टत्वात् । एतेन

परस्परशब्दोपस्थितयोस्तादृशक्रियानाश्रयत्वेनापादानत्वम् । अन्तःकरणादिरूपोपाधिभेदेन
भेदवच्छन्दभेदेनापि भेदस्य स्वीकर्तुमुचितत्वादिति संप्रतिपन्नाः । ननु वृक्षकर्मणैव
विभागजननस्थले वृक्षाद्वृक्षं पततीति प्रयोगानुपपत्तिः । वृक्षे वृक्षवृक्षविभागजन-
कतत्क्रियानाश्रयत्वाभावादत आह-क्रिया चात्रेति । धात्वर्थ इति । तथा च
संयोगानुकूलव्यापारादिरूपतधात्वर्थानाश्रयत्वाद्दृक्षस्यापादानत्वसिद्धिः । ननु तादृश-
धात्वर्थस्य विभागाजनकतया विभेदजनकतद्वात्वर्थाप्रसिद्ध्या तदनाश्रयत्वस्य सुतराम-
संभव इति चेन्न । तं तं धात्वर्थं तत्तद्व्यक्तित्वेनोपादाय तदनाश्रयत्वमात्रं निवेदयं न तु
धात्वर्थे विभेदहेतुत्वमपि । तावतापि धावतोऽश्वात् पततीत्यत्र पुरुषनिष्ठपतनानाश्रयतया-
श्वस्यापादानत्वोपपत्तेरित्याशयात् । अथवा विभेदहेतुतत्तद्वात्वर्थाश्रयो यो यस्तत्तद्वेदव-
त्त्वमर्थो बोध्यः । देवदत्तो वृक्षात् पततीत्यत्र देवदत्तादिरेव निरुक्तधात्वर्थाश्रयः प्रतियोगी
प्रसिद्ध इत्याशयोऽवसेयः । उभयकर्मजविभागातात्पर्यकस्तु न पूर्वपक्षः । परस्परस्मान्मे-
वादित्यत्रोक्तरीत्या पूर्वपक्षस्यैवानुत्थितेः । अथवोभयकर्मजविभागातात्पर्यक एवायं
ग्रन्थोऽस्तु । परस्परस्मादित्यत्रोभयोरवधित्वं कर्तृत्वं च । इह त्वेकस्यावधित्वमपरस्य कर्तृ-
त्वमिति वैलक्षण्यसूचनार्थैतद्वन्धोपन्यासः । नन्वनाश्रयत्वान्तदलस्यावाच्यत्वे देवदत्तो
प्रमादायातीत्यत्र देवदत्तादिति प्रयोगापत्तिर्विभेदाश्रयत्वादित्यत आह-द्वितीयार्थोक्त
इति । यथा देवदत्तो देवदत्तं गच्छतीति प्रयोगस्य परसमवेतत्वाद्वाच्यत्वेऽपि नापत्तिः
कर्तृसंज्ञया परया कर्मसंज्ञया बाधात्तथा कर्तृसंज्ञयापादानसंज्ञया बाधान्न देवदत्तादिति
प्रयोगापत्तिरुक्तस्थले इति भावः । गौरवेणासंभवादिति । एतदपेक्षयावधित्वशक्तिमत
एव वाच्यत्वौचित्यादिति तात्पर्यार्थः । एवमपीति । देवदत्तो देवदत्तादित्यादिप्रयोग-
वारणेऽपि । वृक्षात् स्पन्दत इति । तत्रापि तादृशधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभा-
गाश्रयत्वस्य वृक्षे सत्त्वात् । इयमापत्तिः सत्यन्तार्थस्य वाच्यत्वपक्षेऽपीति बोध्यम् । इष्टा-
पत्योक्तप्रयोगापत्तिशङ्कां परिहरति-आसनाच्चलित इति । उक्तप्रयोगवारणाय
केषांचित् समाधानं दूषयितुमुपन्यस्यति-एतेनेति । अपादानत्वबोधे । निरूपकतासंबन्धे-

पञ्चमीजन्यापादानत्वबोधे सकर्मकधातुजन्योपस्थितेहेतुत्वमिति समाधानभा-
सोऽप्यपास्तः । न चैवमपि वृक्षात् त्यजतीति दुर्वारम् । कर्मसंज्ञयापादानसं-
ज्ञाया बाधेन पञ्चम्यसंभवात् । अस्मात् कृते तथा प्रयोगे यदि बोधाभावोऽनुभव-
सिद्धस्तर्हि पञ्चमीजन्यापादानत्वबोधे त्यज्यादिभिन्नधातुजन्यबुद्धेहेतुत्वं वाच्यम् ।

नापादानत्वप्रकारकशब्दबोधे तेनापादानत्वप्रकारकोपस्थितौ न व्यभिचारः । हेतुत्वमिति ।
विशेष्यतासंबन्धेन हेतुत्वमित्यर्थः । संयोगानुकूलव्यापारार्थलाक्षणिकशक्तिभ्रमविषयस्प-
न्दधातुयोगे तु तादृशप्रयोगे इष्टापत्तिरेवेति भावः । पतधातुरपि सकर्मकः । अधोदेशानु-
योगिकसंयोगानुकूलव्यापारार्थकत्वात् । अत एव 'द्वितीया श्रिता—' इति सूत्रेण कूपपतित
इत्यादिसमासः सिध्यति । तेनाश्वात् पततीत्यादिप्रयोगस्य नानुपपत्तिः । अथवा
सकर्मकधातुजन्योपस्थितेरित्यनेन व्यापारानधिकरणवृत्तिफलावच्छिन्नव्यापारवृ-
त्तिज्ञानजन्योपस्थितिहेतुरिति फलविशिष्टव्यापारे शक्तिरिति मते तयोः पृथक् शक्तिरिति
मते संकेतीयबोधनिष्ठविषयतांशे तादृशफलविषयकत्वावच्छिन्नत्वावगाहिज्ञानजन्योप-
स्थितिहेतुस्तादृशफलविशिष्टव्यापारविषयकलक्षणाग्रहजन्योपस्थितिश्च हेतुरित्ययमर्थो विव-
क्षितः । तेनार्थभेदेन शब्दभेदाभावेऽपि न दोष इति दिक् । अपास्त इति । वृक्षात्
स्पन्दत इति प्रयोगवारणायोक्तहेतुहेतुमद्भावाङ्गीकारे आसनाच्चलित इत्यादिप्रयोगस्येष्टस्या-
निर्वाह इति तादृशहेतुहेतुमद्भावो नाभ्युपेय इति वृक्षात् स्पन्दत इति योगेऽपीष्टापत्तिः
कर्तुमुचितेति भावः । अत्राहुः । स्पन्दे कम्पनमात्रार्थकतया विभागाप्रतिपादकतयाव-
धित्वाभावेन वृक्षात् स्पन्दत इति प्रयोगो नोचितोऽपि तु वृक्षे स्पन्दत इत्येव । चलतेस्तु
विभागानुकूलव्यापाराद्यर्थकत्वमासनाच्चलित इति प्रयोगानुरोधात् स्पन्देरपि तदर्थकत्वे
इष्ट एवोक्तप्रयोग इति । अन्ये तु तस्य नैव तदर्थकत्वमित्याहुः । चलतेरिव कम्पेरपि
तदर्थकत्वमभिप्रेत्य तु प्रकृतग्रन्थोऽवसेयः । दुर्वारमिति । विभागावच्छिन्नव्यापारानाश्रय-
त्वस्य वृक्षे सत्त्वेनापादानसंज्ञायाः प्राप्तेः । कर्मसंज्ञयेति । फलतावच्छेदकसमवायेन
वृक्षे विभागरूपफलाश्रयत्वसत्त्वेन कर्मसंज्ञा । ग्रामादागच्छतीत्यादावागच्छतेर्विभागज-
न्यसंयोगानुकूलव्यापारार्थकतया विभागस्य फलत्वाभावात् कर्तृनिष्ठस्यैव समवायस्य
फलतावच्छेदकत्वाच्च न ग्रामादेः कर्मत्वप्रसक्तिः । कर्मसंज्ञया बाधेनापादानसंज्ञाया
विरहात् पञ्चम्याः साधुत्वाभावेऽप्यपादानसंज्ञाभ्रमेण तत्र तादृशप्रयोगादवध्यन्वयबोधोप-
स्तिरित्याशङ्कां परिहरति—अस्मादित्यादिना । बुद्धेः । उपस्थितेः । हेतुत्वं वाच्यमिति ।
न चैवं त्यजिपत्योः पर्यायत्वभ्रमदशायामपि तथाविधप्रयोगादपादानत्वबोधानुपपत्तिरिति

बलाहकाद्विद्योतते विद्युदित्यादौ निःसृत्येत्पद्याहार्यम् । रूपं रसात् पृथगित्यत्र तु बुद्धिपरिकल्पितमपादानत्वं द्रष्टव्यम् । 'पृथग्विना—' इति पञ्चमी वा । इदं च—

वाच्यम् । इष्टापत्तेरित्याशयात् । पत्यादिपर्यायत्वेनागृहीतत्यज्याद्यजन्योपस्थितित्वेन हेतुत्वमित्यत्र वा प्रकृतग्रन्थतात्पर्यं कल्प्यं तेन नोक्तदोषः । विभागानवच्छिन्नव्यापारोपस्थितेहेतुत्वं कल्पयित्वा बोधवारणं तु न सम्यक् । गतिजन्यसंयोगार्थकप्रतियोगे तद्विधानापत्तेरिति भावः । अत्र यदि बोधाभावोऽनुभवसिद्ध इत्यत्र यदिपदेन तादृशबोध इष्ट एवेति सूचितम् । ननु बलाहकाद्विद्योतत इत्यत्रापादानत्वानुपपत्तिः । गतेरनुपस्थितेस्तस्या एवापायत्वादत आह—बलाहकादिति । निःसृत्येति । अध्येति । अत्राध्याहारस्तत्पूर्वकविद्योतने धातोर्वृत्तिः । वक्ष्यति चैतदनुपदं ग्रन्थकारोऽपि । बलाहको नाम धूमज्योतिःसलिलमरुतां संघातः । तादृशसमुदायात्मकमेघादवयवभूतज्योतीरूपविद्युतो भेदविवक्षणात्तस्यावधित्वम् । यदा तु तेजस आधारत्वेन स विवक्ष्यते तदा बलाहके विद्योतते विद्युदिति सप्तमी । यदा संघातावयवयोस्भेदविवक्षा तदा प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा भवतीति बोध्यम् । स्पष्टं चेदं कैयटादौ । रूपं रसात् पृथगित्यत्र रूपे विभागपूर्वकसंयोगानुकूलव्यापाररूपनिःसरणस्य बाधादित्याशङ्कां निराकर्तुमाह—रूपमिति । बुद्धिपरिकल्पितमिति । अयं भावः । 'ध्रुवमपाये—' इत्यत्रापायशब्देन भेदस्यापि ग्रहणं 'पञ्चमी विभक्ते' इत्यत्र विभक्तशब्देनेव । पृथक्शब्दार्थोऽपि भेद एव न तु गुणान्तरमुक्तप्रयोगादेव । भेदज्ञानविषयत्वमपि भिदिर् विदारण इति विदारणशब्देन गृह्यते । एकत्वेनाज्ञातस्य भेदविषयत्वेन ज्ञाने बुद्धिविदारणस्य तत्रापि सत्त्वात् । एवं च घटाद्भिन्न इत्यादाविवात्राप्यनेन सूत्रेणापादानत्वे 'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रेण पञ्चमी । 'अन्यारात्—' इति सूत्रेऽन्येत्यर्थग्रहणं तु नेतरशब्दस्य पृथगुपादानात् । भेदविषयबुद्धिविषयत्वरूपबुद्धिविदारणसापेक्षतया बुद्धिपरिकल्पितत्वमुच्यत इति । अत्र पृथक्शब्दस्याक्रियावाचित्वात् कारकत्वानुपपत्तिरिति न शङ्क्यं भवतीत्यध्याहृत्य धातूनामनेकार्थतया भेदात्मकपृथग्भावस्य तदर्थत्वाङ्गीकारेणादोष इति तात्पर्यात् । इमं क्लेशं परिहर्तुं सूत्रान्तरेणाप्यत्र पञ्चमीमाह । 'पृथग्विना—' इति । परे तु अपाये गतिविशेषे सति यद् ध्रुवमवधिभावोऽपगमाश्रयवे सति तदतिरिक्तस्यावधित्वोपयोगिव्यापारस्यानाश्रयो यस्तदपादानमिति सूत्रार्थः । त्रासादेर्वृक्षात् पर्णमित्यादौ व्यभिचारान्तावधित्वोपयोगिता । प्रकृतेऽवधित्वोपयोगित्वेऽपि तस्याविवक्षितत्वान्न दोषः । अत एव भाष्ये अग्नौव्यस्याविवक्षया त्रस्तादधादित्यत्र शङ्का समाहिता । 'ध्रुवमपाये—' इति तु वृक्षस्य पर्णं पतती

‘निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषयं तथा ।

अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते ॥’

इति वाक्यपदीयात् त्रिविधम् । यत्र साक्षाद्धानुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निर्दिष्ट-
विषयम् । यथाश्वात् पतति । यत्र धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह तदुपात्त-
विषयम् । यथा वलाहकाद्विद्योतते । निःसरणाङ्गे विद्योतने द्युतिर्वर्तते ।
अपेक्षिता क्रिया यत्र तदन्यम् । यथा कुतो भवान् । पाटलिपुत्रात् । अत्रागमन-
मर्थमध्याहृत्यान्वयः कार्यः ॥

उद्देश्यश्चतुर्थ्यर्थः । तथा हि ‘संप्रदाने चतुर्थी’ । तच्च ‘कर्मणा यमभिप्रैति
स संप्रदानम्’ इति सूत्रात् कर्मणा करणभूतेन यमभिप्रैतीप्सति तत् कारकं
संप्रदानमित्यर्थकादुद्देश्यः । इदमेव शेषित्वम् । तदुद्देश्यकेच्छाविषयत्वं च

त्यादौ वस्तुगत्या वृक्षस्य क्रियाजनकतया प्राप्तापादानत्ववारणाय । तत्रापाये इति क्रिया-
जनकत्वेन विवक्षिते इत्यर्थः । तात्पर्यमाह-ध्रुवग्रहणं त्वपादानस्यावधिभावोपगम एव
व्यापारो न तु कारकान्तरस्येवान्यो व्यापार इति ज्ञापनायेत्याहुरित्यन्यत्र विस्तरोज्वग-
न्तव्यः । तद्विभज्यते-निर्दिष्टविषयमिति । अत्र विषयशब्दो निमित्तभूतगतिपर
इत्याशयेनाह-यत्र साक्षादिति । उक्तरूपाध्याहारं विनेत्यर्थः । धातुना । गत्यर्थकत्वेन
प्रसिद्धधातुना । निर्दिश्यते । उपस्थाप्यते । गत्यर्थकधातुर्यत्र निर्दिश्यत इति यावत् ।
उपात्तविषयं लक्षयति-यत्र धात्वन्तरेति । धात्वन्तरस्य निःसरत्यादेरर्थो धात्वन्तरार्थः
सोऽङ्गं विशेषणं यत्रेत्यर्थः । उक्तमर्थं लक्ष्ये संगमयति-निःसरणाङ्ग इति । निःसरणं
विभागपूर्वकं गमनं यत्रेति बहुव्रीहिः । अपेक्षितेति । आकाङ्क्षितेत्यर्थः । आकाङ्क्षा
धानुपादाने सति भवतीत्याशयेनाह-यथा कुत इति । गम्यमानापि क्रिया कारक-
विभक्तिप्रयोजिकेति भावः । प्रश्नोत्तरवाक्ये द्वे अपि अपेक्षितक्रिये इति बोध्यम् ॥

उद्देश्यस्य चतुर्थ्यर्थत्वमानमाह-तथा हीति । सूत्रात् संप्रदानस्य चतुर्थ्यर्थत्वसि-
द्धावपि नोद्देश्यस्य तत्त्वसिद्धिरित्याशङ्कं निराचष्टे-तच्चेति । तच्च । संप्रदानं च । ‘कर्मणा
यमभिप्रैति स संप्रदानम्’ इति सूत्रादुद्देश्य इत्यन्वयः । संप्रदानस्योद्देश्यरूपतागमकता-
निर्वाहकं विशेषणमाह-कर्मणेत्यादिना इत्यर्थकादित्यन्तेन । करणभूतेनेति ।
अनेन कर्मणेति सहार्थे तृतीयेति भ्रमसंगता तृतीयेति भ्रमं च निराकरोति । कर्मणः
करणत्वं संबन्धविषयकेच्छारूपाभिप्रायघटकसंबन्धघटकसत्त्वादिद्वारा । तथा च
गवादिनिष्ठस्वत्वादिरूपफलनिरूपकत्वादिसंबन्धवत्तयोद्देश्यः संप्रदानमिति पर्यवसितोऽर्थ
इति भावः । इदमेव । उद्देश्यत्वमेव । तत्र मीमांसकसंवादमाह-तदुद्देश्यकेच्छेति ।

शेषत्वमित्येव पूर्वतन्त्रे निरूपितम् । अत एव 'प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानम्' इत्यधिकरणे कृते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छतीति विहितं दण्डदानं न प्रतिपत्तिः किं तु चतुर्थीश्रुत्यार्थकमेति तत्र निर्णीतम् । रजकाय वस्त्रं ददातीत्यपि खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददातीति भाष्योदाहरणादिष्टमेव ।

तथा 'चेच्छीयविषयताविशेष उद्देश्यत्वमिति भावः । इत्यधिकरण इति । पूर्वतन्त्रे चतुर्थीध्यायद्वितीयचरणस्थमिदमधिकरणम् । निर्णीतमिति । तत्र हि दीक्षितस्य दण्डप्रदानं वधाय पुनराभ्रातं कृते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छतीति तदेतद्वाक्यविहितं मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं प्रतिपत्तिकर्म यतो दीक्षितहस्तधारणे कृतार्थो दण्डः प्रतिपत्त्यपेक्षः । द्वितीयया तस्य प्राधान्यं च गम्यते दानस्य तु न । अतो मैत्रावरुणहस्ते प्रक्षेपोऽस्य कर्तव्य इति पूर्वपक्षयित्वा संप्रदानचतुर्थ्या मैत्रावरुणस्य उद्देश्यत्वलक्षणप्राधान्यावगमान्मैत्रावरुणार्थं दण्डप्रदानं दण्डस्य प्रयोजकं स्थित्वा प्रेषानुवचने कुर्वतस्तस्यालम्बनतया दृष्टार्थ एव हि दण्डः । अत एवामीषोमीयपशुविकारे निरुद्धपशौ दीक्षिते सत्यपि मैत्रावरुणार्थत्वेन दण्डोपादानसिद्धिरिति सिद्धान्तितमित्यर्थः । तथा च द्वितीयानिर्दिष्टदण्डापेक्षया चतुर्थीनिर्दिष्टमैत्रावरुणस्य प्राधान्यावगमादभिमतसिद्धिरिति भावः । अत एवाजां ग्रामं नयतीत्यत्र ग्रामस्याजां प्रति शेषित्वाभावान्न संप्रदानत्वं ग्रामसंस्कारार्थमजानयने तु ग्रामे तत्सत्त्वेऽपि परत्वात् कर्मसंज्ञया बाधान्न दोष इत्याहुः । ननु रजकाय वस्त्रं ददातीति प्रयोगापत्तिस्तत्र दाधातोर्निर्णयजनानुकूलेच्छादिरूपो व्यापारस्तत्कर्मणा वस्त्रेणाभिप्रेयमाणत्वाद्वज्रकस्येत्याशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति - रजकायेति । तादृशप्रयोगस्येष्टत्वे मानमाह - खण्डिकेति । बालकोपाध्याय इत्यर्थः । भाष्योदाहरणादिति । अत्र ददातेः संयोगविशेषानुकूलव्यापारार्थतया मुख्यदानार्थकतद्योगे एव संप्रदानत्वाङ्गीकारे भाष्यस्योक्तप्रयोगानुपपत्तिः । चपेटा प्रसृतकरतलम् । न च भक्तः स प्रयोग इति वाच्यम् । क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति वचनं खण्डयद्विर्भाष्यकारैः संप्रदानसंज्ञाया अन्वर्थत्वानङ्गीकारेणोक्तप्रयोगस्य रजकायेत्यादिप्रयोगस्य च मुख्यत्वोपगमात् । एवं न शूद्राय मर्ति दद्यादित्यप्यत एव संगच्छते । तत्र ददातिर्वोधनार्थः । मतिशब्दस्तज्जनकवेदादिपरः । विप्राय गां ददातीत्यत्र विप्रसंप्रदानकगोर्कर्मकं दानमिति बोधः । संप्रदानमित्यस्यान्वर्थतां स्वीकुर्वतां

१ A. and D₃ omit इत्यधिकरणे कृते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति.
२ दण्डप्रदानं D. ३ A., D₂, and D₃ omit न प्रतिपत्तिः किं तु. ४ तस्मै
शिष्याय A., D₃. ५ चेच्छेयं A.

वृत्तिकारास्तु सम्यक् प्रदीयते यस्यै तत् संप्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञया स्वस्वत्वनिवृ-
त्तिपर्यन्तमर्थं वर्णयन्तो रजकस्य वस्त्रमित्येवाहुः । इदं च

‘अनिराकरणात् कर्तुंस्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् ।

प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते संप्रदानताम् ॥’

इति वाक्यपदीयात् त्रिविधम् । सूर्यायाव्यं ददातीत्याद्यम् । नात्र सूर्यः
प्रार्थयते नानुमन्यते न निराकरोति । प्रेरकम् । विप्राय गां ददाति । अनुमन्तु ।
उपाध्यायाय गां ददाति । अत्र सर्वत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदः संसर्गः ।

वृत्तिकाराणां मतमाह-वृत्तिकारास्त्विति । स्वस्वत्वनिवृत्तिपर्यन्तमिति ।
स्वस्वत्वनिवृत्त्यनुकूलव्यापारपर्यन्तमित्यर्थः । इदं च दानमात्रेण न परस्वत्वोत्पत्तिरपि तु
प्रतिग्रहेणेत्यभिप्रेत्य । अन्यथा पुनः स्वस्वत्वनिवृत्तिपरमात्रस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलव्यापारपर्य-
न्तमित्यर्थः । संसृष्टिधने ददातीत्यत्र प्रयोगात् परमात्रेत्युक्तम् । स्वत्ववति स्वत्वान्तरा-
नुत्पत्त्या तत्रापि स्वत्वविनाशोऽभ्युपेतव्यः । तत्र साधारणस्वत्वोत्पादेऽपि न परमात्रस्व-
त्वोत्पत्तिरिति नातिप्रसङ्गः । स्वत्वं च दानादिनाशं प्रतिग्रहादिजन्यं पदार्थान्तरम् ।
पितृभ्यः श्राद्धं दद्यादित्यादौ पितृनिरूपितस्वत्ववाधेऽपि दानोद्देश्यत्वस्य पितृष्वक्षततया
संप्रदानत्वात् दोषः । अर्थं वर्णयन्त इति । उक्तदानकर्मणेत्याद्यर्थमित्यर्थः । आहु-
रित्यस्वरसमूचनम् । तद्धीजं तूक्तमेव । इदं चेति । इदं च संप्रदानं च त्रिविधम् ।
त्रैविध्ये हेतुमाह-अनिराकरणादित्यादिना वाक्यपदीयादित्यन्तेन । कर्तुः
कर्मणा ईप्सिततमानिराकरणाद्दानानिराकरणादप्रत्याख्यानात् प्रेरणानुमतिभ्यां च दानवि-
षयकप्रेरणानुमतिभ्यां च त्यागाङ्गं त्यागानिर्वाहकमनेन कारकत्वमावेदितं तथा च तादृशं
कारकं संप्रदानतां लभत इति योजना । अथवा संप्रदानतायामेवानिराकरणादित्यादि त्रयं
हेतुत्वेनान्वेति । तथा चानिराकर्तुं प्रेरकमनुमन्तु चेति त्रिविधमित्यर्थः । नात्र सूर्य
इति । सूर्ये प्रार्थनानुमत्योर्निराकरणं तद्रूपानाक्रान्तत्वबोधनाय । द्वितीयादिकारकप्रकृत्यर्थ-
विभक्त्यर्थयोरन्वयबोधं वर्णयति-अत्र सर्वत्रेति । हरिं भजतीत्यादिषु । प्रकृति-
प्रत्ययार्थयोरिति । प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थेऽभेदसंबन्धेन विशेषणत्वमित्यर्थः । न च
प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थस्याभेदसंबन्धेन विशेषणत्वं न दृष्टमिति वाच्यम् । मीमांसकमते देव-
तार्थकतद्धितादौ दृष्टत्वात् । तदुक्तम् ।

‘आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः ।’ इति ।

तत्र द्वितीयार्थस्याश्रयस्याधेयतासंबन्धेन फलेऽन्वयः । कर्तृतृतीयार्थस्य तस्य धातृपात्त-
व्यापारे । करणतृतीयार्थस्य तस्य व्युत्पत्तिवैचित्र्येण तृतीयोपात्तव्यापारे तस्य च

विभक्तीनां धर्मिवाचकत्वात् धर्ममात्रवाचकत्वे 'कर्मणि द्वितीया' इति सूत्रस्वरस-

जन्यतासंबन्धेन धात्वर्थव्यापारे तदुपात्तफले च । अथवा व्यापारो न तृतीयार्थः । अपि त्वाश्रयः करणत्वशक्तिमान् वा तस्य स्ववृत्तिव्यापारजन्यत्वसंबन्धेन धात्वर्थे सप्तम्यर्थाश्रयस्य कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठव्यापारे फले चेति यथाक्रममिति बोध्यम् । प्रत्यक्षार्थकधातुसमभिव्याहारे लौकिकविषयतैव फलतावच्छेदकः संबन्ध इति नियमः । अन्यथा सौरभाद्यपनीतभानेऽपि सौरभं पश्यतीत्यादिप्रयोगापत्तेः । एवं च कथमत्र तथाविधप्रकारतायाः फलतावच्छेदकत्वाभ्युपगम इति न शङ्क्यम् । तादृशनियमस्य विषयानुपहितप्रत्यक्षार्थस्थले एव स्वीकारात् । गन्धं जिघ्रतीत्यत्र घ्राणजप्रत्यक्षानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः । न तु गन्धस्य तदर्थेऽन्तर्भावः । लौकिकविषयतारूपफलतावच्छेदकसंबन्धेन तथाविधप्रत्यक्षरूपफलाश्रयत्वाद् गन्धस्य कर्मत्वमिति बोध्यम् । पुष्पं जिघ्रतीत्यत्र गन्धनिरूपितलौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः । आधेयत्वीयसांसर्गिकविषयतानिरूपितप्रकारतारूपविषयताविशेषात्मकफलतावच्छेदकसंबन्धेन तथाविधप्रत्यक्षात्मकफलाश्रयतया पुष्पस्य कर्मत्वम् । तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वर इत्यत्रानने गन्ध इति ज्ञानीयतादृशप्रकारतावत्त्वमाननेऽस्तीत्याननस्य कर्मत्वोपपत्तिः । संबन्धघटकप्रकारत्वे गन्धनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वं निवेशनीयम् । तेनदानोत्तनपुष्पे गन्ध इति प्रत्यक्षीयपुष्पे विशेष्यतानिरूपिताधेयत्वीयसांसर्गिकविषयतानिरूपितप्रकारतायाः काले समादायापि नोक्तदोषः । समवायसंबन्धावच्छिन्नत्वेनाधेयत्वस्य विशेषणत्वादिति दिक्त्वेऽपि कालं जिघ्रतीति न प्रयोगः । काले गन्ध इति भ्रममादाय तदोपतादवस्थं तु नापाद्यम् । तादृशभ्रमस्याप्रामाणिकत्वात् । अत एव तेजो जिघ्रति रूपं जिघ्रतीत्यादिप्रयोगो न कालिकसंबन्धावच्छिन्नाधेयत्वसंबन्धेन कालप्रकारकप्रमा । ननु द्वितीयार्थाश्रयस्याधेयतासंबन्धेन धात्वर्थफलेनान्वयस्वीकारो न संभवति तस्य ह्यर्थादिरूपनामार्थाभिन्नस्य धात्वर्थभेदसंबन्धेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । अन्यथा तण्डुलः पचतीत्यत्र कर्मतादिसंबन्धेनापि तदापत्तेरिति चेन्न । नामार्थधात्वर्थयोर्विभक्त्यर्थमद्वारीकृत्य परस्परमन्वयो नेत्येव व्युत्पत्तेः । प्रकृते विभक्त्यर्थद्वारा तथान्वये बाधकाभावात् । ननु प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभेदः संसर्गो न संभवति विभक्तीनां धर्ममात्रवाचकत्वादित्यत आह-विभक्तीनां धर्मीति । द्वितीयादीनां कर्मत्वादिरूपधर्ममात्रे शक्तिर्लाघवादुचिता तत्र प्रकृत्यर्थस्य स्वरूपसंबन्धेनाधेयतयान्वयः । तस्य च निरूपकतासंबन्धेन धात्वर्थफलादाविति परमतं दूषयति-धर्ममात्रेति । मात्रपदेन धर्मिव्यवच्छेदः । 'कर्मणि—' इति । 'कर्मणि द्वितीया' 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'

भङ्गापत्तेः । कर्माथंककृतद्वितादौ तथादर्शनाच्च । द्वितीयाद्यर्थकबहुव्रीहौ
प्राप्तोदक इत्यादौ धर्मिवाचकतालाभाच्च ।

‘सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङ्गाम् ।’

इत्यादिमूत्रस्वरसमङ्गापत्तेरित्यर्थः । अन्यथा ‘कर्मत्वे द्वितीया’ इत्यादि मूत्रयेन तु
‘कर्मणि’ इत्यादि । कर्मणि वाच्ये इत्यादिनीयोंऽपि तु कर्मणि बोध्ये द्वितीयेत्यादिरर्थः ।
तन्निर्वाहश्च प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थेऽन्वयाद् भवति । एवं च न तत्स्वरसमङ्गः । न चाश्र-
यत्वे ह्यर्थादेः प्रकृत्यर्थस्यान्येऽपि हरिविशिष्टमाश्रयत्वमित्येव बोधो न त्वाश्रयत्ववान्
हरिस्तत्कथं कर्मबोधनिर्वाहकत्वं द्वितीयाया इति वाच्यम् । आश्रयत्वे प्रकृत्यर्थह्यर्थादेरन्व-
यबोधे हरिराश्रय इति मानसबोधसंभवात् । राजसखो देवदत्त इत्यतो देवदत्ते राजमि-
त्रत्वशब्दबोधे राजनि देवदत्तमित्रत्वग्रहवत् । कर्मणि शक्तिबोधकमूत्रस्याश्रयमात्रश-
क्तिग्राहकत्वकल्पनापि भवन्मतेऽपि मूत्रस्वरसमङ्गादवस्थायाच्च फलस्य धातुलभ्यतयाश्र-
यमात्रे तत्कल्पनमिति चेन्ममापि मते लाघवाद्धर्मे तत्कल्पनमिति तुल्यमित्यत आह-
द्वितीयाद्यर्थकेति । धर्मिवाचकतेति । प्राप्तोदक इत्यत उदककर्तृकप्राप्तिकर्मग्राम
इत्याकारकस्य समासार्थस्य ग्रामस्य च सामानाधिकरण्यविषयकबोधस्यानुभवसिद्धस्य
निर्वाहाय द्वितीयायाः कर्मणि शक्तिरावश्यक्यः । अन्यथा द्वितीयार्थबहुव्रीहेरपि कर्मत्व-
बोधकत्वापत्त्या सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । धर्मिवाचकतायां भाष्यमपि साधकमित्याह-
सुपां कर्मादय इति । परमते तु एतत्स्वरसमङ्गापत्तिश्चेति भावः । न चात्रापि कर्मपदं
कर्मत्वपरम् । अनेकस्थले लक्षणापत्तेः । ननु कर्मणीत्यादौ कर्मादिपदे लक्षणापत्तावपि
द्वितीयादीनां धर्ममात्रवाचकत्वमुचितं लाघवात् । अस्तु च बहुव्रीहेरपि धर्ममात्रवाचकत्वं
सामानाधिकरण्यं च लक्षणयोपपाद्यं मुख्यार्थे प्राप्तोदकादिप्रयोगस्तु प्राप्तोदकोऽस्तीत्यादा-
वित्यत आह-**दिगिति ।** तदर्थस्त्वेवं सति कृतस्तद्धितसंज्ञकस्यापि त्वयादेर्धर्मिवाचकत्वं
न सिध्येत् । पक्तव्यास्तण्डुला इत्यादौ तण्डुलादिसामानाधिकरण्यानुभवानुरोधात्तथेति
चेन्न । उक्तरीत्यैव तदुपपत्तेः । पक्तव्य इत्यादितः कर्मत्वमात्रबोधोऽनुभवविरुद्ध इति चेत्
प्राप्तोदकादावपि तुल्यमिति भावः । द्वितीयादीनामाश्रयेऽपि न शक्तिः । फलव्यापारयोर्धा-
तुलभ्यत्ववदाश्रयस्यापि प्रकृतिभूतप्रातिपदिकेन लभ्यत्वादिपि त्वाश्रयत्वादिसामान्येनान्य-
लभ्यत्वात् । धर्मधर्मिणोश्चाभेदात् कर्मणीत्यादिनिर्देशो नानुपपन्नः । अत एव द्वितीयादेः
कर्मत्वादिशक्तिवाचकत्वमिति सिद्धान्ते प्राप्तोदकादिबहुव्रीहेर्धर्मिबोधकतानिर्वाहः । शक्ति-
मदभेदापन्नाया एव शक्तेर्विभक्तिवाच्यत्वात् । तिङ्कृदादेस्तु पचति पक्ता पक्क इत्यादित

इति भाष्याच्चेति दिक् । आश्रयस्यापि प्रकृत्यैव लाभान्न विभक्तिवाच्यता किं त्वाश्रयत्वमात्रं वाच्यं तदेव च तादात्म्येनावच्छेदकम् । करणतृतीयायाश्च व्यापारोऽपि पञ्चम्या विभागमात्रं चतुर्थ्या उद्देश्यत्वमात्रमत एवाकृत्यधि-
करणमपि न विरुध्यत इत्यभिप्रेत्याह-शक्तिरेव वेति । षण्णामपीति शेषः । 'षष्ठी शेषे' इति सूत्रात् तस्याः संबन्धमात्रं वाच्यम् । कारकषष्ठ्यास्तु शक्तिरेवेत्यूहम् । 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' इति

एवाश्रयप्रतीतेः 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे--' इति व्यवहारानुरोधाच्चाश्रये शक्तिर्युक्तेत्याश-
येनाह-आश्रयस्यापीत्यादिना । आश्रयस्यापि प्रकृत्यैव लाभान्न विभक्तिवाच्यतेत्य-
न्वयः । न विभक्तीति । न द्वितीयादिविभक्तिवाच्यतेत्यर्थः । नन्वाश्रयत्वस्य वाच्यत्वे
आश्रयतात्वस्य शक्यतावच्छेदकत्वमुपेयं तथा च गौरवं तस्य फलाश्रयाद्यतिरिक्तावृत्तित्वे
सति सकलतदाश्रयवृत्तिस्वरूपत्वादित्यत आह-तदेवेति । आश्रयत्वमेवेत्यर्थः । एवेनाश्र-
यतात्वव्यवच्छेदः । तद्वृत्तेस्तस्य कथं तन्निष्ठवाच्यतावच्छेदकत्वमित्याशङ्क्याह-तादा-
त्म्येनेति । तादात्म्यस्य वृत्त्यनियामकत्वेऽपि संबन्धित्वं तेन संभवत्येवेत्याश्रयत्वस्य
तादात्म्येन स्वसंबन्धितया न खनिष्ठवाच्यतावच्छेदकत्वानुपपत्तिरिति भावः । यद्यप्या-
श्रयतात्वस्याखण्डोपाधिव्वाङ्गीकारे तस्यावच्छेदकत्वेऽपि न गौरवं तथापि फलाश्रयत्वत्वादे-
रेव द्वितीयादिवाच्यत्वे आश्रयतात्वस्यातिप्रसक्ततया तदवच्छेदकत्वासंभवः । फलाश्रय-
तात्वस्यानेकफलघटिततया गौरवतादवस्थम् । किं चाश्रयतात्वविशिष्टे शक्तिकल्पनायां
धर्मधर्मिणोरुभयत्र तत्कल्पनया न पूर्वकल्पपेक्षया लाघवमिति भावः । व्यापारोऽपीति ।
करणताघटकव्यापारोऽपीत्यर्थः । अपिनाश्रयत्वपरिग्रहः । षण्णामिति । षण्णां कारक-
विभक्त्येनामित्यर्थः । कारकाणां षट्त्वेन तत्प्रयुक्तविभक्तिव्येनोपादानात् षष्ठीरहितविभ-
क्तीनां विवक्षणे तासां षट्त्वेऽपि कारकषष्ठ्या असंग्रहः । तत्सहितानां विभक्तीनां विव-
क्षणे तु तासां सप्तत्वप्रकारकविभक्तिसंग्रहापत्तिश्चेति षण्णामित्युक्तिरसंगतैवेति दूषणानव-
काशः । अनेन चोपपदविभक्तीनां संबन्धार्थकत्वमिति सूचितम् ।

अथ केषुचित् प्रयोगेषु विभक्त्यर्थो निरूप्यते । तत्रोपपदविभक्तीनामंशेऽर्थे तु विशेषे-
षानुक्तेस्तत्स्थले तत्संबन्धप्रतीतेश्च तदर्थकत्वम् । तत्र यासां विशेषसंबन्धे विधानं यत्र च
तत्संबन्धेन संबन्धिनि नियताकाङ्क्षा तत्र तासां विशेषरूपेणैव संबन्धार्थकत्वम् ।
यथा 'अनुलक्षणे' इत्यादौ अन्तरा त्वां मां हरिरित्यादौ च । जपमनु प्रावर्षदित्यत्र लक्ष्यल-

क्षणभावसंबन्धो द्वितीयावाच्यो न द्योत्यः । कर्मप्रवचनीयत्वात् । 'कर्म प्रोक्तवन्तः कर्म-
प्रवचनीयाः' इति तद्व्युत्पत्तिप्रदर्शनेन क्रियागतविशेषं द्योतितवर्ता संप्रति नामार्थक्रिययोः
संबन्धद्योतकानामेव तत्संज्ञाविधानात् । यत्र तु तद्वाधस्तत्र विधानसामर्थ्यात् संज्ञा यथा
'अधिपरी अनर्थको' इत्यादिनाध्यादीनाम् । स्पष्टं चेदं 'कर्मप्रवचनीयाः' इत्यत्र
भाष्यादौ । जपमित्यत्र विभक्त्येहेतुतृतीयाबाधकत्वादेतुवाचकत्वमपि । लक्ष्यत्वं च प्रकृते
ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वरूपज्ञाप्यत्वस्वरूपम् । जपस्य हि कालविशेषाधिकरणकत्वेन ज्ञातस्य
स्वाधिकरणकालोत्तरकालवैशिष्ट्येन ज्ञापकत्वम् । एतेन जपस्य वृष्टिव्याप्यत्वाभावादृ-
ष्टेर्जपज्ञाप्यत्वासंभव इति शङ्का निरस्ता । निश्चितकालक्रियाया अनिश्चितकालक्रियायाः
कालविशेषवैशिष्ट्येन ज्ञापकत्वात् । अत एव कदा वृष्ट इति प्रश्ने एतस्योत्तरत्वं संगच्छते ।
कालविशेषवैशिष्ट्यज्ञानं च तद्वाक्यजन्यं मानान्तरजन्यं वेत्यन्यदेतत् । जपामिन्न-
हेतुज्ञानजन्यज्ञानविषयो वर्षणमिति बोधः । उक्तं च हरिणा—

‘क्रियाया द्योतको नायं संबन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी संबन्धस्य तु भेदकः ॥’

इति । तदर्थस्तु प्रजयतीत्यादावुपसर्गवन्न क्रियागतप्रकर्षादिरूपविशेषद्योतकः । प्रादेशं
विपरिलिखतीत्यादौ विशब्द इव क्रियापदाक्षेपी । विशब्दो हि विमानक्रियामाक्षिपति ।
अत एव प्रादेशस्य कर्मत्वम् । प्रादेशं विमाय परिलिखतीत्यर्थात् । तथा सत्याक्षिप्तक्रिया-
निबन्धनद्वितीयासिद्धौ 'कर्मप्रवचनीययुक्ते-' इत्यस्य वैयर्थ्योपपत्तेः । किं तु विशिष्ट-
क्रियाजनितोक्तसंबन्धस्य विभक्तिवाच्यस्य द्योतकः । प्रकृते तु निशमनक्रियाकृत उक्तसं-
बन्ध इति । अन्ये तु लक्षणं व्यावर्तनं प्रकृते च प्रवर्षणक्रिया जपोत्तरकालिकतया
बोध्यत्वेन विवक्षिता व्यावर्तकश्च जप इति कालोत्तरकालिकत्वरूपसंबन्धहेतुश्च न द्योत्यो
विभक्त्यर्थः । जपामिन्नहेत्वधिकरणकालोत्तरकालिकं वर्षणमिति बोध इत्याहुः । विशेष-
संबन्धे तत्तदुपपदविभक्त्येर्विधानं विशेषरूपेण संबन्धविवक्षणे षष्ठ्येवेति 'चतुर्थी-' इति
सूत्रभाष्यसिद्धम् । तत्र हि गुरोरिदं गुर्वर्थमित्यत्र तादर्थ्यस्य संबन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी-
त्युक्तम् । तेन तव मम चान्तरा कमण्डलुरित्यत्र युष्मदस्मदभ्यां न द्वितीया । अवधि-
त्वस्य संबन्धत्वेन विवक्षणान्न त्ववधित्वत्वेन । अन्तराशब्दवाच्यमध्याधिकरणघटकमध्य-
त्वस्यावधित्वसंबन्धेन संबन्धिनियताकाङ्क्षत्वात् । अवधित्वत्वावच्छिन्नस्यैव द्वितीयाथ-
त्वाद् द्वितीयाप्राप्तेः । अत एव स्वसंबन्धिकमण्डलुतात्पर्येणोच्चारते कमण्डलौ युष्मदस्म-
दर्थस्य स्वस्वामिभावरूपसंबन्धविवक्षया षष्ठ्यन्तप्रयोगोपपत्तावपि तदस्वामिकमण्डलु-
तात्पर्यकतादृशप्रयोगानुपपत्तिरिति दूषणानवकाशः । अन्तराशब्दस्याभाववानप्यर्थः अन्तर

हरिं न सुखमित्यादौ । हरिभक्तिपरहरिशब्दात् प्रतियोगिभावार्थिकाद् द्वितीया । प्रतियोगित्वे हरिभक्तित्वावच्छिन्नाधेयत्वं प्रकृत्यर्थस्य संबन्धः । यद्वा हरिभक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं द्वितीयार्थः । हरिशब्दस्तात्पर्यग्राहकः । यद्वा प्रतियोगितात्वेन रूपेण द्वितीयावाच्यकोटिप्रविष्टं प्रतियोगित्वम् । तत्तदर्थकप्रकृतिसमभिव्याहारवशात् प्रतियोगितात्वेन तद्विशेषभानम् । एतेन शुद्धप्रतियोगित्वस्य वाच्यत्वे हरिभक्तिमत्यपि द्वित्वादिना तत्प्रतियोगिकाभावसत्त्वादनतरा हरिं सुखमिति प्रयोगापत्तिरिति दूषणं निरस्तम् । अस्तीत्यध्याहारलभ्यसुखकर्तृकसत्ताभावे हरिभक्त्यभावत आधेयत्वसंबन्धेनान्वयः । न च नामार्थयोरिति व्युत्पत्तिविरोधात् तथान्वयासंभव इति वाच्यम् । निपातातिरिक्तेति विशेषणात् । यद्वाभाव एवान्तराशब्दार्थः । सामानाधिकरण्यसंबन्धेन तथाविधाभावे तस्यान्वयः । पक्षद्वयेऽपि सुखाद्यभावे हरिभक्त्यभावप्रयोज्यत्वं पर्यवस्यति । द्वितीयपक्षे तेनैव वा संबन्धेनान्वयः । यद्यपि निपातातिरिक्तेति विशेषणात् प्रतियोगित्वादिसंबन्धेनान्वयः प्रकृत्यर्थस्य संभवति तथापि तस्याः सार्थकत्वे संभवति साधुत्वमात्रप्रयोजनकत्वस्वीकारोऽनुचितः । पक्ष इव तस्या उक्तार्थकत्वावश्यकत्वाच्च । मञ्जूषाकृन्मते निपातानां नामत्वाभावात्तन्मते निपातातिरिक्तत्वविशेषणप्रवेशो नास्ति । एवमन्तरेणशब्दोऽप्यनेन समानार्थकः । तद्योगेऽपि 'अन्तरान्तरेण' इति सूत्रेण अन्तरेण त्वां मां हरिः अन्तरेण हरिं न सुखमित्यत्र द्वितीया । तत्राप्युक्तप्रकारोऽनुसर्तव्यः । एवं विनाशब्दोऽप्यभाववदर्थकोऽभावार्थको वा तत्राप्येवैव दिक् । वृक्षं प्रति विद्योते विद्युदित्यादौ प्रतिपर्यन्तानां द्योत्यो लक्ष्यलक्षणभावो विभक्तिवाच्यः । निविडान्धकारे वृक्षदर्शनेन हि तत्समीपदेशविशेषे विद्युद्विद्योतनमनुमीयते । ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वं विभक्त्यर्थः । वृक्षविषयकज्ञानजन्यज्ञानविषयो विद्युद्विद्योतनमिति बोधः । भक्तो विष्णुं प्रतीत्यादौ भक्तत्वाख्यः संबन्धः कंचित्प्रकारं प्राप्तस्याख्याने प्रत्यादिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञ इत्यर्थकेन 'इत्थंभूताख्याने' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञकप्रत्यादिद्योत्यो विभक्तिवाच्यः । न तु विषयविषयिभावस्तथा सूत्रोपात्तस्य भक्तत्वस्यैव तथात्वौचित्यात् । न च तस्य भक्तपदोपात्ततया न द्वितीयाशक्तिसंभवोऽनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वादिति वाच्यम् । प्रकारतया बोधे सिद्धेऽपि संसर्गतया बोधनिर्वाहाय विभक्तिशक्तेरावश्यकत्वात् । पदान्तरवाच्यस्यापि विभक्त्यर्थस्य संसर्गतया भानस्य चैत्रस्य पुत्र इत्यादौ दृष्टत्वात् । जन्यत्वस्यैव पुत्रपदशक्तिविशेष्ये संबन्धतासंभवात् । पदार्थः पदार्थेनेति व्युत्पत्तिविरोधेन पदार्थैकदेशजन्यत्वे निरूपितत्वस्य संबन्धताया अनुचितत्वादिति भावः । लक्ष्मीर्हरिं प्रतीत्यादौ स्वस्वामिभावः प्रत्यादिद्योत्यो विभक्तिवाच्यः । हरिस्वामिका लक्ष्मीरिति बोधः । वृक्षं वृक्षं प्रति सिद्धतीत्यादौ वीप्साविषये व्याप्यत्वं

द्विर्वचनद्योत्यं वृक्षशब्दस्य व्याप्यत्वविशिष्टवृक्षपरत्वं तस्य च व्यापकत्वसंबन्धेनान्वये तात्पर्यग्राहकः प्रत्यादिः । व्याप्यतावच्छेदकसंबन्धस्तादात्म्यं व्यापकतावच्छेदकश्च सेचनस्य द्रवद्रव्यसंयोगानुकूलव्यापारात्मनः स्वजन्यसंयोगः । तादृशसंयोगे व्यापकत्वभावे तु समवायस्तथा । व्यापकताघटकाभावे प्रतियोगिवैयधिकरण्यं निरवच्छिन्नवृत्तित्वरूपं व्याप्य-
वृत्तित्वं वा निवेश्यम् । तेन क्रियायाः संयोगस्य चाव्याप्यवृत्तितया तदभावस्य तद्वत्यपि वृक्षे सत्त्वेऽपि न व्यापकत्वहानिः । सेचनविशेषे जगतीतलगतवृक्षसामान्यव्यापकत्वसं-
भवेऽपि न क्षतिः । वृक्षपदस्य बुद्धिस्थत्वेन वृक्षविशेषपरत्वात् । तथा च तादृशवृक्षनि-
ष्ठप्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यच्चैत्रकर्तृकसेचनत्वादि तद्वत्त्वरूपं
व्यापकत्वं संबन्ध इति पर्यवसितम् । न तु तादृशभावप्रतियोगिताशून्यत्वम् । तादृशसे-
चनस्य तादृशवृक्षनिष्ठस्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नव्यधिकरणोभयाभावादिप्रतियोगि-
त्वाद् व्यापकत्वासंभवापत्तेरिति दिक् । सेचनक्रियायाः कर्मकतया कर्मण्येव द्वितीया
कर्मप्रवचनीयसंज्ञाफलं तु गत्युपसर्गसंज्ञावाधनद्वारा षत्वाभाव एवेति प्राञ्च आहुः ।
तन्मते सेचनकर्मत्वे तत्कर्मणि वा स्वरूपसंबन्धेन तादात्म्येन यथाकर्म व्यापकत्वं प्रकृ-
त्यर्थसंबन्धतया भासते न तु सेचनादौ । विभक्त्यर्थे विशेषणतयान्वितस्य प्रकृत्यर्थस्य
सेचनादौ विशेषणतयान्वयायोगात् । अन्ये तु कर्मत्वाविवक्षायां द्वितीयासिद्धिरपि कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञाप्रयोजनम् । अत एव प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेश इत्यादावर्थस्य निवेशनक्रि-
यानिरूपिताधिकरणत्वेऽपि अर्थमर्थं प्रतीत्येव विग्रहप्रदर्शनं भाष्यादौ कृतम् । वृक्षादेः
क्रियायाः कर्मत्वमुपगम्येतस्याः संज्ञाया द्वितीयासाधकत्वाङ्गीकारे तु सप्तम्यन्तेनैव प्रकृते
विग्रहस्य समुचिततया तथाविधभाष्यासंगत्यापत्तिः । तादृशसंज्ञाया द्वितीयाफलकत्वे त्व-
र्थस्याधिकरणत्वाविवक्षायां व्यापकत्वसंबन्धार्थिका द्वितीयेति नासंगतिः । अत एव
वृक्षं वृक्षं प्रति श्यामता घटं घटं प्रति गन्ध इत्यादावपि क्रियाजनितव्यापकत्वसंबन्धा-
र्थिका द्वितीया सिध्यति । द्विर्वचनेन व्याप्यत्वद्योतनात् सेचनार्थकपदसमभिव्याहारात्त-
त्तद्व्यापकं व्याप्यत्वरूपेण प्रकारतया भासते । अनुगतव्याप्यत्वानङ्गीकारे तु वीप्सायां
द्विरुक्तिविधानं च व्याप्यत्वस्य वृक्षार्थकत्वे मानम् । तथा हि व्याप्तिप्रतीतीच्छाप्रकृते
व्युपसृष्टप्रोक्तेस्तत्प्रतीतिपरत्वाद् द्विरुक्तप्रयोगादिच्छाया अप्रतीतेन तस्य तदर्थकता । एवं
च व्याप्तिप्रतीतीच्छायां सत्यां द्विर्वचनमिति वाक्यार्थः पर्यवसन्नः । न च धातुरेव
व्यापकत्वार्थकोऽस्तु अस्तु च साधुत्वार्थी विभक्तिरिति वाच्यम् । नामार्थधात्वर्थयोः
साक्षाद्भेदसंबन्धस्याव्युत्पन्नतया वृक्षस्य व्यापकतादौ निरूपितत्वादिसंबन्धेनान्वयासंभ-
वात् । अत एव चैत्रः पच्यत इत्यादौ पाकादौ चैत्रादेः कर्तृतानिरूपकत्वादिसंबन्धेना-

न्ययबोधो न शोभनं पचतीत्यत्र शोभनपदार्थस्य धात्वर्थे भेदेनान्वयाद्भेदेनेति तण्डुलं पचतीत्यादौ तण्डुलादेर्विभक्त्यर्थद्वारान्वयात् साक्षादिति । मासमधीते अत्र 'कालाध्वनोः—' इति सूत्रेण कालाध्वानुयोगिके क्रियाद्रव्यगुणादिभावप्रतियोगिकेऽत्यन्तसंयोगेऽत्यन्तसंबन्धे निरन्तरसंबन्धे सत्युपस्थितत्वात् कालाध्ववाचकेभ्यो द्वितीयैत्यर्थकेन द्वितीया । अन्तं विराममतिक्रान्तश्चासौ संयोगश्चेति व्युत्पत्त्या निरन्तरसंबन्धलाभः । उपस्थितशब्दस्वरूपमात्रस्य न प्रकृतित्वं 'कालाः' 'अत्यन्तसंयोगे च' इति समासविधौ बहुवचननिर्देशाद्विज्ञात् । व्यापकत्वं द्वितीयार्थः । पदार्थतावच्छेदकमासत्वनिरूपितव्यापकत्वभानाङ्गीकारे समवायादिव्याप्यताघटकसंबन्धस्तादात्म्यं तत्त्वं च त्रिंशदहोरात्रत्वरूपमासत्वविशिष्टप्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मित्वम् । व्यापकताघटकश्च कालिकविशेषणतात्मकः संबन्धः । मासपदं चावयवानतिरिक्तत्रिंशदहोरात्रसमूहपरं न तु तावत्पर्यन्तस्थापिस्थूलकालरम् । तथा सत्येकदिनादिमात्राध्ययनकर्तर्यपि मासमधीते इति प्रयोगापत्तिः । तदीयाध्ययनस्यापि त्रिंशदहोरात्ररूपादृशकालनिष्ठप्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकतदीयाध्ययनत्ववत्त्वेन मासादिव्यापकत्वसंभवात् तदीयाध्ययनाभावस्य तत्र दिनान्तरावच्छेदेन वर्तमानस्यापि तदीयाध्ययनरूपप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात् । त्रिंशद्दिनसमूहरूपमासपदार्थं तु तद्वृत्तकदिनान्तरे तदीयाध्ययनाभावस्य प्रतियोगिव्यधिकरणतया नोक्तदोषः । तदघटकाहोरात्रश्च सूर्योदयावधिः सूर्योदयपर्यन्तस्याप्यवयवातिरिक्तः क्षणसमूहादिव । तेन त्रिंशद्दिने प्रत्यहमध्ययनस्थलेऽपि स्वापादिसमयावच्छेदेन मासत्वाधिकरणे क्षणादौ तदीयाध्ययनस्य प्रतियोगिव्यधिकरणाभावसत्त्वेन मासमधीते इति प्रयोगानुपपत्तिरिति दूषणानवकाशः । अभावे प्रतियोगिवैयधिकरण्यानिवेशे उत्तरीत्योक्तदोषतादवस्थमिति तन्निरासाय तन्निवेशः । प्रतियोगिवैयधिकरण्यं च व्यापकतावच्छेदकत्वेनाभिमतसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणतावद्विन्नवृत्तित्वम् । न तु तत्संबन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणावृत्तित्वमध्ययनादेः कालिकाव्याप्यवृत्तितया स्वाधिकरणकालेऽपि किञ्चित्क्षणाद्यवच्छेदेन स्वाभावस्य सत्त्वेन प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वाभावेन मासान्तर्गतैकदिनाध्ययनशालिन्यापि मासमधीते इति प्रयोगापत्तिः । कोशैकदेशमात्रे पर्वतादिसत्त्वेऽपि कोशत्वाकान्ततदन्यदेशनिष्ठसंयोगसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावस्य कोशत्वाकान्ते तत्र कालिकसंबन्धेन पर्वतरूपप्रतियोग्यधिकरणत्वसत्त्वेन प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्ववैशिष्ट्याभावेनातीततद्व्यक्त्यभाव एव कोशे तादृशप्रतियोगिवैयधिकरण्यविशिष्टतत्प्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य पर्वतत्वे सत्त्वात्

कोशं पर्वत इति प्रयोगापत्तिः । अतो व्यापकताघटकसंबन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्व-
निवेशः । यदा देवदत्तेन काश्यामुपवास एकाहस्तद्व्यादिकं वा क्रियते मासान्तःप्राति-
ष्ववशिष्टाहोरात्रेषु काशीतो बहिरुपोष्यते तादृशस्थले देवदत्तीयो भोजनाभावो मासं
काश्यामिति प्रयोगापत्तिः । काश्यवच्छिन्नत्वविशिष्टदेवदत्तीयभोजनाभावस्य काश्यनव-
च्छिन्नतादृशभोजनाभावस्य चैक्येन काश्यवच्छिन्नस्य तादृशभोजनाभावस्याभावो दिना-
न्तरात्मकतादृशमासत्वाधिकरणे वर्तमानोऽपि देवदत्तीयभोजनाभावात्मकप्रतियोग्यधिकर-
णत्वेन तन्मासत्वाक्रान्तदिनान्तरस्य न प्रतियोगिव्यधिकरणोऽपि त्वन्याभाव एव तत्प्रति-
योगितानवच्छेदकत्वस्य काश्यवच्छिन्नदेवदत्तीयभोजनाभावत्वे सत्त्वात् । एवं मासान्तर्ग-
तदिनद्वयं देवदत्तेन बहिरुपितं तदनन्तरमष्टाविंशतिदिनानि काश्यामुपितं तत्र देवदत्ता-
भावो मासं काश्यामिति प्रयोगापत्तिः । काश्यवच्छिन्नदेवदत्ताभावाभावस्य मासत्वाक्रान्तदि-
ननिष्ठत्वेऽपि प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावात् । देशान्तरावच्छिन्नत्वविशिष्टदेवदत्ताभावरूप-
प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात् । विशिष्टस्य शुद्धानतिरेकित्वात् । अतः प्रतियोगितावच्छे-
दकावच्छिन्नवैयधिकरण्यनिवेशः । तथा सति काश्यवच्छिन्नत्वविशिष्टदेवदत्तीयभोजना-
भावत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वस्य मासत्वाधिकरणदिनान्तरे सत्त्वात्
काश्यवच्छिन्नदेवदत्तीयभोजनाभावादिरपि प्रतियोगिव्यधिकरण इति नोक्तातिप्रसङ्गः ।
अत्रेदं बोध्यम् । द्वितीयार्थो न व्यापकत्वं व्यापकत्वस्य व्याप्यविशेषाघटितस्याखण्डस्य
दुर्बचतया तदघटितव्यापकत्वानामानन्त्याच्छक्त्यानन्त्यप्रसङ्गात् । प्रकृत्यर्थस्य विभक्त्यर्थे
निराकाङ्गतयानन्वयापत्तेश्चेति प्रतियोगिवैयधिकरण्यविशिष्टाभावे प्रतियोगितावच्छेदकत्वे
अभावे च खण्डशः वृत्तिः । प्रथमाभावे प्रकृत्यर्थमासादेराधेयत्वसंबन्धेनान्वयः । तद-
न्विताभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य तथाविधावच्छेदकत्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसं-
बन्धेन द्वितीयार्थान्तरेऽभावेऽन्वयः । तादृशाभावस्य चैत्रकर्तृकाध्ययनत्वरूपस्वाश्रयघ-
टितपरम्परासंबन्धेन चैत्रकर्तृकाध्ययनेऽन्वयः । तत्तत्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधि-
करणत्वेऽपि द्वितीयायाः शक्तिं स्वीकृत्य तस्य प्रकृत्यर्थे व्युत्पत्तिवैचित्र्याद्विशेषणत्वमिति
वास्तु । तत्र शक्तिस्वीकारे शक्त्यानन्त्यम् । लक्षणाङ्गीकारे विभक्तौ न लक्षणेति सिद्धा-
न्तविरोधो गौरवं चेति चेदत्राहुः । अगत्या शक्त्यानन्त्यादि स्वीक्रियते । एवं तत्तद्व्या-
प्यान्तर्भावेणापि शक्तिरभ्युपेयते विशिष्टव्यापकत्वे एव निरूपकत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्या-
न्वयो न तु व्यापकताघटकमासत्वादौ । अतो न मासत्ववतो मासत्वे आधेयत्वेनान्वये
निराकाङ्गतयानन्वयप्रसक्तिरिति दूषणावकाशः । अत एव खण्डशः शक्तिस्वीकारे विभि-
न्नपदजन्योपस्थितेहेतुभूताया अभावानन्वयबोधसंभव इति दूषणस्याप्यनवकाशः । किं च

संबन्धत्वेनैव बोधस्यानुभवसिद्धतया न शक्त्यानन्त्यप्रसक्तिरपीति । अन्ये तु स्वनिष्ठमे-
दप्रतियोगितावच्छेदकनिष्ठप्रतियोगिताकत्वविशिष्टाधेयतासंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्य व्यापकता-
घटकाभावेऽन्वयोपगमेन सामञ्जस्यान्न प्रतियोगिवैयधिकरण्यस्य विभक्त्यर्थेऽन्तर्भावः ।
न वा व्याप्यस्याप्यन्तर्भाव इति न गौरवमिति दिगित्याहुः । मासत्वं च तन्मासभेदेन
भिन्नमिति यत्किंचिदेकमासमात्राधिकरणकाध्ययनशालिनि न तादृशप्रयोगानुपपत्तिरिति
स्पष्टं व्युत्पत्तिवादादौ । दिवसं स्वपितीत्यादौ दिवसपदस्य सूर्योदयावधिसूर्योदयपर्य-
न्तक्षणसमूहपरतया नैकदण्डादिमात्रस्वापे तथाप्रयोगः । योजनं पर्वत इत्यत्र द्रव्येण
क्रोशं कुटिला नदी क्रोशं रमणीयेत्यत्र कौटिल्यादिगुणेन मासं भोजनाभाव इत्यत्राभावे-
नात्यन्तसंबन्धाद् योजनादिपदोत्तरं द्वितीया । ननु मासमास्ते गोदोहमास्ते मास आस्यते
गोदोह आस्यत इत्यादाविव मासमधीते इत्यत्रापि धातोर्व्यापनपर्यन्तं वृत्तिस्वीकारेणैव
'कर्तुरभिस्त'- इति कर्मत्वेन द्वितीयासिद्धौ 'कालाध्वनोः'- इति सूत्रं व्यर्थम् । तथा
चोक्तं वाङ्मयपदीये

‘कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरेः ।

सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥’

इति । तत्राकर्मकैरित्युक्तावपि न्यायसाम्येन सकर्मकधातोरपि तदर्थान्तर्भावेण वृत्तिस्वीकारे
वाधकाभावः । अत एवैतत्सूत्रस्य वैयर्थ्यमुक्ताभिप्रायेण प्राकृतमेवेतत् कर्मेति प्रकृतसूत्रस्थ-
भाष्येणाशङ्कितम् । अकर्मके एवोत्तरीतरभ्युपगमे मासमधीते इत्यादिप्रयोगनिर्वाहार्थं
सूत्रावश्यकत्वे शङ्का असंगता स्यात् । न च तादृशशङ्कापरभाष्यात्तादृशप्रयोगो नेष्यत
एवेति वाच्यम् । ‘अपवर्गे तृतीया’ इति सूत्रे अन्यथा मासमास्ते मासमधीते इति
द्विविधप्रयोगनिर्वाहकस्यास्य सूत्रस्य वैयर्थ्यशङ्कानुपपत्तेः । एतत्सूत्रे आस्यते मासः शक्यते
क्रोश इत्यकर्मकधातुघटितप्रयोग एवास्ति । न तु मासमधीते इत्यादिः सकर्मकधातुघ-
टितः प्रयोगो येन तत्रापि व्यापनान्तर्भाव आस्थेयः । मासमधीतेऽनुवाको न चानेन
गृहीत इति प्रयोगात् तादृशप्रयोगाणामधीष्टत्वात् । अत एव मासमोदनं पचतीति प्रयो-
गोऽपि व्यापनकर्मत्वविवक्षयापि भवति । कालादिकर्मणो बहिरङ्गतया न तत्र लादिरपि
त्वन्तरङ्गे प्रव्यकर्मण्येवेति स्पष्टं भाष्यप्रदीपोद्घोषते । अनयैव रीत्यात्यन्तसंयोगे कर्मवत्त्वा-
द्यर्थमिति वचनमपि न कर्तव्यमिति भाष्ये उक्तम् । अकर्मकधातुभिरिति वचनं तु
भाष्ये नास्त्येव । ‘अकथितं च’ इति सूत्रभाष्ये

‘कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ।’

इत्यपि सिद्धान्तकथनं न त्वपूर्वं हिशब्दप्रयोगादिति स्पष्टं शोखर, दौ । तत्र कालादिकर्म प्रधानं कर्म द्रव्यमप्रधानं कर्म कालादेराधारत्वेन द्रव्यद्वारैव क्रियासंबन्धात् । तस्मात् सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न । यत्राक्रियया संयोगस्तदर्थमिदं वक्तव्यमिति भाष्ये एव समाधानात् । कथं तर्हि मासमधीते इत्युदाहरणमिति चेत् संबन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठीबाधनार्थत्वेन क्रियायोगार्थमप्यस्यावश्यकत्वेन यत्र क्रियाकारकभावेन नान्वयविवक्षा तत्रात्यन्तसंयोगार्थमिति तद्भाष्यव्याख्यानस्योचितत्वमित्याशयात् । यद्यपि क्रोशं कुटिला नदीत्यत्रास्तीति क्रियाव्याहारं विना प्रथमायाः साधुत्वानिर्वाहात्तदध्याहारावश्यकता तथापि कौटिल्यादेरेव क्रोशव्यापकत्वविवक्षायां द्वितीयासिद्धयर्थमिदमिति न भाष्यादिग्रन्थासंगतिः । तत्र कौटिल्यादिरूपे पदार्थैकदेशेऽन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् तद्विशिष्टधर्मिणि वा अन्ये तु सर्वत्र तत्तद्वातोर्व्याप्तिपर्यन्तं वृत्तिं स्वीकृत्य क्रोशं कुटिला नदीत्यादावपि द्वितीयोपपादनेऽपि मासि मासमासितेत्यत्र कृद्योगलक्षणा षष्ठेव स्यान्न द्वितीयेति तदर्थमिदमावश्यकमित्याहुः । इति द्वितीयार्थनिरूपणम् ॥

धूमेन वह्निमनुमिनोति । अत्र करणे तृतीया । धूमादिज्ञानस्यानुमितिकरणतापक्षे धूमादिशब्दः स्वज्ञानपरः । ज्ञायमानस्य करणतामते तु सुव्यर्थक एव । व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिपरामर्शस्य व्यापारत्वाद् व्याप्तिविशिष्टधूमादिज्ञानस्य करणतानिर्वाहः । अन्वयितावच्छेदकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छेदेन धूमादिज्ञानकरणकत्वान्वयोपगमाद्यत्र वह्नयनुमितौ तद्व्यक्तित्वादिरूपलिङ्गान्तरेण घटादिभानं तत्र तद्व्यक्तित्वादिना वह्निमनुमिनोतीति न प्रयोगः । न वा धूमेन घटमनुमिनोतीति प्रयोगः । ननु तार्किकनये इदं संभवति न शाब्दिकनये । तथा हि तत्रये विधेयताविधेयतावद्द्वितीयार्थः । वह्नयन्वितायास्तस्या निरूपकत्वादिसंबन्धेनानुमितावन्वयः । तादृशविधेयतादिविशिष्टायामनुमितौ धूमज्ञानकरणकत्वान्वयाद्वह्निविधेयत्वादेरन्वयितावच्छेदकत्वसंभवः । शाब्दिकमते त्वनुमित्यनुकूलव्यापारो धात्वर्थः । विधेयतासंबन्धः फलतावच्छेदकः । इत्थं च वह्निविधेयकानुमितित्वस्यान्वयितावच्छेदकत्वाभावः स्पष्ट एव । तथा च पूर्वोक्तातिप्रसङ्गे दुर्वार एवैतन्मत इति चेन्न । विधेयतादिस्थानीयविधेयतासंबन्धेनानुमितिसंगद्वह्नयवच्छेदेन धूमादिज्ञानकरणकत्वान्वयोपगमेनोक्तातिप्रसङ्गासंभवात् । ननु तथापि यत्र धूमलिङ्गकवह्नयनुमितौ घटादिज्ञानेन द्रव्यत्वाद्यवगाहित्वं तत्र घटेन न वह्निमनुमिनोतीति नञ्घटितप्रयोगानुपपत्तिः । उक्तसमूहालम्बनवह्नयनुमितौ घटज्ञानकरणकत्वाभाववायेन तत्प्रयुक्तघटज्ञानकरणत्वविशिष्टोक्तानुमितिविरहबोधनासंभवात् । धूमेनेदं बहोरुमानं न घटेनेति प्रयोगस्य तार्किकमतेऽप्यनुपपत्तिः । पूर्वोक्तस्थले प्रथमान्तार्थं घटज्ञानकरणकव-

इयन्मुमितेघटे वह्निव्याप्यत्वभ्रमदशायां प्रसिद्धाया अभावबोधनसंभवेऽप्यत्र तदसंभवादिति चेन्नोक्तसमूहालम्बनात्कानुमितिसत्त्वे धूमकरणकं वह्निरेदमनुमानं न घटकरणकमिति प्रयोगस्य सरणेरत्र प्रदर्शनीयत्वाद् यथा तादृशप्रयोगो नेष्यते तथागत्या पूर्वोक्तप्रयोग-गद्वयमपि नेष्यत इत्याहुः । अन्ये तु धूमादिपदं ज्ञानकरणतामतेऽपि मुख्यार्थकमेव 'हेतौ' इति सूत्रेण तृतीयासंभवात् प्रयोजकत्वरूपं हेतुत्वं जनकतावच्छेदकसाधारण-मिति विप्रयितयानुमितिजनकतावच्छेदकधूमादावपि तदक्षतम् । प्रयोजकत्वं जन्यतावच्छेदकतारूपं प्रयोज्यत्वं वा तृतीयार्थः । तस्य वह्निमित्यादिविभक्त्य-न्तार्थवह्निविधेयकत्वे निरूपकतादिसंबन्धेनान्वयाभ्युपगमाभावात् घटेन वह्निमित्या-दिप्रयोगापत्तिः । वह्निविधेयकत्वे घटनिष्ठप्रयोजकतानिरूपकतायभावात् । तत्र घट-प्रयोज्यत्वाभावस्याबाधितत्वात् घटेनेत्यादिप्रयोगोपपत्तिश्च । धूमेन वह्निमित्यादिप्रयोगो-पपत्तिर्वह्निविधेयताया धूमनिष्ठप्रयोजकतानिरूपकत्वात् प्रयोज्यत्वाच्च । शाब्दिकमते विभक्तौ लक्षणाविरहेण विधेयताया विभक्त्यर्थताविरहाच्च घटितोक्तप्रयोगनिर्वाहायाग-त्यानुपूर्वकामिनोत्तरेव वह्निविधेयताकानुमितिलाक्षणिकत्वं वह्निमित्यादिविभक्त्यन्तस्य तात्प-र्यप्राप्तकत्वं चाङ्गीकरणीयम् । एवं च मात्रोक्तसमूहालम्बनानुमितितात्पर्येण घटेन वह्नि-मनुमिनोतीति प्रयोगापत्तिः । न घटेन वह्निमनुमिनोतीति प्रयोगस्तु धात्वर्थकदेशवह्नि-विधेयकत्वादौ तृतीयार्थान्वयाभ्युपगमे एव संपाद्यवह्निविधेयकत्वादौ घटादिज्ञानप्रयो-ज्यत्वाभावप्रयुक्तविशिष्टानुमित्यभावबोधनसंभवेन संपाद्य इत्याहुः । पुत्रेण सहागतः पितेत्यत्र 'सहयुक्ते चाप्रधाने' इति तृतीया । सहशब्दार्थः साहित्यम् । तच्च समभिव्याह-तपदोपस्थाप्यक्रियादिसमानकालिकक्रियायन्वयित्वम् । तदन्वयित्वं च समभिव्याहतक्रि-यादिबोधकपदेन साहित्यान्वयिनि क्रियाया यादृशः संबन्धः प्रतीयते तादृशः संबन्ध एव । पुत्रेणेत्यादौ कर्तृत्वरूपः सः । पयसा सहोदनं भुङ्क्ते पयसा सहोदनो भुज्यत इत्यादौ कर्मत्वम् । खट्वेन सह वागेन हत इत्यत्र करणत्वम् । शिष्येण सह गुरवे दक्षिणा दीयत इत्यत्र संप्रदानत्वम् । प्रयागेण सह काश्या देवाः सन्तीत्यत्राधिकरणत्वम् । पुत्रेण सह स्थूल इत्यादावाधारत्वादिः संबन्धः पुत्रेणेत्यादौ तृतीयार्थोऽपि कर्तृत्वादिकमेव । आधे-यतासंबन्धेन पुत्रान्वितकर्तृत्वस्यागमनसमानकालिकागमनकर्तृत्वरूपसहार्थघटकीभूताग-मने निरूपकतासंबन्धेनान्वयः । सहार्थकर्तृत्वस्य पितर्याश्रयतयान्वयः । तद्विशिष्टकृत्प्र-त्ययान्तार्थस्यागमनकर्तुरभेदेनान्वयः । न चोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्याभिराकाङ्क्ष-त्वमिति वाच्यम् । कर्मकर्तृत्वादेः संबन्धत्वेनैव सहार्थोऽन्तर्भाववैक्यरूपोद्देश्यतावच्छेदक-विधेययोरैक्ये एव निराकाङ्क्षतया प्रकृते तदभावात् । यद्वा संबन्धिसमानकालिकपदा-र्थसंबन्धित्वमेव सहशब्दार्थः । संबन्धश्च कर्तृत्वादिरिव संबन्धत्वेन पूर्ववदन्तर्भाव्यः

पुत्रपदोत्तरतृतीयार्थः । कर्तृत्वं सहशब्दार्थान्वयबलात् प्रतीयमानागमनक्रियानिरूपितम् । अत एव शिष्येण सहागत इत्यादौ कर्तृतृतीययैव सिद्धमिति भाष्यस्य नासंगतिः । प्रतीयमानक्रियासंबन्धस्यापि कारकविभक्तिप्रयोजकत्वस्य कृत्तत्वात् पुत्रसंबन्धिसमान-कालिकपदार्थसंबन्धीयतेति बोधे कृते आगमनस्य पुत्रसंबन्धं विना प्रतीतस्य पुत्रस्य संबन्धितादृशपदार्थसंबन्धित्वस्यानुपपत्त्या पुत्रेऽपि न तत्संबन्धस्य मनसा प्रत्याप्यत्वात् पुत्रपदार्थस्य तृतीयाबोधितस्वनिष्ठकर्तृत्वादिनिरूपकत्वसंबन्धे सहार्थघटकसंबन्धिन्यन्वयः । पयसा सहौदनं भुङ्क्ते इत्यत्र प्रतीयमानक्रियानिरूपितकर्मतृतीयाघटितसंबन्धेन पुत्रस्य संबन्धिन्यन्वयः । अथवा तादृशपदार्थान्वयित्वसमनियतमखण्डपदार्थान्तररूपं साहित्यम् । शेषं पूर्ववत् । अत्र कल्पे उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यशङ्कापि न । तादृशसाहित्यस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वात् । तथा च पुत्रसाहित्यवान् पितागमनकर्तृभिन्न इत्यादिबोधः । एतन्मते प्रकृत्यर्थस्य साहित्ये निरूपितत्वसंबन्धेनान्वयः । सपुत्र इति समासघटकसह-शब्दस्य तु धर्मिपरत्वम् । अत एव तस्य पित्रादिपदेन सामानाधिकरण्योपपत्तिः । अत एव च 'तेन सह' इति बहुव्रीहिविधानं चरितार्थम् । साहित्यवतोऽन्यपदार्थत्वाभावेन 'अनेकम्-' इति सूत्रस्याप्राप्तेः । साहित्यमात्रार्थकत्वाङ्गीकारेण तु तत्सूत्रखण्डनं भाष्य-कृतम् । अथवा सहार्थः साहित्यम् । तच्च समभिव्याहृतपदापस्थापितागमनादिपदसमान-कालिकपदत्वादिकमेव । ल्याघवात् । आदिपदेन समानदेशत्वं तत्समनियतमखण्डोपाधिरूपं वा साहित्यं तदर्थः । तस्य चागतादिपदापस्थाप्यागमनादावन्वयः । तृतीयार्थश्च क्रिया-समभिव्याहारे क्रियाया यादृशसंबन्धः प्रधाने प्रतीयते स एव कर्तृत्वादिः सहार्थान्वय-बलात् प्रतीयमानतत्तत्क्रियानिरूपितो द्रव्यादिसमभिव्याहारे सहार्थान्वयबलात् प्रतीयमान-तत्तत्पदार्थनिरूपितः स्वस्वमिभावादिरेव संबन्धः । तस्य च धात्वाद्यर्थगमनादावन्वयः । पुत्रेण सह स्थूल इत्यादौ स्थूलपदार्थैकदेशेऽपि स्थौल्यादौ व्युत्पत्तिवैचित्र्येण सहार्थस्थौ-ल्यसमानकालिकत्वस्यान्वयः । तथा च पुत्रेण सहागतः पिता पुत्रेण सह पितृगौः पुत्रेण सह स्थूल इत्यादौ पुत्रकर्तृकागमनसमानकालिकागमनाश्रयः पुत्रस्वामिकत्वसमा-नकालिकपितृस्वामिकत्ववती गौः पुत्रवृत्तिस्थौल्यसमानकालिकस्थौल्यवानित्यादि क्रमेण बोधः । सपुत्र इत्यादौ तु समुदायार्थे तादृशक्रियादेरन्तर्भावान्नासामर्थ्यम् । व्यपेक्षावादे समासघटकसहशब्दस्यागमनसमानकालिकागमनवान् लक्षणयार्थः पुत्रपदस्य पुत्रकर्तृ-कत्वमर्थस्तस्य चागमनेऽभेदेनान्वयः । पुत्रस्य स्वनिष्ठकर्तृतानिरूपकत्वेन वा सहार्थागम-नेऽन्वयः । पुत्रेण सह स्थूल इत्यत्र पुत्रपदस्य पुत्राधेयत्ववानर्थः । सहपदस्य स्थौल्यसमान-कालिकस्थौल्यवान् । पूर्वपदार्थस्योत्तरपदार्थेऽन्तर्गतस्थौल्येऽभेदः संसर्गः पुत्रस्याधेयत्वेन

वान्वयः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । अगत्या व्यस्तसमासवाक्ययोरसमानाकारबोधजनकत्वं सपुत्र आगतः सपुत्रः स्थूल इत्यादौ क्रियायाः पित्रादौ द्वेधासंबन्धभानं चोपगम्यते । पुत्रेण सहागतः पितेत्यत्र व्यर्थं तस्य द्वेधाभानमित्यभिप्रायेणोत्तरपक्षोऽङ्गीकृतो वृद्धेः । वक्ष्यमाणरीत्या नञ्घटितवाक्ये प्रकृतधातुस्थितक्रियायामेव पुत्रकर्तृकागमनादिसमान-
कालिकत्वभानस्यावश्यकत्वाच्च । यत्र क्षेत्रे माषवापोत्तरं तिला उप्यन्ते तत्र तिलैः सह माषान्वय इति भावः । तत्र समभिव्याहृतपदार्थसमानदेशत्वं तदर्थः । इतस्तु पूर्ववत् । ननु कर्तृतृतीययैव गतार्थता सूत्रस्य । न च पुत्रेण सहागमनं देवदत्तस्येत्यत्र कुद्योगलक्षण-
पट्टीबाधनार्थं तदिति वाच्यम् । इतरसमभिव्याहारं विनापि प्रतीयमाने कृतप्रत्ययार्थकर्त्रा-
देरेव तत्र ग्रहणात् । केनाविधानान्न कर्तृतृतीयाप्राप्तिरित्यपि न एतादृशकर्तुरेव
केनाविधानादिति चेन्न । उक्तरीत्या पुत्रेण सह स्थूल इत्याद्यर्थं तस्यावश्यक-
त्वात् । इदं तु बोध्यम् । पूर्वमते पुत्रेण सह नागच्छतीत्यादौ नञ्समभिव्याहारे समभि-
व्याहृतक्रियादावेव सहशब्दार्थस्यागमनादिसमानकालिकत्वस्यान्वय उपगन्तव्यः ।
अन्यथा पुत्रानागमनस्थले पुत्रसाहित्यस्य पितरि बाधेऽपि पुत्रसाहित्यवत् पितृकर्तृकाग-
मनाभावस्याबाधेन पुत्रेण सह नागच्छति पितेत्यादिप्रयोगस्योपपत्तावपि पुत्रेण सह
नागतः पिता पुत्रेण सह न स्थूल इत्यादेरनुपपत्तिः । तत्र पुत्रसाहित्यवति पितरि आग-
मनकर्तृभेदस्य स्थूलभेदस्य च बोधो वक्तव्यः । स च तत्र पुत्रसाहित्यस्योक्तभेदस्य च
बोधान्न संभवति । समभिव्याहृतक्रियादौ पुत्रकर्तृकसमानकालिकत्वस्यान्वयाभ्युपगमे तु
उक्तस्थले पुत्रकर्तृकागमनसमानकालिकागमनकर्तृभेदस्य पुत्रनिष्ठस्यौल्यसमानकालिक-
स्थौल्यवद्वेदस्य च पितर्यबाधेनोक्तप्रयोगनिर्वाह इति समभिव्याहृतशब्दोपस्थितिसहकारेण
तदर्थक्रियाद्यन्वयित्वाभावोऽत्राप्राधान्यम् । स च विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः
पुत्रादौ वर्तते । सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीत्यादौ विद्यमानतावाचिसहशब्दयोगो
क्रियाद्यन्वयरूपविशेष्याभावकृतोऽपि विशिष्टाभावः । तादृशसहशब्दयोगऽपि तृतीय-
भवति । विनिगमनाविरहात् तादृशसंख्याकपुत्राणां विद्यमानत्वेऽपीत्यर्थ इति वदन्ति ।
तेषामयमाशयः । सहशब्दो लुप्तसप्तम्यन्तः । सा च सतिसप्तमी । अपिशब्दाध्याहारश्च ।
तेनोक्तार्थलाभ इति । अन्ये तु विद्यमानेत्याद्यध्याहार एवं च विद्यति क्रियाप्रयुक्तसाहित्य-
निर्वाह इति प्रत्यपीपदन् । ननु 'प्रासोष्ठ शत्रुघ्नसुदारचेष्टमेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन'
इत्यादौ शत्रुघ्नलक्ष्मणप्रसवयोः समानकालत्वविरहेण क्रियाद्वयसमानकालिकत्वस्य
सहशब्दार्थत्वासंभव इति चेन्न । तत्रापि स्थूलकालघटितसमानकालिकत्वसंभवात् । एवं

‘शिशोर्मातरि गर्भिण्यां चूडाकर्म न कारयेत् ।

सहोपनीत्या कुर्याच्चेत्तदा दोषो न विद्यते ॥’

इत्यादि स्मृतिवाक्येष्वपि बोध्यम् । तत्र दिनस्य सहाय्येऽन्तर्भावः । अन्यथा चूडाकर्म्मो-
पनयनयोः पूर्वापरीभावेन घटिकादिरूपैककालत्वाभावेनासंगत्यापत्तेः । नन्वेवं पुत्राग-
मनपूर्वकाले आगन्तरि आगतोऽयं न पुत्रेण सहेत्यस्यानापत्तिः । तत्रापि दिवसादि-
रूपस्थूलकालमादाय समानकालिकत्वसत्त्वादिति चेन्न । तत्र क्षणत्वादिनैव कालस्य
संहं शब्दार्थेऽन्तर्भावनीयत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । दण्डेन घटः पयःपानेन स्थूलः पुण्येन
दृष्टो हरिः अत्र 'हेतौ' इति सूत्रेण तृतीया न तु 'कर्तृकरणयोः' इति करणे । दण्डस्य
व्यापारवत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावेन करणत्वाभावाद् व्यापारवत्त्वे सति क्रियाजनकस्यैव
करणत्वात् । ननु अस्तीत्यध्याहारस्यावश्यकतया क्रियाजनकत्वमक्षतमेवेति चेन्न ।
क्रियाजनकत्वाभावादित्यस्य तज्जनकत्वविवक्षणाभावादित्यर्थकत्वात् । दण्डाभावेऽपि घटस-
त्तायाः सत्त्वेन दण्डस्य तदजनकत्वाच्च । पयःपानस्य शुक्रवृद्धिसंपादनरूपव्यापारसत्त्वेऽपि
स्थौल्यात्मकगुणजनकत्वं न क्रियाजनकत्वम् । पुण्यस्य परमापूर्वरूपादृष्टविशेषात्मनो दर्शन-
क्रियाजनकत्वेऽपि व्यापाराभावः । पुण्यपदस्य दानादिपरत्वे तु करणतृतीयैव । द्रव्यगुणाक्रि-
यान्यतमजनकसव्यापारनिर्व्यापारान्यतरवृत्तिधर्मविशेषो हेतुत्वम् । तदुक्तं वाक्यपदीये-

‘द्रव्यादिविषयो हेतुः करणं नियतक्रियम् ।

अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते ॥’ इति ।

तथा च हेतुत्वं करणत्वयोर्भेदात्तेन रूपेण बोधनिर्वाहार्थं सूत्रद्वयमावश्यकमिति भवन्ति
स्म वृद्धाः । अन्ये तु करणे तृतीयानुशासनविरहे शरैः शातितपत्र इत्यादौ वृत्तिघटकैक-
देशभूतशातनक्रियायाः शरहेतुत्वान्वये सापेक्षत्वेनासामर्थ्ये समासस्य साधुत्वानुपपत्तिः ।
करणतृतीयायास्तु कारकविभक्तितया

‘प्रतियोगिपदादन्यद्यदन्यत् कारकादपि ।

वृत्तिशब्दैकदेशेन न तस्यान्वय इष्यते ॥’

इति व्युत्पत्तौ कारकपर्युदासेन करणविभक्तेः कारकविभक्तित्वेन करणत्वसापेक्षत्वेऽपि
नोक्तानुपपत्तिः । एवं धनवता ऋणेन बद्ध इत्यत्र ऋणपदात्तृतीयानुपपत्तिः । हेतुतृती-
याया ‘अकर्तृवृत्तेः’ इति सूत्रानुशिष्टपञ्चम्यापवादभूतया बाधितात् । अतः करणे तृती-
यानुशासनमावश्यकमेव तत्सत्त्वे तु करणत्वविवक्षायां तृतीया सिध्यतीत्याहुः । एतन्मतेऽपि
विभिन्नप्रकारकबोधकत्वं तयोरिति पर्यवसन्नमेवेति बोध्यम् । ननु यत्रैकैव पाकक्रिया
चैत्रेण काष्ठैर्मैत्रेण तुषप्रक्षेपेण निष्पाद्यते तत्र चैत्रस्तुषैर्न पचति किं तु दारुभिरेवेति
प्रयोगानुपपत्तिः । तस्यां पाकक्रियायां चैत्रकर्तृकत्वस्य तुषहेतुकत्वस्य तत्करणकस्य च

सत्त्वेन तद्विशिष्टक्रियाभाववाधानिखिलविशेषेण विशिष्टक्रियाया एवाभावस्य नञा बोधनी-
यत्वात् । न्यायमते तु नैष दोषः । तुषहेतुकत्वस्योक्तपाके सत्त्वेन तदभाववाधेऽपि सम-
भिव्याहृतकर्तृव्यापाराधीनव्यापारघटितकरणत्वस्य कर्तरि व्यापारवत्त्वस्य सत्त्वेनातिप्रसङ्ग-
वारणार्थं विवक्षणीयस्य तुषेष्वासत्त्वेन तत्करणकत्वाभावस्य तस्मिन् पाकेऽधाधितस्य
बोधनसंभवात् । कृतिरूपकर्तृव्यापाराधीनव्यापाराश्रये कर्तर्येतिप्रसङ्गवारणाय कर्तरि
स्वभेदो निवेशनीय इति चेन्न । कर्तृभेदेन पाकक्रियाया अपि भेदेन चैत्रकर्तृकपाके
तुषकरणकत्वाभावावाधेन तुषकरणकचैत्रकर्तृकवर्तमानपाकाभावस्य तत्राक्षतत्वेनादो-
षात् । तथा च चैत्रः काष्ठैः पचति मैत्रस्तुपैः पचतीति वाक्यभेदस्तत्रेष्ट एवेत्याहुः ।
अध्ययनेन वसति अत्राध्ययनस्य वासफलस्यापि स्वज्ञानद्वारा वासनिमित्ततया हेतुत्वेन
विवक्षायां तृतीया । अध्ययनाभिन्नहेतुक एककर्तृको वास इति बोधः । स्पष्टं चेदं
'प्रत्ययः' 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यादिसूत्रेषु कैयटे । नन्वेवं काश्यादेरापि वासहेतु-
तयापि हेतुत्वविवक्षायां तृतीयाप्रसक्तिरिति चेन्न । अधिकरणत्वविवक्षायां परया सप्तम्या
बाधनात् तदविवक्षायां तु करणत्वविवक्षायामिवेष्टापत्तेः । अपरे तु इह सूत्रे हेतुशब्देन
फलमपि गृह्यतेऽत एवाध्ययनरूपफलजनको वास इत्यनुभवसिद्धबोधनिर्वाहः । न च तत्र
लक्षणेति वाच्यम् । विभक्तौ लक्षणानङ्गीकारात् । तत्र फलत्वेन फलं विभक्त्यर्थः ।
अभेदेन तत्र प्रकृत्यर्थस्य तस्य च वासे जनकतासंबन्धेन विशेषणत्वम् । एतेन हेतुत्वं
ज्ञानाद्वारकमेव गृह्यते । अत एव धूमादित्यादौ धूमादिपदस्य तज्ज्ञाने लक्षणाङ्गीक्रियते
तात्त्रिकैः । एवं च कथमत्र तृतीयेति देश्यं परास्तमित्याहुः । ज्ञानद्वारकनिमित्तत्वाना-
श्रयणेऽपि फलस्य हेतुशब्देनापरिग्रहेऽपि 'हेतौ' इति सूत्रेणाध्ययनपदाद्धेतुत्वार्थिका हेत्व-
र्थिका वा तृतीया सिध्यति । हेतुत्वे तदर्थे अध्ययनस्य निरूपितत्वं संबन्धः । वासे
तस्याश्रयत्वं हेतुरूपतदर्थेषु स्वनिरूपितहेतुत्वं संबन्धः । अध्ययननिष्ठहेतुत्वनिरूपितो
वास इत्याद्याकारको बोध इति तु न शङ्क्यम् । हेतुत्वाद्यर्थे प्रत्यासत्त्या तदाश्रयार्थकाद्
विभक्तिरित्यर्थस्यैव लाभः । अत एव 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति सूत्रविहिता तृतीया
न कदाचिदपि क्रियार्थकाद्भवति अपि तु कर्त्रार्थकादेव । अन्यथा देवदत्तेन भुक्तमि-
त्यादौ भुक्तादिपदादपि तृतीया स्यात् । न च कर्म क्तान्तस्य 'सत्त्वप्रधानानि नामानि'
इति निरुक्तात् कर्मप्रधानकतया प्रधानार्थेनैव प्रत्ययार्थान्वयस्य कृत्स्नत्वात्तन्निरूपितकर्तृ-
त्वाद्यसंभवान्न ततस्तृतीयापत्तिरिति वाच्यम् । एवमपि भुक्तिकर्ता देवदत्त इत्यर्थविवक्षायां
भुक्तिपदात् 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठीप्रसक्त्या भुक्तेर्देवदत्त इत्यादिप्रयोगात् दुर्वा-
रत्वात् देवदत्तस्य भुक्तिरित्यस्यैवेष्टत्वात् । न च परत्वात् प्रथमा भविष्यतीति नोक्ताप-

त्तिरिति वाच्यम् । षष्ठ्या अन्तरङ्गत्वात् प्रथमाया एवापवादत्वमित्यस्य वक्तुं शक्यत्वात् । तादर्थ्यविवक्षायां मध्ययनाय वसतीति चतुर्थ्यपि भवति । उपकारत्वं चतुर्थ्यर्थः । तत्र प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वं संसर्गः । अध्ययननिरूपितोपकारकतावान् वास इति बोधः । उपकार्योपकारकत्वं वा चतुर्थ्यर्थः । उपकार्ये भेदसंबन्धेन प्रकृत्यर्थोऽन्वेतीति बोधगन्तव्यम् । दास्या संयच्छते कामुकः अत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया । अशिष्टव्यवहारे इत्यादिवचनात् । अत्र धातुर्दानपूर्वकोपभोगार्थः । संप्रदानत्वशक्तिमांस्तृतीयार्थः । दासीसंप्रदानकदानपूर्वकोपभोगो वाक्यार्थः । 'दाणश्च सा चेत्-' इति सूत्रेणात्मनेपदविधायकेन चतुर्थ्यर्थे तृतीया ज्ञाप्यते चेदित्यनेन तदनित्यत्वं ज्ञाप्यते इत्यशिष्टव्यवहार इत्यंशसिद्धिः । अशिष्टानां निषिद्धाचाराणां व्यवहारः क्रियारूप इति स्पष्टं तत्सूत्रे एव भाष्ये इति शिवम् ॥

पत्ये शेते अत्र 'क्रियया यमभिप्रैति-' इति संप्रदानसंज्ञा । संप्रदानत्वशक्तिमान् विभक्त्यर्थः । पतिसंप्रदानकं शयनमिति बोधः । भाष्यकारमते तु क्रियापि कुत्रिमं कर्म संदर्शनप्रार्थनव्यवसायजन्यारम्भक्रियानिरूपितं तस्याः कर्तुरीप्सितमिति कर्मत्वम् । एवं च 'कर्मणा यमभि-' इतिसूत्रेणैव संप्रदानसंज्ञापत्तिरित्याहुः ।

‘संदर्शनं प्रार्थनायां व्यवसाये त्वनन्तरा ।

व्यवसायस्तथारम्भे साधनत्वाय कल्पते ॥

पूर्वस्मिन् या क्रिया सैव परस्मिन् साधनं मता ॥’

इति । संदर्शनं फलविषयकसंकल्पः स च ज्ञानमिच्छा वा । तत् प्रार्थनायां फलोपायात्मिकायां हेतुः । व्यवसायो यागपाकादेर्व्यापारस्य फलविशेषसाधनत्वेन निश्चयः । तत्रानन्तरा प्रार्थना हेतुः । अभिलाषे सति तादृक्प्रयत्नोदयात् । व्यवसायश्चारम्भे प्रवृत्त्यात्मनि हेतुस्तेनाप्यमाना प्रकृतक्रिया कर्मत्वभागभवति । पूर्वस्मिन् पूर्वकाले । परस्मिन् उत्तरकालभाविनि । एतन्मते पतिसंप्रदानकर्मारम्भकर्मरूपं पत्नीकर्तृकं शयनमिति बोधः । अभिधानाभावान्न घटं करोतीत्यादावतिप्रसङ्ग इत्याहुः । पशुना रुद्रं यजते अत्र फलाशये करणत्वशक्तिरुद्देश्ये 'कर्मत्वशक्तिः कर्मणः करणसंज्ञा संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा' इति वचनात् । पशुकरणको रुद्रकर्मको याग इति शाब्दोऽर्थः । रुद्रोद्देश्यकः पशुनिष्ठस्त्वनिवृत्त्यनुकूलो व्यापार इति त्वार्थः । अयमेवान्यमते शाब्दः । एवमेवान्यत्रापि बोध्यम् । हरये रोचते भक्तिः प्रीत्यनुकूलस्तत्समानाधिकरणो व्यापारो रोचतेरर्थः । प्रीतिरन्तःकरणवृत्तिविशेषः । स च सविषयको मदीयत्वादिप्रकारकज्ञानरूपोऽयमिष्टभागभवत्वित्या-

कारेच्छारूपो वा । हरिनिष्ठप्रीतेर्नित्यत्वेऽपि विषयस्यानित्यतया फलतावच्छेदकविषयताया अनित्यत्वमिति संबन्धेन प्रीतेर्जन्यत्वारोपेण तदनुकूलत्वनिर्वाहः । आरोपानङ्गीकर्तुंमते तु निर्धारकतासंबन्धेन तत्कलविशिष्टज्ञानादिकमेव प्रीतिपदार्थः । एवं च शिखी ध्वस्त इतिवद्विशेषणफलमादायानुकूलतानिरूपकत्वनिर्वाहः । विषयतायाः फलतावच्छेदकत्वादेव न रोचतिः सकर्मकः । प्रीयमाण इत्यत्र प्रीन् तर्पण इत्यस्मात् कर्मणि लटः शानच् न तु प्रीङ् प्रीताविति दैवादिकात् । तस्याकर्मकत्वात् । अत एव प्रीयतां भगवानीशः परमात्मेत्यादौ कर्मरहितस्यैव प्रयोगः । न च तस्मात् कर्तर्येव लटः शानजङ्गीकारे क्षतिविरहः । एवं सति प्रीधात्वर्थव्यापाराश्रयस्य संज्ञेति सूत्रार्थोऽभ्युपेतव्यः । तथा सत्यपि प्रीतिसमानाधिकरणतदनुकूलव्यापाराश्रयत्वस्य हर्यादौ सत्त्वेन प्रकृते संज्ञासिद्धे-स्तादृशव्यापारानाश्रयेऽतिप्रसङ्गाभावाच्चेति वाच्यम् । प्रीधात्वर्थकर्मणः संज्ञेति सकलग्रन्थ-विरोधात् । ज्ञीप्स्यमान इति साहचर्येण कर्मण्येव शानच् उचितत्वाच्च । प्रीधात्वर्थफल-तावच्छेदकसंबन्धस्तु समवायः । अत एव हरिं प्रीणयतीत्यादिप्रयोगसिद्धिः । समवा-यसंबन्धेन प्रीत्याश्रयस्य 'रुच्यर्थानाम्-' इति सूत्रेण संप्रदानत्वम् । प्रीधातो रुच्यर्थ-त्वाभावाच्च तद्योगे संप्रदानत्वम् । अत एव प्रीयमाण इति निर्देशोपपत्तिः । एतत्सूत्राभावे हरिशब्दादेः षष्ठी प्राप्तेति शेषषष्ठ्यपवादत्वं चतुर्थ्याः । अन्ये तु रुचिधातुः प्रीधातुसमा-नार्थः । एवं च कर्मसंज्ञापवादिकेयं संज्ञा प्रीयमाण इति निर्देशादेव प्रीधातुपात्तप्रीत्या-श्रयस्य नेयं संज्ञेति वदन्ति । तन्मते गौरवम् । प्रीधातुयोगे संज्ञावारणार्थं निर्देशाश्रय-णान् । अभिलष्यतेश्च प्रीतिव्यधिकरणप्रीत्यनुकूलव्यापारोऽर्थः । फलतावच्छेदकसंबन्धो विषयता । अत एव न स रुच्यर्थ इति हरिभक्तिमभिलष्यतीत्यत्र हरेर्न संप्रदानत्वं येन सुखरूपफलाश्रयस्य देवदत्तादेः कर्मसंज्ञायां प्राप्तायामियं संज्ञा तदपवादभूतेत्याहुः । अत्रापि मते पूर्वोक्तं गौरवम् । अन्ये तु अभिलाषात्मकप्रीती रोचतेरर्थः विषयत्वरूपं कर्तृत्वमाख्यातार्थो लक्षणया षष्ठ्यपवादिका चतुर्थीति नारदसंबन्धिरुचिविषयतावान् कलह इति नारदाय रोचते कलह इति वाक्यजन्यबोध इत्याहुः । अपरे तु तार्किकाः प्रीतिजनकताप्रकृतधात्वर्थजनकतात्मकधात्वर्थव्यापाराश्रयतया कलहादेः कर्तृता आश्रय-त्वमाख्यातार्थं आश्रितत्वरूपः संबन्धश्चतुर्थ्यर्थ इत्याहुः । एतन्मतेऽपि षष्ठ्यपवादिका चतुर्थी प्रीधातुस्तु नैतदर्थक इति न पूर्वोक्तादिप्रसङ्गः । गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लघते हुते तिष्ठते शपते वा अत्र 'श्लघहुङ्स्थाशपाम्-' इति सूत्रेण ज्ञीप्स्यमानस्य संप्रदान-संज्ञा । ज्ञीप्स्यमानपदेन प्यन्तकर्मणोः प्रकृत्यर्थकर्मणो वा ग्रहणम् । प्यर्थस्य प्राधान्यात्

तत्कर्मणो ग्रहणम् । सन्स्वारस्यात् प्रकृत्यर्थकर्मणः । अन्यथा ज्ञाप्यमान इत्येव वदेत् प्रकृत्यर्थकर्मणोऽपि सन्नयेच्छविषयव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेन सन्नन्तकर्मतया तत्र लकारोत्पत्तिरविरुद्धेति तादृशनिर्देशोपपत्तिः । श्लाघ्यादेः स्तुत्यादीतिपूर्वको बोधनार्थः । स्तुत्या कृष्णमात्मानुरागं बोधयति । एवं ह्युत्यादीनां तं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः । हुतिरितरादर्शनयोग्यदेशस्थापनम् । कर्मसंज्ञापवादभूतेयं संज्ञा बोधविषयात्मानुरागस्तु प्रकरणादिगम्यः । कृष्णसंप्रदानक आत्मानुरागविषयकबोधानुकूलः स्मरहेतुकः स्तुत्यादिपूर्वको व्यापार इति शाब्दबोधः । प्रकृत्यर्थकर्मणो ग्रहणे स्तुत्यादिना कृष्णं स्वसखीजनं ज्ञापयतीत्यर्थः । देवदत्ताय शतं धारयतीत्यत्र 'धारेरुत्तमर्णः' इति सूत्रेणोत्तमर्णस्य संप्रदानसंज्ञा । उत्कृष्टार्थवृत्तेरुदस्तमम् । द्रव्यप्रकर्षादाम् न । उत्तममृणं यस्येति बहुव्रीहिः । अत एव निपातनान्निष्ठान्तस्य परनिपातः । उत्तमर्णो धनस्वामी । धृङ् अवस्थाने दिवादिः । तस्माद्वेतुमणिचि अवस्थित्यनुकूलव्यापारो धारयतेरर्थः । शतस्यावस्थितिरधमर्णे स्वकर्मकादानजन्यदुरदृष्टविशेषसंबन्धेन । अत एव परिशोधनपर्यन्तमधमर्णे चैत्रादौ संयोगाद्यसत्त्वदशायां संयोगानुत्पादादपि च शतं ध्रियते चैत्र इति प्रयोग उपपद्यते । एवं चैत्रो देवदत्ताय शतं धारयतीति च । न हि भवति प्रयोज्यव्यापारशून्यतादशायां पाचयतीति प्रयोगः । सष्टं चेदं 'हेतुमति च' इति सूत्रे भाष्ये । तदनुकूलो व्यापार ऋणापरिशोधनं सजातीयद्रव्यदानमङ्गीकृत्य परदत्तद्रव्यग्रहणं वा । न च ग्रहणोत्तरसमये ग्रहणस्यासत्त्वाद्धारयतीति न स्यादिति वाच्यम् । सूक्ष्मरूपेण स्वजन्यादृष्टविशेषसंबन्धेन परिशोधनपर्यन्तं तस्य सत्त्वात् । तस्य विनाशेऽपि प्रवृत्ताविरामरूपवर्तमानत्वविवक्षाद्वा । अत्रोत्तमर्णस्य यद्यपि दानक्रियाद्वारा धारणप्रयोजकत्वं तथापि क्रियाया अश्रवणाद्वैत्वादिसंज्ञाया अप्राप्त्या शेषषष्ठी प्राप्ता । सर्वत्र विशेषरूपेणाविवक्षणे क्रियानिमित्तत्वमात्रेण विवक्षणे शेषत्वमिति बोध्यम् । तदुक्तं हरिणा—

‘हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां शेषत्वे वापि कारकम् ।

रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण संप्रदानाख्यमुच्यते ॥’

इति । सजातीयद्रव्यदानाभ्युपगमपूर्वकं परदत्तपरकीयद्रव्यादानं तज्जन्योऽधमर्णनिष्ठोऽदृष्टविशेषो वा ऋणम् । आदीयमानद्रव्ये ऋणव्यवहारस्तन्निमित्तत्वप्रयुक्त औपचारिकः । अत एव गृहीतस्यान्नादेर्भक्षणादिकरंणेऽपि मम ऋणमस्तीति व्यवहार उपपद्यते । तादृशदानकर्मण्येव मुख्यस्तादृशादृष्ट औपचारिकोऽस्त्विति चेन्न । ‘ऋणमाधमर्ण्ये’ इतिसूत्रेणाधमर्णनिष्ठभावादवेव तस्य निपातनात् तत्रैव शक्तेरुचितत्वात् । अमरकोशेऽपि ‘सत्यानृतं

तु वाणिज्यं स्यादणं पर्युदञ्चनम्' इत्युक्तम् । सर्वथापि मोक्षस्य न तथात्वं तव तत्र तादृशं दुरदृष्टमिति कथं भक्ताय मोक्षं धारयतीत्युदाहरणमिति चेदत्राहुः । अवश्यदे-
यत्वेन तत्रापि ऋणत्वव्यवहारान्मोक्षस्थित्यनुकूलो व्यापारो हरिनिष्ठसेवनकर्मत्वादिरूपः ।
सेवनरूपोपकाराश्रयतया भक्त उत्तमर्णशब्दव्यवहारविषयः । द्युत्पत्तिवादकृतस्तु द्रव्या-
न्तरदानाभ्युपगमपूर्वकपरदत्तद्रव्यादानजन्योऽदृष्टविशेषो धारयतेरर्थः । तद्वदकदानान्वयि
कर्तृत्वं चतुर्थ्यर्थः । न च ऋणापरिशोधनमेव दुरदृष्टजनकमुपपातकमध्ये तस्यैव परिगण-
नादिति वाच्यम् । ऋणादानस्य तज्जनकत्वेऽपि परिशोधनस्य तत्राशकताबोधनायापरिशो-
धनस्य नरकरूपफलोपधानप्रयोजकत्वाभिप्रायेणोपपातकमध्ये परिगणनोपपत्तेः । गृहीतर्णा-
परिशोधनापेक्षया लाघवेन ऋणादानस्यैव दुरदृष्टं प्रति हेतुत्वकल्पनाया उचितत्वादित्यादि
विस्तराणाहुः । पुष्पेभ्यः स्पृहयति अत्र स्पृहयतिरिच्छामात्रवाची । ईप्सितपदेन धात्वर्थ-
व्यापारजन्यफलाश्रयत्वेन बोधनात् न तु फलस्य धात्वर्थत्वाग्रहः । एवं च षष्ठ्यपदान्नाद
एतत्संज्ञाप्रयुक्ता चतुर्थी । पुष्पसंप्रदानिकेच्छेति बोधः । पुष्पविषयिणीति त्वार्थः । फलाव-
च्छिन्नेच्छावाची चायं धातुः । इच्छानुकूलमनःसंयोगादिरूपव्यापारवाची वा । इच्छायाः
फलं विषयता प्रवृत्तिर्वा तद्योगे तदर्थफलाश्रयत्वेन विवक्षायां परत्वात् कर्मसंज्ञायां द्विती-
येत्याद्यन्यत्र विस्तरः । हरये कुप्यति द्रुपति ईर्ष्यति असूयति वा । हननाद्यनुकूलव्यापा-
रजन्यः कश्चित्प्रवृत्तिविशेषः क्रोधः कुपेरर्थः । द्रुह जिघांसायामित्यर्थनिर्देशाद् द्रोहो द्रुहो ।
स च दुःखजनकक्रियाविशेषजनकश्चित्तवृत्तिविशेषः । धात्वर्थसंप्रगृहीतकर्मकतयैतावकर्मकौ ।
एतद्योगे षष्ठी प्राप्ता । एतद्वात्त्वर्थमूलभूतकोपस्य विषयतया संबन्धिनः 'कुपद्रुहेर्घ्यासूया-
र्थानाम्-' इति सूत्रेण संप्रदानसंज्ञा विधीयते । हरिसंप्रदानकः क्रोधो द्रोह इति बोधः ।
उत्कर्षविरुद्धधर्मारोपानुकूलव्यापारजनकचित्तवृत्तिविशेषरूपाक्षमेर्ष्यतेरर्थः । शौचाचारादि-
गुणविषये दम्भादिकृतत्वरूपदोषारोपानुकूलश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूयतेः । चित्तवृत्तिविशेषा-
त्मककोपमूलका एते । प्रवृत्तकोपस्यैव क्रोधपदार्थतया तत्रापि कोपमूलकत्वमनपवादम् ।
असूयादर्थकधातुयोगे मूलभूतकोपविषयताविशिष्टतत्तद्वात्वर्थफलाश्रयस्य संप्रदानसंज्ञा 'यं
प्रति कोपः' इत्यनेनापि कोपविषयस्येव लभ्यते । तथापि प्रयोगानुरोधात् तादृश
फलश्रयस्येति निवेशितम् । विशेषणप्रयोजनं तु भार्यामीर्ष्वतीत्यत्र भार्यायाः संप्रदान-
त्ववारणम् । नात्र भार्या प्रति कोवोऽपि तु परैर्दृश्यमानायास्तस्या असहनम् । एकभार्यायां
नेर्ष्यतिधात्वर्थारोपात्मकफलाश्रयत्वमित्यर्थः । हरिसंप्रदानकोत्कर्षविरोधिधर्मारोपानुकूल-
श्चित्तवृत्तिविशेष इति बोधः । तात्त्विकमते तु क्रोधो द्वेषविशेषो ज्ञानविशेषो वा द्रोहोऽप-
कारविषयेच्छाहितेच्छेति यावत् । ईर्ष्या परोत्कर्षगोचरद्वेषात्माक्षमा । गुणानि दोषावि

करणरूपव्यापारविशेषोऽसूया । विषयित्वादिकं चतुर्थ्यर्थ इति बोध्यम् । हरेः क्रोधद्रो-
 हाभ्यामिच्छाविषयत्वाभावाच्च 'क्रियया यम्' इति संज्ञासिद्धिः । मित्राय द्रुह्यति
 प्रतापोऽपीत्यादौ चेतनत्वारोपो बोध्यः । कुप्यति कस्मैचिदित्याद्यसाध्वेव 'क्रियया यमभिप्रैति'
 इति संप्रदानत्वं वेत्याहुः । कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा अत्र प्रश्नविषयशुभाशुभपर्यालो-
 चनार्थौ राधीक्षती । तदर्थप्रश्नविषयसंबन्धिनो 'राधीक्ष्योर्यस्य-' इति संप्रदानत्वम् ।
 कृष्णसंप्रदानकं शुभाशुभपर्यालोचनमिति शाब्दबोधः । तत्संबन्धीत्यादिस्त्वार्थः । यूपाय
 दारु अत्र 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' इति वचनाच्चतुर्थी । तस्मा इदं तदर्थं तस्य भाव-
 स्तादर्थ्यमिति व्युत्पत्त्योपकारकत्वमुपकार्योपकारकभावो वा विभक्त्यर्थः । आद्ये निरु-
 पितत्वं प्रकृत्यर्थस्य विभक्त्यर्थे तस्य च दारुण्याश्रयत्वं संसर्गः । अन्त्ये प्रकृत्यर्थस्याधे-
 यत्वमुपकार्यत्वे संबन्धः । उपकार्यत्वं वा विभक्त्यर्थः । तत्र प्रकृत्यर्थस्याभेदसंबन्धः । तस्य
 खनिष्ठोपकार्यतानिरूपितोपकारकत्वसंबन्धेनान्वयः । स्वर्गाय पुण्यमित्यादि त्विष्टमेव ।
 अत एव पापं नरकाय भवतीत्यादिस्मार्तादिप्रयोगसंगतिः । यागाय यातीत्यादौ तुमर्थ-
 कश्चा तादर्थ्यस्योक्तत्वान्नेन सिद्धिरिति 'तुमर्थाच्च' इति सूत्रारम्भः । ब्राह्मणकर्तृ-
 क्रभोजनोपकारिणि दक्षि परंपरया ब्राह्मणोपकारितया ब्राह्मणोपकारकत्वस्यारोपणं वा ब्राह्म-
 णाय दधीत्यादौ चतुर्थीसिद्धिः । यूपाय दार्वित्यादौ कार्यवाचकादुत्तरवर्त्तिचतुर्थ्येव
 कारणगतसंबन्धस्य बोधनाद्वेतुत्वसत्त्वपि न दार्वदिपदात् तृतीया । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते
 अत्र 'कूपि संपद्यमाने च' इति चतुर्थी कृत्यर्थकधातुयोगे संपद्यमानेऽर्थे वर्तमानाच-
 तुर्थीति तदर्थः । सा च प्रथमापवादभूता भक्त्यभिन्नज्ञानकर्तृकोत्पत्तिरिति बोधः । ज्ञाना-
 त्मना परिणमत इत्यत्रात्मशब्दो ज्ञानवृत्तिधर्मपरः । एवं च तस्य न विकृतिवाचकत्व-
 मिति न ततश्चतुर्थी किं तु प्रकृत्यादित्वात् तृतीया । वैशिष्ट्यं तदर्थः । ज्ञानत्वविशिष्टरू-
 पान्तरप्राप्तिर्भक्तिकर्तृकेति बोधः । रूपान्तरप्राप्तिर्धात्वर्थः । प्रकृतिविकृत्योभेदविवक्षायां
 प्रकृतिविकृतिभावाप्रतीत्या न चतुर्थी । अपि तु 'जनिकर्तुः-' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी ।
 भक्तेर्ज्ञानं कल्पत इति ज्ञानपदात् तादर्थ्येचतुर्थ्यपेक्षया परत्वात्तस्य कर्तृकारकतया उपपद-
 विभक्तेरिति वचनाच्च प्रथमेवेति कैयटे स्पष्टमिति मञ्जूषाकृतः । अन्ये तु भेदविव-
 क्षायां विकृतिवाचकाच्चतुर्थी । कल्पते इत्यस्य परिणमत इत्यर्थः । यद्यपि भेदविवक्षायां
 तादर्थ्येचतुर्थ्यैव सिद्धं तथापि संबन्धत्वेन बोधनिर्वाहार्थमिदमावश्यकम् । अन्यथा
 तथाविवक्षायां षष्ठी स्यात् । अभेदविवक्षायां तु परत्वात् प्रथमेव भक्तिर्ज्ञानं कल्पत
 इति । चतुर्थीघटितवाक्ये भक्तिकर्तृको ज्ञानाभिन्नः परिणाम इति बोधः । प्रथमाघटिते
 तु भक्त्यभिन्नज्ञानकर्तृकोत्पत्तिरिति बोधः । अपादानत्वविवक्षायां पञ्चमीत्याहुः । फलेभ्यो

याति अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य-' इति चतुर्थी । स्थानिनो ज्ञायमानस्य क्रियार्थोपपदकस्य तुमुनाद्यन्तस्य कर्मणि तुमुनाद्यन्तोपस्थितक्रियाकर्मणि चतुर्थीति तदर्थः । यथा ब्राह्मणाय दधीत्यादौ भोजनोपकारकत्वेन दध्नो ब्राह्मणोपकारकत्वात्तदर्थश्चतुर्थी भवति तथा फलाहरणोपकारकत्वेन फलोपकारकत्वस्यापि सैव चतुर्थी यद्यपि प्राप्नोति तथापि फलकर्म-
काहरणफलकं यानमिति फलकर्मत्वप्रकारकबोधे चतुर्थीसाधुत्वार्थमिदं सूत्रमावश्यकमि-
त्यन्यत्र विस्तरः । वाताय कपिला विशुदातपायातिलोहिनीत्यादौ ज्ञाप्यज्ञापकभावार्थिका चतुर्थी । उत्पातेन ज्ञापितेति वचनात् । प्राणिनां शुभाशुभसूचकभूतविकाररूपोत्पातज्ञा-
पितार्थवृत्तेश्चतुर्थीति तदर्थः । वातज्ञापिका कपिला विशुदिति बोधः । ब्राह्मणाय हितं ब्राह्मणाय सुखम्-अत्र 'चतुर्थी तदर्थार्थ-' इति समासविधानेन हितसुखशब्दयोगे चतुर्थी ।
हितशब्दयोगे चतुर्थ्या 'तस्मै हितम्' इति निर्देशोऽपि ज्ञापको बोध्यः । इष्टसाधनं हितश-
ब्दार्थः । तद्वटकेच्छान्वय्याधेयत्वादिकं चतुर्थ्यर्थः । इष्टसाधनान्वयीच्छाघटितः परंपरा-
संबन्धो वा । अत एव परकीयोषधादितात्पर्येण ब्राह्मणायेदं हितमिति संगच्छते इति दिक् । हृये नमः 'नमःस्वस्ति-' इति सूत्रेणात्र चतुर्थी । अपकृष्टत्वज्ञानबोधानुकूलो
व्यापारः स्वरादिपठितनमःशब्दार्थः । नमःशब्दप्रयोगे स्वनिष्ठं यदपकृष्टत्वज्ञानं तज्ज्ञा-
पकस्यानुभवसिद्धत्वात् । तादृशाननुभवे तु अपकृष्टत्वबोधानुकूलो व्यापार एव तदर्थो
बोध्यः । अत एव बृहच्छब्देन्दुशेखरे तथैवाभ्यधायि । अपकर्षः स्वतन्त्रवक्तृनिष्ठो
नमस्कारार्थाधिक एव प्रतीयते । व्यापारोऽपि वक्तृनिष्ठ एव प्रतीयते । शब्दशक्तिस्वभा-
वात् । अन्योच्चारितनमःपदादन्यदीयनमस्काराबोधात् । व्यापारश्च करमस्तकसंयोगादिः
नमःपदघटितवाक्यप्रयोगश्च । चतुर्थ्यर्थ उद्देश्यत्वम् । हर्षुद्देश्यकस्तादृशो व्यापार इति बोधः ।
एपोऽर्घ्यः शिवाय नम इत्यादौ त्यागो नमःपदार्थः । त्यागश्च स्वस्वत्वनिवृत्त्यनुकूलोच्छारूपो
व्यापारः । स्वत्वभागितयेच्छाविषयतारूपोद्देश्यत्वं चतुर्थ्यर्थः । शिवोद्देश्यकत्यागविषयोऽर्घ्य
इति बोधः । स्वत्वनिवृत्तिविषयेच्छैव परस्वत्वमपि विषयीकरोतीति मन्येत
तदोक्तविधोद्देश्यतानिरूपकरूपं तदुद्देश्यकत्वं बोध्यम् । यदि च त्यागजनिकान्येच्छैव तदव-
गाह्य इति स्वीक्रियते तदोद्देश्यतारूपचतुर्थ्यर्थस्य परंपरया निरूपकरूपं स्वनिरूपकेच्छा-
धीनेच्छाविषयत्वरूपं वा संसर्गतया भासमानं तद्वोच्यम् । त्यागश्च वेदबोधितोद्देश्यकत्वस्व-
कर्तृकत्वोपरक्त एव प्रतीयते । शब्दशक्तिस्वभावात् । अन्योच्चारितनमःपदेनान्यसंबन्धित्या-
गाप्रतीतिः । वेदबोधितेत्याद्युक्त्या न नीचोद्देश्यकत्यागे पूजाभिन्नयादृच्छिकेच्छयान्नादित्यागे
च नमःशब्दप्रयोगः । ऋत्विजा च यजमानद्रव्ये स्वीयत्वारोपपूर्वक एव तथाप्रयोगः क्रियते ।

शिवादीनां द्रव्ये स्वत्ववाधेऽपि शिवस्वं न गृहीयदित्यस्य नासंगतिः । शिवोद्देशेनत्यक्त-
मित्यर्थकत्वात् । नमस्करोति देवानित्यत्र कृधातुरेव पूर्वोक्तार्थकः । नमःशब्द ऊर्था-
दित्वान्निपातस्तद्व्योतकः । उपपदविभक्तोरिति न्यायात् कर्मणि द्वितीया । यदवधिकमप-
कृष्टत्वं बोध्यते तद्वृत्तित्वविशिष्टः समवायात्मकः फलतावच्छेदकसंबन्धः । अतस्तेन
संबन्धेन तादृशबोधरूपफलाश्रयाणां देवानामेव कर्मत्वं न तु शुद्धसमवायेनोक्तबोधाश्र-
यस्य तदस्थस्येत्याहुः । नमःशब्दव्योत्यार्थान्वयमात्रेणात्र चतुर्थीप्राप्तिरिति बोध्यम् ।
नमस्कुर्मो नृसिंहायेत्यत्र नृसिंहमनुकूलयितुमिति बोधात् 'क्रियार्थोपपदस्य-' इति
चतुर्थीति स्पष्टं कौमुद्यादौ । अत्र नमःशब्दस्य वाचकत्वे 'नमःस्वस्ति-' इति
चतुर्थी । एवं व्योतकत्वेऽपि कर्मत्वाविवक्षायां षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थीति परे वदन्ति । न
त्वां तृणाय मन्ये अत्र 'मन्यकर्मणि-' इति चतुर्थी कर्माधिका । अत्रानादरशब्दो नाद-
राभावमात्रावेदकोऽपि तु नञः प्रतिपक्षवाचितयाधर्मादिवदादरविरोधितिरस्कारार्थकः ।
'अनादरे' इत्यस्य कर्मविशेषणतयानादरव्योतककर्माधिकादेव चतुर्थीविधानान्न गुष्मच्छ-
ब्दात् सा । अत्र कुत्सित इति वक्तव्येऽनादरपदोपादानमनादरातिशयविवक्षायामेवेयं
विभाक्तिः प्रवर्तते इति बोधनाय । एतदर्थमेवोदाहरणे नञुपादानं तृणतुल्यमपि न मन्ये
इति बोधनेन तदतिशयप्रतिपादनात् । अत एव तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽप्रीत्यादिप्रयोगा-
णामसाधुत्वमभाणि निबन्धकृद्भिः । मन्ये इति श्यन्नन्तस्वरूपाविवक्षया तु न तदसा-
धुत्वं युक्तं लिङाद्यन्ततद्वातुयोगे चतुर्थ्येनापत्तेः । श्यना निर्देशस्तु तानादिकव्यावर्तनाय ।
तेन न त्वां तृणं मनुते इत्यत्र चतुर्थी नेति स्पष्टमेवेति दिक् । ब्राह्मणेभ्यः स्वस्ति
स्वस्तिशब्दः कुशलार्थो मङ्गलार्थो वा संबन्धश्चतुर्थ्यर्थ इत्यलं विस्तरेणेति शिवम् ।

सार्थोद्घीयते देवदत्त इत्यत्र धातृपात्ताविभागावधितया सार्थस्यापादानत्वम् । ननु धातृ-
पात्तव्यापाराश्रयतया परत्वात् कर्तृत्वापत्तिस्तस्य तदनाश्रयत्वे तु देवदत्तस्य तदाश्रयत्वात्
कर्तृत्वापत्तौ तदुपकर्मणो लादिनाभिधानानापत्तिः । सार्थस्य कर्मत्वापत्तौ देवदत्तेन सार्थो
हीयत इत्यस्यापत्तिश्चेति चेदत्राहुः । 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति सूत्रेण कर्तृत्वप्राप्ताव-
प्यपादानत्वस्य ज्ञापितत्वान्न दोषः । अन्यथा सार्थस्यापादानत्वाभावादेव तसेरप्राप्तौ
किम् 'अहीय' इति निषेधेन । तज्ज्ञापितमपादानत्वं कर्मप्रत्ययान्तजहातिविषयकमेव
'हीय' इति निर्देशात् । तेन देवदत्तः सार्थं जहाति इत्यादौ न 'कर्तुरीप्सिततमम्-'
इत्यत्र कर्तृपदस्य धातृपात्तप्रधानीभूतव्यापाराश्रयलाक्षणिकतया देवदत्तस्य कर्मत्वसिद्धिः ।
संप्रदानसंज्ञासूत्रस्थकैयटग्रन्थस्वरसोऽप्यत्रैव । अधर्माज्जुगुप्सते अत्र 'जुगुप्साविराम-'
इति वचनेनापादानत्वम् । यद्विषयत्वेन जुगुप्सादयो विवक्षितास्तदपादानमिति तदर्थः ।

अनिष्टसाधनत्वज्ञानरूपा निन्दा जुगुप्सतेरर्थः । विषयत्वादि पञ्चम्यर्थः । अपादानत्वश-
क्तिर्वा । तादृशनिन्दापूर्वकनिवृत्तिलक्षणा धातोः स्वीकृत्य 'ध्रुवमपाये-' इति सूत्रेणैवा-
पादानत्वम् । एवमेवेदं वार्तिकमुत्तरसूत्राणि च न कर्तव्यानीति भाष्यकृन्मत्तम् । धर्मा-
द्विरमति कृतिसंसर्गाभावात्सुकूलो व्यापारो विरमतेरर्थः । अनुकूलता चात्र योगक्षेमसाधा-
रणी । अनुकूलव्यापारश्च धर्मविषयोपेक्षात्मक एव । तदुक्तं भाष्ये । 'य एष मनुष्यो
नास्तिकबुद्धिर्भवति स पश्यति नेदं किञ्चिद्धर्मो नाम नैनं करिष्यामीति स बुद्ध्या संग्राह्य
ततो निवर्तते' इति । अनेन यः कदाचिदपि धर्मं न कृतवांस्तत्राप्यसौ प्रयोग इष्ट इति
लभ्यते । एतेन करणानन्तरनकरणं विरमतेरर्थः । तच्च जीवनकालावच्छिन्नः कृत्यस-
मानाधिकरणकृतिध्वंसः । उभयत्र कृतिरेकविषयैव । अतो भोजनादिकृतिसमानाधिकर-
णत्वाज्जीवनकालावच्छिन्नकृतिध्वंससामान्यस्येति नासंभवः । ध्वंसे जीवनकालावच्छिन्नत्व-
निवेदान् । मरणादिकालिककृतिध्वंसमादाय धर्माद्विरमते इत्यादिप्रयोगो न । जीवनं
कर्तृसंबन्धेवोपादेयं तेनान्यदीयजीवनकालावच्छिन्नत्वस्य चैत्राय मरणादिकालिककृतिध्वंसे
सत्त्वाच्च तद्दोषतादवस्थ्यम् । पूर्वपरकालयोर्धर्माचरणे घटिकादिकाले तदनाचरणेऽपि
धर्माद्विरमतीति प्रयोगापत्तिवारणाय कृत्यसमानाधिकरणत्वं कृतिध्वंसे विशेषणम् । तच्च
स्वावच्छेदकशरीरजातीयशरीरावच्छेदेन कृतिसमानाधिकरणत्वं यत्तद्विन्नत्वधर्मविषयः ।
कृतिध्वंसस्यापि भाविदेहान्तरावच्छिन्नत्वकृतिसमानाधिकरणतया तादृशप्रयोगासंभवापत्ति-
निरासाय स्वावच्छेदकशरीरजातीयशरीरावच्छिन्नत्वकृतिसमानाधिकरण्ये विशेषणम् ।
तादृशशरीरावच्छिन्नत्वनिवेशो शरीराणामवस्थाभेदेन भेदाबुवशरीरावच्छेदेन धर्मं कुर्वीणेऽपि
बालशरीरावच्छिन्नत्वकृतिध्वंसस्य कृत्यवच्छेदकशरीरावच्छिन्नत्वाभावेन स्वावच्छेदेन कृत्य-
समानाधिकरणतया धर्माद्विरमतीतिप्रयोगापत्तेस्तजातीयशरीरावच्छिन्नत्वनिवेशः । साजात्यं
चैत्रादिपदोपस्थापितचैत्रत्वादिनैव । नातो भवान्तरीयदेहस्यापि पृथिवीत्वमनुष्यत्वादिना
सजातीयतया तद्दोषतादवस्थ्यम् । तत्र वर्तमानदेहस्य तादृशकृत्यनवच्छेदकतया न तत्सा-
मानाधिकरण्यावच्छेदकत्वमिति नोक्तदोषः । ननु प्राचीनशरीरावच्छिन्नकृतिसमाना-
धिकरण्यादुक्तदोषस्तदवस्थ एवेति चेन्न । स्वावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्यापि सामाना-
धिकरण्ये निवेद्यात्तन्निरस्तम् । कदाचिदपि धर्मानाचरणे इष्टस्य तादृशप्रयोगस्यानपत्तेः ।
ननु नेष्ट एव तत्र स प्रयोगः । निखिलजनानां धर्माचरणानन्तरं तदकरण एव तथा-
विधप्रयोगात् । उक्तभाष्यस्यापि पूर्वं यो धर्मं कृतवान् पश्चाद्यो नास्तिकस्तत्परत्वस्यापि
संभवादिति चेन्न । संकोचे मानाभावात् । धर्माद्विरतोऽपि पुनः प्रवृत्त इत्यादेरनापत्तेश्च ।

ननु तव मते पूर्व धर्मविषयोपेक्षा तदनन्तरं च स्वापादिक्रिया तत्समये तादृशप्रयोगापत्तिः । कृत्यभावानुकूलोपेक्षात्मकव्यापारस्य तदा सत्त्वात् । तन्मतै तु नापत्तिस्तदानीं तत्तत्कृतिध्वंसस्य तत्तत्कृतिसमानाधिकरणत्वादिति चेन्न । यत्काले तथाविधप्रयोगः प्रामाणिकस्तत्कालनिष्ठोपेक्षाया एव धात्वर्थत्वाङ्गीकारात् । एतत्सूचनायैव मञ्जूषायामुपेक्षाविशेष इत्युक्तम् । ननु करणानन्तरमकरणमित्यस्य नोक्तोऽर्थोऽपि त्वानन्तर्यसामानाधिकरण्योभयसंबन्धाभ्यां कृतिविशिष्टं कृत्यभावानुकूलव्यापारस्तदर्थः । व्यापारश्च पूर्वोक्त एव । अथवा कृतिध्वंसानुकूलोक्तव्यापारः । एवं च धर्माद्विरतोऽपीत्यादिनोक्तदोषोऽपरिष्कारापेक्षया लाघवं भवदुक्तार्थापेक्षयैतस्मिन् गौरवाभावश्चाथवेति पक्षे इति चेन्न कदापीति पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यादुत्पत्तिमत्त्वघटितध्वंसत्वस्याभावत्वापेक्षया गुरुत्वाच्चेति दिक् । धर्मात् प्रमाद्यति इष्टसाधनविशेष्यकानिष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानरूपानवधानता धात्वर्थः । विषयित्वमपादानत्वं वा पञ्चम्यर्थः । अन्ये त्वस्मरणपूर्वकप्रवृत्त्यभावोऽस्मरणमेव वानवधानता । स एव धात्वर्थः । स्मरणं च कर्तव्यादिप्रकारकम् । विषयित्वं पञ्चम्यर्थः । धर्मविषयकर्तव्यत्वादिप्रकारकस्मरणाभावप्रयुक्तो धर्मविषयकप्रवृत्त्यभावस्तादृशस्मरणाभावो वा वाक्यार्थः । चोराद्विभेति त्रायते वा अत्र 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वम् । अनिष्टसंभावनं भयम् । अनिष्टनिवृत्त्यनुकूलो व्यापारस्त्राणम् । सूत्रे भयशब्देन तदेकदेशरूपमनिष्टमुच्यते । तथा चानिष्टहेतुरपादानसंज्ञ इत्यर्थः । चोरापादानकमनिष्टज्ञानमित्याद्याकारको बोधो मञ्जूषाकृन्मते । अन्यमते चोरहेतुक इत्यादिरीत्या बोधः । तन्मतै प्रयोज्यत्वस्य पञ्चम्यर्थत्वात् तस्यानिष्टेऽन्वयः । अनिष्टं च प्रत्यासत्त्यानिष्टसंभावनं कर्तृसंबन्धि । न चैवं यस्य चोराधीनमनिष्टमप्रसिद्धमथ च तद्वेतुकत्वेन स्वस्यानिष्टं संभावयति तत्र चोरादयं विभेतीति प्रयोगो न स्यात् तदीयानिष्टे चोरहेतुकत्वस्य बाधादिति वाच्यम् । तद्वेतुकान्यदीयानिष्टस्य तस्मिन्स्तदीयानिष्टे वा चोरहेतुकत्वस्यारोपेणोक्तप्रयोगस्य निर्वाहात् । यजन्यं भयं कस्याप्यप्रसिद्धं तत्र तथाविधप्रयोगस्येष्टत्वे आरोप एव शरीरकर्तव्यः । अत्रापि चोरादेः संबन्धित्वेन विवक्षायां पट्टी भवति । अत एव 'कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे' इति रामायणप्रयोगसंगतिः । कस्य संयुगे इत्यन्वयो वा स्वीकार्य इत्याहुः । तार्किकास्तु प्रयोज्यताप्रकारकत्वं पञ्चम्यर्थः । तस्य संभावनायामन्वयान्नोक्तदोषः । अनिष्टतत्प्रयोज्यत्वबाधेऽपि तत्प्रयोज्यताप्रकारकत्वस्य तादृशसंभावनायामक्षतत्वात् । एवं च शत्रुभ्रमेण मित्रादपि विभेतीति वाक्यस्यापि प्रामाण्योपपत्तिः । एवं च भयार्थकधातुयोगे भयहेतुत्वेन संभावनमपादानमित्येको वाक्यार्थः । त्राणार्थकधातुयोगेऽनिष्टप्रयोजकं तदित्यपर इत्याहुः । अध्ययनात् पराजयते अत्र 'पराजेरसोढः' इति

सूत्रेणापादानत्वं कृत्यसाध्यत्वप्रकारकज्ञानसमानाधिकरणस्तद्विषयकोत्साहाभावो धात्वर्थः । तद्विषयत्वमत्रापादानम् । असौढ इत्यस्य तादृशासहनरूपधात्वर्थविषयार्थकत्वात् । एवं चाकर्मकत्वे एवोदाहरणत्वमिति पर्यवसन्नम् । उत्साहो हर्षपदव्यपदेश्यश्चित्तवृत्तिविशेषः प्रवृत्तिविशेषो वा । अध्ययनापादानकस्तादृश उत्साहाभाव इति बोधः । विषयत्वं पञ्चम्यर्थः । अध्ययनविषयत्वस्योत्साहेऽन्वय इत्यन्य आहुः । अपरे तु द्वेपाधीननिवृत्तिर्धात्वर्थः । पञ्चम्यर्थो विषयित्वं तदर्थद्वेषे निवृत्तौ चान्वेति । अध्ययनविषयकद्वेषप्रयुक्त-तत्तद्विषयकनिवृत्तिस्तद्वान्वेति बोध इत्याहुः । एवं च समनन्तरोक्तमते एतन्मते च सकर्मक इति लभ्यते । परं तु प्रवृत्त्यभावादिप्रतीतिरेवानुभवसिद्धेतीदं न युक्तमिति प्रतिभाति । शत्रून् पराजयत इत्यत्र तिरस्कारानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः । तिरस्कारात्म-कफलाश्रयत्वेन शत्रूणां कर्मत्वम् । असौढ इत्युक्तेर्नात्रापादानत्वम् । गां वारयति अग्नेर्मा-णवकं वारयति कूपादन्धं वारयति अत्र 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यपादानत्वम् । वार-णार्थकधातुयोग ईप्सिततत्तद्भात्वर्थफलाश्रयत्वेनेच्छाविषयोऽपादानसंज्ञ इति तदर्थः । इच्छा च वार्यमाणस्य गवादेः । ईप्सित इत्यनेन प्रधानाप्रधानान्यतरव्यापाराश्रयकर्तुराक्षेपात् । स्पष्टं चेदमत्र सूत्रे कैप्रटे । भक्षणसंयोगाद्यनुकूलक्रियाभावानुकूलव्यापारो वारयतेरर्थः । या क्रिया यदा प्रतिषिध्यते तदा तत्क्रियाभावानुकूलक्रियार्थकत्वं तस्येति फलितम् । यवाद्यो भक्षणादिकर्तुर्गवादेर्गलबिलाधःसंयोगादिरूपस्वक्रियाजन्यफलाश्रयत्वेनेप्सित इति तेषामपादानत्वम् । यवापादानके गोकर्मकमर्थार्थवनिष्ठगलबिलाधःसंयोगानुकूल-व्यापाराभावानुकूलव्यापार इति बोधः । योगक्षेमसाधारणानुकूलतोपादेया । अतः प्राग-भावादेरजन्यत्वेऽपि नाप्रवृत्तवारणे उक्तप्रयोगासिद्धिः । 'यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति ध्रुवं सस्यनाशस्तत्राशेऽधर्मो राजभयं च । स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तयति' इति भाष्यात्तत्रापि तस्येष्टवावधारणात् स्वरूपयोग्यतारूपैव चानुकूलता ग्राह्या न तु फलोपहितत्वरूपा तेन प्रतिषेधानन्तरं भक्षयत्यपि गवादावयं निवारयति तथापि न निवर्तते इति प्रयोगोपपत्तिः । भाष्यकारमते तादृशाभावानुकूलनिवर्तनाया धात्वर्थतया 'ध्रुवमपाये—' इत्यनेनैवापादान-त्वम् । अचेतनेऽप्यारोपितनिवृत्तेः सत्त्वाच्च पुष्पेभ्य आतपं वारयतीत्यस्यासिद्धिस्तन्मते । कूपतनमन्यन्धस्याभिमुखदेशगमनत्वेनेच्छाविषयः । एवं सति विषयस्य विषयत्वेनेच्छावि-षयत्वाभावेऽपि भक्षणत्वादिनेच्छाविषयत्वसत्त्वान्तरीयकविषभोजनप्रसक्तौ तद्वारयितरि विषाद्वारयति देवदत्तं यज्ञदत्त इति प्रयोगापत्तिरिष्टापत्या परिहरणीयेत्याहुः । सातुर्निलीयते कृष्णः 'अन्तर्धौ येन—' इति सूत्रेणात्रापादानत्वम् । अन्यकर्तृकस्वविषयकदर्शनाभावा-नुकूला व्यवहितदेशे स्थितिरन्तर्धिस्तद्वटकं यत्कर्तृकदर्शनाभावमिच्छति तदपादानमिति

सूत्रार्थः । लीड्धातोर्लुक्तान्तर्धिरर्थः । उदाहरणे इच्छा आक्षेपलभ्या दर्शने मातृकर्तृकत्वं प्रत्यासत्तितो लभ्यम् । तथा च मात्रपादानकस्वकर्मकमर्थान्मातृकर्तृकं यद्दर्शनं तदभावानु-
कूलस्तादृशदेशावस्थितिरूपो व्यापारः कृष्णकर्तृक इति बोधः । अन्ये तु कर्तृत्वं पञ्चम्यर्थ-
स्तस्य धात्वर्थघटकदर्शने निरूपकत्वसंबन्धेनान्वयः । तथा च मातृकर्तृकं स्वकर्मकं
यद्दर्शनं तदभावानुकूलस्तादृशो व्यापार इति बोधः । सूत्रे 'येन' इत्यस्याभावे यस्तादृश-
दर्शनाभावमिच्छति तस्यैव स्यादिति 'येन' इत्युपात्तम् । ननु 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति
षष्ठीप्रसङ्गाद् 'येन' इति निर्देशानुपपत्तिः । न च आत्मन इति कर्मणोऽध्याहारेण 'उभ-
यप्राप्तौ' इति नियमान्न दोष इति वाच्यम् । एवं सति 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यत्रा-
प्याचार्यस्य कर्तुः प्रसिद्धतयाध्याहारावश्यकतया 'उभयप्राप्तौ' इति नियमप्रसक्त्या
'कर्मणि च' इति समासनिषेधापत्तेः । वस्तुतस्तुभयोपादाने एव नियमप्रवृत्तिरिति 'आत्म-
माने' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । एवं च प्रकृते आत्मन इत्यस्याध्याहारान्न दोष इति
सुस्थम् । उपाध्यायादधीते पण्डितात् पुराणं शृणोति अत्र 'आख्यातोपयोगे' इति सूत्रे-
णापादानत्वम् । नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे सति वक्तापादानमिति तदर्थः । उच्चारणोत्तर-
कालिको ब्रह्मचर्यादिरूपनियमपूर्वकग्रन्थस्वीकारानुकूलो व्यापार इडात्वर्थः । नियमपूर्व-
कश्रवणप्रत्यक्षानुकूलो व्यापारः श्रुधात्वर्थः । यदि नियमपूर्वकविद्यास्वीकाररूपोपयोगस्य
स्वरूपसत्तायाः संज्ञोपयोगित्वं स्वीक्रियते न तु तस्य शाब्दबोधे मानमपि तदा धात्वर्थे
नियमपूर्वकत्वं नान्तर्भाव्यम् । उपाध्यायापादानकस्तादृशो व्यापार इति बोधः । अन्ये
तु कर्तृच्चारणाधीनत्वं पञ्चम्यर्थः । उच्चारणाधीनत्वमात्रं वा । आद्ये पञ्चम्यर्थघटककर्तरि
प्रकृत्यर्थस्याभेदेनान्वयः । अन्त्ये स्वकर्तृकत्वसंबन्धेन पञ्चम्यर्थस्योच्चारणादिरूपे धात्वर्थे
आश्रयत्वसंबन्धेनेत्याहुः । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते अत्र 'जनिकर्तुः' इति सूत्रेणापा-
दानत्वम् । जननं जनिरुत्पत्तिस्तस्याः कर्तेति षष्ठीतत्पुरुषः । तृन्तत्वात् समासनिषेधः ।
न चैवं 'न लोक' इति षष्ठीनिषेधप्रसङ्गः । कारकषष्ठ्या एव स निषेध इति सिद्धान्ता-
च्छेषषष्ठीप्रवृत्तौ बाधकाभावात् । वस्तुतस्तु शेषषष्ठ्यास्तृजन्तेनापि समासः सुलभ इति
ध्येयम् । स्पष्टं चेदं मनोरमादौ । एवं चोत्पत्त्याश्रयस्य प्रकृतिरूपादानकारणमपादानमिति
सूत्रार्थः । प्रकृतिशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः । मायाशवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं वेदान्ति-
सिद्धान्तसिद्धम् । अत एव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति
श्रुतिस्थपञ्चमीनिर्देशमुपष्टम्भकमाहुर्वेदान्तिनः । प्रकृतसूत्रप्रत्याख्यानपरभाष्यसिद्धत्वाच्च ।
पुत्रात् प्रमोदोऽजायत इत्यादाद्युपादानत्वारोपेण निर्वाहः । वृत्तिकृतस्तदनुयायिनोऽन्ये च

पुत्रात् प्रसोद इत्यादिप्रयोगानुरोधेन प्रकृतिपदेन हेतुमात्रपरिग्रह इत्याहुः । न च धूमा-
दग्निमानित्यादाविव प्रकृतेऽपि 'विभाषा-' इति पञ्चमीसिद्धौ किमनेन सूत्रेणेति वाच्यम् ।
अपादानत्वप्रकारकबोधनिर्वाहार्थेनेतस्यावश्यकत्वात् । अन्ये तु हेतुत्वातिरिक्तस्वरूपसं-
बन्धविशेषाधीनत्वबोधे पञ्चमीसिद्धय इदमावश्यकं संबन्धत्वेन रूपेण हेतुत्वबोधनिर्वाहार्थं
चेत्याहुः । हिमवतो गङ्गा प्रभवति अत्र 'भुवः प्रभवः' इत्यनेनापादानत्वम् । भवन् भूः ।
संप्रदादिवाद् भावे क्तिन् । समासैकदेशभूतमपि कर्तृग्रहणमनुवर्तते स्वरितत्वात् । तथा च
भवन्कर्तुः प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः प्रथमप्रकाशाधिकरणमपादानमिति तदर्थः ।
'प्रभावो जलमूले स्याज्जन्महेतौ पराकमे । ज्ञानस्य चादिसंस्थाने-' इति विश्वः ।
प्रभवतीत्यत्र प्रथमोक्तमन्वयः प्रथमप्रकाशो धात्वर्थः । सूत्रेऽपि भूवातुक्तार्थक एव ।
प्रकाशाप्रत्यक्षात्मकज्ञानविषयत्वं तादृशज्ञानमात्रं वा विषयतासंबन्धेन । तदाश्रयस्य गङ्गादेः
कर्तृत्वम् । तद्वत् प्राथम्यं च समानकालिकत्वसंबन्धेन स्वध्वंसाविशिष्टत्वम् । तादृशं ज्ञानं
भूमुण्डलस्थस्य कस्यचिदेव गङ्गाविर्भावसमानकालिकस्य संभवति । दक्षिणदेशादागतस्य
विन्ध्याचले गङ्गायाः प्रथमदर्शनेऽपि न विन्ध्यादितो गङ्गा प्रभवतीति प्रयोगः । तद्दर्शनस्य
तादृशध्वंसाविशिष्टत्वाभावात् । ज्ञानं च तात्पर्यवशान्मनुष्यलोकस्थनिष्ठमेव । अतो देवानां
तादृशज्ञानविषयत्वमादाय न वैकुण्ठाद्गङ्गा प्रभवतीति प्रयोगापत्तिः । अपादानत्वशक्तिमान्
पञ्चम्यर्थ इति षड्भुवाकृतः । अधिकरणत्वं पञ्चम्यर्थ इत्यपरे । संबन्धाधीनत्वं तदर्थं
इति ऋगुपसिद्धादकृतः । दर्शनयोग्यत्वाभावावच्छेदकदेशाव्यवहितदेशावच्छेदेन दर्श-
नयोग्यत्वं धात्वर्थः । तादात्म्यं पञ्चम्यर्थः । तस्य धात्वर्थघटकद्वितीयदेशेऽन्वयः । तथा
च हिमवदभिन्नो यो दर्शनयोग्यत्वाभावावच्छेदकदेशाव्यवहितदेशस्तदवच्छिन्नदर्शनयोग्य-
त्ववती गङ्गा इति बोध इति तार्थिकरत्नाकरकृतः । कारकवादकृतस्तु आद्यवहिः-
संयोगो धात्वर्थः । वहिःपदार्थः प्रकृते रसातलं संयोगध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वं
पञ्चम्यर्थः । आश्रयत्वमाख्यातार्थः । तथा च हिमालयानुयोगिकसंयोगध्वंसाव्यवहितो-
त्तरक्षणवृत्तित्वं पञ्चम्यर्थः । आश्रयत्वमाख्यातार्थः । तथा च हिमालयानुयोगिकसंयो-
गध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्त्याद्यप्यश्वीसंयोगाश्रयत्ववती गङ्गा इति बोधः । वैकुण्ठात् प्रभवति
गङ्गा काशीतो वेति प्रयोगवारणायाव्यवहितत्वाद्यत्ययोरुपादानम् । भूसंयोगस्य वैकुण्ठसं-
योगध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वाभावात् । काशीसंयोगध्वंसाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिगङ्गाभू-
संयोगस्याद्यत्वाभावाच्च दोष इत्याहुः । आसनात् प्रकृते अत्र प्रथमज्ञानात्मकप्रथमप्रकाश
एव धात्वर्थ इति ज्ञानस्य चादिसंस्थान इत्युक्तविश्वकोशाद्भव्यते । उपलभेतेति प्रभवतीत्यस्य
वृत्तिस्थयाख्यानाच्च । अत्र 'त्यक्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति पञ्चमी । गम्यमानार्थकत-

याप्रयोगो लोपः । एवं च ल्यबन्तस्याज्ञाने प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तधात्वर्थकर्मणीत्यादिरर्थः । ल्यबन्तस्यानुचारेणे इति तु 'ल्यब्लोपे' इत्यस्य नार्थः । दर्शनाभावस्यैव लोपसंज्ञकत्वात् । दृशेश्चोच्चारणक्रियत्वाभावादिति स्पष्टं बृहच्छब्दरत्नादौ । आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । प्रासादात् प्रेक्षते प्रासादमारुह्य प्रेक्षत इत्यर्थः । क्रमेणाधिकरणकर्मणी पञ्चम्यर्थौ । उपवेशनादिक्रियाया वाक्यैकदेशन्यायेन भानमित्यन्यत्र विस्तरः । आसनाधिकरणकं यदुपवेशनं तदव्यवहितोत्तरकालिकं तत्समानकर्तृकं प्रेक्षणमित्यादिः शाब्दबोधः । वनाद् ग्रामो योजने योजनं वा अत्र 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी तद्युक्ताध्वनः प्रथमासप्तम्यौ कालात् सप्तमी च वक्तव्या' इति वचनात् पञ्चम्यादिकं विधीयते । यदवधित्वेनाश्रित्याध्वकालान्यतरस्य निर्माणं परिच्छेदः प्रतिपाद्यते ततः पञ्चमी तद्युक्तात् तेन पञ्चम्यन्तेनार्थद्वारा युक्तात् परिच्छेद्याध्ववाचिनः प्रथमासप्तम्यौ भवतः । कालादित्यत्रापि तद्युक्तादित्यस्यानुपपन्नः । तथाविधकालार्थकत्वात् सप्तमीति तदर्थः । अव्यवहितोत्तरत्वं पञ्चम्यर्थः । प्रतियोगित्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थान्वितस्याश्रयत्वसंबन्धेन योजनेऽन्वयः । प्रथमासप्तम्योरव्यवहितोत्तरवृत्तित्वमर्थः । तस्य ग्रामे आश्रयतयान्वयः । एवं च वनाव्यवहितोत्तरयोजनाव्यवहितोत्तरदेशवृत्तिर्ग्राम इति बोधः । कार्त्तिक्या आप्रहायणी मासे इत्यत्रावयवघटितत्वं पञ्चम्या अर्थः । अव्यवहितोत्तरकालवृत्तित्वं सप्तम्याः । कार्त्तिकीरूपप्रकृत्यर्थस्य तादात्म्यसंबन्धेन पञ्चम्यर्थे घटकावयवेऽन्वयः । कार्त्तिक्यवयवघटितमासाव्यवहितोत्तरकालवृत्तिराग्रहायणीति बोधः । पूर्वत्र प्रथमासप्तम्योरत्र च सप्तम्या अव्यवहितोत्तरत्वमात्रं वार्थः । तस्याश्रयत्वसंबन्धेन ग्रामेऽन्वयः । योजनाधिकव्यवधाने वनाद् ग्राम इत्यप्रयोगात्तत्र पञ्चम्यर्थेऽव्यवधानांशनिवशः । योजनोत्तरविभक्त्यर्थेऽप्यत एव तन्निवेशः । मासे इत्यत्र सप्तम्यर्थे तदन्तर्भावोऽप्येतदर्थमेव । अन्यथा कार्त्तिक्याः पौषी मासे इत्यादेरप्यापत्तेः । कार्त्तिकीघटितमासोत्तरवृत्तित्वस्य पौष्यामपि सत्त्वात् । कार्त्तिक्या इति पञ्चम्या वनादित्यत्रेवाव्यवहितोत्तरत्वं नार्थः । कार्त्तिक्यव्यवहितोत्तरमासाव्यवहितोत्तरवृत्तित्वस्याग्रहायण्यामसंभवादुक्तप्रयोगानुपपत्तेः । उभयत्र पञ्चम्या अवधित्वमर्थः । वनावधिकयोजनाव्यवहितोत्तरदेशवृत्तिर्ग्राम इत्याकारको बोध इति शाब्दिकरत्नाकरकृतः । योजनावधेर्ज्ञाते नियमेनावध्याकाङ्क्षायाः सत्त्वान्नासंभव इति भावः । कार्त्तिक्या इत्यादावपि नार्थासंगतिः तद्धर्मवतोऽपि तद्धर्मावधित्वाद् यथाभिविधाविति भावः । घटादन्य इत्यादौ स्वप्रतियोगिकभेदसंबन्धः पञ्चम्यर्थः । तेन संबन्धेन प्रकृत्यर्थस्यान्यस्मिन्नन्वयः । अत एव नात्रैकदेशान्वयप्रसक्तिः । अत एव देवदत्तस्य पुत्र इत्यादौ जन्यत्वादेः पृष्ठवर्थत्वमभ्युपयन्ति शाब्दिकाः । अन्यादिशब्देन भेदाद्यवगतनि-

राकाङ्क्षत्वं न प्रकारतया तद्वोधे एव निराकाङ्क्षत्वेन संसर्गतया बोधे निराकाङ्क्षत्व-
विरहात् । स्वप्रतियोगिकत्वमित्यस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमित्यर्थः ।
तेन घटेऽपि घटान्तरमादाय घटो घटादन्य इति प्रयोग्यपत्तिः । स्वपदेन घटत्वादिविशि-
ष्टतत्त्वस्तुपादानेऽपि द्वित्वादिना तत्प्रतियोगिकभेदमादाय तद्वोषस्तदवस्थ इति दूषणं
प्रयुक्तम् । अन्ये तु प्रतियोगित्वं प्रतियोगिमत्त्वं वा पञ्चम्यर्थः । प्रतियोगित्वे प्रकृत्यर्थ-
तावच्छेदकावच्छिन्नापेयत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्य प्रकृत्यर्थान्वितस्य निरूपकत्वसंबन्धेन भेदे
तद्वटितसंबन्धेन तद्वति वान्वयः । द्वितीयपक्षेऽनुयोगितास्वरूपे प्रतियोगिमत्त्वे प्रकृत्यर्थ-
तावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपितत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्यान्वयः । तस्य चाश्रयत्वसंबन्धेन भेदे
एकदेशेऽप्यन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्याद् विस्पष्टपटुरित्यत्र पाटवे यथा व्युत्पत्तिवैचित्र्यादन्यः ।
अत एव मुख्यसामानाधिकरण्यमावाद् 'विशेषणं विशेष्येण' इति कर्मधारयौ न किं तु
सुप्रसूतेति समासो विस्पष्टादीनीति ज्ञापकद्वेति स्पष्टं 'प्राक् कडारात् समासः' इति सूत्रे
भाष्यकैयटयोः । तद्वटितसंबन्धेन भेदवति वान्वय इत्याहुः । अन्येत्यर्थग्रहणमत एव
घटाद्भिन्न इति प्रयोगसिद्धिः । घटस्य भेद इत्यत्र तु न पञ्चमीप्रसक्तिः । भेदविशिष्टार्थ-
कस्यैव ग्रहणात् । अन्यशब्दस्य विशिष्टार्थकत्वात् । इतरग्रहणमेतदर्थसूचकमेवैत्यभिप्रेत्यैव
प्रपञ्चार्थमित्युक्तं **कौमुद्याम्** । अत एव घटो नेत्यत्र न तदापत्तिस्तस्य द्योतकत्वाङ्गी-
काराच्चेति प्राञ्चः । नव्यशाब्दिकमते तु नार्थग्रहणं भाष्यानुक्तत्वात् । घटाद्भिन्न इत्यत्र
पञ्चमीनिर्वाहस्तु प्रागुक्त एवेत्यलम् । कृष्णादृते दुःखमत्र कृष्णशब्दस्तद्वक्तिलाक्षणिकः ।
ऋतेशब्दार्थः संसर्गाभावः । प्रतियोगितासंबन्धेन प्रकृत्यर्थान्वितस्य तस्य सामानाधिकर-
ण्यसंबन्धेन तत्स्थे दुःखेऽप्यन्वयः । अभावे प्रतियोगिवैयधिकरण्यं निवेशनीयमन्यथाराध्य-
त्वप्रकारकज्ञानात्मकभक्तेरव्याप्यवृत्तितया तदभावसामानाधिकरण्यस्य सुखेऽपि सत्त्वेन
कृष्णादृते सुखमिति प्रयोगापत्तिः । क्वचित् प्रयुक्तत्वसंबन्धेनैवान्वयः । अत एव वृष्टे-
र्ऋते सुखमिति न । अन्यथा वृष्टेः क्षेत्रादौ सत्त्वेऽपि तदभावस्यात्माने सत्त्वेन स्यात्तथा
प्रयोगः । स्वदेशात् शत्रोः प्रयाणादृते देवदत्तस्य दुःखमित्यादौ प्रयुक्तत्वबोधस्यानुभव-
सिद्धत्वादावश्यकत्वाच्च । अन्यथा शत्रोः प्रयाणे सत्यापि तदभावस्य देवदत्ते सत्त्वेन तदी-
यव्याध्यादिप्रयुक्तदुःखे तादृशप्रयाणाभावसामानाधिकरण्यमादाय दुर्वारत्वात् । एवं दण्डा-
दृते न घट इतिवद्वासमादृते न घट इत्यादिप्रयोगापत्तिरप्यत एव न । दण्डाभावप्रयुक्त-
त्वस्य घटाभावेऽजाधितत्ववद्वासमाभावप्रयुक्तत्वस्याबाधितत्वविरहात् । सामानाधिकरण्यसं-
बन्धस्य संसर्गत्वे तु स्यादेवोक्तप्रयोगापत्तिः । प्रयुक्तत्वसंबन्धेनैव तस्यान्वय इति

नियमस्तु न वहेर्कृते पर्वतरूपाभाव इत्यादौ तदसंभवादित्यलम् । ऋते वातादृक्षः पतति
 अत्राभावस्तद्वात्वा तदर्थः । वाताभावविशिष्टवृक्षस्य पतने संबन्धावगतौ पतने वा तज्ज-
 न्यत्वाभावलाभ आर्थः । जन्यत्वशब्दादनुपस्थितस्याभावप्रतियोगितया भानासंभवाज्जन्य-
 त्वस्य वृत्त्यनियामकतया तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवाताभावबोधोऽपि न संभवति ।
 वातपदस्य वातजन्यत्वलक्षणायां तु तदाश्रयणमेव बोधः । भेदवानपि ऋतेशब्दार्थः ।
 यथा रामादृते न धनुर्धर इत्यत्र । रामभिन्नो धनुर्धरभिन्न इति बोधः । घटादन्य इत्यत्रो-
 क्तप्रकारः सर्वोऽप्यत्रावगन्तव्यः । एतद्योगे द्वितीयापि 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इत्यत्र
 दृशिग्रहणात् । अत एव चान्द्रा 'ऋते द्वितीया च' इति सूत्रयन्ति । अत एव 'पुरु-
 षाराधनमृते' इति प्रयोगोऽपि साधुर्भवति । तेन ऋते वातं वृक्षः पततीत्यपि भवति ।
 पूर्वो ग्रामात्तडागः अत्र 'अन्यारात्-' इति सूत्रेण पञ्चमी । अत्र पूर्वशब्दस्यादिगवृत्ति-
 त्वेऽपि शब्दग्रहणसामर्थ्याद्दिशि दृष्टमात्रस्य ग्रहणात् । उदयाचलसंनिहितदेशः पूर्वपदार्थः ।
 अवधित्वं पञ्चम्यर्थः । अवधित्वसाकाङ्क्षो धर्मविशेषः पूर्वत्वम् । स चाखण्डोपाधिः ।
 एवं परत्वादपि । ग्रामावधितानिरूपकपूर्वत्ववानित्यादिक्रमेण बोधः । चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः
 अत्र प्रतियोगितद्व्यंसानधिकरणकालभवः पूर्वपदार्थः । उपाधिविशेषात्मकपूर्वत्वेन प्रति-
 योगिविशेषतद्व्यंसानधिकरणकाल एव भासते तत्तदवधिवोधकपदसमभिव्याहारसाचि-
 व्यात् । चैत्रावधिकपूर्वत्ववत्कालभवः फाल्गुन इति बोधः । तद्व्यंसमात्रानधिकरणभ-
 वस्य पूर्वत्वेन रूपेण वाच्यत्वे चैत्रात् पूर्वश्चैत्र इति प्रयोगापत्तिः । तत्प्रतियोगिमात्रान-
 धिकरणभवस्य तथात्वे वैशाखादावपि तदापत्तिरिति तृभयानधिकरणेत्युक्तम् । तादृशकाल-
 लभत्वस्य शक्यतावच्छेदकत्वे गौरवम् । चैत्रादिरूपप्रतियोग्याद्यन्तर्भावेण शक्त्यङ्गीकारे
 शक्त्यानन्त्यम् । प्रतियोगित्वादिरूपेणैवान्तर्भावेऽप्रसिद्धिरित्यादिबोधाभ्यात् तादृशकालभ-
 वस्य पूर्वत्वेनैव शक्तिरङ्गीकृता । कालस्य क्रियामात्रपरिच्छेदकत्वात् फाल्गुनादिनान्वयो
 न स्यादतस्तद्व्यंस्यान्तर्भावः । पूर्वादिशब्दस्य तत्र लक्षणा । लक्षणाभावे तु चैत्रात्
 पूर्व फाल्गुन इत्येव प्रयोगः । अधिकरणशक्तिप्रधानमव्ययम् । अस्तीत्यादेरध्याहारः ।
 अन्ये तु ग्रामात् पूर्व इत्यत्रोदयाचलावधिकापरत्वाश्रयः पूर्वशब्दार्थः पञ्चम्याः परत्व-
 निरूपकत्वमर्थः । तथा च ग्रामवृत्तिपरत्वानिरूपकं यदुदयाचलावधिकमपरत्वं तदाश्रय
 इति बोधः । चैत्रादित्याद्युदाहरणे पूर्वशब्दः प्रागभावाश्रयार्थकः । प्रतियोगित्वाधिका
 पञ्चमी । प्रागभावानङ्गीकारे तु ध्वंसप्रतियोगी पूर्वशब्दार्थः । आधेयत्वं पञ्चम्यर्थः । तस्य
 च ध्वंसेऽन्वयः । चैत्रप्रतियोगिकप्रागभावाश्रयः फाल्गुन इत्याद्याकारो बोध इत्याहुः ।
 अत्र मते प्रागभावादेः सावधिकत्वाभावेन तदर्थकपूर्वशब्दस्यावध्याकाङ्क्षाश्रयकत्वं न

स्यात् । तथा च व्यवस्थाभावे सर्वनामता न स्यात् । न च प्रतियोग्याकाङ्क्षासत्त्वादेव
तथात्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । प्रतियोगित्वावधित्वयोर्भेदान् पूर्वत्वस्य सावधिकत्वान्मन्मते
नानुपपत्तिरित्याहुः शाब्दिकाः । चेन्नात् परो वैशाखः चैत्रध्वंसाधिकरणकालभवः परत्वेन
परशब्दार्थः । अवधित्वे पञ्चमी । 'गृहाद्वृक्षं नम परा काश्याः सैवापरा मम'
इत्यादौ विप्रकृष्टदेशस्थसेनिकृष्टदेशस्थौ परत्वापरत्वाभ्यां परापरशब्दप्रतिपादौ । गृहावधिक-
मत्संबन्धपरत्ववर्ता गृहेत्यादिकमेण बोधः । परत्वादिनिष्ठः स्वसंबन्धः स्वसंयुक्तसंयोगपर-
पराश्रयाश्रितत्वावात्मकः मध्यवर्ति गृहं स्वसंबन्धन्यसंबन्धि वेत्यन्यदेतत् । यस्य तदर्थे
उत्थिताकाङ्क्षा प्रत्यासत्त्या तन्निमित्तकविभक्तेस्तद्वाचकादेव स्वीकारात् । परादिपदं चाव-
धावेव नियताकाङ्क्षमिति स्पष्टमेव । प्रागादयः पूर्वादिना व्याख्याताः । सध्वञ्चैत्रेणे-
त्यादौ तु पञ्चमीसाहचर्येण दिग्वाचकस्यैवाञ्चूत्तरपदस्य पञ्चमीविमित्तत्वाभ्युपगमात् ।
प्रागाद्वहिः समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकानाश्रयस्तस्थं च बहिष्ठरूपोपाधिनोच्यते । अना-
वृतदेश इत्यनेनाप्ययमेवार्थोऽभिप्रेतः । अत एव द्रव्याद्वहिर्भूतो गुण इत्याद्युपपद्यते ।
काशीतो बहिर्भूतमिदं गृहमिति च । बहिःशब्देन पञ्चमीसमासविधानज्ञापितात्र पञ्चमी ।
ज्ञापकसिद्धत्यासार्वत्रिकत्वेन 'करस्य करभो बहिः' इति सिद्धमित्याहुः । अप हरेः परि
हरेः संसार इत्यत्रापपरी ऋतेशब्दसमानार्थौ । 'अपपरी वर्जने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ।
'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी । हरिशब्दो हरिभक्तिलाक्षणिकः । हरिभक्त्यभावसमा-
नाधिकरणस्तत्प्रयोज्यो वा संसारः । संसारो जन्मादि । अपरे तु अत्यन्ताभावोऽनयोरर्थः ।
पञ्चम्या आधेयत्वम् । तस्य चात्यन्ताभावेऽन्वयोऽत्यन्ताभावस्य प्रतियोगितया संसारे ।
हरिवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगी संसार इति बोधः । अप पृथिव्या गन्धाभाव इत्यादौ तथै-
वानुभवमिति वदन्ति । तेषामयमाशयः । पृथिव्यभावसमानाधिकरणो गन्धाभाव इति
बोधाभ्युपगमो न संभवति । अप पृथिव्याः स्नेहाभाव इत्यादेरप्याप्तेः । अथ पृथिव्य-
भावप्रयुक्तो गन्धाभाव इति बोधः स्वीक्रियते स्नेहाभावश्च न तत्प्रयुक्त इति नातिप्रसङ्ग
इति चेत् हेतुतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नहेत्वभावस्यैव कार्याभावप्रयोजकतया संयोगादि-
संबन्धावच्छिन्नतदभावस्य तथात्वासंभवादिति पृथिव्यन्योन्याभावप्रयुक्तत्वबोधाभ्युपगमे तु
नोक्तदोष इति बोध्यम् । आ मुक्तेः संसारः आद्योऽत्र मर्यादार्थः । कालदेशभेदेन मर्यादा
द्विविधा । कालगतं मर्यादात्वं स्वत्वोत्तरकालोभयप्रागभावाधिकरणयावत्कालभवो यः
समभिव्याहृतपदार्थतदधिकरणत्वम् । मुक्तिपदं तदधिकरणकालपरम् । मर्यादामर्यादि-
भावसंबन्धः पञ्चम्यर्थः स एवाङ्गोक्त्यः । मुक्तिमर्यादकः संसार इति बोधः । मुक्तिकाल-
प्रागभावादिनिरूपितं यन्मुक्तिकालतत्प्रागभावकालान्यकालवृत्तित्वविशिष्टव्यापकत्वं संसारे

तद्वोधस्त्वार्थिकः । तादृशकालवृत्तित्वस्यार्थिकबोधनिर्वाहार्थमेव तदुत्तरकालप्रागभावोपादानं कृतम् । तादृशप्रागभावाधिकरणकाले समभिव्याहृतकालप्रागभावानधिकरणत्वमपि प्रवेश्यम् । तेन सावित्रीं जपेदर्धास्तमिते मण्डले आ नक्षत्रदर्शनादिति प्रयोगे जपनिष्ठ-तथाविधप्रागभावानिरूपितव्यापकत्वभावानिर्वाहः । अन्यथा तत्प्रागभावस्याधस्तमितपूर्वकालेऽपि सत्त्वेन तदव्यापकत्वस्य बाधेन तदनिर्वाहात् । अत्र वस्तुगत्या यस्तादृशविशेषणविशिष्टः समभिव्याहृतपदार्थस्तदधिकरणभेदरूपं तदनधिकरणत्वं समभिव्याहृतपदार्थभेदाधिकरणभेदत्वेन रूपेणोच्यते संबन्धत्वेन वेति न शक्त्यानन्त्यं मर्यादित्वं च तथा-विधमर्यादात्वनिरूपकत्वमिति बोध्यम् । **तार्किकरत्नाकरकृतस्तु** समानकालिकत्वाभावः कालिकमव्यवधानं चाडा प्रत्याच्यते । तादृगव्यवधानं तत्प्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावानधिकरणत्वे सति तत्प्रागभावाधिकरणभूतो यः क्षणस्तद्वृत्तित्वम् । प्रागभावानभ्युपगमे तु तदधिकरणक्षणोत्पत्तिकध्वंसप्रतियोगिक्षणवृत्तित्वं प्रतियोगित्वं पञ्चम्यर्थः । तथा च मुक्तिसमानकालिकत्वाभाववान् मुक्त्यव्यवहितः संसार इति बोध इत्याहुः । अत्र मते संसारे मुक्त्युत्तरकालावृत्तित्वस्यार्थिक एव लाभ इति बोध्यम् । न च तदभावेऽपि न क्षतिरिति वाच्यम् । मध्याह्नोत्तरं तत्पूर्वं चाध्ययने मध्येऽवसाने आ मध्याह्नादधीत इति प्रयोगापत्तेः । प्रतिदिनं सायंकालपर्यन्तमध्ययनकर्तार आ सायंकालादधीते इत्यादि तु धातोस्तत्तदध्ययनपरत्वेन निर्वाह्यम् । अव्यवहितोत्तरकालविशेषो वोत्तरकालेऽल्लेनेन विवक्षणीयः । अत्र मते प्रातःकाले सायंकालाव्यवहितपूर्वकाले एव जपे प्रातरारभ्या सायंकालाज्जपतीति प्रयोगापत्तिरिति तु द्रष्टव्यम् । अपरे तु मर्यादात्वघटकः प्रागभाव एवाहोऽर्थः । मुक्तिपदं मुक्तिकालपरं पञ्चम्याः प्रतियोगित्वं वाच्यम् । एवं च मुक्त्यधिकरणकालप्रतियोगिकप्रागभावलाभः । तस्य स्वखोत्तरकालावृत्तित्वसहितव्यापकत्वसंबन्धेन संसारेऽन्वय इत्याहुः । प्रयागात् प्रभृत्या काश्या वृष्टो देव इत्यादौ देशरूपा मर्यादा । मर्यादात्वं च स्वखोत्तरदेशयोगनिष्ठं काशीप्रयागोभयान्तरालिकयावद्देशवृत्तिसमभिव्याहृतपदार्थवृष्ट्याद्यनधिकरणत्वम् । उत्तरदेशावृत्तितादृशसमभिव्याहृतपदार्थानधिकरणत्वं तन्निष्ठं मर्यादात्वमिति तु परमार्थः । उत्तरदेशे तदनधिकरणत्वनिवेशात् काशीतः पूर्वदेशेऽपि वृष्टिसद्भावे न तादृशप्रयोगापत्तिः । पाटलिपुत्रात् पूर्वदेशे वृष्टिसत्त्वे काशीपाटलिपुत्रान्तराले तदसत्त्वे प्रयागकाशीमध्यदेशे वृष्टिसत्त्वदशायामुक्तप्रयोगस्य प्रामाणिकत्वे उत्तरशब्देनाव्यवहितोत्तरदेशो ग्राह्यः । वृष्टिपदं वा वृष्टिविशेषपरं प्रयागपदोत्तरं पञ्चमी प्रभृत्यर्थयोगे । तथा च प्रयागादिकाशीमर्यादकवृष्टिकर्ता देव इति बोधः । प्रयागाधिकरणकप्रारम्भिका काशीप्रयागोभयान्तरालिकयावद्देशनिष्ठं यत्काशीतदुत्तरदेशनिष्ठाभावप्रतियोग्यधिकरणत्वं तन्नि-

रूपिका या वृष्टिस्तर्कतेति यावत् । पञ्चम्यर्थमर्यादात्वशरीरे काश्युत्तरदेशे समभिव्याहृत-
पदार्थानधिकरणत्वान्तर्भावोऽनन्यगतिकतया स्वीकार्यः । एवं सति नानार्थत्वे इष्टापत्तिरिति
भावः । वस्तुतस्तु उभयविधमर्यादात्वानुगमकं मर्यादात्वं धर्मविशेषरूपम् । एवं च न
नानार्थत्वप्रसक्तिः । अत एव काशीमर्यादकृते बोधप्रदर्शनमभियुक्तैः क्रियते । धर्म-
विशेषरूपमर्यादात्वस्यानङ्गीकारे तु पूर्वोक्तरीतिरत्राप्यनुसंधेया । प्रयागादिकाशीपश्चिमदेश-
निरूपितं यत्सुभिन्नदेशविशेषावृत्तित्वविशिष्टव्यापकत्वं तद्बोधस्तवार्थः । तादृशव्यापकत्वस्य
शब्दादनुपस्थितेः । काशीपदोत्तरपञ्चम्या व्यापकत्वार्थकत्वाङ्गीकारेण निर्वाह इति तु न ।
व्यापकत्वस्य व्याप्यविशेषाघटितस्य दुर्वचत्वान् तद्वटकपदार्थेषु खण्डशः शक्तिस्वीकारे
गौरवं व्याप्यस्यानुपस्थिताविद्यानिर्वाहश्च । व्याप्यविशेषान्तर्भावेण शक्तौ शक्त्यानन्त्यमि-
त्यादिकं बोध्यम् । अभिविधिस्तत्पर्यन्तमभिव्याप्तिः । तत्पदेनावधिः । स चाडा द्योत्यः
पञ्चम्यर्थः । तत्पर्यन्ताभिव्याप्तिश्च तद्व्यापकत्वे सति तदितरत्र संबन्धः । स च क्वचिद्
व्यापकत्वरूपः क्वचित्तादात्म्यसंयोगादिस्तात्पर्यवशाद्भासते । क्वचिद्व्यापकत्वमात्रं यथा
आ हरेः प्रमेयत्वम् । अत्र प्रमेयत्वे हरेर्व्यापकत्वे सति तदितरव्यापकत्वं प्रतीयते । आ
परमाणोः पृथिवी । अत्र परमाणुपदं पार्थिवपरमाणुपरं तादात्म्येन तद्व्यापकत्वं तदितर-
तादात्म्यसंबन्धश्च प्रतीयत इत्यादि बोध्यम् । आ सकलाद् ब्रह्म । अत्र व्यापकत्वमात्र-
मर्थः । सकलव्यापकं ब्रह्मेति बोधः । अभिविधिरूपः संबन्धोऽपि द्विविधः कालिको
दैशिकश्च । आद्यो यथा कालिकयाश्चैत्रं यावच्छीतम् । कालिकीप्रभृति चैत्रान्तकालव्यापकं
शीतमिति बोधः । चैत्रपदं चैत्रान्तकालपरम् । अन्त्यं यथा काशीतः पाटलिपुत्रं
यावद्दृष्टो देवः । काशीप्रभृतिपाटलिपुत्रान्तदेशव्यापकत्वं वृष्टौ प्रतीयते । अनयोस्तात्पर्य-
वशात्तदभिन्नकालावृत्तित्वविशिष्टं तदभिन्नदेशावृत्तित्वविशिष्टं च व्यापकत्वं प्रतीयत इत्यु-
क्तमभियुक्तैः । अयं भावः । व्यापकत्वं द्वितीयार्थो यावच्छब्दो द्योतकः । व्युत्पत्तिवैचि-
त्र्यादितरपदार्थविशिष्टप्रकृत्यर्थश्चैत्रान्तकालादेर्निरूपितत्वसंबन्धेन व्यापकत्वेऽन्वयः । व्याप-
कत्वं च तत्तद्व्याप्यघटितमेवोपादेयमतो नाप्रसिद्धम् । अथवा भेदप्रतियोगितावच्छे-
दकत्वमभावश्चेत्येतद् द्वयं व्यापकत्वघटकं व्याप्याघटितमेव द्वितीयार्थः । इतरपदार्थविशि-
ष्टप्रकृत्यर्थस्याधेयत्वसंबन्धेन भेदेऽन्वयः । तद्वलादेव तद्व्यापकत्वलाभः । अथवा चैत्रप-
दस्येव कालिकीप्रभृतिचैत्रान्तकालार्थकत्वं लक्षणया कालिकया इति तात्पर्यग्राहकं
द्वितीयार्थः पूर्ववत् । काशीत इत्यत्राप्येवमेव बोध्यम् । यावच्छब्दस्य वाचकत्वपक्षे तु
आधेयत्वं द्वितीयार्थः । तस्य यावच्छब्दार्थघटकभेदेऽन्वयः । इतरत् पूर्ववत् ! अथवा
द्वितीयार्थो व्यापकत्वं तदितरसंबन्धश्च । तदितरश्च प्रत्यासत्त्या कालिकीप्रभृतिककाल एव

संबन्धश्च व्यापकत्वरूपो भासते इति दिक् । मर्यादादोदाहरणेऽपि यद्यप्येवंरीत्या व्यापकत्व-
 बोधो निर्वहति तथापि मर्यादात्वेन रूपेण बोधनिर्वाह एतादृशेऽंशं विनैव संभवतीत्येतदु-
 पेक्षा तत्र पुरस्कृता । अत्र त्वगत्या व्यापकत्वबोधो उक्तक्रमेणाङ्गीकारे कृतः । अभिव्या-
 सितार्थसत्त्वे कार्तिकीत आ चैत्र्याः शीतमित्याद्यपि कालिकाभिविधेरुदाहरणं बोध्यम् ।
 अत्रान्युक्तैव रीतिरनुसर्तव्या । तत्र यो द्वितीयार्थः सोऽत्र पञ्चम्यर्थ आह्वय इति
 विशेषः । अग्रे तु कार्तिकीतश्चैत्रमित्यत्रोत्तरकालपूर्वत्वं काशीतः पाटलीपुत्रमित्यत्र पूर्व-
 देशपश्चिमत्वं यावच्छब्दार्थः । अवधित्वं द्वितीयार्थः । तस्य यावच्छब्दार्थेऽन्वयः । उत्तर-
 कालपूर्वत्वस्य व्यापकत्वसंबन्धेन शीतभवनेऽन्वयः । व्यापकत्वघटकोत्तरकालपूर्वत्वाधि-
 करणे समभिव्याहृतकार्तिक्यादिपूर्वकालभेदो निवेद्यः । द्वितीयेऽपि पूर्वदेशपश्चिमत्वस्य
 व्यापकत्वसंबन्धेन दृष्टान्वयः । अत्रापि व्यापकत्वघटकपूर्वदेशपश्चिमत्वाधिकरणे काशी-
 पश्चिमदेशभेदो निवेद्यः । एतादृशव्यापकत्वमाने कार्तिकीपूर्वकालाद्यवृत्तिवमर्थात् सिद्धं
 भवतीत्यलमतिविस्तरेण । आह्वयितोदाहरणेऽपीदं सर्वं बोध्यमित्याहुः । कार्तिक्या इति
 पञ्चमी तु प्रभृत्यर्थयोगनिमित्तिका । आरभ्येत्यर्थकमवयवं प्रभृतीति 'यतश्चाध्वकाल-'
 इति वार्तिकप्रत्याख्यानय भाष्ये 'इदमत्र प्रयोक्तव्यं सत्र प्रयुज्यते कार्तिक्याः प्रभृत्या-
 ग्रहायणी मासे' इत्युक्तम् । तेन प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमीति वचनसत्त्वं सूचितम् । तेन तद-
 प्रयोगेऽपि पञ्चमीसिद्धिः । अवधिमादायेति तदर्थः । अवधित्वेन स्वीकृत्येति यावत् ।
 आरभ्येत्यस्य तदर्थकताग्रहणमात्रार्थकता च । आद्ये पञ्चमी । द्वितीये प्रातःकालमारभ्ये-
 त्यादौ कर्मत्वाद् द्वितीया । अवधित्वं च भवात् प्रभृति सेव्यो हरिरित्यत्र समभिव्याहृत-
 पदार्थमरणान्तकालापेक्षमित्यन्यत्र विस्तरः । अवधित्वं पञ्चम्यर्थः । प्रशुन्नः कृष्णात्
 प्रति अत्र 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । 'प्रतिनिधिप्र-
 तिदाने च यस्मात्' इति सूत्रेण पञ्चमी । यस्मादिति पष्ठर्थे सूत्रे पञ्चमी । यत्संबन्धी
 यत्प्रतियोगी प्रतिनिधिः प्रतिदानं वा कर्मप्रवचनीययुक्ततदर्थकात् पञ्चमीति सूत्रार्थः ।
 प्रतियोगित्वरूपसंबन्धः सूत्रस्य पञ्चम्यर्थः । प्रतिः सदृशार्थकः । कृष्णादिति पञ्चम्याः
 प्रतियोगित्वमर्थः । कृष्णप्रतियोगिकसादृश्यवानिति बोधः । तिलेभ्यः प्रतियच्छति
 माषान् । ग्रहणपूर्वकं प्रत्यर्पणं प्रतिदानम् । तत्र गृहीतर्णजन्यादृष्टध्वंसफलकदानात्मकं
 प्रतिसमभिव्याहृतयच्छतेरर्थः । तिलग्रहणपूर्वकं मापकर्मकप्रतिदानमिति बोधः । कर्म-
 त्वात्मकः संबन्धः पञ्चम्यर्थः । तस्य धात्वर्थघटकग्रहणेऽन्वयः । तार्किकरत्नाक-
 रकृतस्तु ऋणत्वध्वंसजनकत्वं प्रतेरर्थः । तस्याश्रयत्वेन दानेऽन्वयः । पञ्चम्या आदान-
 जन्यत्वमर्थः ऋणत्वान्वयी ऋणत्वं पदार्थान्तरं पापविशेषो वा तिलादानजन्यर्णत्वध्वंसज-

नकमापदानकमेत्याद्याकारो बोध इत्यभ्युपयन्ति स्म । शताद्वद्दः ‘अकर्तृयुगे पञ्चमी’ इति सूत्रेणात्र पञ्चमी । कर्तृभिन्नं हेतुभूतं यदणं तद्वाचकात् पञ्चमीति तदर्थः । हेतुहेतुमद्भावो हेतुत्वं हेतुमत्त्वं वा पञ्चम्यर्थः । शतहेतुकं बन्धनकमेति बोधः । कणत्वं तु वस्तुसन्निमित्तं न तु तस्य वाच्यकोटावन्तर्भाव इत्याहुः । तस्य वाच्यत्वं न युक्तं गौरवात्तद्वाधस्यानुभवद्वेत्याहुः । शतेन बन्धित इति प्रत्युदाहरणे हेतुमण्यन्तात् कर्मणि क्तः । शतमिह ऋणं प्रयोजककर्तृ ‘तत्प्रयोजकः—’ इति हेतुसंज्ञं च । जाज्याद्वद् इत्यत्र ‘विभाषा गुणे—’ इति वैकल्पिकी पञ्चमी । पक्षे हेतुवृत्तीया । जाज्यहेतुकबन्धनकमेति बोधः । धूमादभिमानित्यादौ ज्ञाननिष्ठजन्यजनकभावस्य विषये आरोपात् पञ्चमीत्याहुः—**र्मञ्जूषाकृतः** । एतत्पक्षे धूमहेतुको वह्निरिति बोधः । एतेन धूमादेर्वह्न्याद्यजनकत्वेऽपि पञ्चम्यनुपपत्तिर्निरस्ता । ज्ञापकस्यापि हेतुपदेन ग्रहणमिति तु न युक्तम् । ‘हेतुर्ना कारणं वाजम्’ इति कोशेन हेतुपदस्य कारणार्थकत्वनिश्चयात् । लोके तत्र प्रयोगाभावाच्च । धूमपदं धूमज्ञानपरम् । अभिमतपदं स्वज्ञानविषये लाक्षणिकमिति लघुशेखरे । एतन्मते धूमज्ञानहेतुकवह्निमज्ञानविषयपर्वत इति बोधः । **मणिकृतस्तु** वह्निपदं वह्निज्ञानलाक्षणिकं धूमपदं धूमज्ञानलाक्षणिकं हेतुत्वं जनकत्वरूपं पञ्चम्यर्थः । प्रकृत्यर्थधूमज्ञानान्वितस्य तस्य निरूपकतासंबन्धेन वह्निपदार्थवह्निज्ञानेऽन्वयः । मतुवर्थो विषयतावान् विषयता वा वह्निपदलक्षणा वा आश्रयत्वसंबन्धी मतुवर्थः । अथवा वह्निपदं ज्ञायमानवह्निलाक्षणिकं मतुवर्थः संयोगीति स्वीचकुः । अनयार्मञ्जूषाशेखरोक्तयोः पक्षयोर्मध्ये ज्ञानगतजन्यजनकभावस्य विषय आरोप इत्येव पक्षः सम्यगिति प्रतिभाति । दीधितिकारादयस्तु ज्ञानज्ञाप्यत्वं पञ्चम्यर्थो धूमपदं मुख्यार्थकमेव । अत एवोदाहरणादिवाक्ये न धूमस्यैव गमकताप्रयोजकव्याप्त्यादिकं प्रदर्श्यते । एवं च वह्निपदमपि मुख्यार्थकमेव । अत एव जिज्ञासिताभिधानं भवति यतो वह्निरिव जिज्ञासितो न तु वह्निज्ञानमित्याहुर्नित्यलमतिविस्तरेण । ज्ञानं च प्रमात्मकमेव पञ्चम्याद्यर्थघटकं तेन व्याप्त्यादिभ्रमविषये बहुधादिलिङ्गधूमानुमत्युत्पादपि न वह्निना बहेर्वा धूमवानिति प्रयोगापत्तिः । प्रमात्वं च यावद्भूमभिन्नत्वं तेन वह्निर्धूमव्याप्य इति भ्रमस्यापि वह्नित्वाद्यंशे प्रमात्वमादाय नोक्तप्रयोगापत्तितादवस्थमिति बोध्यम् । धूमादेरगुणत्वेऽपि ‘विभाषा’ इति योगविभागात् पञ्चमी । अत एव नास्ति घटोऽनुपलब्धेरित्यत्र खीलित्वेऽपि पञ्चमीत्याहुः । परे तु ‘बाहुल्यं प्रकृतेस्तुदृष्टेः’ इति ‘उणादयो बाहुल्यम्’ इति सूत्रस्थवार्तिकप्रयोगाद्विशेषणद्वयं प्राथिकमित्याहुः । ज्ञाप्यज्ञापकभावोऽन्वयितावच्छेदकवह्निधूमत्वादिरूपेण प्रतीयत इत्यभ्युपगमात् पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वाद् द्रव्यत्वेन वेत्यादिर्न प्रयोगः । अन्वया तु प्रमे-

यत्वादिना बह्वेरपि द्रव्यत्वज्ञाप्यत्वात् । बह्वित्वेन रूपेण विशिष्टद्रव्यत्वज्ञापितत्वाच्चोक्तप्रयोगापत्तिर्दुर्वारैव । एवं ज्ञाप्यबह्विमत्त्वादेर्यदन्वयितावच्छेदकं पर्वतत्वादि तदवच्छिन्नान्शे एव ज्ञाप्यत्वादिकं भासत इति नियमाङ्गीकारात् पर्वतो बहिमान् महानसत्वान्महानसत्वेन वेत्यादेर्नापत्तिः । अथ पर्वतो बहिमान् न द्रव्यत्वान्नापि महानसत्वादित्यादिप्रयोगानुपपत्तिः सर्वमतेऽपि बह्वावपि प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नद्रव्यत्वनिरूपितज्ञाप्यत्वस्य महानसे महानसत्वज्ञाप्यत्वस्य च सत्त्वेन तदभावबोधनस्य तत्प्रयुक्तस्य द्रव्यत्वादिज्ञानज्ञाप्यत्व-विशिष्टबह्विमत्कर्तृकसत्ताभावस्य च बोधनासंभवात् बह्वित्वावच्छिन्नस्य द्रव्यत्वज्ञानज्ञाप्यत्वस्य पर्वते महानसत्वज्ञानज्ञाप्यत्वस्य चाप्रसिद्ध्या तदभावबोधनासंभवाच्चेति चेन्न । अभावबोधने वास्तवप्रतियोगिप्रसिद्धेरनपेक्षणात् । अपि तु प्रतियोगिज्ञानमात्रस्य । तच्चारोपरूपं प्रकृतेऽपि संभवति । द्रव्यत्वज्ञानज्ञाप्यत्वे बह्वित्वावच्छिन्नत्वस्यारोपः । पर्वतत्वावच्छिन्नान्शे महानसत्वस्येत्यादिकं बोध्यम् । अत एव नान्तरिक्षे चिन्वीतेत्यादिवाक्यादन्तरिक्षाधिकरणवैयवरूपक्रियाभावबोधनिर्वाहः । अत एव च यद्वेहाधिकरणकः क्षीरपाकोऽप्रसिद्धः पाकमात्रं वाप्रसिद्धं चैत्रस्य सुषुप्तिदशायां तादृशगेहतात्पर्यकस्य अत्र गेहे क्षीरं न पचति चैत्र इत्यादेर्नञ्घटितव्यक्त्यस्य नायोग्यता । तादृशगेहाधिकरणकक्षीरपाकानुकूलकृतेरवास्तवत्वेऽप्युक्तरीत्या तदभावस्य चैत्रसमभिव्याहृतकारकविशिष्टपाकाभावस्य च बोधनसंभवात् । तादृशगेहाधिकरणकत्वाभावस्य पाकक्रियायां बोधनसंभवेऽपि तथाविधाभाव-विशिष्टपाकानुकूलवर्तमानकालिककृतेष्वेव बाधिताया बोधयितुमशक्यत्वात् । एतादृशवाक्यानामन्ध आकाशं न पश्यतीतिवदप्रमाणतेति चेत् पर्वतो बहिमान् न द्रव्यत्वादित्यादिवाक्यस्याप्यप्रमाणतोरीकर्तव्या । नव्यतार्किकाः पुनरेवमुक्तप्रयोगोपपत्तिमाहुः । पर्वतो बहिमान् धूमाद् धूमेन वेत्यादौ पञ्चम्यादेर्ज्ञानप्रयोज्यत्वं ज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वरूपं समभिव्याहृतपर्वतादिविशेष्यतानिरूपितं विधेयत्वं च विशकलितमर्थद्वयम् । धूमादेर्विषयत्वसंबन्धेन ज्ञानेऽन्वयः । धूमज्ञानप्रयोज्यत्वस्य विधेयत्वे तस्य बह्वाद्यौ । एवं चोक्तस्थले तथाविधविधेयत्वे द्रव्यत्वमहानसत्वज्ञानप्रयोज्यत्वाभावः प्रत्याप्यते । स चावाधित एव । तत्प्रयोज्यत्वं च प्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नविधेयतायां महानसनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविधेयतायां च प्रसिद्धम् । ननु पर्वतो बहिमान् न धूमादित्यस्य प्रयोगस्यापत्तिः । धूमज्ञानजन्यतानवच्छेदिकायास्तत्तद्बह्वित्वावच्छिन्नायाः पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविधेयताया बह्वावपि सत्त्वादिति चेन्न । तथाविधविधेयतात्वावच्छेदेन धूमादिज्ञानप्रयोज्यत्वाभावान्वयबोधोपगमात् । विधेयतायाः साध्यतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नविधेयतात्वेन पञ्चम्याद्यर्थत्व-

महीकर्तव्यम् । तेन ज्ञानवानात्मत्वादित्यत्र विषयतासंबन्धावच्छिन्नपक्षनिष्ठविशेष्यतानि-
रूपितज्ञानवृत्तिविषयतायां द्रव्यत्वज्ञानप्रयोज्यत्वसत्त्वेनावच्छेदकावच्छेदेन तदभावबोध-
नऽयोग्यत्वात् द्रव्यत्वादित्यादिप्रयोगानुपपत्तिर्निरस्ता । पञ्चम्याद्यर्थघटके ज्ञाने हेतुतावच्छे-
दकतत्त्वसंबन्धावच्छिन्नप्रकारकत्वं प्रवेदयम् । तेन समवायेन हेतुत्वतात्पर्येणार्थं वह्निमान्
तद्रूपान्न धूमादिति प्रयोगस्य निर्वाह इति । पृथग्रामाद्रामेण रामं वा अत्र 'पृथग्विना-'
इत्यादिना विभक्तित्रयं विधीयते । अथवा तेन तृतीयापञ्चम्यौ विधीयते द्वितीया तु ऋते
वातमित्यत्रेव 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति भवति । अत्र पञ्चम्यादेः प्रतियोगित्वमर्थः ।
पृथक्त्वं गुण इति मतेऽवधित्वमर्थः । वस्तुतस्तु पृथक्त्वं न गुणः किं तु भेद एव ।
अत एव रूपं रसात् पृथगिति रूपादावपि पृथक्त्वप्रत्ययो भवति । न हि गुणे गुणः
संभवति । न चाश्रयगतं तत्सामानाधिकरण्येन रूपादौ भासत इति वाच्यम् । पटात्
पृथग्घट इत्यत्रेव साक्षात्संबन्धेनैवैतद्भानस्यानुभवसिद्धत्वात् । तद्रूपं तद्रूपात् पृथगिति
प्रतीत्यापत्तेश्च । तद्रूपावधिकपृथक्त्वस्य तदाश्रये सत्त्वात् । अपि च रूपत्वं रसत्वात् पृथ-
गित्यस्यानापत्तेश्च तदाश्रये पृथक्त्वस्य गुणरूपस्यासंभवादित्यन्यत्र विस्तरः । स्तोकेन
स्तोकाद्वा मुक्तः अत्र करणं करणत्वं वा विभक्त्यर्थः । स्तोकादशब्दस्याल्पत्वरूपधर्मपरतया
द्रव्यासामानाधिकरण्येन सर्वनामपरामर्शयोग्यतया चासत्त्वरूपत्वं चाशुपस्थितसमुच्चया-
दिवत् । स्तोकादिशब्दोपस्थितधर्मस्य सर्वनामपरामर्शयोग्यता बोध्या लिङ्गाद्यविशेष्यत्व-
रूपमप्यसत्त्वभूतत्वं तस्य स्तोकादिशब्दाः शुक्लादिशब्दवद्भर्ममात्रपरा अपि धर्मस्य करण-
त्वमाश्रयद्वारा 'करणे च स्तोका-' इति सूत्रबलादीदृशेऽर्थे एव साधुता । तेन ह्यत्र
तृतीयापञ्चम्यावनुशिष्येते । स्पष्टं चैतत् 'अलुगुत्तर-' इति सूत्रे कैयटे । ग्रामस्य
दूराद्वरेण वा गतम् । अत्र 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति प्रातिपदिकार्थमात्रे पञ्च-
म्यादयो विधीयन्ते । व्याख्यानादूरशब्दो दूरदेशवृत्तिपरः । ग्रामसंबन्धिवदूरदेशवृत्तिगमन-
मिति बोधः । एवं ग्रामस्यान्तिकमित्यादावपि बोध्यम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः सप्तम्यधिकरणे
च' इत्यनेन सप्तमी चेति चतस्रो विभक्तयः प्रातिपदिकार्थे भवन्ति । किं च 'सप्तम्य-
धिकरणे च' इत्यत्र 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इति सूत्रस्यानुवृत्तिरिति विभक्तित्रयोपेतस्यानु-
वर्तनादधिकरणे एभ्यो विभक्तिचतुष्टयं विधीयते इति श्रेयम् । दूरः पन्था इत्यत्र तु न
द्वितीयादिप्रवृत्तिः । 'असत्त्ववचनस्य' इत्यस्यानुवृत्त्या द्रव्यासामानाधिकरणेभ्य एव
दूरान्तिकार्थकेभ्यस्तद्विधानात् 'दूरादावसथात् सूत्रं दूरात् पादावसेचनम्' इत्यत्र यथेति
शिवम् । इति पञ्चम्यर्थविचारः ॥

'षष्ठी शेषे' इति सूत्रेण कारकप्रातिपदिकार्थभिन्नस्वस्वामिभावादिरूपसंबन्धे षष्ठी

विधीयते । स च संबन्धः संबन्धत्वेन तत्तद्रूपेण । तदर्थस्तात्पर्यवलात् क्वचित्तद्रूपेण क्वचित्संबन्धत्वेन प्रतीयते । संबन्धत्वेन क्रियाकारकभावश्च तदर्थः । अत एव समानकालिकत्वाद्यनेकसंबन्धवत्यपि वाससी नेमे चैत्रस्येति प्रयोग उपपद्यते । अन्यथाभावाच्चैत्रसंबन्धात्तत्र भावेन तद्ब्रह्मेदाभावेन च तदनुपपत्तिः स्पष्टैव । तत्तद्रूपेण संबन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वे तु स्वत्वत्वावच्छिन्नात्यन्ताभावस्य स्वत्वादिमत्त्वावच्छिन्नभेदस्य चान्यदीयवत्त्वादौ सत्त्वात्तत्रोक्तप्रयोगानुपपत्तिः । तत्तद्रूपेण वाच्यत्वादेवैकशतं षष्ठ्यर्था इति 'षष्ठी स्थाने-' इति सूत्रस्थभाष्यमुपपद्यते । संबन्धत्वेनैव तस्य षष्ठ्यर्थत्वे तु संबन्धत्वावच्छिन्नशक्तैरेक्यत्वादनुपपत्तिः । द्वितीयादितः क्रियाकारकभावस्यानुभवानुरोधात् कर्मत्वक्रियात्वाद्यात्मकविशेषरूपेणैव बोधः । मातुः स्मरतीत्यादौ च क्रियाकारकभावस्य विशेषरूपेण बोधाभ्युपगमे बाधकद्वितीयाद्यापत्त्या संबन्धत्वेनैव तस्य बोध उपेयत इति नव्याः शाब्दिकोक्ताङ्गिकाश्च मिश्रादिकाः । प्राञ्चस्त्वन्नापि क्रियाकारकभावमूलकं विशेषणत्व-रूपं विषयत्वं निमित्तत्वं वा संबन्धत्वेन विशेषरूपेण वा प्रतीयते । अत एव

‘संबन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः ।

श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायामभिधीयते ॥’

इत्यनेन संबन्धस्य क्रियाकारकभावमूलकत्वमभ्यधापि भर्तृहरिभिः । सर्वत्रैव हि संबन्धस्तन्मूलकः । राज्ञः पुरुष इत्यत्र स्वस्वामिभावसंबन्धः क्रियाकारकभावपूर्वकः । यतः ‘राजा पुरुषाय द्रव्यं ददाति ततोऽसौ पुरुषस्य स्वामी भवति’ इति भाष्यादौ स्पष्टम् । क्रिया हि सिद्धस्वभावानां द्रव्याणां क्रियां विना परस्परसंबन्धमभजतां निःश्रयणीव संबन्धं करोतीति स्पष्टं भाष्यकैयटादौ । मातुः स्मरतीत्यादौ क्रिया श्रुता । राज्ञः पुरुष इत्यादौ त्वश्रुता दानादिक्रियानुमीयते इत्याहुः । विस्तरस्तु मञ्जूषातोऽनुसंधेयः । स्वस्वामिभावादिसंबन्धस्य द्विनिष्ठत्वेऽपि विशेषणवाचकादेव राजादिशब्दात् षष्ठी न तु पुरुषादिशब्दात् । प्रकृत्यर्थं प्रति प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यानुरोधात् । तथा हि राजादिः संबन्धे विशेषणं स च पुरुषे विशेषणम् । राजसंबन्धी पुरुष इति बोधात् । षष्ठ्यर्थसंबन्धस्य संसर्गतयैव भानमिति भाष्यमतेऽपि प्रकारतायाः सांसर्गिकविषयताविशेष्यतोभयनिरूप्यतया प्रकारतानिरूपकविषयताशालित्वरूपप्राधान्यमक्षतमेव । न हीदं पुरुषादिशब्दात् षष्ठ्यां सत्यां निर्वहति । किं च विशेष्यपुरुषादौ कारकप्रातिपदिकार्थान्यतरत्वस्यावश्यकत्वे वाशेषत्वान्न तद्वाचकात् षष्ठीत्याहुः । परे तु शब्दशक्तिस्वभावाद्विशेषण एव संबन्धं उद्भूततया प्रतीयत इति षष्ठी । तदुक्तं हरिभिः

‘द्विष्टोऽयसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते ।

तत्राविधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते ॥’

इति । परार्थत्वाद्गुणानां परं प्रति विशेषणतया विवक्षितत्वात् । अयं भावः । प्रकारता-
यामभेदस्य संबन्धत्वानङ्गीकर्तुं नये नीलो घट इत्यादौ व्यभिचार इति भेदसाहित्यानुसर-
णम् । भेदसाहितायाः संबन्धनियततया विशेषणे एव तदाकाङ्क्षोदयेन तत्र एव संबन्ध
उद्भूततया प्रतीयत इति तत्रैव षष्ठी पदमादधाति । विशेष्यस्य तु पदान्तरासंनिधाने
स्वनिष्ठत्वादेव न विशेष्यतानियामकसंबन्धाकाङ्क्षा । स्वनिष्ठत्वं च स्वार्थप्रवृत्तिनिमित्त-
निरूपितविशेष्यतया भासमानत्वं तच्छालित्वं वा । अप्रधाने षष्ठ्यादिनांशतः प्रतीति-
पथावतीर्णः संबन्धः प्रधानोपयोग्यपि भवति तस्य द्विनिष्ठत्वात् । राजादिपदसाहित्ये
प्रतीयमानराजादिनिरूपितविशेष्यताया उपकारको भवतीति यावत् । षष्ठ्यन्तराजपदसत्त्वे
एव तदर्थनिरूपितविशेष्यताशाली तादृशविशेष्यतावत्त्वेन बोधविषयो वा भवति । राज्ञ
इत्यादेस्तु पुरुषादिपदासत्त्वेऽपि अध्याहृतसंबन्धिसामान्यनिरूपितविशेषणत्वप्रतीतिरिति
विशेषः । राज्ञ इत्येतावता स्वामित्वमवगम्यमानमन्यथानुपपत्त्या पुरुषे स्वत्वं गमयति । अतः
संबन्धस्य बहिरङ्गत्वात् पुरुषादन्तरङ्गत्वात् प्रथमैव । अत एव स्वत्वस्वामित्वादिसमूहस्यैव
संबन्धतया तस्यैव विभक्त्यर्थत्वं न स्वत्वादिमात्रस्य द्विनिष्ठत्वाभावात् । स्वत्वस्य
निरूपकतया स्वाभिव्यक्तित्वेन तत्त्वमनपवादमिति तु न वाच्यम् । निरूपकत्वस्य वृत्त्य-
नियामकतया स्वाभिनस्तद्वत्त्वासंभवात् । स्पष्टं चेदं सर्वं प्रकृतसूत्रभाष्यादाविति प्राहुः ।
पुरुषस्य विशेषणत्वविवक्षायां ततो षष्ठी भवत्येवाङ्गानां राजेतिवत् । शेषपदस्याप्रधानार्थ-
कत्वमभ्युपगम्य पुरुषपदात् षष्ठीवारणं तु न सम्यक् । शुक्रः पट इत्यादौ शुक्रादेस्तत्प्र-
सङ्गात् । भेदसंबन्धावच्छिन्नविशेषणतारूपप्राधान्यपुरस्कारे तु नायं दोष इति प्रतिभाति ।
अत्रेदं बोध्यम् । संयोगसंबन्धेनाधिकरणकारकस्य संबन्धत्वेन न विवक्षा । अत एव
‘तदस्यास्त्यास्मिन्-’ इति सूत्रे वृक्षवान् पर्वत इत्यादिप्रयोगसिद्धये सप्तम्युपात्ता गोमान्
देवदत्त इत्याद्यर्थं च षष्ठीति तत्सूत्रे भाष्ये उक्तम् । नन्वधि ब्रह्मदत्ते पञ्चाला इत्यत्राधि-
करणसप्तमी ‘आधृतास्ते तत्र भवन्ति’ इत्यादिना ग्रन्थेन ‘यस्मादधिकम्-’ इति भाष्ये
स्वीकृता तद्वदत्रापि गावः सन्त्यस्मिन्निति सप्तमी भविष्यतीति किमर्थं षष्ठ्युपादानमिति
चेन्न । स्वस्वामिभावविवक्षायामपि गोमानित्यादिप्रयोगसिद्धये तदुपादानादिति मञ्जूषायां
विस्तरः । अत्रस्य हेतोर्वसति ‘षष्ठी हेतुप्रयोगे’ इति सूत्रेणात्र षष्ठी । हेतुशब्दप्रयोगे
तस्मात्तत्समानाधिकरणाच्च षष्ठीति तदर्थः । ‘हेतोः’ इत्युक्तौ हेतुशब्दादेव स्यान्न तु
विशेषाच्चवाचकादिति तथा नासूत्रि । हेतुहेतुमद्भावः संबन्धः षष्ठ्यर्थः । अत्रहेतुक

वास इति बोधः । हेतुशब्दोऽत्रैव तात्पर्यग्राहकः । एवमन्नेन हेतुना वसतीत्यादावपि बोध्यम् । विभक्तिः प्रयोजनं हेतुत्वं च यथायथमभिधत्ते । प्रयोजनत्वादिप्रकारको बोध इत्यन्ये । कृष्णस्य कृतिः जगतः कर्ता कृष्णः अत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति षष्ठी । तदर्थश्च कर्ता कर्म । कृष्णकर्तृका कृतिः जगत्कर्मककृत्याश्रय इति बोधः । तार्किकमते कर्तृत्वं कर्मत्वमर्थः । प्रकृत्यर्थस्य तत्राधेयत्वसंबन्धेनान्वयः । कर्तृत्वादेर्निरूपकतासंबन्धेन धात्वर्थेऽन्वयः । कृष्णवृत्तिकर्तृतानिरूपककृतिः जमद्वृत्तिविषयतारूपकर्मतानिरूपककृत्याश्रय इति बोधः । इदमनुशासनं शक्तिग्राहकमेव न तु लक्षणाग्राहकम् । लक्षणाग्राहकत्वस्य कुत्राप्यनुशासनेऽभावादिति मञ्जूषादौ विस्तरः । कृतपूर्वी कटमित्यादौ तु न कटादिपदादनेन सूत्रेण षष्ठी । कृद्ग्रहणसामर्थ्येन कृदन्तमात्रशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियाकर्तृकर्मणोरेव षष्ठीविधानात् । अन्यथा तिङ्योगे 'न लोक-' इति निषेधेन कृत्योगे एव षष्ठीसिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति कैयटादिभिः प्रपञ्चितम् । प्रकृते च न कृदन्तमात्रशक्तिग्रहः क्रियोपस्थितिप्रयोजकोऽपि तु तद्वितान्तशक्तिग्रहः । तथा हि कृतेति क्तप्रत्ययो न कर्मणि कटमिति द्वितीयानापत्तेः किं तु कर्मणोऽविवक्षयाकर्मकत्वं पुरस्कृत्य भावे कार्यः । अथवा कर्मविशेषस्य प्राकृततद्रूपेणान्वयाविवक्षयाकर्मकत्वाद्भावे क्तः । सा च कृतपूर्वी अधीतीत्यादिवृत्तिविषय एव । तदुक्तं भाष्ये 'यदा वाक्यं न तदा प्रत्ययः ॥ यदा प्रत्ययः सामान्येन तदा वृत्तिः' इति । 'न तदा प्रत्ययः' इत्यस्य न तदा भावे प्रत्ययः सकर्मकत्वादित्यर्थः । 'यदा प्रत्ययः' भावे इति शेषः सर्वं वाक्यमिति न्यायेन 'तदा वृत्तिः' इत्यस्य तदा वृत्तिरेवेत्यर्थः । सा च न कर्मक्तान्तेनेत्याह 'सामान्येन' इति । उपदर्शितरीत्या कर्मरहितार्थकधातुप्रकृतिकक्तान्तेनेत्यर्थः । एवं चैतादृशक्तान्तस्य वाक्ये न प्रयोग इति स्पष्टमेवोक्तम् । योऽसौ कृतकटयोरभिसंबन्धः सामानाधिकरण्यात् स उत्पन्ने तद्धिते निवर्तते इति च भाष्ये उक्तम् । तेनाकृते तद्धिते कृतः कट एव भवतीति ध्वनितम् । अत एव कटं क्रियते इति न । ततः पूर्वं कृतमनेनेत्यर्थे 'पूर्वादिभिः' इत्यनुवर्तमाने 'सपूर्वाच्च' इति सूत्रेण तद्धिते कृते ततः फलस्याश्रयाकाङ्क्षायां कटादिरूपकर्मविशेषान्वयः । न चैवमसामर्थ्यात्तद्धितो न स्यादिति वाच्यम् । तदुत्पत्तिसमयेऽसामर्थ्यविरहात् । एवं च तद्धितान्तशक्तिग्रहप्रयोज्यैव प्रकृतिक्रियेति स्पष्टम् । कारकान्वयो गुणीभूतक्रियायामपीति स्पष्टमेव ।

'अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।

क्रिया संबध्यते तद्वत् कृतपूर्वादिषु स्थितिः ॥'

इति हरिकारिकायाम् । 'अविग्रहा' कर्तृविशेषणतयैवोपस्थितिविषयीभूता । प्रकारान्तरमपि तैरभ्यधाति—

‘विशेषकर्मसंबन्धे निर्मुक्तेऽपि कृतादिभिः ।

विशेषनिरपेक्षोऽन्यः कृतशब्दः प्रवर्तते ॥

अकर्मकत्वे सत्येवं क्तान्ते भावाभिधायिनि ।

ततः क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणाम् ॥’

इति । निर्भोगः प्राप्तिः सा च वाक्ये इत्यवगन्तव्यम् । तण्डुलानां पाचकतर इत्यत्र तु न षष्ठ्यनुपपत्तिः । तत्र पाचक इत्यस्यापि पृथक् प्रयोगेण कृदन्तमात्रशक्तिज्ञानस्यापि क्रियोपस्थितिप्रयोजकत्वात् । कृतीत्यनेन तद्विताधिक्यमात्रव्यावृत्त्यङ्गीकारे तूक्तभाष्यरीत्या षष्ठ्यस्य तण्डुलानामित्यादिप्रयोगस्यानुपपत्तिरूपदोषः स्पष्ट एव । तण्डुलान् पाचकतर इति प्रत्युदाहरणमनुपपन्नस्य कृतपूर्वीत्यादिक्लिष्टप्रत्युदाहरणोपन्यासात् तण्डुलानां पाचकतर इत्यत्र भाष्यकृतः षष्ठीवैति प्रतीयते । ‘न लोक-’ इति निष्ठायोगे नेति निषेधस्य तु नात्र प्राप्तिः । निष्ठान्तमत्र शक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिष्वप्यक्रियान्वयिनोरेव कर्तृकर्मणोस्तेन षष्ठीति निषेधात् । अत्र च कृद्ग्रहणमेतत्प्रत्युदाहरणपरं भाष्यं च मान्यमित्याहुः । एतादृशार्थकल्पनया प्रकृते निषेधाप्रसक्त्या कृद्ग्रहणसार्थक्योपपादनम् । न चैवं कृद्ग्रहणवैयर्थ्यम् । कर्तव्यपूर्वी कटं पक्तव्यपूर्वी ओदनमित्यादेरेव प्रत्युदाहरणस्य संभवात् । तत्राप्युक्तरीत्या भावे तस्यप्रत्ययसंभवात् । न च भाष्ये एतत्प्रत्युदाहरणतया कल्पनेति वाच्यम् । प्रयोजनदौर्लभ्यस्य तथाप्यनपायादित्यपरे आहुः । प्रयोजनविरहेऽपि भाष्यस्थतथाविधोदाहरणान्यथानुपपत्त्या तथार्थकल्पनेति युक्तमिति भाति । कटं कृतवत्पुत्र इत्यादौ तु निषेधप्रवृत्तिर्भवत्येव क्रियाया निष्ठाक्तेनोपस्थापनात् । उक्तरीत्या कर्तव्यपूर्वी कटमित्यपि यदि प्रमितं तर्हि तदपि प्रत्युदाहरणं भवतु नाम । अन्ये तु कृतपूर्वी कटमिति प्रत्युदाहरणपरभाष्यप्रामाण्यादेकार्थीभावानापन्ननिष्ठादियोगे निषेधोऽभ्युपेयते । एकार्थीभावानापन्नत्वं चेताराश्रितैकार्थीभावानाश्रयत्वमन्यथासंभवापत्तेः । एवं च न प्रकृते तेन निषेधप्रसक्तिः । एतादृशरीत्या निषेधसंकोचप्रयोजनं तु गत इवाचरति गतति आचारक्विवन्ताल्लट् ग्रामस्य गतर्तात्यत्र कर्मणि षष्ठीसिद्धिः । लादेशयोगेन इति निषेधस्तु नात्र शङ्क्यः । लादिप्रकृत्युपस्थितिमुख्यविशेष्यक्रियाकर्तृकर्मणोरेव निषेधाङ्गीकारात् । एवमाचारक्विवन्तगतशब्दाण्युलि पचाद्यच्चि च ग्रामस्य गतको ग्रामस्य गत इत्यत्र च षष्ठीसिद्धिस्तत्फलं ण्वलादिप्रसुक्तषष्ठीप्राप्तिरिति तु न शङ्क्यम् । निषेधस्य विध्युन्मूलनस्वभावत्वे प्रबलादित्वात् । एतच्च सर्वं कृतपूर्वी कटमित्यादि निष्ठाघटितभाष्योदाहरणादुन्नीयत इत्याहुः । तर्करत्नाकरे तु पक्तपूर्वी सूपान् कृतपूर्वी कटमित्यादौ पाकाद्यनुकूलभावना-

वानिनिप्रत्ययस्यैवार्थः क्तान्तस्तु निरर्थकः कृतीत्युपादानसामर्थ्यात् । अन्यथा क्तन कर्मणोऽभिहितत्वेनानभिहिताधिकारीयत्वेन षष्ठ्यप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वात् । द्वितीयाप्रसक्त्या सूपानित्यादिप्रयोगानुपपत्तेश्च । कृतपूर्वी कटमित्यत्र कृजः सकर्मकतया भावे क्तस्य दौर्लभ्यम् । अन्यथा गम्यते ग्राममित्यस्यापत्तेः । न चैवं क्तान्तप्रयोगवैयर्थ्यम् । तद्वितस्योक्तार्थे तात्पर्यग्राहकतया सार्थक्यात् । एवं च कर्मणोऽनभिधानेन षष्ठीप्रसक्तिरिति कुड्ग्रहणं सार्थकम् । द्वितीयासिद्धिश्च निष्ठाप्रयुक्तनिषेधप्रसक्तिश्च तत्प्रत्यारुत्यानिष्ठा । प्रकृत्यर्थक्रियान्वयिनोरेव षष्ठीनिषेधादित्युक्तम् । तन्महाभाष्याननुगुणमिति स्पष्टं तद्विदाम् । सूपादिशब्दाद् द्वितीयानुपपत्तिश्चोक्तव्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावेन धात्वर्थतावच्छेदफलशालित्वाभावात् । भावे क्तप्रत्ययस्तु प्रागुपपादित एव भाष्याद्यनुसारेणातिप्रसङ्गोऽपि वारित एवेत्यलमनल्पजल्पनेन । कटकर्मकातीतकालवृत्त्युत्पत्त्यनुकूलव्यापाराश्रय इति कृतपूर्वीत्यादिवाक्यजन्यो बोधः । ‘तदहम्’ इति निर्देशादनित्योऽयं विधिः । तेन ‘धायैरामोदमुत्तमम्’ इति भट्टिप्रयोगोपपत्तिरित्याद्यन्यत्र विस्तरः । जगत् कुर्वन् कुर्वाण इत्यादौ न षष्ठी । ‘न लोक-’ इति निषेधादिति षष्ठ्यर्थनिर्णयः ॥

अधीती व्याकरणे अत्र ‘क्तस्येनविषय-’ इति सप्तमी । इन्नन्तो विषयो वर्तनभूमिर्यस्येत्यर्थः । यद्वा विषयशब्देन प्रकृतिः समर्थ्यते । इनो विषय इति षष्ठीतत्पुरुषोऽत्र पक्षे । अत्रापि कृतपूर्वीतिवत् भावे क्तः । ‘इष्टादिभ्यश्च’ इति कर्तरि इनिः । सप्तम्यर्थः कर्मत्वादिः । व्याकरणकर्मकाध्ययनकर्तेति बोधः । ‘चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुजरम्’ इत्यादौ ‘निमित्तात् कर्मयोगे’ इति सप्तमी । निमित्तं फलं तद्वाचकात् सप्तमी भवति संयोगसमवायान्यतररूपकर्मसंबन्धे सतीति तदर्थः । अत्र कर्मसंबन्धः स्वरूपसन्निमित्तं न तु तस्य सप्तमीवाच्यकोटावन्तर्भावः । इत्थं च फलं सप्तम्यर्थः । तस्य स्वनिष्ठफलतानिरूपकत्वादिसंबन्धेन द्वीप्यादिकर्मकहननक्रियायामन्वयः । तत्र द्वीपिचर्मणोर्भृगाण्डकोशयोश्च समवाय इतरयोः संयोगः । चर्मादीनां हननफलत्वं च स्वविषयकेच्छाप्रयोजकेच्छाविषयत्वम् । हननेच्छाप्रयोजिकेच्छा चर्मदिलाभेच्छेति चर्मादौ तादृशफलत्वमक्षतम् । तार्किकनये फलत्वं निमित्तत्वं तादर्थ्यं वा सप्तम्यर्थः । लाघवाद्नुशासनविरोधाभावाच्चेदमेव युक्तमित्याहुः । ब्राह्मणेध्वधीयानेषु गतः गोषु दुह्यमानासु गतः अत्र ‘यस्य च भावेन भावलक्षणम्’ इति सप्तमी । यस्य भावेन क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ज्ञायते ततस्तद्वाचकात् सप्तमीति तदर्थः । ब्राह्मणाधीयानादिपदयोरुभयोरपि क्रियाश्रयवाचकत्वादुभाभ्यामपि सप्तमी । निर्ज्ञातदेशकाला क्रिया निर्ज्ञातदेशकालायाः क्रियाया देशकालज्ञापनद्वारा लक्षणम् । इत्थं च निर्ज्ञातदेशादिक्रि-

याश्रयकर्तृकर्मवाचका ज्ञाप्यज्ञापकभावसंबन्धार्थिका पञ्चपवादिकेयं सप्तमी भवति । अत्र क्रियापदेन धात्वर्थमात्रमिति कर्मणोऽपि तदाश्रयत्वमविरुद्धम् । तत्र काचित् स्वाधिकरणकालेन क्रियान्तरं परिच्छिनत्ति यथोक्तोदाहरणयोः । काचित् स्वाधिकरणकालाव्यवहितपूर्वकालेन यथा गोषु धोक्ष्यमाणासु गत इत्यादौ । काचित् स्वाधिकरणकालाव्यवहितोत्तरकालेन यथा गोषु दुग्धासु गत इत्यत्र । ज्ञाप्यज्ञापकभावश्च तत्तच्छब्दबोध्यत्वेन विवक्षित एवैतच्छास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तं न तु मानान्तरेण ग्रहणापेक्षेति न भूयोदर्शनापेक्षा । अत एवोक्तस्थले सप्तम्युपपत्तिः । अन्यथोदिते आदित्ये तमो नष्टमित्यादावेव स्यान्न त्वत्र । कदाचिद् गोदोहनपुरुषविशेषकर्तृकगमनयोरैककालादौ संबन्धो न तु नियमेनेति बोध्यम् । सदृशोदाहरणं तु सति गुणे द्रव्यत्वमस्तीत्यादौ । अत्राधीयानब्राह्मणदर्शनापकत्वं सप्तम्या प्रतीयमानं स्वविशेषणक्रियाकालादिद्वारके पर्यवस्यति । गोषु धोक्ष्यमाणास्वित्यादौ भवित्यगोदोहनादरेषि बुद्ध्युपारूढस्योक्तं ज्ञापकत्वमविरुद्धमिति बोध्यम् । मानान्तरसिद्धस्यार्थस्य कालविशेषसंबन्धादिप्रतिपिपादयिषया यत्र प्रयोगस्तत्रैवेदं सूत्रं प्रवर्तते सूत्रभाष्यस्वरसात् । एवं च राहूपरागे ज्ञायादित्यत्र राहूपरागपदेन स्वार्थाश्रयकालो लक्ष्यते अधिकरणसप्तम्येव । एवं विवाहे नान्दीमुखं कुर्यादित्यत्र विवाहपदेन तत्प्राक्कालः सप्तमी तु राहूपरागपदवदित्यन्यत्र विस्तरः । अन्ये तूक्तस्थले गमनादिक्रियादोहनादिसमानकालिकत्वेन बोध्यतयाभिप्रेतेति समानकालिकत्वं सप्तम्यर्थः । ततो दुह्याद्युपस्थापितदोहनादेनिरूपकतयान्वयेन दोहनसमानकालिकत्वस्य गमनादौ लाभ इति न संभवदुक्तिकं दोहनादिक्रियायाः कृदर्थविशेषणतापन्नायाः समानकालिकत्वेऽन्वयासंभवात् । सप्तम्या प्रकृत्यर्थगवाद्यनन्वितस्वार्थबोधनासंभवाच्च । ततः समभिव्याहृतदोहनादिक्रियैव सप्तम्यर्थः । तत्र कृदन्तस्य विशेषणत्वे कर्मत्वनिरूपकत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्यान्वयः । कर्तृकृदन्तस्य तथात्वे त्वधीयानेषु ब्राह्मणेष्वित्यादौ कर्तृत्वनिरूपकत्वेनेति बोध्यम् । तस्याश्च समानकालिकत्वादिसंबन्धेन गमनादावन्वयः । तत्र वर्तमानार्थककृतसमभिव्याहारे समानकालिकत्वं संबन्धः । भविष्यदर्थककृतः स्थले प्राक्कालवृत्तित्वं भूतार्थककृतस्थले उत्तरकालवृत्तित्वमित्याद्याहुः । अत्र सूत्रभाष्याद्यानुगुण्यात् पूर्वोक्तमेव मतं सम्यगिति परे आहुः । रुदति रुदतो वा प्रात्राजीदित्यत्र 'पष्ठी चानादरे' इति सूत्रेण पष्ठीसप्तम्यौ ज्ञाप्यज्ञापकभावस्तदर्थः । अनादरविशिष्टं प्रव्रजनं धात्वर्थः । तत्र तात्पर्यं ग्राहयति पञ्चादिविभक्तिः । अनादरश्च प्रत्यासत्त्या पुत्रादिविषयक एव । स्वसामानाधिकरण्यस्वोत्तरकालिकत्वसंबन्धाभ्यामनादरवैशिष्ट्यम् । इत्थं च रोदनकर्तृपुत्रादिज्ञाप्यमनादरविशिष्टं प्रव्रजनमिति बोधः । नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ 'यतश्च निर्धारणम्' इति सूत्रेण यतः समुदायात् स्वैतरस्वघटितसमुदायघटकेभ्यो व्यावृत्तेन धर्मेण जातिगुणक्रियासंज्ञाविशिष्टस्यैकदेशस्य

पृथक्करणरूपं निर्धारणं ततः षष्ठीसप्तम्यौ भवत इत्यर्थकेन षष्ठीसप्तम्यौ विधीयेत ।
 पृथक्करणं च व्यावृत्तधर्मप्रकारकज्ञानविषयीकरणं तादृशैकदेशविशेष्यकतादृशधर्मप्रकारक-
 ज्ञानानुकूलव्यापारे पर्यवसितम् । स्वेतरत्वं स्वभिष्टपदार्थतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगि-
 ताकभेदाश्रयत्वम् । अत एव नराणां नरः श्रेष्ठ इत्यादिना द्विजाद्यात्मकनरस्य द्विजत्वा-
 धवच्छिन्नभेदवच्छेदाद्यात्मकनरसमुदायव्यावृत्तश्रेष्ठत्वकरणकपृथक्करणसंभवेऽपि नरत्वाव-
 च्छिन्नभेदवच्छादितत्वस्य श्रेष्ठत्वे बाधानिरुक्तनिर्धारणविषयत्वासंभवात् । द्विजप्रतियोगि-
 कभेदस्य द्विजेऽपि संभवेन तथाविधद्विजघटितसमुदायव्यावृत्तत्वस्य श्रेष्ठत्वेऽसंभवेन
 नराणां द्विजः श्रेष्ठ इत्यादिप्रयोगासंभवोऽत एव न । समुदाये स्वघटितत्वेऽप्यादानफलं तु
 क्षत्रियाणां ब्राह्मणः श्रेष्ठ इत्यादिप्रयोगवारणम् । अस्ति च नराणां द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ
 द्विजत्वावच्छिन्नभेदवान् यो नरघटितसमुदायघटकशूद्रादिस्तद्व्यवृत्तश्रेष्ठत्वप्रकारकप्रतीति-
 द्विजविषयिणीति निरुक्तार्थविवक्षायां तथाविधप्रयोगनिर्वाहः । इत्थं च व्यावृत्तत्वरूपसं-
 बन्धो निर्धारणविभक्तेरर्थः । नरपदं च नरत्वरूपेण विशेषरूपेण वा द्विजेतरनरसमुदाय-
 परम् । एवं च तथाविधनरसमुदायव्यावृत्तश्रेष्ठत्ववान् द्विज इति बोधः । नराणां क्षत्रिये
 शौर्यमित्यत्र क्षत्रियेतरनरसमुदायपरम् । एवं च तथाविधनरसमुदायव्यावृत्तं क्षत्रियवृ-
 त्तिशौर्यमिति बाधः । समुदायस्योद्धृतावयवभेदविवक्षया एतद्विषये बहुवचनस्यैव साधुत्व-
 मिति 'कारके' इति सूत्रे 'निर्धारणे कारकेऽप्यिति व्रूयात्' इति वदता पतञ्जलिना
 स्पष्टमेवोक्तम् । अत एव 'मिदचोऽस्त्यात्-' इति सूत्रे 'अचः' इत्येकवचनस्य सौत्र-
 त्वात् साधुत्वमुक्तं निबन्धकारैः । व्यावृत्तत्वरूपविभक्त्यर्थस्य द्युत्पत्तिवैचित्र्यात्
 पदार्थैकदेशेऽपि श्रेष्ठत्वादावन्वयः । अथवा स्वाश्रयपदार्थतावच्छेदकवत्त्वसंबन्धेन धर्मिण्ये-
 बान्वयः । एतेन द्रव्याणां कम्बुग्रीवादिमान् घटत्वादिति धर्मस्यान्वयितावच्छे-
 दकघटत्वत्वादिरूपेणानुपस्थित्या तत्र व्यावृत्त्वान्वयासंभव इति नोधं प्रत्युक्तम् । पदा-
 र्थानां जातिमति सत्तेत्यादौ जातिमदन्यनिरूपितवृत्तित्वसामान्याभावस्य सत्तादौ बाधत-
 निरूपितसमवेतत्वाप्रसिद्ध्या तदभावस्य चाप्रसिद्ध्या व्यावृत्तत्वबोधो न संभवतीति तु न
 शङ्क्यम् । साक्षात्संबन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभावस्य तदर्थत्वात् । साक्षात्संबन्धे कालिकाद्य-
 तिरिक्तत्वं प्रवेक्ष्यम् । अन्यथा गन्धस्य पृथिव्यतिरिक्तजलादिरूपद्रव्येऽपि कालिकसंबन्धेन
 सत्त्वाद् द्रव्याणां पृथिवी गन्धवतीत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः । अथवा तादात्म्येनान्वयिविधे-
 यार्थकपदसमभिव्याहारस्थले तादात्म्येनेतरसंबन्धित्वाभावः श्रेष्ठादिपदार्थे एवान्वेति भेद-
 संबन्धेनान्वयिविधेयस्थले पूर्वोक्तसंबन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाभावो नराणां द्विजे श्रेष्ठ्यभि-
 त्यादौ श्रेष्ठ्यादौ प्रत्याप्यते इति नैकदेशान्वयप्रसङ्ग इत्याहुः । अन्ये तु व्यावृत्तत्वं भेदप्र-
 तियोगिभूत्वरूपभेदेनान्वयिविधेयार्थकपदसमभिव्याहारस्थले विभक्त्या प्रतिपाद्यते । भेदा-

न्यविधेयस्थले च येन संबन्धेन तदन्वयस्तत्संबन्धावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं विधेये प्रत्याव्यते । तस्य विधेयतावच्छेदकावच्छेदनान्वय उपेयः । अतो देवदत्तानां नराणां शूरतमो घटः पृथिवीनां गन्धवाहानामिति प्रयोगापत्तिर्न । शूरतमादिनिष्ठाभयाद्भेदप्रतियोगित्वस्य शूरतमादौ सत्त्वेऽपि शूरतमत्वाद्यवच्छेदेनासत्त्वात् । तस्य तथाविध-भेदधर्मितानवच्छेदकत्वात् । अथवा भेदे प्रतियोग्यवृत्तित्वरूपमत्यन्ताभावे च प्रतियोगि-वैयधिकरण्यादिरूपं विशेषणमुपादेयं तेन नोक्तदोषः । भेदादौ प्रकृत्यर्थनरादेरुद्देश्यतावच्छेदकक्षत्रियत्वाद्यवच्छिन्नभेदविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकनरत्वादिव्यापकाधिकरणतानिरूपिताधेयत्वसंबन्धेनान्वयः । तावतैव क्षत्रिये तदितरनरादिव्यावृत्ते विधेये लाभान्नरादिपदं त्वमुत्थार्थकमेव । द्रव्याणां क्षितिपाथसौ रसवतीत्यादौ द्रव्यरूपप्रकृत्यर्थस्य भेदात्मकविभक्त्यर्थे क्षितित्वावच्छिन्नभेदजलत्वावच्छिन्नभेदद्वयविशिष्टद्रव्यत्वव्यापकाधिकरणतानिरूपिताधेयत्वं संबन्धः । विधेयस्य शूरतमादेर्निर्धारणविभक्तिप्रकृत्यर्थतावच्छेदकनरत्वादि-विशिष्टतादात्म्यादिरेव संबन्धतया भासते । अतो नराणां राक्षस इत्यादि प्रयोगस्य नापत्तिरित्याहुः । परे तु व्यावृत्तत्वस्य विभक्त्यर्थत्वेन भगवतः सूत्रकृतस्तात्पर्यम् । 'न निर्धारणे' इति सूत्रेण निर्धारणस्य विभक्तिवाच्यकोटिप्रवेशस्य बोधनात् । तत्रत्यनिर्धारणपदस्य व्यावृत्तत्वार्थकत्वे प्रमाणाभावात् । तस्माज्जातिगुणक्रियासंज्ञाविशिष्टस्यैकदेशस्य यतः स्वसजातीयघटितसमुदायात् खेतरसमुदायघटकव्यावृत्तधर्मकरणकं पृथक्करणं ततः षष्ठीसप्तम्यावित्यर्थः सूत्रस्योक्तनिर्धारणविषयत्वमवयवावयविभावसंबन्धश्च निर्धार्यमाणा-न्वयी विभक्त्यर्थः । नृसमुदायावधिकद्विजेतरनरव्यावृत्तश्रेष्ठत्वकरणकनिर्धारणविषयो नृसमुदायावयवो द्विज इति बोधः । नृणां शूद्रः श्रेष्ठ इति प्रयोगव्यावर्तनायायस्य संबन्धस्य नृणां राक्षसः शूरतम इत्यस्य व्यावर्तनाय द्वितीयस्य विभक्त्यर्थत्वाङ्गीकारः । शूद्रेऽन्त्य-जात्याद्यपेक्षया श्रेष्ठत्वस्य विद्यमानतया तद्भावेन तथाविधप्रयोगापत्तेरवारणात् । संसर्ग-घटककरणं च प्रत्यासत्त्या श्रेष्ठत्वादिरूपमेव ग्राह्यम् । तेन नृणां क्षत्रियादिः श्रेष्ठ इति प्रयोगापत्तिर्न । अन्यथा क्षत्रियादेरपि शूरतमत्वादिकरणकपृथक्करणविषयतया स्यादेव तादृशप्रयोगः । नृणां मध्ये द्विजः श्रेष्ठ इत्यत्र मध्ययोगे षष्ठी । तद्योगे सप्तमी तु न साधुः । न च तत्सत्त्वेऽपि मध्यार्थेऽन्वयाविवक्षया निर्धारणसप्तमी साधुरेवेति वाच्यम् । तत्सत्त्वे तदर्थस्य नियमेनावध्याकाङ्क्षया तत्रैवान्वयस्य युक्तत्वात् । निर्धारणविभक्ति-स्थले श्रेष्ठत्वादौ द्विजेतरनरादिव्यावृत्तत्वबोधश्च देवदत्तो वामेनाक्ष्णेत्याद्युक्तौ दक्षि-णनेत्रकरणकदर्शनाभावबोधवन्मानस एव द्विजमण्डले वर्तमानोऽवशिष्टः । श्रेष्ठ इत्याधा-स्सप्तमीघटितवाक्येऽपि तथाप्रतीतिरुक्तरूपावश्यक्येव । निर्धारणावधिनिर्धार्यमाणनिर्धा-रणहेतूनां सान्निध्ये एव निर्धारणप्रतीतिरतस्तत्रैव निर्धारणविभक्तिः समासनिषेधश्च ।

अत एव पुरुषाणामुत्तम इत्यत्र शेषपट्टीति पुरुषोत्तम इति समासः साधुरिति 'द्विवचन-
विभज्य-' इति सूत्रे कैयट इत्याहुः । मथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यत्र तु
निर्धार्यमाणनिर्धारणावध्योर्भेदस्यैव सत्त्वेन 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । तत्र विभ-
क्तपदेन भेदो निर्धार्यमाणस्य निर्धारणावधितो यत्र भेद एव तदवधिवाचकात् पञ्चमीति
तदर्थः । विभक्तग्रहणसामर्थ्यादवधारणलाभः । तेनोपात्तेन केनापि रूपेणाभेदेनैतत्प्रवृत्तिः ।
अत्र निर्धारणावधिव्यावृत्तधर्मकरणकनिर्धारणविषयत्वं विभक्त्यर्थः । पाटलिपुत्रकावधि-
कतत्त्वावृत्ताढ्यतरत्वकरणकनिर्धारणविषया मथुरा आढ्यतरेति बोधः । 'मूलेनावहाहयेदेवीं
श्रवणेन विसर्जयेत्' मूले श्रवणे इति वा । अत्र 'नक्षत्रे च लुपि' इति सूत्रेण सप्तमी ।
लुप्शब्देन लुप्संज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थो लक्ष्यते । तथा च तादृशप्रत्ययार्थे वर्तमानानक्षत्रवा-
चकादधिकरणे सप्तमी तृतीया चेति तदर्थः । अधिकरण इत्यनुवृत्तिलभ्यम् । तत्प्रयोजनं
त्वय पुण्येत्यादौ सप्तम्यादिव्यावृत्तिः । अन्यथान्तरङ्गत्वात् प्रातिपदिकार्थे एव स्यात् ।
मूलेनेत्यत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । तत्र नक्षत्रशब्देन तत्समीपवर्ती चन्द्र
उच्यते । तस्याणः 'लुबविशिष' इति लुप् । लुपि सति लुप्यमानप्रत्ययार्थः प्रकृत्यैव
प्रत्याप्यते यः शिष्यते इति न्यायात् । आधारादिकं सप्तम्याद्यर्थः । इत्थं च मूलनक्षत्र-
समीपवर्तिचन्द्रात्मकालाधिकरणकं देवीकर्मकमावाहनमित्यायाकारको बोधः । अद्य
भुक्त्वायं ब्रूहे ब्रूहाद्वा भोक्ता अत्र 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' इति सूत्रेण सप्तमीपञ्च-
म्यावबुशिश्येते । कारकपदेन कारककर्तृत्वादिशक्तिरुच्यते । 'कालाध्वनोः-' इति सूत्रात्
'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते । तथा च शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वनौ तद्वाचकात् सप्तमी-
पञ्चम्याविति तदर्थः । अनन्तरकालवृत्तित्वं विभक्त्यर्थः । अद्यपदार्थैतद्विषयाधिकरणक-
त्वस्य भोजनक्रियायामन्वयः । तदन्वितक्तान्तप्रतिपाद्यभोजनक्रियायाः स्वोत्तरकालवृत्ति-
त्वस्वसमानकर्तृत्वोभयसंबन्धेन भोजने प्रकृतविभक्त्यर्थस्यापि तत्रैव । इत्थं चैतद्विषया-
धिकरणकभोजनोत्तरकालिकं तथाविधभोजनसमानकर्तृकमेतद्विषयानन्तरब्रूहानन्तरकाल-
वृत्ति यद् भोजनं तदाश्रय इत्यर्थः । द्रव्यहे एतद्विषयानन्तर्यलाभः समभिव्याहारवलात् ।
सोऽपि न शाब्दः किं त्वार्थः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत् अत्रानन्तरदे-
शवृत्तित्वं विभक्त्यर्थः । इहशब्दप्रतिपाद्यस्यैतद्देशाधिकरणकत्वस्य स्थितावन्वयः । तादृश-
स्थितिः कृदर्थोश्रये तस्याख्यातार्थकर्तरि तस्य व्यधनक्रियायां तत्रैव क्रोशानन्तरदेशस्थि-
तलक्ष्यकर्मकत्वस्य । तथा चैतद्देशाधिकरणकस्थितिकर्तृकमेतद्देशानन्तरक्रोशानन्तरदेश-
स्थितलक्ष्यकर्मकं संभावनाविषयीभूतं व्यधनमिति बोधः । एवमन्यत्राप्युद्धम् । इति
सप्तम्यर्थनिर्णयः ॥

सूत्रे शक्तिः कारकमिति पक्षस्य भाष्ये दर्शनात् । एवं च देवदत्तस्य गौर्वाहणाय गेहाद्गङ्गायां हस्तेन मया दीयत इत्यत्र देवदत्तसंबन्धिनी या गौस्तदभिन्नाश्रयक-
त्यागानुकूलो ब्राह्मणोद्देश्यको गेहनिष्ठविभागजनको गङ्गाधिकरणको हस्तकरणको
मन्निष्ठो व्यापार इति बोधः । यथायथम् । उक्तप्रकारेण । अत्र मानसुपदर्शयन्
घटं जानातीत्यादौ द्वितीयाया विषयतायां लक्षणेति बह्वाकुलं वदतां नैयायि-
कादीन् प्रत्याह-सुपां कर्मेति । अयं भावः—

‘सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ।

प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वै ॥’

इति वार्तिकतद्भाष्याभ्यां कर्मादेर्वाच्यतायास्तन्नियमस्य च लाभः । तथा हि

एवं सुविविक्तयर्थानुपवर्ण्य संबन्धसहितसकलकारकघटितवाक्यार्थबोधं वर्णयति—
एवं चेति । उक्तरीत्या धर्मिणां विभक्त्यर्थत्वे च । तदभिन्नाश्रयक इति । आख्या-
तार्थाश्रये गोरभेदेनान्वय इति भावः । विभागजनक इति । ददातेर्विभागपूर्वकदाने
वृत्तिरिति भावः । तथा तिङामिति । तिङामिति कर्तृकर्मणी संख्या चार्थ इत्यर्थः ।
नियम इति । अर्थनियम इत्यर्थः । एवं च कर्मत्वादिशून्यार्थकाव्ययादपि विभक्ति-
सिद्धिः । प्रत्ययनियमपक्षेऽपि तत्र विभक्तिसिद्धिमाह-नियमः प्रकृतेषु चेति । प्रकृत-
कर्त्राद्यर्थापेक्षे नियमः कर्मण्येव द्वितीयेत्यादिनियमेन कर्त्रादौ द्वितीयादयो व्यवच्छिद्यन्ते
न तु कर्मत्वादिशून्य इत्यर्थः । ननु ‘स्वौजसमौद्’ इत्यादिना ‘तिप्त्सुञ्जि-’ इत्यादिना
च विहितानां स्वादीनां तिवादीनां च ‘कर्मणि द्वितीया’ इत्यादिशास्त्रैर्नियमपक्षे न
कर्मादौ वाचकताग्राहकत्वं ‘स्वौजस्-’ इत्यादिशास्त्रस्य लभ्यते तत्र ‘कर्मणि-’ इत्यादे-
रभावात् । नापि ‘कर्मणि’ इत्यादौ नियामकत्वादित्याशङ्क्याह-तथा हीति ।
एकवाक्यतया । वाक्यैकवाक्यतया न पदैकवाक्यतया । तदभ्युपगमे कर्मत्वादियो-
ग्यार्थकप्रातिपदिकार्थमात्रगते एकत्वे प्रथमैकवचनं सुकर्मत्वादिशक्तिसमानाधिकरणे
एकत्वे द्वितीयैकवचनममित्यादिकमेण बोधः स्यादेवं चान्यत्राव्ययादेः प्राप्तिरुपाद-
यितुं नैव शक्येत । वाक्यैकवाक्यतायां तु प्रातिपदिकात् स्वादयो भवन्ति ते च प्रातिप-
दिकार्थमात्रगते एकत्वादौ भवन्तीत्यादिवोधाकारो भवति । तथा सति तत्र प्रथमवाक्ये-
नाव्ययादौ प्राप्तिरुपादयितुं शक्यते । किं चैवमर्थनियमप्रकृतार्थापेक्षप्रत्ययनियमशुद्ध-
प्रत्ययनियामकयोरुच्छेदश्चैव स्यात् । एकवचनादिशब्दे सूत्रसाटकवद् भाविसंज्ञाश्रयण-
मन्योन्याश्रयपरिहारायेति गौरवं चेत्येकवाक्यतापदेन वाक्यैकवाक्यतैव विवक्षिता । नन्वेवं

‘स्वौजसमौह-’ ‘कर्मणि द्वितीया’ ‘द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने’ इत्यादेः ‘लस्य’
 ‘तिप्तसञ्ज्ञि-’ ‘तान्येकवचनद्विवचन-’ इत्यादेरेकवाक्यतया कर्मादेस्तत्संख्या-
 याश्च वाच्यता लभ्यते । तथा तन्त्रियमश्च द्विविधो लभ्यते । द्वितीया कर्मण्येव
 तृतीया करण एवेत्येवमादिरर्थनियमः । कर्मणि द्वितीयैव करणे तृतीयैवेत्येवं
 शब्दनियमश्च । उभयथापि सिद्धनियमविरुद्धं लक्षणादिकमसाधुत्वप्रयोजकमिति
 याज्ञे कर्मणि ‘नानृतं वदेत्’ इति निषेधविषयो भवत्येवेति स्वेच्छया लक्षणापि
 विभक्तावप्रयोजिकैव । अत एव ‘विभक्तौ न लक्षणा’ इत्यादिनैयायिकवृद्धानां
 व्यवहार इति दिक् ॥ १ ॥ २४ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारे सुबर्थनिर्णयः

समाप्तः ॥

पूर्ववाक्यविहितया कथं कर्माद्यर्थबोधनं कर्तुं शक्यम् । न च सामग्रीसत्त्वे तत्
 संभवत्येवेति वाच्यम् । एवं सत्येकवाक्यताविरहेऽपि ‘द्वयेकयोः-’ इत्यादिना एकत्वे
 एवैकवचनमित्यपि बोधने कृते सत्येकत्वादर्थकत्वबोधनसंभवे वाक्यैकवाक्यतापुरस्कारो
 निरर्थक इति चेन्न । एकवाक्यतापक्षे स्वादिवाक्येनैव वाक्यैकवाक्यतोक्तेहेतुभिरङ्गीक्रियते
 न तु ‘कर्मणि द्वितीया’ ‘द्वयेकयोः-’ इत्याद्योः किं तु पदैकवाक्यता । एवं च कर्म-
 गतैकत्वे एव द्वितीयैकवचनमम् भवतीत्याद्याकारनियमलाभोऽत्र भवति । एकवाक्यता-
 विरहे तु कर्मण्येव द्वितीया एकत्वे एवैकवचनममिति विरुद्धनियमद्वयं स्यात् तच्चासं-
 गतमित्याशयादिति दिक् । उभयथापि सिद्धनियमविरुद्धमिति । तत्र कर्मण्येव
 द्वितीयेत्यादिरूपप्रत्ययनियमविरोधो विषयतालक्षणाङ्गीकारे स्पष्ट एव । विषयतायाः
 शेषत्वाच्छेषे षष्ठ्येवेति नियमविरोधोऽर्थनियमपक्षेऽपीति बोध्यम् । उक्तेऽर्थे प्राचीननैया-
 यिकानामपि संमतिमाह-अत एवेत्यादिना । एवं च नव्यनैयायिकानां न केवलं
 व्याकरणविरोधोऽपि तु स्वीयवृद्धसिद्धान्तविरोधोऽपीति तदुक्तिरुपेक्ष्यैव । एवं मीमांसको-
 क्तिरपीति सूचितमिति शिवम् ॥

इति श्रीकालोपनामककेशवदीक्षितात्मजहरिरामविरचितायां

वैयाकरणभूषणसारव्याख्यायां सुबर्थनिर्णयः

समाप्तिमगमत् ॥

१ °मादिशब्दनियमः D., D₁. २ °त्येवमर्थनियमश्च D., D₁. ३ नानृतमिति
 निषेध° A., D., D₂. ४ P. has रङ्गोजिभट्टात्मजकौण्डभट्टविरचिते before श्रीवैया°; P.
 drops श्री.

नामार्थनिर्णयः ।

नामार्थानाह—

एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा ।

नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ॥ २५ ॥

एकं जातिः । लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौचित्यात् । अनेकव्यक्तीनां वाच्यत्वं गौरवात् । न च व्यक्तीनामपि प्रत्येकमेकत्वाद्विनिगमनाविरहः । एवं होकस्यामेव व्यक्तौ शक्त्युपगमे व्यक्त्यन्तरे लक्षणायां स्वसमवेताश्रयत्वं संसर्ग इति गौरवम् । जाल्या तु सहाश्रयत्वमेव संसर्ग इति लाघवम् । किं च विशिष्ट-

सकलनाममूलभूतधात्वर्थं तत्प्रकृतिकर्तृत्वार्थास्तत्प्रसङ्गेन सुवर्थाश्च निरूप्यावसरसंगत्या नामार्थान्निरूपयतीत्याशयेनाह—**नामार्थानिति** । प्रातिपदिकार्थानित्यर्थः । एकादि-
शब्दानां साधारणतयानभिमतार्थपरत्वशङ्कानिवृत्तये प्रकृतौ विवक्षितानर्थानाह—**एकं जातिरित्यादिना । गौरवादिति** । अनेकव्यक्तिषु शक्तिकल्पने जातौ च तत्कल्पने तत्र शक्यतावच्छेदकत्वस्य वा कल्पने गौरवादित्यर्थः । न च जातिशक्तिमतेऽपि जाति-
गतगोत्ववादिधर्मे शक्यतावच्छेदकत्वसङ्गीकरणीयम् । एवं च तस्य गवान्यासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वरूपस्य शक्यत्वमावश्यकमिति विपरीतं गौरवमिति वाच्यम् । अत्र लक्ष्यस्यापि लक्ष्यतावच्छेदकत्ववत् शक्यस्यापि शक्यतावच्छेदकत्वसंभवाद् गुरुभूतेऽवच्छे-
दकत्वस्वीकारप्रयुक्तं गौरवमित्यपि न शब्दार्थयोस्तादात्म्याच्छब्दगतजातेरेव शक्यतावच्छे-
दकत्वात् तद्वृत्तिधर्मस्याविद्यकधर्मविशेषरूपत्वाद्वा गोत्वत्वमित्यादौ तस्यैव त्वादिसंश्लेषा-
र्थत्वं न तु गवेतरासमवेतत्वघटितस्य गौरवादिति स्पष्टमन्यत्र । **व्यक्त्यन्तरे लक्ष-
णायामिति** । स्त्रीक्रियमाणायामिति शेषः । तत्स्वीकारश्च व्यक्यन्तरबोधान्यथानुपप-
त्त्यावश्यकः । **स्वसमवेतेति** । शक्यत्वेनाभिमतव्यक्तिविशेषः स्वपदार्थः । **इति लाघवमिति** । तथा चोक्तलाघवं विनिगमकमिति न विनिगमनाविरह इति भावः ।
उपजीव्यत्वादपि जातिरेव वाच्येति युक्तमित्याह—**नागृहीतेति** । नागृहीतविशेषण-
बुद्धिविशेष्यमवगाहत् इति न्यायशरीरं विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुत्यागृहीत-
विशेषणा एतादृशी बुद्धिर्न विशेषणविशिष्टविशेष्यविषयिणी भवति । नञ्द्वयेन प्रथमतो विशेषणविषयकग्रहस्यावश्यकत्वं सूचितम् । तदिदमुक्तं भट्टैः—

वाच्यत्वमपेक्ष्य नागृहीतविशेषणन्यायाज्जातिरेव वाच्येति युक्तम् । व्यक्तिबोधस्तु लक्षणया । एवं च तत्र विभक्त्यर्थान्वयोऽप्युपपद्यत इति दिक् । यद्वा केवलव्य-

‘विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।’

इति । नन्वेवं व्यक्तिबोधो न स्यात् । न चाक्षेपात् पीनो देवदत्त इत्यत्र रात्रिभोजनव-
दिति वाच्यम् । प्रकृत्यनुपस्थिततया गां दद्यादित्यादौ व्यक्तौ कर्मत्वान्वयानुपपत्तेः ।
प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितेत्यादिव्युत्पत्तेः । पदार्थान्तरान्वयश्च तत्र न स्याद्वृत्तिग्रहवि-
शेष्ये एव तदन्वयात् । अन्यथा समवायेनोपस्थिताकाशेऽपि तदन्वयापत्तेः । उक्तं हि
तद्भूताधिकरणे—

‘गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम् ।

शब्देतरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत् ॥’

इति । विशेषणं विशेषणीभूतव्यावर्तनं विशेषणताख्यविषयतावक्त्या प्रतिपादनं वा तदर्थः ।
किं चायतिरूप आक्षेपोऽपि न संभवति । गां दद्यादित्याद्यनुपपत्तिज्ञानं विनापि बोधदर्श-
नात् । समानवित्तिवेद्यत्वमेवाक्षेप इति गुरवो मेनिरे । तथा चोक्तं तैः—यावती हि
जातिधीर्व्यक्तिं विषयीकरोति । अतो जातिभासकसामग्र्या एव व्यक्तिभासकत्वमहोका-
र्यम् । व्यक्तिप्रत्यक्षं विना जातिप्रत्यक्षाभावेन तत्रैवैतन्नियमावधारणात् । तथा च
जातिशक्तिज्ञानमेव व्यक्तिविशेष्यकजातिप्रकारकशब्दबोधं प्रति कारणमिति पर्यवसन्नमिति
तदपि न । एवं सति गोत्वमस्तीत्यतो गोत्वत्वविशिष्टबोधापत्तेः । लक्षणैवाक्षेपपदार्थः ।
एवं च तयोपस्थितव्यक्तौ विभक्त्यर्थान्वयः संभवत्येवेत्यन्ये तदपरे न क्षमन्ते । लक्ष-
णायाः शक्त्यन्वयानुपपत्तिज्ञानाधीनतयोक्तदोषकवलितत्वादित्यत आह—व्यक्तिबोध-
स्त्विति । लक्षणयेति । निरूढलक्षणयेत्यर्थः । तत्र च नान्वयाद्यनुपपत्तिज्ञानापेक्षेति
भावः । लक्षणयेति जातिव्यक्तयोरभेदस्याप्युपलक्षणम् । तदुक्तं भट्टैः—

‘तेन तल्लक्षितव्यक्तेः क्रियासंबन्धबोधना ।

व्यक्त्याकृत्योरभेदो वा वाक्यार्थेषु विवक्षितः ॥’

इति । ‘तद्वितार्थ—’ इति सूत्रे भाष्ये उक्तम्—‘अथवा व्यतिरंकाद् द्रव्याकृत्योर्द्रव्या-
नयनम्’ इति । गोत्वादिपदं तु गोत्वादिवृत्तिधर्मशक्तमिति न ततो गोत्वविशिष्टविषयक-
बोधः । नन्विदमसंगतं

‘स्वार्थादन्येन रूपेण ज्ञाने भवति लक्षणा ।’

क्तिरेवैकशब्दार्थः । केवलव्यक्तिपक्ष एवाणग्रहणस्यैकशेषस्य चारम्भेण तस्यापि

इति नियमालक्षणया शक्यगोत्वप्रकारकव्यक्तिविशेष्यकबोधानिर्वाहादिति चेन्न । एतन्नियमे मानाभावात् । शुक्लमानयेत्यादितो लक्षणया शक्यशुक्लरूपादिप्रकारव्यक्तिविशेष्यकबोधो-
दयेन व्यभिचाराच्चेत्यभिप्रेत्याह-दिगिति । एतदभिप्रेत्यैव 'सर्वणैः प्रहणमपरिभाष्य-
माकृतिग्रहणात्' इति वार्तिकं संगच्छते । सरूपसूत्रे भाष्येऽप्युक्तम्- 'आकृतिं वाजप्या-
यनः' इति । तेषां सा निरवच्छिन्नैवेति न गोत्वत्वादिनिवेशप्रयुक्तगौरवशङ्कापि । अत
एवैतन्मतेऽपि स्वरूपतो गोत्वादिमाननिर्वाहः शाब्दबोधे । ननु गोत्वत्वादेः शक्यतावच्छे-
दकत्वविरहेऽपि शक्तिग्रहकारणतायां गोत्वत्वादेर्धर्मितावच्छेदकताख्यविषयताप्रवेशाद्गौरवं
दुर्निवारमेव । व्यक्तिशक्तिवादिमते स्वरूपतो गोत्वादिनिष्ठधर्मितावच्छेदकत्वस्यैव निवे-
शादिति चेन्न । निरूपितत्वसंबन्धेन स्वरूपतो गोत्वप्रकारकस्य गोपदविशेषणतयापन्नश-
क्तिविशेष्यकस्य गोपदशक्तिगौरित्याकारस्य शक्तिसंबन्धेन रूपतस्तत्प्रकारकगोपदविशेष्य-
कस्य गोपदं गौरित्याकारकस्य वा शक्तिज्ञानस्यैव कारणत्वोपगमात् । तत्र च गोत्वत्वा-
दिविषयताया अप्रवेशान् । समवायेनैव स्वरूपतः प्रकारत्वमिति नियमस्तु न घटं
जानामीत्याद्यनुव्यवसाये प्रकाशितसंबन्धेन घटत्वादिना स्वरूपतो ज्ञानार्थो प्रकारतोऽप्यु-
पगमादिति समुत्तुः । अस्मिन् मते दूषणमुद्रावयन् व्यक्तिशक्तिमते साधकं वदंश्चैकपदस्य
व्यक्तिपरत्वमाह-यद्वेति । केवलव्यक्तिरेवेति । एवमव्यावर्त्या जातिः । केवल-
शब्देनैव तद्व्यावृत्तिसिद्धावेन स्पष्टार्थः । केवलव्यक्तिपक्ष एवेति । जातिविशिष्टव्यक्तेः
पदार्थत्वमते तु तज्जात्यवच्छिन्नविशेष्यताकशक्तिग्रहत्वेन तज्जातिप्रकारकतदाश्रयविशेष्यक-
शाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतया अत्वादित्याश्रयसकलव्यक्तिग्रहणसंभवेनाणग्रहणम्
'अणुदित्-' सूत्रे व्यर्थं स्यात् । केवलजातिशक्तिमते तु तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । 'अणुग्रह-
णस्य' इत्यस्य 'आरम्भेण' इत्यत्रान्वयः । एकशेषस्य चेति । सरूपाणामिति सूत्रा-
रम्भेणेत्यर्थः । एकशेषारम्भस्य व्यक्तेः पदार्थतायां मानं न तु केवलव्यक्तेः । पदार्थतायां
जातिविशिष्टव्यक्तेः पदार्थत्वेऽपि तदारम्भस्यावश्यकत्वात् । यद्वा तज्जात्यानुगतिरुक्ताने-
कार्थानामेकशब्देन प्रतिपादनस्य वक्ष्यमाणतया केवलव्यक्तेः पदार्थत्वसाधकतेति बोध्यम् ।
न च जातेः पदार्थत्वेऽप्यक्षादिपदार्थमाषपाशादिसाधारणजातेरभावेनानेकमाषत्वपाशात्वा-
दितात्पर्येण अक्षा इत्यादिप्रयोगनिर्वाहायैकशेषसूत्रारम्भ आवश्यक इति वाच्यम् ।
अश्रोतेरक्षशब्दस्य व्युत्पादनाद्वात्वर्यव्याप्तिगतव्याप्तिस्वरूपजातिः स्वसमवायिसमवाया-
त्मकपरंपरासंबन्धेन माषपाशादिसंबद्धाक्षपदवाच्येत्यभ्युपगमात् । तथा चोक्तं सरूपसूत्र-
भाष्ये- 'अश्रोतेरक्षस्तत्र क्रियासासान्यात् सिद्धम्' इति । क्रियागतं सामान्यमित्यर्थः ।

ब्राह्मसिद्धत्वाद् । युक्तं चैतत् । व्यवहारेण व्यक्तावेव तद्ग्रहणात् । संबन्धिता-

तथाविधक्रियासमनियतं सामान्यपक्षपदार्थत्रयसमवेतमित्यर्थ इत्यपरे । तथा च तादृशजातेः
संभवेनोक्तदोषानवकाशात् तस्यापि केवलव्यक्तिशक्तिपक्षस्यापि शास्त्रं मानमुक्त्वा युक्ति-
मपि तत्र प्रमाणयति-**युक्तं चैतदिति । व्यक्तावेवेति ।** घटमानयेति वाक्यप्रयोगा-
नन्तरकालिकप्रयोज्यकर्तृकानयनादिरूपव्यवहारेण व्यक्तावेव शक्तिग्रहादित्यर्थः । ननु
व्यक्तौ जातोऽपि शक्तिग्रहो लाघवादप्रे बाध्यते । बाधो नामाप्रामाण्यग्रह इति चन्द्रमण्ड-
लादिप्रमाणं पूर्वमिन्द्रियेण गृहीतमपि ज्योतिःशास्त्रेण बाध्यते न तु लाघवमात्रेणेति न
दोषः । पूर्वजातोऽपि कर्मधारयनिश्चयोऽप्रपूर्वविद्याकल्पनभिया बाध्येतेति निषादस्थपत्य-
धिकरणविरोधश्चेन्न । पूर्वं जातस्य लाघवमात्रेण बाधायोगात् । अन्यथा निषादस्थपतिं
याजयेदित्यत्र गां दद्यादित्यत्रानुपपत्तिश्च जातिशक्तिमते गोत्वादेर्दनाद्यसंभवात् । लक्षि-
तव्यक्तिमादाय तदुपपत्तिरित्यपि न युक्तम् । व्यक्त्यन्तरे शक्यसंबन्धाग्रहात् । व्यक्त्यन्तर-
विषयकसंबन्धग्रहस्य तदितरव्यक्तिबोधाजनकत्वात् । अन्यथा हस्तित्वधर्मितावच्छेदका-
देकहस्तिविषयकहस्तिपकसंबन्धग्रहात् कालान्तरे हस्तिपकदर्शने हस्त्यन्तरस्मरणापत्तेः ।
आं नयेत्यादिवाक्येषु वृत्तिद्वयकल्पनायां गौरवं च । अत एव

‘जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद्विवक्षति ।

नित्यत्वाल्लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे ॥’

इति मण्डनमिश्रोक्तमप्यपास्तम् । जातिव्यक्तयोरभेदादानान्वय इति चेत्तथा सति
व्यक्तेर्वाच्यत्वं स्वीकृतमेवेति भावः । ननु व्यक्तीनामानन्त्याच्छक्त्यानन्त्यप्रसङ्गः । कुत्र
चिदेव व्यक्तौ शक्तिरिति नोक्तदोष इति चेदेवं सत्यगृहीतशक्तिकव्यक्तिबोधेऽप्यारम्भव्य-
भिचारेण शक्तिग्रहस्य शाब्दबोधहेतुत्वमङ्गापत्तिः । शक्तिग्रहाविषयत्वाविशेषाद् घटपदान्
तटादेरपि बोधापत्तिश्च । तदुक्तं मीमांसकादिभिः

‘आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्त्यनेकत्वदोषतः ।’

इत्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह-**संबन्धितावच्छेदकस्येति ।** शक्यतावच्छेदकस्येत्यर्थः ।
जातिरूपस्य तस्येति योजनम् । एवं च संबन्धितावच्छेदकस्यैव विशेष्यतया विवक्षणा-
पुंसकनिर्देशोपपत्तिः । अन्यथा संबन्धितावच्छेदिकाया इति स्यादिति बोध्यम् । एकैवेति ।
शक्यव्यक्तीनामानन्त्येऽप्युपलक्षणीभूतघटत्वादिजातेरैक्यात्तदैक्यं कारणतायाः निरूपका-
श्रयव्यक्तिबाहुल्येऽप्यवच्छेदकदण्डत्वादेरैक्यादैक्यवदिति भावः । तद्वर्मावच्छिन्नधर्मि-
कशक्तिग्रहस्य तद्वर्मप्रकारकतद्वर्माश्रयविशेष्यकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वाच्छक्ति-

चैच्छेदकस्य जातेरैक्याच्छक्तिरप्येकैवेति न गौरवमपि । न चैवं घटत्वमपि वाच्यं
स्याच्छक्यतावच्छेदकत्वात् । तथा च नागृहीतविशेषणन्यायात् तदेव वाच्यम-
स्त्विति शङ्क्यम् । अकारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकत्ववदलक्ष्यत्वेऽपि लक्ष्यता-
वच्छेदकत्ववत् तथात्रापि संभवात् । उक्तं च

‘आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम् ।

शब्दः सुकरसंबन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥’

ग्रहस्य यावत्त्वक्तिविषयकत्वासंभवेऽपि न व्यभिचारः । कार्यत्वकारणत्वयोरवच्छेदक-
कोटौ तत्तद्व्यक्तिविषयताया अनिवेशात् । तत्तद्धर्मस्याशक्यत्वेऽपि तद्विषयतायाः कार्य-
तावच्छेदककोटिप्रवेशाद्धानोपपत्तिश्च घटपदात् पटादिवोधप्रसङ्गो द्रव्यत्वप्रकारकघटभान-
प्रसङ्गश्च नेति भावः । शङ्कते-न चैवमिति । एवं घटत्वादेः शक्ततावच्छेदकत्वे ।
शक्यतावच्छेदकत्वादिति । शक्यत्वे सति शक्तिगृहीतार्थनिष्ठधर्मितावच्छेदकत्वरू-
पत्वाच्छक्यतावच्छेदकत्वस्य घटत्वादेरपि वाच्यत्वमावश्यकमिति भावः । तदेव
वाच्यमिति । एवं च केवलव्यक्तिवाच्यतापक्षोऽत्यन्तासंभवग्रस्त इति तात्पर्यम् ।
अलक्ष्यत्वेऽपीति । यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ तीरत्वाद्यवच्छिन्नधर्मिकप्रवाहरूपश-
क्यसंबन्धिताग्रहादेव तीरत्वादिप्रकारकोपस्थितिशाब्दबोधनिर्वाहः । संबन्धितावच्छेदकत्व-
ग्रहस्यैवोपस्थित्यादिविषयताप्रयोजकत्वान्न तु तदंशेऽपि लक्षणोपपत्तेः शक्यसंबन्धस्य
तीरतत्त्वोभयसाधारणस्याभावाद्भुक्तीत्यैवोपपत्तौ तदंशे संबन्धज्ञानस्योपस्थित्यादिहे-
तुत्वाकल्पनाच्च । एवं शक्त्याख्यसंबन्धितावच्छेदकत्वग्रहादेवोपपत्तौ न घटत्वाद्यंशेऽपि
शक्तिरिति समुदिततात्पर्यार्थः । शक्यतावच्छेदकत्वं तु शक्यत्वाघटितमेवेति भावः ।
लक्ष्यत्ववदिति दृष्टान्तोपन्यासेनेतरसंबन्धशून्ये तत्संबन्धितावच्छेदकत्वेऽपि वृत्त्यात्मकसं-
बन्धशून्येन तत्संबन्धितावच्छेदकत्वमुपेय तत्कृते शङ्का निरस्ता । अयं च दृष्टान्तो नैया-
यिकनये । आलंकारिकादिनये तु लक्ष्यतावच्छेदकेऽपि लक्षणास्त्येव । तथा चोक्तम् ।

‘मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा ॥’ इति ।

लक्ष्यते ज्ञाप्यत इत्यर्थः । एवं च नात्माश्रयः । एवं च शक्यादशक्योपस्थितिरूपाया-
स्तस्या लक्ष्यतावच्छेदकेऽपि विषयतायाः सत्त्वमनपवादमेवेत्याहुरिति दिक् । उक्तेऽर्थेऽह-

इति । वस्तुतस्तु 'न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः' इति भाष्यादिशिष्टं वाच्यम् । एकमित्यस्य चायमभिप्रायः—शक्तिज्ञाने विषयतयावच्छेदिका जातिरेव । तथा च घटत्वविशिष्टबोधे घटत्वांशेऽन्याप्रकारकर्षट्वशक्तिज्ञानत्वेन हेतुतेति

णाधिकरणस्थभट्टोक्तिं साधकतयोपन्यस्यति । आनन्त्येऽपीति । भावानां घटादीनां वाच्यत्वेनाभिमतानाम् । एकप्रनेकव्यक्तिसंबद्धं घटत्वादिकम् । सुकरसंबन्धग्रहः संबन्धः शक्तिरूपः । न च व्यभिचरिष्यतीत्यस्योक्तोऽभिप्रायः । आकृति-पदार्थकस्येति । आकृतिः पदार्थो यस्येति बहुव्रीहिः । इति भाष्यादिति । इदं च सरूपसूत्रस्थं भाष्यम् । विशिष्टं वाच्यमिति । जातिविशिष्टं गवादिकं गवादिशब्दवाच्यमित्यर्थः । अत एव चक्षुरादिशब्दवाच्यमित्यर्थप्रमाणवच्छब्दरूपप्रमाणस्य स्वसंबद्ध-विषयस्यैव ग्राहित्वमिति नियमभङ्गो न । परे तु न ह्याकृतिपदार्थस्य द्रव्यं न पदार्थः द्रव्यपदार्थकस्य वाकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयपदार्थः कस्यचित् किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिद्गुणभूतमित्यादि भाष्ये द्रव्यपदार्थवादे आकृतेर्विशेषणत्वोक्त्या तज्जात्यनुगतिकृतानेकव्यक्तिबोधस्यैकशब्देनैव संभवे तत्त्वक्षेऽप्येकशेषो नारम्भणीय इति सूचितम् । जातिवादे व्यक्तेर्व्यक्तिवादे जातेः शक्यतावच्छेदकत्वमिति च सूचितमित्याहुः । ननु विशिष्टस्य पदार्थतापक्षे एकमिति विरुद्धं स्यादत आह—एकमित्यस्य चेति । चत्त्वर्थः । अयं वक्ष्यमाणः । जातिरेवेति । शक्तिज्ञाननिष्ठकारणतायां विषयतासंबन्धेन जातिरेवावच्छेदिका न तु व्यक्तिः । तद्विषयकशक्तिज्ञानत्वेन कारणत्वाभावादिति भावः । एकं नामार्थ इत्यस्यैकं सामान्यमेव तादृशकारणतावच्छेदकमित्यर्थः आनन्त्ये बोध्यः । एतदेव विशदयति—तथा चेति । घटत्वांशेऽन्याप्रकारकेति । तेन घटत्वमस्तीत्यतो न घटत्वविशिष्टबोधापत्तिः । एवं जातिरस्तीत्यतोऽपि । एतेन घटत्वमस्तीत्यतस्तथाविधबोधवारणाय विशिष्टशक्तिज्ञानत्वेन कारणतावश्यक्रीति दूषणं निरस्तम् । घटत्वत्वावच्छिन्ने एव घटत्वपदशक्तेर्घटत्वांशे तत्प्रकारकशक्तिधिय एव संभवात् । अयमेव कुञ्जशक्तिवाद इति गीयते मीमांसकैः । यद्विषयकत्वेन शक्तिधियो हेतुता तस्यैव शक्यत्वमिति नियमो मानाभावेन व्यक्तेरपि शक्यत्वसिद्धिः । ननु विनिगमनाविरहाद् व्यक्तिविषयकशक्तिज्ञानत्वेनैव तथाविधबोधं प्रति हेतुतास्त्विति चेन्न । व्यक्तीनामानन्त्यादनन्तव्यक्तिविषयकत्वनिवेशे गौरवात् । न च यत्किञ्चिज्जात्याश्रयव्यक्तिविषयकत्वमेव निवेद्यमिति न गौरवमिति वाच्यम् । द्रव्यादिपदशक्तिज्ञानस्यापि द्रव्यत्वाश्रयव्यक्तिविषयकत्वेनैव हेतुतापत्तौ घटादिपदादि द्रव्यत्वप्रकारकबोधापत्तेः । पर्यायान्तराद् द्रव्यत्वप्रकारकबोधानुपपत्त्या

कार्यकारणभाव इत्यादि प्रपञ्चितं भूषणे । तदेतदभिप्रेत्याह—द्विकमिति । जातिव्यक्ती इत्यर्थः । पूर्वपक्षविरोधपरीहारः पूर्ववत् । त्रिकमिति । जातिव्यक्ति-
लिङ्गानीत्यर्थः । सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था नपुंसकत्वम् । आधिक्यं
पुंस्त्वम् । अपचयः स्त्रीत्वम् । तत्तच्छब्दनिष्ठं तत्तद्वाच्यं च । तमेव विरुद्धधर्म-
मादाय तदादिशब्दा भिद्यन्ते । केषांचिदनेकलिङ्गत्वव्यवहारस्तु समानानुपूर्वी-
कत्वेन शब्दानामभेदारोपात् । एवं च पदार्थपदे पुंस्त्वमेव व्यक्तिपदे स्त्रीत्वमेव

द्रव्यपदज्ञानत्वेन हेतुत्वोपगमासंभवादित्यादिकं बृहद्भूषणे द्रष्टव्यमित्यभिप्रेत्याह—प्रप-
ञ्चितं भूषण इति । पूर्ववद्विषयतासंबन्धेन तादृशकारणतावच्छेदकमित्यर्थस्वीकारेण
परिहरणीयः । अन्यथा पूर्वमेते एकस्यैव नामार्थत्वमेतन्मते च द्वयोस्तथात्वमिति विरोधः
स्पष्ट एव । पूर्वत्र विशिष्टस्य पदार्थत्वे विरोधः परिहृतः । इह तु द्वयोस्तथात्वे स परिहृतः ।
ननु 'स्तनकेशवती स्त्री स्यात्' इत्यादिना विवक्षितमवयवसंस्थानविशेषरूपं स्त्रीत्वादिकं
नेतच्छास्त्रीयप्रक्रियानिर्वाहकम् । दारानित्यादौ नत्वाभावप्रसङ्गात् । न चारोपेण निर्वाह इति
युक्तम् । विशेषदर्शनान्तरसंभवात् । न चाहार्यः स संभवत्येवेति वाच्यम् । तदसत्त्वेऽपि
तथाविधप्रयोगाणामिष्टत्वात् । अत एव स्त्रियामिति सूत्रे भाष्यकारैरुक्तानुपपत्त्यान्यथा
स्त्रीत्वादिनिर्वचनं कृतमित्याशङ्क्य भाष्योक्तरीतिमनुसरति—सत्त्वेति । ननूपचयापच-
यादेर्विरुद्धस्यैकत्र समावेशायोगात् तदस्तदी तदमित्यादेरनुपपत्तिः । गुणानां क्षणिकत्व-
पुरस्कारेण तदुपपत्तिरित्यपि न युक्तम् । एवमपि युगपत्तथाव्यवहारानुपपत्तिदुष्परिहरत्वात् ।
अविकारिण्युपचयाद्यसंभवाद्ब्रह्म आत्मेत्यादिव्यवहारानुपपत्तेश्च । आरोपादरे तु लौकिक-
लिङ्गानादरो निर्वाज इत्यत आह—तत्तच्छब्दनिष्ठमिति । नन्वत्रापि पक्षे एकशब्दे
अनेकविरुद्धलिङ्गासंभवतादवस्थ्यमत आह—तमेव विरुद्धेति । भिद्यन्त इति । तथा
च नोक्तदोषावकाशः । नन्वेवं तदं त्रिष्वित्यादिव्यवहारानुपपत्तिरत आह—केषांचि-
दिति । समानेति । अयं चाभेदारोपे हेतुः । एवं चेति । लिङ्गस्य शब्दनिष्ठत्वे चेत्यर्थः ।
परे तु उपचयाद्यवस्थात्रयस्य सार्वत्रिकत्वादिदं लिङ्गं केवलान्वयि इदं वस्तु इयं व्यक्तिरयं
पदार्थ इत्यादिव्यवहारानामप्रतिबद्धसकलजनसिद्धप्रसरात् । तच्चार्थनिष्ठम् । 'एकार्थं
शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिङ्गान्यत्वमवयवान्यत्वाच्च' इति भाष्याच्च । पुष्यतारका नक्षत्रमिति
नानाशब्दत्वदर्शनात् स्तनकेशाद्यतिरिक्तमेव लिङ्गमर्थनिष्ठं कुटीकुटीर इत्यादौ रेफस्या-
वयवस्योपजनने लिङ्गभेददर्शनाच्चेत्यर्थ इति कैयटोपाध्यायाः । अत एवोपक्रमभाष्ये

—१ A. drops तदेतदभिप्रेत्याह. २ D. drops पूर्वपक्षविरोधपरीहारः पूर्ववत्. ३ प्रत्या-
हारः A.; परिहारः D. ४ तदादिशब्दा D.

धस्तुपदे नपुंसकत्वमेवेति सर्वत्रैवायं पदार्थः इयं व्यक्तिरिदं वस्त्विति व्यवहार-
स्तदस्तटी तदमिति चोपपद्यते । तच्च लिङ्गमर्थपरिच्छेदकत्वेनान्वेतीति पश्चादिश-
ब्दोक्तं पशु स्त्रियां नास्तीति पशुनेत्यादिविधिर्न च्छाग्यादीनङ्गत्वेन प्रयोजयतीति

‘रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां स्त्यानप्रसवौ लिङ्गम्’ इत्युक्तम् । यस्माद्रूपादयो न हि शब्द-
गताः । नन्वेवं पुलिङ्गः शब्द इति व्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्न । वाच्यवाचकयोरभेदो-
पचारादर्शनादाद्यजन्तत्वाद्वा तदुपपत्तेः । आत्मा ब्रह्मेत्यादि व्यवहारसिद्धिस्तु ब्रह्माणि सर्व-
स्यैवाध्यासेन परंपरया संस्त्यानादिसत्त्वेन चोपपद्यते । उपचयादेर्विरुद्धस्यैकत्रासमावेशात्
तदस्तटीत्याद्यनुपपत्तिरिति न वाच्यम् । कोशभाष्यादिप्रामाण्येन विरोधस्यैव विरहात् ।
कश्चिच्छब्द एकलिङ्गविशिष्टार्थे कश्चिल्लिङ्गद्वयविशिष्ट इत्यादिकं कोशादितोऽवसेयम् । तत्र-
टिचुमादिवल्लुसंज्ञाकरणौचित्येऽपि गुरुसंज्ञाकरणान् नत्वादिशास्त्रप्रवृत्तौ लौकिकमपि लिङ्गं
निमित्तत्वेनाश्रीयते । संख्यासंज्ञावत् पुंसादिसंकेतानामधिकसंग्रहार्थत्वेऽपि लोकप्रसिद्धार्थ-
निरासार्थत्वाभावाच्च । लौकिकासंभवे तु शास्त्रीये एव नत्वादिप्रवृत्तिः । तत्संभवे तु
शास्त्रीयविशिष्टलौकिक एव न तु केवलशास्त्रीये । नत्वादिकार्येण लौकिकलिङ्गस्यार्थ-
गतस्य बोधात् ।

‘आविर्भावतिरोभावस्थितिश्चेत्यप्यपापिनः ।

धर्मा मूर्तिषु सर्वासु लिङ्गत्वेन व्यवस्थिताः ॥’

इति हरिकारिकातोऽपि तस्यार्थनिष्ठत्वमेवावसीयते । अत्रापि ‘नासति संभवे लौकिक-
लिङ्गस्यापि नत्वादिप्रवृत्तौ निमित्तत्वमिति सूचितम्’ इत्यादि मञ्जुषायां प्रत्यपीपदत् ।
ननु तस्य शब्दनिष्ठत्वे शब्दवाच्यत्वेऽप्यर्थे तदन्वयासंभवेन पशुना यजेतेति विहितयागस्य
च्छाग्यापि करणापत्तिरित्यत आह-तच्च लिङ्गमिति । अर्थपरिच्छेदकत्वेनेति ।
तद्विशेषणत्वेनेत्यर्थः । लिङ्गविशेषविशिष्टस्यैवार्थविशेषवाचकतया लिङ्गानुशासनशास्त्रसि-
द्धतया च स्वाश्रयवाच्यत्वसंबन्धेनार्थविशेषणत्वोपपत्तिः । एवं च पुंस्त्वविशिष्टपशोरेव
विधानाच्छाग्या न तत्करणापत्तिः पुलिङ्गस्य पशुशब्दस्य पुंव्यक्तेरेव वाचकत्वमन्यथा
परंपरया तस्यार्थविशेषणत्वाभ्युपगमवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः । पश्चादिशब्दोक्तमिति ।
अस्य पुंस्त्वं पशुशब्दार्थपरिच्छेदकत्वेनान्वेतीति शेषः । पशु स्त्रियां नास्तीति ।
पशु यदि स्त्रियां नास्ति पशुना यजेतेति वाक्यान्तर्गतः पशुशब्दः नामावेन पुलिङ्गत्वबो-
धनात् स्त्रियां नास्तीति हेतोः पशुना यजेतेत्यादिविधिच्छाग्यादीनङ्गत्वेन तु प्रयोजयति

विभावनीयम् । न च व्यक्त्यादिशब्दोक्तलिङ्गस्यैव पश्चादिशब्दोक्तस्यापि साधारण्यं शङ्क्यम् । व्यक्तिशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वेन तथा संभवेऽपि पशुशब्दस्य नित्यपुंलिङ्गत्वे प्रमाणाभावात् । ‘पश्चा न तांशुं गुहा चरन्तम्’ ‘पश्वे नृभ्यो यथा गवे’ इत्यादि वेदे दर्शनाच्च । मीमांसायां चतुर्थे पशुना यजेतेत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोर्विवक्षितत्वान्नानेकपशुभिः पशुस्त्रिया वा याग इति प्रतिपादितत्वाच्च । वस्तुतस्तु विशेषविध्यभाव उपत्ययान्तानां पुंस्त्वस्य व्याकरणे निर्णीत-

न ग्राहयतीत्यर्थः । ननु पुलिङ्गः पशुशब्दः पुंस्त्वोरेव वाचक इति यदि नियमः स्यात्तदोक्तं संभवेत् स एव तु नेत्याशयेन शङ्कते-न चेति । व्यक्त्यादिशब्दोक्तेति । व्यक्त्यादिशब्दोक्तलिङ्गस्य यथा साधारण्यं स्वाश्रयवाच्यतासंबन्धेन पुमादिसंयद्वत्त्वमत एव तत्तदर्थव्यावर्तकं तथा पश्चादिशब्दोक्तलिङ्गस्याप्युक्तपरंपरासंबन्धेन स्त्रीव्यक्त्यसंबद्धत्वात्तदपि न व्यावर्तकं भवेत् तन्मात्रनिष्ठस्यैव तद्व्यावर्तकत्वान्न तु व्यभिचारिणीति समुदितार्थः । पश्चादिशब्दोक्तस्य-अत्र लिङ्गस्येत्यनुषज्यते । व्यक्तिशब्दस्य क्तिन्नन्तत्वेन नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् साधारण्येऽपि पशुशब्दस्य नित्यपुंलिङ्गत्वे मानाभावान्न साधारण्यमिति परिहरति-व्यक्तिशब्दस्येति । वेदे दर्शनादिति । पश्वेत्यादिदर्शनात् स्त्रीलिङ्गोऽपि पशुशब्द इति भावः । पुलिङ्गेनादेशप्रकृत्योक्तरूपासिद्धिः स्पष्टैव । तथा ‘वेडिति’ इति गुणप्रवृत्त्या पश्व इति रूपसिद्धिश्च । ननु स्त्रीलिङ्गेऽपि गुणप्रवृत्त्योक्तरूपासिद्धिस्तदवस्थैव । न च ‘डिति ह्रस्वश्च’ इति नदीसंज्ञाप्रवृत्त्या न घिसंज्ञिति वाच्यम् । तथा सत्यादप्रवृत्त्योक्तदोषतादवस्थ्यादिति चेन्न । छान्दसत्वादाडप्रवृत्तेः । सूपपदत्वमित्याशयात् ‘जसादिषु च्छन्दसि वावचनम्’ इति वचनेन पुलिङ्गेऽप्युक्तप्रयोगसिद्धिरिति तु न शङ्क्यम् । स्त्रीलिङ्गे तदाश्रयणं विनाप्युक्तरीत्या निर्वाहः । आगमशास्त्रस्य सागरं तर्तुका-मस्येत्यादावनित्यत्वं दृष्टमिति तत्राडप्रवृत्त्यर्थं छान्दसत्वमनाश्रयणीयमित्याशयात् । लिङ्गान्तरसाधकहेत्वन्तरमप्याह-मीमांसायामिति । चतुर्थे । चतुर्थीध्याये । तत्प्रथमचरणे एतदवगन्तव्यम् । ननु नियतपुंलिङ्गत्वे प्रमाणाभावादित्यसंगतम् । उपत्ययान्ताः पुंसीति व्याकरणस्यैव मानत्वादित्याशङ्क्य पशुशब्दस्य नियतपुंलिङ्गत्वे प्रमाणासद्भावेऽपि प्रकारान्तरेण च्छागीग्रहणप्रसक्तिं वारयति-वस्तुतस्त्विति । नाभावाभाव इत्युक्तेरिति । तथा च पश्वेत्यादिप्रयोगानुपपत्तिरपि न पशुशब्दस्य नियतपुंलिङ्गत्वेऽपीति भावः । नित्यपुंस्त्वनिर्णयादिति । नित्यपुंलिङ्गत्वनिर्णयादित्यर्थः । तथा च पुंस्त्वस्य साधारण्याद्व्यावर्तकत्वानुपपत्तिरिति भावः । तथा च स्त्रीव्यक्तिव्यावर्तिकाया उक्तयुक्तो-

त्वाद्वेदभाष्येऽपि 'जसादिषु च्छन्दसि वाचनम्' इति नाभावाभाव इत्युक्तेः पशुशब्दस्य नित्यपुंस्त्वनिर्णयात् । प्रकृते 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' इति न्यायेनैव निर्णयः । मन्त्रवर्णे हि 'छागस्य वपाया मेदसः' इति श्रूयते । तत्र छागस्येति च्छान्यामसंभावितमिति भवति ततः पुंस्त्वनिर्णय ईति विस्तरेण प्रपञ्चितं भूषणे । चतुष्कं संख्यासहितं त्रिकमित्यर्थः । पञ्चकं कारकसहितं चतुष्कमित्यर्थः । नन्वनवयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययस्यैव तद्वाच्यम् । तत एव लिङ्गादी-

रसंभवेऽपि तद्व्यावर्तकयुक्त्यन्तरं दर्शयति—'छागो वा मन्त्र'—इति । पष्ठाध्यायचरमाधिकरणसिद्धान्तसूत्रम् । तत्र हि अग्नीषोमीयं पशुमाहमेतेत्यत्र पशुशब्देन नाश्वदिग्राह्यः किं त्वज एव 'छागस्य वपायाः' इति मन्त्रवर्णादिति निर्णीतम् । तद्वत् पुंस्त्वस्यापि तत एव निर्णय इत्यर्थः । यथा 'संदिग्धे वाक्यशेषात्' इत्यधिकरणे विधौ संदेहे वाक्यशेषान्निर्णयः संख्यादिवत् । यथा सारस्वतौ भेषौ भवत इत्यत्र तद्धितप्रकृतिः शब्दः पुंलिङ्गः स्त्रीलिङ्गो वेति संदेहे 'एतद्वै दैव्यं सिधुनम्' इत्यर्थवादादेकशेषेणोभयोरग्रहणमिति निर्णीतम् । नन्वस्तूक्तस्थले तावदेवं तथापि सर्वनामनिष्ठलिङ्गस्य चेतनाचेतनस्त्रीपुंससाधारणत्वात् प्रास्मा अग्निं भरतेत्यग्निगुप्रेषस्य स्त्रियामपि प्रवृत्त्यापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । मीमांसकसिद्धान्तविरोधात् । लौकिकलिङ्गस्य वाच्यत्वपक्षे तु न दोषः । मुख्यसंभवे गौणपरिग्रहस्यान्याग्यत्वेनारोपस्याप्यसंभवादिति चेन्न । पूर्वोपस्थिततद्रूपेणोपस्थापकादस्मै एनमित्यादि पदाच्छागत्वादिविशिष्टानामिव पुंस्त्वादिविशिष्टानामेव पशूनामुपस्थित्या भेष्यामप्रवृत्तेः संभवदित्यादिविस्तरो दृढदूषणेऽनुसंधेय इत्याशयेनाह—विस्तरेण प्रपञ्चितं भूषणे इति । लिङ्गस्यार्थनिष्ठत्वपक्षेऽपि 'छागो वा मन्त्र'—इत्यादिन्यायेन पुंव्यक्तेरेव ग्रहणमिति बोध्यम् । वैशेषिकास्तु पुंस्त्वादयो जातयस्तथा च हरिभिरुक्तम्—

‘तिस्रो जातय एवैताः केषांचित् समवस्थिताः ।

अविरुद्धाविरुद्धाभिर्गोमहिष्यादिजातिभिः ॥’

इति परस्परविरुद्धाभिर्गोत्वमहिषत्वादजातिभिः सह परस्परमविरुद्धा एताः समवस्थिता इत्यर्थः । केषांचिद् वैशेषिकाणामिति हेछाराजः । गोत्वादिजातीनां परस्परमविरोधे महिष्यादावपि गवादिव्यवहारापत्तिर्गवादावपि महिषादिव्यवहारापत्तिस्तासां परस्परविरोधस्वीकारेऽपि पुंस्त्वादिरियं व्यक्तिरयं पदार्थ इत्यादिव्यवहारस्य सार्वत्रिकत्वादविरोध इति तात्पर्यम् । तद्वाच्यमिति । तत् लिङ्गादित्रयम् । तत एव । प्रत्ययादेव । प्रकृतेरेव

भामुपस्थितौ प्रकृतिवाच्यत्वे मानाभावाच्चेति चेत् सत्यम् । प्रत्ययवर्जिते दधि पश्येत्यादौ प्रत्ययमजानतोऽपि बोधात् प्रकृतेरेव वाचकत्वं कल्प्यते । लिङ्गानु-
शासनस्य प्रकृतेरेव दर्शनाच्चेति । अत एवैषु पक्षेषु न निर्वन्धः । प्रत्ययस्यैव
वाचकताया युक्तत्वात् ।

‘द्योतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः ।’

इति वाक्यपदीयेऽपि पक्षद्वयस्य व्युत्पादनात् । शास्त्र इति । बहुषु स्थलेषु

वाचकत्वमिति । न च तत्र प्रकृतेर्लक्षणेति वाच्यम् । अनुपपत्तिप्रतिसंधानं विनापि
बोधात् । अनन्तप्रकृतिषु शक्तिकल्पनागौरवं तु फलमुखत्वान्न दोषकृत् । प्रकृतौ गृहीत-
शक्तिकस्य प्रकृतिमात्रादपि लिङ्गादिबोधोदयाच्च । लिङ्गानुशासनस्य प्रकृतिविषयस्यैव
दर्शनाच्च । अत एव ‘द्वयेकयोः—’ इत्यादेश्वानिर्दिष्टार्था इति न्यायेन संख्यायर्थकत्वे
सिद्धे नियामकत्वं भाष्यकृदभिमतं संगच्छते । अतिप्रसङ्गस्तु तात्पर्यादेर्नियामकस्याश्रय-
णात् परिहरणीय इत्याहुः । केचित्तु संख्यामात्रं विभक्त्यर्थः । इतरच्चतुष्टयं प्रातिपदिकार्थं
इत्याहुः । तदुक्तम्—

‘वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः ॥’

इति । अत्रेदं बोध्यम् । घटादिशब्दे लिङ्गादिनिरूपिता पृथक् पृथक् शक्तिः स्वीकार्या
एकपदोपस्थितानामप्यर्थानामाकाङ्क्षावैचित्र्यात् परस्परमन्वयः । तत्र लिङ्गसंख्ययोः
प्रकृत्यर्थे विशेषणत्वं कारकस्य विशेष्यत्वम् । यद्वा तस्यापि विशेषणत्वमेव द्योतकत्वात् ।
प्रातिपदिकस्य लिङ्गसंख्यादिविशिष्टार्थकत्वे त्वेकत्वविशिष्टे द्वित्वादिविशिष्टे च शक्तिकल्पने
गौरवं गौरूपमित्यादौ संख्यायनवच्छिन्नबोधानुपपत्तिश्च विशकलितपदार्थत्वपक्षे तात्पर्य-
ग्राहकाभावात् तादृशबोधनिर्वाहः । अन्ये तु धातुवद् विशिष्टे एव शक्तिः । केवलघटत्वा-
दिविशिष्टेऽपि पृथक्शक्तिस्वीकारात् संख्यायविषयकबाधनिर्वाह इत्याहुः । ननु पञ्चानामपि
प्रातिपदिकार्थत्वे प्रातिपदिकार्थप्रकारकशब्दबोधे सुबादिजन्योपस्थितिर्हेतुरित्यादेर्विलयप्रसङ्ग
इति चेन्न । विभक्त्योत्थार्थमादाय तदुपपत्तेरित्येक आहुः । परं तु तद्विलयेऽप्युपपत्तिर्द्यो-
त्यार्थस्य विशेषणत्वेन तादृशबोधस्य खपुष्पायमाणत्वादित्याहुः । वाचकताया युक्त-
त्वादिति । प्रातिपदिकापेक्षयात्पतरप्रत्ययेष्वेव वाचकत्वकल्पनाया उचितत्वमिति भावः ।
शास्त्र इति सामान्यपदप्रयोजनं स्पष्टयति । शास्त्र इति । बहुष्विति । ननु शब्दस्य

व्युत्पादनं व्यञ्जयितुं प्राधान्येन सरूपसूत्रादौ व्यक्तम् ॥ २५ ॥

शब्दस्तावच्छब्दबोधे भासते ।

‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥’

इत्याद्यानुभविकोक्तेः । ‘विष्णुमुच्चारय’ इत्यादावर्थोच्चारणासंभवेन विना शब्द-
विषयं शब्दबोधासंगतिश्चेति सोऽपि प्रातिपदिकार्थः । न च लक्षणया निर्वाहः ।
निरुद्धलक्षणायाः शक्त्यनतिरेकात् । ‘जवगडदशमुच्चारय’ इत्यादौ शक्त्याग्रहेण

घटोऽस्तीत्यादिवाक्यजन्यशब्दबोधविषयत्वाननुभवात् तत्तच्छब्दस्य तत्तच्छब्दवाच्यत्व-
साधनपरं ‘शब्दोऽपि यदि भेदेन’ इत्यादिमूलमसंगतमित्याशङ्कं निरसयञ्छब्दस्य
शब्दबोधविषयत्वेऽभियुक्ततमभर्तृहर्षनुभवं प्रमाणयति-न सोऽस्तीति । शब्दा-
नुगमः । शब्दभानम् । अनुविद्धमिव । तादात्म्येन संबद्धमिव । ज्ञाने आरोपितं शब्द-
तादात्म्यमिति बोधयितुमिवशब्दः । प्रत्यक्षादिरूपसकलज्ञाने शब्दभानं शब्दार्थयोस्ता-
दात्म्यादुपपद्यते । केचित्तु शब्दार्थयोर्भेदेऽप्यनुभवबलाज्ज्ञानसामान्यसामग्र्या एव शब्द-
भासकत्वं कल्प्यते ततस्तादुपपत्तिः । अर्थज्ञानेनोद्बोधकविधयोपस्थापितस्य शब्दस्य
प्रत्यक्षादौ अर्थाशे प्रकारीभूय भानं बाधकाभावात् । अनुभवाच्चेति तु न युक्तं शब्दो-
पस्थापकार्थज्ञाने तद्भानासंभवात् । उक्तरीत्यानुव्यवसाये एव तद्भानमुपपादयितुं शक्यत
इत्याहुः । अत्र घटादिशब्दं पक्षीकृत्य तत्तच्छब्दबोधविषयत्वं साध्यते । तादृशाभियुक्तोक्त्या
सकलजातीयज्ञानविषयत्वेन बोधितत्वरूपहेतुना यावज्जातीयज्ञानविषयत्वं तदन्तर्गतय-
त्किञ्चिज्जातीयज्ञानविषयत्वं विना न संभवतीति नाप्रयोजकत्वमिति बोध्यम् । घटादिशब्दे
विशिष्य तत्तच्छब्दबोधविषयत्वस्य साध्यत्वपुरस्कारेण शब्दोऽस्तीत्यादिवाक्यजन्यशब्द-
बोधविषयत्वमादाय न सिद्धसाधनम् ॥ २५ ॥

विना शब्दविषयमिति । विष्णवादिशब्दरूपविषयं विनेत्यर्थः । शब्दविषयकत्वं
विनेति पर्यवसितोऽर्थः । शक्त्यनतिरेकात् । शक्तितुल्यत्वात् । अनादितात्पर्यस्योभयत्रा-
प्यपेक्षणात् स्वारसिकलक्षणा न पदमादधाति प्रयोगासाच्चिन्वात् । लक्षणाया असंभव
एव यत्र तादृशं स्थलं प्रदर्शयति-जवगडेति । शक्त्याग्रहेणेति । एकाक्षरकोशा-
दिप्रामाण्येन प्रत्येकवर्णस्य शक्त्यर्थसत्येऽपि तदग्रहेणेत्यर्थः । ननु तत्र लक्षणाया
अग्रहेऽपि लक्ष्यार्थबोधो लक्षणरूपस्तु सामग्र्या विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह-

शक्त्यसंबन्धरूपलक्षणाया अप्रहाञ्च । अज्ञातायाश्च वृत्तेरनुपयोगात् । 'गाङ्गमु-
च्चारय' इत्यादिभाषाशब्दानामनुकरणे साधुतासंप्रतिपत्तेस्तेषां शक्त्यभावेन
परनये लक्षणाया असंभवाच्चेत्यभिप्रेत्य षोडशि क्वचित् प्रातिपदिकार्थ इत्याह—

शब्दोऽपि यदि भेदेन विवक्षा स्यात्तदा तथा ।

नो चेच्छ्रोत्रादिभिः सिद्धोऽप्यसर्वार्थेऽवभासते ॥ २६ ॥

यद्यनुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षा तदा शब्दोऽपि प्रातिपदिकार्थः । यदि न
भेदविवक्षा तदा श्रोत्रादिभिरुपस्थितोऽप्यर्थवद्भासते । अपिर्हेतौ । उपस्थितत्वा-
द्भासते इत्यर्थः । अयं भावः—अनुकार्यानुकरणयोर्भेदेऽनुकार्यस्य पदानुप-
स्थितत्वात् तत्सिद्धये शक्तिरूपेया । शब्दार्थयोरभेदे प्रत्यक्षे विषयस्य

अज्ञातायाश्चेति । चत्वर्ये । अनुपयोगादिति । तज्ज्ञानं विनार्थोपस्थितेरसंभवात् ।
साधुतासंप्रतिपत्तेः । साधुताभ्युपगमात् । स्पष्टं चेदमूलकमूत्रे भाष्ये । ननु तत्रापि
स्वज्ञाप्यसंबन्धरूपा लक्षणा संभवत्येवेत्याशङ्क्याह—परनय इति । नैयायिकनये
इत्यर्थः । एवं च स्वज्ञाप्यसंबन्धो लक्षणेति स्वीकर्तृमीमांसकमते तत्संभवेऽपि तस्य
लक्षणात्त्वानभ्युपगन्तुनैयायिकनये तत्र शक्तिस्वीकार आवश्यकः । अन्यथा बोधो न
स्यात् । वृत्त्यर्थबोधजनकत्वरूपार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञापि न स्यात् साधुत्वं च
न स्यादिति भावः । क्वचित् । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षायाम् । मूलस्थतथेत्यस्यार्थ-
माह—प्रातिपदिकार्थ इति । सिद्ध इत्यस्य विवरणमुपस्थित इति । अर्थवदिति ।
अर्थेऽवभासमाने शब्दो भासते उपस्थितत्वादिति मूलार्थः । तत्फलितार्थः अर्थवद्भासत
इति । अर्थशब्दस्येवशब्देन सह समासस्तु न । तथा सति 'इवेन समासः' इति
विभक्तिश्रवणापत्तेः । ननु भेदाभेदात्मकपक्षद्वयेऽप्यनुकार्योपस्थितये शब्दांशे वृत्तिस्वी-
कारवश्यकतया मूले भेदपक्षे एव तदावश्यकताकथनमयुक्तमतस्तदभिप्रायमाह व्याख्या-
यामयं भाव इति । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदे इति । तयोर्भेदविवक्षायां पटदिति
कुर्वित्याद्यनुकरणानुकार्ययोर्भेदो ध्वनिमयत्ववर्णमयत्वादिरूपविरुद्धधर्मसंबन्धेन सिद्ध इति
भावः । पदानुपस्थितत्वादिति । शक्त्यभावे इत्यादिः । तथा च शक्त्यभावेऽनुकार्यस्य
पदादुपस्थित्यसंभवादित्यर्थः । तत्सिद्धये । उपस्थितिसिद्धये । अन्यथा शाब्दबोधवि-
षयत्वमपि न स्यात् । वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेरेव शाब्दबोधहेतुत्वात् । अनुकार्यानुक-
रणयोरभेदपक्षेऽतिरिक्तशक्तिं विनैव शाब्दबोधविषयत्वं भवतीत्याह—अभेदपक्षे प्रत्यक्षे

१ 'वर्थोऽवभासते P., A., D., २ 'रूपात्तो D., ३ 'अभेदपक्षे प्रत्यक्षे A., Com.; अभेदे
प्रत्यक्षे D., D., for शब्दार्थयोरभेदे प्रत्यक्षे.

हेतुत्वात् स्वप्रत्यक्षरूपां पदजन्योपस्थितिमादाय शाब्दबोधविषयतोपपत्तिरिति । यद्यप्यतिप्रसङ्गवारणाय वृत्तिजन्यपदोपस्थितिरेव हेतुस्तथाप्यत्राश्रयतया वृत्ति-
मत्त्वस्य सत्त्वानुपपत्तिः । निरूपकताश्रयतान्यतरसंबन्धेन वृत्तिमत एव
शाब्दबोधविषयत्वं कल्प्यत इत्यनवद्यम् । संबन्धस्योभयनिरूप्यत्वात् पदादर्थ-
स्येव तद्बोधकत्वेन स्वस्यापि ज्ञानसंभवाच्चेति । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।

तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥’ इति

‘विषयत्वमनादृत्य शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते’ । इति चेति ॥ २६ ॥

इति । हेतुत्वादिति । अयमुपस्थितेः पदजन्यत्वे हेतुः । अतिप्रसङ्गेति । समवायेन
घटादिशब्दजन्योपस्थितिविषयस्याकाशस्य घटोऽस्तीत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधविषयत्वाप-
त्तिवारणायेत्यर्थः । वृत्तिजन्यपदोपस्थितिरेव हेतुरिति सा च न प्रकृत इति न गवित्यय-
माहेति वाक्यजबोधविषयतानुकार्यस्य संभवतीति तात्पर्यम् । नन्वाश्रयतासंबन्धेन शक्ति-
रूपवृत्तिमत्त्वस्य सत्त्वेऽपि निरूपकतासंबन्धेनासत्त्वाच्छाब्दबोधविषयत्वानुपपत्तिस्तदवस्था
निरूपकतासंबन्धेन तत्सत्त्वस्यैव शाब्दभानप्रयोजकत्वादित्याशङ्क्याह—निरूपकतेति ।
वृत्तिमत एवेति । न तु निरूपकतया वृत्तिमत एवेत्यर्थः । कल्प्यत इति । अनुभ-
वानुरोधादौरोरवसत्त्वेऽपि तथाविधान्यतरसंबन्धेन तत्सत्त्वस्य शाब्दभानप्रयोजकत्वं कल्प्यत
इति भावः । उभयनिरूप्यत्वात् । उभयनिष्ठत्वात् । उभयस्पृगेव हि संबन्धः ।
अत एव जन्यजनकभावः संबन्ध इत्येवंरूप एव तार्किकादिवृद्धानां व्यवहारः । तद्बो-
धकत्वेन । अर्थबोधकत्वेन । एतेन बोध्यबोधकभावंसंबन्धतया शक्तिरित्यावेदितम् ।
शब्दस्यापि तदाश्रयत्वात् । एवं च शब्दस्यापि वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः सत्त्वान्न
भानानुपपत्तिरिति भावः । भेदपक्षे तु अर्थनिरूपितशक्त्याश्रयत्वमनुकार्य एव नानुकरण
इत्यनुकरणेनानुकार्योपस्थित्याद्यर्थं तत्र शक्त्यन्तरकल्पनावश्यकतीति भावः । ‘स्वं रूपं
शब्दस्य—’ इत्यादिसूत्रं प्रणयतः पाणिनेरप्ययमर्थः संमतः । त्वोक्तेऽर्थे ह्युक्तिं
प्रमाणयति—उक्तं चेति । तेजसः । दीपादेः । एते । ग्राह्यत्वग्राहकत्वशक्ती इत्यर्थः । अयं
भावः—द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्यालोकसंयोगो हेतुरिति निर्विवादम् । अन्यथान्धकारेऽपि
घटादिप्रत्यक्षापत्तेश्चक्षुसंयोगादशायाम् । तथा च यथा घटदीपाद्यालोकसंयोग एव घटवत्

१ यद्यतिप्रसङ्ग° P., D. २ तस्यापि A., D. ३ K. adds अवयवावयविभावः
before संबन्ध.

प्रसङ्गादनुकार्यानुकरणयोरभेदपक्षे साधकमाह—

अत एव गवित्याह भू सत्तायामितीदृशम् ।

न प्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तव स्मृतम् ॥

‘गवित्ययमाह’ ‘भू सत्तायाम्’ इत्येवमादयो यतोऽनुकरणशब्दा अनुकार्यान् भिद्यन्तेऽतस्तेषामर्थवत्त्वाद्यभावात् ‘अर्थवदधातुः—’ इत्याद्यप्रवृत्तौ न पदत्वं न वा प्रातिपदिकत्वम् । अथ च साधुत्वमित्युपपद्यते । अन्यथा ‘प्रत्ययः’ ‘परश्च’

स्वस्यापि प्रत्यक्षजनकस्तथार्थगोचरशब्दनिष्ठशक्तिसहकृत एव शब्दोऽर्थस्य स्वस्य च प्रत्यक्षजनकः । यथा च घटचक्षुःसंयोगासत्त्वे स एवालोकसंयोगः स्वमात्रविषयक-प्रत्यक्षजनकस्तथार्थे तात्पर्याभावे शब्दे च तात्पर्ये सति शब्दस्तद्वृत्त्यैव स्वबोधं जनयति । द्रव्यतेजोभेदनिवेशस्तु न गौरवात् प्रयोजनविरहाच्च । एवं च श्रोत्रादिभिरिति मूलेऽपि श्रोत्रमादिर्यस्येति व्युत्पत्त्या शक्तिज्ञानतत्संस्कारा गृह्यन्ते । श्रोत्रेणोपस्थिते शक्तिग्रहात् । एतेन गामुच्चारयेत्युक्ते विकृतस्यैव श्रोत्रोपस्थितत्वात् उच्चारणापत्तिः । शब्दस्याप्रकृत्यर्थत्वात् तत्र विभक्त्यर्थान्वयानुपपत्तिश्च स्वस्यैव प्रत्यक्षेण शीघ्रमुपस्थितत्वाद्गौरवस्तीत्यादावपि शब्दमात्रभानापत्तिरित्यादिदूषणाभासा निरस्ताः । तात्पर्यग्रहसाचिव्याद्वृत्त्यैवाविकृतस्यैव शाब्दादुपस्थितेः । अन्यथार्थपरत्वस्यैव न्याय्यत्वात् । तस्मादुक्ततात्पर्यनिर्णये सति शब्दस्यैव प्राधान्येन भानं तदसत्त्वे त्वर्थविशेषणत्वेनैवेति सिद्धमिति । विस्तरो बृहद्दूषणेऽनुसंधेयः । अत इत्यस्य व्याख्यानमाह—गवित्ययमित्यादिना । न भिद्यन्त इति । तत्त्वेन न विवक्ष्यन्ते । एवं चानुकरणशब्दानामार्थवत्त्वाभावेऽनुकार्याभेदविवक्षाहेतुः । अर्थवत्त्वादीत्यादिपदेन कृदन्तत्वादिसंग्रहः । इत्याद्यप्रवृत्ताविति । वृत्त्यार्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वाभावात् । साधुत्वमित्युपपद्यत इति । वक्ष्यमाणरीत्यासाधुत्वाभावे शिष्टप्रयोगादिना साधुत्वमक्षतमेवेत्यर्थः । नन्वभेदाभावेऽपि तस्य साधुत्वं कुतो नेत्याशङ्क्याह—अन्यथेति । ‘प्रत्ययः’ ‘परश्च’ इति । प्रत्ययविधौ पञ्चमीनिर्देशात् षष्ठ्यंशविकल्पायाः ‘तस्मादित्युत्तरस्य’ इति परिभाषायाः प्रवृत्त्यैव प्रत्ययस्य प्रकृतिपरत्वलाभे सिद्धे ‘परश्च’ इति सूत्रं नियमार्थं प्रत्ययपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति तदेतदभिप्रेत्यैव पठ्यते न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः प्रयोक्तव्य इति । तथा च नियमशास्त्राणां निषेधमुखेन प्रवृत्तिरिति पक्षे निषेधोल्लङ्घनं स्पष्टमेव विधिमुखेन प्रवृत्तिरिति भाष्यसिद्धान्ते त्वार्थकनिषेधोल्लङ्घनमिति बोध्यम् । अभेदपक्षे उक्तरीत्या

‘अपदं न प्रयुज्जीत’ इति निषेधादिलङ्घनादसाधुतापत्तिरित्यर्थः ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्रङ्गोजिमहात्मजकौण्डभट्टविरचिते वैयाकरणभूषणसारे
नामार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

प्रातिपदिकत्वाभावेन प्रत्ययविधावुद्देश्यतावच्छेदकान्तत्वरूपप्रकृतित्वाभावेन न केवलेति निषेधस्य पदत्वयोग्ये एव पदत्वरहिते पदं नेति निषेधप्रवृत्त्या द्वितीयनिषेधस्य चानवतार इति भावः । अभेदपक्षे वृत्त्या अर्थबोधकत्वेऽपि शक्तिविषयबोधकत्वाभावात् प्रातिपदिकत्वमिति बोध्यम् । परे तु सादृश्यमूलकाभेदविवक्षायां सादृश्यसंबन्धेनैवानुकरणे नानुकार्यमुपस्थाप्यते वृत्तिज्ञानस्यानुकरणाजन्यशाब्दत्वमेव कार्यतावच्छेदकमिति तथोपस्थितस्यापि शाब्दज्ञानविषयोपपत्तिः । एवं च वृत्त्यर्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वाभावात् प्रातिपदिकत्वं न । अपदं न प्रयुज्जीतेत्यत्रापदमपरिनिष्ठितमित्यर्थः । भू सत्तायामित्यादिनिर्देशात् परिनिष्ठितत्वम् । एवं चानुकरणस्यापरिनिष्ठितत्वाभावान्नोक्तनिषेधविषयत्वमित्याहुः । इमौ द्वौ पक्षौ जातिव्यक्तिपक्षवद् व्यवस्थितौ तेन ‘वार्तन्त्री पौर्णमास्यां कवतीषु रथन्तरं गायति’ इत्यादि श्रुतिप्रयोगाः ‘एरुः’ ‘एचोऽयवायावः’ ‘रषाभ्यां नोणः—’ इत्यादि सूत्रप्रयोगाश्चोपपन्नाः । अभेदपक्षस्यैवाङ्गीकारे सुबन्तात्तद्विदोत्पत्त्युपायकवतीष्वित्युक्तश्रुतिप्रयोगानुपपत्तिः स्यात् । एवं सूत्रप्रयोगानुपपत्तिरपि स्पष्टैव । व्यवस्थितपक्षद्वयाश्रयणे सर्वेष्टसिद्धिः ॥

इति वैयाकरणभूषणसारव्याख्याने नामार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

१ निषेधातिलङ्घना° A., D., D₃. २ P. and D₃ drop श्रीमद्; D₃ drops रङ्गोजि-विरचिते. ३ °कोण्ड° A., D., D₁, D₃. ४ कृते for विरचिते A., D., D₃. D₁ has कृतवैया°. ५ श्रीवैया° D₃. ६ D₁ drops समाप्तः. ७ घटत्व° A. ८ बान° A.

समासशक्तिनिर्णयः ।

समासान् विभजते—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा ।

सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ॥ २८ ॥

सुपां सुपा पदद्वयमपि सुबन्तम् । राजपुरुष इत्यादि । सुपां तिङा ।

समासानिति । समासत्वं च पाणिन्यादिसंकेतसंबन्धेन समासपदवत्त्वम् । समास-
पदेन घटादिबोद्धव्य इत्याकारकपुरुषान्तरीयसंकेतसंबन्धेन समासपदवत्त्वस्य घटादावति-
व्याप्तिः स्यादिति पाणिन्यादीति । व्याकरणप्रणेतृमुनीत्यर्थः । तथाविधस्य पुरुषस्य
तथाविधसंकेतः स तु न मानाभावात् । तेषामन्यत्र व्यवहाराभावादन्याभियुक्तानां
व्यवहाराभावाच्च । अत एव यत्किञ्चित्पुरुषीयसंकेतसंबन्धेन घटादिपदवत्त्वं न समासत्वम् ।
अभियुक्तानां तथाव्यवहाराभावात् । अर्थबोधफलकविभक्त्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वप्रकारक-
ज्ञानाविषयपूर्वपदवटितनामसमुदायत्वं समासत्वम् । राजपुरुष इत्यादावपि राजादिशब्दे
कस्यचित् पुंसो विभक्त्यनुसंधानसत्त्वेऽपि तस्यार्थबोधफलकत्वाभावात्तसंबन्धोऽव्याप्तिर्वा
दधिसुन्दरमस्त्यानयेत्यादौ न तद्विभक्त्यनुसंधानसत्त्वे एव शाब्दबोधोपगमात् तत्रातिप्रसङ्गः ।
समासस्थले तु पूर्वपदे विभक्त्यनुसंधानं विनैव तदुपगमात्त दोष इति तु न युक्तम् ।
दधि सुन्दरमित्यादौ विभक्तिपदमजानतोऽपि बोधोदयात् तत्रातिव्याप्तेः । ननु
विभक्त्यनुसंधानं विना बोधानङ्गीकारेण नातिव्याप्तिरिति चेन्न । विनिगमनाविरहेण
समासेऽपि तथा वक्तुं शक्यतयासंभवापत्तेः । न च समासे पदयोर्व्यवहितपूर्वापरीभाव-
स्याकाङ्क्षात्वेन तज्ज्ञानस्य शाब्दबोधे हेतुतया विभक्त्यनुसंधानं विनैव बोधोपगम
उचितः । असमासे तु प्रातिपदिकस्य विभक्त्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वप्रकारकज्ञानविषयस्यै-
वाकाङ्क्षात्वेन तत्र विभक्त्यनुसंधानमावश्यकमिति वाच्यम् । अल्लक्समासे व्यभिचारेण
तथाविधव्यवहितपूर्वापरीभावज्ञानस्य हेतुत्वासंभवात् । न च तत्र दास्याः पुत्रेत्यादि-
समुदायस्यैवाकाङ्क्षात्वाच्च दोष इति वाच्यम् । एवमपि दास्याः पुत्रः कण्ठेकाल इत्यल्लक्-
समासेऽव्याप्तेः । समुदायघटकविभक्तिज्ञानस्यापि बोधजनकत्वात् । अर्थोपस्थितिद्वारा
बोधजनकत्वं तत्र निवेद्यमतो न तत्राव्याप्तिः । तथा विभक्त्यर्थोपस्थापकत्वाभावात् ।
अत एव गोषु चर इत्यत्र बहुवचनसत्त्वेऽपि बहुत्वबोधो न । स्पष्टं चेदं समर्थसूत्रभाष्ये

इति चेदेवमपि पर्यभूषत् पचंतभृज्जतेत्यादावव्याप्तिर्दुर्वारैव । अलक्ष्यत्वेन परिहारस्तु
 नोचित इति दिगिति वदन्ति । अन्ये तु तार्किका यादृशमहावाक्योत्तरस्त्वतलादिप्रत्ययो
 यादृशार्थविषयतानिरूपितस्वार्थविषयताशालिबोधजनकस्तादृशवाक्ये तादृशार्थ समासः ।
 तादृशार्थबोधकतादृशवाक्यत्वं समासत्वमिति यावत् । भवति हि कृष्णश्रित इत्यादौ
 तदुत्तरत्वादिप्रत्ययेन पूर्वपदार्थविशिष्टोत्तरपदार्थान्वितस्वार्थबोधजनमात् पाचकादिकं पाक-
 क्रियाकर्त्रर्थवाक्यमपि स्वघटकानेकनामलभ्यतादृशार्थप्रतिपादकत्वरूपमहत्वाभावात् महा-
 वाक्यमिति न तत्रातिप्रसङ्गः । ननूपकुम्भादावव्याप्तिः । कुम्भपदस्यैव लक्षणया कुम्भ-
 समीपार्थकत्वादिति चेन्न । प्रकृत्यर्थमात्रावच्छिन्नप्रत्ययार्थान्वयबोधायोभ्यत्वरूपमहत्त्वस्य
 निवेशात् । अत एव नीलघटत्वमित्यत्र नीलघटत्वमिति भागे नातिप्रसङ्गः । उक्तमहा-
 वाक्यत्वाभावात् । न च मात्रपदानर्थक्यं क्षीरशायिहरित्रात इत्यादावव्याप्तिप्रसङ्गात् ।
 तस्य प्रकृतिभूतधात्वर्थविशिष्टाणिन्यादिरूपकृदर्थविषयकबोधजनकत्वेऽपि न प्रकृत्यर्थमात्र-
 विशिष्टकृदर्थबोधहेतुत्वमपि तु क्षीराद्यन्वितपानादिविशिष्टकृदर्थकर्त्रादिबोधजनकत्वमिति
 सत्त्वे नातिप्रसङ्गः । राज्ञः पुरुषत्वमित्यादितो राजन्येव पुरुषभावः प्रतीयते न तु राज-
 संबन्धाद्यन्वितपुरुषे त्वप्रत्ययार्थः । एवं तव पुत्रत्वमेष्ट्यामीत्यादावपि पुत्रवृत्तिभावे युष्मदर्थ-
 निरूपितत्वस्य षष्ठ्यन्तार्थस्यान्वयस्तद्धितानां प्रकृत्यर्थमात्रान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः ।
 अत्र त्वादिसंस्थाने प्रत्ययमात्रस्य तद्धितमात्रस्य वा निवेशे राज्ञः पुत्रीय इत्यादौ राजसं-
 बन्धविशिष्टपुत्रस्यैव लप्रत्ययार्थेऽन्वयाद् राज्ञः पुत्रेति भागेऽतिप्रसङ्ग इति विशिष्य त्वाद्यु-
 पादानं नित्यसापेक्षतया एकादेशान्वयेऽपि बाधकाभावात् तद्धितानां प्रकृत्यर्थेति व्युत्पत्ति-
 स्तद्धितविशेषपरत्वेन संकोचनीया । अत एव परमगार्ग्यस्यापत्यमित्यर्थे व्युत्पत्तिस्तद्धित-
 विशेषपरत्वेन संकोचनीया अत एव परमगार्ग्यस्यापत्यमित्यर्थे गार्ग्यशब्दात् फगिति
 'येन विधिः—' इति सूत्रस्थभाष्यसंगतिः । अन्यथा प्रकृत्यर्थातिरिक्तपरमान्वितप्रकृत्यर्था-
 न्वितस्वार्थबोधकत्वादसंगतिः स्पष्टैव ससंबन्धिकायातिरिक्तप्रकृत्यर्थपरा वा । यदि तत्र
 राजसंबन्धस्य परंपरया प्रकृत्यर्थविशिष्टप्रत्ययार्थ एवान्वयस्तदा तद्धितसामान्योपादानेऽपि
 न क्षतिरिति बोध्यम् । राज्ञः पुरुषस्य धनमित्यत्र राजसंबन्धान्वितपुरुषस्य षष्ठ्यर्थस्वा-
 मित्वादावन्वयाद्वाः पुरुषेति भागेऽतिप्रसङ्ग इति प्रत्ययसामान्योपेक्षेत्याहुः । अत्र पक्षे
 पिबतस्वादतापचतभृज्जतेत्यादावव्याप्तिविरहेऽपि दासीसंबन्धस्य षष्ठ्यन्तार्थस्य दास्याः
 पुत्रत्वमित्यत्र पुत्रान्वितत्वप्रत्ययार्थे एवान्वयात् न तु पुत्रपदार्थे । अत एव राज्ञः पुत्रत्व-
 मित्येतद्धटके राज्ञः पुत्रेति भागेऽतिप्रसङ्गो निराकृतः । व्यस्ते एव तथान्वय इत्यत्र निया-
 मकाभावः । प्रदायेत्यादेः क्रियायामेवान्वयात्ततः पर्यभूषदित्यादेशे त्वाद्यभावात्तत्रोक्तल-
 क्षणनयनासंभवात् तदर्थस्य प्रथमार्थेनैवान्वयात् तस्य प्रातिपदिकत्वेऽपि षष्ठ्यन्तत्ववि-

पूर्वपदं सुबन्तमुत्तरपदं तिङन्तम् । पर्यभूषत् । अनुव्यचलत् । 'गतिमतोदात्त-
वता तिङापि समासः' इति वार्तिकात् समासः । सुपां नाम्ना । कुम्भकार
इत्यादि । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । स च 'गतिकारकोपपदानां कृद्धिः
समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषया भवति सुबुत्पत्तेः प्राक् । अत्रो-
त्तरपदे सुबुत्पत्तेः प्रागित्यर्थात् । अन्यथा चर्मक्रीतीत्यादौ नलोपानापत्तेः ।

रहात् तदुत्तरविभक्तेर्निरर्थकत्वाच्च । एतेषामलक्ष्यत्वेन परिहारस्तु न चमत्कारी
प्रदायप्रस्थाय अनुव्यचलन् पर्यभूषदित्यादावव्याप्तिरिति वदन्त्यपरे इति कृतं
पक्षवितेन । पदद्वयमपीति । अपिना पदत्रयादिपरिग्रहः । तेन ब्रह्म-
जातः चित्राजरद्भुः होतृपोतृनेष्टोद्गातार इत्यादिसमासस्य नासंग्रहः । तथा चानेकसुबन्तध-
टितत्वं विभाजकतावच्छेदकमिति भावः । राजेति । 'उपपदमतिङ्' इति सूत्रभाष्य-
प्रामाण्याद् 'द्वितीयाश्रित-' इत्यादावपि 'गतिकारकोपपदानाम्-' इति परिभाषाप्रवृत्त्या-
नेकसुबन्तत्वात् प्रथमोपस्थितेत्यादिन्यायस्य निजां त्रयाणामित्यत्र त्रिग्रहणादत्र
शास्त्रेऽनाश्रयणात् प्रसिद्धतमत्वाच्च कृष्णश्रितादीनपहाय राजपुरुष इत्यस्य प्रदर्शनमिति
बोध्यम् । पर्यभूषदिति । देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषदिति ऋक्संहितायाम् । अत्र
'सह-' इति योगविभागात् समासः । अत्र 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वं बाधित्वा
तत्पुरुषे तुन्यार्थ-' इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते तदपवादेन 'गतिकारकोप-' इति
सूत्रेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरेणाट्स्वरस्यावस्थानं भवति । वार्तिककारेण तत्रत्यकृद्ग्रहणस्य प्रत्या-
ख्यानात् । नन्वत्र समासस्य 'सह-' इति योगविभागेन भाष्ये साधनेन तत्पुरुषत्वाभा-
वेन तत्पुरुषे विधीयमानस्वरस्य कथमत्र प्रवृत्तिश्चेदत्राहुः । 'नित्यं क्रीडा-' इति सूत्रे
'नित्यम्-' इति योगविभागेन भाष्येऽत्र समासस्य स्त्रीकारान्नोक्तदोष इति 'यत्रा नरो
देवयन्तो युगानि वितन्वते' इत्यादौ तु त्रिचक्रादित्वकल्पनेनान्तोदात्तत्वं बोध्यम् । तत्र
कृद्ग्रहणाभावे प्रभवन्मित्यादावेव क्रियाप्रधाने स्यान्न तु प्रणीरित्यादाविति कृद्ग्रहणं कृन्मा-
त्रपरिग्रहार्थं कर्तव्यमेवेति । सिद्धान्तपक्षे तु बाहुलकादेव पर्यभूषदित्यादावुत्तरपदाद्युदात्तत्वं
बोध्यमिति कैयटोद्यातादौ विस्तरोऽनुसंधेयः । ननु भाष्ये तिङ्ग्रहणात् सुप् सुप्तेत्युभ-
योरपि निवृत्तेरुक्ततया सुपां नाम्नेत्यसंगतं पदद्वयेऽपि सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासप्रवृत्तेरित्या-
शङ्कापनोदायाह-अत्रोत्तरपदे इति । इत्यर्थादिति । अस्य सुपां नाम्नेति नासंगतमिति

१ पूर्व पदं P., A. २ पर्यभूषयत् A. ३ कृद्धिः सह समासं D_३. ४ सुबन्तत्व-
घटितत्वात् K.

सुपां धातुना । उत्तरपदं धातुमात्रं न सुसिङन्तम् । कटप्रूः । आयतस्तूः ।
 'क्विवचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रुश्रीणां दीर्घश्च' इति वार्तिकात् । तिङां तिङा ।
 पिबतखादता पचतभृजतेत्यादिः । 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' इति
 मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणसूत्रात् । तिङां सुबन्तेन । पूर्वपदं तिङन्तमुत्तरं
 सुबन्तम् । जहिस्तम्बः । 'जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति'
 इति मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणसूत्रात् । अयं षड्विधोऽपि समासः 'सह सुपा'
 इत्यत्र योगविभागेन भाष्ये व्युत्पादितः स्पष्टः शब्दकौस्तुभादौ ॥ २८ ॥

शेषः । अतिङ्ग्रहणात् तृतीयान्तं सुपेत्येतदेव नानुवर्तते प्रथमान्तं सुबिति त्वनुवर्तते एव ।
 भाष्यं तु समुदायाननुवृत्तितात्पर्यकम् । एकानुवृत्तावपि उभयानुवृत्तेरभावस्याक्षतत्वान्न
 तात्पर्यानुपपत्तिः । अथवा सुबित्यनुवृत्त्यैवैधानाहारको ब्रजतीत्यादेर्व्यावृत्तिसिद्धावतिङ्ग्रह-
 णादुभयोरपि निवृत्तिर्भाष्योक्ता यथाश्रुतैवास्तु । एवमप्युपपदमिति महासंज्ञाकरणादुप
 समीपे उच्चारितं पदमित्यन्वर्थताश्रयणात् पूर्वपदे सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समासः । 'सुव्य-
 जातौ-' इति णिनेः सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव संभवेन तं त्रिनोपपदत्वाभावेनादोषाच्च । निर्गत
 इत्यादावपि न दोषः शब्दान्तरसंबन्धात् पूर्वमन्तरङ्गत्वात् सुबुत्पत्तौ लुकि च पदत्वोत्तरमेव
 पदान्तरसंबन्धादिति भावः । उक्तव्याख्यायाः प्रयोजनमाह-अन्यथेति । अन्यथा
 पूर्वपदेऽपि सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासप्रवृत्तौ । न लोपानापत्तेरिति । पदत्वाभावात् ।
 कटप्रूरिति । कटं प्रवत इति कटप्रूः । प्रूङ् गतावित्यस्मात् कर्तरि क्प् । आयत-
 स्तूरिति । आयतं स्तौतीत्यर्थः । उभयत्रापि 'क्विवचि-' इति धातोर्दीर्घः । वार्ति-
 कादिति । वार्तिके निपातनात् समासः । पिबतेति । पिबतखादतेति सततं यस्यां
 क्रियायामभिधीयते सा पिबतखादतेत्यर्थः । आख्यातमिति । क्रियायाः सातत्ये
 नैरन्तर्ये गम्ये तिङन्तं तिङन्तेन समस्यते इत्यर्थः । सूत्रादिति । अत्र समास इत्यनु-
 षज्यते । जहिस्तम्ब इति । स्तम्बाघातकर्ता समासार्थः । जहिकर्मणेति । जही-
 त्येतत् तिङन्तं कर्मार्थकसुबन्तेन समस्यते आभीक्ष्ण्ये गम्ये कर्त्रभिप्रायकश्चेत्
 समासस्तदेत्यर्थः ॥ २८ ॥

स्वयं भाष्यादिसिद्धं तद्भेदं व्युत्पाद्य प्राचीनवैयाकरणोक्तविभागस्याव्याप्त्य-
तिव्याप्त्यादिभिस्तल्लक्षणस्य प्राधिकत्वं च दर्शयति—

समासस्तु चतुर्थेति प्रायोवादस्तथा परः ।

योऽयं पूर्वपदार्थादिप्राधान्यविषयः स च ॥

भौतपूर्व्यात् सोऽपि रेखागवयादिवदास्थितः ॥ २९ ॥

चतुर्था । अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहिभेदात् । अयं प्रायोवादः । भूतपूर्वः
द्वन्द्वः काराभूः आयतस्तुः वागर्थ्याविवेत्याद्यसंग्रहात् । तथा पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्य-
यीभावः उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः अन्यपदार्थप्रधानो
बहुव्रीहिः इत्यादिलक्षणमपि प्रायिकम् । उन्मत्तगङ्गं सूत्रप्रति अर्धपिप्पली द्वित्राः
शशकुशपलाशमित्यादौ परस्परव्यभिचारात् । तथा हि उन्मत्तगङ्गमित्यव्ययीभावे
पूर्वपदार्थप्राधान्याभावादव्याप्तिः । अन्यपदार्थप्राधान्याद्बहुव्रीहिलक्षणातिव्या-
प्तिश्च । ‘अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्’ इति समासात् । सूत्रप्रतीत्यव्ययीभाव

तद्भेदं समासभेदम् । मूले योऽयं पृथ्वेति पूर्वपदार्थप्राधान्यादिविषयो वादः ।
पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव इत्यादिवादः । सोऽपि प्रायोवादः । प्रायिक इत्यर्थः ।
प्राचीनोक्तविभागस्य प्राधिकत्वे हेतुमाह—भूतपूर्व इत्यादिना । असंग्रहादिति । तेषां
समासानामव्ययीभावादिसंज्ञाविनिर्मुक्तत्वात् । तत्र भूतपूर्व इत्यत्र ‘सुप् सुपा’ इति
आयतस्तुस्तित्र ‘क्विप्क्वि-’ इति वार्तिके निपातनात् वागर्थ्याविवेत्यत्र ‘इवेन
समासः—’ इति समासः । पूर्वपदार्थेति । पूर्वपदार्थः प्रधानं यत्रेत्यर्थः । तथा च
पूर्वपदार्थनिष्ठमुख्यविशेष्यताकबोधजनकोऽव्ययीभाव इति पर्यवसितोऽर्थः । तेन राजपुरुष
इत्यादावपि राजत्वादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितराजादिनिष्ठविशेष्यताकबोधजनकत्वेऽपि न
तत्रातिव्याप्तिः । राजादौ तज्जन्यबोधीयमुख्यविशेष्यताविरहात् । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ।
उपकुम्भमित्याद्यव्ययीभावस्य कुम्भसमीपमित्याकारकस्य पूर्वपदार्थमुख्यविशेष्यताकबोधस्य
जनकत्वाल्लक्षणसंगतिः । उभयपदार्थेति । अनेकपदार्थप्रधान इत्यर्थः । तेन आदिपद-
घटितसमासस्य नासंग्रहः । परस्परेति । परस्परस्य व्यभिचारात् । लक्षणलक्षिता-
वच्छेदकयोः परस्पराभाववद्वर्तित्वादित्यर्थः । व्यभिचारं प्रदर्शयति । तथा हीति ।
अव्याप्तिरिति । अव्ययीभावलक्षणस्याव्याप्तिः । अन्यपदार्थप्राधान्ये गमकमाह—
‘अन्यपदार्थे च’ इति । समासादिति । अयमन्यपदार्थप्राधान्ये हेतुः ।

उत्तरपदार्थप्राधान्यात्तत्पुरुषलक्षणातिव्याप्तिरव्ययीभावाव्याप्तिश्च । 'सुप् प्रतिना मात्रार्थे' इति समासः । अर्धपिप्पलीति तत्पुरुषे पूर्वपदार्थप्राधान्यसत्त्वादव्ययीभावातिव्याप्तिस्तत्पुरुषाव्याप्तिश्च । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासात् । एवं पूर्वकाय इत्यादौ द्रष्टव्यम् । द्वित्रा इति बहुव्रीहावुभयपदार्थप्राधान्याद्

उत्तरपदार्थप्राधान्यसत्त्वादिति । सुप्संबन्धिलेश इत्याकारकोत्तरपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वादित्यर्थः । नन्वव्ययीभावसमासविधायकेऽव्ययस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात् कथमत्राव्ययस्योत्तरपदत्वमित्यत आह— 'सुप् प्रतिना' इति । पूर्वपदार्थेति । पिप्पलीसंबन्धवर्धमिति ततो बोधोदयात् । भाष्यकारैस्तु समुदाये दृष्टा इति न्यायेन पिप्पलीकायादिशब्दानां पिप्पल्याद्यवयवपरतयार्थपिप्पलीपूर्वकायइत्यादिः कर्मधारय एव भवति । एवं च 'अर्धं नपुंसकम्' इत्यादि सूत्रभयं न कर्तव्यमत एवोर्ध्वकायादिसिद्धान्तितं तन्मते तत्रोत्तरपदार्थप्राधान्यसत्त्वेन व्यभिचाराभावेऽन्यो राजेत्यर्थकराजान्तरमित्यत्र पूर्वपदार्थप्राधान्यबोधजनके मयूरव्यंसकादिसमासे सर्वमते व्यभिचारो द्रष्टव्यः । भिन्नवाचिनोऽन्तरशब्दस्य नपुंसकतया समासस्य मयूरव्यंसकादिगणे निपातनात् 'परवलिङ्गम्—' इति सूत्रे भाष्ये अर्धपिप्पलीत्यादेस्तत्पुरुषोदाहरणस्य कर्मधारयत्वोपगमेनोत्तरपदार्थप्राधान्यमाश्रित्यान्यथासिद्धिं हत्वा तत्रत्यतत्पुरुषग्रहणप्रत्याख्याननेन कथमत्र परवलिङ्गतेति दूषणं निरस्तम् । अत्र पूर्वपदार्थतावच्छेदकधर्माश्रययुद्धिस्थयत्किञ्चित्प्रतियोगिकत्वं व्युत्पत्तिबललभ्यम् । एवं नृसोमः प्रसन्नेन दृगञ्जेनेत्यादावपि व्यभिचारो द्रष्टव्यः । दृगञ्जेनेत्यादौ मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । तत एव परवलिङ्गता पूर्वपदार्थप्रधानता च । राजान्तरमिति तद्विहितसमासे तस्यादृष्टत्वात् । सामान्यत्राचक्रप्रयोगात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इति समासस्तु नात्र पदमादधाति । उपात्तधर्म एव सादृश्यप्रयोजकस्तदुपादान इत्यर्थस्य काव्यप्रकाशे दशमे स्फुटत्वादनुपात्तधर्मेणैवात्र सादृश्यमिति न युक्तम् । पुरेन्दुः सकल इत्यादावनुपात्तधर्मेण सादृश्यासंभवाच्च । किं चेदं सूत्रं समानलिङ्गवचनत्व एव प्रवर्तते । अन्यथा 'परवलिङ्गम्—' इति सूत्रे 'तत्पुरुषश्चापि कः प्रयोजयति । यः पूर्वपदार्थप्रधानः । एकदेशिसमासः । अर्धपिप्पलीति ।' इति भाष्यस्य द्वन्द्वैकदेशिनोरिति न्यासेन तत्पुरुषग्रहणप्रत्याख्यानपरभाष्यस्य चासंगत्यापत्तेः । दृगञ्जेनेत्यादेरपि पूर्वपदार्थप्रधानस्य दृश्यमानपरवलिङ्गस्य सत्त्वात् । सुखचन्द्र इत्यादावप्यनेनैव तस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वाच्चन्द्ररूपकव्यवहारः परवलिङ्गता च तत एवेति मञ्जूषायां स्पष्टम् । उभयपदार्थप्राधान्यादिति । द्वित्रा इत्यतो द्विव्यन्यतर इति बोधोत्पत्तेः । द्वन्द्वातिव्या-

द्वन्द्वातिव्यासिवहुव्रीह्यव्यासिश्च । शशकुशपलाशमित्यादिद्वन्द्वे समाहारान्यपदार्थप्राधान्याद् बहुव्रीह्यतिव्यासिर्द्वन्द्वाव्यासिश्च स्यादिति भावः । सिद्धान्ते त्वव्ययीभावाधिकारपठितत्वमव्ययीभावत्वमित्यादि द्रष्टव्यम् । असंभवश्चैवामित्याह— भौतपूर्व्यादित्यादि । रेखागवयादिनिष्ठलाङ्गलादेर्वास्तवपञ्चलक्षणत्ववदेतेषामपि न समासलक्षणत्वम् । बोधकता तु तद्वदेव स्यादिति भावः ॥ २९ ॥

तिरिति तल्लक्षणातिव्याप्तिरित्यर्थः । एवमप्रेषि । समाहारान्येति । समाहाररूपो योऽन्यपदार्थस्तत्प्राधान्यादित्यर्थः । द्वन्द्वाव्यासिश्चेति । धवखदिरावित्यादीतरेतरयोगे उभयपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वादिसंभवो नेति भावः । वस्तुतस्तु 'चार्थे द्वन्द्वः' इति सूत्रभाष्यपर्यालोचनयेतरेतरयोगेऽपि बहुव्रीहावन्यपदार्थस्य चार्थसमूहस्यैव प्राधान्यं लभ्यते तत्रैव हि चार्थस्यासत्त्वभूततया तत्प्रतिपादकसमासस्याप्यलिङ्गासंख्यतापत्तिमाशङ्क्य स्वभावेन परिहारं कृत्वा गुणवचनवयवद्रव्याश्रितः समासार्थस्तद्व्यलिङ्गसंख्याग्राहक इति च समाधानमुक्तम् । अत एवेदं भाष्यं न समाहारद्वन्द्वपरं तस्य तदग्राहिवाभावात् । तत्रेतेतरयोग उद्भूतावयवभेदः समूहः । समाहारद्वन्द्वे त्वनुद्भूतावयवः स इति विशेषः । उद्भूतावयवभेदत्वमवयवगतारोपितसंख्यावत्त्वमवयवगतसंख्यानारोपेणुद्भूतावयवभेदत्वमिदमेव तिरोहितावयवभेदत्वमित्याद्यन्यत्र विस्तरः । एतन्मते तूक्तलक्षणासंभवो बहुव्रीहिलक्षणातिव्याप्तिश्च द्वन्द्वे बोध्या । एवं प्राचीनोक्तानां पूर्वपदार्थप्रधान इत्यादीनामव्ययीभावादिलक्षणवत्त्वं दूषयित्वा सिद्धान्तिमते तल्लक्षणाग्राह—सिद्धान्ते त्विति । अव्ययीभावाधिकारेति । अव्ययीभावाधिकारान्तर्गतलक्षणविहितसमासत्वमित्यर्थः । तेनोपकुम्भादेस्तदैधिकारे पाठाभावेऽपि न क्षतिः । तत्तदधिकारपठितादेशादौ नातिव्याप्तिः । तेषां समासत्वाभावात् । समासत्वं प्रागुक्तमेवेति न दोषः । परे तु पाणिन्यादिसंकेतसंबन्धेनाव्ययीभावादपदवत्त्वमेव तत्तल्लक्षणमिति प्रतिपन्नाः । अव्ययीभावादिव्यवहारविषयत्वं न तल्लक्षणमित्यपरे जगुः । भौतपूर्व्यादिति मूले । पूर्वं भूतं भूतपूर्वं भूतपूर्वमेव भौतपूर्व्यं 'स्वार्थे ष्यञ्' । वृत्तेः पूर्वकाले भूतं यत् पूर्वपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वं तस्माद्वेतोः सोऽप्युत्सर्गोऽपि गवयादिवदास्थितः स्वीकृत इत्यर्थः । भौतपूर्व्यादित्यनेनोक्तिसंभव उक्तः । न समासलक्षणत्वमिति । रेखागवयादिनिष्ठलाङ्गलादेर्वास्तवपशुगतत्वाभावाच्च वास्तवपशुलक्षणत्वं यथा तथा तादृशतादृशबोधजनकत्वस्य तत्तत्समासनिष्ठत्वाभावाच्च तत्तत्समासलक्षणत्वं तत्र विशिष्टशक्तिस्वीकारेणावयवानां नैरर्थक्यादिति भावः । बोधकता तद्वदेवेति । रेखागवयादिनिष्ठलाङ्गलादेर्वयथा

ननु पूर्वपदार्थप्राधान्यादि समासे सुवचम् । तथा हि 'समर्थः पदविधिः'
इति सूत्रे भाष्यकारैरनेकयोक्तेष्वपि पक्षेषु जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थपक्षयोरेवैकार्थी-
भावव्यपेक्षारूपयोः पर्यवसानं लभ्यते । तत्राजहत्स्वार्थपक्ष उक्तव्यवस्था नासंभ-
विनीत्याशङ्कां मनसि कृत्याह—

जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे द्वे वृत्ती ते पुनस्त्रिधा ।

भेदः संसर्ग उभयं वेति वाच्यव्यवस्थितेः ॥ ३० ॥

जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा जहत्स्वार्था । पदे वर्णवद्वृत्तौ पदानामानर्थ-
क्यमित्यर्थः । अयं भावः । समासशक्त्यैव राजविशिष्टपुरुषभानसंभवे न राजपुरुष-

सादृश्येन पशुनिष्ठलाङ्गलादिवोधनद्वारा वास्तवपशुबोधकत्वं तथा वृत्तेः प्राक् तत्तत्पदार्थत्वं
यत्र दृष्टं तत्तदर्थविशेष्यकबोधजनकतया तत्तदाश्रये तत्तत्समासबोधकत्वमिति भावः ॥ २९ ॥

सुवचमिति । तथा च प्राचीनोक्तानि लक्षणानि न दुरुक्तिकानि संभवन्तीति भावः ।
जहत्स्वार्थेति । जहत्स्वार्थत्वमेवैकार्थीभावः । अजहत्स्वार्थत्वमेव व्यपेक्षेति भावः ।
एकार्थीभावपक्षे समुदायशक्त्यैव विशिष्टार्थोपस्थितिसंभवेऽव्यया न स्वार्थोपस्थितिं कुर्वन्ति
वैयर्थ्यात् । अजहत्स्वार्थतां विना परस्परसन्वयाकाङ्क्षारूपव्यपेक्षाया असंभवात्त्वपेक्षा-
पक्षेऽव्ययाः स्वार्थोपस्थापका एवेति भावः । **उक्तव्यवस्थेति ।** पूर्वपदार्थप्राधान्योऽव्ययी-
भाव इत्यादिव्यवस्थेत्यर्थः । **नासंभविनीति ।** उपकुम्भमित्याद्यव्ययीभावादौ तस्य
संभवात् । यथा सूपप्रतीत्यादावव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपदोषसत्त्वेऽपि समनन्तरमभिहितोऽसं-
भवोऽसंभवीत्यर्थः । **जहति पदानीति ।** 'सप्तमी विशेषणे—' इति सूत्रे सप्तमीग्रहणा-
ज्ज्ञापकाद्व्यधिकरणानामपि पदानां क्वचिद्बहुव्रीहिर्भवतीति भावः । जहति स्वानि वृत्ति-
घटकीभूतपदानि यं जहत्स्वस्तादृशोऽर्थो यस्यामिति समानाधिकरणपदकोऽपि संभवतीति
परे । **वृत्तौ पदानामानर्थक्यमिति ।** उक्तपदघटकवर्णानामिव वृत्तिघटकपदाना-
मानर्थक्यानङ्गीकारे पदघटकवर्णानामप्यानर्थक्यं न स्यादिति भावः । ननु पदघटकव-
र्णानां कुत्राप्यर्थबोधकतयानर्थक्येऽपि राजादिपदानां वाक्येऽर्थबोधकतया समासे वाक्य-
द्वयार्थबोधोत्पादेन च न नैरर्थक्यसंभव इत्याशङ्क्याह—**अयं भाव इति । राजवि-**
शिष्टेति । स्वामित्वादिसंबन्धेन राजविशिष्टपुरुषेत्यर्थः । राज्ञः पुरुष इत्यत्रापि संबन्धस्य
संसर्गत्यैव भानाद्वृत्तिवाक्ययोः समानार्थत्वनिर्वाहः । वाक्यजबोधे संबन्धस्य प्रकार-
त्वोपगमे तु राजपुरुषादिसमुदायस्य राजसंबन्धविशिष्टपुरुषबोधकत्वमङ्गीकार्यम् । **संभवे ।**

पदयोरपि पुनस्तद्वोधकत्वं कल्प्यं वृषभयावकादिपदेषु वृषादिपदानामिव । अन्यथा राजपदेन विग्रहवाक्य इव राज्ञः स्वातन्त्र्येणोपस्थितिसत्त्वाद्दृश्य राज्ञः पुरुषः इत्यत्रेव ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यस्याप्यापत्तेरिति । अजहदिति । न जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा अजहत्स्वार्था । अयमभिप्रायः-राजपुरुषादि-समासादौ नातिरिक्ता शक्तिः । कल्पकाभावात् । कृतसराजादिपदादेवार्थोपस्थिति-संभवे तत्कल्पनस्य गौरवपराहतत्वाच्च । कृतशक्तित्यागोऽप्यप्रामाणिकः कल्प्येत ।

संभवे सति । तद्वोधकत्वम् । राजादिवोधकत्वम् । कल्प्यमिति । न कल्प्यमित्यन्वयः । निष्प्रयोजनत्वात् बोधावृत्तिप्रसङ्गाच्चेति भावः । ननु संभेदेनान्यतरवैयर्थ्यमिति न्यायेन द्वावपूषाविव न बोधावृत्तिप्रसङ्गः । तथा च वृत्तिघटकपदानामर्थबोधकत्वे न किंचिद्वाधक-मित्यत आह-वृषभेति । वृषशब्दस्य वृषभसमानार्थकत्वेऽपि वृषभशब्दघटकस्य तस्य न तद्वोधकत्वमित्यनुभवसिद्धमेवं यावकघटकयावशब्दस्य । तथा च शक्ततावच्छेदकाननुप्र-विष्टाया एवानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वमित्यवश्यमङ्गीकार्यम् । तथा च कथं वृत्तिघटक-पदानां बोधकत्वसंभव इति भावः । ननु वृषवृषभादिशब्दानां पर्यायतया वृषभशब्दघट-कवृषशब्दस्य बोधकत्वाभावेऽपि राजपुरुषशब्दयोः समानार्थत्वाभावात् समासघटकराजा-दिपदस्य नैरर्थक्ये साधकाभावः । एकार्थस्थल एव शक्ततावच्छेदकाघटकेत्यादिनियम इति प्रकृते न दोषः । किं च योगेरूढे पङ्कजादिशब्दे शक्ततावच्छेदकसमुदायनिष्ठानुपूर्व्य-नुप्रतिष्ठाया अवयवानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकतया तथा नियमासंभवश्च । एवं च समासे नायं नियमः किं तु समासे एवेत्याशङ्क्यावयवानां बोधकत्वे बाधकमाह-राजपदे-नेति । अन्यथा । समासाद्यवयवस्य स्वार्थबोधकत्वे । इत्यस्याप्यापत्तिरिति । जहत्स्वार्थत्वे तु राजाद्यर्थस्य पुरुषादिविशेषणतयैवोपस्थित्या न दोषः । न जहतीति । इदं शत्रन्तप्रकृतिकजसन्तम् । अत्रापि न जहति स्वानि यान् तेऽजहत्स्वास्तादृशा अर्था यस्यामिति बहुव्रीहिर्गर्भो बहुव्रीहिविर्बोध्यः । ननु समुदायशक्त्यैव राजादिविशिष्टपुरुषा-दिवोधसंभवेऽवयवानां पूर्वोक्तरीत्या न स्वार्थोपस्थापकत्वं संभवतीत्यजहत्स्वार्थत्वप-क्षोऽसंभवदुक्तिक इत्याशङ्कां निराकरोति । अयमभिप्राय इति । ननु राजादिसंबन्ध-बोध एव तत्कल्पकः । न च संसर्गतया भानमनुपस्थितस्याप्यविरुद्धमिति वाच्यम् । नामार्थयोर्भेदसंबन्धेन बोधस्य व्युत्पत्तिविरुद्धत्वादित्यत आह-कृतेति । गौरवपरा-हतत्वादिति । नामार्थयोरिति व्युत्पत्तिः समासैव्यतिरिक्तविषयेति स्वत्वादिसंसर्गकबोधो नानुपपन्न इति भावः । व्युत्पत्तौ वृत्तिघटकेतरत्वविशेषणप्रक्षेपे गौरवमत आह-कृतशक्तिरिति ।

तथा चाकाङ्क्षादिवशात् क्लृप्तशक्त्यैव विशिष्टार्थबोधः । अयमेव व्यपेक्षापक्षो मतान्तरत्वेन भाष्यकारैरुक्तः । न चात्र मते समास ऋद्धस्येति विशेषणान्वयापत्तिः । 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' इति वार्तिकात् । तथा चैतन्मतवादिनां पूर्वोत्तरपदार्थसत्त्वात् पूर्वपदार्थप्रधान इत्यादिव्यवस्था सूपपादेति भावः । प्रसङ्गाद्वृत्तिभेदमपि निरूपयति—'ते पुनरिति । द्वे अपि वृत्ती त्रिविधे वाच्यत्रैविध्यात् । वाच्यमेवाह—भेद इत्यादि । भेदोऽन्योन्याभावः ।

नन्वयं पक्षो न मुनिसंमत इत्यत आह—अयमेवेति । राजपदस्य राजसंबन्धिनि लक्षणा राजसंबन्धिनः पुरुषेणाभेदान्वय इति पक्षस्यैवेन व्यवच्छेदः । मतान्तरत्वेनेति । तथा च समर्थसूत्रे भाष्यं 'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके' इति । चित्रगुरित्यादिवहुव्रीहावपि समुदायशक्येऽन्यपदार्थे चित्राद्यन्वितायां गोः स्वस्वामिभावादिसंबन्धेनान्वय इति । तत्रापि व्यपेक्षासंभवः । द्वन्द्वेऽपि समुदायार्थे समूहे वर्तिपदार्थयोरवयवावयविभावसंबन्धेनान्वय इति तत्रापि तत्संभवः । अन्यपदार्थादेः समुदायशक्यत्वे मानं तु 'अनेकमन्यपदार्थे' 'चार्थे द्वन्द्व' इति च सूत्रमित्यवगन्तव्यम् । व्यपेक्षाविरहादेव भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्येत्यादौ राजपुरुषादिपदयोर्न समासः । विशेषणान्वयापत्तिरिति । तद्वेतुत्वातन्वयेणोपस्थितिसत्त्वात् । वार्तिकादिति । समासादौ शक्त्यन्तरकल्पनापेक्षयैतद्वचनारम्भो लघीयानिति भावः । व्यवस्था सूपपादेतीति । अव्याह्यादिसत्त्वेऽप्यसंभवो नेति भावः । आवश्यकश्चायं पक्षः । एकार्थीभावरूपसामर्थ्यस्य समर्थसूत्रे परिग्रहे पराङ्गवद्भावासंग्रहः स्यात् । तत्रैकार्थीभावासंभवात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सति 'यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनम्' इत्यत्र दिव इत्यस्य पराङ्गवद्भावेनामित्रतनिघातो यथा 'ऋतेन मित्रावरुणा वृत्तावृथा वृत्तस्पृशा' इत्यत्र ऋतेनेत्यस्यापि पराङ्गवद्भावेनामित्रताद्युदात्तापत्तिः । पदात् परत्वाभावेन पादादिस्थितत्वेन चाष्टमिकनिघाताप्राप्तेः । व्यपेक्षारूपसामर्थ्यपक्षे तु समर्थपरिभाषाप्रवृत्तौ सत्यां ऋतेनेत्यस्य आनशाथे इत्यर्थकाशाथे इति पदोपात्तव्यासिक्रियायामेवान्वयेन मित्रावरुणाभ्यामित्यनेन व्यपेक्षाभावान्नोक्तदोषः । स्पष्टं चेदं वेदभाष्यादौ इति बोध्यम् । द्वे अपि वृत्तीति । जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थरूपे द्वे अपि वृत्ती इत्यर्थः । भेदशब्दस्य विशेषेऽपि प्रयोगदर्शनादाह—भेदोऽन्योन्याभाव इति । ननु भेदस्य वाच्यत्वे राजपदार्थस्य भेदः पुरुषे पुरुषस्य राजविशिष्टपुरुषस्य वा भेदो राज्ञि प्रतीयते । नाद्यः । पुरुषविशेषणतापन्नस्य तस्य भेदे विशेषणतयान्वयासं-

१ D, drops ते. २ भेद इहान्यो^२ D₂. ३ K. has before it नान्वय इति तत्रापि व्यपेक्षासंभवः.

तथा च राजपुरुष इत्यादावराजकीयभिन्न इति बोधः । अस्यावाच्यत्वे च राजपुरुषः सुन्दर इतिवद्वाजपुरुषो देवदत्तस्य चेत्यपि स्यात् । वाच्यत्वे तद्वि-
रोधाच्चैवं प्रयोग इति भावः । राजसंबन्धवानित्येव शाब्दमानं भेदस्तत्तत्करा-
लमुपतिष्ठत इत्याशयेनाह-संसर्ग इति । विनिगमनाविरहमस्वामिकेऽपि राज-
पुरुष इत्यादिप्रयोगापत्तिं च मनसि कृत्वोभयं वाच्यमित्याह-उभयं वेति ।

भवान् । राजभेदस्य राजसंबन्धिपुरुषमात्रे सत्त्वेन तद्वेदस्याव्यावर्तकत्वाच्च । वक्ष्यमाण-
प्रयोजनानिर्वाहाच्च । न द्वितीयः । पुरुषत्वरूपान्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभे-
दस्य राजनि बाधितत्वात् । तत्प्रतियोगिकभेदस्याव्यावर्तकत्वात् । राजधनमित्यादौ धन-
त्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य पूर्वपदार्थे सत्त्वेऽपि तद्वोधस्यानुपयोगाच्च । अत एव न
तृतीयोऽपि । तद्वोधस्यानुपयोगादित्याशङ्कामपाकर्तुमाह-तथा चेति । भेदस्य वाच्या-
न्तर्भावे चेत्यर्थः । इति बोध इति । राजभिन्नासंबन्धीति बोध इत्यर्थः । यथाश्रुत-
बोधाकारस्तु न युक्तः । तादृशबोधस्य राजसंबन्धिभिन्नभेदप्रकारकतया राजसंबन्धिभिन्न
इत्याकारकबोधं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वं न त्वितरसंबन्धबोधं प्रतीति राजपुरुषो देवदत्तस्य
चेत्यादिप्रयोगस्यावारणात् । राजपुरुष इति समुदायस्य राजभिन्नसंबन्धिभिन्ने शक्तिः ।
संबन्धीत्यत्र संबन्धो यथायथं स्वस्वामिभावादिर्ग्राह्यः । अत एव प्रीतिविषयत्वादि-
रूपसंबन्धतात्पर्येण राजपुरुषो भार्यायाश्चेति प्रयोगो भवत्येव । तद्वोधं प्रति समासजन्य-
बोधस्य राजभिन्नास्वामिक इत्याकारकस्याप्रतिबन्धकत्वात् । यदि सर्वथा तादृशप्रयोगो
नेष्यते तदा संबन्धसामान्यमेवोपादेयम् । परं त्वस्वामिकेऽपीत्युत्तरग्रन्थस्वारस्यं पूर्वकल्प
एवेति प्रतीयते । 'राजा पुरुषं निवर्तयत्यन्येभ्यः' इति समर्थसूत्रभाष्यं स्वारस्यं च ।
एतत्पक्षे राजसंबन्धी पुरुष इति बोधस्तु व्यक्तिविशेषवृत्तित्वादिविशिष्टतादृशभेदहेतुकानु-
सितिरूपपार्थिक इति बोध्यम् । प्रयोगापत्तिं चेति । अस्वामिकेऽपि राजभिन्नस्वा-
मिकभेदस्य सत्त्वादिति भावः । उभयम् । भेदः संसर्गश्चेत्यर्थः । परे तु जहत्स्वार्था नाम
उपसर्जनपदानां स्वार्थानुपस्थापकत्वं तथा च राजादिपदसंनिध्यात् पुरुषपदमेव राजसंब-
न्धिपुरुषबोधकम् । पुटे चम्पकपुष्पाद्यसत्त्वेऽप्यामोदान्वयमादाय चम्पकपुटे मल्लिकापुट
इति व्यवहारवद्वाजपदार्थः पुरुषे विशेषणमिति व्यवहार उपपद्यते । अत एव जहत्स्वा-
र्थापदस्य जहति उपसर्जनपदानि स्वार्थं यस्यां सेत्यर्थं उक्तो हेळाराजीये । तथा
चोक्तं समर्थसूत्रे भाष्ये-अथवान्वयाद्विशेषणं भवत्ययं मल्लिकापुटोऽयं चम्पकपुटः

१ शाब्दं मानं D., D₂. २ विरहादुभयं वाच्यं A. ३ कृत्योभयं D₂. ४ चेति
D₂, D₃.

तथा चाराजकीयभिन्नो राजसंबन्धवांश्चायमिति बोधः ॥ ३१ ॥

इति निष्कीर्णास्वपि सुमनस्स्वन्वयाद्विशेषणं भवत्ययं मल्लिकापुटोऽयं चम्पकपुट इति' इति । यद्वा भेदसंसर्गौ सामर्थ्यम् । तथा हि वृत्तौ राजपदसंनिधानात् पुरुषपदमेव राज-भिन्नास्वामिकराजस्वामिकपुरुषमेव बोधयति । अतो न राज्ञः स्वान्तरेण संबन्धः । राजपदस्य स्वार्थाभावात् । अतो न राज्ञः पुरुषोऽश्वश्चेतिवद्राजपुरुषोऽश्वश्चेति प्रयोगः । नापि पुरुषस्य स्वाम्यन्तरेण संबन्धः । पुरुषत्वरूपेणापि तादृशव्यक्तिविशेषज्ञानेन विरोधात् । तज्ज्ञानस्यापि देवदत्तस्वामिकः पुरुष इति बोधविरोधित्वमिति तात्पर्यम् । वेदान्तिमते तत्त्वमस्यादिवाक्यादखण्डार्थबोधवत् प्रकृते पुरुषत्वेन रूपेण व्यक्तिविशेषबोधो भेदस्य वाच्यत्वं तु न युक्तमनुभवात् । वृत्तेर्जहत्स्वार्थत्वप्रतिपादनपरेण 'भेदसंसर्गौ वा सामर्थ्यमिति । कः पुनर्भेदः संसर्गौ वा । इह राज्ञ इत्युक्ते सर्वं स्वं प्रसक्तं पुरुष इत्युक्ते सर्वः स्वामी प्रसक्तः । इहेदानीं राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्तयत्यन्येभ्यः स्वामिभ्यः पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः । एवमुभयतो व्यवच्छिन्ने यदि स्वार्थं जहाति कामं जहातु' इति भाष्येणावाच्यत्वस्यैव लभात् । अत्र स्वाम्यन्तरादित्युक्त्या राजरूपस्वामिनोऽतिवृत्तिलाभेन तत्संसर्ग उक्तः । अनेन च संसर्गयोर्बोधाविषयत्वं सूच्यते । बोधाविषयत्वे संसर्गभेदप्रतियोगितयान्वयाय राजपदार्थस्यावश्यकतया तदनुपस्थितिरूपतत्त्यागकथनासंमत्यापत्तेः । न च पुरुषपदेनैव संसर्गभेदबोधोऽस्तु तथा च न तत्कथनासंगतिरिति वाच्यम् । अथवान्वयाद्विशेषणं भवतीति पूर्वकल्पाद्विशेषापत्तेः । पुरुषो राजानं स्वान्तरेभ्यो निवर्तयतीत्युक्त्या वावाच्यत्वमेव तयोर्लभ्यते । न हि राजनि पुरुषसंसर्गबोधः पुरुषान्यस्वामिभेदबोधश्च कस्यचित् संमतः । एवं द्वन्द्वबहुव्रीहौ तद्वोधापदानमशक्यमेव । उक्तरीतेस्तु तत्र नासंभवस्तथाविधस्यैवान्यपदार्थस्य समूहस्य च ततो बोध इत्याशयादिति प्राहुः । कृष्णश्रित इत्यादितोऽपि कृष्णमात्रश्रितत्वेन रूपेण प्रतीयत इत्याशय इति । विवरणादितो विस्तरोऽनुसंधेय इत्यलम् । संबन्धादन्वय इति पूर्वकल्पे अत्र कल्पे च महादेव इत्यादौ भूतपूर्वगत्यार्थवत्त्वमादायात्वादिप्रवृत्तिः । यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्ये कश्चन्द्र इति प्रश्नोत्तरभूते वेदान्तिमते प्रकृष्टप्रकाश इति पदस्य चन्द्रत्वरूपेण वस्तुगत्या तादृशप्रकाशकबोधपरत्वं चन्द्रशब्दस्य ग्राह्यित्वा सार्थक्यं तथा प्रकृते पुरुषपदस्य तादृशव्यक्तिपरत्वग्राहकतया राजादिपदस्य सार्थक्यं बोध्यम् । वेदान्तिमते हि प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यतश्चन्द्रत्वेन चन्द्रपदवत्त्वेन च तथाविधप्रकाशवतो बोधो जायते न तु तादृशप्रकाशवत्त्वेन । 'तत्रैकार्थी-

व्यपेक्षावादस्यैव युक्तिभाष्यविरुद्धत्वात्तन्मूलकः पूर्वपदार्थप्रधान इत्याद्युत्स-
र्गोऽप्ययुक्तः । किं तु रेखागवयन्यायेनोत्सर्गोऽपि परम्परयैव बोधक इत्याशयेन
समाधत्ते—

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कजशब्दवत् ।

बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ॥

स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः ॥ ३१ ॥

समास इति वृत्तिमात्रोपलक्षणम् । ‘समर्थः पदविधिः’ इत्यत्र पदमुद्दिश्य
यो विधीयते समासादिः स समर्थः । विग्रहवाक्याभिधाने शक्तः सन्
साधुरिति सूत्रार्थस्य भाष्याह्लाभात् । पदोद्दिश्यकविधित्वं च कृतद्धित-

भावः सामर्थ्यं परिभाषा चेत्त्येवं सूत्रमभिन्नतरकं भवति’ इत्यादिसमर्थसूत्रस्थभाष्य-
मित्यर्थः । द्विविधसामर्थ्यपरिग्रहे वाक्यभेदेन सूत्रं भिन्नं स्याद्व्यपेक्षारूपैकविधिसामर्थ्य-
पक्षेऽपि यद्यपि सूत्रमभिन्नं भवति तथापि तत्पक्षे दोषाणां सत्त्वात्तदपेक्षयैकार्थीभावपक्ष
एव समीचीन इति सूचयितुं तरन्निर्देश इति कैयटः । तन्मूलक इति । व्यपेक्षावाद-
मूलक इत्यर्थः । न्यूनतां परिहर्तुमाह—समास इति । वृत्तिमात्रोपेति । कृदन्तादि-
वृत्तीत्यर्थः । एकोपस्थितिजनकसमुदायशक्तिरूपवृत्त्याश्रयत्वात् तेषां वृत्तिव्यवहारः ।
समर्थपदं व्याचष्टे । विग्रहेति । भाष्याह्लाभादिति । कृतद्धितेति । कृतपदेन
कृदन्तं तद्धितपदेन तद्धितितं गृह्येत तेन बहुपदः सर्वक इत्यनयोर्नासंग्रहः । कृतद्धितयोः
परिभाषाप्रवृत्त्या पदं करोति कुम्भमानयेत्यत्र न कर्मण्यण् । ऋद्धस्योपगोरपत्यमित्यत्र
न तद्धितः । पृथगर्थानामेकार्थीभावः सामर्थ्यं राज्ञः पुरुष इति वाक्ये पृथगर्थानि समासे
एकार्थीनीति समर्थसूत्रभाष्यात् । तत्र सामर्थ्यमसन्न वचनशतेनापि विधातुं शक्यत
इति सामर्थ्यविशिष्टस्य साधुत्वं विधीयत इति भावः । तथा च यत्किञ्चित्पदजन्यपृथगुप-
स्थितिविषयार्थकत्वेन लोकदृशशब्दानां विशिष्टविषयैकशक्त्यैकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थी-
भाव इति पर्यवसितम् । तादृशशब्दानां तत्त्वं तु सादृश्यादवगन्तव्यम् । कार्यशब्दवादे
तु वाक्यहेतुकैव वृत्तिनिष्पत्तिरिति बुद्धेर्वा । दृष्टानामित्यन्तोपादानं विभक्त्यन्तेऽतिप्रसङ्ग-
निरासाय । विभक्त्यर्थस्य यथा विभक्त्या प्रतिपत्तिस्तथा न केनाप्यन्येन शब्देनेति
विभक्तेस्तथाविधार्थकत्वाभावान्न तदन्तेऽतिप्रसङ्गादवस्थ्यम् । औपगवादिप्रसङ्गाय
यत्किञ्चित्वनिवेशः । उपगोरपत्यमित्यादावपत्यरूपार्थस्यापत्यपदजन्योपस्थितिविषयत्वं लोके

समासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपासु पञ्चस्वपि वृत्तिष्वस्त्येव । शक्त्यस्वीकर्तृणां
व्यपेक्षावादिनां मते दूषणं शक्तिसाधकमेवेत्याशयेनाह—पङ्कजशब्दवदिति ।
पङ्कजनिकर्तुरपि योगादेवोपस्थितौ तत्रापि समुदायशक्तिर्न सिध्येत् । न च
पद्मत्वरूपेणोपस्थितये तत् कल्प्यत इति वाच्यम् । चित्रगवादिपदेऽपि स्वामि-
त्वेनोपस्थितये तत्कल्पनावश्यकत्वात् । लक्षणयैव तथोपस्थितिरिति चेत् पङ्कज-
पदेऽपि सा सुवचा । एवं रथकारपदेऽपि । तथा च 'वर्षासु रथकारोऽक्षि-
मादधीत' इत्यत्रापि विना लक्षणां क्लृप्तयोगेन ब्राह्मणादिविषयतयैवो-

दृष्टमिति तत्संग्रहः । चि्वप्रत्ययनिर्देशो गौणमेकार्थत्वमिति सूचयितुम् । यथा पदानाम-
सत्त्वात् तत्सत्ताव्यवहारो गौणस्तथा तेषामेकार्थव्यवहारोऽपीति बोध्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।
समासैकशेषेति । अत्रैकशेषस्य न वृत्तित्वं किं तु मुक्तैकार्थीभावसंभवात् परार्था-
न्वितस्वार्थोपस्थापकत्वाभावात् । शिष्टपदेन स्ववृत्त्यैव तत्तत्समूहरूपार्थस्य भानमिति
भ्राष्ये स्पष्टमुक्तत्वादिति **शेखरादौ** स्पष्टम् । 'कर्मण्यण्' इत्यादेरपि परंपरया पदेद्दे-
श्यकत्वान्न तदसंग्रहः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । पचतीति पाचकः । अत्र तद्वि-
तकृदर्थबोधकाख्यातस्य कर्त्रर्थकविशेष्यकबोधजनकत्वमिति विग्रहवाक्यार्थाभिधान-
सामर्थ्यस्य न क्षतिः । ननु पङ्कजशब्दस्यापि समासतया तत्रापि परमते शक्तिर्नैष्यत
एवेति दृष्टान्ततया शक्तिसाधकरहिततदुपादानमसंगतमित्याशङ्क्याह—**शक्त्यस्वीकर्तृ-
णामिति** । अस्य वृत्तावित्यादि । तथा चेदं वक्ष्यमाणरीत्या परमतदूषणविधया शक्ति-
साधकमेव व्युत्पत्तिवैचित्र्येण वेति भावः । **योगादेवेति** । योगोऽव्यवशक्तिस्त्येत्यर्थः ।
तत्र नामार्थस्यापि पङ्कस्य जनधात्वर्थोत्पत्तावधिकरणतानिरूपकत्वेनान्वयः । तथाविधो-
त्पत्तेर्द्विप्रत्ययार्थकर्तर्याश्रयतया । एवं च पङ्काधिकरणकोत्पत्त्याश्रय इति बोधोपपत्तौ सत्यां
समुदायशक्तिर्व्यर्थेति भावः । **तत् कल्प्यते** एकार्थीभावरूपं सामर्थ्यम् । **पद्मत्वरू-
पेणोपस्थितय इति** । पद्मत्वावच्छिन्ने शक्तिं विना तेन रूपेणोपस्थित्यसंभवात् तद्वै-
प्रकारकोपस्थितिं प्रति तद्वर्मावच्छिन्नवृत्तिज्ञानस्य हेतुत्वादिति भावः । **स्वामित्वेनोप-
स्थितये** इति । स्वामित्वेन रूपेणान्यपदार्थोपस्थितय इत्यर्थः । **लक्षणयेति** । समुदायलक्ष-
णया द्विप्रत्ययलक्षणया वेत्यर्थः । पङ्कजपदमन्यस्यापि योगरूढस्योपलक्षणमित्याह—**एव-
मिति** । **रथकारपदेऽपीति** । समुदायशक्तिर्न सिध्येदित्यस्यानुपेक्षणात्रान्वयः । ननु मासु
तत्र समुदायशक्तिः रथकर्मकोत्पादनकर्तृरूपाव्यवशक्तिलभ्यरूपेणैव हि तत्र बोधोऽनु-
भूयते इत्याशङ्क्याह—**तथा चेति** । ब्राह्मणादिविषयतयैवेति । रथं करोतीति

पपत्तौ तत्कल्पनां कृत्वा जातिविशेषस्याधिकारित्वं प्रकल्प्यापूर्वविद्याकल्पनमभ्ययुक्तं स्यादिति भावः । साधकान्तरमाह-बहुनामिति । वृत्तेर्धर्मा विशेषणलिङ्गसंख्याद्ययोगादयस्तेषां वचनैः साधने गौरवमित्यर्थः । अयं भावः । विशिष्टशक्त्यस्वीकारे राज्ञः पुरुष इत्यत्रेव राजपुरुष इत्यत्रापि स्याद्विशेषणाद्यन्वयः । राजपदेन स्वतन्त्रोपस्थितिसत्त्वात् । विभाषावचनं च समासनियमवारणाय

व्युत्पत्त्या रथकारपदस्य ब्राह्मणादिवोधकत्वस्यापि संभवादिति भावः । उपपत्तौ ब्राह्मणादेरभ्ययनविधिसिद्धिज्ञानसत्त्वेनाधिकारितया तत्कर्तृकाधानविधायकतया चारितार्थ्यं । तत्कल्पनाम् । समुदाये जातिविशेषावच्छिन्नशक्तिकल्पनाम् । जातिविशेषस्य । जातिविशेषविशिष्टस्य ।

‘क्षत्रिया मागधं सूते वैश्यात् क्षत्तारमेव च ।’

इति धातुचलक्यवचनद्वैश्यायां शूद्रादुत्पन्नोऽनुलोमजातीयो रथकार इति बोध्यम् । अपूर्वविद्याकल्पनम् । मीमांसकानामिति शेषः । अत्ययुक्तं स्यादिति । रथकारपदस्य योगरूढत्वेन न ब्राह्मणादिविषयकत्वमेतद्वाक्यस्य किं त्वनुलोमजातीयविषयकत्वम् । तस्य च वेदाभ्ययनासंभवाद्वेदविहिताधानान्यधानुपपत्त्या तदुपयुक्तवेदाभ्ययनं कल्पनीयमिति मीमांसकसिद्धान्तो विरुध्येतेति भावः । स्याद्विशेषणेति । तथा च ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति प्रयोगवद्वस्य राजपुरुष इत्यपि स्यात् । विशेषणान्वये हेतुमाह-राजपदेनेति । स्वतन्त्रेति । घटो नित्य इत्यादौ घटत्वादौ नित्यपदार्थान्वयबोधनिवृत्तये विशेषणान्वयघट्टौ मुख्यविशेष्यतासंबन्धेन हेतुतया कल्प्यमानोपस्थितेः सत्त्वादित्यर्थः । समुदायशक्तिकल्पने तु तद्वशाद्वाजादिपदेन स्वार्थविशिष्ट एवार्थ उपस्थान्यत इति स्वमुख्यविशेष्यकोपस्थिते विरहान्न तत्र विशेषणान्वय इति भावः । राजवैशिष्ट्येनैव पुरुषस्योपस्थित्या राजपुरुषो भार्यायाश्चेति न । एकसंबन्धेन यत्किंचिद्वैशिष्ट्येनोपस्थितेस्तत्सजातीयसंबन्धेनैतरेणान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । अत एव घटो द्रव्यत्वस्थेति न समवायेन घटत्ववैशिष्ट्येनोपस्थिते तेन संबन्धेन द्रव्यत्वान्वयाभावात् । राजपुरुषोऽभिरूप इति तु भवत्येव बाधकाभावात् । राजपुरुषोऽश्वश्चेत्यपि न । एकत्र विशेषणत्वेनोपस्थितस्यापरत्र विशेषणत्वायोगात् । समासनियमेति । अवश्यं वाक्यप्रयोगे प्राप्ते आरभ्यमाणः समासो नित्यं वाक्यनिवर्तकः स्यात् । एकार्थीभावपक्षे तु एकार्थीभावे समासस्य व्यपेक्षायां वाक्यसिद्धतया विभाषाधिकारो न कर्तव्यः । विभिन्नविषयत्वात् समासेन वाक्य-

कार्यम् । ननु 'सविशेषणानाम्' इति वचनाच्च विशेषणाद्यन्वयः । विभाषा-
वचनं च कृतमेवेत्याशङ्कां समाधत्ते-वचनैरेवेति । न्यायसिद्धमेव सूत्रम् ।
व्यपेक्षाविवक्षायां वाक्यस्यैकार्थीभावे समासस्येति स्वभावत एव प्रयोगनि-
यमसंभवात् । सविशेषणेत्यपि विशिष्टशक्तौ राज्ञः पदार्थैकदेशतथान्वयासंभवा-
न्न्यायसिद्धमिति भावः । अत एव व्यपेक्षापक्षमुद्धाव्य 'अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां
सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः' इति भाष्यकारेण
दूषणमप्युक्तम् ॥ ३१ ॥

बाधाप्रसक्तेः । एवं 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यत्रत्यमपि वेति न कर्तव्यम् । एवं
सन्निधौ वाग्रहणमपि न कर्तव्यम् । तदुक्तं भाष्ये । 'वावचनानर्थक्यं च स्वभावसि-
द्धत्वात्' इति । लिङ्गायोगः कुक्कुटाण्डं मृगक्षीरमित्यादौ क्वचिद् द्रष्टव्यः न तु सर्वत्र
कुमारीपुत्र इत्यादौ दर्शनात् परं तु जात्यन्तरनिवृत्तिपरे वाक्येऽपि छागस्य मांसमित्यादौ
लिङ्गविशेषादर्शनाद्देवमेकार्थीभावप्रयुक्तमिति वदन्ति । एवं वृत्तावुपसर्जनपदार्थे संख्या-
विशेषो न भासते इत्युक्तं भाष्ये समर्थसूत्रे । संख्यात्वेन संख्याविशेष एकत्वादिः
प्रतीयते न तु एकत्वत्वादिविशेषरूपेण । इदमेवाभेदैकत्वसंख्या प्रतीयत इत्यनेनोच्यते ।
भेदो विशेषरूपं तदभावरूपैकत्वसंख्येति तदर्थः । तदभावरूपेत्यस्य तत्प्रतीत्यभावरूपे-
त्यर्थोऽवसेयः । प्रातिपदिकोपात्ता प्रवृत्तिनिमित्तभूता संख्या तु द्विपुत्र इत्यादौ प्रतीयते
तत्तत्तदनुयाता सा न प्रतीयत इति भाष्यार्थोऽवगन्तव्य इति प्राश्नो जगुः । परे तु संख्या
केनापि रूपेण न प्रतीयते संकोचेन भाष्यव्याख्याने मानाभावात् । त्वत्पुत्रस्तावकीनो
मासजात इत्यादौ तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तेन रूपेणैका व्यक्तिर्भासते युष्मत्पुत्रो यौष्माकीण
इत्यादौ तु तेन रूपेणानेकव्यक्तिमानम् । अत एव कुक्कुटेन्द्रगोपवाचकगोषु चरो वर्षासु
जात इत्यादौ बहुवचनसत्त्वेऽपि न बहुत्वमानमेवं चात्र बहुत्वारेणेण शब्दसंस्कारमात्रं
न तु तस्य प्रकृत्यर्थेऽन्वयः । अत एव राजपुरुष इत्यादौ संख्याप्रतीतिर्न सुवभावकृता ।
अत्र तत्सत्त्वेऽपि तदप्रतीतेरिति प्राहुः । विस्तरो भाष्यप्रदीपोद्योतादावनुसंधेयः ।
अत एव । एकार्थीभावस्य सिद्धान्तिसंमतत्वेनैव ॥ ३१ ॥

तथा धवखदिरौ निष्कौशाम्बिगौरयो घृतघटो गुडधानाः केशचूडः सुवर्णा-
लंकारो द्विदशाः सप्तपर्ण इत्यादावितरेतरयोगादिक्रान्तयुक्तपूर्णमिश्रसंघात-
विकारसुचप्रत्ययलोपो वीप्साद्यर्थो वाचनिको वाच्य इत्यतिगौरवं स्यादिति
दूषणान्तरमाह—

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम् ।

कर्तव्यं ते न्यायसिद्धं त्वस्माकं तदिति स्थितिः ॥ ३ ॥

आदिना घनश्यामः हंसगमनः इत्यादाविवादीनां पूर्वोक्तानां च संग्रहः ।
दूषणान्तरमाह—बहुव्युत्पत्तिभञ्जनमिति । अयमाशयः । चित्रगुरित्यत्र

एकार्थीभावस्य प्रयोजनान्तरं भाष्यकैद्यटायुक्तं स्वयमाह—तथा धवेति । धवख-
दिरावित्यादीनामितरेतरयोगादिभिः क्रमेणान्वयः । तथा च धवखदिरावित्यादौ द्वन्द्वे
'चाथे द्वन्द्वः' इत्यनेनानेकं सुबन्तं चाथे वर्तते तच्च द्वन्द्वसंज्ञकं भवतीति वाक्यभेदमङ्गी-
कृत्यार्थबोधनं कर्तव्यं तथा च गौरवम् । एवं निष्कौशाम्बिरित्यादावपि 'निरादयः
क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन निरादिपूर्वकद्वितीयान्तसमुदायः क्रान्ताद्यर्थे वर्तते स च
समाससंज्ञको भवतीति वाक्यभेदपुरस्कारेणार्थादेशनं बोध्यम् । गौरयादिविषयकं तु
तत्तदर्थविधायकं वचनं कल्पनीयमिति गौरवम् । तत्र गौरय इत्यत्र गोयुक्तो रथ
इति युक्तार्थः । घृतघट इत्यत्र घृतपूर्णो घट इति पूर्णार्थः । गुडधाना इत्यत्र
गुडमिश्रधाना इति मिश्रार्थः । केशचूड इत्यत्र केशसंघाता चूडा यस्येति संघातार्थः ।
सुवर्णालंकार इत्यत्र सुवर्णविकारोऽलंकार इति विकाररूपार्थः । द्विदशा इत्यत्र
द्विरावृत्ता दशेत्यर्थात् सुज्जलोपः । सप्तपर्ण इत्यत्र सप्त सप्त पर्णानि यस्येत्यर्थाद्वीप्सा
प्रतीयते । परे तु क्रान्ताद्यर्था निरादीनां न तु समुदायस्येति नैकार्थीभावकृतोऽयं
विशेषः । अत एव भाष्ये एकार्थीभावकृतेषु विशेषेषु नास्य गणनं कृतम् । द्विदशा
इत्यत्रापि शब्दशक्तिस्वाभाव्येन पूर्वपदस्य सुजर्थान्तर्भावेण वृत्तिः न तु समुदायशक्तितः ।
द्वित्वसंख्योत्पत्तिकान्वृत्तिविषया दशेति बोध इति वदन्ति । मूले चकारादीति । धवख-
दिरावित्यादौ वाक्यवचकारप्रयोगः प्राप्तस्तस्य निषेधो लोपो विधेयः । एकार्थीभावपक्षे
तु पृथगुपस्थित्यभावात् पृथगुपस्थितिनिबन्धनसमुच्चयाप्रतीतेर्न चप्रयोगः प्राप्नोतीति
भावः । इवादीनामिति । अत्र लोप इति संबध्यते । पूर्वोक्तानामिति । निष्कौशा-
म्बिरित्यादौ क्रान्तादिशब्दानां लोप इत्यस्य संग्रह इत्यर्थः । हंसगमन इत्यस्य हंस

स्वाम्यादिप्रतीतिरनुभवसिद्धा । न च तत्र लक्षणा । प्राप्तोदको ग्राम इत्यादौ तदसंभवात् । प्रासिकर्त्रभिन्नमुदकमित्यादिबोधोत्तरं तत्संबन्धिग्रामलक्षणाया-
मप्युदककर्तृकप्रासिकर्म ग्राम इत्यर्थालाभात् । प्राप्तेति क्तप्रत्ययस्यैव कर्त्रर्थकस्य
कर्मणि लक्षणेति चेत् तर्हि समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्ते-
रुदकाभिन्नप्रासिकर्मेति स्यात् । अन्यथा समानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभे-
दान्वयव्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । प्राप्तेर्धात्वर्थतया कर्तृतासंबन्धेन भेदेनोदकस्य तत्रा-
न्वयासंभवाच्च । अन्यथा देवदत्तः पच्यत इत्यत्र कर्तृतासंबन्धेन देवदत्तरयान्वय-
संभवेनानन्वयानापत्तेः । अथोदकाभिन्नकर्तृका प्राप्तिरिति बोधोत्तरं तत्संबन्धि-
ग्रामो लक्ष्यत इति चेन्न । प्राप्तेर्धात्वर्थतया क्तार्थकर्तरि विशेष्यताया असंभवात् ।

इव गमनं यस्येति विग्रहः । एकार्थभावपक्षे तु इवार्थस्य समुदायार्थेऽन्तर्भूतत्वादप्रयोगः
सिद्ध एवेति भावः । प्रथमत एवोदकपदे उदकसंबन्धिलक्षणायामुदकस्यैकदेशतया
प्राप्तपदार्थप्राप्तिकर्तुरन्वयो न स्यादित्यत आह-प्रासिकत्रेति । इत्यर्थालाभादिति ।
संबन्धिलक्षणायां प्रासिकर्त्रभिन्नोदकसंबन्धी ग्राम इति बोधस्यैव संभवात् । यद्यपि
स्वकर्तृकप्राप्तिकर्मत्वमेव संबन्धित्वमिति प्राप्तिकर्मत्वेन बोधो जात एवमुदरथ इत्यादावपि
रथपदादौ तत्संबन्धिलक्षणायामपि स्वकर्मकवहनकर्तृत्वादिरूपमेव संबन्धित्वमिति विव-
क्षितार्थालाभो जात एव तथापि संबन्धत्वेनैव कर्मत्वादिभानं स्यान्न तु कर्मत्वत्वादिनेति
तात्पर्यं बोध्यमिति भावः । प्रासिकर्मेति स्यादिति । प्राप्तिकर्माभिन्नमुदकमिति बोधः
स्यादित्यर्थः । प्राप्तपदस्य क्रियाशब्दत्वेनोदकशब्दस्य जातिशब्दत्वेन चोदकस्यैव
विशेष्यताया उचितत्वात् । उदकस्य प्राप्तौ कर्तृतयेष्टोऽन्वयो न स्यादपि त्वभेदेनैव
प्राप्तिकर्मणेति सूचयितुं तथाभिहितं तथा चेष्टान्वयो न स्यादित्यत्रैव तात्पर्यं न तूक्ता-
न्वयबोधेऽपि निर्भर इति बोध्यम् । अन्यथेति । कर्तृतासंबन्धेनोदकस्य प्राप्त्यन्वया-
भ्युपगमे । समानाधिकरणेति । समानविभक्तिकप्रातिपदिकार्थयोरित्यर्थः । अन्व-
यासंभवाच्चेति । नामार्थधात्वर्थयोः साक्षादभेदेनैवान्वय इति व्युत्पत्तेरिति भावः ।
अन्यथा । तादृशव्युत्पत्त्यनभ्युपगमे । अनन्वयानापत्तेरिति । देवदत्तस्य पाके
कर्तृतासंबन्धेनान्वयसंभवेन तादृशवाक्येऽन्वितार्थकत्वस्येष्टस्यानुपपत्तेरित्यर्थः । तत्सं-
बन्धीति । प्राप्तिकर्मेत्यर्थः । कर्तरि विशेष्यताया इति । कर्तृनिरूपितविशेष्यताया

१ D₂ has प्रासिकर्त्राभिन्नोदकसंबन्धी ग्राम इति बोधो जायते before, चेत् &c. २ भिन्नं
D; D₂. ३ तत्रान्वयसंभवाच्च A. ४ नन्वयापत्तेः A. ५ विशेष्यताया A.

प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति व्युत्पत्तेः । प्राप्तपदे प्राप्तेर्विशेष्यत्वे
तस्या एव नामार्थत्वेनोदकेन सममभेदान्वयापत्तेश्च । एवमूढरथः उपहृतपशुः
उद्धृतौदना बहुपाचिकेत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अत्र हि रथकर्मकवहनकर्ता पशु-
कर्मकोपहरणोद्देश्यः ओदनकर्मकोद्धरणावधिः बहुपाककर्त्रधिकरणमिति बोधा-
भ्युपगमात् । अतिरिक्तवृत्तिपक्षे च घटत्वविशिष्टे घटपदस्येवोदककर्तृकप्राप्ति-
कर्मत्वविशिष्टे प्राप्तोदक इत्यादिसमुदायशक्त्यैव निर्वाह इति भावः ॥ ३२ ॥

इत्यर्थस्तथा चोक्तबोधासंभव इति भावः । असंभवे हेतुमाह-प्रकृतीति । 'सत्त्व-
प्रधानानि नामानि' इति वचनविरोधोऽपि द्रष्टव्यः । ननु पचतीत्यादौ कृत्यागकस्य
प्रत्ययप्राधान्यस्य वृत्तावपि त्यागोऽस्तु । एवं सत्त्वप्रधानानीत्यस्यापि वृत्त्यघटकनाम-
परत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह-नामार्थत्वेनेति । नामजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वेनेत्यर्थः । नाम-
जन्यप्रतीतिविशेष्ययोरेवान्वयः । स चाभेदेनैवेति नामार्थयोरित्यादेरर्थादिति भावः ।
अभेदान्वयापत्तेश्चेति । प्राप्तेर्विशेष्यत्वे विशेषणीभूतकर्त्रा उदकस्याभेदान्वयबोधा-
नापत्तेरित्यर्थः । अयोग्यतानिश्चयस्य शाब्दहेतुत्वानङ्गीकारे यथाश्रुतमेवास्तु । न केवलं
द्वितीयार्थबहुव्रीहावेव लक्षणयानिर्वाहोऽपि तु तृतीयार्थबहुव्रीहावपीत्याह-एवमूढरथ
इति । ऊढो रथो थेनेति विग्रहवाक्यात् यत्कर्तृकवहनकर्मरथ इति बोधः । उपहृतः
दत्तः पशुर्यस्मा इति वाक्याद्यदुद्देश्यकोपहरणकर्मपशुरिति । उद्धृत ओदनो यस्या इति
वाक्याद्यदवधिकोद्धरणकर्मोदन इति । बहवः पाचका यस्यामिति वाक्याद्यदधिकरणक-
बहूभिन्नाः पाचनकर्तार इति । अत्रापि वहनकर्माभिन्नो रथ इति शक्यार्थान्वयबोधानन्तरं-
तत्संबन्धिलक्षणायामपि न वहनकर्तेत्याद्यकबोधनिर्वाहः । वहनादेर्धात्वर्थतया प्रत्ययार्थ-
कर्मादिकं प्रति विशेष्यत्वानुपपत्तिरित्यादिदूषणानि पूर्ववद् बोध्यानीति समुदिततात्पर्यार्थः ।
संबन्धिलक्षणायाः पूर्वोक्तानेकव्युत्पत्तिभङ्गाभावेऽपि उक्तबोधानिर्वाहः । एवमप्येऽपि द्रष्टव्य-
मिति भावः । बहुपाचिकेत्यत्रापि संबन्धिलक्षणायां तत्संबन्धित्वेनैव बोधः स्यान्न त्वधि-
करणत्वेनेति भावः । अधिकरणत्वविशिष्टलक्षणायां तु नैतद् दूषणमिति बोध्यम् ।
घटपदस्येवेति । यथा घटपदस्य घटत्वविशिष्टशक्त्या विशिष्टोपस्थापकत्वं तथा
प्राप्तोदकेति समुदायस्यापि विशिष्टशक्त्योदककर्तृकप्राप्तिकर्मत्वविशिष्टोपस्थापकतयोक्तानु-
पपत्त्यभावः । नामार्थयोरित्यादिव्युत्पत्तीनां पृथगुपस्थितिविषयत्वादिति भावः ॥ ३२ ॥

साधकान्तरमाह—

अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना ।

कृत्स्न्यागश्चास्ति तव तत् किं शक्तिं न कल्पयेः ॥ ३३ ॥

अयं भावः—^१चित्रगुरित्यादिषु चित्रगोः स्वाम्यादिप्रतीतिर्न विना शक्ति-
मुपपद्यते । न च तत्र लक्षणा । सा हि न चित्रपदे । चित्रैस्वामी गौरिति
बोधापत्तेः । नापि गोपदे । गोः स्वामी चित्र इत्यन्वयबोधापत्तेः । चित्रादिमात्रस्य
लक्ष्यैकदेशत्वेन तत्र गवादेरन्वयायोगात् । न च चित्राभिन्ना गौरिति शक्त्यु-
पस्थाप्ययोरन्वयबोधोत्तरं तादृशगोस्वामी गोपदेन लक्ष्यत इति वाच्यम् ।
गोपदस्य चित्रपदस्य वा विनिगमनाविरहेण लक्षकत्वासंभवात् । न च गोपदे

अषष्ठ्यर्थबहुव्रीहावित्यत्र षष्ठीपदं सप्तम्या अप्युपलक्षणं षष्ठ्यर्थबहुव्रीहाविव सप्त-
म्यर्थबहुव्रीहावपि व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनाया अप्रसक्तेः । कल्पयेरिति । संप्रश्ने 'विधि-
निमन्त्रण—' इति सूत्रेण लिङ् । लक्षणा किं पूर्वपदे उत उत्तरपदे इति विकल्प्य नाद्य
इत्याह—सा हि न चित्रेति । चित्रस्वामी गौरितीति । गोपदसंनिध्याच्चित्रपदेन
चित्ररूपवत्त्वेन गोरेव बोधनिर्वाहोऽपि चित्रान्वितगोत्वविशिष्टायाः स्वामिनि वैशिष्ट्यबो-
धानुपपत्तिः । गोपदोपस्थितार्थे चित्रस्वामिनोऽभेदान्वयापत्तिः । एवं जरच्चित्रगुः शोभन-
चित्रगुरित्यादावेकैकपदस्य स्वार्थस्वामिलक्षकत्वे जरदाद्यभिन्नो यो गोस्वामी तदभिन्नो
गौरिति बोधः स्यान्न तु जरदार्थस्य गवा सह व्यवधानादित्यपि द्रष्टव्यम् । चित्रपदं
चित्रस्वामिलक्षकं गोपदं गोस्वामिलक्षकम् । चित्रत्वेन गोत्वेन चैकव्यक्तेरेव भानं व्यक्ति-
वचनानां संनिहितव्यक्तिपरत्वमिति न्यायात् इति तु तादृशबोधानुभवाच्छोभनचित्रगु-
रित्यादौ शोभनान्वयानुपपत्तेश्चानुपादेयम् । शोभनपदस्यापि शोभनस्वामिलक्षकत्वे अत्य-
न्तानुभवविरोध इत्यादि द्रष्टव्यम् । अनन्वय एव गोपदार्थस्य स्यादिति भावः । नान्य
इत्याह—नापीति । गोः स्वामी चित्र इति । पूर्ववक्ष्याह्येयं तादृशोऽर्थे तात्पर्याद्यभाव-
ग्रहेतुः । ननु चित्रादिपदलक्ष्यार्थैकदेशचित्रादिना गवादेरभेदान्वये सति गवाभिन्न-
चित्रस्वामी चित्राभिन्नगोस्वामीति वा बोधो भवति । तथा च नोक्ताकारबोधापत्तिरित्यत
आह—चित्रादिमात्रस्येति । मात्रपदेन स्वामिनो व्यवच्छेदः । अन्वयायोगादिति ।
पदार्थः पदार्थे तेनेति व्युत्पत्तिविरोधात् । अन्वयबोधोत्तरमिति । पदार्थोपस्थित्या-

१ D₉ inserts समुदायात्मिकां before it. २ चित्रगु D₁, D₃. ३ चित्रस्वामि गौं D.
४ लक्षणायामेकदेशत्वेन A., D₁, D₃.

साक्षात्संबन्ध एव विनिगमक इति वाच्यम् । एवमपि प्राप्तोदकः कृतविश्व इत्याद्यपष्ठयर्थबहुव्रीहौ विनिगमकाप्राप्तेः । यौगिकानां कैत्र्यकतया साक्षात्-संबन्धाविशेषात् । न च पदद्वये लक्षणेति नैयायिकोक्तं युक्तम् । बोधावृत्ति-प्रसङ्गात् । न च परस्परं तात्पर्यग्राहकत्वादेकस्यैवैकदा लक्षणा न द्वयोरिति न बोधा-वृत्तिरिति वाच्यम् । एवमपि विनिगमनाविरहतादवस्थेन लक्षणाया असंभवात् ।

दिघटितसाम्य्या तयोरेवादाबन्धयो भवति प्रत्यासन्नत्वात् तदनन्तरं चित्राभिन्नाया गोबोधग्रहे सति गोपदेन चित्राभिन्नगोस्वामित्वेन रूपेणान्यपदार्थो लक्ष्यते । प्राथ-मिकतादशबोधश्च चित्रत्वादिविशिष्टगोस्वामित्वोपस्थितय आवश्यकः । तादृशबोधोत्पाद-कतया च चित्रापदसार्थक्यमिति भावः । साक्षात्संबन्ध इति । तत्र शक्यसंबन्धः सत्त्वनिरूपितस्वामित्वरूपः साक्षात्संबन्धश्चित्रपदस्य गुणवाचकतायाः स्वशक्तिसमवा-यिनिष्ठत्वनिरूपितस्वामित्वरूप आश्रयद्रव्यघटितः परंपरासंबन्धो लक्षणा रूपो वाच्य इति गौरवमिति भावः । इदं तु परीत्योक्तम् । स्वमते तु चित्रपदस्यापि गुणविशिष्टद्रव्य-वाचकत्वेन तस्यापि साक्षात्संबन्धसंभवादिति ध्येयम् । कृतविश्व इति । कृतं विश्वं चेनेति व्युत्पत्त्या विश्वकर्मकोत्पादकत्वेन विश्वविषयककृतिमत्त्वेन वान्यपदार्थः प्रतीयते । अत्रापि षष्ठीपदे सप्तम्या अप्युपलक्षणं चित्रगुर्ग्राम इति सप्तम्यर्थबहुव्रीहावपि । कर्त्रा-द्यर्थकतयेति प्राप्तोदक इत्यत्र कर्तरि क्तः । कृतविश्व इत्यत्र कर्मणि । स्नानीयचूर्णं पात्रमित्यादौ करणाद्यर्थकः कृतप्रत्यय इत्यर्थः । इदमुपलक्षणम् । पाठकपुत्रको देवदत्तः वीरपुरुषको ग्रामः पाचकपुरुषक इति पष्ठयर्थबहुव्रीहौ सप्तम्यर्थबहुव्रीहावपि क्वचिद् विनि-गमनाविरहात् वीरपाठकादिपदानामपि धर्मिवाचकत्वेन साक्षात् संबन्धात् परं तु द्विती-याद्यर्थबहुव्रीहौ सर्वत्रैव विनिगमनाविरहोऽन्यत्र तु क्वचिदिति सूचयितुमपष्ठयर्थेत्युक्तमिति बोध्यम् । पदद्वये लक्षणेति । चित्रपदे गोपदे च चित्रगोस्वामिलक्षणेत्यर्थः । नैया-यिकेति । प्राचीननैयायिकेत्यर्थः । परस्परमिति । चित्रपदे चित्रगोस्वामिलक्षणायां गोपदसमभिव्याहारस्तादृशार्थतात्पर्यग्राहकतया नियामकः । गोपदे लक्षणायां चित्रशब्द-समभिव्याहारो नियामक इत्यर्थः । विनिगमनाविरहतादवस्थेनेति । कदा कस्मिन्नेकपदे लक्षणेत्यत्र विनिगमनाविरहतादवस्थेनेत्यर्थः । लक्षणाया असंभवा-दिति । एकदा एकपदे लक्षणाया असंभवादित्यर्थः । एवं शोभना चित्रगुः शोभना जरती चित्रगुरित्यादौ शोभनादिपदार्थस्यानन्वयापत्तिश्च । चित्रादेरेकदेशत्वेन तत्रान्वया-संभवात् । शोभनादिपदेऽपि शोभनाचित्रगोस्वामिलक्षणाभ्युपगमे त्रयाणामपि पदानां

न च चरमपद एव सा प्रत्ययार्थान्वयानुरोधात् प्रत्ययानां संनिहितपदार्थगत-
स्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेरिति वाच्यम् । एवं हि बहुव्रीह्यसंभवापत्तेः । 'अनेकमन्य-
पदार्थे' इत्यनेनानेकसुबन्तानामन्यपदार्थप्रतिपादकत्वे तद्विधानात् । किं चैवं
सति घटादिपदेऽपि चरमवर्ण एव वाचकताकल्पना स्यात् । पूर्वपूर्ववर्णानां
तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगसंभवात् । एवं सति चरमवर्णमात्रश्रवणेऽर्थबोधाप-
त्तिरिति चेदप्राप्युदकपदमात्रश्रवणादर्थप्रत्ययापत्तिस्तुल्येत्यन्यत्र विस्तरः ।

तादृशविशिष्टार्थलक्षकत्वात् समुदायशक्त्यपेक्षया लाघवानवकाशः । विनिगमनाविरहेण
पदत्रयजन्यानां तिसृणामप्युपस्थितानां शाब्दबोधहेतुत्वाभ्युपगमप्रयुक्तं गौरवं चैतत्कल्पे
बोध्यम् । न्यूनैयाधिकसिद्धान्तं दूषयितुमुपन्यस्यति-न चेति । सा लक्षणा ।
संनिहितपदार्थेति । संनिहितपूर्वपदार्थेत्यर्थः । अन्यथा राज्ञः पुरुष इत्यत्र पुरुषपदा-
र्थेऽपि षष्ठ्यर्थसंबन्धान्वयापत्तिः । तथा च पुरुषसंबन्धिराजेत्यपि प्रतीयेत । तथा च
प्राप्तोदक इत्यादावप्युदकादिपदे एवोदककर्तृकप्राप्तिकर्मादिलक्षणाङ्गीक्रियते इति भावः ।
नन्वन्यपदार्थप्रतिपादकत्वं तत्प्रतीत्यनुकूलत्वं तच्चरमपदस्य स्ववृत्त्या तदुपस्थापकत्वेन-
तरपदस्य तात्पर्यग्राहकतया तद्विधानुकूलत्वं भवतीत्यतो दूषणान्तरमाह-किं चेति ।
एवं सतीति । बहुव्रीहौ चरमपदे एव लक्षणाङ्गीकारे सति । चरमवर्णे एव वाच-
कतेति । चरमवर्णस्यैव प्रत्ययाव्यवहितत्वात् लाघवाच्च । तेनैव वाचकताकल्पना स्यात् ।
न चेष्टापत्तिरपिसिद्धान्तादिति भावः । किं च घटपदादिघटकप्रत्ययरूपचरमवर्णस्य लक्षणयैव
घटितबोधोपपत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । ननु कोशादिप्रामाण्येन घटादिपदस्य तावद्वर्णसमुदा-
यरूपस्य वाचकत्वमभ्युपेयते । प्रकृते तु चरमपदलक्षणयैवोपपत्तौ न समुदायशक्तिसिद्धिः
कोशादेरभावात् अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वाच्चेत्याशङ्क्याह-अन्यत्र विस्तर इति ।
अन्यत्र । बृहद्भूषणादौ । विस्तर इति । प्रत्ययानां संनिहितपूर्वत्वादिव्युत्पत्तिस्वीकारो न
संभवति सर्वक इत्यादौ व्यभिचारात् । दधि इत्यती ददातीत्यादौ दधि वतुबार्थान्वयापत्तेः ।
दधि बहुपदुर्ददाति इत्यत्र दधि बहुजनार्थान्वयापत्तेः पटावनन्वयापत्तेश्चेति । किं चैवं
प्रातिपदिकात् कर्मत्वादौ स्वादय इति शास्त्रात् प्रत्यासत्तिलब्धाया प्रत्ययानां
प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति व्युत्पत्तेस्तल्लब्धपरम्परार्थान्वयेनैव प्रकृतिप्रत्यययोः
साधुत्वस्य च भङ्गः उत्तरपदमात्रस्याप्रकृतित्वात् चित्रगुरित्यादौ पूर्वपदे स्ववाच्यार्थ-
घटितलक्षणायां तात्पर्यग्राहकत्वस्य गङ्गायां घोष इत्यादौ क्लृप्तस्य च भङ्गा-
पत्तिः । व्युत्पत्त्यन्तरस्वीकारे तु विशिष्टशक्तिरेवोचितेति द्रष्टव्यमिति भावः ।

एवं चापष्ठयर्थबहुव्रीहौ व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना उक्तयुक्तेः अगत्या शक्त्यन्तरकल्पना । क्लृप्त्यागः क्लृप्तशक्त्योपपत्तिरिति व्युत्पत्तित्यागश्च तवास्ति तत्किं सर्वत्र समासे शक्तिं न कल्पयेरिति वाक्यार्थः । यत्तु व्यपेक्षावादिनो नैयायिकमीमांसकादयः—न समासे शक्तिः । राजपुरुष इत्यादौ राजपदादेः संबन्धिलक्षणयैव राजसंबन्ध्यभिन्नः पुरुष इति बोधोपपत्तेः । अत एव राज्ञः पदार्थैकदेशतया न तत्र शोभनस्येत्यादिविशेषणान्वयः । न वा घनश्यामो निष्कौशाम्बिगौरश्च इत्यादाविवादिप्रयोगापत्तिः । उक्तार्थतयेवक्रान्तादिपदप्रयोगासंभवात् । न वा 'विभाषा' इति सूत्रावश्यकत्वम् । लक्षणया राजसंबन्ध्यभिन्न इति बुबोधयिषायां समासस्य राजसंबन्धवानिति बुबोधयिषायां

उक्तयुक्तेरिति । प्राप्तेदकादावन्वयानुपपत्तिरुपयुक्तेरित्यर्थः । क्लृप्त्याग इति व्याचष्टे—क्लृप्तशक्त्येति । व्युत्पत्तित्यागश्चेति । क्लृप्तशक्त्यैव निर्वाह इति नियमत्यागश्चेत्यर्थः । अन्यथोदककर्तृकप्राप्तिकमेति बोधानुपपत्तेरिति भावः । तत्किं शक्तिमिति । पूरणसंवलितं व्याचष्टे—तत्किं सर्वत्र समासे शक्तिमिति । इति बोधोपपत्तेरिति । तथा च समुदायशक्तिं विनापि राजपदे राजसंबन्धिलक्षणया संबन्धबोधनिर्वाहे सति तत्तद्वोधान्यथानुपपत्त्या समुदायशक्त्युपगमश्चिन्त्यः । गौरवापत्तेः । न च वृत्त्यर्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वाभावात् प्रातिपदिकत्वानापत्तिः समासस्येति वाच्यम् । 'अर्थवत्' पदस्य स्वस्वावयवान्तरवृत्त्यर्थबोधकत्वार्थकतयानुपपत्त्यभावात् । समासत्वादेव प्रातिपदिकत्वसंभवाद्वेति भावः । अत्र संबन्धे लक्षणाभ्युपगमे नामार्थयोरिति व्युत्पत्तिविरोधेन संबन्धस्याश्रयतासंबन्धेन पुरुषेऽन्वयानुपपत्तिरिति संबन्धिलक्षणानुसरणं कृतम् । अत एव । संबन्धिनि लक्षणाभ्युपगमादेवेत्यर्थः । एवशब्दोऽप्यर्थः । न शोभनस्येत्यादिविशेषणान्वय इति । शोभनायां गङ्गायां घोष इत्यादौ तु गङ्गापदमेव शोभनगङ्गातीरलक्षकमतस्तत्र लक्ष्यार्थैकदेशगङ्गायां शोभनान्वयवदत्रापि लक्ष्यार्थकदेशे राजादावपि शोभनान्वयः स्यादिति शङ्कानवसरः । घनश्याम इत्यत्र घनपदार्थत्वसादृश्यसंबन्धेनोत्तरपदार्थेऽन्वयः । निष्कौशाम्बिरित्यत्र निष्कमणावधित्वसंबन्धेन गौरश्च इत्यत्र स्वयुक्तत्वसंबन्धेन पूर्वपदार्थस्योत्तरपदार्थे । एवं च संसर्गतयेवाद्यर्थोक्तावपि सादृश्यादिप्रकारकबोधार्थ इवादिशब्दप्रयोगो दुर्वार इत्याशयेन शङ्कते—न वेति । उक्तार्थतयेति । समासे घनादिपदस्य तत्सदृशादिलक्षकतयोक्तार्थकत्वमन्यथा नामार्थयोरिति व्युत्पत्ति-

१ D. drops च. २ इत्यस्य उक्तयुक्तेः D₂. ३ कल्पना इत्यर्थः D₂ ४ व्युत्पत्तिस्त्यागश्च A., D₂. ५ बोधापत्तेः D₂.

विग्रहस्येत्यादिप्रयोगनियमसंभवात् । नापि पङ्कजपदप्रतिबन्दी शक्तिसाधिका । तत्रावयवशक्तिमजानतोऽपि बोधात् । न च शक्त्यग्रहे लक्षणया तेभ्यो विशिष्टार्थप्रत्ययः संभवति । अत एव राजादिपदशक्त्यग्रहे राजपुरुषश्चित्रगुरित्यादौ न बोधः । नापि चित्रगुरित्यादौ लक्षणासंभवेऽप्यषष्ठ्यर्थबहुव्रीहौ लक्षणाया असंभवः । बहुव्युत्पत्तिभञ्जनापत्तेरिति वाच्यम् । प्राप्तोदक इत्यादावुदकपद

विरोधेन सादृश्यादिसंबन्धेनान्वयानुपपत्तेरिति भावः । प्रयोगनियमेति । विभिन्नविषयकत्वेन समासादिना वाक्यबाधाप्रसक्तेरिति भावः । नीलोत्पलादिकर्मधारये प्रवृत्तिनिमित्तसाहित्ये लक्षणा नीलोत्पलयोर्वा साहित्ये । आये नीलोत्पलत्वसमूहवन्नीलमुत्पलमिति बोधः । द्वितीये तु नीलसमानाधिकरणं तदभिन्नमुत्पलमिति । शाब्दिकमते समुदायशक्तिरेका तदर्थमेवोपेयते । वाक्ये तु चद्वयेन तत्साहित्यं प्रतिपाद्यतेऽतो विविक्तविषयत्वं वृत्तिवाक्ययोः । एवमेव द्वन्द्वेऽपि बोध्यम् । अन्ये तु नीलं च तदुत्पलं चेति वाक्ये नीलादिपदोत्तरविभक्तेरभेदोऽर्थः । तस्याश्रयत्वसंबन्धेनोत्तरपदार्थेऽन्वयः । समासे तु नीलादिपदेनैव लक्षणया नीलाद्यभेदः प्रतिपाद्यते । तथा च लक्षणया तादृशार्थविक्षायां समासो विभक्त्या तद्विवक्षायां वाक्यमिति व्यवस्थायाः संभवः । एकार्थीभावपदेनापि वाक्यदृष्टपदार्थघटितार्थे लक्षणेवाच्यत इति भाव इत्युचुः । एवमौपगवादावपि उपगवादिशब्दस्योपगवादिसंबन्धे लक्षणेति बोध्यम् । शक्तिसाधिकेति । वृत्तिमात्रे शक्तिसाधिकेत्यर्थः । अवयवशक्त्यग्रहस्य लक्षणाग्रहे कथं बाधकत्वमत आह-न च शक्त्यग्रह इति । न च संभवतीति योजना । न चेत्यस्य न हीत्यर्थः । शक्तिग्रहं विना शक्त्यनुपस्थितौ शक्यसंबन्धरूपलक्षणाग्रहवैधुर्येण पद्मत्वविशिष्टार्थबोधासंभव इति भावः । तथा चावयवशक्तिग्रहविरहदशायामपि पङ्कजपदात् पद्मप्रकारकबोधस्यानुभवसिद्धस्य संपत्तये समुदायशक्त्यावश्यकत्वमिति तात्पर्यार्थः । एवमेव रथकारशब्देऽपि समुदायशक्त्यभ्युपगम आवश्यक इति न पूर्वोक्ताधिकरणविरोध इति बोध्यम् । नन्वेवं राजादिपदशक्त्यग्रहदशयां राजसंबन्धी पुरुष इति बोधो न स्यादिति तत्रापि समुदायशक्तिरभ्युपगन्तव्येत्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति-अत एवेति । अवयवशक्तिज्ञानस्य लक्षणया विशिष्टार्थबोधप्रयोजकत्वादेवेत्यर्थः । न बोध इति । तथा च तत्रावयवशक्तिग्रहविरहसमये तादृशबोधाभाव एवानुभवसिद्धो न तु बोध इति बोधानुदय इष्टापत्तिरेवेति भावः । बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्-इति मूले एव प्रागेतद्व्याख्यातम् । उत्तरपद

एव लक्षणास्वीकारात् । पूर्वपदस्य यौगिकत्वेन तल्लक्षणाया धातुप्रत्ययतदर्थ-
ज्ञानसाध्यतया विलम्बितत्वात् । प्रत्ययानां संनिहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्व-
व्युत्पत्त्यनुरोधश्च । घटादिपदे चातिरिक्ता शक्तिः कल्प्यमाना विशिष्टे कल्प्यते
विशिष्टस्यैव संकेतितत्वात् । बोधकत्वस्यापि प्रत्येकं वर्णेष्वसत्त्वात् ।

एव लक्षणायां विनिगमकमाह—पूर्वपदस्येति । तल्लक्षणाया इति । पूर्वपदलक्षणा-
ग्रहस्येत्यर्थः । धातुप्रत्ययेति । धातुप्रत्यययोस्तदर्थयोश्च ज्ञानसाध्यतयेत्यर्थः । धात्वादि-
ज्ञानं विना तदर्थज्ञानानुपपत्त्यर्थज्ञानद्वारा धात्वादिज्ञानस्यापि लक्षणाग्रहप्रयोजकत्व-
मिति भावः । ननु प्राप्तेति समुदाये न लक्षणा तस्य शक्त्यभावेन शक्यसंबन्धरूपलक्ष-
णाया असंभवात् किं तु तत्तद्वटकप्रत्यये एव । तथा च तत्तदर्थज्ञानमात्रसाध्यत्वं न
तु धातुतदर्थज्ञानसाध्यत्वमपि । एवं चोदकपदलक्षणायांमपि उदकशब्दतदर्थज्ञान-
साध्यतया साम्यमेव । ननु कप्रत्यये उदककर्तृकप्राप्तिकर्मलक्षणायां तादृशधातुसमभि-
व्याहारज्ञानस्य तात्पर्यग्राहकत्वं वाच्यमन्यथातिप्रसङ्गात् । एवं च धातुतदर्थज्ञान-
साध्यत्वमक्षतमेव । किं च स्वबोध्यसंबन्धो लक्षणेति मीमांसकमते प्राप्तेति समुदाये लक्षणा-
संभवात्तत्तदर्थज्ञानसाध्यत्वमनपवादमिति स्फुटमेवेति चेदुदकपदे तादृशार्थलक्षणायांमपि
प्राप्तपदसमभिव्याहारस्य तात्पर्यग्राहकतया धातुप्रत्ययतदर्थज्ञानसाध्यत्वं दुरग्रहमेव ।
प्राप्तिकर्मज्ञानं विना तत्संबन्धरूपलक्षणाग्रहासंभवादित्यत उत्तरपदलक्षणायां विनिगमका-
न्तरमाह—प्रत्ययानामिति । संनिहितेति । संनिहितं तत्पदं तदर्थगतेत्यर्थः । अत्र
राजपुरुषमानयेत्यत्र राशि न प्रत्ययार्थकर्मत्वाद्यन्वयः । अन्यथा द्विवचनापत्तेः । पुरुषे
आनयनकर्मत्वविरहग्रहदशायां राजनि आनयनकर्मत्वान्वयतात्पर्येण राजपुरुषमानयेति
प्रयोगापत्तेश्च । तादृशश्रवणानन्तरं तदर्थबोधे सति राजानयनापत्तेश्च । एतेन राजनि
तदन्वये इष्टपत्तिर्निरस्ता । घटादिपदघटकचरमवर्णस्यैव वाचकत्वं स्यात् तुल्यन्यायादिति
शाब्दिकोक्तप्रतिबन्दीरूपं दूषणं निरस्यति—घटादिपदे चेति । अतिरिक्ता शक्ति-
रिति । तद्वटकधात्वादिशक्त्यतिरिक्ता गृहीतशक्तिकपदशक्त्यतिरिक्ता बोधकत्वातिरिक्ता
वेत्यर्थः । विशिष्टे कल्प्यते । विशिष्ट एव कल्प्यते । संकेतितत्वात् । कोशादिना
संकेतितत्वेन बोधनात् । ननु बोधकत्वरूपा शक्तिश्चरमवर्णे एव स्यात् किं च तदन्यथा-
नुपपत्त्या तदतिरिक्ता कल्प्यमानापि शक्तिस्तत्रैव पर्यवस्येदित्याशङ्क्याह—बोधकत्व-
स्यापीति । बोधजनकत्वपर्याप्त्यधिकरणत्वस्यापीत्यर्थः । तेन बोधकत्वाश्रयत्वस्य तत्र
सत्त्वेऽपि न क्षतिः । ननु प्रकृतेऽपि चित्रगुस्वामीति बोधान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमाना

प्रकृते चात्यन्तसंनिधानेन प्रत्ययार्थान्वयसौलभ्यायोत्तरपद एव सा कल्प्यत इति विशेषः । स्वीकृतं च घटादिपदेष्वपि चरमवर्णस्यैव वाचकत्वं 'मीमांसकमन्यै-
रित्याहुः । अत्रोच्यते—समासे शक्त्यस्वीकारे तस्य प्रातिपदिकसंज्ञादिकं न
स्यात् । अर्थवत्त्वाभावेन 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इत्यस्याप्र-
वृत्तेः । न च 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यत्र समासग्रहणात् सा । तस्य
नियमार्थताया भाष्यसिद्धाया वैयाकरणभूषणे स्पष्टं प्रतिपादितत्वात् ।

लक्षणापि उत्तरपदवत् पूर्वपदेऽपि कल्प्याविशेषादित्याशङ्क्याह—प्रकृते चेति ।
सा कल्प्यत इति । लक्षणा कल्प्यत इत्यर्थः । विशेष इति । चरमवर्णस्यात्यन्तं
प्रत्ययसंनिधानेऽपि तस्य बोधकत्वाननुभवात् समुदायस्यैव वाचकत्वं कल्प्यत इति भावः ।
स्वीकृतं चेति । तथा च घटादिशब्दे चरमवर्णस्यैव वाचकत्वे इष्टपत्तिरिति भावः ।
मीमांसकमन्यैरिति । खशि 'अर्द्धिषत्—' इति सुम् । मीमांसकात्मनः मन्यन्त
इत्यर्थः । अनेनास्वरसः सूचितः । तन्मूलं तु कोशादिविरोधः । संज्ञादिकमिति ।
आदिना सुबुद्धिमुदायात् पुनः सुबुत्पत्तिमुदात्तं पदमित्यस्य प्रवृत्तिः परिगृह्यते ।
आकाङ्क्षादिसाचिव्येनार्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञाप्रयोजकत्वस्वीकारे
गौरवं चित्रगुरित्यादौ तदसंभवश्च । गोशब्दस्यैव लक्षणया विशिष्टार्थबोधकत्वात् । न
चार्थबोधजनकज्ञानविषयशब्दत्वमर्थवत्त्वं ग्राह्यम् । तच्चैकस्य पदस्य लक्षणया परस्य
तात्पर्यग्राहकतया चेत्येवं समूहस्य निष्प्रयुहमिति वाच्यं प्रत्येकविभक्त्युत्पत्त्यापत्तेः ।
एकाच्द्विर्वचनन्यायेन तु न तद्वारणसंभवः । यत्र समुदायकार्येणावयवानुग्रहस्तत्रैव
तत्प्रवृत्तेः । 'एकान्वो द्वे प्रथमस्य' इत्यादिनिर्देशेन तद्वारणे तु गौरवमिति भावः ।
तदेतदुक्तं 'स्यान्महद्गौरवं तस्मात्' इति । समासग्रहणात् सति । सा । प्रातिप-
दिकसंज्ञा । तथा च समासग्रहणं विध्यर्थमिति भावः । ननु तस्य नियमार्थत्वाभावेऽपि
क्षत्यभावः । किं चासूर्यपश्याः शशशृङ्गमित्यादावर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञाविधा-
यकतया नियमार्थत्वानुपपत्तिश्चेत्याशङ्क्याह—भूषणे स्पष्टं प्रतिपादितत्वादिति ।
असूर्यपश्या इत्यादावपि असूर्येत्यत्र सूर्यकर्मकदर्शनाभाववति शक्तिकल्पनेन 'अर्थवत्—'
सूत्रेणैव सा सिध्यति । उक्तं च समर्थसूत्रे कैयटे—'असमर्थसमासेऽपि क्रियायामुभयोः
संनिपातादेकार्थीभावस्तद्वारकोऽस्त्येव' इति । उभयोः नञ्सूर्यपदयोः शशशृङ्गादिपदेऽपि
विशकलितं प्रसिद्धमारोपितसंबन्धं शक्यमतः 'अर्थवत्—' सूत्रप्राप्तिरस्त्येव ।

१ मीमांसकमन्यै D₁; मीमांसकमन्यै° D₂, D₃. २ अर्थवत्त्वाभावेन P., A., ३ प्रवृ-
त्तेश्च A.

किं च समासरूपधर्मिग्राहकसूर्यललाटयोरिति मानादसूर्येत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा सिध्यति । न हि प्रातिपदिकत्वं सुवृत्तिं च विनोपपदत्वं समीपोच्चारितपदत्वरूपं निर्वहतीति स्पष्टं निबन्धेषु । शशशृङ्गादेवौद्धोऽर्थो वाच्य इति स्पष्टं विवरणादौ । एवं च मन्मते समासग्रहणस्य नियमार्थत्वं सुस्थमेव । अपि च 'कृतद्वित-' इति सूत्रेऽपि तदन्तविधिलभाय 'अर्थवत्' इत्यनुवर्तते इति स्पष्टं भाष्यादिषु । तथा च समासे शक्त्यनङ्गीकारे समासग्रहणेनापि न सा सिध्यति । अर्थवत्पदस्य कृतद्वितयोरेव संबन्धो न समास इति तु न युक्तम् । तथा सति द्वन्द्वस्यासाधुत्वापत्तेरन्यतरस्य पाण्डित्ये देवदत्तयज्ञदत्तौ पण्डिताविति प्रयोगाभावात् । द्वन्द्वघटकयावत्पदार्थे इतरपदार्थान्वये एव द्वन्द्वस्य साधुत्वं न तु तद्व्यतिरिक्तचित्पदार्थे तदन्वये इत्यभ्युपगमात् । सौत्रवात् साधुत्वकल्पने तु गौरवमेव । समासग्रहणस्य विवर्धयेऽपि बहुपटव इत्यत्रार्थवत्त्वाभावेनार्थवत्सूत्रेण प्रातिपदिकत्वाभावात् 'चितः सप्रकृतेः-' इति वचनेन चित्त्वप्रयुक्तान्तोदात्तत्वं वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य स्यात् इत्येते तु टकारोत्तरवर्त्यकारस्येति स्पष्टं भाष्यादौ । सिद्धान्ते तु अन्तरङ्गानपीतिन्यायेन प्रथमजसो लुगुत्तरमेव प्रवर्तते स्वर इतीष्टसिद्धिः । बहुचूर्पूर्वस्येति वचनारम्भे गौरवम् । न च तद्वित्शब्दस्य तद्विशिष्टपरतया 'कृतद्वित-' इति सूत्रेणैव तत्र प्रातिपदिकत्वमिति वाच्यम् । पचतकीत्यादावितिप्रसङ्गात् । बहुपटवसित्प्रवर्ततेति वाक्येऽपि प्रसङ्गाच्च । यस्मात्तद्वितो विहितस्तद्वितविशिष्टस्य तस्यैव प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य ग्रहणे प्रमाणाभावात् तादृशवचनान्तरकल्पने गौरवाच्चेति भावः । एतेनाव्यवहितपूर्वत्वाव्यवहितोत्तरत्वान्यतरसंबन्धेन तद्वितविशिष्टस्य ग्रहणमिति न पचतकीत्यादावितिप्रसङ्ग इति निरस्तम् । उक्तवाक्यावारणात् । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमिति परिभाषाविरुद्धार्थकल्पने मानाभावाच्च । एवं मूलकेनोपदेशं भुङ्क्ते इत्यत्र मूलकेनोपदेशमित्यस्य कृद्ग्रहणपरिभाषया प्रातिपदिकत्वापत्तिर्मूलकस्योपदेशनकर्मत्वं भुजौ करणत्वं चास्ति । विभक्तिस्तु प्रधानक्रियां प्रति करणत्वप्रयुक्ता तृतीयैव कृतेति मूलकस्येत्युपदेशनकारकत्वाक्षतेः । न च 'तृतीयाप्रभृतीनि-' इति विकल्पेन समासविधानसामर्थ्यात् तादृशवाक्यस्य प्रातिपदिकत्वं विभक्तिश्रवणस्यैव तत्फलत्वादिति वाच्यम् । स्वरविशेषस्य तत्फलस्य संभवात् समासे उत्तरपदप्रकृतिस्वरः असमासे तु उदात्तद्वयमिति दधि उपदेशमित्यत्र पक्षे 'इकोऽसवर्णे-' इति प्रकृतिभावप्रवृत्तेरपि फलस्य संभवाच्च । एतेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे विकल्पयितव्ये समासविकल्पविधानवैयर्थ्यं निरस्तम् । अनभिधानेन तद्वैयर्थ्योपपादनं तु न समञ्जसम् । न च कृद्ग्रहणे इति परिभाषाया ज्ञापकसिद्धतायासर्वत्रिकत्वेन कृतद्वित्यत्रावृत्त्या न मूलकेनेत्यादावितिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अगतिकाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । सिद्धान्ते तु समासग्रहणकृतनियमेन परत्वाद्वाच्य इति कृतद्वित इत्यत्र कृद्ग्रहणे इति परिभाषाया

समासवाक्ये शक्त्यभावेन शक्यसंबन्धरूपलक्षणाया अप्यसंभवेन लाक्षणिकार्थ-
वत्त्वस्याप्यसंभवात् । अथ 'तिप्तस्' इत्यारभ्य 'ड्योः सुप्' इति तिप्प्रत्या-
हारो भाष्यसिद्धः । तमादायातिप् प्रातिपदिकमित्येव सूच्यताम् । कृतमर्थ-
वदादिसूत्रद्वयेन । समासग्रहणं च नियमार्थमस्तु । तथा चातिसिबन्तभिन्नं
प्रातिपदिकमित्यर्थात् समासस्यापि सा स्यादिति चेत् तथापि प्रत्येकं वर्णेषु
संज्ञावारणायार्थवत्त्वावश्यकत्वेन समासाव्यासितादवस्थ्यमेव । तथा च प्रातिप-
दिकसंज्ञारूपं कार्यमेवार्थवत्त्वमनुमापयति धूम इव वह्निम् ।

अप्रवृत्तेरेवेति भूषणादितोऽवगन्तव्यमित्यलमतिविस्तरेण । समासवाक्ये । समासत्मेके
वाक्ये इत्यर्थः । लाक्षणिकार्थवत्त्वस्याप्यसंभवादिति । इदं नैयायिकं प्रत्युच्यते ।
स्वबोध्यसंबन्धरूपलक्षणावादिमीमांसकमतै तत्संभवेऽपि निरुद्धलक्षणायाः शक्तितुल्यतया
शाब्दिकाभिमतसिद्धिरिति भावः । भाष्यसिद्ध इति । 'अप्रत्यय इति चेत् तिबैकादेशे
प्रतिषेधोऽन्तवत्त्वात्' । 'अप्रत्यय इति चेत् तिबैकादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः । काण्डे कुञ्जे ।'
इत्यर्थवत्सूत्रभाष्यसिद्ध इत्यर्थः । कृतप्रलम् । अर्थवदादिसूत्रद्वयं नारम्भणीयं किं
त्वतिप्प्रातिपदिकं समासश्च इति सूत्रद्वयं रचनीयमित्यर्थः । समासस्यापीति ।
समासस्यापि तिबन्तभिन्नत्वात् । तिप्ः प्रत्ययत्वेन प्रत्ययग्रहणे यस्मादिति परिभाषायाः
प्रवृत्तेरिति भावः । अर्थवत्त्वावश्यकत्वेनेति । अर्थवदिति विशेषणस्यावश्यकत्वेने-
त्यर्थः । ननु संख्याकर्मादेरभावादेकैकस्माद्गणान् सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति औत्सर्गिकमेव
वचनमपि गमकसत्त्व एव स्पष्टम् । अत एव 'ड्याप्-' सूत्रे भाष्ये तत्सूत्राभावे
तिङन्तेभ्यः सुबुत्पत्तिशङ्कैकत्वादीनामुक्तत्वान्नेति सम्प्रहिता । एवं च फलाभावात् प्रतिवर्णं
प्रातिपदिकसंज्ञापि न भविष्यतीति चेत् तथापि दश दाडिमानि षड्रूपा इत्याद्यनन्विता-
र्थकसमुदायस्य वारणाय 'अर्थवत्' इति विशेषणस्यावश्यकत्वम् । तत्र हि प्रातिपदिकत्वे
सति 'सुपो धातु-' इति लुक् स्यादिति भाष्यादौ स्पष्टम् । नियमार्थमसासग्रहणेन तु
न वारणं कर्तुं शक्यम् । नियमस्य सजातीयपेक्षतया परस्परान्वितार्थकसमुदायस्यैव तेन
वारणात् । अत एव गवित्याहृत्यादौ समुदायस्य न प्रातिपदिकसंज्ञेति स्पष्टं शब्देन्दु-
शेखरादौ । समासाव्यापीति । समासग्रहणस्य विध्यर्थत्वे तु पूर्वोक्तदूषणगणप्रसङ्ग
इति भावः । असमासवाक्यस्य नेति तृतीयं सूत्रमपि कर्तव्यमिति चेद्वैरवमिति भावः ।
अत्र सनाद्यन्तानां प्रातिपदिकत्वापादनं तु न कर्तं तत्त्वेऽपि तेभ्यः सुबुत्पत्तेरापत्त्यसंभवात्
अपवादैस्तिवादिभिर्बाधनात् । ननु समासग्रहणस्य विध्यर्थत्वेऽपि मूलकेनेत्यत्र पूर्वोक्त-

किं चैवं चित्रगुमानयेत्यादौ कर्मत्वाद्यनन्वयापत्तिः । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वित-
स्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः । विशिष्टोत्तरमेव प्रत्ययोत्पत्तेर्विशिष्टस्यैव प्रकृतित्वात् ।
यत्तु सन्निहितपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरेव कल्प्यत इति तन्न । उपकुम्भ-
मर्धपिप्पलीत्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयेन व्यभिचारात् । न च तत्रापि
संनिधानमेव । आनुशासनिकसंनिधेर्विवक्षितत्वात् । तथा च यत्पदोत्तरं यातु-
शिष्टा सा तदर्थगतं स्वार्थं बोधयति । समासे च समस्यमानपदोत्तरमेवानु-
शासनमिति वाच्यम् । 'अर्थवत्—' सूत्रेण विशिष्टस्यैव प्रातिपदिकत्वेन
विशिष्टोत्तरमेव विभक्त्यनुशासनात् । अथ प्रकृतित्वाश्रये विभक्त्यर्थान्वय इत्येव

क्रमेणातिप्रसङ्गे वारित इत्यतो दोषान्तरमाह—किं चैवमिति । एवम् । समुदायशक्त्यनङ्गी-
कारे । अर्धपिप्पलीत्यादाविति । आदिना पूर्वकाय इत्यादेरितरेतरद्वन्द्वस्य च संग्रहः ।
द्वन्द्वे व्यवहितपदार्थेष्वपि कर्मत्वाद्यन्वयेन व्यभिचारो द्रष्टव्यः । अव्ययीभावादिभेदं
निवेद्य व्युत्पत्तेस्तदतिरिक्तविषयकत्वसंपादने त्वमेकभेदनिवेशेन गौरवमिति भावः ।
ननूपकुम्भमित्यत्र कुम्भपदस्यैव लक्षणया कुम्भसमीपार्थकत्वमेवमर्धपिप्पलीत्यादावपि
पिप्पल्यादिशब्दस्यैव विशिष्टार्थकत्वमिति न तत्र व्यभिचार इति चेद्विशिष्टेऽर्थे लक्षणां
विनैवान्वयोपपत्तौ तत्स्वीकारोऽनुचितः । अत एव पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव इति
संगच्छते । किं च द्वन्द्वे व्यभिचारो दृढ एवेति भावः । भाष्यकारमतेऽर्धपिप्पल्यादेः
कर्मधारयत्वेनोत्तरपदार्थप्रधान्येन तत्र व्यभिचाराभावेऽप्युपकुम्भादौ व्यभिचारो निष्प्रत्यूह
एवेति ध्येयम् । समस्यमानपदोत्तरमेवेति । समस्यमानं पदं च समासघटकी-
भूतपदं पूर्वं परं मध्यमं च तथा चाव्ययीभावेऽव्ययमेकदेशिसमासे एकदेशवाचि पदं
द्वन्द्वे सर्वपदान्यपि समस्यमानानीति तत्तदर्थं विभक्त्यर्थान्वयः । अव्ययीभावादि-
समासेऽव्ययं सुवन्तेन समस्यते इत्यादिनाव्ययादेरेव समसनक्रियाकर्मत्वं बोध्यते नत्व-
स्येति बोध्यम् । एवं च समासे क्वचित् पूर्वपदार्थे क्वचिदुत्तरपदार्थे क्वचिद्यावत्समस्य-
मानपदार्थेऽन्वय इत्यत्र तदनुशासनं योग्यतादिकं नियामकमिति भावः । विशिष्टो-
त्तरमेवेति । समासरूपसमुदायोत्तरमेवेति समासरूपसमुदायोत्तरमेवेत्यर्थः । एवशब्देन
समासघटकपदव्यवच्छेदः । अनुशासनात् । प्रातिपदिकात् स्वादयो भवन्तीत्यनुशास-
नात् । तथा च समस्यमानपदोत्तरं तदनुशासनमसिद्धमेवेति तात्पर्यम् । न च प्रतिलक्ष्यं
लक्षणभेदेन समानरूपप्रातिपदिकत्वाश्रयात् स्वादय इत्येवानुशासनं कल्प्यत इति
वाच्यम् । प्रातिपदिकत्वपर्याप्ताधिकरणात् । स्वादय इत्यनुशासनस्यैव समर्थसूत्रभाष्य-

कल्प्यत इति चेत् तर्हि पङ्कजमानय दण्डिनं पश्य शूलिनं पूजयेत्यादौ पङ्कदण्डशूलेष्वावनयनदर्शनपूजनादेरन्वयप्रसङ्गात् । अघटमानयेत्यत्र घटेऽप्यानयनान्वयापत्तेश्च । न च दण्डादीनां विशेषणतया न तत्रानयनाद्यन्वयः । पाकान्नीलो धर्मात् सुखीत्यादौ पाकधर्मादिजन्यताया रूपसुखादावनन्वयप्रसङ्गात् । यच्च प्रकृत्यर्थत्वं तज्जन्यज्ञानविषयत्वमात्रं तच्चात्राविरुद्धमिति तन्न । घटं पश्येत्यत्र घटपदात् समवायेनोपस्थिताकाशवारणाय

सिद्धतयात्रान्यथा तत्कल्पने मानाभावात् । समुदायस्याङ्गत्वानापत्तेरवयवस्य तदापत्तेश्च । तथा सति देवस्य पुरुषो देवपुरुषस्तस्येदं देवपुरुषमित्यादौ समुदायादेर्द्विर्न स्यादुत्तरपदादेरेव स्यात् 'अवयवाद्गतोः' इत्यादेर्ज्ञापकात् समुदायादेरेव भविष्यतीति चेदेतादृश-
द्विष्टकल्पनापेक्षया समुदायशक्त्यनुसरणमेव युक्तमिति भावः । एवमुपकुम्भमित्यादौ समुदायोत्तरं विभक्तिश्रवणानापत्तिरपि द्रष्टव्येत्येव कल्प्यत इति न तु प्रकृतित्वपर्याप्त्यधिकरणार्थं विभक्त्यर्थान्वय इति कल्प्यत इत्यर्थः । प्रकृतित्वाश्रयत्वं चोत्तरपदे पूर्वपदेऽपीति नोक्तदोष इति भावः । **अन्वयप्रसङ्ग** इति । आनयनादिकर्मत्वान्वयप्रसङ्ग इत्यर्थः । इष्टापत्तिस्तु नास्त्यपि तात्पर्ये विना लक्षणां तादृशान्वयबोधाननुभवात् । पङ्कजनयनप्रसङ्गाच्च । अत्रेष्टापत्तौ स्थलान्तरेऽतिप्रसङ्गमाह—**अघटमिति** । पूर्वोक्तस्थले दण्डादिविशिष्टे क्रियान्वये विशेषणीभूतदण्डादावप्यन्वये कदाचिदिष्टापत्तिः स्यादत्र तु न कस्यापि धर्मे आनयनकर्मत्वान्वयोऽनुभवसिद्ध इति भावः । **विशेषणतया न तत्रेति** । प्रकृतिजन्यप्रतीतिविशेष्ये एव विभक्त्यर्थान्वय इति व्युत्पत्तेरिति भावः । चित्रगुस्वामिनस्तु प्रकृतिजन्यप्रतीतिविशेष्यतया न विभक्त्यर्थान्वयानुपपत्तिः । **आनयनाद्यन्वयः** । आनयनकर्मत्वाद्यन्वयः । **जन्यतायाः** । पञ्चम्यर्थभूतायाः । **रूपसुखादावनन्वयेति** । नीलरूपसुखयोर्नीलादिशब्दजन्यप्रतीतिविशेष्यत्वाभावात् । नीलशब्दस्य नीलरूपविशिष्टपरत्वात् । सुखिशब्दस्य तद्विशिष्टबोधकत्वात् । अथैकत्रविशेषणतयान्विते इतरत्र विशेषणतयान्वय एवाव्युत्पन्नो न तु विशेष्यतयान्वय इति न दण्डिनं पूजयेत्यादौ पूजनकर्मत्वाद्यन्वयापत्तिः । पाकान्नील इत्यादौ नीलादौ पाकादिजन्यत्वाद्यन्वयानुपपत्तिश्चेति चेन्न । एवं सति शूली पूज्य इत्यादौ शूलादौ पूज्यादिरूपविशेषणान्वयापत्तेः । किं च शूलिनं द्वित्यादेर्बाधे शूलेष्वाधे शूलिनौ पश्यत इत्यादिप्रयोगापत्तिरिति दिक् । **ज्ञानविषयत्वमात्रमिति** । न तु प्रकृतिवृत्त्या तज्जन्यज्ञानविषयत्वमित्यर्थः । अत्र उत्तरपदादिलक्ष्यचित्रगुस्वाम्यादौ । **समवायेनेति** । समवायेनोपस्थिते आकाशे

वृत्त्या प्रकृत्यर्थत्वस्यावश्यकत्वात् । अथ प्रत्ययप्राग्वर्तिपदजन्योपस्थितिविशेष्यत्वं प्रकृत्यर्थत्वमिति चेन्न । गामानयति कृष्णो दण्डेनेत्यत्र कृष्णे तृतीयार्थान्वयप्रसङ्गात् । अथ समस्यमानपदार्थगतत्वार्थबोधकत्वं समासोत्तरविभक्तेः कल्प्यत इति चेत् तन्न । अकृतकल्पनां कृतव्युत्पत्तित्यागं चापेक्ष्य समुदायशक्तिकल्पनस्यैव युक्तत्वादिति दिक् । अपि च समासे विशिष्टशक्त्यस्वीकारे राजपुरुषश्चित्रगुर्नीलोत्पलमित्यादौ सर्वत्रानन्वयप्रसङ्गः । राजपदादेः संबन्धिनि लक्षणायामपि तण्डुलः पचतीत्यादौ कर्मत्वादिसंसर्गेण तण्डुलादेः पाकादावन्वयवारणाय प्रातिपदिकार्थप्रकारकबोधं प्रति विभक्तिजन्योपस्थितेहेतुताया आवश्यकत्वात् पुरुषादेस्तथात्वाभावात् ।

घटपदोत्तरवर्तिद्वितीयार्थकर्मत्वान्वयवारणायेत्यर्थः । वृत्त्या प्रकृत्यर्थत्वस्य । वृत्त्या प्रकृतिजन्यज्ञानविषयत्वस्य । आवश्यकत्वात् । अवश्यं प्रवेशनीयत्वात् । घटमित्यादौ घटत्वादौ कर्मत्वान्वयवारणाय विषयतासामान्यमुपेक्ष्य विशेष्यत्वप्रवेशः । अत एव दण्डिनं पश्येत्यादौ दण्डादौ न तदन्वयः । आकाशे न तदन्वयः । प्रत्ययप्राग्वर्तिपदवृत्त्येत्यस्यापि निवेश्यत्वादिति भावः । कृष्णे तृतीयार्थेति । अव्यवधानांशनिवेशे तु उपकुम्भमित्यादौ पूर्वपदार्थे विभक्त्यर्थान्वयानापत्तिरिति भावः । एवं बहुपदः सर्वक इत्यादावव्याप्तिर्दधीयद्दातीत्यादौ दध्यादावतिव्याप्तिश्च द्रष्टव्या यदुत्तरं यः प्रत्ययो षिहितस्तत्त्वे सतीति निवेशे तु चित्रगुरित्यादाबुनरपदस्य तत्त्वाभावादुक्तदोषतादवस्थ्यं बोध्यम् । कृतव्युत्पत्तीति । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितेति व्युत्पत्तीत्यर्थः । नन्वनेकसमासरूपसमुदायेषु शक्तिकल्पनामपेक्ष्य व्युत्पत्त्यन्तरकल्पना कृतव्युत्पत्तित्यागश्च न गुरुरत आह—दिगिति । तदर्थस्तु राजपुरुष इत्यादौ राजसंबन्धिलक्षणायां राज्ञ एकदेशतया विशेषणान्वयवारणेऽपि दास्याः पुत्र इत्याद्यलङ्कृतसमासे लक्षणायां मानाभावेन दास्यादौ शोभनाविशेषणान्वयो दुर्वारः । तत्रापि संबन्धिलक्षणायां दासीसंबन्धिबोधः स्यात् । इष्टापत्तिस्तु न । सर्वानुभवविरोधात् । अल्लुगिवषयीभूतविभक्तिर्न स्वार्थोपस्थापिका । अत एवाप्सुचरो गोषु चर इत्यत्र न बहुत्वप्रतीतिः । एवं च दासीशब्दस्य दासीसंबन्धिलक्षणायामपि राज्ञः पुरुष इति वाक्यादिव समासादपि राजसंबन्धप्रकारकः संबन्धसंसर्गको राजप्रकारकपुरुषविशेष्यको बोधो भाष्यादिसिद्धः संबन्धिलक्षणायां न निर्वहतीत्यादिबोध्यः । तथात्वाभावादिति । विभक्तिजन्योपस्थितिविषयत्वाभावा-

तण्डुलः शुभ्र इत्यादौ च प्रातिपदिकार्थकप्रथमार्थे तण्डुलादेस्तस्य च शुद्धेऽभेदे-
नैवान्वयः । शुभ्रेण तण्डुलेनेत्यादौ च विशेषणविभक्तिरभेदार्था पाणिनिको वान्वय
इति नातिप्रसङ्गः । तथा च समासे परस्परमन्वयासंभवादावशियैकैव समुदायस्य

दित्यर्थः । ननु शुभ्रस्तण्डुल इत्यादौ शुभ्रादिरूपनामार्थप्रकारकशाब्दबोधो विशेष्यतासंबन्धेन
तण्डुलादौ जायते । न च तत्र विभक्तिजन्योपस्थितिर्विशेष्यतयेति व्यभिचारान्नोक्तकार्य-
कारणसंभवः । तण्डुलः पञ्चतीत्यत उक्तबोधवारणयागत्या धातुजन्योपस्थितेः प्रति-
बन्धकत्वमास्थेयं धातुभिन्नजन्योपस्थितेहेतुत्वं वा कल्प्यम् । तथा च राजपुरुष इत्यादा-
वन्वयबोधे बाधकाभाव इत्याशङ्क्याह-तण्डुलः शुभ्र इत्यादाविति । प्रातिपदि-
कार्यकप्रथमेति । प्रातिपदिकस्यार्थो यस्यास्तादृशी या प्रथमा तदर्थे इत्यर्थः ।
'प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा' इत्यस्य प्रातिपदिकार्थमात्रे वाच्ये प्रथमेत्यर्थः । पाक
इत्यादौ व्यापारस्येव प्रातिपदिकार्थस्यापि द्वेधा भानं विभक्त्या सत्त्वरूपेण स उपस्थाप्यते
इति विरूपोपस्थितेः सत्त्वेनाभेदान्वयसंभव इति भावः । एवं च नोक्तकार्यकारणभावे
व्यभिचार इति भावः । नन्वत्र व्यभिचारवारणेऽपि शुभ्रं तण्डुलं शुभ्रेण तण्डुलेनेत्यादौ
व्यभिचारो दुर्वार एव । द्वितीयादेः प्रातिपदिकार्थे विहितत्वाभावादत आह-शुभ्रेण
तण्डुलेनेतीति । अभेदार्थेति । कर्माद्यभेदस्य कर्मादिरूपतयाभेदस्यानुशासनविषय-
त्वादिति भावः । एवमेव स्तोत्रं पञ्चतीत्यादौ न व्यभिचारः । ननु विशेष्यवाचकपदो-
त्तरविभक्त्यैव कर्माद्यर्थस्य गमिततया विशेषणवाचकपदोत्तरविभक्तिः साधुत्वार्थैव तथा
च शुभ्रपदार्थस्य तण्डुलेनैवान्वयो वाच्य इति व्यभिचारस्तदवस्थ एवेत्याशङ्क्याह-
पाणिनिको वेति । अयं भावः । कर्मण्येव द्वितीयेत्यादिनियमेन साधुत्वार्थे विभक्तिरिति
न युक्तं किं तु कर्माद्यर्थिकैव । 'कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि कर्म' इति भाष्याद्विशेषणेऽपि
कर्मत्वादिसत्त्वात् । एवं च कारकाणां क्रिययैवान्वय इति नियमात् क्रियायामन्वयः ।
तथा च विशेषणविशेष्ययोः परस्परमन्वयाभावान्न व्यभिचारः । न च क्रियायान्वयादेव
व्यभिचारः । विभक्त्यर्थद्वारैव तदन्वयस्याङ्गीकारात् । परस्परान्वयाभावे विशेष्यस्य
व्यवच्छेदो न स्यात् । तथा च शुभ्रेण तण्डुलेन शिवं पूजयेदित्युक्तेऽपि श्यामादितण्डुलेन
येन केनचिच्छुभ्रेण पूजनप्रसक्तिः । एवं सामर्थ्याभावाच्छुभ्रतण्डुलो नीलोत्पलमित्यादिः
समासो न स्यादिति दोषपरिहाराय द्वयोः पाणीकः परस्परमन्वयबोधोऽङ्गीकृतः । स च
शाब्दो मानसो वा । न च सामर्थ्यविरहेऽपि 'विशेषणं विशेष्येण' इत्यादिना विधान-
सामर्थ्यात् समास इति वाच्यम् । तत्सामर्थ्यात् पाणिनिकबोधकल्पनाया एव युक्तत्वादिति

तादृशे विशिष्टार्थे शक्तिः । किं च राजपुरुष इत्यादेः संबन्धनि संबन्धे वा लक्षणा । नाद्यः । राज्ञः पुरुष इति विवरणविरोधात् समाससमानार्थकवाक्यस्यैव

भावः । परे तु प्रथमायाः प्रातिपदिकार्थो न वाच्यो बोधावृत्तिप्रसङ्गात् । एकरूपेणोपस्थितयोस्त्वयासंभवाच्चाभिन्नरूपेण बोधानुभवाच्च । अत एव तत्प्रातिपदिकेन तत्तदर्थे विवक्षितं तदुत्तरं प्रथमेत्येव वाक्यार्थः स्वीक्रियते एवं विशेषणविभक्तेरभेदत्वेनाभेदार्थकत्वे मानाभावः । कर्माद्यभेदस्य कर्माभेदरूपत्वेऽपि कर्मत्वादिनैव वाच्यताया अनुशासनसिद्धत्वात् । कथं तर्हि शुभ्रादिपदाद् द्वितीयेति चेदत्राहुस्तन्मिहितसूत्रे भाष्यकाराः । 'विशिष्टस्य क्रियेयसितत्वात् कर्मत्वादुभयत्रापि द्वितीया' इति । विशिष्टनिष्ठं कर्मत्वं समानविभक्तिकत्वं विना न प्रत्याययितुं शक्यत इति तद्भावः । अत्र पक्षेऽपि विशेषणपदात् कर्मत्वाद्यनालिङ्गतार्थोपस्थितिः । विशेष्यात्तु तद्विशिष्ट्येन प्रतीतेर्विशिष्टस्यैककर्मत्वबोधः । ततोऽथवा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपीति समादधुः । अत्र पक्षे विशेषणपदं पृथक् तत्तच्छक्तिमत्तया प्रतिपादकं द्रव्येणाभेदात्तु तस्याः शक्तेर्वाक्यार्थबोधेन विशिष्य ग्रहः । अत्रापि पक्षे विशेष्यविशेषणयोः परस्परमन्वयपूर्वकमेव क्रियान्वयः कारकाणां भावनान्वयनियमभङ्गस्तु न । साक्षात् क्रियाजनकानां साक्षादैव भावनान्वयः । द्रव्यद्वारा तज्जनकानां तु द्रव्यद्वारेवान्वय इति नियमाङ्गीकारात् । गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायस्य तु नात्रावसरः । यतो द्रव्यगुणयोरुत्तरीत्या समत्वाभावः । ततो विशेष्यस्यैव कर्मत्वं तत्सामानाधिकरण्याद् भीष्मादिभ्योऽपि द्वितीयेति समादधुः । अत्र कैयटोपाध्यायाः । यथेश्वरसुहृदः स्वयं निर्धना अपि तद्वनेनैव धनफलभाजस्तद्वत्तदेकयोगक्षेमत्वादिति । विशेष्यसमानशक्तिं विना विशेष्यतयैकार्थबोधैकत्वरूपसामानाधिकरण्यानुपपत्तिरिति विशेषणस्य विशेष्यसमानशक्तिकत्वमेव तच्चारोपितमेवेति ततोऽपि विभक्तिनिर्वाह इति भावः । अस्मिन्नपि पक्षे तयोस्त्व परस्परमन्वयो लभ्यत इत्याहुः । विस्तरस्तु मञ्जूषादितोऽवगन्तव्यो ग्रन्थविस्तरभयान्नेह वितन्यते । एवं च शुभ्रस्तण्डुल इत्यादौ व्यभिचारो दुष्परिहरः । तद्वारणार्थं भेदसंबन्धावच्छिन्ननामार्थप्रकारताकत्वं विभक्तिकजन्योपस्थितेः कार्यतावच्छेदके यदि निवेद्यते तर्हि राजसंबन्धिनो भेदेन बोधेनोक्तं बाधकमिति प्रतिभाति । किं चेत्पुनरग्रन्थ इतरो वा स्वरसाद्वोक्त इति बोध्यम् । ननु समाससमानार्थकत्वं समासजन्यप्रतीतिविषयार्थप्रतीतिजनकत्वं तच्च प्रकृते क्षतं समासजन्यप्रतीतिविषयराजसंबन्धविषयकप्रतीतिजनकत्वाद्वाङ्गः पुरुष इत्यस्येत्यत आह—

विग्रहत्वात् । अन्यथा तस्माच्छक्तिनिर्णयो न स्यात् । नास्त्यः । राजसंबन्धरूपः पुरुष इति बोधप्रसङ्गात् । विरुद्धविभक्तिरहितप्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेरित्यादि प्रपञ्चितं वैयाकरणभूषणे । अत एव 'वपदकर्तुः प्रथमभक्षः' इत्यत्र न भक्षमुद्दिश्य प्राथम्यविधानं युक्तमेकप्रसरत्वभङ्गापत्तेरिति तृतीये ।

अन्यथेति । उक्तप्रतीतिमात्रजनकत्वे विग्रहरूपत्वे । तस्मात् । विग्रहरूपविवरणात् । शक्तिनिर्णयो न स्यादिति । विवरणविनियमाणयोः समानार्थकत्वनियमे विवरणस्य शक्तिनिर्णायकत्वं संभवेत् । असमानार्थकस्याप्युक्तस्य विवरणत्वाङ्गीकारे तु तादृशनियमभङ्गेन विवरणादभियुक्तोक्तः शक्तिनिर्णयो न स्यात् तथा च फलार्थककरोतिना विवरणादाख्यातस्य यत्ने शक्तिरित्यादिकं विच्छेयेतेति भावः । अथवा राज्ञः पुरुष इति विग्रहस्य समासनिष्ठार्थबोधकतानिर्णायकत्वमनुभवसिद्धं भज्येतेति भावः । प्रसङ्गादिति । राज्यसंबन्धस्य नामार्थत्वेनाभेदसंबन्धेनैव पुरुषेणान्वयबोधः स्यान्न त्वाश्रयसंबन्धेनेति भावः । ननु समानविभक्तिकत्वं नामार्थयोरभेदबोधे तन्त्रं तच्चात्र नास्तीति कथं राजसंबन्धस्य पुरुष इति बोधापत्तिरत आह-विरुद्धविभक्तीति । सुन्दरं दधि सेचकृद्गारीत्यादौ व्यभिचारात् समानविभक्तिकत्वस्योक्तबोधे प्रयोजकत्वासंभवाद्विरुद्धविभक्तिराहित्यस्यैव प्रयोजकत्वमुरीक्रियत इति भावः । इदं चापादनं योग्यताज्ञानं भ्रमात्मकमयोग्यतानिश्चयाभावो वा यदा वर्तते तदा बोध्यम् । वस्तुतस्तु स्वमते योग्यताज्ञानस्य हेतुत्वमयोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वं च नास्तीति पूर्वं निरूपितं न विस्मर्तव्यम् । अथोक्तव्युत्पत्तिनिर्वाहको नामार्थप्रकारकाभेदान्वयबोधे विरुद्धविभक्तिरहितानामजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावो न संभवति । चैत्रस्य सुतस्य धनमित्यत्रातिप्रसङ्गादिति चेन्न । विभक्त्यर्थमनन्तरभाव्यनामार्थान्वयमात्रबोधे उक्तकार्यकारणभावाङ्गीकारात् । चैत्रमात्रप्रकारकस्याभेदसंसर्गकबोधस्येष्टवादिति भावः । विरुद्धविभक्तिर्विरुद्धार्थकविभक्तिर्विभिन्नार्थकविभक्तिरिति यावत् । तादृशविभक्तिराहित्यमुक्तबोधे तन्त्रम् । राज्ञः सुतस्य धनमित्यत्र तु विभक्त्योर्न समानार्थकत्वमेकजन्यत्वस्यापरत्र स्वत्वस्य तदर्थत्वात् । राज्ञः पुरुषस्य धनमित्यत्र पक्षीद्वयस्य स्वत्वार्थकत्वेऽपि तयोः स्वत्वयोर्भिन्नत्वान्न दोष इति तु परे । समासे व्युत्पत्त्यन्तरमङ्गीकुर्म इति चेदतिरिक्तशक्तिसिद्धिरप्रत्युहैव । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह-प्रपञ्चितं वैयाकरणभूषणे इति । अत एव पृथगुपस्थित्यभावप्रयोजकसमुदायशक्तेरङ्गीकारादेव । भक्षमुद्दिश्येति । हेतृचमस इति समाख्यावल्यात् प्राप्तं वपदकर्तृसंबन्धं भक्षमुद्दिश्येत्यर्थः । एकप्रसरत्वमिति । एकरूपेत्यर्थः । भङ्गापत्तेरिति ।

‘त्र्यङ्गैः स्विष्टकृतं यजति’ इत्यत्राङ्गानुवादेन त्रित्वविधानं न युक्तम् । एकप्रसरताभङ्गापत्तेरिति दशमे च निरूपितं संगच्छते । संगच्छते चारुणाधिकरणारम्भः । अन्यथा ‘अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति’ इत्यत्रारुणपदवदितरयो-

तथा सति सामर्थ्यविधानात् समासो न स्यादिति भावः । समासे हि सर्वपदार्थानामुद्देश्यत्वं विधेयत्वं वा भवति यथा धवखादिरौ सुन्दराविमौ वृक्षौ धवखादिराविति न तु समासघटकैकपदार्थमुद्दिश्यात्तदघटकापरपदार्थस्य विधेयत्वमुक्तदोषादिति प्राथम्यविशिष्टभक्ष इति मीमांसानुतीयाध्यायस्थस्तत्रत्यसिद्धान्तो बोध्यः । ‘त्र्यङ्गैः स्विष्टकृतम्’ इति । पशौ हृदयस्याग्नेज्वद्यतीत्यादिना एकादशाङ्गानां होमस्य विधानेन प्रकृतिवद्विकृतिरिति न्यायेनैकादशभिरङ्गैर्होमे प्राप्ते इदं वाक्यमारभ्यते । तत्राङ्गानुवादेन त्रित्वं विधीयत इति पूर्वपक्षः । उक्तदोषात् त्रित्वविशिष्टाङ्गान्तरविधिरिति दशमाध्याये सिद्धान्तितम् । एतच्च विशिष्टशक्तिपक्षे घटपदाद् घटघटत्वयोरिव विशिष्टशक्त्यैव प्राथम्यविशिष्टभक्षस्य त्रित्वविशिष्टाङ्गानां चोपस्थित्या वाक्यार्थरूपोद्देश्यविधेयभावेनान्वयासंभवात् संगच्छते । समुदायशक्त्यनङ्गीकारे तु प्रथमो भक्षस्त्रिभिरङ्गैरिति तत् समासेऽपि तथान्वयः स्यादित्यधिकरणविरोध इति समुदितार्थः । न च यद्वृत्तयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणमित्याद्यभियुक्तोक्तस्योद्देश्यताविधेयतानियामकस्य यद्वृत्तयोगप्राथम्यादेरभावान्न भक्षार्थानुवादेन प्राथम्यादिविधिरिति वाच्यम् । प्रथमो भक्ष इत्यादावपि तदनापत्तेः । अत एवेत्याद्युद्देश्यलक्षणमित्यत्रादिपदं यद्वृत्तादेरनियतत्वसूचनार्थमुपात्तम् । विधेयताया विशेष्यमात्रनिष्ठतया न प्राथम्यादेर्विधेयत्वमित्यपि न युक्तम् । अज्ञातस्यैव विधेयत्वेन तस्य विशेष्यत्ववद् विदोषणस्यातत्त्वसंभवेन तथा नियमे मानाभावात् । अत एव प्रथमो भक्ष इत्यत्र प्राथम्यादेर्विधेयत्वानुभवः । न च समस्तभिरपदजन्योपस्थितिस्तादृक्शाब्दबोधे हेतुतया न भक्षानुवादेन प्राथम्यादिविध्यापत्तिरिति वाच्यम् । पीतवासाश्चतुर्भुजः प्रथमभक्षः कर्तव्य इत्यादौ तथा बोधानापत्तेः । न च भेदप्रतियोगिसमस्तपदे उद्देश्यविधेयवाचकोभयघटितत्वं निवेद्योक्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनान्न कोऽपि दोष इति वाच्यम् । तथाविधगुरुतरकार्यकारणभावकल्पनापेक्षयैकार्थीभावकल्पनायामेव समीचीनतेत्याशयात् । परे तु लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति सप्तदशारनिर्वाजपेयस्य यूषो भवतीत्यादौ उष्णीषयूपारत्री अनूद्य लौहित्यसप्तदशत्वयोर्विधिरिति मीमांसकसिद्धान्तात् तथान्वयाभिप्रायेण समासप्रयोगे प्राप्तत्वादिपर्यालोचनोत्तरं तथा बोध इष्ट एव । अत एव ‘अपृक्त एकाल्प्रत्ययः’ ‘अभ्यासलोपश्च’ इत्यादिप्रयोगे तथार्थोऽनुभूयते । अत एवालंकारिकैः

रूप्यकाब्दत्वादिगुणमात्रवाचकतयामूर्तत्वात् क्रीणातौ करणत्वासंभवस्य तुल्यत्वा-
दारूप्यस्यैव वाक्याद्भेदशङ्काया असंभवादिति प्रपञ्चितं भूषणे । तस्मात् समास-

‘न्यक्कारोऽयमतीव मे यदरयः-’ इत्यादौ उद्देश्यवाचकैर्दण्डप्राकृतेऽपि विलम्बेन तथा-
प्रतीतिः समासे तथाप्रतीत्यभाव इत्युत्सर्गपरित्यागेन सहृदयोद्देशो वा दुष्टिवीजं तद्वदे-
वास्यापि नासाधुतोक्तसौत्रप्रयोगात् । न चात्र यूपारत्न्युष्णीषयोरतिदेशप्राप्ततयातिदे-
शादुपदेशस्य बलवत्त्वेन सप्तदशारभिरित्यादिवाक्यैरेवादौ विशिष्टविधिरिति वाच्यम् ।
यूपकत्वजामप्यतिदेशप्राप्ततयातिदेशपर्यालोचनोत्तरमेवास्य विधेः प्रवृत्तेः । प्रथमभक्ष
इत्यत्र तु समाख्यापेक्षया वाक्यश्रुत्योर्बलवत्त्वेन प्रथमतो तेनैव भक्षान्तरविधिरित्यादि
मञ्जूषायां प्रत्यपीपदन् । **प्रपञ्चितं भूषणे** इति । अरुणचैकहायन्या पिङ्गास्या सोमं
क्रीणातीति श्रुतम् । अत्र हि किमरुणिमा वाक्याद्वित्त्वा प्राकरणिकेषु सर्वद्रव्येषु निवेश्यः
किं वा क्रीणातिना संबन्धमनुभूय तदङ्गं सदेकहायन्यामिति संदेहे अमूर्तत्वेन क्रियायां
करणकारकत्वासंभवात् ततो विच्छिन्नस्य प्रकरणकल्पितश्रुतानुमितैकदेशनिष्पन्नेन वाक्ये-
नारुणिमा प्रकृतापूर्वसाधनीभूतद्रव्यपरिच्छेदं भावयेदित्याकारकेण प्राकरणिकसर्वद्रव्याङ्गत्व-
मिति पूर्वपक्षे योग्यताज्ञानं न शाब्दबोधकारणमपि त्वयोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्व-
मात्रं ततश्च तादृशनिश्चयाभावसत्त्वे आरुण्यस्यापि क्रियान्वयबोधोपपत्तिः पाणिंनकस्तु
द्रव्येणान्वय इति न ततो विच्छेदकशङ्केत्यादि सिद्धान्तितम् । अत्र पूर्वपक्षस्य नोक्तिसं-
भवः । विशिष्टशक्त्यस्वीकारे पिङ्गाक्ष्यैकहायनीशब्दयोरपि पिङ्गत्वाक्षित्वैकत्वहायनत्वादेर्वा-
च्यतया तेषामप्यमूर्तत्वात् । क्यणकरणत्वासंभवेन करणस्यैतद्वाक्यादलाभेनारुण्यप्राकर-
णिककरणानुवादासंभवे वा वाक्यभेदशङ्काया एवासंभवात् । त्रिष्वपि लक्षितद्रव्यविध्युप-
पत्तौ वाक्यभेदशङ्काया निर्वाजित्वाच्च । त्रयाणामपि लाक्षणिकत्वाविशेषे बहुव्रीह्योरेव
द्रव्यविधायकत्वं नारुणपदस्येत्यत्र विनिगमकासंभवात् इत्यादिकं **भूषणे** निरूपितम् ।
अथ तृतीयाया निष्कृष्टशक्तिवाचकत्वमिति मीमांसकसिद्धान्तान्ततया मास्तु करणीभूत-
द्रव्यानुवादः । अरुणेति प्रातिपदिकेन गुणवाचकेनापि लक्षणया द्रव्यप्रतिपादकत्वं संभव-
त्येव । प्रतिपाद्यं द्रव्यं च तृतीयासंयोगात् करणत्वेन भासते तथा च गुणविशिष्टकरण-
प्रतीतिरुपपद्यते । एवं च करणतयावगतानि द्रव्याणि विशेष्यतया तद्वटितविशेषणरूपो
गुणः परिच्छेदकत्वेन विधीयते येन द्रव्येण किञ्चित् क्रियते तद्वहणगुणकेनेति पूर्वपक्षः
संभवदुक्तिक एव । एतेन वाक्यभेदेनारुण्यस्य प्रकरणे निवेशो न संभवति । न तावत्
प्राकरणिकक्रियाभिः संबन्धो मूर्तत्वात् । न द्रव्यैः कारकत्वात् । अनुयातानि च द्रव्याणि

शक्तिपक्षो जैमिनीयैरवश्याभ्युपेय इत्यास्तां विस्तरः ॥ ३३ ॥

राजपुरुष इत्यादौ राजा चासौ पुरुषश्चेत्येव विग्रहः । चित्रगुरित्यादौ च चित्राणां गवामयमित्येव समानार्थत्वानुरोधात् । यद्यपि प्रथमान्तानामेव बहुव्रीहिरिति 'शेषो बहुव्रीहिः' इति सूत्राल्लभ्यत इति प्रथमान्तं पक्षे वाक्यं चित्रा गावो यस्येत्येवं संभवत्येवं 'षष्ठी' इति समासविधानाद् राज्ञः पुरुष इति पक्षे वाक्यं तथापि तस्य न विग्रहत्वं भिन्नत्वार्थत्वात् । किं तूक्तस्यैवेति मीमांसकाः । तान् प्रसङ्गान् निरस्यति—

आख्यातं तद्धितकृतोर्यत् किंचिदुपदर्शकम् ।

गुणप्रधानभावादौ तत्र दृष्टो विपर्ययः ॥ ३४ ॥

तद्धितकृतोर्यत् किंचिदर्थबोधकं विवरणमाख्यातं तत्र विपर्ययो दृष्टः ।

कथं गुणसंबन्धे भजेरन् इति पूर्वपक्षोऽपि निरस्तः । तदेतद् ध्वनयन्नाह—आस्तां विस्तर इति । अत्र जैमिनीयानां जैमिनिमूत्रविरोधोऽन्यन्तमनुचित इति ध्वनयार्थं जैमिनीयैरवश्याभ्युपेय इत्युक्तमित्यलं विस्तरेण ॥ ३३ ॥

ननु समुदायशक्तिव्यवस्थापनानन्तरम् आख्यातं तद्धितकृतोः इत्याद्यभिहितं तत्र पूर्वग्रन्थसंगतमित्याशङ्कानिराकरणाय संगतिमाह—राजपुरुष इत्यादावित्यादिना । राजा चासाविति । राजपदं विग्रहस्थमपि राजसंबन्धिवरमत एव विग्रहस्य समास-समानार्थत्वाहानिरिति भावः । इत्येव विग्रह इति । एव शब्देन प्रसिद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यस्य निरासः । अथ पष्ठान्तेन विग्रहेऽपि राजपदं राजसंबन्धिलक्षकं पष्ठभेदा-दार्थिकेत्यभ्युपगमे निर्वहत्येव समानार्थत्वमिति चेत् पष्ठार्थाभेदस्य विग्रहे राजसंबन्धिनं प्रति प्राधान्येन भानात् समासे तथाभानात् समानार्थत्वहानेरनुद्धारात् । पष्ठ्या अभेदार्थत्वे मानामावाच । अथ साधुत्वार्थिका षष्ठीति न समाससमानार्थत्वहानिरिति चेन्न । संबन्धे एव पष्ठ्या विधानात् साधुत्वार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेः । गवामयमित्येवेति विग्रह इत्यनुपपज्यते । 'शेषो बहुव्रीहिः' इति सूत्रादिति । यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः । तादृशं न स्वादित्रिकमेवेति भावः । प्रथमान्तम् । प्रथमान्तपदघटितं पक्षे लभ्यत इति समासस्य वैकल्पिकत्वादिति भावः । भिन्नार्थत्वादिति । राजपुरुष इति समासाद्राजसंबन्धिप्रकारकारकस्याभेदसंसर्गकस्य राज्ञः पुरुष इति वाक्या-

तथा हि । आक्षिकः कुम्भकार इत्यत्राक्षकरणकव्यापाराश्रयः कुम्भानुकूलव्यापाराश्रय इति बोधः । अक्षैर्दीव्यति कुम्भं करोतीत्यत्राक्षकरणिका देववानुकूला भावना कुम्भोत्पत्त्यनुकूला भावनेति बोधः । कृत्प्रत्यये कारकाणामाख्याते भावनायाः प्राधान्यं वदतो मीमांसकस्यापीति गुणप्रधानभावांशव्यत्यासो न विवरणत्वबाधक

द्राजसंबन्धप्रकारकस्याश्रयत्वसंसर्गकस्य बोधस्योदयात् । चित्रगुरिति समासाच्चित्राभिन्न-
गोस्वामीत्याकारकस्य वर्तिपदार्थप्रकारकान्यपदार्थविशेष्यकस्य चित्रा गावो यस्येति
वाक्यात् तत्स्वामिकाश्चित्रा गाव इत्याकारकस्यान्यपदार्थप्रकारकस्य वर्तिपदार्थविशेष्य-
कस्य बोधस्योत्पादाद्भिन्नार्थत्वमिति भावः । आक्षिक इति । 'तेन दीव्यति-' इति
सूत्रेण देवनकर्तरि ठक् । कुम्भकार इत्यत्र 'कर्मण्यण्' इति सूत्रेणाण् । कुम्भानुकू-
लेति । कुम्भकर्मकोत्पत्त्यनुकूलव्यापारेत्यर्थः । उत्पत्त्यनुकूलव्यापारो धात्वर्थः । मीमां-
सकस्यापीति । अस्य संमतिरिति शेषः । न विवरणत्वबाधक इति । तद्धित-
कृतोरर्थप्रदर्शकवाक्ये गुणप्राधान्यवैपरीत्येऽपि विवरणत्ववच्चित्रा गावो यस्येति वाक्येऽपि
विवरणत्वसंभवादिति भावः । तथा च वृत्तिजन्यबोधसमानविषयकबोधजनकत्वमेव
विग्रहस्य नियतं न तु तज्जन्यबोधसमानप्रकारकबोधजनकत्वमपीति भावः । किं च
चित्राणां गवामयमिति विग्रहस्य मत्वर्थे बहुव्रीहिः । कर्तृकर्मवचनेनाप्रथमायाः अप्रथमा-
विभक्त्यर्थे बहुव्रीहिः शेषो बहुव्रीहिसिद्धकतः शेष इत्यादि मुनिवचनविरुद्धत्वं च । न
चालौकिके प्रथमान्तानामेव प्रवेशान्न तद्विरोध इति वाच्यम् । अलौकिके यद्विभक्त्यन्तानां
प्रवेशस्तद्विभक्त्यन्तानामेव परिनिष्ठितानां लौकिकेऽर्थबोधनाय सति संभवे प्रवेशस्यौ-
चित्यात् न तु षष्ठ्यन्तानामुपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । एतेन
षष्ठ्यन्तघटितविग्रहो न युक्तः । अपषष्ठ्यर्थबहुव्रीहावेवमप्यर्थसाम्यासंभवात् । प्राप्तस्योदक-
स्यायमिति विग्रहादुदककर्तृकप्राप्तिकर्मत्वाकारकस्य समासजन्यस्य सर्वानुभवसिद्धस्यानु-
दयात् प्राप्तिकर्तृदकसंबन्धीत्याकारकबोधस्यैव तत् उदयादिति दूषणं न सम्यक् । उदक-
कर्तृकप्राप्तिकर्मत्वादिरूपस्यैव संबन्धस्यैव भावेन समाससमानार्थकत्वनिर्वाहादिति मीमां-
सकनव्योक्तं प्रत्युक्तम् । उक्तमुनिवचनविरुद्धत्वात् । परे तु तत्र दृष्टे विपर्यय इत्यस्य
तद्धितकृतं तयोः कर्त्रादिमुख्यविशेष्यकबोधजनकत्वं विग्रहवाक्यस्य भावनामुख्यविशे-
ष्यकबोधजनकत्वात् तद्धितान्तादेर्यत्प्रकारकयद्विशेष्यकबोधजनकत्वं तद्विपरीतविशेष्यवि-
शेषणभावापन्नार्थविषयकबोधजनकत्वं पर्यवसितमित्यर्थो न एकाधिकारणे पूर्वदृष्टगुणत्याग-
पूर्वकगुणान्तरस्वीकारस्यैव विपर्ययपदार्थत्वात् विशेष्यतादिविपर्ययसत्त्वेऽपि तस्याख्यात-

इति नात्र पाक्षिकस्य चित्रा गावो यस्येत्यादेर्विग्रहत्वे बाधकमस्तीति भावः ॥३४॥

नन्वस्त्वेकरीत्या सर्वत्र समासे शक्तिरस्तु च तथा विग्रहस्तथापि पष्ठीतत्पुरुष-
कर्मधारययोः शक्तिमत्त्वाविशेषाग्निषादस्थपत्याधिकरणसिद्धान्तसिद्धिर्न स्यादत-
आह—

पर्यवस्यच्छाब्दबोधार्ददूरप्राक्क्षणस्थितेः ।

शक्तिग्रहेऽन्तरङ्गत्ववहिरङ्गत्वचिन्तनम् ॥ ३५ ॥

पर्यवस्यंश्चासौ शाब्दबोधश्च तस्माददूरश्चासौ प्राक्क्षणश्च तदानीन्तनलाघवमादा-

निष्ठत्वाभावात् । किं तु लोके प्रयुक्ततिङन्तस्य यथा भावनामुख्यविशेष्यकबोधजनकत्वं
न तथा बोधजनकत्वे विग्रहवाक्यस्थस्य तस्यापि तु तद्वितान्तादिवत् कर्त्रादिमुख्यवि-
शेष्यकबोधजनकत्वमित्यर्थः । एवं च न वृत्तिवाक्ययोः समानार्थत्वभङ्गः । हरिपद्यमे-
तत्समानार्थकं पुञ्जराजेनाप्येवमेव व्याख्यातम् । अनेन तुल्यन्यायात् सर्वत्र वृत्त्यर्थ-
प्रदर्शकवाक्ये एवमेवेति सूचितम् । तथा च 'तद्वहति—' इति सूत्रभाष्ये वहत्यर्थे रथा-
दिभ्यः प्रत्ययविधानमनर्थकम् । 'तस्येदम्' इति विहितत्वादित्युक्त्वा बोधेति द्रव्यप्रधानं
वहतीति क्रियाप्रधानमित्याशयेनान्यः शब्दो रथं वहत्यन्यो रथस्य बोधेति तेन न
सिध्यतीत्याशङ्क्यार्थसामान्यात् सिद्धं य एवार्थो रथं वहति स एव रथस्य बोधेति
तद्वैयर्थ्यदार्ढ्यं कृत्वा द्विरर्थ्य इत्यादौ यतो लुङ् मा भूदित्येतदर्थे तदिति सिद्धान्त उक्तः ।
इदमर्थे प्रत्यये तु तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वेन 'दिगोर्लुक्' इति लुक् स्यात् । अयं तु न
प्राग्दीव्यतीय इति न लुक् । य एवार्थ इत्यादे रथस्य विग्रहभूते रथं वहतीत्यत्र स एव
तद्विग्रहभूते रथस्य बोधेत्यत्रेत्यर्थः । विग्रहाघटकतिङन्ते तु क्रियाप्राधान्यमेव वृत्तिवा-
क्ययोः समानार्थत्वानुरोधात् । चित्रा गावो यस्येति विग्रहस्यापि चित्रगोस्वामीत्याका-
रकबोधजनकत्वमङ्गीक्रियते । एवं प्राप्तोदक इति समासः प्रासिकर्तुदककर्मेत्याकारकमेव
बोधं जनयति । उदके विशेष्यभूते कर्मत्वनिरूपकत्वस्य बाधाद्विशेषणप्राप्तौ शिखी ध्वस्त
इतिवत् पर्यवसानम् । अत एव प्राप्तादिपदे विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासकल्पनप्रयुक्तगौरवं
न । अत एव पूर्वोत्तरपदयोः सामानाधिकरण्यस्य बहुव्रीह्युपजीव्यस्य भङ्गः । पुंवद्भावा-
नापत्तिश्च नेति वदन्तीत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ३४ ॥

तथा विग्रहः । चित्रा गावो यस्येत्याद्याकारो विग्रहः । अधिकरणसिद्धान्त इति ।

१ °बोधाद्विदूर° D.; °बोधाविदूर° D_१, D_२. २ °स्थिते D_१, D_२. ३ तस्माद्विदूर°
D., D_१.

याधिकरणाविरोध इत्यर्थः । अयं भावः—निषादस्थपतिपदं समासशक्तिपक्षे निषादरूपे निषादानां च स्थपतौ निषादस्वामिके पुरुषान्तरे चेत्थेवं^१ सर्वत्र शक्तत्वान्नानार्थम् । तथा च 'नानार्थे तात्पर्याद्विशेषावगतिः' इति न्यायेन तत्कल्पनायां पैद्वये पूर्वोपस्थितार्थ एवोपस्थित्यादिल्लाघवात् तत् कल्पयत इति । परेषामपि सति तात्पर्ये यष्टीः प्रवेशयेतिवल्लक्षणाया दुर्वारत्वात् तात्पर्यमेव

निषादस्थपतिशब्दे लक्षणाविरहेण लाघवात् कर्मधारयो न तु षष्ठीतत्पुरुष इति तत्रत्य-
सिद्धान्तस्तत्सिद्धिर्विशिष्टशक्तिस्वीकारे न स्यादुभयत्रापि शक्त्यविशेषादित्यर्थः । ननु
शक्तिग्रहेऽन्तरङ्गत्वमित्याद्यसंगतमुभयत्रापि शक्तिग्रहस्य तुल्यकालत्वादित्यत आह—अयं
भाव इति । निषादस्वामिके इति । निषादः स्थपतिः स्वामी यस्येति बहुव्रीहिपक्षे
इत्यर्थः । स्थपतिशब्दः स्वामिपरायः । सर्वत्र शक्तत्वादिति । तात्पर्यसत्त्वे निषाद-
संबन्धस्वान्यादेरपि बोधोत्पत्तेस्तत्रापि शक्तिरावश्यकौ सति तात्पर्ये परमतेऽपि लक्षण्या
तद्बोधस्योत्पत्तेरिष्टत्वादिति भावः । एतच्चात्रैव समनन्तरं वक्ष्यति । तत्कल्पनायां
तात्पर्यकल्पनायाम् । पूर्वोपस्थितार्थ एवेति । निषादरूपस्थपतावेव निषादसंबन्ध्यपे-
क्षया तदुपस्थितेः प्रथमत एवोत्पत्तेः । एवं च शक्तिनिर्णायकतात्पर्यग्रहेऽन्तरङ्गत्वादिकं
पर्यवस्यति । कर्मधारयशक्तिग्रहापेक्षया षष्ठीतत्पुरुषशक्तिग्रहस्य षष्ठ्यर्थरूपाधिकविषयत्वेन
गौरवमित्यपि बोध्यम् । उपस्थित्यादीत्यादिपदेन वा तद् ग्राह्यम् । जैमिनिरप्याह ।
'स्थपतिनिषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्' इति । निषादाभिन्नः स्थपतिरेव निषादस्थप-
तिशब्दबोध्यः । अन्तरङ्गत्वेन तथाविधेऽर्थे शीघ्रोपस्थितिजनकत्वानुकूलशक्तिरूपसामर्थ्या-
दिति तदर्थः । ननु मीमांसकमते समासे शक्त्यभावात् कथं तन्नानार्थमत आह—परे-
षामिति । सति तात्पर्ये इति । षष्ठीतत्पुरुषाद्यर्थे तात्पर्ये सतीत्यर्थः । यष्टीः प्रवे-
शयेति वदिति । तत्र यथा सुह्यान्वयानुपपत्त्यभावेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरलक्ष-
णिकत्वमेवं प्रकृतेऽन्वयानुपपत्त्यभावेऽपि षष्ठीतत्पुरुषाद्यर्थे तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणा दुर्वी-
रेत्यर्थः । चिन्तनमित्यस्य नासंगतमिति शेषः । स्थपतिशब्दस्य गुणशब्दत्वं निषादशब्दस्य
'अम्बष्ठः शूद्रां निषादो जातः पारसवोऽपि वा' इति स्मरणादनुलोमजातिविशेषवाचि-
त्वम् । तथा च कर्मधारयस्थपतिशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तिस्तु न शङ्क्या राजदन्तादित्वेन
परनिपातात् । अथ संबन्ध्यशो नित्यसाकाङ्क्षत्वेन षष्ठीतत्पुरुष एव युक्त इति चेन्न ।

१ वेत्थेवं D_१. २ नानार्थकम् P.; नानार्थत्वम् D_२. ३ पदद्वयेन D_३. ४ लाघ-
वोक्तं तत् D.

कल्प्यकोटाववशिष्यत इति दिक् ॥ ३५ ॥

इति^१ वैयाकरणभूषणसारे समासशक्तिनिरूपणं
समाप्तम् ॥

जैमिनिना 'लिङ्गदर्शनाच्च' इति हेत्वन्तराभिधानात् । लिङ्गं च दृश्यते कूटं दक्षिणेति ।
कूटं हि निषादानामेव स्वमिति शाबरभाष्यमिति दिक् ॥ ३५ ॥

इति भूषणसारव्याख्याने कालोपनामककेशवदीक्षिततनयहरिरामकृते
समासशक्तिनिरूपणम् ॥

^१ P. and D. have कौण्डभट्टविरचिते after इति. ^२ श्रीवैया° D₂. ^३ °शक्तिनि-
र्णयः ॥ D₁.

शक्तिनिर्णयः ।

शक्तिप्रसङ्गात् तस्याः स्वरूपमाह—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा ।

अनादिरर्थः शब्दानां संबन्धो योग्यता तथा ॥ ३६ ॥

इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां स्वविषयेषु चाक्षुषेषु घटादिषु यथानादिर्योग्यता तदीयचाक्षुषादिकारणता तथा शब्दानामप्यर्थैः सह तद्वोधकारणतैव योग्यता सैव शक्तिरित्यर्थः । ननु न बोधकारणत्वमनादिभूतं शक्तिः । आधुनिकदेवदत्तादिपदे तदभावात् । अन्यथा पित्रादिसंकेताज्ञानेऽप्यन्वयबोधप्रसङ्गः । लाक्षणिकातिव्यासेऽप्येति संकेतज्ञानमपि हेतुर्वाच्यम् । तथा चावश्यकत्वात् स एव

अनादिर्योग्यतेत्यत्र न आदिर्यस्याः सेत्यर्थो बोद्धव्यः । सैव शक्तिरिति । बोधकारणतारूपैव शक्तिरित्यर्थः । परे तु अर्थसंबन्धस्य शब्दस्यार्थविषयकबोधजनकत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानशक्तिरूपसंबन्धस्य बोधजनकत्वरूपत्वं न संभवति । आत्माश्रयापत्तेः । शब्दबोधरूपफलोपधायकत्वान्यथानुपपत्त्या शब्दबोधस्वरूपयोग्यतात्मकतत्कारणतारूपा शक्तिः कल्प्यत इत्यभ्युपगमे नोक्तदोष इति चेत् तथापि प्रमाणानां जनकत्वतद्घटितातिरिक्तसंबन्धस्यैव प्रमितिप्रयोजकत्वस्य क्लृप्तयेह जनकत्वस्य तथात्वकल्पनमनुचितम् । अन्यथा वह्न्याद्यनुमितिजनकत्वमेव धूमादिनिष्ठं वह्निधूमयोः संबन्धः स्यात् । विशिष्टप्रतीतिनियामकस्यैव संबन्धतया जनकत्वस्य तदनियामकतया संबन्धत्वासंभवश्च । इच्छायास्तद्विषयत्वस्य च विशिष्टप्रतीतिनियामकत्वाभावेन संबन्धत्वासंभवो बोध्यः । तस्मात् पदार्थान्तरं शक्तिरित्याहुः । नैयायिकः शङ्कते-नन्विति । इयं शङ्का पदार्थान्तरं शक्तिरिति पक्षेऽपि बोध्या । आधुनिके । आधुनिकसंकेतिते । तदभावात् । अनादिशक्तेरभावात् । तथा च ततः शब्दबोधो न स्यात् । ननु तत्र शक्त्यभावे नानाभावोऽज्ज आह-अन्यथेति । अन्यथा । तत्र शक्तिसत्त्वे । पित्रादिसंकेतिते । यदि तत्र शक्तिः स्यात् तर्हि पित्रादिसंकेतज्ञानस्य तद्ग्राहकतया संकेतज्ञानश्चन्यसमवेऽपि तद्ग्राहकसामग्रीसत्त्वेन तद्ग्राह्यपत्तिः । न चेष्टापत्तिः । तद्ग्राह्यकारणघटितसामग्र्या शब्दबोधापत्तेरित्यर्थः । तथा च योग्यानुपलब्धिरेव तदभावे मानमिति भावः । लाक्षणिकेति । तस्यापि बोधजनकतया तत्राप्यनादिशक्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । संकेतज्ञानमिति ।

शक्तिरस्तु । स चाधुनिके पित्रादेर्गवादौ चेश्वरस्येति चेदत्रोच्यते । सङ्केतो न स्वरूपेण हेतुः । अगृहीतशक्तिकार्थबोधप्रसङ्गात् । नापि सामान्यतो ज्ञातः प्रमेयत्वादिना तज्ज्ञानेऽपि बोधप्रसङ्गात् । नापि संकेतत्वेन तज्ज्ञानं हेतुः । गवादिपदेष्वीश्वरादेः सङ्केतत्वेन तज्ज्ञानशून्यानां लौकिकमीमांसकादीनां तत्तदर्थ-
बोधजनकत्वग्रहवतामेव बोधेन व्यभिचारात् । न चार्थधीजनकतावच्छेदकत्वेन तज्ज्ञानं हेतुस्ततोऽपि लाघवेनार्थधीजनकत्वेनैव हेतुतायामस्मत्पक्षसिद्धेः । न

संकेतस्येश्वरेच्छारूपस्य तीरादौ लक्ष्ये गङ्गापदजन्यबोधविषयत्वसत्त्वेऽपि न गङ्गापदजन्य-
बोधविषयत्वत्वेन तीरांशे गङ्गापदजन्यबोधविषयत्वप्रकारकत्वमीश्वरेच्छाया उपेयते किं तु
शुद्धविषयत्वत्वेनैव । तावतैव भगवदिच्छायाः सर्वविषयकत्वाव्याघातात् । तथा च
तत्पदजन्यबोधविषयत्वत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासंबन्धेन भगवदिच्छारूपसं-
केतप्रकारकज्ञानस्य शक्तिग्रहे हेतुत्वाङ्गीकारालाक्षणिके तथाविधसंकेतज्ञानाभावेन शक्ति-
ज्ञानासंभवेन शाब्दबोधोपपत्तये लक्षणाग्रहस्य हेतुत्वं कल्प्यते । एवं च शक्तिग्राहका-
भावेन लाक्षणिके तत्सद्भावे मानाभावेन न शक्तिरिति भावः । आधुनिके पित्रादे-
रिति । तत्र विशिष्य चैत्रादिपदजन्यबोधविषयो जायतामिति भगवत्संकेताभावात्
तादृशसंकेतग्राहककोशाद्यभावात् । द्वादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यादिति सङ्केतस्तु न विशिष्य
तत्तत्पदविषयक इति सोऽकिंचित्कर इति सङ्केतमात्रं शक्तिरिति भावः । स्वरूपेण
हेतुरिति । स्वरूपसन् हेतुरित्यर्थः । अगृहीतशक्तिकादिति । बहुव्रीहिपदमन्यपदार्थः
तत्पुरुषेणागृहीतशक्तिकादपि पदात् तत्पुरुषस्य शाब्दबोधापत्तिः । तद्वेतुशक्तेः सत्त्वादि-
त्यर्थः । सामान्यतो ज्ञातः । येन केनचिद्रूपेण ज्ञातः । तज्ज्ञाने इति । ईश्वरादि-
सङ्केते इत्यर्थः । लौकिकेति । लौकिकाश्च मीमांसकादयश्चेत्यर्थः । लौकिकपदेन पामरा
निरीश्वरवादिनो मीमांसका अत्र बोध्याः । आदिपदेन बौद्धादयः । ननु तेषामीश्वरसङ्केतत्वेन
ज्ञानासंभवेऽपि संकेतत्वेन तज्ज्ञानं संभवत्येवेत्यत आह-तत्तदर्थबोधजनकत्वग्रह-
वतामेवेति । एवेन सङ्केतत्वप्रकारकज्ञानव्युदासः । तथा च सङ्केतत्वज्ञानासत्त्वेऽप्यु-
क्तज्ञानाच्छब्दबोधात्पत्त्या व्यभिचारात् सङ्केतत्वेन ज्ञानमपि न हेतुरिति भावः । अर्थधी-
जनकतेति । अयं भावः । बोधजनकत्वं बोधजनकयोग्यता सा च तदवच्छेदकधर्म-
वस्त्वम् । स च क्लृप्तत्वादीश्वरादिसङ्केत एव । तस्य सङ्केतत्वेन ज्ञानस्य व्यभिचाराद्वेतुत्वा-
संभवेऽपि बोधजनकतावच्छेदकत्वेन ज्ञानस्य हेतुत्वं संभवत्येव व्यभिचाराभावादिति ।
तज्ज्ञानम् । सङ्केतज्ञानम् । लाघवेनेति । जनकतावच्छेदककोटावर्थधीजनकतावच्छेदक-

चाधुनिकदेवदत्तादौ सङ्केतज्ञानादेव बोधेनास्य व्यभिचारः । तत्रापीदं पदमेनमर्थं बोधयत्वित्तिच्छाग्रहे पदे तदर्थबोधकत्वस्यावगाहनेन व्यभिचाराभावात् । न च स्वातन्त्र्येणार्थबोधकताज्ञानं कारणं वाच्यमन्यथा नेदं तद्धीजनकमिति जान-
तोऽस्माच्छब्दादयमर्थो बुद्धोऽनेनेति जानतस्तद्ग्रहापत्तेरिति वाच्यम् । नेदं तद्धी-
जनकमिति ग्रहवतो बाधेन पदे परग्रहं जानतोऽपि तद्ग्रहासंभवात् । अन्यथा
भ्रान्तिज्ञस्यापि भ्रान्तत्वापत्तेरिति । इदं चार्थधीजनकत्वं पित्रादिसङ्केतज्ञानाद्
गृह्यतेऽतस्तज्ज्ञानात् पूर्वं न बोधः । नापि लाक्षणिकोच्छेदापत्तिरिष्टत्वाच्छक्ति-
ग्राहकव्यवहारस्य मुख्यलक्ष्यसाधारण्यात् । किं च प्रत्यक्षादिजन्योपस्थितेः

कोटावर्थधीजनकतावच्छेदकत्वस्यानिवेशेन लाघवम् । सङ्केतज्ञानादेवेति । एवशब्द-
स्तदर्थबोधजनकत्वग्रहव्यावर्तकः । अस्य । तदर्थबोधजनकत्वग्रहस्य । अवगाहनेनेति ।
स्वविषयेच्छादिज्ञानस्य स्वविषयेच्छादेर्यदंशे यत्प्रकारकत्वं तदंशे तत्प्रकारकत्वमिति
नियमेन तादृशेच्छाज्ञानस्य पदार्थबोधजनकत्वप्रकारकत्वस्याक्षतेरिति भावः । स्वात-
न्त्र्येणेति । इतराविशेषणत्वेनेत्यर्थः । अत्र तु प्रकारत्वांशे तस्य विशेषणत्वं बोधजन-
कत्वप्रकारकत्वस्येच्छायां प्रकारत्वादिति भावः । अन्यथा । स्वतन्त्रास्वतन्त्रसाधारण-
तज्ज्ञानमात्रस्य हेतुत्वे । तद्ग्रहापत्तेरिति । अर्थग्रहापत्तेरित्यर्थः । तत्रापि नञर्थभावे
विशेषणतया बोधजनकत्वस्यावगाहनात् । बाधेन । पदे बोधजनकत्वाभावनिश्चयेन ।
पदे परेति । इदं पदमेतदर्थबोधजनकमिति ज्ञानवानयमिति ज्ञानवतोऽपि । तद्ग्रहेति ।
पदे अर्थबोधजनकत्वग्रहानुदयादित्यर्थः । अन्यथा । तदभावनिश्चयसत्त्वेऽपि तत्र तद्वत्ता-
वगाहिज्ञानाभ्युपगमे । भ्रान्तत्वापत्तेरिति । भ्रान्तिज्ञस्य रजतत्वाभाववान् शुक्त्यादिः
रजतत्वेन रूपेणानेन गृहीत इति ज्ञानावश्यकत्वेऽपि रजतत्वाभाववच्छुक्तिविशेष्यकरज-
तत्वप्रकारकज्ञानसंभवात् तस्यापि रजतत्वग्रमाश्रयत्वं स्यादिति भावः । ननु गङ्गापदेऽपि
तीरबोधकत्वस्य सत्त्वेन तीरशक्तत्वमेव स्यादिति लक्षणोच्छेदापत्तिस्तामिष्टपत्त्या परिहरति-
नापीति । साधारण्यादिति । एवं च व्यवहारात् तत्रापि शक्तिग्रह एवेति भावः ।
एतेन तत्र शक्तिग्राहकक्रोशादेरभावात् गङ्गापदादौ तीरादिनिरूपिता शक्तिरभिमतेति
प्रत्युक्तम् । शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य सत्त्वात् । प्रसिद्धप्रसिद्धिभ्यां मुख्यलक्ष्य-
व्यवहार उपपादनीयः । ननु व्यवहारस्य लक्षणाग्राहकतयोपपत्तौ गङ्गादिपदे तीरादिवाच-
कत्वमप्रामाणिकमन्यायश्चानेकार्थत्वमिति न्यायविरुद्धं च । अत एव गङ्गापदस्य तीर-
पर्यायमध्ये क्रोशेन पाठ इत्यत आह—किं चेति । शाब्दबोधानङ्गत्वात् । तथोपस्थिति-

शाब्दबोधानङ्गत्वात् शाब्दबोधं प्रति शक्तिजन्योपस्थितेर्लक्षणाजन्योपस्थितेश्च कारणत्वं वाच्यम् । तथा च कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवं स्यात् । अस्माकं पुनः शक्तिजन्योपस्थितित्वेनैव हेतुतेति लाघवम् । अपि च लक्षणावृत्तिस्वीकारे कार्यकारणभावस्य प्रत्येकं व्यभिचारः । शक्तिजन्योपस्थितिं विनापि लक्षणाजन्योपस्थितितः शाब्दबोधात् । न चाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन तत्तदुपस्थितिमस्त्वं कार्यतावच्छेदकम् तत्तदुपस्थितित्वं च कारणतावच्छेदकम् । अनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गात् । किं च पदार्थोपस्थितिं प्रत्यपि शक्तिज्ञानत्वेन लक्षणाज्ञानत्वेन च

सत्त्वेऽपि अगृहीतशक्तिकस्य पुंसस्तेन शब्देन शाब्दबोधाजननात् तस्यास्तदनङ्गत्वं बोध्यम् । शक्तिजन्येति । शक्तिज्ञानजन्येत्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । ज्ञायमानवृत्तेरुपस्थितिहेतुत्वमिति नये तु यथाश्रुतमेव साधु । गौरवमिति । ननु तीरादौ गङ्गादिपदवाच्यत्वव्यवहाराभावेन तत्र शक्तिस्वीकारोऽनुचित इति लक्षणाख्यं वृत्त्यन्तरमवश्यमभ्युपेयम् । तथा च कार्यकारणभावद्वयकल्पनागौरवं न दोषायेत्यत आह—अपि चेति । अथवा तीरादिवोधजनकता गङ्गादिपदनिष्ठाप्रवाहबोधजनकतातो भिन्नेति निर्विवादमेव । एवं च तीरबोधजनकतायामपि शक्तित्वसंबन्धकल्पने तव मतेऽपि गौरवं शक्यसंबन्धरूपलक्षणा तु क्लृप्तैवेति न तत्कल्पनमधिकं तज्जन्योपस्थितेः शाब्दबोधहेतुत्वमात्रं मया कल्प्यत इति नाधिकं गौरवम् । बोधजनकतात्वं तु न शक्तित्वम् । अनुमानादिविधया बोधजनकतातिप्रसङ्गात् । तदतिरिक्तजनकतात्वस्य शक्तित्वोक्तौ तु गौरवमन्याश्रयश्चेति न्यायत्यागोऽपि नेत्याह—अपि चेति । व्यभिचारः । व्यतिरेकव्यभिचारः । तमुपपादयति—शक्तीति । अठ्येति । समवायघटितसामानाधिकरण्यविशिष्टाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेनेत्यर्थः । तेन चैत्रोपशक्तिजन्योपस्थित्यनन्तरं जायमानमैत्रीयशाब्दबोधस्याप्यव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेनोपस्थितिमत्त्वेन तदुपस्थितेर्मैत्रात्मन्यसत्त्वेऽपि न व्यभिचारः । मैत्रीयशाब्दबोधस्य चैत्रीयोपस्थित्यसमानाधिकरणत्वेन कार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् । सामानाधिकरण्यसंबन्धमात्रेण तत्तदुपस्थितिमत्त्वस्य कार्यतावच्छेदककोटौ निवेशे पूर्वकाले परकाले वोत्पन्ने तत्पुरुषीयलक्षणाजन्योपस्थितिजन्यशाब्दबोधे शक्तिजन्योपस्थितेरव्यवहितपूर्वक्षणे तदात्मन्यसत्त्वेन व्यभिचार इत्यव्यवहितोत्तरत्वानुसरणम् । अव्यवहितपूर्वकालोत्पन्ने तथाविधशाब्दबोधे व्यभिचारो मा प्रसाङ्क्षीदित्युत्तरत्वनिवेशनं व्यवहितोत्तरकालोत्पन्ने बोधे व्यभिचारव्यावृत्तयेऽव्यवधानांशोपादानम् । अनन्तेति । उपस्थितौ नामानन्त्येन तद्वेदेन कार्यकारणभावानन्यापत्तेरिति भावः । उक्तसंबन्धेन शक्ति-

हेतुतेति व्यभिचारो गौरवं च प्राग्वदेव द्रष्टव्यम् । न चेदं पदमेतदर्थबोधकमिति शक्तिज्ञानकार्यकारणभावकल्पनेऽपि पदतदर्थभेदेनानेकार्थकारणभावकल्पने गौरवं तवापि सैमम् । परस्परव्यभिचारवारणायाव्यवहितोत्तरत्वघटितत्वे च

ज्ञानजन्योपस्थितिविशिष्टशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति तादृशोपस्थितित्वेन कारणता लक्षणा-
जन्योपस्थितिविशिष्टशाब्दबोधं प्रति तथाविधोपस्थितित्वेन कारणतेति कार्यकारणभावद्वये-
नेवेऽपत्तौ न तदानन्त्यप्रसक्तिरिति न शङ्क्यम् । उपस्थितेस्तत्तद्व्यक्तित्वेनोपादानमन्त-
राव्यवहितोत्तरत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथा हि स्वध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणत्वे
सति स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वमव्यवहितोत्तरत्वम् । इदं च द्वितीयतृतीयक्षणसा-
धारणम् । क्षणद्वयस्य स्वध्वंसाधिकरणीभूतो यः स्वतृतीयक्षणस्तदध्वंसानधिकरणत्वात् ।
स्वाधिकरणभूतो यः क्षणः प्रथमक्षणस्तदध्वंसाधिकरणत्वाच्च । चतुर्थादिक्षणव्यावृत्तये
सत्यन्तस्य स्वपूर्वक्षणव्यावृत्तये विशेष्यदलस्योपादानम् । अत्र स्वपदं न शक्तिजन्यो-
पस्थितित्वादिना तथाविधोपस्थितिसामान्यपरम् । सर्वस्यापि क्षणस्य स्वपूर्वकालोत्पन्न-
तथाविधोपस्थितिध्वंसाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्वेन तत्तदवच्छिन्नभिन्नत्वाभावात् । किं तु
तत्तदुपस्थितिव्यक्तिपरम् । एवं चोपस्थितीनामानन्त्येन कार्यकारणभावानन्त्यं स्फुटमेव ।
व्यभिचारः । एकैकाभावे सत्यपरेणोपस्थितिजननात् । **गौरवम्** । कार्यकारणभावद्वयकल्पने
गौरवम् । पूर्वोक्तसंबन्धेन शक्तिज्ञानविशिष्टोपस्थितिं प्रति शक्तिज्ञानत्वेन कारणता । एवं
लक्षणाज्ञानविशिष्टोपस्थितिं प्रति लक्षणाज्ञानत्वेन कारणतोपगम्यते व्यभिचारवारणायेति
चेदनन्तकार्यकारणभावकल्पनाप्रयुक्तमतिगौरवमित्यर्थः । तत् सूचयन्नाह—**प्राग्वदिति**
पदतदर्थेति । पदं च तदर्थश्च तयोर्भेदेनेत्यर्थः । **कल्पने गौरवमिति** । घटपदध-
र्मिकघटरूपार्थबोधकत्वप्रकारकज्ञानत्वेन कलशादिपदधर्मिकतादृशज्ञानत्वेन च घटविषय-
कोपस्थितित्वावच्छिन्नं प्रति कारणतेतिवद् घटादिपदात् पटाद्युपस्थितेः परमते लक्षणाज्ञान-
जन्यत्वेनाभिमतस्य निर्वाह्य घटादिपदधर्मिकस्य पटाद्यर्थबोधकत्वप्रकारकज्ञानस्य पटा-
द्युपस्थितिं प्रति कारणताभ्युपेया । लक्षणाङ्गीकर्त्रा तु घटादिपदधर्मिकपटाद्यर्थबोधकत्व-
प्रकारकज्ञानस्य पटाद्युपस्थितिं प्रति कारणत्वं न कल्प्यं शक्तिसहकारेण घटादिपदात् पटा-
दिबोधाजननादिति भावः । **तवापि** । वैयाकरणस्यापि । **व्यभिचारेति** । घटपदधर्मिकपद-
बोधकत्वज्ञानं विनापि धटपदधर्मिकपदबोधकत्वप्रकारकज्ञानात् पदपदधर्मिकपदबोधकत्वज्ञानं
विनापि घटपदधर्मिकपदबोधकत्वज्ञानाच्च पदशाब्दबोधजननादित्यर्थः । **अव्यवहितेति** ।

१ 'ज्ञाने कार्यं' D. २ तत्तदर्थं P. ३ 'कल्पनेऽपि' P. ४ समानम् P., D.,
५ व्यभिचारात् नारं AI. ६ घटाद्यर्थं AI. ७ घटाद्युप AI. ८ पटं K.

सुतरामिति वाच्यम् । शक्तिभ्रमानुरोधेन तत्तत्पदतत्तदर्थभेदेन कार्यकारणभा-
वानन्त्यस्य तवापि साम्यात् । लक्षणाकार्यकारणभावकल्पनागौरवं परं तवा-
तिरिच्यते । अथ वृत्तिजन्योपस्थितित्वेनैव शाब्दबोधहेतुता वृत्तिज्ञानत्वेन च
पदार्थोपस्थितिकारणतेत्येवं मया वाच्यमिति चेन्न । शक्तिलक्षणान्यतरत्वस्य
शाब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलपदपदार्थसंबन्धत्वस्य वा वृत्तित्वस्य कारण-
तानवच्छेदकत्वात् । शक्तित्वमपेक्ष्य गौरवाच्छाब्दबोधहेतुतावच्छेदकस्य पदा-
र्थोपस्थितिवृत्तेरज्ञाने तद्घटितकार्यकारणभावग्रहस्यासंभवात् । अथ

कार्यतावच्छेदकत्वाव्यवहितोत्तरत्वघटितत्वे चेत्यर्थः । तथा च स्वसामानाधिकरण्यविशि-
ष्टत्वाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेनैकैकज्ञानविशिष्टोपस्थितित्वावच्छिन्नं प्रति तत्तज्ज्ञानत्वेन हेतुत्वं
स्वीकार्यम् । एवं तत्तदुपस्थितिकार्यतावच्छेदकशरीरेऽपि उक्तविशिष्टसंबन्धेन तत्तदुप-
स्थितिबैशिष्ट्यं निवेश्यमन्यथा व्यभिचारापत्तेरिति भावः । सुतरामिति । तथाविधज्ञा-
नानामानन्त्येन कार्यकारणभावानन्त्यापत्त्यातिशयितं गारवमिति सूचनाय प्रकर्षप्रत्ययः ।
शक्तिभ्रमेति । सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वमनभ्युपगच्छतापि शक्तिभ्रमसहकृतघटपदे-
नापि पटबोधाङ्गीकारात् तन्निर्वाहाय घटपदधर्मिकपटशक्तिज्ञानत्वेन पटोपस्थितिं प्रति
हेतुतावश्यं स्वीकार्येति तत्तत्पदतत्तदर्थमन्तर्भाव्य कार्यकारणभावानन्त्यापत्तेस्तुल्यत्वाद-
ित्यर्थः । लक्षणाकार्येति । लक्षणाज्ञानकार्यकारणभावेत्यर्थः । वृत्तिजन्योपस्थि-
तित्वेनैवेति । वृत्तिज्ञानजन्योपस्थितित्वेनैवेत्यर्थः । एवशब्देन शक्तिज्ञानजन्योपस्थिति-
त्वेन लक्षणाज्ञानजन्योपस्थितित्वेन च हेतुत्वस्य च व्यवच्छेदः । मया वाच्यमिति ।
तथा मन्मतेऽपि एकैक एव कार्यकारणभाव इति न गौरवमिति भावः । शाब्दबोधहे-
त्विति । शाब्दबोधहेतुत्वासौ पदार्थोपस्थितिश्चेति कर्मधारयः । तथाविधोपस्थित्यनुकूलो-
यः पदपदार्थयोः संबन्धस्तत्त्वस्येत्यर्थः । गगनरूपार्थे शब्दस्य समवायसंबन्धेऽतिप्रसङ्ग-
वारणायानुकूलान्तं संबन्धविशेषणमुपात्तम् । उक्तसमवायस्याप्याकाशोपस्थित्यनुकूलत्वा-
दुक्तदोषस्तदवस्थ इति हेत्वन्तविशेषणमुपस्थितेरुपात्तम् । गौरवादिति । शाब्दबाधजन-
कत्वरूपशक्तित्वापेक्षया शक्तिलक्षणाभिन्नभेदात्मकशक्तिलक्षणाभ्यन्तरत्वरूपवृत्तित्वस्य शा-
ब्दबोधेत्यादिरूपस्य च गुणशरीरत्वादित्यर्थः । पदार्थोपस्थितिवृत्तेरिति । पदार्थो-
पस्थितिनिष्ठस्य शाब्दबोधहेतुतावच्छेदकस्य वृत्तिज्ञानजन्योपस्थितित्वरूपस्य । असंभ-
वादिति । शाब्दबोधानुकूलत्वं शाब्दबोधकारणत्वं तस्य च कारणावच्छेदकरूपापरिचये

१ भेदे कार्यं D₂. २ हेतुता P., A., D. ३ व्यावृत्तित्वस्य D₃. ४ कारणताव-
च्छेदकत्वात् P., D., D₂. ५ वच्छेदकस्या° K. K.

ममापि शक्तिज्ञानत्वेनैव हेतुता शक्यसंबन्धरूपलक्षणायां शक्तेरपि प्रवेशादिति चेन्न । शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थित्योः कार्यकारणभावे समानविषयत्वस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा गङ्गातीरयोः संबन्धाग्रहवतो गङ्गापदशक्तिं जानतोऽपि गङ्गायां घोप इति वाक्यात्तीरबोधप्रसङ्गः । शक्तिज्ञानस्य हेतोः सत्त्वात् । अपि च घटमानयेति वाक्यं हस्तिनं च स्मरतो घटपदादिभ्यो घटादेर्गजाद्धस्तिपकस्य च समूहालम्बनस्मरणवतो घटानयनवद्धस्तिपकस्यापि शाब्दबोधापत्तिः । समूहा-

दुर्ग्रहत्वेन उक्तहेतुतावच्छेदकस्य दुर्ज्ञेयत्वेन च कार्यकारणभावग्रहस्यासंभवादिति भावः । ममापीति । अस्य मते इति शेषः । शक्तिज्ञानत्वेनैवेति । न तु शक्तिज्ञानत्वेन लक्षणाज्ञानत्वेन चेत्यर्थः । हेतुतेति । शाब्दबोधं प्रति तदनुकूलपदार्थोपस्थितिं प्रति च हेतुतेत्यर्थः । तथा च नैयायिकादिनयेऽप्येकैक एव हेतुहेतुमद्भाव इति भावः । शक्यादशक्योपस्थितिलक्षणेति पक्षे लक्षणा न शक्तिघटिता प्रवाहादिरूपो यो वस्तुतो गङ्गापदादिशक्यार्थस्तद्वेतुकतीराद्युपस्थितेरेव लक्षणात्वात् तवोक्तज्ञानस्योपस्थितिं प्रत्युपयोग इत्यत आह-शक्यसंबन्धरूपेति । अत्र शक्तेर्विशेषणविधयेव प्रवेशो न तु उपलक्षणतया । एवं च गङ्गापदशक्यप्रवाहसंबन्धितीरमित्याद्याकारक एव लक्षणाग्रहे हेतुर्न तु प्रवाहसंबन्धितीरमित्याद्याकारक इति भावः । समानविषयत्वस्य । तत्प्रवेशस्य तद्विषयकोपस्थितौ तन्निष्ठविषयतानिरूपितशक्तिनिष्ठविषयताकक्षानहेतुत्वस्यावश्यकत्वादिति पर्यवसितोऽर्थः । गङ्गापदशक्यसंबन्धि तीरमिति लक्षणाज्ञानस्य शक्यसंबन्धसंसर्गकस्य गङ्गापदकतीरमित्याकारस्य वा लक्षणाज्ञानस्य तीरविषयत्वे सति शक्तिविषयकत्वेऽपि न तीरांशे शक्तिविषयकत्वमिति न शक्तिज्ञानविधया तीरोपस्थितिनिर्वाहकता संभवतीति भावः । अत्र शक्तिज्ञानपदार्थोपस्थित्योरित्युपलक्षणम् । शक्तिज्ञानशाब्दबोधयोरित्यपि बोध्यम् । समानविषयकत्वाप्रवेशे बाधकमाह-अन्यथेति । संबन्धाग्रहेति । तद्ग्रहदशायां तु प्रवाहो गङ्गापदशक्य इति ज्ञानात्तीरबोध इष्ट एवेति तद्ग्रहानुसरणम् । ननु तद्विषयकोपस्थित्यादिकं प्रति तद्विषयकशक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वमुपेयं न तत्तत्तत्त्वेनेति तत्र लक्षणाज्ञानादनिर्वाहः । तस्यापि तीरविषयकत्वात् उक्तशक्तिज्ञानादापत्तिश्च न तस्य तीराविषयकत्वादित्याङ्क्याह-अपि चेति । प्रथमस्मरणस्य घटमानयेति वाक्यविषयकत्वानुसरणं वक्ष्यमाणस्मरणस्य घटविषयकत्वस्य पदजन्यत्वस्य च संपत्तये तस्य हस्तिपकविषयकत्वसंपत्तये हस्तिविषयकत्वमनुसार । गजवाक्योभयविषयकप्रत्यक्षस्यासंभवात् । स्मरत इति । वस्तुतस्तु स्मरणस्यैकत्वमित्यत्र न निर्भरः । क्रमिकस्मरणद्वयादपि

लम्बनरूपायां पदार्थोपस्थितौ वृत्तिजन्यत्वसत्त्वात् । तथा च विषयतया शाब्दबोध
प्रति तदंशविषयकवृत्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति वाच्यम् । एवं चै लक्षणाया अपि
शक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वमसंभवदुक्तिकमिति । एतेन शक्तिप्रयोज्यैवोपस्थितिर्हेतुरिति
न लक्षणा ज्ञानकार्यकारणभावान्तरं ममापीति परास्तम् । प्रयोज्यत्वस्यानति-

वक्ष्यमाणसमूहालम्बनस्मरणनिर्वाहान् । एवं सति वाक्यस्य क्रमिकानेकवर्णघटिताने-
कपदघटितस्य प्रत्यक्षं न संभवतीति स्मरणमनुसृतम् । अत एव हस्तिनोऽपि तदेवाद्यं
कल्पनालाघवात् । वृत्तिजन्यत्वेति । शक्तिज्ञानजन्यत्वसत्त्वादित्यर्थः । वृत्तिजन्यत्वो-
त्कीर्तनं तु वृत्तिजन्योपस्थितिर्वेन हेतुत्वपक्षेऽपि दूषणामाविष्कर्तुमिति बोध्यम् । एतेनेति ।
उक्तस्थले हस्तिपकस्य शाब्दबोधापत्तिरूपदूषणेन । ननु शक्तिज्ञानप्रयोज्यतावच्छेदक-
विषयतासंबन्धेन तथाविधोपस्थितेर्विषयतासंबन्धेन शाब्दबोधे हेतुत्वमभ्युपेयतेऽतो नोक्त-
समूहालम्बनस्मरणान्निष्ठिपकशाब्दबोधापत्तिः । हस्तिपकनिष्ठविषयताया घटपदशक्ति-
ज्ञानप्रयोज्यतावच्छेदकत्वाभावात् । घटनिष्ठविषयतायास्तु घटपदशक्तिज्ञानप्रयोज्यता-
वच्छेदकत्वादुपपद्यते । घटस्य शाब्दबोधविषयत्वं तीरादिनिष्ठविषयताया अपि गङ्गापदी-
यलक्षणात्मकशक्तिज्ञानप्रयोज्यतावच्छेदकत्वस्याक्षततया गङ्गापदात् तीरोपस्थित्या तीरस्य
शाब्दबोधविषयत्वोपपत्तिरिति चेन्न । हस्तिपकनिष्ठविषयताया अपि हस्तिपकपदधर्मिकश-
क्तिज्ञानप्रयोज्यतावच्छेदकत्वेनोक्तस्थले तस्य शाब्दबोधापत्तेर्दुवारत्वात् । ननु तत्तच्छब्द-
विषयकशक्तिग्रहप्रयोज्यतावच्छेदकत्वं विषयतायां निवेद्यमतो नोक्तदोषोऽत आह-प्रयो-
ज्यत्वस्येति । अनतीति । घटपदं घटशक्तिमिति शक्तिग्रहवतः पुंसो घटाद्घटो-
पस्थितौ तेन स्वसमवायुपस्थिताकाशस्य घटपदजन्यशाब्दबोधविषयत्वापत्तिः । तत्रापि
घटपदशक्तिग्रहप्रयोज्यतावच्छेदकविषयतासंबन्धेन तथाविधोपस्थितेः सत्त्वादिति भावः ।
न च शक्तित्वावच्छिन्नसांसर्गिकविषयतानिरूपितपदनिष्ठप्रकारतानिरूपितार्थनिष्ठविशेष्य-
ताकज्ञानत्वेन शाब्दबोधहेतुत्वं स्वीक्रियते शक्तिसंबन्धेन शक्यसंबन्धेन वा । पदप्रकार-
कार्यविशेष्यकज्ञाने शक्तेः संसर्गात् । शक्तिस्त्वर्थनिष्ठावच्छेदकतापर्याप्तेरनिवेशाच्छक्य-
संबन्धेन पदप्रकारकज्ञानस्यापि संग्रहः । शक्तिसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपदाभावप्रका-
रकनिश्चयप्रतिबन्धत्वं तु शक्यसंबन्धसंसर्गिकपदप्रकारकज्ञानस्य न पदप्रकारतानिरूपितश-
क्तिनिष्ठसांसर्गिकविषयताया अर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वाभावात् । तन्निष्ठविशेष्यता-
निरूपिततत्संबन्धनिष्ठसांसर्गिकविषयताया अर्थनिरूपिततन्निष्ठप्रकारताकबुद्धिं प्रत्येव तद्व-

प्रसक्तस्य दुर्वचत्वाच्चेत्यादिकं विस्तरेण प्रपञ्चितं भूषणे ॥ ३६ ॥

नन्वेवं भाषादितो बोधदर्शनाद्बोधकतारूपा शक्तिस्तत्रापि स्यात् । तथा च साधुतापि स्यात् । शक्तत्वस्यैव साधुताया व्याकरणाधिकरणे प्रतिपादनादित्या-
शङ्कां द्विधा समाधत्ते—

असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते ।

वाचकत्वाविशेषे वा नियमः पुण्यपापयोः ॥ ३७ ॥

मिकतत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अन्यथा संयुक्त-
समवायसंबन्धेन घटवत्ताबुद्धिरपि संयोगेन घटाभावनिश्चये सति न स्यात् । इत्थं च न
लक्षणाज्ञानस्य शाब्दबोधं प्रति पृथक्कारणत्वकल्पनापत्तिः । न वोक्तसमूहालम्बस्मरणा-
द्धस्तपकस्य शाब्दबोधापत्तिः । न वाकाशस्योक्तस्थले शाब्दबोधापत्तिश्चेति वाच्यम् ।
शक्तिसमानकालिकपटपदसमवायसंबन्धेन घटपटप्रकारकाकाशादिविशेष्यकज्ञानादाकाशादेः
शाब्दबोधापत्तेर्दुवारत्वात् । न चेष्टापत्तिः । अननुभवात् । परम्परासंबन्धस्तु न लक्षणा-
त्वेन वृद्धसंमतः । अत एव काव्यप्रकाशकृद्भिः ‘बाधो योगः फलेन नो’ इत्युक्तम् ।
अन्यथा शैत्यपावनत्वादावपि तीरस्य स्वसंयुक्तसमवेतत्वरूपपरम्परासंबन्धस्य सत्त्वेन
तदसंगतिः स्पष्टैव । ननु शक्यसंबन्धज्ञानादेव यत्र तीरोपस्थितिस्तत्र सर्वानुभवसिद्धबोध-
निर्वाहाय लक्षणाज्ञानकारणत्वकल्पनं शाब्दिकस्यावश्यकमिति परमतेऽपि न प्राक्तनगौ-
रवावकाश इति चेन्न । तत्रापि गङ्गापदं तीरबोधकमिति ज्ञानानन्तरमेव तीरशाब्दबोधाङ्गी-
कारात् । न च तादृशज्ञानव्यक्तिकल्पनागौरवम् । फलमुखत्वेन तस्यादोषत्वात् । अन्ये
तु वस्तुतस्तु सुषुप्त्यपगमक्षणमारभ्य पुनस्तदुत्पत्तिक्षणपर्यन्तं प्रत्यक्षात्मगुणोऽवश्यं वाच्यः ।
अत एव सुषुप्तिकालभिन्नस्य तथाविधगुणशून्यकालस्य मूर्च्छात्वमुच्यते । तथा च
तादृशकाले ज्ञानाद्यावश्यकतया ज्ञानाद्यन्तरवस्थाने इदमेव कल्प्यते इति क्व गौरवमिति
वदन्तीति संक्षेपः । तदेतदभिप्रेत्याह—विस्तरेण प्रपञ्चितं भूषणे इति ॥ ३६ ॥

एवम् । बोधजनकस्य शक्तित्वे ईश्वरेच्छा शक्तिरिति मते तु तत्तत्पदपदार्थसंबन्धत्वविशे-
षितेच्छाया एव शक्तित्वम् । एवं च गगरीशब्दाद्बोधोत्पत्त्या गगरीशब्दाद्वटबोधो जायता-
मितीच्छाया आवश्यकत्वेऽपि तस्या न गगरीशब्दसंबन्धत्वं कल्प्यते । तदनुग्राहकौ-
शाद्यभावान्नापभ्रंशे शक्तिप्रसङ्गः । एवं पदार्थान्तरं शक्तिरिति मतेऽपि न तत्र सा कल्प्यत
इति भावः । द्विधा । प्रकारद्वयेन । अपभ्रंशानां साक्षाद्बोधकत्वानभ्युपगम एकः प्रकारः ।
वाचकत्वे इष्टापत्तिरित्यपरः । तत्राद्यं समाधानं नैयायिकादिमतेन द्वितीयं स्वमतेनेति

असाधुर्गाव्यादिः । अनुमानेन साधुशब्दमनुमाय । वाचका बोधकः । कैश्चिदि-
ष्यते । तथा च लिपिबद्धं तेषां साधुस्मरण एवोपयोगो न तु साक्षात् तद्वाचक-
त्वमतो न साधुत्वमिति भावः । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः ।

तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः ।

न यतः स्मृतिशालेण तस्मात् साक्षादवाचकाः ॥

अस्वाम्येति यदा बालः ‘‘शिक्ष्यमाणः प्रभापते ।

अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निर्णयः ॥

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये थोऽपभ्रंशः प्रयुज्यते ।

तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥’ इति ॥

नन्वपभ्रंशानां साक्षादवाचकत्वे किं मानं शक्तिकल्पकव्यवहारादेस्तुल्यत्वादिनि

विवेकः । अनुमाय । स्मृत्वा । अत एवाग्रे तेषां साधुस्मरण एवोपयोग इति वक्ष्यति ।
नन्वेवं तस्य वाचकत्वमनुपपन्नं साक्षाद्बोधकत्वस्यैव वाचकत्वरूपत्वात् आह—वाचको
बोधक इति । साक्षात् तद्वाचकत्वमिति । साक्षात् तद्बोधकत्वरूपं तद्वाचकत्वमित्यर्थः ।
तादात्म्यमुपगम्येति । अर्थतादात्म्यं गगरीशब्दे गृहीत्वेवेत्यर्थः । ग्रहस्य भ्रमत्व-
सूचना एवेति तेन तेषामवाचकत्वं ध्वनितम् । तद्वाचक एव हि तत्तादात्म्याभ्युप-
गमात् । एतेन शक्तिभ्रमात् ततो बोध इति च सूचितम् । न च पासराणां शक्त्यग्रहे कथं
शक्तिभ्रम इति वाच्यम् । गगरीशब्दं शृण्वतः पुंसः साधुस्मरणाद्बोधेऽपि तदस्थस्य
गगरीशब्दजन्य एवास्य बोध इति भ्रमणाद्यस्य शक्तिभ्रमोऽन्येषां तन्मूलकस्य तद्भ्रमस्य
संभवात् । न शिष्टैरिति । शिष्टैः साधवः पर्याया इवापभ्रंशा नानुगम्यन्त इति योजना ।
पर्यायसमुदाये न संग्रहान्त इत्यर्थः । न यतः । अर्थं बोधयतः साधुशब्दस्य स्मृतिमात्रे-
णास्यार्थबोधोपपत्तिरिति शेषः । बंबंबेति शिक्ष्यमाणो बालो बंबं बेल्यव्यक्तं यदा
प्रभापते । तद्विदां साधुशब्दं जानतां व्यक्ते साधुस्मरणे सति निश्चयोऽर्थनिश्चयो भवती-
त्यर्थः । असाधोः साधुप्रकृतिकत्वात् सादृश्येन तत्स्मरणमिति भावः । अत्र बंबं बेति
पाठ एव युक्तो न त्वम्बाम्येति । तस्य साधुत्वात् । पूर्वकारिकां व्याचष्टे—एवं साधाविति ।
साधुव्यवहितः । साधुस्मरणपूर्वकः । व्यवहारादेरित्यादिपदादाप्तवाक्यसंग्रहः ।

१. A. drops तु. २. ‘‘मुपगम्येव D₃. ३. अशिष्टैः A. ४. स्मृतिमात्रेण P., D₃.
५. शिक्ष्यमाणः D₂, D₃.

चेत् सत्यम् । तत्तद्देशभेदेन भिन्नेष्वनन्तेषु तेषु शक्तिकल्पने गौरवात् । न च पर्याय-
तुल्यता शङ्क्या तेषां सर्वदेशेष्वेकत्वाद्विनिगमनाविरहेण सर्वत्र शक्तिकल्पना ।
न ह्यपभ्रंशे तथा । अन्यथा भाषाणां पर्यायतया गणनापत्तेश्च । एवं शक्तत्व-
मेवास्तु साधुत्वमिति नैयायिकमीमांसकादीनां मतं तन्मतैनैव द्रष्टव्यम् ।
इदानीं स्वमतमाह—वाचकत्वाविशेषे चेति । अयं भावः । अपभ्रंशानाम-
शक्तत्वे ततो बोध एव न स्यात् । न च साधुस्मरणात् ततो बोधस्तानविदुषां
पामराणामपि बोधात् तेषां साधोरबोधाच्च । न च शक्तिभ्रमात् तेभ्यो बोधो
बोधकत्वस्याबाधेन तद्ग्रहस्याभ्रमत्वात् । ईश्वरेच्छा शक्तिरिति मतेऽपि सन्मात्र-

पर्यायतुल्यता । यथा सर्वेऽन्येकपर्याया एकस्यार्थस्य वाचका अविशेषा तथापभ्रंशा
अपीत्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोवैषम्यमाह—तेषामिति । पर्यायाणामित्यर्थः । एक-
त्वादिति । अत एव विनिगमनाविरहः । अन्यथा य एव पर्यायः सर्वदेशेषु प्रसिद्धस्त-
त्रैव शक्तिः सिध्येदिति भावः । तथा सर्वदेशेषु एकता तेषां देशभेदेन भिन्नत्वात् एव
'वाचो यत्र विभियन्ते तद्देशान्तरमिष्यते' इति स्मर्यते । अन्यथेति । अपभ्रंशानाम-
वाचकत्वे चेत्यर्थः । तेषां वाचकत्वे तु तद्वथावर्तनायान्यविधमेव तद्वक्तव्यमिति भावः ।
न च लक्षणाकासंग्रहः । तेषामपि क्वचिच्छक्तत्वात् । वृत्तिमत्त्वं वा तदर्थो बोध्यः ।
अविद्वेषामिति । तत्तदर्थबोधकत्वेन ग्रहशून्यानामित्यर्थः । एवं च तत्तच्छब्दत्वादिना
पूर्वमनुभवेऽपि नेष्टसिद्धिः । तथानुभवतां तथाविधस्मरणसंभवेऽपि तस्य शाब्दबोधानुप-
युक्तत्वात् तत्तदर्थबोधकत्वेन स्मरणस्यैवोपयोगित्वादिति भावः । एतदभिप्रायेणैवाह-
तेषामिति । पामराणामित्यर्थः । अपभ्रंशमात्रव्युत्पन्नाः पामराः । किं बोधकत्वरूपशक्ते-
र्भ्रमोऽभिमत उतेच्छारूपायास्तत्र । नाद्य इत्यत आह—बोधकत्वस्येति । तत्तदर्थबोधजनक-
त्वस्येत्यर्थः । अबाधेनेति । नेदं तदर्थबोधकमिति बाधनिश्चयाभावेनेत्यर्थः । बाधा-
भावादिति । गगरीदिशब्दादपि घटादिरूपार्थबोधजननेन घटो गगरीशब्दजन्यबोध-
विषयो जायतामिति श्वरेच्छावश्यकी । अन्यथा घटनिष्ठगगरीशब्दजन्यबोधविषयत्वस्ये-
श्वरेच्छाविषयतया तस्याः सर्वविषयकत्वानुपपत्तिः । न च तस्य शुद्धविषयतात्वेनैव घटांशे
गगरीशब्दजन्यबोधविषयत्वप्रकारकत्वमिच्छाया उपगम्यते न तु तच्छब्दजन्यबोध-
विषयतात्वेन तावतापि तस्याः सर्वविषयकत्वोपपत्तिः । न च बोधांशे गगरीशब्दजन्यता-

१. °भेदभिन्नेषु तेषु शक्तिकल्पने P.; °भिन्नेषु तेषु शक्तिकल्पना D. २. D, drops तेषु.
३. हि सर्वत्र D₃. ४. मतेनैव द्रष्टव्यम् P., D.; पतन्मतेनैव द्रष्टव्यम् D₂. ५. बोधत्वात् D.
६. सन्माने विषयिण्या D.

विषयिण्यास्तस्या बाधामावात् । शक्तेः पदार्थपदविशेषघटिताया भ्रमासंभवाच्चेति ।
उक्तं च वाक्यपदीये—

‘पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।

प्रसिद्धिमागता येन तेषां साधुरवाचकः ॥

देवी वाग्व्यवकीर्ण्यमशक्तैरभिधातृभिः ।

अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः ॥’ इति ।

अवाचकोऽबोधकः । बुद्धिविपर्यय एत एव वाचका नान्य इति विपर्ययः

नवगाहितया सर्वविषयकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । घटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकार-
तावच्छेदकघटकतया तदनवगाहित्वेऽपि स्वातन्त्र्येण बोधांशे तदवगाहित्वोपगमात् ।
तत्तच्छब्दजन्यबोधविषयतावावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासंबन्धेन संबद्धेश्वरेच्छा-
शक्तिः । सा चैवं सति तत्र न संभवति । अथवा पदपदार्थसंबन्धत्वविशिष्टा तथाविधेश्व-
रेच्छा शक्तिः । गगरीशब्दसंबन्धत्ववैशिष्ट्यं तु तस्या नाङ्गीक्रियत इति न तत्र शक्तिसंभव-
इति वाच्यम् । ततोऽपि बोधोत्पादानुभवेन तत्रापि गगरीशब्दजन्यबोधविषयतात्वेन
रूपेण तत्प्रकारकत्वस्येच्छाया अवस्थाभ्युपेयत्वात् । गगरीशब्दघटैतदुभयसंबन्धत्व-
वैशिष्ट्यस्य वावश्यं स्वीकार्यत्वादिति तात्पर्यम् । पदार्थपदविशेषघटिताया इति ।
तत्तत्पदजन्यबोधविषयत्वप्रकारतानिरूपितार्थनिष्ठविशेष्यताकेच्छाया एव शक्तित्वेन गगरी-
शब्दजन्यबोधविषयत्वप्रकारिका घटविशेष्यिकेच्छैव शक्तिः प्रकृते वाच्या । सा यद्यस्ति
न तर्हि तद्भ्रमः । यदि नास्ति तर्हि सुतरां न तद्भ्रमः सिध्यति । क्वचित् प्रसिद्धस्य
स्वविरहिणि ज्ञानस्यैव भ्रमत्वात् । अथ तत्तच्छब्दविशेष्यिका तत्तदर्थबोधजनकत्वप्रका-
रिकेच्छापि शक्तिर्विनिगमनाविरहात् तथा च गगरीशब्दे घटबोधजनकत्वप्रचारिकाया
इच्छाया विषयतया घटशब्दे प्रसिद्धाया भ्रमः संभवतीति चेन्न । घटबोधकत्वप्रकारिके-
च्छामात्रशक्तित्वाभावेन तद्भ्रमस्यानुपपुक्तत्वात् । विगुणेषु । साधुरावदे व्युत्पत्तिविधुरेषु ।
अभिधातृषु । वक्तृषु । व्यवकीर्णा । अन्यथाकृता । अपभ्रंशीकृतेति यावत् । अनित्य-
दर्शिनां त्विति । कार्यः शब्दा इति मते शास्त्रमात्रसमाधिगम्यमर्थबोधकत्वमित्यपभ्रंशेषु
शास्त्रेषु तद्ग्राहकस्याभावात् साधव एव वाचका नापभ्रंशा इति भवति भ्रम इति भावः ।
वाचकत्वस्य पुरुषभेदनियन्त्रितत्वाभावात् तेषां साधुरवाचक इत्युक्तमत आह—
अवाचकोऽबोधक इति । ननु तत्पदजन्यबोधविषयत्वप्रकारिकेच्छैव शक्तिः । एवं
तदर्थबोधजनकत्वप्रकारिकेच्छा आया शब्दघटिता न त्वर्थघटिता चरमा त्वर्थघटिता न

इत्यर्थः । किं च विनिगमनाविरहाद्भाषायामपि शक्तिः । न च तासां नानात्वं दोषः । संस्कृतवन्महाराष्ट्रभाषायाः सर्वत्रैकत्वेन प्रत्येकं विनिगमनाविरहताद-
वस्थ्यात् । किं चानुपूर्वी पदेऽवच्छेदिका सा च पर्यायेष्विव भाषायामप्यन्या-
न्येवेति कस्तयोर्विशेष इति विभाव्यं सूरिभिः । तथा च संस्कृतवन्भाषाशब्दाः
शक्ता एव । न च पर्यायतया भाषाणां गणनापत्तिः साधूनामेव कोशादौ विभागा-
भिधानात् । नन्वेवं साधुता तेषां स्यादित्यत आह-नियम इति । पुण्य-
जननबोधनाय साधूनां साधुभिर्भाषितव्यमिति विधिः पापजननबोधनाय

तु शब्दघटिता तथा च चरमाया विलक्षणविषयतासंबन्धेन गगर्थादिशब्दे भ्रमः संभव-
त्येवेत्यनुशयान आह-किं चेति । सर्वत्रैकत्वेनेति । महाराष्ट्रसंस्कारयोगेष्वेकरूपत्वे-
नेत्यर्थः । तेन यावनादिदेशेषु तदसत्त्वेऽपि न क्षतिः । संस्कृतशब्दस्यापि तत्रासत्त्वाच्च ।
पर्यायेष्विवेति । नानापर्यायनिष्ठा नानानुपूर्व्यौ यथा शक्तितावच्छेदिका अङ्गीक्रियन्ते
तथापभ्रंशनिष्ठा अपि ताः शक्तितावच्छेदकत्वेन सर्वाक्रियन्तामविशेषादित्यर्थः । साधू-
नामेव । न तु वाचकमात्रस्येत्यर्थः । अत एव “समानायामर्थवगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च
शास्त्रेण धर्मनियमः” इति पस्पशाह्निके भाष्ये उक्तम् । तत्र समानत्वं शब्दान्तरस्मर-
णापूर्वकत्वेन । अन्यथा व्यावर्तकतदुपादानस्य नैरर्थक्यापत्तेः । किं च यादृशं साधु
शब्दानां हेतुत्वं तादृशमेवापशब्दानामपि स्वरसतः प्रतीयते न तु व्यवहितं तदुपमृद्येता-
साधोरवाचकत्वाभ्युपगमे । न चैवमार्यम्लेच्छाधिकरणविरोधः । तत्र हि पीळशब्दं वृक्ष-
विशेषे आर्याः प्रयुज्जते तमेव बुध्यन्ते । अनार्थरूपम्लेच्छा गजे प्रयुज्जते तमेव प्रति-
यन्ति । एवं यवशब्दो दीर्घशुकं तद्विन्नस्तु कङ्गौ । तत्रार्थप्रसिद्धेर्वैलवत्त्वात् पीलुशब्दो
वृक्षे एव शक्तो न तु गजे यवशब्दो दीर्घशुक एव न तु कङ्गाविति सिद्धान्तितं तद्वि-
रुध्यत इति वाच्यम् । आर्यप्रसिद्धेर्वैलवत्त्वाद्देदे यवपदस्य दीर्घशुकपरत्वमेव न तु शक्ति-
सत्त्वेऽपि प्रियङ्गुपरत्वमिति सिद्धान्ताशयस्य वर्णनीयत्वात् । ‘शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजे-
ष्वेव भाष्यते विकार एव आर्या भावन्ते’ इत्यादिभाष्यान्निरुक्ताच्च यथा शवत्यादीनां
नियतविषयत्वं तथा वेदे तत्परत्वमेव यवशब्दस्येति कल्पनाया उचितत्वात् । शक्तिः
पुनरुभयत्र जागर्त्येव । अनार्थप्रसिद्धेऽर्थे अशक्तत्वेऽसाधुत्वे वा तात्पर्यं मानाभावात् ।
जैमिनिरापि सूत्रयावभूव ‘तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिप्रतिः स्यात्’ इति ।
यवशब्दे उभयथा शब्दार्थाङ्गमाद्विकल्पः स्यादिति तदर्थः । एवं पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्त-

नासाधुभिरिति निषेधः । तथा च पुण्यजननयोग्यत्वं साधुत्वम् । पापजनन-
योग्यत्वमसाधुत्वम् । तत्र जनकतावच्छेदिका च जातिस्तज्ज्ञापकं च कोशादि
व्याकरणादि च । एवमेव राजसूयादेर्ब्राह्मणे फलाजनकत्ववद्वादिशब्दानां
नाश्वादौ साधुत्वमिति संगच्छते । आधुनिकदेवदत्तादिनाम्नामपि द्वयश्चरमि-
त्यादिभाष्येण व्युत्पादितत्वात् साधुत्वमेवं च यः शब्दो यत्रार्थे व्याकरणे व्युत्पा-
दितः स तत्र साधुरिति पर्यवसितम् । गौणानां गुणे व्युत्पादनात् तत्पुर-
स्कारेण प्रवृत्तौ साधुत्वमेवाधुनिकलाक्षणिकानां त्वसाधुत्वमिष्टमेव । अत एव

सूत्रमाह—‘शास्त्रस्थानां तन्निमित्तत्वात्’ इति । शास्त्रस्थानां शास्त्रनिष्णातानां शिष्टानां
शब्दार्थे वेदे इति शेषः । तेषां स्मृतिरविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च ते शिष्टा हि
श्रुतिस्मृतिधारणे निमित्तमित्यर्थः । अपभ्रंशानां वाचकत्वादेव वाचकस्य व्यञ्जकत्वे माए
घरा अवरणमित्यादि भाष्योदाहरणं काव्यप्रकाशकृतामाजस्येन संगच्छते इत्यलं
विस्तरेण । पुण्यजननेति । तत्स्वरूपयोग्यत्वरूपं पुण्यजनकत्वमित्यर्थः । एवमप्रेऽपि ।
कोशादीति । आदिपदमाप्तवाक्यादिप्रहाय । व्याकरणादीत्यादिपदमुपमानसं-
प्रहाय । कोशादेः साक्षात् प्रातिपदिकशक्तिप्राप्तकतया प्रथमतस्तदुपादानं प्रायः कोशा-
दित एव शक्तिप्रहाच । ब्राह्मणे फलेति । राजा राजसूयेन यजेतेत्यत्र राजपदस्य
रूढ्या क्षत्रियार्थकतया ब्राह्मणस्य तदनधिकारित्वात् तेन कृते तत्र फलाजनकत्वमित्यर्थः ।
नाश्वादौ साधुत्वमिति । अर्थविशेषनिबन्धनत्वात् साधुत्वस्येति । पर्यवसित-
मिति । अपभ्रंशास्तु न तदर्थे व्युत्पन्ना इति न साधव इति भावः । गौणानामिति ।
सिंहो माणवक इत्यादौ सिंहादिशब्दानां तेषां स्वमते लाक्षणिकत्वाच्च । किं च शक्यार्थे
एव पदसाधुत्वं पदान्तरसंबन्धे पश्चाज्जाते लक्षणया बोध इति बोध्यम् । कौर्यादिगुण-
योगात् पुरुषे आगतानां प्रवृत्तानामित्यर्थः । ‘तत्र आगतः’ इत्यण् । गुणे । गोत्वादि-
धर्मे । तत्पुरस्कारेण । तत्तद्वर्मपुरस्कारेण शक्यतावच्छेदकधर्मारोपेणेति यावत् ।
आरोपे निमित्तं तु कौर्यादिगुणयोगः । सिंहो माणवक इत्यादौ सिंहत्वादिरूपेण माण-
वकदेर्भावनमिति भावः । गङ्गायां घोष इत्यादावप्येवम् । स्पष्टं चेदं काव्यप्रदीपोद्योते ।
कूरो माणवक इत्याकारकबोधाभ्युपगन्तुमये तु इदं न संगच्छते । सिंहादिशब्दानां
कौर्याद्यवाचकत्वात् । गुणवाचकशुक्लादिशब्दपरत्वेन प्रकृतग्रन्थयोजने तु गङ्गायां घोषः
सिंहो माणवक इत्याद्यसंग्रहापत्तिः । आधुनिकेति । शक्यतावच्छेदकातिरिक्तरूपेण

ब्राह्मणाय देहीत्यर्थे ब्राह्मणं देहीत्यादिकं लक्षणयाप्यसाधुरित्यादि विस्तरेण प्रपञ्चितं भूषणे ॥ ३७ ॥

अतिरिक्तशक्तिग्रहोपायमाह—

संबन्धशब्दे संबन्धो योग्यतां प्रति योग्यता ।

समयाद्योग्यतासंविन्मातापित्रादियोग्यवत् ॥ ३८ ॥

बोधकतात्पर्यकाणां लाक्षणिकानां त्वित्यर्थः । लक्षणयाप्यसाधुरिति । अत एव कर्मादौ षष्ठादेरनुशासनं चरितार्थमित्यन्यत्र विस्तरः । अपभ्रंशानां वाचकत्वेऽपि न प्रातिपदिकसंज्ञा । साधुत्वस्याप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वात् । अत एव 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे लोकोत्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' इति वार्तिककृतोक्तम् । 'साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे' इति च भाष्ये उक्तम् । एवं साधुत्वं ज्ञानस्य शब्दबोधे हेतुत्वमसाधुत्वनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वं वेति कथं तेभ्यो साधुत्वग्रहवतां बोध इति न शङ्क्यम् । साधुत्वज्ञानविरहिणामसाधुत्वनिश्चयवतामपि शाब्दानुभवात् साधुत्वज्ञानस्याहेतुत्वादसाधुत्वनिश्चयस्याप्रतिबन्धकत्वाच्च । तदेतदभिप्रेत्याह—विस्तरेणेति ॥ ३७ ॥

अतिरिक्तेति । इच्छाविशेषातिरिक्तैत्यर्थः । सा पुनर्बोधजनकरूपा पदार्थान्तररूपा वा भवतु । संबन्धो विषय इति । तज्जन्यप्रतिपत्तिविषयः । तथा च संबन्धशब्दे संबन्ध इत्यस्य संबन्धशब्दवाच्यः संबन्ध इत्यर्थः । एवं योग्यतां प्रतीत्यादेरर्थो बोध्यः । संबन्धशब्दस्य योग्यताशब्दस्य चार्थप्रदर्शनस्य प्रकृतोपयोगमाह—घटपदमित्यादिना । अत्र योग्यं घटरूपार्थे योग्यं तद्विषयकबोधजननयोग्यमिति यावत् । एतत्संबन्धीति । घटसंबन्धीत्यर्थः । सा । शक्तिः । तथा च प्राथमिकशक्तिग्रह उक्तव्यवहारार्द् भवति तत्र च संबन्धादिशब्दशक्तिग्रहोऽपेक्षितोऽतस्तदर्थप्रदर्शनं कृतं तत्र दृष्टान्तो प्राप्तेति । योग्यवदिति पाठे मात्रादियोग्यस्तत्प्रतियोगिकत्वादिविशिष्टः । संबन्धो यथा लोकव्यवहारार्द् गृह्यते तथेत्यर्थः । योगवदिति पाठस्तु सम्यगेव । परे तु संबन्धशब्दे योग्यतां प्रति बोधजनकतावच्छेदकधर्मरूपयोग्यतानिरूपितो यस्तादात्म्यलक्षणः संबन्धः स एव योग्यता सा च स्वाभाविक्येवानादिवृद्धव्यवहारपरम्परापरपर्यायो योऽस्मदादिसमयस्तेन गृहीतेनोक्तेश्वरसमयान्निश्चीयते । यथा मातापुत्रयोर्यजनकभावलक्षणसंबन्धो व्यवहारान्निश्चीयते तथेत्यर्थः । न तु जनकत्वमेव

संबन्धो विषयः । योग्यतां प्रति योग्यता । 'संबन्धशब्दं' प्रति योग्यता विषय इति समयाद् व्यवहारात् । योग्यतासंविच्छक्तिग्रहः । षट्पदमत्र योग्यमेतत्संबन्धीति व्यवहारात् सा ग्राह्येत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारे शक्तिनिर्णयः समाप्तः ॥

योग्यता एतज्जननेऽयं योग्य इति व्यवहारादित्याहुः । अत्र कल्पे संबन्धशब्द इत्यस्य संबध्यत इति संबन्धः । कर्मणि घञ् । तत्तदर्थे संबद्धो घटादिशब्द इत्यर्थो बोध्यः । संबन्धशब्दो योग्यतां प्रति संबद्धो योग्यतेति कारिकायां योजना बोध्या । अथवा इदं-पदमेतदर्थसंबन्धीत्यत्रत्यसंबन्धशब्द इत्यर्थः । इत्थं च संबन्धशब्दो भावघञन्त एव । संबन्धो योग्यतेत्यस्य योग्यताविषय इत्यर्थ इति दिक् ॥ ३८ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारव्याख्याने शक्तिनिर्णयः ॥

१. P. has संबन्धशब्द. २. D₁. drops इति. ३. P. has रङ्गोनिमडात्मजकौष्टमडु-
विरचिते after इति. ४. P. drops श्री. ५. D₂. drops समाप्तः.

नञर्थनिर्णयः ।

नञर्थमाह—

नञ्समासे चापरस्य प्राधान्यात् सर्वनामता ।

आरोपितत्वं नञ्योत्यं न ह्यसोऽप्यतिसर्ववत् ॥ ३९ ॥

नञ्समासेऽपरस्योत्तरपदार्थस्य प्राधान्यात् सर्वनामता सिध्यतीति शेषः । अत एवारोपितत्वमेव नञ्योत्यमित्यभ्युपेयमिति शेषः । अयं भावः । असर्व इत्यादावारोपितः सर्व इत्यर्थे सर्वशब्दस्य प्राधान्याबाधात् सर्वनामता सिध्यति । अन्यथातिसर्व इत्यत्रेव सा न स्यात् । घटो नास्तीत्यादावभावविषयबोधे तस्य विशेष्यताया एव दर्शनात् । अस्मद्रीत्या च स आर्थो बोधो मानसः । तथा चासर्वस्मा इत्याद्यसिद्धिप्रसङ्ग इति । अत्र चारोपितत्व-

आरोपितत्वं नञ्योत्यमित्यनेन नञर्थ एव प्रदर्श्यते न तु समासार्थ इति तात्पर्येणाह—नञर्थमाहेति । प्रसङ्गसंगतिरत्र बोध्या । अपरशब्दार्थमाह—उत्तरपदार्थस्येति । अत एव । उत्तरपदार्थप्राधान्यानुरोधादेव आरोपितब्राह्मणत्वादिब्राह्मणादिपदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यब्राह्मणादिपदघटकनञा द्योत्यत इत्यर्थः । अन्यथा । उत्तरपदार्थप्राधान्यविरहे । अतिसर्व इत्यत्रेवेति । सर्वमतिक्रान्त इत्यर्थे ‘अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया’ इति समासे पूर्वपदार्थप्रधाने सर्वशब्दस्योपसर्जनतया सर्वादित्वाभावेन यथा न सर्वनामत्वं तथात्रापि नञो भेदार्थकत्वे सर्वभिन्न इत्यर्थेऽसर्व इत्यादेर्न स्यात् । तथा चासर्वेऽसर्वस्मै इत्यादिप्रयोगानुपपत्तिः । नन्वन्योन्याभावार्थकत्वपक्षे तस्य प्रतियोगितासंबन्धेन प्रतियोगिनि विशेषणत्वे उत्तरपदार्थप्राधान्यं ‘निर्वहोदित्याशङ्क्याह—घटो नास्तीत्यादाविति । तस्य । अभावस्य । विशेष्यताया एवेति । घटभावोऽस्तित्वाश्रय इत्याकारकस्य घटकर्तृकसत्ताभाव इत्याकारकस्य वा बोधस्यानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । नन्वेवमघट इत्यादौ घटभिन्न इति बोधस्य सार्वजनीनस्यापलापो न योग्य इत्याशङ्क्याह—अस्मद्रीत्या चेति । घटभिन्ने एव घटत्वस्यारोपात् तद्विन्न इति बोधोऽर्थसिद्धो भवतीति न तदपलापः । तत्र शाब्दत्वप्रतीतिस्तु शब्दप्रयोज्यत्वाङ्गमरूपेवेति भावः ।

भारोपविषयत्वमारोपमात्रमर्थो विषयत्वं तु संसर्ग इति निष्कर्षः । द्योत्यत्वोक्ति-
निपातानां द्योतकत्वमभिप्रेत्य ॥ ३९ ॥

आरोपविषयत्वमिति । तस्य चोत्तरपदार्थे ब्राह्मणादावन्वयः । आरोपश्च प्रत्यासत्त्या
प्रवृत्तिनिमित्तप्रकारक एव प्रतीयते । एवं चाब्राह्मण इत्यत आरोपविषयत्ववान् ब्राह्मण
इति बोधः । तथाविधश्च क्षत्रियादिरेवाब्राह्मणशब्देन प्रतिपाद्यते नञसमभिव्याहारे ।
समवायसंबन्धसंसर्गकारोपसंबन्धेन ब्राह्मणत्वादिके प्रतीयते इत्यारोपविषयो ब्राह्मण इत्या-
कारकता बोधस्य नानुपपन्ना । आरोपस्तु कस्यचित् तदानीमपि संभवत्येवेति नासंगतिः ।
स्पष्टं चेदमत्रैव सूत्रभाष्ये 'संदेहादुरूपदेशाद्वा' इत्यादिग्रन्थे । अथवारोपविषयत्वमि-
त्यस्यारोपविषयप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमित्यर्थः । व्यवहितकाले आरोपसत्त्वेऽपि न क्षतिः ।
आरोपितात् कालिकत्वस्यानिवेशात् । आरोपविषयत्वस्य प्रकारतया संसर्गतया च भानम् ।
राज्ञः पुरुष इत्यत्र पञ्चम्यस्वत्वादेरिव भानमविरुद्धम् । अब्राह्मण इत्यादित आरोपित-
ब्राह्मणत्ववानिति बोधः । आरोपितत्वविशिष्टब्राह्मण्यवत्त्वं ब्राह्मणभिन्ने एवेति न ब्राह्मणेऽ-
ब्राह्मणशब्दप्रयोगः । लघुभूतमर्थमाह-आरोपमात्रमर्थ इति । नञो द्योत्यो वाच्यो
वार्थः स चोत्तरपदार्थे विषयत्वसंबन्धेन विशेषणमित्याह-विषयत्वं तु संसर्ग इति ।
तथा चैतत्पक्षे निष्कर्ष इति पूर्वपक्षापेक्षयात्र पक्षे लाघवादित्याशयः । भाष्यसंमतस्तु
अथवेत्याद्युक्तः पूर्व एव कल्पः । युक्तश्चाद्योऽन्त्यस्तु न । आरोपस्य नञ्वाच्यत्वेऽपि ब्राह्मणा-
दिपदानां मुख्यसंबन्धेन ब्राह्मण्यवति शक्तिप्रहात् तत्रारोपान्वयस्यासंभवात् । न च
नञसमभिव्याहारनिबन्धनो मुख्यार्थत्यागः । शब्दार्थसंबन्धस्यानित्यतापत्तेः । मध्यम-
कल्पे तु न दोषः । मुख्यसंबन्धेन ब्राह्मणत्ववत इवारोपितसंबन्धेन तद्वतोऽपि तदर्थत्वात्
नञ् त्वन्त्यार्थे तात्पर्यनिर्णायकः । इदमेव नञो द्योतकत्वं नाम । एतावतैवान्नैकार्थी-
भावव्यवहारोऽपि । अर्थवत्त्वमपि समासस्योपपद्यते द्योत्यार्थान्तर्भावेण विशिष्टानुपूर्व्याः
शक्ततावच्छेदकत्वादित्याहुरित्यन्यत्र विस्तरः । अन्ये त्वब्राह्मण इत्यादौ ब्राह्मणादिपदं
तादात्म्यसंबन्धेन ब्राह्मणाद्यारोपविषयार्थकं च । नञ् तात्पर्यनिर्णायकः । एवं चाब्राह्मणो-
ऽयमित्यत्र ब्राह्मणारोपविषयोऽयमिति बोधः । आरोपितो ब्राह्मण इत्यनेनाप्युक्त एव बोध
इत्युच्यते इत्याहुः । अनारोपो ब्राह्मणाभिन्नमात्रविशेष्यको ग्राह्यः । तेनेजौ ब्राह्मणाविति
समूहालम्बनारोपविषयत्वस्य ब्राह्मणे सत्त्वेऽपि न ब्राह्मणे ब्राह्मणपदप्रयोगः । ननु नञ
उक्तार्थवाचकत्वस्वीकारेऽपि न क्षतिः । आरोपविषयत्वरूपस्यारोपितत्वरूपस्यारोपितत्व-
स्यारोपस्य वा विषयतासंसर्गेणोत्तरपदार्थे विशेषणत्वसंभवेनैव भिमतोत्तरपदार्थप्राधान्यसिद्धे-
रत आह-द्योत्यत्वोक्तिरिति । निपातमात्रस्य द्योतकत्वमिति सिद्धान्तानुरोधात्

घटो नास्ति अब्राह्मण इत्यादावारोपबोधस्य सर्वानुभवविरुद्धत्वात् पक्षा-
न्तरमाह —

अभावो वा तदर्थोऽस्तु भाष्यस्य हि तदाशयात् ।

विशेषणं विशेष्यो वा न्यायतस्त्ववधार्यताम् ॥ ४० ॥

तदर्थो नञर्थः । अर्थपदं द्योत्यत्ववाच्यत्वपक्षयोः साधारण्येन कीर्तनाय ।
भाष्यस्येति । तथा च नञ्सूत्रे महाभाष्यम् ' निवृत्तपदार्थकः ' इति । निवृत्तं
पदार्थो यस्य । नपुंसके भावे क्त इति क्तः । अभावार्थक इत्यर्थः । यत्तु ' निवृत्तो
पदार्थो यस्मिन्नित्यर्थः । सादृश्यादिनाध्यारोपितब्राह्मण्याः क्षत्रियादयोऽर्था यस्ये-
त्यर्थः ' इति कैयटस्तन्न । आरोपितब्राह्मण्यस्य क्षत्रियादेर्नञ्वाच्यत्वात् ।

तथोक्तिर्न तु प्रकृते वाचकत्वस्वीकारे काचित् क्षतिरिति भावः । वस्तुत उक्तार्थवाचकत्व-
पक्षे दोष उक्त एवेति प्रागुक्तार्थद्योतकत्वमेव युक्तमिति वदन्ति । आरोपितब्राह्मणत्व-
वानिति शाब्दबोधोत्तरं जायमानो ब्राह्मणभिन्नः क्षत्रिय इति बोधापत्तिः । एवं
घटो भूतले नास्तीति वाक्यादारोपिता घटकर्तृका भूतलाधिकरणिका सत्तेति शाब्दबोधो-
त्तरं तादृक् सत्ताभावबोधो मानसो भवति तेन घटकर्तृकभूतलाधिकरणकसत्ताबोधः
प्रतिबध्यते । अभावाज्ञानस्य पूर्ववर्तिन एव प्रतियोगिमतो बुद्धिप्रतिबन्धकत्वमिति न
नियमोऽपि तु तत्कार्यसहभावेनापीति नाभावबुद्ध्युत्पत्तिसमयेऽपि प्रतियोगिबुद्ध्युत्पत्तिः ।
वायौ रूपं नास्ति शङ्खः पीतो नास्तीत्यादावपि वाय्वधिकरणिका रूपकर्तृका सत्ता
आरोपिता पीतशङ्खकर्तृकारोपितेति बोधः । विशिष्टप्रसिद्धिस्त्वाहार्यैव । रूपकर्तृकसत्तायां
वाय्वधिकरणकत्वारोपः । पीतकर्तृकसत्तायां शङ्खकर्तृकत्वारोपश्च पर्यवस्यति । आरोपिता
तथाविधसत्तेत्येवं बोधवर्णनं तु क्रियायाः प्राधान्यतयैव नञर्थान्वय इत्यभिप्रेत्येति
बोध्यम् ॥ ३९ ॥

तदाशयादिति । तस्मिन्नभावस्य नञर्थत्वे आशयात् तात्पर्यात् । साधारण्ये-
नेति । नञ्वाच्यस्याप्यभावस्य तत्तदनुभवानुरोधेन विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा कल्प्यते ।
द्योत्यार्थस्यापि वा तत एव विशेष्यत्वं च । अथवा वाचकत्वपक्षे विशेष्यत्वं द्योत्यत्वपक्षे
विशेषणत्वम् । अत एव द्योत्यार्थानां विशेषणत्वमेवेति ' हेतुमति च ' इति सूत्रभाष्य-
सिद्धनियमभङ्गो नेति बोध्यम् । निवृत्तशब्दार्थमाह—अभावार्थक इतीति । अध्या-
रोपितेति । अध्यारोपितं ब्राह्मण्यं येषु त इत्यर्थः । नञ्वाच्यत्वादिति । लाघवा-

अन्यथा सादृश्यादेरपि वाच्यतापत्तेः । यत्तु

‘तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः ॥’

इति पठित्वाब्राह्मणोऽपापमनश्चोऽनुदरा कन्यापशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यो-
ऽधर्म इत्युदाहरन्ति तत्त्वार्थिकार्थमभिप्रेत्येति स्पष्टमन्यत्र । विशेषण-
मिति । प्रतियोगिनीति शेषः । तथा चासर्वपदे सर्वनामसंज्ञा । ‘अने-
कमन्यपदार्थे’, ‘सेच्यतेऽनेकया संनतापाङ्गया’ इत्यादावेकशब्दार्थप्राधा-

ल्लोकप्रसिद्ध्या च नञाभाव एव वाच्यः । अब्राह्मणो देवदत्त इत्यादौ देवदत्तादिनानुभूय-
मानसामानाधिकरण्योपपत्तिस्त्वाश्रये लक्षणया बोध्येति भावः । अन्यथा । अनुभवस्या-
न्यथोपपत्तावप्यप्यारोपितब्राह्मण्यकस्य नञ्वाच्यत्वे । सादृश्यादेरपीति । सादृश्यादे-
रप्यब्राह्मण इत्यादौ प्रतीयमानत्वाद्वाच्यतापत्तेरित्यर्थः । अपापमिति । अत्र पापा-
त्यन्ताभाव इति बोधः । अनश्च इत्यतोऽन्य इति बोधः । अब्राह्मण इत्यत्र
सादृश्यघटकतयान्यत्वबोधो न केवलान्यत्वबोध इति विशेषः । सादृश्यं पदार्थान्तरमिति
मते भेदस्य तत्राभावाच्च । अनुदरा कन्येत्यत्राल्पोदरा कन्येति बोधः । अपशवो
वा इत्यत्रापशस्ताः पशव इति बोधः । अधर्म इत्यत्र धर्मविरोधी अदृष्टविशेषः
प्रतीयते न तु तद्विन्नमात्रम् । आर्थिकार्थमिति । आरोपितो ब्राह्मण इत्यादिशब्दबोधो-
त्तरं सादृश्यादर्शानसबोधो भवति । अनुदरेत्यादावल्पत्वादिहेतुकोदराभावारोपेण नञ्सावि-
व्यादारोपितोदरबुद्ध्या तन्मूलाल्पत्वादौ विश्रान्तिः । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । नञर्थो-
भावस्य प्रतियोग्यतिरिक्ते विशेषणत्वे सामर्थ्यादब्राह्मण इत्यादौ समासानापत्तिः ।
ब्राह्मणादेरन्योन्याभावप्रत्ययानापत्तिश्चेति शङ्कामपनिनीपुराह-प्रतीति । ब्राह्मणत्वाद्य-
वच्छिन्नप्रतियोगितासंबन्धेन भेदस्य विशेषणत्वम् । तस्य प्रकारत्वानुभवे तु तदन्तर्भावेण
वृत्तिरङ्गीकार्य । भेदप्रतियोगित्वमात्रस्य केवलान्वयित्वेऽपि न तथाविधभेदप्रतियोगित्वस्य
तथात्वम् । तथा चाब्राह्मण इत्यत्र भेदप्रतियोगी ब्राह्मण इति शब्दबोधे ब्राह्मणप्रतियो-
गिकभेदबोध आर्थिकः । अघटः पट इत्यत्र पटवृत्तिभेदप्रतियोगी घट इति बोधः ।
नञो निपातत्वात्तदर्थं पटस्य नामार्थस्याधेयत्वसंबन्धेनान्वयो न विरुध्यते । अघटमान-
येत्युक्ते घटस्यानयनं तु न भवति नञुपादानसामर्थ्यात् शब्दबोधोत्तरकाले प्रतीयमानस्य
घटप्रतियोगिकभेदवत् एव तत्संभवादिति भावः । अब्राह्मणो देवदत्त इत्यादौ कथं नाम
इत एवास्वरसाद्वा विशेष्यो वेति पक्षान्तरपरिग्रह इति बोध्यम् । उत्तरपदार्थप्रधानस्य

न्यादेकवचननियमः । अब्राह्मण इत्यादावुत्तरपदार्थप्राधान्यात् तत्पुरुषत्वम् । अत्वं भवसि अनहं भवामीत्यादौ पुरुषवचनादिव्यवस्था चोपपद्यते । अन्यथा त्वदभावो मदभाव इतिवदभावोऽंशे युष्मदस्मदोरन्वयेन युष्मत्सामानाधिकरण्यस्य तिङ्श्वसत्त्वात् पुरुषव्यवस्था न स्यात् । अस्मन्मते च भेदप्रति-योगित्वदभिन्नाश्रयिका भवनक्रियेत्यन्वयात् सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमिति भावः । विशेष्यो वेति । प्रतियोगिनीति शेषः । अयं भावः—गौणत्वेऽपि

प्रयोजनमाह—अनेकमिति । इदमेवोत्तरपदार्थप्राधान इति पक्षस्य मुख्यं प्रयोजनम् । तथा च भाष्यम् । ‘इदं खल्वपि भूय उत्तरपदार्थप्राधान्ये संगृहीतम् । किम् । अनेकमिति । किमत्र संगृहीतम् । एकवचनम् ।’ इति । एकवचननियम इति । अन्यथैकभिन्नस्यानेकत्वाद् द्विवचनबहुवचने एव स्यातां न त्वेकवचनमिति भावः । ‘ल्लेकयोः—’ इति सूत्रं नियमार्थमित्यभिप्रेत्य नियम इत्युक्तम् । ननु पदान्नियमेनैकवचनमित्यर्थो न बोद्धव्यः । तथा सति पक्षान्तरे तदनियमः प्रतीयेत । तच्च न युक्तम् । पूर्वपदार्थप्राधान्येऽन्यपदार्थप्राधान्ये चैकवचनासिद्धेः । तत्पुरुषत्वमिति । सति संभवे प्राथिकस्याप्युत्तरपदार्थप्राधान्यस्य तत्पुरुषे औचित्यमिति भावः । पूर्वपदार्थप्राधान्यस्वीकारे पुरुषादिव्यवस्था नोपपद्यते इत्याह—अन्यथेति । इतिवदिति । त्वदभावो मदभावोऽस्तीत्यत्र यथा युष्मदस्मत्सामानाधिकरण्याभावान्न मध्यमोत्तमपुरुषौ भवतोऽपि तु प्रथमस्तदेकवचनमेव तद्वदत्वं भवसि अनहं भवामीत्यत्र युष्मदाद्यर्थस्य नयथान्योन्याभावे विशेषणत्वाभ्युपगमे स्यात् । एवमयुवां भवथः अयूर्यं भवथेति द्विवचनादिकमपि न स्यात् कर्तुरभावस्यैकत्वादित्यर्थः । स्वमते पुरुषादिव्यवस्थामुपपादयति—अस्मन्मते चेति । चत्त्वर्थे । सामानाधिकरण्यं युष्मदादिसामानाधिकरण्यम् । युष्मदाद्यर्थगतसंख्याभिधायित्वमेव सामानाधिकरण्यम् । तच्च पूर्वपदार्थप्राधान्यपक्षेऽपि संभवत्येवेति तु न युक्तम् । सामानाधिकरण्यपदस्योक्तार्थबोधनेऽसामर्थ्यात् । एवमपि वचनव्यवस्थायामनुपपादनाच्च । प्रतियोगिनीतीति । तथा चाब्राह्मणः क्षत्रिय इत्यतो ब्राह्मणभिन्नः क्षत्रिय इति बोधः । नन्वेवमस इत्याद्यभिधिरित्याशङ्क्याह—अयं भाव इति । गौणत्वेऽपि । उपसर्जनत्वेऽपि । ननूपसर्जनत्वेऽन्यनेपो ददाति असः शिव इत्यत्रैतत्तच्छब्दसत्त्वेन लोपो मा प्रसाङ्क्षीदिति ‘अनञ्समासे’ इति चरितार्थम् । न चैतत्तदर्थगतसंख्याभिधायिनः सोस्तेन लोपो विधीयते पूर्वपदार्थप्राधान्ये च न तथाभिधः सुः

नञ्समासे 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इति ज्ञापकात् सर्वनामसंज्ञा नानुपपन्ना । अतः शिव इत्यत्र सुलोपवारणायानञ्समास इति हि विशेषणम् । न च तत्र तच्छब्दस्य सर्वनामतास्ति । गौणत्वात् । अकोरित्यकसहितव्यावृत्त्या सर्वनाम्नोरेव तत्र ग्रहणलाभात् । तथा चानञ्समास इति ज्ञापकं सुवचम् 'अनेक-मन्यपदार्थे' इत्यादावेकवचनं विशेष्यानुरोधात् । 'सुवामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' इत्यतोऽनुवर्तमानं सुग्रहणं विशेष्यमेकवचनान्तमेव । किं चानेकशब्दाद् द्वि-वचनोपादाने बहूनां बहुवचनोपादाने द्वयोर्बहुव्रीहिर्न सिध्येदित्युभयसंग्रहायैक-वचनं जात्यभिप्रायसौत्सर्गिकं वा । 'सेव्यतेऽनेकया' इत्यत्रापि 'योषया' इति विशेष्यानुरोधात् प्रत्येकं सेवनान्वयबोधनाय चैकवचनं न उत्तरपदार्थप्राधान्य-

संभवतीति तद्वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । षष्ठ्यास्तादृशसंबन्धार्थकत्वे मानाभावात् । अनन्तर-पदाध्याहारं कृत्वा एतत्तदोरनन्तरस्य सोर्लोप इत्यर्थस्यैवोचितत्वात् । अन्यत्र तथा व्याख्यातत्वाच्चेत्यत आह-अकोरिति । अकसहितपर्युदासेनाकज्ञयोग्ययोः सर्वनाम्नोरेव तयोर्ग्रहणमुचितं संसर्गवद्वि प्रयोगस्याप्यशङ्कचक्रो हरिरित्यादौ विशेषावगतिहेतुत्वस्य क्लृप्तवादिति भावः । तथा च । उक्तरीत्या सर्वनाम्नोरेव तयोर्ग्रहणे च इदमुपलक्षणम् । एतत्तच्छब्दमात्रग्रहणेऽपि अतितदित्यादावुपसर्जने अत्वाभावेन हल्ङ्थादिलोपस्य दुर्वारतया तद्वैयर्थ्यमित्यपि बोध्यम् । ज्ञापकमिति । पूर्वपदार्थप्राधान्येऽन्युत्तरपदार्थप्राधान्यप्रयुक्त-कार्यप्रवृत्तौ ज्ञापकमित्यर्थः । तेन पुरुषवचनव्यवस्थापि सिध्यतीति भावः । विशेष्या-नुरोधादिति । भिन्नसंख्यविशेष्यासंनिधाने एव समस्यमानप्रधानपदार्थगतसंख्याभि-धायकत्वं सुप इति तथाविधविशेष्यसंनिधाने वानेकपदस्य द्विवचनबहुवचनान्ततेति भावः । नन्वेवमवर्षा हेमन्त इत्यत्रापि हेमन्तरूपविशेष्यानुरोधादेकवचनान्तत्वप्रसङ्ग इति चेन्न । 'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि' इति भाष्ये एव समाधानात् । तत्र विशेष्यरूपाश्रयस्यैव प्रतियोगितयाश्रयस्य प्रतियोगिनोऽपि ग्रहणात् । एवं च नञ्समासस्य क्वचिदनुयोगिगते लिङ्गसंख्ये क्वचित् प्रतियोगिगते भवत इति स्वीक्रियत इति न दोष इति तात्पर्यान् । ननु 'प्रत्ययः' इत्यस्मिन् 'तव्यत्तव्यनीयरः' इत्यादावनुवर्तमाने वचनविपरिणामवद् 'धातोः' इत्यस्मिन् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' इत्यादावनुवृत्ते वचन-विपरिणामवच्च सुविति शब्देऽपि सोऽस्त्वित्याशङ्क्याह-किं चेति । बहूनामिति । बहूनां बहुव्रीहिर्न सिध्येदिति योजना । औत्सर्गिकं वेति । एकवद्वित्वाद्यविवक्षा एकवचनं चेति विभक्तसूत्रेणैकवचनमिति भावः । उत्तरपदार्थेति । तथा च 'सेव्यतेऽ-नेकया' इति प्रयोगानुरोधात् उत्तरपदार्थप्राधान्यं नास्थेयमेकवचनान्तत्वस्यान्यथा-

प्रयुक्तम् । अत एव 'एत्यन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः' इत्यादिकमपि सूपादम् । अत्वं भवसीत्यादौ युष्मदस्मदोस्तद्भिन्ने लक्षणा । नञ् द्योतकः । तथा च भिन्नेन युष्मदर्थेन तिङ्ः सामानाधिकरण्यात् पुरुषव्यवस्था । त्वद्भिन्नाभिन्नाश्रयिका भवनक्रियेति शब्दबोधः । एवं न त्वं पचसीत्यत्र त्वदभिन्नाश्रयकपाकानुकूल-भावनाभावः । घटो नास्तीत्यत्र घटाभिन्नाश्रयकास्तित्वाभाव इति रीत्या बोधः । असमस्तनञः क्रियायामेवौन्वयात् । स चाभावोऽत्यन्ताभाव-

सिद्धत्वादिति भावः । अत एव । पूर्वपदार्थप्राधान्यादेव । सूपादमिति । सुखेनोप-पादयितुं शक्यमित्यर्थे ण्यन्तात् पदेः कर्मणि खल् । उत्तरपदार्थप्राधान्ये त्वत्रानेकशब्दस्य बहुवचनान्तत्वानुपपत्तिः । नन्वेको रथोऽथो गज इत्यर्थादेकशेषेण तदुपपत्तिरिति शक्य-मेकशेषानेकशब्दस्य सकलार्थप्रत्यायकत्वसंभवेनानेकानेकशब्दाप्राप्त्यैकशेषावृत्तेः पृथ-ग्विभक्त्यन्तरादिशब्दे प्रयोगे एकस्यैवानेकपदस्यावृत्त्यान्वयसंभवेनैकशेषानुपयोगाच्च । तेषां द्वन्द्वनिर्देशेऽपि समुदिते एकस्यैवान्वयसंभवाच्चेति भावः । ननु 'एतत्तदोः—' इति सूत्रेऽनञ्ग्रहणं पूर्वपदार्थप्राधान्येऽपि सर्वनामसंज्ञायां ज्ञापकमुक्तमेवं चास इत्यादेः सिद्धावपि अत्वं भवसीत्यादौ पुरुषव्यवस्थानुपपन्नेवेत्याशङ्कां परिहरति—अत्वं भव-सीत्यादाविति । तथा च । नञो द्योतकत्वे च । भिन्नेन युष्मदर्थेन । त्वद्भिन्नरूप-युष्मच्छब्दार्थेन पूर्वपदार्थप्राधान्येऽप्युत्तरपदार्थप्राधान्यप्रयुक्तकार्यज्ञापकतानञ्ग्रहणस्येति लक्षणं विनापि युष्मच्छब्दस्य पुरुषव्यवस्था सिध्यति । अत एव द्योत्यार्थस्य विशेषणत्वमेवेति नियमस्यापि न भङ्ग इति परे । भावनाभाव इति । अस्य इति । अस्य इति रीत्या बोध इत्यत्रान्वयः । ननु सकलकारकविशिष्टक्रियाया अभावबोधोपगमेन तस्य भूतलं घटवदिति ज्ञाने प्रतिबन्धत्वं प्रतिबन्धकत्वं च न स्यात् । एवमारोपिता तथाविधसत्तेति बोधाङ्गीकारेऽपि आद्यस्य घटाभावाविषय-कत्वादन्त्यस्याभावमात्राविषयकत्वादिति चेद्भूतलवृत्तित्वाभाववान् घट इति बोधस्वीकार-पक्षेऽप्येतद्दोषसत्त्वात् । यदि वानुर्भवबलात् तस्य बोधस्योक्तज्ञानप्रतिबन्धत्वप्रतिबन्ध-कत्वेऽङ्गीक्रियेते तर्हि तयाप्युक्तबोधयोस्ते अङ्गीक्रियेते । यदि भूतलवृत्तित्वाभावबोधोत्तरं भूतलाधिकरणकघटाभावबोधो मानसोऽभ्युपगम्यते तेनोक्तज्ञानप्रतिबन्धादिनिर्वाह इत्यु-च्यते तर्हि स एव यथावलम्ब्यते इत्यलमतिविस्तरेण । क्रियायामेवेति । क्रियाग्रहणं गुणस्याप्युपलक्षणम् । अत एव नञ्सूत्रे भाष्ये 'प्रसज्यक्रियागुणौ ततः पश्चात्तद्वृत्तिं करोति' इत्युक्तम् । प्रसज्य विधाय तस्य प्रतिषेध इति तदर्थः । तेन गुणाभावाबोधेऽपि प्रसज्यप्रतिषेध इति लभ्यते । गुणोदाहरणं तु न न एकं प्रियमिति । न इति षष्ठीबहु-

१. त्वद्भिन्नाश्रयिका D₂. २. D₂ and D₃ drop त्वं. ३. न्वयबोधात् P., D₇, D₈.
४. चा A1.

वचनान्तम् । अत्र ह्येकप्रियप्रतिषेधेन बहुप्रियप्रतीतिर्भवति । न संदेह इत्यादौ च संदेहा-
त्यन्ताभावः प्रतीयते । संदेहस्य गुणत्वात् । पूर्वोदाहरणे एकत्वं संख्यारूपे गुणस्त-
प्रतिषेधः । नोऽस्माकमेकं प्रियं नेति तदर्थात् । एवं चैकत्वसंख्याप्रतिषेधः पर्यवस्यति ।
तदुक्तं कैपटेन । ‘अत्रैकप्रतिषेधसामर्थ्यादेव संख्यान्तरयुक्तवस्तुप्रतीतिः’ इति । न
चास्तीत्यध्याहारादेकविषयकर्तृकसत्ता निषिध्यते इति क्रियोदाहरणमेवैतदिति वाच्यम् ।
उक्तभाष्यप्रामाण्याद्गुणस्यैव तत्र निषेधानुभव इत्याशयात् । एतन्मते ‘क्रियया सह यत्र
नञ्’ इति प्रसज्यप्रतिषेधलक्षणेऽपि क्रियाग्रहणं गुणोपलक्षणमिति बोध्यम् । भाष्या-
नुसारिणस्त्वनञ्समासग्रहणमुत्तरपदार्थप्राधान्ये एव लाघवाज्ज्ञापकं निवृत्तपदार्थक इति
भाष्यस्यैकैयटोक्तं व्याख्यातमेव सम्यक् यत् उत्तरपदार्थप्राधान्यपक्षे नचा चेदुत्तर-
पदार्थाभावो बोध्यते तदोत्तरपदार्थप्राधान्यमङ्ग एव स्यादिति नञस्तत्रानर्थकत्वमुपेयम-
भावप्रतियोगित्वादिकं त्वव्यावर्तकतया न विशेषणं संभवतीत्याशयेन अब्राह्मणमानयेत्युक्ते
ब्राह्मणमात्रस्यानयनं न प्राप्नोतीति शङ्काया अपनयनार्थं ‘नैष दोषः’ इत्यादिना यथा
राजपुरुषमानयेत्यत्र राजविशिष्ट एव पुरुषः प्रतीयते तथेहापि नञर्विशिष्ट एव ब्राह्मणो
न केवल इत्यर्थकं ‘नञ्विशिष्टस्यानयनं भविष्यति’ इत्युक्तम् । ततः ‘कः पुनरसौ ।
निवृत्तपदार्थकः’ इति भाष्यमुपादाय ‘निवृत्तः पदार्थो ब्राह्मण्यं यस्मिन्’ इत्यस्याभि-
धानात् तदग्रिमभाष्यप्रत्येनान्यारोपितब्राह्मण्यवान् क्षत्रियादिरिव अब्राह्मण इत्यत्र
ब्राह्मणपदार्थो नञ्येत्य इत्यस्यैव लाभाच्च । पूर्वपदार्थप्राधान्यपक्षे तु ताभ्यां भिन्नोऽ-
स्तीत्यर्थेऽसौ स्त इति द्विवचनस्यानापत्तिः । तेभ्यो भिन्न इत्यर्थे ते सन्तीत्यत्र बहुवचना-
न्तस्य चोत्तरपदार्थप्राधान्यमिति भाष्योक्तपक्षे इष्टस्यैकवचनापत्तिश्च । न चेष्टापत्तिः ।
पक्षयोः फलभेदापत्त्येष्टापत्तेरयोगात् । अनेकमित्यत्रैकवचनस्यैव प्रकृतस्थले द्विवचना-
देरप्युत्तरपदार्थप्राधान्यफलत्वस्योक्तप्रायतयोक्तप्रयोगानभिन्नाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । यद्यपि
‘एतत्तदोः—’ इति सूत्रेऽनञ्समासग्रहणेन पूर्वपदार्थप्राधान्येऽप्युत्तरप्राधान्यप्रयुक्त-
कार्यातिदेशेनासौ स्त इत्यादौ द्विवचनादिरनेकमित्यत्रैकवचनस्य च सिद्धिस्तथायुक्ता-
तिदेशकल्पनापेक्षया लाघवादुत्तरपदार्थप्राधान्यकल्पनैव ज्यायसीति भावः । अनेकमि-
त्यत्रैकवचनासिद्धिः सुबिति विशेष्यानुरोधादेकवचनमिति तु न युक्तम् । स्वस्मिन्नन्य-
संख्यासत्त्वेऽपि विशेष्यानुरोधि वचनमित्याद्यनुशासनाभावात् । न चावर्षा हेमन्त इत्य-
त्रेवाश्रयतो लिङ्गैत्यनेन निर्वाहः । प्रतियोगिरूपाश्रयस्यात्र ग्रहणात् । प्रतियोगिज्ञानस्या-
भावज्ञानार्थमाश्रयणात् । अत एवान्यपदार्थप्राधान्यपक्षवत् पूर्वपदार्थप्राधान्यपक्षेऽवर्षा
हेमन्त इत्यत्र हेमन्तरूपाश्रयगतलिङ्गसंख्यापत्तिरूपो दोषो भाष्ये नोक्तः । गुणवचना-
नामाश्रयतो लिङ्गादिवत् समासार्थः प्रतियोगितया यद् द्रव्यं श्रितस्तस्य लिङ्गादि समा-
सस्येत्यङ्गीकारादिति वाच्यम् । गुणवचनानामित्यादेरतिदेशस्य स्वीकारे मौरवात् । दृष्ट-

त्वान्योन्याभावत्वादिरूपेण शक्यस्तत्तद्रूपेण बोधादित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ४० ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारे नञर्थनिर्णयः समाप्तः ॥

न्तर्दार्शनिकयोरश्रयवैलक्षण्यप्रयुक्तवैपम्यापत्तेश्चेति दिक् । अन्योन्याभावत्वादी-
त्यादिपदेन ध्वंसत्वप्रागभावत्वसंग्रहः । ननु सकलाभावानुगताभावत्वावच्छिन्ने एव
शक्तिरचिता व्याघवात् न त्वत्यन्ताभावत्वादिरूपनानाधर्मावच्छिन्नेषु गौरवादित्याशङ्क्याह-
तत्तद्रूपेण बोधादिति । तत्तद्रूपेण बोधस्यानुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । घटप्रागभावध्वंससमये
अत्र घटो नास्तीति प्रतीत्या घटप्रागभावत्वादिना घटप्रागभावो घटध्वंसश्च विषयीक्रियते
न तु तदत्यन्ताभावत्वावच्छिन्नः प्रागभावध्वंसयोरत्यन्ताभावेन प्राचीनताकिंकमते
विरोधेन तदा तत्र तदत्यन्ताभावासत्त्वादिति भावः । नव्यताकिंकास्तु नवोऽत्यन्ताभाव-
त्वावच्छिन्नेऽन्योन्याभावत्वावच्छिन्ने एव शक्तिर्न तु प्रागभावत्वावच्छिन्नेऽपि । माना-
भावात् । प्रागभावादिसमये घटो नास्तीति धीस्तदत्यन्ताभावमेवावगाहते । प्राग-
भावाद्योरत्यन्ताभावेन सह विरोधे मानाभावादिति वदन्ति । नन्वत्यन्ताभावत्वं नित्य-
संसर्गाभावत्वं तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमन्योन्याभावत्वमेवं चात्य-
न्ताभावत्वापेक्ष्यान्योन्याभावत्वं लब्ध्विति तदवच्छिन्ने एव शक्तिकल्पनमुचितं न
त्वत्यन्ताभावत्वावच्छिन्ने । एवमुत्पत्तिमदभावोऽन्योत्पत्तिशून्यनाशप्रतिशून्यनाशप्रति-
योग्यभावत्वरूपध्वंसप्रागभावत्वयोरपि अन्योन्याभावत्वापेक्षया गुरुतया तदवच्छिन्नेऽपि
शक्तिकल्पनमुचितमिति चेन्न । नास्तीत्यादिप्रतीतिसाक्षिकोऽन्युयोगिताविशेष एवात्यन्ता-
भावत्वादिर्न तूक्तरूपः । तथा सति संसर्गाभावत्वस्य दुर्बचनतया तदघटितात्यन्ता-
भावत्वस्यापि तथात्वापत्तिः । तथा हि न तावत् संसर्गारोपजन्यप्रतीतिविषयाभावत्वं
संसर्गाभावत्वं प्रतियोगिसंसर्गारोपस्याभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रत्येव हेतुयातीन्द्रियाभावे-
ऽव्याप्तेः । नापि संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं तत् । अन्योन्याभावस्यापि तादात्म्य-
संबन्धाप्रतियोगिताकृतया तत्रातिव्याप्तेः । न च तादात्म्यातिरिक्तत्वं संसर्गे विशेषणं
प्रवेश्यमिति नोक्तदोष इति वाच्यम् । तथापि संयोगसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताके संयो-
गिनोऽत्यन्ताभावेऽव्याप्तेः । संयोगरूपसंयोगितादात्म्यरूपतया तदतिरिक्तत्वाभावात् ।
एवमन्योन्याभावत्वं न तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं संयोगसंबन्धाव-
च्छिन्नप्रतियोगिताकसंयोग्यत्यन्ताभावे समवायसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताके
त्यन्ताभावे चातिव्याप्तेरिति दिक् । तद् ध्वनयन्नाह-इत्याद्यन्यत्र वि-
दीधित्यादिग्रन्थेषु विस्तरं द्रष्टव्य इत्यर्थः ॥

इति श्रीभूषणसारव्याख्याने कालोपनामश्रीकेशवाङ्गविरचिते नञर्थनिर्णयः ॥

१. P. has रङ्गजिभट्टात्मजकौडमट्टविरचिते after इति. २. P., A., D., D₂ drop श्री. ३. D, drops समाप्त.

निपातद्योतकत्वनिर्णयः ।

प्रादयो द्योतकाश्चादयो वाचका इति नैयायिकमतमयुक्तं वैषम्ये बीजाभावा-
दिति ध्वनयन् निपातानां द्योतकत्वं समर्थयते—

द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा ।

उपास्येते हरिहरौ लकारो दृश्यते यथा ॥ ४१ ॥

येन हेतुना प्रादयो द्योतकास्तेनैव हेतुना चादयो निपातास्तथा द्योतका
इत्यर्थः । अयं भावः—ईश्वरमनुभवतीत्यादावनुभवादिः प्रतीयमानो न धात्वर्थः ।
भवतीत्यत्राप्यापत्तेः । नोपसर्गार्थः । तथा सत्यप्रकृत्यर्थतया तत्राख्यातार्थानन्व-
यापत्तेः । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तेः । अनुगच्छतीत्यादा-
वनुभवदिप्रत्ययापत्तेश्च । नै विशिष्टार्थो गौरवात् । तथा च धातोरेव

श्रीकालभैरववतशङ्करीभ्यां नमः । श्रीः ॥

ईश्वरमनुभवतीत्यादाविति । आदिपदात् प्रजयतीत्यादेः परिग्रहः । अनुभ-
वादित्यादिपदं प्रकृष्टजयादिसंप्राहकम् । न धात्वर्थः । न भ्वादिधातुप्रतिपाद्यः । तत्र
हेतुमाह—भवतीत्यत्रेति । तथा च न तद्वातुवाच्यः स इत्यर्थः । अन्यव्यतिरेकाभ्यां
लाघवादुपसर्गवाच्य एव सोऽस्त्वित्याशङ्कां परिहरति—नोपसर्गार्थ इति । नोपसर्गवाच्य
इत्यर्थः । ननु प्रत्ययानां प्रकृतितत्समभिव्याहृतान्यतरार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमित्येव
व्युत्पत्तिः कल्प्यतां न चेवं गौरवं धातौ तत्तदर्थवाचकत्वस्योपसर्गे द्योतकत्वकल्पनापेक्षया
लाघवानपायादित्यतो दूषणान्तरमाह—अनुगच्छतीत्यादाविति । प्रत्ययापत्तेश्चेति ।
अनुभववाचकत्वेनाभिमतस्यानोः सत्त्वात् । तत्तद्वातुसमभिव्याहारस्यानुभवादेस्तत्तदुप-
सर्गेण बोधे नियामकत्वं कल्प्यत इति चेत् सत्ताद्यर्थवाचकत्वेन क्लृप्तस्य धातोरेवानु-
भवादिवोधकत्वमुपसर्गस्य द्योतकत्वं कल्पयितुं युक्तम् । एवं सति प्रत्ययानामिति व्युत्प-
त्तिरपि न संकोच्येति भावः । न विशिष्टार्थ इति । नोपसर्गविशिष्टतद्वातुवाच्य
इत्यर्थः । गौरवादिति । विशिष्टस्योभयरूपत्वेनोभयत्र वाचककल्पनायां गौरवात् । ननु
प्रजयतीत्यत्र जयो धातुवाच्यः प्रकर्ष उपसर्गवाच्य इत्येव किं नोपयत इति चेच्छृणु ।
प्रकर्षस्य नामार्थतया धात्वर्थजयेनान्वयानुपपत्तेः । नामार्थधात्वर्थयोः साक्षाद्वेदसंबन्धेना-
न्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । उपसर्गीतिरिक्तत्वस्य नामनि प्रवेशे तु गौरवमिति भावः । ननु
वृत्तिं विना कथं तत्रानुभवप्रतीतिरत आह—तथा चेति । उक्तरीत्या धातोरुपसर्गस्य

१. Before this A has श्रीपार्श्वनाथाय नमः and D₂ has श्रीगणेशाय नमः.
२. समर्थयति A. ३. नापि विशिष्टार्थो D₃.

विद्यमानत्वादिवाचकस्यास्तु लक्षणा । उपसर्गस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्तु । तथा तात्पर्यग्राहकत्वमेव द्योतकत्वमिति । तच्चादिष्वपि तुल्यम् । चैत्रमिव पश्यतीत्यादौ सादृश्यविशिष्टं चैत्रपदलक्ष्यम् । इवशब्दस्तात्पर्यग्राहक इत्यस्य सुवचत्वात् । इति स्वयं युक्त्यन्तरमाह-उपास्येते इति । अत्र ह्युपासना किमुपसर्गाथौ विशिष्टस्य धातुमात्रस्य वा । नाद्यः । तथा सति स्वार्थफलव्यधिकरणव्यापार-वाचकत्वरूपसकर्मकत्वस्यासधातोरुपासनारूपफलवाचकत्वाभावादानापत्तेस्ततः कर्मणि लकारो न स्यात् । न द्वितीयो गौरवात् । तृतीये त्वागतं द्योतकत्वं

धातुभववाचकत्वासंभवे चेत्यर्थः । विद्यमानत्वादिवाचकस्येति । इदं धातोर्हेतु-गर्भविशेषणं यतो धातुर्विद्यमानत्वादिवाची घटो भवतीत्यादौ तदर्थप्रतीतिरेतो धातोरेव शक्यसंबन्धरूपलक्षणा संभवति । उपसर्गस्य केवलस्याप्रयोगात् कस्याप्यर्थस्यावाचकत्वेन शक्यसंबन्धरूपा लक्षणा न संभवतीत्यर्थः । नन्वेवमुपसर्गाणां द्योतकप्रवादविरोध इत्या-शङ्क्याह-तात्पर्येति । एवं प्रतिष्ठते इत्यत्र गमनत्वेनानुभवसिद्धबोधो धातुलक्षणयैव निर्वाहः । उपसर्गस्याभावे शक्तिस्वीकारे तु नामार्थधात्वर्थयोरिति व्युत्पत्तिसंकोचेऽपि गमननिवृत्त्यभावत्वरूपेणैव बोधः स्यान्न तु गमनत्वेनेति बोध्यम् । अन्ये तु जये क्लृप्त-शक्तेर्धातोरेव प्रकृष्टजये शक्तिः प्रोत्तरजित्वं शक्ततावच्छेदकम् । इयमेवौपसंदानिकी शक्तिरुपसर्गाणामिति गीयते शक्ततावच्छेदकानुप्रवेश एव हि तत्रोपसंदानपदार्थः । एवमेवानुभवतीत्यादावित्याहुः । स्वार्थेति । आसधातोरुपासनारूपफलवाचकत्वाभावेन स्वार्थेत्यादिरूपस्य सकर्मकत्वस्यानापत्तेरिति योजना । न च फलव्यधिकरणव्यापार-वाचित्वमेव सकर्मकत्वमस्तु मास्तु च तत्र स्वार्थत्वनिवेशनं तथा चोपासनाया उपसर्ग-वाच्यत्वेऽपि तदात्मकफलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वं धातोर्निष्प्रत्यूहमेवेति वाच्यम् । यत्किञ्चित्फलव्यधिकरणव्यापारवाचित्वस्यातिप्रसङ्गकतया फले स्वार्थत्वप्रवेशस्यावश्य-कत्वात् । गौरवादिति । इदमुपलक्षणं विशिष्टस्य भ्वादिगणे पाठाभावाद्धातुत्वानापत्तिः । पाठः कल्प्यत इति चेत् तथापि द्विवचनाढादिव्यवस्थानापत्तिरित्यपि बोध्यम् । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।

धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः ॥’

इति । इदमनुभवतीत्यादावपि विशिष्टस्य वाचकत्वकले वेदितव्यम् । धातोः सकर्म-

तात्पर्यग्राहकत्वलाभादिभावः । दृश्यत इत्यत्र कर्मणीति शेषः ॥ ४१ ॥

तच्चादिष्वपि तुल्यमित्याह—

तथान्यत्र निपातेऽपि लकारः कर्मवाचकः ।

विशेषणाद्ययोगोऽपि प्रादिवच्चादिके समः ॥ ४२ ॥

अन्यत्र साक्षात्क्रियतेऽलंक्रियत उरीक्रियते शिव इत्यादौ । अत्रापि धातोस्तत्त-
दर्थे कर्मणि लकारसिद्धयर्थं तत्तदर्थवाचकत्वं वाच्यमित्युपसर्गवद् द्योतकत्वममीषा-
मपीत्यर्थः । यद्यपि कृधातोः सकर्मकत्वमस्त्येव तथाप्येष्वर्थेषु सकर्मकता न स्यात् ।
अन्यथा वायुर्विकुरुते सैन्धवा विकुर्वत इत्यत्रापि स्यादिति भावः । अथोपासना-
साक्षात्कारादिनिपातार्थोऽस्तु “साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः” इति कोशस्वरसात् ।

कत्वभावेऽप्युपास्यत इति भावे लकार उत्पद्यतामित्याहङ्क्याह—दृश्यत इत्यत्र
कर्मणीति शेष इति । भावे लकारे हरिहरौ उपास्येते इतिप्रयोगानुपपत्तिरिति
भावः ॥ ४१ ॥

तत्तदर्थवाचकत्वमिति । लौकिकविषयिताशालिप्रत्यक्षानुकूलव्यापाराद्यर्थवाचक-
त्वमित्यर्थः । लक्षणास्वीकारे वाचकत्वमित्यस्य बोधकत्वमित्यर्थोऽवसेयः । शक्तिकल्पने
तु यथाश्रुतमेव साधु । क्वचित्तु बोधकत्वमित्येव पाठः । धातूनामनेकार्थत्वादत्र शक्ति-
कल्पने तुल्यन्यायादनुभवतीत्यादावप्यनुभवादिवाचकत्वकल्पनं युक्तम् । अत एव पस्य-
शाहिके कौस्तुभे उपास्यते गुरुनुभूयते सुखमित्यादौ धातोः सकर्मकक्रियापरत्वं विना
कर्मणि लकारायोगेन वाचकत्वे स्थिते इत्युक्तम् । अलंक्रियत इत्यत्र शोभानुकूलव्यापार-
विशेषो धात्वर्थः । अन्यथा । यत्किंचिदर्थे सकर्मकत्वमाश्रित्यार्थान्तरेऽपि सकर्मकत्वे ।
इत्यत्रापि स्यादिति । तत्रापि करोति घटमित्यत्र कृधातोः सकर्मकत्वस्य दृष्टतया
वायुर्विकुरुत इत्यादावपि सकर्मकत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । वायुना विक्रियते सैन्धवै-
र्विक्रियत इति भावे लकारो न स्यादिति भावः । किं च साक्षात्कारादिकर्मत्वेन गुर्वा-
देरभिधानं लकारेण न स्यात् साक्षात्कारादेर्धात्वर्थताविरहे धात्वर्थश्रयकर्मण एव
तदुत्तरप्रत्ययेनाभिधानात् । अपि चोक्तस्थले गुर्वादेः कर्मत्वमेव न स्यात् धात्वर्थफला-
श्रयस्यैव कर्मत्वात् । न चारोपितकर्मत्वसंभावनापि सिद्धे नित्ये तस्य बाधितत्वात् ।
अर्थभेदेऽपि शब्दभेदेन शब्दभेदेऽपि सकर्मकधातुरूपशब्दसादृश्यमूलकाभेदारोपनिबन्धना
वा शङ्का । अर्थभेदाच्छब्दभेद एवेत्युत्तरम् । कोशस्वरसादिति । यद्यप्युपासनादावुपादेः

तदनुकूलो व्यापार एव धात्वर्थोऽस्तु स्वस्वयुक्तनिपातान्यतरार्थफलव्यधिकरण-
व्यापारवाचित्वं सकर्मकत्वमपि सुवचमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकावयुक्ताविति
नेदं साधकमिति चेन्न । नामार्थधात्वर्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयासंभवान्निपातार्थ-
धात्वर्थयोरन्वयस्यैवासंभवादन्वया तण्डुलः पचतीत्यत्रापि कर्मतया तण्डुलानां
धात्वर्थेऽन्वयापत्तेरिति । किं च प्रादीनां वाचकत्वे भूयान् प्रकर्षः कीदृशो
निश्चय इति वद्भूयान् प्र कीदृशो निरित्यपि स्यात् । अस्मन्मते प्रादेरनर्थकत्वाच्च
तदन्वय इत्यत एव द्योतकता तेषां स्यादिति साधकान्तरमभिप्रेत्याह-विशे-
षणेति । शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इति वच्छोभनश्च द्रष्टव्य इत्यस्यापत्तेस्तुल्य-
समाधेयत्वादिति भावः । अपि च निपातानां वाचकत्वे प्रातिपदिकार्थयोर्विना
षष्ठ्यादिकं भेदेनान्वयासंभवः । अन्यथा राजा पुरुष इत्यात्राप्यपत्तेरित्यभि-

कोशो न शक्तिग्राहकस्तथापि 'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः ॥' 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्ति-
वारणवाचकः ॥' 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये ॥' इत्यादि कोशप्राप्त्यात्
'अथ निपाताः । उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इत्यारभ्य निरुक्ते निपातानां तत्तदर्थ-
कत्वस्योक्तेश्चोपासनादिकमपि तदर्थत्वेन कल्प्यत इति भावः । धातोर्व्यापारमात्रवाचित्वे
पूर्वोक्तरीत्या सकर्मकत्वं न स्यादित्याशङ्का निरस्यति-स्वस्वेति । खो धातुस्त्युक्त-
निपातश्च तयोरन्यतरस्यार्थभूतं यत् फलं तद्व्यधिकरणव्यापारवाचकत्वमित्यर्थः ।
दृष्टान्तेति । उभयत्रापि निपातस्य द्योतकतां विनैव गुर्वीदेः कर्मत्वनिर्वाहात् । नेदं
साधकमिति । उक्तस्थले गुर्वीदेर्लकारेण साक्षात्कारादिकर्मत्वेनाभिधानं साधकं
धातोर्विशिष्टार्थकत्वस्य निपातस्य द्योतकत्वस्य च साधकम् । अन्वयस्यैवेति । अनु-
कूलतासंबन्धेनान्वयस्यैवेत्यर्थः । प्रागुक्तकोशादिकं तु द्योत्यार्थमादायोपपन्नमिति भावः ।
तदन्वयः । कीदृशादिपदार्थान्वयः । तुल्यसमाधेयत्वादिति । तुल्येन प्रादितुल्येन
निरर्थकत्वहेतुना समाधातुं शक्यत्वादित्यर्थः । नन्वभेदेन नामार्थप्रकारबोधं प्रति निपा-
तभिन्नजन्योपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावाङ्गीकाराच्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोषे
इत्यत्र आह-अपि चेति । भेदेनान्वयासंभव इति । नामार्थयोरिति व्युत्पत्ति-
विरोधात् भेदसंसर्गकनामार्थप्रकारकहेतुभूतप्रत्ययजन्योपस्थितेरभावाच्च । द्योतकतापक्षे तु
तत्तत्प्रातिपदिकस्यैव विशिष्टार्थकत्वेनान्वयाभावादेव न दोषः । विना षष्ठ्यादिकमि-
त्युक्तिस्तु तत्सत्त्वे तदर्थद्वारा नामार्थयोरपि भेदेनान्वयः संभवति विभक्त्यर्थसंसर्गद्वारा
इत्यर्थस्य बोधनाय । षष्ठ्यादिकमित्यादिपदं द्वितीयादिसंग्राहकम् । अन्यथा ।

प्रेत्याह—प्रादीति । धवखदिरयोः समुच्चय इतिवद्धवस्य खदिरस्य चेत्येव स्यादिति भावः ॥ ४२ ॥

ननु प्रातिपदिकार्थयोर्भेदानान्वयबोधे विभक्तिजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्य-
कारणभावो निपातातिरिक्तविषय एवेति नोक्तदोष इत्याशङ्क्याह—

पदार्थः सदृशान्वेति विभागेन कदापि न ।

निपातेतरसंकोचे प्रमाणं किं विभावय ॥ ४३ ॥

सदृशा सदृशेन समानाधिकरणेनेति यावत् । अन्वेति अभेदेनेति शेषः ।
विभागेन असदृशेन असमानाधिकरणेनेति यावत् । अयमर्थः—समानाधिकरण-
प्रातिपदिकार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तिर्निपातातिरिक्तविषयेति कल्पने मानाभावो
गौरवं च । अस्माकं निपातानां द्योतकत्वादन्वय एव नास्तीति नायं दोषः । अत
एव घटो नास्तीत्यादौ घटपदं तत्प्रतियोगिके लाक्षणिकमिति नैयायिकाः ॥ ४३ ॥

षष्ठादिकं विनापि नामार्थयोर्भेदसंबन्धेनान्वयाङ्गीकारे नामार्थयोरिति व्युत्पत्त्यनङ्गीकारे
इति यावत् । चेत्येवेति । न तु धवश्च खदिरश्चेति भावः ॥ ४२ ॥

सदृशेति । वाचा निशेतिवदावन्तमिति भ्रमवारणायाह—सदृशेनेति । येन केन-
चिद्रूपेण सादृश्यस्यासमानाधिकरणेऽपि संभवादाह—समानाधिकरणेनेति । स्वप्रति-
पादकशब्दसमानाधिकरणशब्दप्रतिपाद्येन । यद्वा स्ववृत्तिपदार्थतावच्छेदकसमानाधिकरण-
पदार्थतावच्छेदकाधिकरणेन तादात्म्यसंबन्धेन स्वसंबन्धिना वा एतादृशपदार्थयोरभेद-
संबन्धेनान्वयसंभव इत्याशयेनाह—अभेदेनेति शेषेति । समानाधिकरणेति ।
समानविभक्तिकयोर्विकृष्टविभक्तिरहितयोर्वा प्रातिपदिकयोरर्थयोरित्यर्थः । अन्वय एव
नास्तीति । पृथगुपस्थितयोरेव संसर्गस्यान्वयरूपत्वादिति भावः । नायं दोष इति ।
धवस्य खदिरस्य चेत्येव स्यादित्युक्तो दोषः व्युत्पत्तेर्विभिन्नोपस्थितविषयत्वात् प्रकृते च
खदिरपदेनैव खदिरसमुच्चयोपस्थापनादिति भावः । अत एव । नामार्थयोरिति व्युत्पत्ते-
रसंकोचादेव । लाक्षणिकमिति । संकोचे तु लक्षणकल्पनं निरर्थकमेव स्यात् घटस्य
घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेन नञर्थीभावेऽन्वयसंभवात् । ननु घटादिपदस्य
घटादिप्रतियोगिके लक्षणामङ्गीकृत्याभेदान्वयोपपादनं नैयायिकानां न युक्तं तथा सत्यपि

अपि च निपातानां वाचकत्वे काव्यादावन्वयो न स्यादिति साधकान्तरमाह—

शरैरुसैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ।

इत्यादावन्वयो न स्यात् सुपां च श्रवणं ततः ॥ ४४ ॥

अत्रोससदृशैः शरै रससदृशानुदीच्यानुद्धरिष्यन्नित्यर्थः । अयं चोस्त्रादिशब्दानां तत्सदृशपरत्व इवशब्दस्य द्योतकत्वे संगच्छते । अन्यथा प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिविरोधः । तथा हि उस्त्रैरिति करणे तृतीया । न चोस्त्रोऽत्र करणमिवार्थसदृशस्य करणत्वेऽपि तस्य करणत्वं नानेन बोधयितुं शक्यमप्रकृत्यर्थत्वात् । इवशब्दस्य चासत्त्वार्थकतया तदुत्तरं तृतीयासंभवात् ।

भूतले न घट इत्यत्र तात्पर्यसत्त्वे भूतलवृत्तित्वाभावस्य घटेऽन्वयबोधस्य दीधितिकारादिभिरभ्युपेयते । तथा च तत्र नामार्थयोरिति व्युत्पत्तिभङ्गः । एवं चैत्रो न पचतीत्यत्र पाकानुकूलकृत्यभावस्य चैत्रेऽन्वयात् तत्रापि । एवं घटः पटो नेत्यत्र घटप्रतियोगिकभेदस्याश्रयतासंबन्धेन बोधात् तत्रापि नचोऽभावाल्लाक्षणिकत्वे तस्य तस्य मुख्यार्थदौर्लभ्यापत्तिः । अभावस्य भेदान्वयबोधोपगमेऽपि कार्यकारणाभावाधिक्यविरहाद्वेदान्वयबोधोपगम एव समुचितः । स्पष्टं चेदं व्युत्पत्तिवादे । किं चानेकशब्दे समुच्चयशक्तिकल्पनापेक्षया कतिपयनिपातेष्वेव न कल्पना युक्तेत्याशङ्क्याह—अपि चेति । रससदृशानिति । एतेषामुदीच्यानित्यत्र विशेषणत्वम् । अत्र करणमिति । अत्रोदग्देशीयराजोद्धरणक्रियायाम् । सदृशस्य करणत्वेऽपीति । उस्त्रसदृशस्याभेदेन शरविशेषणतया प्रकृतक्रियायां करणत्वसंभवेऽपि । तस्य । सदृशस्य । अनेन । उस्त्रपदोत्तरवर्तितृतीयाप्रत्ययेन । अप्रकृत्येति । अत्र सदृशस्येत्यनुषज्यते । तथा च सदृशे इवार्थे उस्त्रपदोत्तरवर्तितृतीयया करणत्वं प्रतिपादयितुं न शक्यते । प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितेत्यादिव्युत्पत्तिविरोधादिति समुदितार्थः । तृतीयासंभवादिति । करणत्वार्थकतृतीयाया असंभवात् । अव्ययोत्तरं सर्वविभक्तिलुक्संभवेऽपि तस्यानिरर्थकत्वात् विभक्त्यर्थीप्रधाननिपातार्थस्य कारकत्वेनान्वयात् । ननु तदर्थस्यापि कारकत्वेनान्वयोऽस्तु । अत एव दीधितौ पृथिव्यामेव गन्ध इत्यत्रैवकारार्थस्यान्यस्य लुप्तसप्तम्यार्थाधेयत्वेऽन्वयं स्वीकृत्यापरस्मिन्नेवशब्दार्थेऽभावे तदन्वयमुपगम्य पृथिवीसमवेतः पृथिव्यन्या-

संभवे वा श्रवणप्रसङ्गात् । उल्लपदोत्तरतृतीयान्वयप्रसङ्गाच्चेत्याह—**सुपां चेति ।**
सुपां श्रवणं चेत्यर्थः । चकारादुल्लपदोत्तरतृतीयान्वयः समुच्चयते । इत्यादा-
वित्यादिपदात् 'वागर्थविषयं संपृक्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे' इत्यत्र वागर्थयो-
'र्वदिकर्मत्वाभावात् तदुत्तरद्वितीयाया अनन्वय ईवार्थस्य कर्मत्वबोधकासंभवश्च
संगृह्यते । यदि च विशेषणविभक्तिरभेदार्था साधुत्वमात्रार्था वा तदापीवशब्दस्य
वाचकत्वेऽनन्वय एव । उल्लसदशशराणां समानाधिकरणपदोपस्थाप्यतया भेदे-
नान्वयायोगात् । बाधादभेदेनापि सः । न ह्युल्लाभिन्नसदृशाभिन्नः शर इत्यर्थो
द्रष्टव्यः ॥ ४४ ॥

समवेतो गन्ध इति बोधो वर्णितः । तथा चेशब्दोत्तरवर्तितृतीयाकरणत्वार्थिका संभवत्ये-
वेत्याशङ्क्याह—**संभवे वेति । श्रवणेति ।** कारकत्वेन तदर्थस्यान्वयेऽसत्त्वार्थकत्वा-
भावेन निपातत्वाभावेनाव्ययत्वाप्राप्त्या 'अव्ययात्—' इति लुगनापत्त्या सुपश्रवणं
स्यादिति भावः । अत एव दीधितिकारस्यात्र न निर्भर इत्युक्तं प्रामाणिकैः । एवं
च एवशब्दस्याधेयत्वार्थकतां स्वीकृत्य पूर्वोक्तबोध उपपादनीयः । **सुपां च श्रवणमि-**
त्यत्र चकारो भिन्नक्रम इत्याह—सुपां श्रवणं चेत्यर्थ इति । ननु तस्य सत्त्वार्थ-
कत्वेऽपि स्वरादिपाठादव्ययत्वोपपत्तिस्तथा च न सुपः श्रवणप्रसङ्ग इत्यतो मूले चशब्द
उपात्तस्तत्समुच्चयमाह—**चकारादिति ।** तथा च तृतीयाया असाधुत्वमपि स्यात् ।
लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि ह्युपमानोपमेयताविभक्तिः पुनरेकैव । उपमानोपमेययोरित्यनुशासनं
तु मुनिप्रणीतं नास्त्येवेति भावः । **साधुत्वमात्रार्थेति** न केवला प्रकृतिरिति नियमेन
क्रियमाणा विभक्तिर्विशेष्यवाचकपदप्रकृतिकसजातीयैव कर्तुमुचिता अन्यथा भेदान्वय-
बोधो न स्यात् । विरुद्धविभक्तिराहित्यादेस्तत्र तन्त्रत्वादिति भावः । **उल्लसदश-**
शराणामिति त्रिपदो द्वन्द्वः । **भेदेनान्वयेति ।** उल्लपदार्थस्य प्रतियोगित्वसंबन्धेन
सदृशपदार्थैकदेशे सादृश्ये सदृशस्य स्वनिष्ठासादृश्यानुयोगित्वसंबन्धेन । **उल्लाभिन्नेति ।**
उल्लोऽस्य स सदृशेऽभेदेनान्वये उल्लाभिन्नसदृशस्य शरे भेदस्य बाधः । सदृशस्य पूर्व-
शरेणाभेदान्वये सदृशाभिन्नशरे उल्लस्यान्वये इत्यर्थः । एवं च घनश्याम इत्यादौ घना-
दिपदं घनादिसदृशलाक्षणिकम् । घन इव श्याम इति विग्रहेऽपि तत्तथा । अत एव
सामानाधिकरण्यात् समासपुंवद्भावाद्वाजस्येन सिद्धौ । अन्यथा वचनसामर्थ्यात् सामा-

१. °र्वदि° D., D₁. २. इव वागर्थस्य P., A., D₃. ३. कर्मकत्व° D₃. ४. °रमे-
दार्थिका P. ५. °सदृशां शरणां P. ६. °भिन्नः सदृ° D₃.

नाधिकरण्यविरहेऽपि समासाङ्गीकारे प्रकरणबाधः स्यात् । एवमपि पुंवद्भावानापत्तिः । मृगक्षीरवज्जातिमात्रविवक्षया प्रयोगनिर्वाहस्तु गत्यन्तरसत्त्वे न युक्त इति स्पष्टमत्रैव सूत्रे कैपटे । उपमानपरत्वं तु घटत इति तटस्थप्रयोगमादाय भूतपूर्वगत्याश्रयेण घन-सदृशार्थकत्वेऽपि विशेषणविधया घनार्थकत्वसत्त्वादाह । एवं च घनसदृशः श्याम इत्युभयत्र बोधः । द्योत्यस्यापि सदृशस्यानुभवबलाद्विशेष्यत्वाङ्गीकारे क्षतिविरहः । द्योत्यवाचक्योर्ध्वं पृथगुपस्थितिस्तत्रैव द्योत्यस्य वाच्ये विशेषणत्वमिति नियम इति स्वीकारात् । सादृश्यस्थप्रयोजकधर्मकाङ्क्षायामुपस्थितश्यामत्वं प्रयोजकत्वेन मानस-बोधविषयो भवतीत्यन्यत्र विस्तरः । परे तु केषांचिन्निपातानामनुभवानुरोधेन वाचकत्व-मपि अत एव नेत्यतोऽभावबोधोऽनुभूयते कस्येति जिज्ञासा च दृश्यते अभावशब्दवत् । अपि च आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा इत्यादौ पर्वतादवर्गगत्याद्यर्थबोधात् तत्रावाच-कत्वमावश्यकमिति निरुक्ते प्रथमाध्याये तृतीयखण्डे ‘उपसर्गा अर्थान् निराहुः’ इत्युपक्रमे ‘अर्थविकरणम् । आ इत्यर्वागर्थे’ इत्यत्र स्पष्टम् । द्योतकत्वे हि दिग्गो-लक्षणपञ्चम्यनुपपत्तिस्तस्य विशेषणता च स्यात् । अत एव ‘स्त्रियाम्’ इति सूत्रे स्त्रीत्वस्य प्राधान्ये वचनानुपपत्तिर्द्योतकतापक्षमवलम्ब्य परिहृता अत एव ‘हेतुमति च’ इति सूत्रभाष्ये द्योतकतापक्षे ‘हेतुमति’ इत्यस्य प्रकृत्यर्थविशेषणत्वमुक्तम् । हरिणाप्युक्तम्—

‘निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः ।

आगमा इव केऽपि स्युः संभूयार्थस्य वाचकाः ॥’

इति । केचिदित्युभयान्वयी । केचित् पृथगर्थाभिधायिनो नो वाचकाः केचिन्निरर्थका इत्याह । आगमा इवेति तदर्थः । नामाख्यातमुपसर्गो निपात इत्यादिप्रातिशाह्यमप्यत्र मानं बोध्यमिति मञ्जूषायां निरूपितम् । शरैरुक्षैरिवेत्यादौ द्योतकतापक्षेऽप्युक्तसदृशैः शरैरित्यर्थो न युक्तः । उक्तरीत्या द्योत्यार्थकस्य विशेषणत्वनियमात् । किं चैवं घनश्याम इत्यादौ विग्रहे समासे च घनशब्दस्य घनसदृशपरत्वेनोपमानत्वेन बोधकानि सामान्यधर्मविशिष्टोपमेयवचनैः समानाधिकरणैः सह समस्यन्ते इत्यर्थकेन ‘उपमानानि सामान्यवचनैः’ इति समासानापत्तिः । तस्योपमेयपरत्वेनोपमानपरत्वाभावात् । भूत-पूर्वगतिरपि प्रकृते न निर्वाहिका विग्रहवाक्येऽपि तस्योपमेयपरत्वात् । घनेन तुल्य इत्यत्रो-पमानपरत्वेऽपि तस्य विग्रहत्वाभावाद्वृत्तिविग्रहयोरुपमानवाचकत्वग्रहणमुचितं प्रत्यासत्तेः । उक्तवाक्यं न विग्रहस्तथा सति मृगचपलेत्यत्र पुंवत्वानापत्तेः । दर्शनीया मातेत्यत्र पुंवत्ववारणाय वृत्तौ विग्रहे च सामानाधिकरण्यस्य पुंवत्वप्रयोजकत्वात् । केवलघनादि-

शब्दप्रयोगे उपमानत्वविशिष्टवाचकत्वं दुरुपपादमेव । एवं सादृश्यसंबन्धेन पूर्वपदार्थस्योत्तरपदार्थेऽन्वयेऽपि पुंवत्वानुपपत्तिः । किं च श्यामशब्दस्योपमेयपरत्वेन घने तदन्वयाभावेन तस्य साधारणधर्मबौद्धिश्चेन्नैतादितरपरिच्छेदकत्वरूपोपमानत्वानुपपत्तिः । तदुक्तं भाष्ये । ‘ यदि शस्त्रीव श्यामा देवदत्तेति विग्रहस्तदा शस्त्र्यां श्यामेत्येतदपेक्ष्यं स्यात् । यदि यथा शस्त्री श्यामा तद्वद्देवदत्तेति विग्रहस्तदा देवदत्तायां श्यामेत्येतदपेक्ष्यं स्यात् ’ इति । कैयटोपाध्याया अपि ‘ न च शब्दस्यावृत्तिरस्ति येनोभयगतं श्यामत्वं प्रतिपादयेत् ’ इति । ततः ‘ एवं तर्हि तस्यामेवोभयं वर्तते ’ इति भाष्ये सिद्धान्तितम् । तस्यामुपमेयायामित्यर्थः । सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायादुपमानशब्दस्याप्युपमेयपरत्वसंभवः । सादृश्यनिर्वाहोपात्तश्यामादेरेव तन्त्रादिनोपमानेऽपि संबन्धोऽङ्गीकार्यः । तात्पर्यवशात् प्रियदर्शनत्वरूपोऽनुपात्तधर्मोऽपि चन्द्रमुखीत्यादावुपमानिमित्तं भवति । एवं चोपमेये श्रुतः कथमुपमानं न संस्पृक्ष्यतीति । स्पष्टं चेदमत्रैव कैयटे । आवृत्तिसत्त्वेऽपि सामानाधिकरण्यानुरोधादयमेव पक्षो भाष्ये सिद्धान्तितः । श्यामत्वादेरुभयत्र संबन्धे एतदुत्तरं भाष्ये श्यामत्वस्योभाभ्यामेव संबन्धाभावात् समानानां भावः सामान्यं तद्वचनत्वं सामान्यवचनत्वं बहुचित्तधर्मवचनत्वमिति यावत् । तदभावमाशङ्क्य सिद्धान्तिनोक्तं ‘ श्यामत्वस्योभयत्र भावादुभयतो गुणवाचकत्वाच्च श्यामाशब्दस्य नावश्यं स एव सामान्यवचनो यो बहूनां सामान्यमाह । द्वयोरपि यः सामान्यमाह सोऽपि सामान्यवचनः ’ इति । अत्रोभयगतगुणवाचकत्वादित्यनेन साधारणधर्मस्योभयत्र शाब्दोऽन्वय इति सूचितम् । वस्तुगत्योभयगतगुणवाचकत्वार्थकत्वे श्यामत्वस्य बहुध्वपि सत्त्वेन ‘ नावश्यं स एव सामान्यवचनः ’ इत्येतद्गन्धोऽसंगत एव स्यादिति बोध्यम् । एवं चोपमानश्यामघनाभिन्नः श्यामो देवदत्त इति बोधः । विग्रह इवशब्द उपमानद्योतकः । समासे त्वेकार्थीभावात् तद्धानम् । काव्यप्रकाशकृतमप्युपमानत्वप्रकारकबोधोऽनुमतो यतः ‘ यथेववाशब्दास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणानि ते ’ इत्याद्युक्तं तैः । वस्तुगत्या यदुपमानं तद्वाचकं समस्यत इति सूत्रार्थाभ्युपगमे उक्तभाष्यग्रन्थासंगतिः प्रकाशग्रन्थासंगतिश्च स्यादिति सुधीभिरूह्यम् । यथा हरिस्तथा हर इत्यादौ तु भेदकधर्मवद्वाचकतायाः ‘ प्रकारवचने थाल् ’ इति सूत्रस्थाकरग्रन्थसंमततया यत्प्रकारवान् हरिस्तत्प्रकारवान् हर इति बोधानन्तरं यत्तच्छब्दाभ्यां तयोर्धर्मयोरेकत्वावगमे तमेव प्रकारभूतं निमित्तीकृत्योपमानहर्षभिन्न उपमेयहर इति बोधः । तस्यापि शाब्दत्वम् । आलंकारिकमते लक्षणाभूलव्यञ्जनास्थले तत्प्रयोज्यशैत्यपावनत्वादिप्रत्ययस्येति बोध्यम् । स्पष्टं चेदं तिङर्थविचारे तिङन्तार्थक्रियाया असत्त्वानिरूपणावसरे मञ्जूषायां ‘ यथा सादृश्ये ’ इति सूत्रे विवरणादौ च । प्राथमिक एव बोधे

ननु त्वन्मतेऽब्राह्मण इत्यादौ तत्पुरुषलक्षणाव्याप्त्यापत्तिः पूर्वपदस्यानर्थ-
कत्वेनोत्तरपदार्थप्राधान्याभावात् । उपसर्गस्यार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वा-
भावाद्विभक्तिश्च ततो न स्यादित्यत आह—

नञ्समासे चापरस्य द्योत्यं प्रत्येव मुख्यता ।

द्योत्यमेवार्थमादाय जायन्ते नामतः सुपः ॥ ४५ ॥

नञ्समासादौ योत्तरपदप्रधानता सा द्योत्यमर्थमादायैव । तमेवार्थमादा-

उपमानत्वप्रकारकत्वं प्राथमिकबोधेनाभ्युपगतं तथा सति यथा वै श्येनो नियत्यादत्ते
एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं नियत्यादत्ते इत्यत्रापि प्राथमिकबोधे तथात्वस्वीकारापत्त्या 'न
वै तिङन्तेनोपमानमस्ति' इति सन्सूत्रभाष्यविरोधप्रसङ्गादित्यलमिति विस्तरेण । न चैवं
पुरुषो व्याघ्र इव शूर इत्यत्राप्युक्ताकारबोधे विशेषणव्याघ्रस्यापि शूरात्मकविशेषणसा-
पेक्षतया समासानुपपत्तिरिति वाच्यम् । साधारणधर्मवत्त्वेनेतरपरिच्छेदकत्वरूपोपमान-
त्वस्य साधारणधर्मो नित्यसापेक्षत्वेन दोषासंस्पर्शात् । प्रधानस्य सापेक्षत्वे भवत्येव
समासः प्रधानेऽनेकविशेषणसंबन्धसंभवात् देवदत्तो धनी सुन्दरश्चेतिवत् । एतेन
साधारणधर्मवत्त्वेन परिच्छेद्यत्वरूपोपमेयत्वस्यापि नित्यसापेक्षतया प्रधानसापेक्षत्वेऽपि
समासो भवतीत्यर्थे 'सामान्याप्रयोगे' इत्यस्य ज्ञापकतापरभाष्यासंगतिरित्यपास्तम् ।
कैयटोक्तन्यायसिद्धार्थपरत्वेन भाष्यस्यादोषात् । अथवा नित्यसापेक्षत्वं न समासप्र-
योजकं किं तु गमकत्वमेवेति समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । निरूपितं च समासवादे मञ्जु-
षायाम् । तथा च सापेक्षप्रधानकस्य समासस्य गमकत्वं राजपुरुषः सुन्दर इत्यादौ
दृष्टमिति पुरुषो व्याघ्र इव शूर इत्यत्रापि समासप्रसक्तिरिति तद्वारणाय 'सामान्याप्र-
योगे' इति ज्ञापकपरभाष्यस्याप्यत्रैव तात्पर्यमिति प्राहुरित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ४४ ॥

लक्षणाव्याप्त्यापत्तिरिति । उत्तरपदार्थस्योपसर्जनत्वाभावेनास इत्याद्यासिद्धिर्नापा-
दिता । प्राधान्याभावादिति । प्राधान्यस्य विशेषणनिरूपितत्वेन पूर्वपदस्य निरर्थकत्वे
तदसंभवादिति भावः । उपसर्गस्येति । उपसर्गपदं निपातमात्रोपलक्षणम् । अत एवात्र
'उपसर्गादिभ्यः' इति बृहद्भूषणे उक्तम् । यद्वा निपातानां प्रागुक्तरीत्या न सर्वेषां
द्योतकत्वमपि तु केषांचिदेवेति सूचयितुं 'उपसर्गस्य' इत्येवोक्तम् । द्योत्यमर्थमा-
दायैवेति । उत्तरपदार्थप्राधान्यं नामेतरपदार्थनिष्ठविशेषणतानिरूपितविशेष्यताशालि-
बोधजनकत्वम् । तत्रेतरपदार्थशब्देन वाच्यलक्ष्यद्योत्यात्मकस्त्रिविधोऽप्यर्थो गृह्यत इति
नोत्तरपदार्थप्राधान्यहानिरिति भावः । तमेव । द्योत्यमेव । अर्थवत्त्वादिति । अर्थ-

यार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वमित्यर्थः । वस्तुतस्तु 'अव्ययादाप्सुपः' इति ज्ञापकात् सुबुत्पत्तिः । 'निपातस्यानर्थकस्य' इति वार्तिकाद्वा प्रातिपदिकत्वम् । 'कृततद्धितसमासाश्च' इत्यनुक्तसमुच्चयार्थकचकारेण निपातानां संग्रह इति बोध्यम् । तस्माद्युक्तं निपातानां द्योतकत्वम् । उक्तं चाकृत्यधिकरणवार्तिके—

‘चतुर्विधे पदे चात्र द्विविधस्यार्थनिर्णयः ।

क्रियते संशयोत्पत्तेर्नोपसर्गनिपातयोः ॥

तयोरर्थाभिधाने हि व्यापारो नैव विद्यते ।

यदर्थद्योतकौ तौ तु वाचकः स विचार्यते ॥’

बोधजनकज्ञानविषयत्वमेव ह्यर्थवत्त्वमर्थवत्त्वपूत्रे निविष्टं न तु वृत्त्यार्थबोधजनकत्वरूपमतो नानुपपत्तिरिति भावः । नन्वेतदयुक्तं धनं वनमित्यादौ प्रतिवर्णं संज्ञापत्तेः । तेषामप्यर्थबोधजनकज्ञानविषयत्वात् । न च सत्यपि प्रातिपदिकत्वे संख्याकर्मादेरभावाच्च सुबुत्पत्तिरिति वाच्यम् । तथा सति निपातादपि सुबुत्पत्त्यनुपपत्तेः । न चेष्टापत्तिः । प्रगच्छतीत्यादौ पदान् परत्वाभावेन 'तिङ्ङतिङः' इति निघातानापत्तेः । उद्गच्छत्युच्चैरित्यादौ जश्व-स्त्वाद्यनापत्तेश्चेत्यत आह—वस्तुत इति । ज्ञापकात् सुबुत्पत्तिरिति । प्रातिपदिकत्वाभावेऽपि ज्ञापकात् सुबुत्पत्तिरित्यर्थः । निपातस्येति । अत्र पक्षे सर्वेषां निपातानां कृत्यार्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वाभावात् प्रकृतवार्तिकप्राप्तिः 'अनर्थकग्रहणं न करिष्यते' इति भूवादिसूत्रभाष्योक्त्या तत्पदरहितस्य तस्य प्राप्तिरित्यन्ये । क्रियायोगाभावाद्रत्युपसर्गसंज्ञाप्राप्तिरेव नास्तीति 'अधिपरी अनर्थकौ' इत्यनेनाधिपर्योगेत्युपसर्गसंज्ञानिवृत्तये कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानस्यानर्थकनिपातानामर्थवत्त्वप्रयुक्तकार्यज्ञापकतामाश्रित्यैतद्वार्तिकप्रत्याख्याने तु तस्यैव सामान्यतो निपातानामर्थवत्त्वप्रयुक्तकार्यज्ञापकतामाश्रित्य प्रातिपदिकत्वं सिध्यतीति भावः । सूत्रेणैव सिद्धौ वार्तिकमपि मा स्त्वित्याह—'कृततद्धित—' इति । परे तु निपातानां व्यञ्जनापरपर्यायद्योतकतारूपवृत्त्यार्थबोधकत्वरूपार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वसिद्धिः । अत एव वार्तिकमनर्थकपदघटितं संगच्छते । अत एव च येषां द्योत्योऽप्यर्थो नास्ति तु ह स्य वै इत्यादेस्तदर्थभिदमित्यर्थसूत्रे नार्थमनर्थकस्येत्युक्तं कैयटीये इति वदन्ति । द्योतकतायां मीमांसावार्तिककृतसंमतिमाह—उक्तं चेति । चतुर्विधे इति । नामाख्यातोपसर्गनिपातात्मके । तथा चोक्तं निरुक्ते 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इति । संशयानुत्पत्तौ हेतुमाह—तयोरिति । नन्वेवमुपसर्गेत्यादि-

इति ।

‘उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते ।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥’

इति वृद्धोक्तावुपसर्गपदं निपातोपलक्षणम् । धातुपदं पदान्तरस्येति बोध्यम् ॥ ४५ ॥

नन्वन्यव्यतिरेकाभ्यां निपातानां तत्तदर्थवाचकत्वमेव युक्तं बोधकतारूप-
शक्तेरबाधाच्च । किं चोक्तरीत्यादौ धातोरेव कर्तृविशिष्टभावनायां लक्षणास्तु
तात्पर्यग्राहकत्वमात्रं तिङादेः स्यादित्येवमेषः पक्षान्तरमाह—

निपातानां वाचकत्वमन्यव्यतिरेकयोः ।

युक्तं वा न तु तद्युक्तं परेषां मतमेव नः ॥ ४६ ॥

एवं च धात्वर्थप्रातिपदिकार्थयोर्भेदेनान्वयबोधो न व्युत्पन्न इति निपाता-
तिरिक्तविषयसमानाधिकरणप्रातिपदिकार्थयोरभेदेनान्वय इत्यपि तथेत्यगत्या

वृद्धोक्तावुपसर्गस्यैव द्योतकतोक्तिर्विरुद्धेत्याशङ्क्याह—उपसर्गेणेति । अन्य इति ।
उपात्तनिर्दिष्टरूपातिरिक्तरूपावच्छिन्नः । तेन प्रजयतीत्यत्र प्रतीयमानप्रकृष्टजयस्य शुद्ध-
जयामेदेऽपि न क्षतिः ॥ ४५ ॥

ननु तेषां वाचकत्वे तत्र शक्तिकल्पनाप्रयुक्तगौरवप्रसङ्गोऽत आह—बोधकतेति ।
तिङादेरित्यादिना कृत्सनादिपरिग्रहः । कृत्प्रत्ययस्य द्योतकत्वे तदर्थस्य विशेषणत्वापत्ति-
रिति न शङ्क्यम् । अनुभवानुरोधात् ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि’ इति वचनाद् द्योत्य-
स्यापि कृदर्थस्य विशेष्यत्वमित्याशयात् । एवं सनादावप्युक्तं स्यादिति । न चेष्टापत्तिः ।
सिद्धान्तविरोधादिति भावः । परे तु सुप्तिङां द्योतकत्वे इष्टापत्तिः । अत एव तदर्थकाल-
कर्त्रादेर्विशेषणत्वम् । कालस्य द्योतकता तु कैयटादिभिरप्यङ्गीक्रियत एव । अत एव
पन्थेयादितः कर्तृप्रतीतिः कृत्प्रत्ययादेस्तु न द्योतकता तदर्थस्य विशेषणत्वापत्तेः । न च
द्योत्यत्वेऽपि तदर्थस्य विशेष्यत्वम् । उक्तरीत्या तत्र वाचकतापक्षस्यैव स्वीकर्तुमुचितत्वा-
दित्याहुः । अन्यव्यतिरेकयोः । तयोः सतोऽस्तिर्यर्थः । तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां
तिङादीनां वाचकत्ववन्निपातानामपि वाचकत्वमिति भावः । परेषां यन्मतं तदेव नाऽस्माकं
न युक्तमिति मूले योजना । एवं च निपातानां वाचकत्वे च । तथेत्यगत्याति । तथा

१. बलादन्यत्र नीयते P. २. तदर्थवाचकत्व° P., A., D. ३. विषयकं D₂. ४ °नान्व-
यबोध इत्यपि D.

कल्पनीयमिति भावः । न त्विति । नैयायिकोक्तं प्रादिचाद्योवैषम्यमित्यर्थः । यत्तु सर्वेषां निपातानां वाचकत्वेऽर्थवत्सूत्रेणैव तेषां प्रातिपदिकत्वसंभवात् 'निपातस्यानर्थकस्य' इति विधिवैयर्थ्यं सर्वेषां द्योतकत्वे चानर्थकस्येति व्यर्थं तथा च केचिद् द्योतकाः केचिद्वाचका इत्यभ्युपेयमिति । तत्र । एवं हि चादयो द्योतकाः प्रादयो वाचका इति वैपरीत्यावारणात् । सर्वधानर्थकानां पादपूरण-

निपातातिरिक्तविषयमित्यर्थः । इतरदोषा अपि प्रागुद्धृता एव । इदमुपलक्षणम् । सकर्मकत्वं स्वस्वयुक्तनिपातेत्यादिक्रमेण पूर्वोक्तं बोध्यं तेनानुभवतीत्यादौ न दोषः । प्रत्ययानामिति व्युत्पत्तावपि प्रकृत्यर्थसमभिव्याहृतनिपातार्थप्रकृत्यर्थान्यतरान्वितत्वं निवे-
श्यम् । अत एव प्रतिष्ठत इत्यत्रोपसर्गस्य गतिवाचकत्वेऽपि न क्षतिः । उपसर्गस्य फलमात्रवाचकत्वं धातोर्व्यापारवाचित्वमित्यभ्युपगमे तु प्रकृत्यर्थे एव प्रत्ययार्थान्वयादिदं नादरणीयम् । एवं नामार्थप्रकारकभेदसंसर्गकशाब्दबोधं प्रति प्रत्ययनिपातान्यतरजन्यो-
पस्थितित्वेन हेतुत्वमङ्गीकार्यमित्यपि बोध्यम् । न चैवं गौरवम् । उक्तयुक्त्या तेषां तत्त-
दर्थवाचकत्वे स्थितेऽगत्या गौरवस्य स्वीकरणीयत्वात् । अत एव नेत्येतावन्मात्रादभाव-
बोधनिर्वाहः । तत्र पदान्तरसमभिव्याहारं विना द्योतकत्वासंभव इत्याहुः । ननु तेषां वाचकत्वे केवलानामपि प्रयोगापत्तिरिति चेन्न । केषांचित् 'ते प्राग्धातोः' इति नियमनात् केषांचित्तेत्यादीनां तथात्वस्येष्टत्वात् । अन्येषां वाचकत्वेऽपि केवलप्रकृति-
प्रत्ययवदुपपत्तेः । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ।

समुच्चयाभिधानेऽपि व्यतिरेको न विद्यते ॥’

इति । प्रत्ययस्य परत्वे नियामकवदत्र तदभावेऽपि प्रकर्षादेर्विना संबन्धनमन्वयानुपपत्तेर्न केवलानां प्रयोगः शोभनः समुच्चय इतिवच्छोभनश्चेत्यस्य घटस्य समुच्चय इतिवच्च घटस्य चेत्यस्य चापत्तिरित्यपि न शङ्क्यम् । शब्दशक्तिस्वाभाव्येन नित्यपरतन्त्रतये-
तरविशेषणत्वेनैव स्वार्थोपस्थापनेनापत्तिद्वयस्याभावात् । षष्ठ्यर्थसंबन्धबोधे इतरविशेषणा-
न्वयबोधे च समुच्चयादिशब्दजन्योपस्थितेरेव हेतुत्वकल्पनाद्वा । अथवा चशब्दस्य समुच्चये शक्तिकल्पनाच्च दोषः । धर्म्यशे शक्तिकल्पनाप्रयुक्तगौरवप्रामाणिकत्वादङ्गीक्रियते तदुक्तं समुचिताभिधाने हि व्यतिरेको न विद्यत इति बोध्यम् । व्यर्थमिति । द्योतकता-

मात्रार्थमुपात्तानां संग्रहाय वार्तिकारम्भस्य कैयटादौ स्पष्टत्वाच्च । तस्य प्रत्याख्यातत्वाच्च । परेषामिति बहुवचनं मीमांसकसंग्रहाय । केवलवृक्षशब्दात् समुच्चयाबोधकाच्चकारश्रवणे तद्वोधाच्चकार एव तद्वाचको न द्योतकः । किं च द्योतकत्वे पदान्तराणां तत्र शक्तिः कल्प्या चकारादेर्द्योतकत्वशक्तिश्च कल्प्येति गौरवं स्यादिति हि समुच्चयाधिकरणे स्थितं तदपि न युक्तमिति भावः । तथा हि अन्वयव्यतिरेकौ तात्पर्यग्राहकत्वेनाप्युपयुक्तौ घटादिपदानामेवं समुच्चिते लक्षणातात्पर्यग्राहकः प्रकरणादिवच्चादिरिति स्वीकाराच्च शक्तिद्वयकल्पनापि । अस्माकं लक्षणाग्रहदशायां बोधात् तत्कार्यकारणभाव आवश्यकः । एवं शक्तिग्रहस्यापीति पक्षद्वयेऽपि कल्प्यान्तराभावेन गौरवाभावादुभयमपि युक्तमित्यभिमतम् । अत एव

‘ स वाचको विशेषाणां संभवाद् द्योतकोऽपि च ’

इति वाक्यपदीयं संगच्छते । दर्शान्तररीत्या वाचकत्वमेव द्योतकत्वमेवेति नियमस्तु न युक्त इति ध्वनयन्नाह—मतमेवेति ॥ ४६ ॥

पक्षे सर्वेषामेव तेषां निरर्थकतया व्यावर्त्याभावात् । स्पष्टत्वादिति । तत्रानर्थकस्येति तु पादपूर्णाथानां सर्वथा न कार्यत्वं सूचयितुम् । प्रत्याख्यातत्वादिति । ‘ अधिपरी अनर्थकौ ’ इत्यस्य अनर्थकस्याप्यर्थवत् कृतं भवतीत्यर्थे ज्ञापकतामाश्रित्य प्रत्याख्यातत्वात् । बहुवचनं मीमांसकेति । मीमांसकानां भाष्यकारादिभेदेन नानात्वाद्वहुवचनमिति भावः । मीमांसकमतं प्रदर्शयति—केवलेति । तात्पर्यग्राहकत्वेनेति । तथा चान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धतया न शक्तिग्राहकतेति भावः । लक्षणाग्रहेति । धातोः प्रकृष्टजयादौ लक्षणाग्रहे सोऽर्थः । कार्येति । लक्षणाग्रहशब्दबोधाद्योः कार्यकारणभाव इत्यर्थः । शक्तिग्रहस्यापीति । अत्र कार्यकारणभाव आवश्यक इत्यनुषज्यते । उभयमपि । वाचकत्वद्योतकत्वोभयमपीत्यर्थः । अत एव । वाचकत्वद्योतकत्वोभयस्वीकारादेव ॥ ४६ ॥

१. पतञ्जलको D₁. २. पदादि° D. ३. च सप्त° D₁. ४. समुच्चये D₃. ५. लक्षणाग्रहण° P., D₁. ६. वा D₃. ७. केषांचिन्मते द्योतक° D₃. ८. °मिति D.

पर्यवसितमुपसंहरन्नाह—

निपातत्वं परेषां यत् तदस्माकमिति स्थितिः ।

व्यापकत्वाच्छक्ततायास्त्ववच्छेदकमिष्यते ॥ ४७ ॥

परेषां यन्निपातत्वमसत्त्वार्थकत्वे सति चादिगणपठितत्वं शक्तिसंबन्धेन निपातपदवत्त्वं चोपाधिर्जातिर्वा तदेवास्माकमपि परं तु सामान्यधर्मे प्रमाणानां पक्षपाताच्छक्तता द्योतकता वा तदवच्छेदेनैव कल्प्येति नैयायिकोक्तं प्रादि-
चाद्योवैषम्यमयुक्तमित्यर्थः । व्यापकत्वात् । सामान्यत्वात् । शक्तताया इत्युप-
लक्षणं द्योतकताया वेत्यपि द्रष्टव्यम् ॥४७॥

इति वैयाकरणभूषणसारे निपातानां द्योतकत्वादिनिर्णयः संपूर्णः ॥

ननु प्रादीनां चादीनां च वाचकत्वे उपसर्गत्वनिपातत्वयोः शक्ततावच्छेदकत्वे गौरव-
मत आह मूले—निपातत्वमिति । तथा च निपातत्वं प्रादिवादिसाधारणमेवेति नोक्त-
क्रमेण गौरवमित्यर्थः । अथवोपसर्गेषु द्योतकत्वग्रहश्चादिषु वाचकताग्रहश्चोभयसाधारण-
धर्माभावादुपसर्गत्वावच्छेदेन निपातत्वावच्छेदेन च जायत इत्युपसर्गत्वनिपातत्वयोस्त-
भयोः संबन्धत्वे किमिति निपातत्वावच्छेदेनैव द्योतकत्वादि कल्प्यते नोपसर्गत्वावच्छे-
देनेत्यत्र किं विनिगमकमित्याशङ्कामपनुदति—परं त्वित्यादिना । उपसर्गत्वेऽपि
स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वादिरूपव्यापकत्वसत्त्वाद्वापकत्वं न
सामान्यत्वमत आह—व्यापकत्वात् सामान्यत्वादिति । तथा च व्यापकत्वं
प्रकृते उक्तानवच्छेदकत्वविशिष्टं स्वाभाववद्वृत्तित्वात्मकमधिकदेशे वृत्तित्वरूपं विवक्षि-
तमिति भावः । न्यूनतां परिहरति—शक्तताया इत्युपलक्षणमिति ॥

इति श्रीकालोपनामकेशवाङ्गजहारिरामविरचिते वैयाकरणभूषणसारव्याख्याने

निपातानां द्योतकत्वादिनिर्णयः समाप्तः ॥

१. D. has परेषां यत्तदस्माकमिति स्थितिः before शक्ति°. २. वोपाधि° D., D₂.
३. °वांस्तु D., ४. सामान्ये D. ५ इति रङ्गोजिमट्टात्मजकौण्डभट्टविरचिते P., D.; D₂.
has इति श्रीकौण्डभट्टविरचिते वैया°; श्रीवैयाकरण° A. ६. समाप्तः P.; D., and
D., drop संपूर्णः.

भावप्रत्ययार्थमाह—

कृतद्धितसमासेभ्यो मतभेदनिबन्धनम् ।

त्वतलोर्थकथनं टीकायां हरिणा कृतम् ॥ ४८ ॥

‘कृतद्धितसमासेभ्यः संबन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनान्यत्र रूढ्यभिन्नरूपा-
व्यभिचरितसंबन्धेभ्यः’ इति वार्तिकवचनमिति मीमांसकादीनां भ्रममपाकु-
र्वन्नाह । टीकायामिति भर्तृहरिणा महाभाष्यटीकायामित्यर्थः । त्वतलोरिति ।
भावप्रत्ययमात्रोपलक्षणम् । अयमर्थः । समासादौ शक्तिः कल्प्यमाना राजादि-
संबन्धविशिष्टे कल्प्यत इत्युक्तम् । तथा च तदुत्तरभावप्रत्ययः संबन्धं वद-
तीत्यर्थः । एतदपि भेदः संसर्ग उभयं वेत्युक्तेषु पक्षेषु भेदपक्षे न संभवतीत्यत
आह । मतभेदेति । पक्षभेदेनेत्यर्थः । एवं च राजपुरुषत्वमौपगवत्वं पक्षत्व-
मित्यादौ स्वस्वामिभावः । अपत्यापत्यवत् संबन्धः क्रियाकारकभावसंबन्ध

भावप्रत्ययार्थम् । त्वादिप्रत्ययार्थम् । वार्तिकवचनम् । वार्तिकरूपं वचनमित्यर्थः ।
हरिणेति । एवं च हर्युक्तौ वार्तिकत्वभ्रमस्तेषामिति भावः । त्वतलोरिति विशेषोपादा-
नेनेमनिजादेरन्यार्थकत्वशङ्का स्यादत आह—त्वतलोरिति । भावेति । अयं वक्ष्य-
माणः । अर्थः । तात्पर्यार्थः । वदति । बोधयतीत्यर्थः । न संभवतीति । तत्पक्षे
राजपुरुषादिसमासाज्जन्यबोधे संसर्गस्याप्रकारत्वात् । तत्पक्षे राजपुरुषत्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य
भेद एवार्थ इत्याशयः । एवं पुरुषत्वरूपेण वस्तुगत्या राजसंबन्धवान् यः पुरुषः स
समासार्थ इति पक्षे त्वप्रत्ययार्थः पुरुषत्वमेव तद्व्यक्तिमात्रनिरूपिताधेयत्वसंबन्धेन
प्रकृत्यर्थस्य तन्नान्वयः । अत एव तत्पक्षे कृतद्धितेत्यादिवचनसावश्यकमिति शङ्कानव-

इत्यन्वयबोधः । औपगवादावव्यभिचरितसंबन्धे त्वर्थान्तरवृत्तिस्तद्वित उदाहार्यः । दामोदरत्वं कृष्णसर्पत्वमित्यादौ जातिविशेषेण बोधादाह । अन्यत्रेति । रूढे-
रभिन्नरूपादव्यभिचरितसंबन्धेभ्यश्चान्यत्रेत्यर्थः । रूढिरूक्ता । द्वितीयं यथा
शुक्लत्वम् । अत्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इति मनुषो 'गुणवचनेभ्यो मनुषो
लुगिष्टः' इति लुप्तत्वात् तद्वितान्तत्वेऽपि घटः शुक्ल इत्यभेदप्रत्ययाद्गुणस्यैव
प्रकारत्वेन भानं जायते । तृतीये । सतो भावः सत्तेति । अत्र जातावेव
प्रत्यय इति दिक् ॥ ४८ ॥

काशः । इत्यन्वयबोधः । इति शब्दबोधः । तद्वितान्तेऽपि शक्तिसत्त्वेन पृथगुपस्थि-
त्यभावेन पृथगुपस्थितिविषयार्थयोः संसर्गस्यैवान्वयत्वेन यथाश्रुतासंगत्यापत्तेः । शब्दत्वं
तु तत्रापि शब्दगामीत्यनुभवादित्यन्यत्र विस्तरः । उपस्थितयोः संबन्धोऽन्वय इति मते
तु यथाश्रुतमेवास्तु । अव्यभिचरितसंबन्धे तु । अपत्यापत्यवत् संबन्धस्याव्यभि-
चरितसंबन्धत्वे तु । यथा सत्सत्तयोः संबन्धः कदापि न व्यभिचरितस्तथानयोरपि । सत् उत्प-
त्तिप्रभृत्यविनाशात् संबन्धस्य विद्यमानत्वादपत्यस्योत्पत्तिप्रभृत्यविनाशादुक्तसंबन्धस्यापि
तथात्वादिति भावः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इत्यनेनापत्यत्वस्यापि जातित्वबोधना-
ज्जात्याभेदसंबन्धस्य तिरोधानात् जातिरेव तत्र प्रकार इति सैव त्वाद्यर्थ इति त्वाद्यर्थ-
योर्जातिप्रयुक्तकार्यमेवातिदिश्यते न जातित्वं तस्येति पक्षान्तरसूचनाय तुशब्दः ।
अर्थान्तरवृत्तिरिति । ऐन्द्रत्वमित्यादौ देवताद्यर्थकतद्वित उदाहार्य इत्यर्थः । तद्वि-
तान्तत्वेऽपीति । अत एव संबन्धार्थकत्वप्रसक्तिः । अभेदप्रत्ययादिति । मनुषो
लुगिष्ठानं तु पटस्य शुक्ल इति गुणगुणिनोर्भेदव्यवहारस्यापि सत्त्वाच्छुक्लवानित्यान्यनिष्ठप्रयो-
गनिवृत्त्यर्थम् । जातावेवेति । लोकनिरूढेन सोऽयमिति प्रत्ययेन भेदसंबन्धस्य तिरो-
धानात् संबन्धे प्रत्ययः । एवं शुक्ल इत्यादावपि । पाचकादौ तु क्रिययाभेदस्यैव प्रतीते-
र्व्यभिचार एव क्रियासंबन्धाज्ञानमूलिकैव शब्दस्य द्रव्ये प्रवृत्तिः । एवं राजपुरुषादाव-
पीति तत्तत्संबन्ध एव तत्तदुत्तरभावप्रत्ययार्थः । नीलघटत्वमित्यादौ नीलघटादिवृत्तिर्घ-
टत्वादिकमेव त्वादिर्वाव्ययत्वेनाश्रयति न तु संबन्ध अभिन्नरूपत्वेन पूर्वोत्तरपदार्थयोर्वि-
शेष्यविशेषणभावातिरिक्तसंबन्धस्याभावात् । घटत्वमेव नीलघटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन
भासते । उपाधिमेवाद् घटत्वादेरपि भेदः । अतो घटत्वस्यातिप्रसक्ततया कथं नील-
घटादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति शङ्कानवकाशः । धवखादिरत्वमित्यादौ जातिसमुदाय-
स्तद्वाच्यः समुदायस्यानुद्भूतावयवत्वे एकवचनम् । उद्भूतावयवत्वे पुनर्द्विवचनादिकमपीति
बोध्यमिति वदन्ति । तद् वचनयन्नाह-दिगिति । तार्किकास्तु कर्मधारयोत्तरभावप्रत्ययः
पदार्थतावच्छेदकयोर्नीलत्वघटत्वाद्योः सामानाधिकरण्यवचन इत्युच्यते ॥ ४८ ॥

दण्डीत्यादौ प्रकृत्यर्थविशिष्टद्रव्यमात्रवाचकता तद्वितस्येति वदन्तं मीमांसकमन्यं प्रत्याह—

अत्रार्धजरतीयं स्याद् दर्शनान्तरगौमिनाम् ।

सिद्धान्ते तु स्थितं पक्षद्वयं त्वादेषु तच्छृणु ॥ ४९ ॥

अत्र भावप्रत्ययविषये । तथा हि दामोदरत्वं घटत्वमित्यादौ भावप्रत्ययस्य संबन्धानभिधायकत्वेन मीमांसकानां दण्डित्वमित्यादिष्वपि तदभिधानं न स्यात् । प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारः प्रकृत्यर्थसमवेतो हि तदुत्तरभावप्रत्ययेनाभिधीयते । अन्यथा घटत्वमित्यत्र द्रव्यत्वादेर्दण्डित्वमित्यादौ दण्डादेश्च तदुत्तरभावप्रत्ययवाच्यतापत्तेः । न च तन्मते दण्डीत्यादिवोधे संबन्धः प्रकारः । यत्तु

प्रकृत्यर्थविशिष्टेति । संयोगादिसंबन्धेन वस्तुगत्या दण्डादिविशिष्टेत्यर्थः । तत्र संयोगादिः संसर्गमर्यादया भासत इति तत्र न शक्तिः । किं तु प्रकृतेर्दण्डे आश्रये च । प्रत्ययस्य मात्रपदेन संयोगादिरूपसंबन्धव्यावृत्तिः । अत एव पाचक इत्यादावपि संबन्धो न शक्यः । उक्तं च भट्टैः—

‘पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः ।

पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचित् ॥’

इति । न चानन्तद्रव्येषु शक्तिग्रहासंभवः । परंपरया एकं दण्डत्वादिमुपलक्षणीकृत्य तत्संभवादित्यरुणाधिकरणोक्तरीत्या द्रष्टव्यमिति भावः । मीमांसकानामित्यस्य मत इति शेषः । तदभिधानम् । संबन्धाभिधानम् । ननु दामोदरत्वमित्यादौ भावपदेन दामोदरादिनिष्ठो धर्मविशेषो गृह्यत इति तदभिधानं दण्डित्वमित्यादौ पुनर्भावः संयोगादिरेवा-तस्तदभिधाने किं बाधकमित्याशङ्कापनुच्यै हेतुमाह—प्रकृतीति । हि यस्माद्धेतोस्तदुत्तरत्वादित्येनाभिधीयतेऽतो दण्डित्वमित्यत्र संयोगस्य तव मते त्वाभावेन त्वादित्येनाभिधानं न स्यादित्यर्थः । पदयोः क्रमेण व्यावृत्तिमाह—अन्यथेति । अन्यथा धर्ममात्रस्य भावपदार्थत्वे । द्रव्यत्वादेरिति । तस्यापि घटसमवेतत्वात् । घटपदजन्यबोधे प्रकारत्वं तु नेति न घटपदोत्तरत्वादिना तदभिधानम् । दण्डादेश्चिति । दण्डपदजन्यबोधे तस्य प्रकारत्वात् दण्डसंयुक्तदेवदत्तादौ समवेतत्वाभावात् न दण्डित्वमित्यत्र त्वादिना

१. मीमांसकं प्रत्याह D₂, D₃, A. २. °गामिनाम् D., D₁; noticed by P.
३. °बोधप्रकारः D, D₂, D₃.

‘यदा स्वसमवेतोऽत्र वाच्यो नास्ति गुणोऽपरः ।

तदा गत्यन्तराभावात् संबन्धो वाच्य आश्रितः ॥

इति । तत्र । इनादेः संबन्धवाचकत्वेनोपपत्तावगत्यभावात् । प्रपञ्चितं चैतदा-
दाचेव वैषम्यकरणभूषणे । ननु तवापीदं वैषम्यं कथमित्यत आह । सिद्धान्ते
त्विति । जायन्त इति वक्ष्यमाणशेषेणान्वितम् । सिद्धान्ते प्रकृतिजन्यबोध-
प्रकारे त्वादयो जायन्त इत्यर्थः । स प्रकृतिजन्यबोधप्रकारः कै इत्यत्र पक्षद्वयं
स्थितमिति योजना ॥ ४९ ॥

दण्डादिरभिधीयते । अत्र समवेतत्वं न समवायेन वर्तमानत्वं घटत्वत्वमभावत्व-
मित्यादौ घटत्वत्वादेरसमवेतत्वेन त्वादिवाच्यतानुपपत्तेः । अपि तु प्रकारतावच्छेदक-
संबन्धेन तत्र वर्तमानत्वरूपम् । संबन्धः प्रकार इति । तथा च दामोदरादिपदजन्य-
बोधीयप्रकारत्वाभावात् तदुत्तरत्वादिप्रत्ययेन संबन्धमवदद्दण्डित्वमित्यादावपि संबन्धस्य
तेनानभिधानं स्यादिति समुदितार्थः । दण्डित्वमित्यादौ संबन्धवाच्यत्वे मीमांसकोक्तां
शुक्तिमनूय दूषयति-यदेति । स्वसमवेतः । प्रकृतिजन्यबोधविशेष्यसमवेतः । वाच्यः ।
प्रकृतिवाच्यः प्रकृतिजन्यबोधप्रकार इति यावत् । यद्वा त्वादिप्रत्ययवाच्यः तदभिधान-
योग्य इति यावत् । प्रकृतिजन्यबोधीयप्रकारताश्रयो हि तदभिधानयोग्यः । संबन्धो
वाच्य इति । प्रकृतिजन्यबोधप्रकारोऽपि स्वसमवेतः संबन्धस्त्वादिववाच्य आश्रित इत्यर्थः ।
यत्र तत्रेत्यर्थे यदातदाशब्दयोः पर्यवसानं बोध्यम् । काललक्ष्यविशेषप्रकारविशेष-
परत्वात् यत्तदोः । प्रपञ्चितं चैतदिति । अयं भावः । दण्डीत्यादौ संबन्धवाच्यत्वे
दण्डित्वमित्यत्रापि संबन्धस्य वाच्यत्वं न स्यात् प्रतीतिस्तद्वदेवोपपत्तेः । न च त्वादेवैय-
थ्यापत्त्या संबन्धे वाच्यत्वं कल्प्यत इति । घटत्वमित्यादौ क्लृप्तपदार्थतावच्छेदकश-
क्त्यैव निर्वाहात् । कृतद्विते त्वादिवचनं तु हरेर्न मुनेर्यद्वलात् कल्पना स्यात् । अनुभवा-
नुरोधात् संबन्धे त्वादिशक्तिकल्पनमिति चेन्न । शक्त्यन्तरकल्पनामपेक्षेनादीनां क्लृप्तशक्तौ
धर्मिवत् संबन्धविषयकत्वेनोपपत्तौ पृथक्शक्तिकल्पना योगादिवत् । तथा सति क्लृप्त-
पदार्थतावच्छेदकशक्त्यैव तद्भावसंभव इत्यादि तत्र प्रपञ्चितमिति । इदं वैषम्यम् । दामो-
दरत्वमित्यादौ संबन्धो न वाच्यो दण्डित्वमित्यादौ तु वाच्य इति वैषम्यमित्यर्थः । वक्ष्य-
माणेति । वक्ष्यमाणश्चासौ शेषश्चेत्यर्थः । परे तु इनादेः संबन्धवाचकत्वेऽपि दण्ड्या-
दिपदस्य संबन्धज्ञानादेव प्रवृत्तिरिति संबन्धस्यैव प्रवृत्तिनिमित्ततया त्वादिवाच्यत्वसंभव
इति प्रतिपन्नाः । इत्यत्र । इत्याकारकजिज्ञासायां सत्याम् ॥ ४९ ॥

१. D₉ and D₉ drop the portion ¹/₄ from जायन्त to योजना. २. वक्ष्यमाणविशेष-
णोऽन्वितम् A. ३. बोधे D, D₁. ४. D. drops स. ५. D. drops जन्य. ६. A.
drops क.

तौ पक्षावाह—

प्रयोगोपाधिमाश्रित्य प्रकृत्यर्थप्रकारताम् ।

धर्ममात्रं वाच्यमिति यद्वा शब्दपरादमी ॥

जायन्ते तज्जन्यबोधप्रकारे भावसंज्ञिते ॥ ५० ॥

प्रयोग उपाधिनिमित्तं प्रकृत्यर्थे प्रकारतया भासमानं धर्मं वाच्यतयाश्रित्य त्वादयो जायन्ते । प्रकृतिजन्यबोधप्रकारस्वाद्यर्थ इति यावत् । ननु घटत्वमित्यत्र प्रकारत्वात् तदुत्तरत्वप्रत्यये घटत्वत्वस्यापि वाच्यता स्यादित्यत्रेष्टापत्तिमाह । धर्ममात्रमिति । न त्वत्र लघुगुरुविचार इत्यभिप्रायः । तत्तद्व्यक्तिविशिष्टब्रह्म-सताया एवै घटत्वत्वादिरूपत्वात् ।

‘संबन्धिभेदात् सत्तैव विद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वत्लादयः ॥

मूले प्रकृत्यर्थप्रकारतामित्यस्यापन्नमिति शेष इत्यभिप्रेत्याह—प्रकारतया भासमानमिति । प्रकारत्वात् घटत्वत्वस्य प्रकारत्वात् घटत्वपदोत्तरत्वप्रत्यय-वाच्यत्वं स्यादित्यर्थः । धर्ममात्रमिति । धर्मत्वेन वाच्यता न तु तत्तद्रूपेण शक्त्यान-न्त्यप्रसङ्गादिति वदन्ति । न च गुरुधर्मे लक्षणेति वाच्यम् । शक्तावेव लाघवाद्गो न लक्षणायामित्यत्र विनिगमनाविरह इति भावात् । वस्तुतस्तु गौरवं नास्त्येवेत्याह—तत्तद्व्यक्तीति । परे तु घटत्वत्वमित्यत्राविद्यको धर्मविशेषस्तदर्थो न तु घटेतरासमवेत-

१. प्रकृत्यर्थे प्रका° D. २. शब्दपरा अमी D_g. ३. प्रकृत्यर्थप्रका° P. ४. A. drops from घटत्वमित्यत्र to °तदुत्तरत्वप्रत्यये; D_g has ननु घटत्वत्वस्यापि वाच्यता स्यादित्यत्रेष्टापत्तिमाह !; D. has ननु घटत्वस्येव घटत्वत्वमित्यत्र. ५. प्रकारतया तडु° D_g. ६. घटत्वस्यापि D. ७. D_g drops पव. ८. घटत्वादि° D_g; D. and D_g have घटत्व-घटत्वत्वादि°; D_g has प्रातिपदिकार्थं पव घटत्वत्वादि°. ९. मिद्यमाना D_g, D₇.

इति वाक्यपदीयात् । उक्तं च 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्रे वार्तिककारैः—
'यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' इति । यस्य
गुणस्य विशेषणतया भासमानस्य भावादाश्रयत्वात् द्रव्ये विशेष्ये शब्दनिवेशः
शब्दप्रवृत्तिस्तस्मिन् वाच्ये त्वतलावित्यर्थः । तथा च रूपादिशब्देभ्यो जातौ
शुक्लाणुदीर्घमहदादिभ्यो गुणे पाचकादिशब्देभ्यः क्रियायां घटादिशब्देभ्यो
जातौ प्रत्ययः । रूपादिशब्दानां जातिप्रकारकबोधजनकत्वात् । पाचकादिशब्दानां
क्रियाप्रकारकबोधजनकत्वे तस्यां प्रत्ययः । संसर्गप्रकारकबोधजनकत्वमिति मते च
संसर्ग इति व्यवस्था सूपपादेति भावः । तत्र जातिवाचकानां व्यक्तय एव शक्यता-
वच्छेदिकास्तथा च घटवृत्तिरसाधारणो धर्म इति बोध इत्यादि द्रष्टव्यम् । पक्षान्तर-
माह । यद्वेति । 'यद्वा सर्वे भावाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषां भावः' इति वार्ति-
कोक्तो यद्वाशब्दस्तत्सूचनप्रयोजनकोऽपि । भवन्ति वाचकत्वेन प्रवर्तन्त इति

त्वेत्यादिरूपे गौरवादित्याहुः । निरुक्तभावस्य त्वाद्यर्थत्वे वार्तिककृतसंमतिमाह—
उक्तं चेत्यादिना । यस्य गुणस्येत्यत्र गुणशब्द उपकारकपर इत्यभिप्रेत्याह—विशेषण-
तयेति । उक्तं च कैयटीये । 'गुणशब्देन यावान् कश्चित् पराश्रयो भेदको जात्यादिः
सर्व इह गृह्यते' इति । भावादित्येतद् व्याचष्टे—आश्रयत्वादिति । द्रव्ये इत्येतद्
व्याचष्टे—विशेष्ये इति । गुणे इति । गुणिपरशुक्लादिभ्यो गुणे । गुणपरेभ्यस्तु तेभ्य-
स्तद्वृत्तिजाताविति बोध्यम् । अतोऽण्वादिशब्दा नित्यं गुणिपरा इति तेभ्यः परिमाणरूपे
गुण एव प्रत्ययः । परिमाणं चतुर्विधमणु महदीर्घं न्द्वस्वं चेत्यस्य त्वण्वादिवृत्तिरित्यर्थोऽ-
वसेयः । घटत्वादिशब्दे व्यक्तय एव त्वादिवाच्या इति पक्षान्तरमाह—जाति-
वाचकानामिति । व्यक्तय एवेति । स्ववृत्तित्वसंबन्धेन तासां वाच्यतावच्छेदकत्वमिति
बोध्यम् । एवं तत्र तत्र त्वाद्यर्थमुक्त्वा शाब्दबोधमाह—तथा चेति । घटत्वमित्यत्र
प्रकृत्यर्थस्य स्वेतरासमेतविशिष्टनिखिलस्वसमेतत्वसंबन्धेन प्रकारताप्रत्ययार्थं धर्मे
एतावता साधारणधर्मलाभः । एतदभिप्रायेणैवासाधारणो धर्म इति बोध इत्यवादीत् ।
न त्वसाधारणधर्मत्वेन शक्तिस्तस्येतरावृत्तिवाविशिष्टसकलप्रकृत्यर्थवृत्तित्वरूपत्वेन गौर-
वात् । अथवा वस्तुतो योऽसाधारणो धर्मस्तन्निष्ठाधेयत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थान्वयत्वेन घट-
त्वमित्यत्र न द्रव्यत्वादिभानम् । तत्सूचनप्रयोजनकोऽपीति । तस्य वार्तिकस्य सूच-
नायत्यर्थः । अपिशब्दः पक्षान्तरत्वसूचनाय यद्वेतिशब्द इत्यर्थस्य समुच्चयाय वार्तिक-
सूचनप्रयोजनक इत्यनेनायं पक्षो वार्तिकोक्त इत्यप्रामाण्यशङ्का निरस्ता । वार्तिकव्या-
ख्यानं बृहद्भूषणोक्तमाह—भवन्तीति । वाचकत्वेनेति । वाचकतासंबन्धेनेत्यर्थः ।
प्रवर्तन्ते । अस्यार्थेष्विति शेषः । धातूनामनेकार्थत्वाद् धातुः प्रवृत्त्यर्थकः प्रवृत्तिश्च

भावाः शब्दाः स्वेन स्वरूपेणार्थेन भवन्ति प्रवर्तन्तेऽतः स तेषां भावः प्रवृत्ति-
निमित्तमित्यर्थः । अयं भावः—अर्थवच्छब्दोऽपि द्वये प्रकारः हरिहरनले-
क्ष्वाकुयुधिष्ठिरवैशिष्टादिशब्देभ्यस्तत्तद्वाच्यः कश्चिदासीदिति शब्दप्रकारबोधस्य
सर्वसिद्धत्वात् । अन्यथा वनौषधिवर्गादेर्नागरिकान् प्रत्यबोधकत्वापत्तेश्च । एव-
मेवाप्रसिद्धार्थकपदेऽप्यनुभवः सर्वसिद्धो न तु घटादिपदेष्विव तत्तज्जात्यादि-
रूपेण । तथा चोभयमवच्छेदकम् । यस्य यथा शक्तिग्रहस्तस्य जात्यादिरूपेणै-
वोपस्थितिः । पदप्रकारकः शक्तिग्रहस्तु विशिष्य नापेक्षितः । किं त्विदं पदं

प्रकृते प्रयोगरूपा । एवं च भावशब्दः शब्दप्रतिपादक इत्याह—भावाः शब्दा इति ।
अत्र स्वशब्द आत्मवाचीत्याह—स्वेन रूपेणेति । स शब्दात्मा तेषां शब्दानाम् ।
वार्तिकस्य चरमभावपदार्थमाह—भावः प्रवृत्तिनिमित्तमिति । ननु शब्दस्य प्रवृत्ति-
निमित्तत्वं कथं शक्ये प्रकारकस्यैव तत्त्वादित्याशङ्कां निरसितुमाह—अयं भाव
इत्यादिना । तत्तद्वाच्यः कश्चिदिति । विशेषरूपेणानुपस्थित्या नलत्वादिरूपविशेष-
धर्मावच्छिन्ने शक्तिग्रहासंभवेन सामान्यरूपेणैव बोधोऽभ्युपेयः । इदं पदं क्वचिच्छक्तं पद-
त्वात् साधुपदत्वादिति सामान्यतोऽनुमित्यात्मकशक्तिग्रहसत्त्वात् । नागरिकान् प्रत्य-
बोधकत्वापत्तेरिति । तेषां प्रायो विशेषरूपाज्ञानेन विशेषरूपेण शक्तिग्रहासंभवात् ।
ग्रामीणानां तु विशेषतो ज्ञानसंभवान्नावोधकत्वमिति सूचयितुं नागरिकानित्युक्तम् ।
तच्च विशेषरूपेणानभिज्ञपरम् । तेन कस्यचिन्नागरिकस्य विशेषरूपेण बोधेऽपि नासंगतिः ।
एवमेवेति । एतत्पदवाच्य इत्याकारक एव न तु तत्तज्जात्यादीति अनुभव इत्य-
नुषज्यते । अत एव जन्मान्तरीणसंस्कारवशाद्विशेषरूपेण शक्तिग्रहे सति विशेषरूपेण
भानं नलादीनामित्यपास्तम् । विशेषरूपेणानुभवाभावेनानन्तसंस्कारकल्पने मानाभावात् ।
तत्तद्वाचकपदश्रवणं विना तेषां विशेषरूपेण स्मरणापत्तेश्च । उद्बोधकाभावान्न स्मरणमिति तु न
साम्प्रतं तत एव शाब्दबोधनिर्वाहे संस्कारस्मरणाद्योर्हेतुत्वासिद्धयापत्तेरित्याहुः । उभयमव-
च्छेदकमिति । जात्यादिशब्दश्चेत्युभयं शक्यतावच्छेदकमित्यर्थः । तत्र शब्दस्य शक्तिसंब-
न्धेन शक्यतावच्छेदकत्वं जात्यादेस्तु यथायथं समवायादिसंबन्धेन । यथा शक्तिग्रहः ।

१. रूपेणार्थेन D₂, Com. २. 'वशिष्टादि' D₂. ३. ° प्रकारक° D., D₁. ४. P.
has एवमेव प्रसिद्धपदार्थेषु यस्य यथा &c.

कचिच्छक्तं साधुपदत्वादित्यादिरूप एवापेक्ष्यत इति विशिष्यागृहीतशक्तिकेभ्य-
स्तथैव बोधस्तथा च शब्दोऽपि त्वप्रत्ययार्थ इति प्रपञ्चितं भूषणे ॥ ५० ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारे भावप्रत्ययार्थनिर्णयः ॥—

जात्यादिरूपेण शक्तिग्रहः । तथैव । पदप्रकारक एव । शक्तिग्रहवैलक्षण्याद्बोधवैलक्षण्यमिति
भावः । तथा च । शब्दस्य शाब्दबोधप्रकारत्वे च । शब्दोऽपि । अपिशब्दो जात्या-
दिसमुच्चायकः । परे तु येषां मते शब्दः प्रवृत्तिनिमित्तं तेषां मते शब्दस्त्वाद्यर्थः ।
येषां मते जात्यादिरूपेऽर्थः प्रवृत्तिनिमित्तं तेषां मते स तदर्थ इति वदन्ति । प्रकृतेर्लक्ष-
णया शब्दपरत्वं जात्यादिः शब्दो वा त्वाद्यर्थो जन्यबोधप्रकारत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्य
शब्दस्य प्रत्ययार्थेऽन्वयः । अत एव शब्दपरत्वं प्रकृतेः स्वीक्रियते । अन्यथा घटादि-
प्रकृत्यर्थस्य शब्दरूपे प्रत्ययार्थेऽन्वयासंभवात् न हि तत्र समवायादेः संभवः । जन्य-
बोधेत्याद्युक्तसंबन्धस्याप्यसंभवः । शक्तिसंबन्धस्य संभवेऽपि पटत्वादौ तदसंभव इति
शब्दपरत्वमेवादृतमिति बोध्यम् । परे तु भाष्ये ‘तस्य भावः—’ इत्यत्रत्यभावशब्द-
स्याभिप्रायाद्यर्थकतयाभिप्रायादिष्वतिप्रसङ्गशङ्कानिरासो ‘यस्य गुणस्य भावात्—’ इति
वार्तिकेन कृतः । भावशब्देन प्रकृतसूत्रे प्रकृतिनिमित्तभूतो धर्मो गृह्यते न त्वमिप्राया-
दिरित्यभिप्रायात् । तदनन्तरं डित्यत्वमित्यादौ त्वाद्यनुपपत्तिः । डित्यादिशब्देन व्यक्तेरेव
बोधनादित्याशङ्कं व्यक्तेरेव विशेष्यताप्रकारत्वाभ्यां भास्यप्रकारताविशिष्टव्यक्तिरूपं
त्वादर्थस्य चापगमेन समाधाय ‘यद्वा सर्वे भावाः स्वेन—’ इत्यादिवार्तिकेन समाधा-
नान्तरं कृतम् । तस्यायमर्थः । स्वशब्दोऽज्ञात्मीयपरः । शब्दस्य द्विविधोऽर्थो वाच्यो
घटादिप्रवृत्तिनिमित्तरूपश्च तदन्यतराभिधाने त्वादिः । तत्रान्त्यो घटत्वमित्यादौ । तत्र
प्रकृतिरर्थपरैव अर्थस्य घटादेः प्रत्ययार्थे जात्यादिरूपेऽन्वयसंभवात् । कुत्वं डित्यत्वमि-
त्यादौ वाद्यः । तत्र प्रत्ययार्थानुपपत्त्या शब्दपरैव प्रकृतिः । शब्दपरात् क्त्वादिशब्दात्
व्यक्तिरूपेऽर्थे प्रत्ययः । एवं च डित्यत्वडित्यशब्दयोः कुत्वंकुशब्दयोः पदपदशब्दयोः
पर्यायता । अत एव वृद्धिसूत्रे भाष्ये ‘कुत्वं कस्मान्न भवति चोःकुः पदस्य इति ।
भवात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि छन्दसि’ इत्युक्तम् । एवं च कुत्वादिपदस्य
कवर्गोद्विरेवार्थः । एवं सति ‘तस्य भावः—’ इति सूत्रस्थतच्छब्दस्य शब्दपरत्वमास्थेयं
तस्य च ‘गुणवचन—’ इति सूत्रे तु वृत्तस्यार्थपरत्वमाश्रयणीयम् । एवं चार्थस्य त्या-
गोपादानप्रयुक्तगौरवापत्तिश्च । न हि शब्दस्य कर्म संभवति प्रतीयते वा ‘तस्यापत्यम्’
इत्यादौ तच्छब्दस्यार्थपरताया एव दृष्टत्वाच्चेति समुचिरे । प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोः संबन्ध-
स्त्वाद्यन्तसमुदायशक्यः ॥ ५० ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारव्याख्याने कालोपनामकहरिराम-

शर्मविरचिते त्वादिप्रत्ययार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

‘सास्य देवता’ इत्यत्र देवताविशिष्टं देयं प्रत्ययार्थः । ऐन्द्रं वैश्वदेवीत्यादा-
विन्द्रादेर्देवतात्वोपस्थापकान्तराभावात् तेन रूपेणोपस्थितये शक्तिकल्पनावश्य-
कत्वात् । अत एव

‘आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः ।
आमिक्षापदसंनिध्यात् तस्यैव विषयार्पणम् ॥’

इति ।

‘केवलादेवतावाची तद्धितोऽग्नेः समुच्चरन् ।
नान्ययुक्ताग्निदैवत्वं प्रतिपादयितुं क्षमः ॥

इति च मीमांसकैरप्युक्तमित्याशयेनाह —

प्रत्ययार्थस्यैकदेशे प्रकृत्यर्थो विशेषणम् ।
अभेदश्चात्र संसर्ग आग्नेयादावियं स्थितिः ॥

देवतायां प्रदेये च खण्डशः शक्तिरस्तु वा ॥ ५१ ॥

प्रसङ्गसंगत्या देवतायर्थकतद्धितप्रत्ययार्थमाह—‘सास्य देवता’ इत्यत्रेति ।
प्रथमोपात्तस्याप्यपत्यार्थकतद्धितोत्प्रेक्षा तु तत्र प्रत्ययार्थस्यापत्यरूपस्यैकत्वात् तत्र च
प्रकृत्यर्थस्य अन्यजनकभावसंबन्धादिरूपभेदसंबन्धेन प्रकारतायाः सुगमत्वेन देवतार्थक-
तद्धितेषु नानापक्षसंबन्धेन दुरुहत्वेन तदर्थनिर्णये आदर इति बोध्यम् । देवताविशिष्ट-
मिति । स्वस्वामिभावसंबन्धेन स्वोद्देश्यकत्यागकर्मत्वसंबन्धेन वा देवताविशिष्टमि-
त्यर्थः । अत एव । प्रकृततद्धितस्योक्तार्थकत्वादेव । तस्यैव । तद्धितस्यैव । विषया-
र्पणमिति । अत्येति सर्वनाम्नो विशेषबोधयतया तदर्थे विहितस्य तद्धितस्यापि
तथात्वेन कोऽसौ विशेष इति जिज्ञासायामामिक्षापदसंनिध्यादामिक्षारूपो विशेष
इति प्रतीयत इत्यर्थः । केवलादिति । केवलादग्नेरग्निशब्दादेवतावाची तद्धितः समुच्चरन्
प्रादुर्भवन्नन्ययुक्ताग्निदैवत्वं प्रतिपादयितुं न क्षम इति योजना । इतरसापेक्षस्य देवतात्वे
सामर्थ्यात् तद्धितवृत्तिरेव न स्यादिति भावः । अत एवाग्निषोमीयादावाग्नेयपदव्य-
वहाराभावाद् ‘आग्नेयं चतुर्धा करोति’ इति वाक्यविहितचतुर्धाकरणस्य न प्रवृत्तिः ।
इन्द्रे इतरसापेक्षस्यैव व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वादिति स्थितं पूर्वतन्त्रे तृतीयस्य प्रथमचरणे ।
नान्ययुक्ताग्निदैवत्यमित्यादिना केवलाग्निदैवत्वं प्रतिपादयितुं क्षम इति सूचितमिति भव-

एकदेशे देवतारूपे । तच्च विशेषणमभेदेनेत्याह । अभेदश्चेति । ननु देवतायाः प्रत्ययार्थैकदेशत्वान्न प्रकृत्यर्थस्य तत्राभेदेनाप्यन्वय इत्याशयेनाह । देवतायामिति । तथा च पदार्थैकदेशतैव नास्तीति भावः ॥ ५१ ॥

ल्युपगमसंगतिः । देवतायामितीति । बृहद्द्रष्टव्यकारास्तु आग्नेय इत्यादौ प्रकृत्यैव लब्धस्य प्रकृत्यर्थस्योद्देश्यत्वमात्रं यथा चतुर्थ्या प्रतिपाद्यते एवमत्रापि प्रत्ययेन देवतात्वं प्रदेये च प्रतिपाद्यते । देवतात्वस्येति रूपकत्वं प्रदेये संसर्गः प्रकृत्यर्थस्य तत्राधेयत्वं संसर्गः प्रदेयत्वं संबन्धित्वेनैव प्रत्ययार्थो न तु दधित्वाद्यात्मकविशेषरूपेण । अत एवैन्द्रे दधीत्यादि प्रयोगसंगतिः । आमिक्षापदेन विशेषाकाङ्क्षा पूर्यते । एवं चाग्नेयमित्यत्राभि-
वृत्तिदेवतात्वनिरूपकमिति बोधः । नन्वेवं

‘तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः ।

देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् ॥’

इति सीमासंकोक्तदौर्बल्यानुपपत्तिरिति चेन्न । चतुर्थ्या वाक्यादेवतात्वसंबन्धलाभः । पृथक्पदोपस्थितहवीरूपसंबन्धनि तद्धिते तु समानपदश्रुत्यैवेति तद्धितस्य बलवत्त्वोपपत्तेः । अथवा प्रदेयमेव प्रत्ययार्थः स्ववृत्तिदेवतात्वनिरूपकत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थेऽ-
न्वयः । तावतैवेन्द्रादेर्देवतात्वलाभः । देवतात्वघटितसंबन्धेन बोध एवानुशासनतात्पर्य-
मिति नानुशासनविरोधः । देवतात्वबोधे एव हि तत्तात्पर्यं न तु तत्प्रकारक एव । उक्त-
संसर्गकबोधोऽपि देवतात्वविषयको भवत्येवेति भाव इत्याहुः । देवतात्वं च दिवेरैश्वर्य-
कर्मणो देवतेति ‘देवात् तल्’ इति सूत्रभाष्यान्मन्त्रकरणहविस्त्यागजन्यस्वर्गादि-
फलातिरिक्तफलाश्रयत्वम् । मन्त्रस्तुत्यत्वं चानुक्रमणिकायामप्युक्तम् । यस्य वाक्यं स ऋषियीनेनोच्यते सा देवतेति । अत एवैन्द्रो मन्त्र ऐन्द्रं हविरिति द्विविधप्रयोगसिद्धिः । देवतानिष्ठं फलं चास्येदं फलं भवत्वतीच्छात्मकप्रीतिरेव । क इदं कस्मा अदादित्यादि-
मन्त्रप्रयोज्यस्वामित्वभाजि प्रतिग्रहीतयतिप्रसङ्गनिवृत्तिफलकं मन्त्रकरणकेति हविस्त्याग-
विशेषणम् । दर्शादिश्राद्धे मृतपत्नीनां देवतात्ववारणायोद्देश्यत्वप्रवेशः । न च तासां तत्त-
त्फलसंबन्धित्वमिति वाच्यम् । न ओषिद्भ्यः पृथग्दद्यादित्यादिना तासां फलसंबन्धित्व-
बोधनात् । शूद्रकर्तृकश्राद्धादावपि नमस्काररूपमन्त्रसत्त्वान्न तदीयपित्रादीनां देवतात्वा-
नुपपत्तिः । अनुमतोऽस्य नमस्कारो मन्त्र इति गौतमस्मृत्येति प्राहुरित्याद्यन्यत्र विस्तरः । अभेदेनाप्यन्वय इति । भेदसंबन्धेनान्वयो न संभवति तस्य बाधितत्वादिति सूचना-
यापिशब्दः । अथवा स्ववृत्तिदेवतात्वरूपधर्मत्वसंबन्धेनान्वयनिरासायापिरुपात्तः ॥ ५१ ॥

नन्वग्न्यादिदेवस्य प्रकृत्यैव लाभान्न तत्र शक्तिः कल्प्या । न च ^१देवतात्वे रूपेणोपस्थितये सा कल्पते प्रकृतेर्लक्षणयैव तथोपस्थितिसंभवात् । उपसर्गानां द्योतकत्वमनये प्रजयतीत्यत्र प्रकृष्टजयप्रत्ययवदित्यभिप्रेत्याह—

प्रदेय एव वा शक्तिः प्रकृतेस्त्वस्तु लक्षणा ।

देवतायां निरूढेति सर्वे पक्षा अमी स्थिताः ॥ ५३ ॥

न चेन्द्रं दधीत्यादौ द्रव्यस्य पदान्तरालाभात् कुतः पुनः प्रत्ययस्य तत्र शक्तिः कल्प्यत इति वाच्यम् । पदान्तराश्रवणेऽपि तत्प्रतीतेरैन्द्रं दधीति सामानाधिकरण्याच्च । अन्यथाख्यातस्यापि कर्तृकर्मवाचित्वं न स्यात् । मीमांसकानां पुनः प्रत्ययस्य देवतात्वमेवार्थोऽस्तु । द्रव्यं पदान्तरालभ्यत एवेत्याख्यातस्य कर्तृवद्वाच्यत्वं मास्त्विति कुतो न शक्यते वक्तुमिति दिक् । देवतायां

लक्षणयैवेति । अग्न्यादिशब्देऽग्न्यादिदेवतायां लाक्षणिक इत्यर्थः । **प्रदेये एवेति ।** एवकारो देवताव्यावृत्तये । **निरूढेति ।** अनादितात्पर्यवती निरूढलक्षणेत्यर्थः । तेन सर्वदा देवतात्वरूपेण प्रतीतिनिर्वाहो मीमांसकादिग्रन्थेषु स्थितः । **तत्र शक्तिरिति ।** **तत्र देये द्रव्ये ।** द्रव्ये शक्त्यभावेऽपि दध्यादिपदलभ्ये तस्मिन् प्रत्ययलभ्याया देवतायाः स्वनिष्ठदेवतात्वनिरूपकत्वादिसंबन्धेनान्वयाद्विशिष्टलाभसंभवः । **तत्प्रतीतेः ।** द्रव्यप्रतीतेः । **सामानाधिकरण्याच्चेति ।** तथा चाभेदान्वयानुरोधेन तत्र प्रत्ययशक्तिरावश्यकीति भावः । उक्तसंबन्धेन देवताया अन्वयस्तु न युक्तो नामार्थयोरिति व्युत्पत्तिविरोधात् । न च देवताविशिष्टद्रव्ये प्रकृतेर्निरूढलक्षणैवास्तु किं प्रदेये प्रत्ययशक्तिकल्पनयेति वाच्यम् । तथा सति प्रदेयस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यत्वानापत्तेर्योत्यार्थस्य विशेषणत्वमनियमात् । अन्यथौपगवादावपि प्रत्ययस्य द्योतकत्वापत्तेः । **अन्यथा ।** सामानाधिकरण्यानुरोधात् प्रदेये शक्त्यनभ्युपगमे । **न सिध्येदिति ।** अस्य वैयाकरणमते इत्यादिः । **देवतात्वमेवेति ।** देवतायां शक्तिस्वीकारोपक्षयापि लाघवाद्देवतात्वे एव शक्तिकल्पनमेवोचितं देवतात्वस्य स्वनिरूपकत्वसंबन्धेनान्वयो भविष्यतीति भावः । **कर्तृवद्वाच्यत्वमिति ।** यथा मीमांसकमनये आख्यातस्य कर्ता न वाच्योऽपि तु लाघवाद्भावनैवाश्रयस्य पदान्तरेण लाभात् कर्तृत्वविशिष्टबोधस्य तु भावनारूपकर्तृत्वस्य तत्रान्वयेनैव संभवात् तथात्र प्रदेये पदान्तरलब्धे प्रत्ययार्थदेवतात्वस्यान्वयेनैव विशिष्टलाभसंभवात्

देवतात्वरूपेण निरूढेत्यनुपपत्तिज्ञानापूर्वकत्वमनादिप्रयोगावच्छिन्नत्वं वा तत्त्व-
मिति भावः ॥ ५२ ॥

अन्यैव रीत्यान्यत्राप्यवधेयमित्याह—

क्रीडायां णस्तदस्यास्तीत्यादावेषैव दिक् स्मृता ।

वस्तुतो वृत्तिरेवेति नात्रातीव प्रयत्यते ॥ ५३ ॥

‘तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः’ इत्यत्र प्रहरणविशिष्टा क्रीडा प्रहरण-
क्रीडे^१ क्रीडामात्रं वेत्यर्थः । आदिना ‘सोऽस्य निवासः’ ‘सास्मिन् पौर्णमासी

प्रत्ययस्य प्रदेये शक्तिर्न सिध्येत् । न चेष्टपत्तिः । आमिक्षां देवतायुक्तामित्यनेन प्रदेये तैः
शक्तिबोधनात् । अत्र चेत् सामानाधिकरण्यानुरोधात् प्रदेये शक्तिकल्पनं तर्हि आख्यातेऽ-
पि कर्तृवाचकत्वं स्यादेवदत्तः पञ्चतीत्यत्र कर्तृदेवदत्तयोरनुभूयमानसामानाधिकरण्या-
नुरोधादिति सिंहावलोकनन्यायेनेदं दूषणं द्रष्टव्यम् । नन्वग्यादिपदेन शक्त्यैवाग्यादि-
देवताया लाभे किं लक्षणयेत्यत आह—देवतात्वेति । निरूढपदार्थप्रवृत्तिनिमित्तमाह—
अनुपपत्तीति । अन्ययानुपपत्तिज्ञानाभावेऽपि तात्पर्यानुपपत्तिज्ञानसंभवादसंगतिमाश-
ङ्क्याह—अनादीति । लक्ष्ये योऽनादिप्रयोगस्तदवच्छिन्नत्वमित्यर्थः । प्रयोगस्याव-
च्छेदकत्वं च कर्मतासंबन्धेन ॥ ५२ ॥

मूले एषैव दिगिति एषैव रीतिरित्यर्थः । इत्यत्रेति । एतत्सूत्रानुशिष्टणप्रत्ययान्तादा-
ण्डादिशब्दे । प्रहरणविशिष्टेति । अस्यार्थ इत्यत्रान्वयः । अर्थः । णप्रत्ययार्थः । तत्र
प्रकृत्यर्थदण्डस्य प्रहरणविशिष्टक्रीडारूपणप्रत्ययार्थैकदेशप्रहरणेऽभेदेनान्वयः । एकदेशेऽ-
न्वयमसहमानः खण्डशः प्रहरणे क्रीडायां च शक्तिमाह—प्रहरणक्रीडे इति । अत्र
पक्षेऽभेदेन दण्डान्वितप्रहरणस्य क्रीडायामाश्रयत्वसंबन्धेनान्वयः । लाघवादाह—क्रीडा-
मात्रमिति । मात्रपदेन प्रहरणव्यवच्छेदः । प्रकृत्यर्थदण्डादेः स्वनिष्ठप्रहरणत्वनि-
रूपकत्वसंबन्धेनान्वयः । अथवा दण्डपदस्य दण्डप्रहरणे निरूढलक्षणास्मिन् पक्षे बोध्या ।
परे तु प्रहरणत्वं प्रत्ययार्थः क्रीडा च प्रकृत्यर्थस्याधेयत्वं संसर्गः तस्य तु क्रीडाया
निरूपकत्वमित्याहुः । अनेन संबन्धेनान्वये तात्पर्यग्राहकं सूत्रस्थं प्रहरणपदमिति
तदभावः । ‘सोऽस्य निवासः’ इति । सुप्तो निवासो निवासाधिकरणभूतोऽस्य
सौप्तः । अत्रापि पूर्ववत् पक्षत्रयमुच्येयम् । सुप्ताभिन्ननिवासाधिकरणसंबन्धीत्याद्याकारो
बोधः । ‘सास्मिन् पौर्णमासीति—’ प्रथमान्तादस्मिन् पौर्णमासीत्यर्थे प्रत्ययो

भवतीति तदर्थः । इतिशब्दः संज्ञायां यथा स्यादित्येतदर्थः । प्रकृतिप्रत्ययसमुदायश्चेत् संज्ञारूढस्तदेति यावत् । चैत्रो मास इत्याद्युदाहरणम् ।

प्रसङ्गात् कतिपयायुक्ततद्धितार्थो निरूप्यते । चैत्र्यादिशब्दो 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इति सूत्रविहिताणान्तप्रकृतिकर्तव्यः । तत्र चित्रादिशब्दः स्वार्थतत्तन्नक्षत्रयुक्तचन्द्रपरः । अन्यथा सर्वेषां नक्षत्राणां सर्वदा सत्त्वेन सर्वदैवाद्य चैत्रमहरित्यादिप्रयोगापत्तेः । अत्र युक्त एव प्रत्ययार्थः । न तु कालोऽपि लाघवेन वस्तुसत एव तस्य प्रत्ययोत्पत्तिनिमित्तत्वौचित्यात् । अहरादिपदेन तल्लभसंभवाच्च । तथा च चित्रायुक्तचन्द्रयुक्तेति चैत्र्यादिशब्दजबोधः । चैत्रादिशब्दोत्तरतद्धितस्य पूर्णिमाधिकरणादिप्रत्ययार्थः । अत्रापि पूर्ववत् पक्षत्रयमुन्नेयम् । तादृशपौर्णमास्यधिकरणमिति बोधः । तत्तत्पौर्णमास्यां चित्रादियोगानियमेऽपि चैत्री पौर्णमासीत्यादौ तत्तन्नक्षत्रयोगायोगयोग्यतैव विवक्षिता । तत्तन्नक्षत्रयोगाभावेऽपि चैत्री पौर्णमासीत्यादिप्रयोगात् । चैत्रो वैशाख इत्यादिप्रयोगाच्च । योग्यता च स्वस्वसमीपनक्षत्रान्यतरयुक्तत्वरूपा । चैत्रादिश्रावणान्तानां मासानां चित्रादिद्वन्द्वमध्ये कस्यचिद्योगस्तथाविधव्यवहारे प्रयोजकः । भाद्रपदाश्वयुजोस्तु शतभिषमेवत्यादित्रिकान्यतमयोगः । कार्तिकादिमाघान्तानां कृत्तिकादिद्वन्द्वान्यतरयोगः । फाल्गुनस्य तु पूर्वाफाल्गुन्यादित्रयान्यतमयोग इति विवेकः । तथा चोक्तं **संकर्षणकाण्डे-**

‘द्वन्द्वे चित्रादिताराणां परिपूर्णेन्दुसंगमे ।

मासाश्चैत्रादयो ज्ञेयास्त्रिकैः षष्ठ्यन्तसप्तमाः ॥’

इति अन्यत्रापि

‘अन्त्योपान्त्यौ त्रिभौ ज्ञेयौ फाल्गुनश्च त्रिभो मतः ।

शेषा मासा द्विधा ज्ञेयाः कृत्तिकादिव्यवस्थया ॥’

इति । अन्त्योपान्त्यौ भाद्रपदाश्वयुजौ । चैत्रादिपदस्य शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तसमुदाये रूढिः स्वीक्रियतेऽतो न यत्किंचित्तिथिप्रभृतिकर्त्रिंशद्दिनसमुदाये चैत्रपौर्णिमासीघटिते चैत्रादिपदप्रयोगातिप्रसङ्गः । कृष्णप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तसमुदाये तु न रूढिः । तत्र प्रचुरप्रसिद्ध्यभावात् पौर्णमासीघटितमासस्य चान्द्रत्वेन तस्य च ‘चान्द्रः शुक्लादिदर्शान्तः’ इत्यादिस्मृतिभ्यः चिष्टाचारबाहुल्याच्च शुक्लादिदर्शान्तस्यैव प्रहीतमुचितत्वात् । कृष्णप्रतिपदादिपूर्णिमान्ते तु लाक्षणिको व्यवहार इत्याहुः । माघवाचार्यास्तु चान्द्रस्य श्रुतिस्मृतिलिङ्गदर्शनाद् दर्शान्तत्वपूर्णिमान्तत्वयोः समो विकल्पः । आथर्वणिकाः सृष्टिप्रकरणे संवत्सरदक्षिणोत्तरायणसृष्टिमात्रायमासपक्षसृष्टिमेवामनन्ति । मासो वै प्रजा-

पतिः । तस्य कृष्णपक्ष एव रविः शुक्रः प्राण इति । तत्र कृष्णपक्षस्य प्रथमपाठो मासस्य कृष्णप्रतिपदादित्वे लिङ्गम् ।

‘ मासि भाद्रपदेऽष्टम्यां कृष्णपक्षेऽर्धरात्रके ।

भवेत् प्रजापतेर्ऋक्षं जयन्ती नाम सा स्मृता ’

इति जयन्तीप्रकरणस्था स्मृतिरपि लिङ्गम् । अथकृष्णपक्षे तु ‘ श्राद्धं कुर्याद्दिने दिने ’ इति स्मृतिरपि महालयप्रकरणस्था शुक्लप्रतिपदादित्वे लिङ्गम् । अन्यथा तस्य पक्षस्य भाद्रपदान्तर्गतत्वेनाश्वयुक्संबन्धित्वाभावेनासंगत्यापत्तेः । शिष्टाचारविशेषोऽपि लिङ्गं यतिधर्मप्रकरणे ‘ ऋतुसन्धिषु वापयन्ति ’ इति स्मर्यते । परं तु यतयः पूर्णिमायामेव वापयन्ति न दर्शे । अन्यथा तत्रैव वपनं कुर्युः । अनुष्ठाने तत्तद्वचनविशेषाच्छिष्टाचाराच्च व्यवस्थेत्याहुः । एतन्मते दर्शान्ते पूर्णिमान्ते च चैत्रादिशब्दरूढिरिति लभ्यते इत्यलमतिविस्तरेण । गोमानित्यादौ ‘ तदस्यास्त्यस्मिन्निति इति मतुप् ’ इति मतुप् । तत्र संबन्धी संबन्ध आश्रयं चेत्युभयं वा प्रत्ययार्थः । अत्रास्तीति वर्तमानकालो विवक्षितः । अन्यथा गवामतीतत्वे भावित्वे वा मतुबन्तस्य साधुत्वापत्तेः । वर्तमानसत्तावत् स्वार्थपरो गवादिशब्दः । एवं च वर्तमानसत्तावद्गोसंबन्धीति बोधः । गोमानसीत्यादौ तु गोमत्पदस्य तत्पदव्यवहारविषये लक्षणेति नानुपपत्तिरिति कैयटादिग्रन्थेषु स्थितम् । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । अत्र प्रोक्तत्वं नाध्यापनेन प्रकाशितत्वम् । सुदामर्णाध्यापिते काठके सौशर्मणमिति प्रयोगापत्तेः । नापि कृतत्वं ‘ कृते ग्रथे ’ इत्यनेनैव सिद्धावेतस्य वैयर्थ्यापत्तेः । ननु वेदस्य नित्यत्वेन तत्र कृतत्वाभावेन तैत्तिरीयं काठकमित्यादिप्रयोगानुपपत्तिरिति चेन्न । ‘ यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वीं सानित्या ’ इति भाष्ये एव समाधानात् । प्रत्येषूपचारयितृपुरुषाभावादानुपूर्वीविनाशेन पुनस्तथ्य ऋषयः संस्कारातिशयाद्वेदार्थं स्मृत्वा शब्दरचनां विदधति । अर्थाभेदेऽपि आनुपूर्वीभेदनिबन्धन एव केषुचित् काठकादिव्यवहारस्ततश्च ‘ कठादयो वेदानुपूर्व्याः कर्तारः प्रवक्तारश्च ’ इति कैयटोक्तेः चेन्न । प्रोक्तत्वं प्रथमप्रकाशितत्वं तच्च स्वकृतपरकृतसाधारणम् । एवं च माधुरेण प्रथमप्रकाशितायां तेनाकृतायां वृत्तौ माधुरीति प्रयोगोपपत्तये ‘ तेन प्रोक्तम् ’ इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । भाष्ये वर्णोऽनुपूर्वीत्यत्र वर्णः शब्दपरस्तेन पदानामभेद इति सूचितम् । तथा च स्मृतिः

‘ प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते ’

इति

‘ स्वयंभूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।

शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।

लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंमुवा ॥'

इति स्मृतिद्वयं त्वर्थानित्यत्वादुपपन्नमित्यन्यत्र विस्तरः । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । अत्र 'तस्य पूरणे ङट्' इति ङट् । तस्य 'नान्तादसंख्यादेः-' इति मङागमः । स्वनिष्ठपञ्चत्वसंख्यापूरणत्वं संबन्धः । प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थे स्वनिष्ठपञ्चत्वसंख्यापूरण इति बोधः । पूरणत्वं स्वाश्रिततत्तत्संख्यापूर्तिनिमित्तत्वम् । द्वितीयादौ तृतीयादिव्यवहारापत्तिस्तु न तस्येष्टत्वात् । अत एव 'समर्थः पदविधिः' इत्यध्यायस्याष्टम इति व्यवहारः कृतः । बुद्धिस्थावधिसापेक्षोऽयं व्यवहार इति नातिप्रसङ्गः । यथा हरिस्तथा हरः । अत्र 'प्रकारवचने थाल्' इति थाल्प्रत्ययः प्रकारवदर्थकः सामानाधिकरण्यानुरोधाद्वचनग्रहणाच्च । जातीयरादेस्थाळा बाधस्तु न । 'तथाजातीयकः' इति भाष्यप्रयोगात् । प्रकारश्च प्रकृते सामान्यस्य भेदको विशेषः । एवं च यद्विशेषधर्मवान् हरिस्तद्विशेषधर्मवान् हर इति बोधः । यत्तद्भ्यां धर्मयोरैक्यावगतौ हरिसादृश्यं हरे पर्यवस्यति । ननु सादृश्यमेव तदर्थोऽस्तु । एवं च यत्सदृशो हरिस्तत्सदृशो हर इत्यनुभवसिद्धिः । सादृश्यप्रकारकः शब्दबोध उपपद्यत इति चेन्न । अन्यथेतरेत्यादौ तदप्रतीतिः । गुडकल्पा द्राक्षा बहुगुडो द्राक्षा इत्यत्र 'ईषदसमाप्तौ कल्पवृक्षदेशीयरः' 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्' इति सूत्राभ्यामीषदसमाप्तिविशिष्टार्थकादेते प्रत्यया भवन्ति बहुच् एतादृशसुबन्तात् पुरस्ताद्विभाषा भवतीत्यर्थकाभ्यां कल्पवृक्षद्वौ स्तः । विभाषाग्रहणं तिङन्ते सावकाशानां कल्पवादीनां प्रवृत्त्यर्थम् । गुडपदं गुडसदृशपरम् । प्रत्ययस्तु द्योतकः । अत एव गुडकल्पा द्राक्षेति स्त्रीलिङ्गं बहुगुडो द्राक्षेत्यत्र पुंलिङ्गं च निर्वहति । स्वार्थिकानां प्रकृतिलिङ्गवचनातिक्रमानतिक्रमयोः स्वभावसिद्धत्वात् । सादृश्यस्य प्रत्ययार्थत्वे तु बहुगुडो द्राक्षेत्यत्र विशेष्यगतस्त्रीलिङ्गपत्तिः । अत्रेवदसमाप्तत्वं सादृश्यप्रयोजकमाधुर्यादेः प्रतीयते । तेनेषत्सादृश्ये प्रत्ययानुपपत्तिः । गुडसदृशी द्राक्षेति बोधः । उपमा गम्यते । परे तु सादृश्याद् द्राक्षायां गुडत्वारोपाद्गुडत्वजात्यभावाच्चेषदसमाप्तं गुडत्वं द्राक्षायामिति गुड इयं द्राक्षा गुडकल्पा द्राक्षेति प्रयोगः । एवं च गुडत्वप्रकारक एव बोध इत्याहुः । मञ्जूषाकृन्मते तु उपमानगुडाभिन्ना द्राक्षेति बोधः । अन्ये तु सादृश्यरूपेषदसमाप्तिः प्रत्ययार्थः । गुणगुणिनोरारोपिताभेदाच्च द्राक्षादिनाभेदान्वयोपपत्तिः । अथवा सादृश्यवान् प्रत्ययार्थः सादृश्याश्रयौ वा तदर्थौ । बहुगुडो द्राक्षेति प्रयोगानुपपत्तिस्तु न । विभाषासूत्रे पुरस्तादित्यस्यावृत्त्यावधारणार्थकतुशब्देन पुरस्तादेव सर्वं भवतीति व्याख्यानेन प्रत्ययोत्पत्तेः । प्राग्दृष्टे ये लिङ्गसंख्ये ते एव स्तः प्रयोगश्च

प्राक् प्रकृतेरित्यर्थोङ्गीकरणादोषात् । अत एव सूत्रस्थस्तुशब्दश्चरितार्थः । प्रकृतेः पुरस्ता-
देव बहुजित्यवधारणसंपादनेन प्रत्ययपरत्ववारणार्थस्तु न सः । अपवादकतयैव तत्सिद्धेः ।
न च पुरस्तादित्यत्र विभाषापदसंबन्धात् पूर्वत्वे विकल्पे सति परत्वमपि स्यात् तन्निवृत्तयेऽ-
वधारणार्थस्तुशब्द इति वाच्यम् । 'उदक्षितोऽन्यतरस्याम्' इत्यत्र परत्वमिव पूर्वत्वं
न विकल्प्यते गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायात् किं तु प्राधान्यात् प्रत्यय एव
विकल्प्यत इति भाष्ये एवोक्तत्वादित्याहुः । पाचक इत्यादौ 'कुत्सिते' इति सूत्रेण
कुत्साविशिष्टार्थकात् पाचकशब्दात् कन् । कुत्सितपाकत्ववानिति बोधः । प्रवृत्ति-
निमित्तकुत्साया असंभवे तु अश्वक इत्यादौ तत्सहचरितधर्मान्तर्गतकुत्सानिमित्तकः
प्रत्ययः । कुत्सितक इत्यादौ कुत्सितत्वकुत्सानिमित्तकः प्रत्ययः । अस्य कुत्सितत्वं न सम्यक्
किं तु शत्रुभिर्द्वेषणारोपितमिति तस्य कुत्सा । अथवा नियमेन कुसंबन्धप्रतीत्यर्थं प्रवृत्ति-
निमित्तकुत्सायामेव प्रत्ययः । किं च स्वार्थे पूर्णस्यैव कुत्सनादियोगात् सुवन्तादेव कन्
इति सुवन्तेन प्रतिपादितार्थस्वार्थद्रव्यलिङ्गादिगता कुत्सा कना प्रत्याग्यते । तत्र पण्ड-
तक इत्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सा । शुक्लकं रूपमित्यत्र द्रव्यकुत्सा । पश्य गाण्डीवधन्वानं
विद्धि कौरवकान् स्त्रिय इत्यत्र लिङ्गकुत्सा । पुत्रकः शतमत्रैकत्वसंख्याकुत्सा शतभरणे
यद्दुःखं तदेकस्यैव भरणे इति प्रतीतेरिति दिक् । अश्व इव अश्वकोऽयम् । 'इवे प्रति-
कृतौ' इति कन् । अश्वसदृशः । अत्रोपमानाश्वाभिन्नो वेति भिन्नोऽयं बोधः । अन्ये
उपमानाश्च इति प्रत्ययान्ताद्बोधः । तस्येदं पदार्थोपमेयेन सादृश्यमूलकारोपिताभेदेना-
न्यथः । पूज्यप्रतिमाचित्रनटध्वजप्रतिमासु शिवाद्यभेदबुद्धिरेव न त्विवार्थप्रतीतिरिति
न कन् । स्पष्टं चेदं रसरूपेण काव्यप्रकाशे । तत्र हि 'रामोऽयमिति बुद्ध्या
गृहीते नटे' इत्याद्युक्तम् । काकतालीयं कान्तामेलनादिकम् । अत्र काक इव तालमिवेति
विग्रहे 'समासाच्च-' इति च्छः । तत्र पूर्वपदसुपमानकाकागमनपरमुत्तरपदं तूक्तपूर्वपदार्थ-
समानाधिकरणोपमानतालपतनपरम् । उत्तरपदार्थे पूर्वपदार्थस्य नान्तर्भावः । सामाना-
धिकरण्यं पूर्वपदार्थप्रतियोगिकमिति बोधप्रायपरं तथोक्तिरतो न नैराकाङ्क्ष्यं काकागमन-
रूपपूर्वपदार्थस्योत्तरपदार्थैकदेशसामानाधिकरण्येन प्रतियोगित्वसंबन्धः । सामानाधिकरण्य-
घटितसंबन्धो धर्मिणि वा । अत एव सामर्थ्यसत्त्वात् समासोपपत्तिः । उत्तरपदमपि
स्वार्थसमवेतपतनादिमात्रपरं न तु सामानाधिकरणस्यापि तदर्थेऽन्तर्भावः । पूर्वपदोत्तर-
पदार्थयोः सामानाधिकरण्यरूपसंबन्धसंभवात् सामर्थ्योपपत्तेरिति तु न युक्तम् । सामाना-
धिकरण्यस्य संबन्धत्वाभावात् । अत एव चैत्रस्य भ्रातेत्यादौ षष्ठ्यर्थसंबन्धो न संभ-
वति । एकोदरशाथित्वस्य तथात्वे पान्थयोरैकदेशे रात्राबुधितयोरपि संबन्धः स्यात् ।
तथा च तन्नापि यज्ञदत्तस्य देवदत्त इति प्रयोगः स्यादित्याशङ्क्य काल्पनिकोऽवयवाव-

ति संज्ञायाम्' 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यादिकं संगृह्यते । वृत्तिमात्रे-
ऽतिरिक्तशक्तेः 'समर्थः पदविधिः' इति सूत्राद्धाभादुक्तो विचारः शास्त्रान्तरीयैः

यविभावः प्रष्टव्य इति समाहितम् 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः ।
पान्थयोस्तु न तादृशसंबन्धकल्पना तादृशप्रयोगाभावात् । एतेनात एव ज्ञापकादसाम-
र्थ्येऽपि समास इति निरस्तम् । उक्तरीत्या सामर्थ्यसंभवात् । काकतालमिति समुदाय
उपमेयपरः । एवं चोपमानकाकागमनसमानाधिकरणोपमानतालपतनाभिन्नं कान्तागमन-
समानाधिकरणो देवदत्तसमागम इति समासजन्यो बोधः । विशिष्टयोरुपमेयोपमानभाव-
बोधे विशेषणयोर्विशेष्ययोश्च स पर्यवस्यति । तत्तदुपमेयवाचकसमभिव्याहारो न्यायसकः ।
ततस्तद्धिते सति समासार्थो यदुपमानं काकागमनसमानाधिकरणतालनिपतनं तत्प्रयोज्यो-
पमानभूतकाककर्तृकदलिततालफलोपभोगाभिन्नः समासार्थो यदुपमेयं कान्तागमनसमा-
नाधिकरणदेवदत्तसमागमरूपं तत्प्रयोज्यो देवदत्तकर्तृकः कान्तासंभोग इति बोधः ।
उभयत्राप्युपमानोपमेययोः सादृश्यमूलकोऽभेदोऽव्यवसितः । घनश्याम इत्यत्र यथा
घनश्यामपदार्थश्रीकृष्णयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः समुदायशक्तिगम्यः । अन्ये तु पूर्वपदं
काकागमनसदृशलाक्षणिकम् । उत्तरपदं च काकागमनसमानाधिकरणतालपतनसदृश-
लाक्षणिकम् । लक्ष्यार्थयोश्च सामानाधिकरण्यं संबन्धः । पूर्वपदमेव वा काकागमनसदृश-
समानाधिकरणलाक्षणिकम् । एवं च तयोरभेद एव संबन्धः । काकागमनसदृशसमाना-
धिकरणं काकागमनसमानाधिकरणतालपतनसदृशमिति समासजन्यो बोधः । तत इवार्थे
छः । छप्रत्ययान्तवृत्तिविषये काकतालशब्दस्य काकतालसमागमप्रयोज्ये निरूढलक्षणा ।
प्रयोज्ये निरूढलक्षणा । प्रयोज्यं च क्वचित् काककृततालफलोपभोगरूपं क्वचित्तालकृत-
काकवधरूपप्रयोज्यस्य सादृश्ये प्रतियोगित्वेनान्वयः । काकतालसमागमप्रयोज्यसदृशो
देवदत्तकर्तृकः कान्तासंभोग इति बोधः । उपमानोपमेयभावश्चाकस्मादुपनतत्वेनोपमेय-
वाचकतत्त्वपदसमभिव्याहारेण । उपमानतावच्छेदकतादृशकाककृततालफलोपभोगबन्ध-
त्वादिरूपेणाबोधाच्छप्रत्ययोपमायामुपमानलोपमालंकारिकाः स्वीकुर्वन्ति । वाक्यलक्षणा-
नङ्गीकारे तु तालशब्दस्यैवोक्तप्रयोज्ये निरूढलक्षणेतरत् पूर्ववदित्याहुः । एवमन्यत्राप्यु-
ह्यम् । विस्तरस्तु मञ्जुषादितोऽनुसंधेय इत्यलं विस्तरेण । समर्थः पदविधिरिति
सूत्रादिति । तत्संबन्ध्यपत्यमित्यर्थे प्रत्यय इति तस्यापत्यमित्यादेरर्थो वल्लभमुपगौरपत्यं
चैत्रस्येत्यर्थविवक्षायामुपगुशब्दात् प्रत्ययाप्राप्तावपि ऋद्वस्यौपगवो वज्रधर ऐन्द्र इत्यादि-

सह तद्वीत्यैवोक्तः । आरोपितप्रकृतिप्रत्ययार्थमादाय वा । वस्तुतो विशिष्टशक्त्यै-
वार्थोपस्थितेरित्याह । वस्तुत इति ॥ ५३ ॥

इति^१ वैयकरणभूषणसारे देवताप्रत्ययार्थनिर्णयः ॥

प्रयोगवारणाय समर्थपरिभाषोपस्थितिस्तद्वितेऽप्यावश्यकीति भावः । विशिष्टशक्त्यै-
वेति तत्तत्प्रकृत्यर्थतत्संबन्धविशिष्टे समुदायशक्त्यैवेत्यर्थः ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणव्याख्याने कालोपनामकहरिरामशर्मविरचिते

तद्वितप्रत्ययार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

१. P. has इति रङ्गोजिमट्टात्मजकौण्डभट्टविरचिते. २. D. and D₁ have भूषणसारे
for वैयकरणभूषणसारे. ३. यौगिकार्थनिर्णयः for देवताप्रत्ययार्थः A., D₂, D₃.

वृत्तिप्रसङ्गात् तत्राभेदैकत्वसंख्या प्रतीयत इति सिद्धान्तं दृष्टान्तेनोप-
पादयति—

अभेदैकत्वसंख्याया वृत्तौ भानमिति स्थितिः ।

कपिञ्जलालम्भवाक्ये त्रित्वं न्यायाद्यथोच्यते ॥ ५४ ॥

संख्याविशेषाणामविभागेन सत्त्वमभेदैकत्वसंख्या । उक्तं च वाक्यपदीये—

‘यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः ।

अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः ॥’

इति । परित्यक्तविशेषं वा संख्यासामान्यं तत् । उक्तं च

‘भेदानां वा परित्यागात् संख्यात्मा स तथाविधः ।

व्यापाराजातिभागस्य भेदापोहेन वर्तते ॥

अगृहीतविशेषेण यथा रूपेण रूपवान् ।

प्रख्यायते न शुक्लादिभेदापोहस्तु गम्यते ॥’

इति । अस्या वृत्तौ समासादौ भानं न्यायसिद्धमिति शेषः । इति मतस्थिति-
वैयाकरणानाम् । अयं भावः—राजपुरुष इत्यादौ राज्ञो राज्ञो राज्ञां वायं पुरुष
इति जिज्ञासा जायते । विशेषजिज्ञासा च सामान्यज्ञानपूर्विकेति सामान्य-

अविभागेनेति । संख्यात्वेन रूपेण सर्वसंख्याभानमित्यर्थः । परित्यक्तविशेष-
मिति । अस्मिन् पक्षे संख्यात्वेन संख्यासामान्यस्यैव भानं न विशेषस्येति पूर्वस्मा-
द्विशेषः । यद्यपि विशेषानालिङ्गितसामान्यासत्त्वादिदमसंभवि तथापि वन्ध्यासुतो राहोः
शिर इतिवद्विकल्पात्मकस्य संभवान्न दोषः । तदुक्तम् ।

‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि’

इति । मतद्वयेऽपि राजपुरुष इत्यत्र संख्यावद्राजसंबन्धीति बोधः । जातिभागस्य
संख्यात्वस्य । व्यापारस्तेनैव रूपेण भानम् । भेदापोहेन भेदरूपो योज्योहोस्तद्व्यावृत्तिस्तेन
वर्तते । तेन रूपेण भासत इत्यर्थः । अतद्व्यावृत्तिरेव जातितात्पर्यम् । अगृहीतेति ।
यथा दूराद्रूपत्वेन रूपं गृह्यते न तु शुक्लत्वादिना तथा संख्यात्वेन सामान्यमेव भासत
इति यथाकथंचिद् दृष्टान्तः । न शुक्लादिरित्यस्य शुक्लत्वादिनेति शेषः । अत एव
रूपत्वेन रूपेण तद्वानेऽपि नासंगतिः । यद्वा शुक्लादिरित्यस्य शुक्लत्वादिविशिष्ट इत्यर्थः ।
इतिनाच्याहारापेक्षा पूर्वसंख्याविशेषानुगतं भेदापोहरूपं सदित्युक्तम् । इदानीं समस्त-

रूपेण तत्प्रतीतिः शब्दादावश्यकी । अतस्तस्यां शक्तिरिति । तस्या एकत्वेन प्रतीतौ न्यायमाह—कपिञ्जलेति गणनायां त्रित्वस्यैव प्रथमोपस्थितत्वात् तद्रूपेणैव भानवदेकत्वस्य सर्वतः प्रथमोपस्थितत्वमस्तीति भावः । वस्तुतस्तु जिज्ञासैव नानुभवसिद्धा । तथात्वे वा ज्ञानेच्छयोः समानप्रकारकत्वेन हेतुहेतुमद्भावात् । तत्तद्रूपेणैव वाच्यता स्यादिति ध्येयम् ॥ ५४ ॥

इति वैयाकरणभूषणसारेऽभेदैकत्वसंख्याया निरूपणं समाप्तम् ॥

भेदसंसर्गरूपं तदिति विशेषः । तस्याः अभेदैकत्वरूपसंख्यायाः विगलितमेवायाः संख्याया अभेदैकत्वसंख्याशब्देन व्यवहारः । तस्या एकत्वेन प्रतीतिरिति मतान्तरमाह—तस्या इति । एकत्वेन एकत्वत्वेन । कपिञ्जलेतीति । ‘कपिञ्जलालभेत’ इत्यत्र बहुवचनेन त्रय एव प्रतिपाद्यं गृह्यन्ते गणनायां प्रथमोपस्थितत्वात् । तथा प्रकृते अभेदैकत्वरूपमेकत्वमेकत्वेन भासत इत्यर्थः । तद्रूपेणेति । त्रित्वरूपेणैवेत्यर्थः । त्रित्वादिरूपमेव बहुत्वमित्यर्थः । अभेदैकत्वसंख्याया भानं वृत्तौ इति मतं दूषयति—वस्तुतस्त्विति । एकत्वत्वेन रूपेण तद्भानमत्यन्तानुचितमेव किं तु संख्यात्वेन । अन्यथा राजपुरुष इत्यादावुक्तजिज्ञासानापत्तेः । इष्टापत्तिस्तु न वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति न्यायापातात् । राजपुरुष इत्यादौ तत्तत्पदार्थतावच्छेदकरूपेण एकानेकव्यक्तिवृत्तौ भासते न तु संख्यावत्त्वेनेति नव्यमतं समासप्रकरण उक्तम् । ब्राह्मणादिशब्दादिशेषधर्मप्रकारकजिज्ञासोदयेऽपि न तस्य तच्छब्दवाच्यतानङ्गीकारादिदमस्य गतमिति वाच्यम् । तत्र विषमे न जिज्ञासोदयः । अत्र नियमेन तदुदयः एवं च तदुपस्थापकान्तरासत्त्वे तदुपस्थितये वाच्यता स्यादित्याशयाद्वस्तुतस्तादृशजिज्ञासाभावे एव निर्भरो नात्र दूषणे इति बोध्यम् । विस्तस्तु बृहद्दूषणादावनुसंधेयः ॥ ५४ ॥

इति वैयाकरणभूषणसारे व्याख्यानेऽभेदैकत्वसंख्यानिरूपणं समाप्तम् ॥

संख्याप्रसङ्गादुद्देश्यविधेययोः संख्याविवक्षाविवक्षे निरूपयति—

लक्ष्यानुरोधात् संख्यायास्तन्त्रातन्त्रे मते यतः ।

पथेकत्वादिहेतूनामाश्रयणमनाकरम् ॥ ५५ ॥

ग्रहं समार्थीत्यत्रोद्देश्यग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमिति वच्चास्माकमुद्देश्यविशेषण-
विवक्षानियमः । धातोरित्येकत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

‘उत्पद्येत समस्तेभ्यो धातुभ्यः प्रत्ययो यदि ।

तदा सर्वैर्विशिष्येत द्वन्द्वोत्पन्नसुबर्थवत् ॥

इति शब्दान्तराधिकरणे भट्टपादैरभिधानाच्च । ‘आर्धधातुकस्येड् वलादेः’
इत्यत्रानुवाचार्धधातुकविशेषणस्य वलादित्वस्य विवक्षितत्वाच्च । एवं पशुना
यजेतेतिवद्विधेयविशेषणं विवक्षितमित्यपि न । ‘रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य
च दः’ इत्यत्र नकारद्वयविधानानापत्तेः । तथा च भिन्न इत्यत्र नकारद्वयलाभो

ग्रहं समार्थीति । ग्रहं समार्थीत्यादौ ग्रहान् वाक्यान्तरविहितानुद्दिश्य समार्गोऽभि-
धीयते । तत्रोद्देश्यगतं विशेषणमविवक्षितमिति सर्वग्रहसमार्गसिद्धिरिति मीमांसकसिद्धान्तः ।
स वैयाकरणैर्नाश्रयितुं शक्यते । धातोरित्यादौ व्यभिचारादित्यर्थः । तत्रैकत्वाविवक्षायां
धातुसमुदायादपि प्रत्ययापत्तिरिति भावः । धातोरित्यत्रैकत्वविवक्षा मीमांसावार्तिककृता-
मपि संमतेत्याह—उत्पद्येतेति । द्वन्द्वोत्पन्नेति । द्वन्द्वसमासादुत्पन्नसुबर्थसंख्यादिना
यथा सर्वे द्वन्द्वघटकपदार्था विश्लेष्यन्ते एवं धातुसमुदायाद्यदि प्रत्यय उत्पद्येत तदा
तावन्तो धात्वर्थाः प्रत्ययार्थेन संबध्येरन्नित्यर्थः । इदमुपलक्षणम् । समुदायस्याङ्ग-
संज्ञायामडादिकं तस्य स्यादित्यपि बोध्यम् । ननूक्तबाधकबलेन प्रत्ययोपात्तानुवाद्यवि-
वक्षायामपि प्रातिपदिकोपात्तस्य तस्याविशेषणविवक्षा बाधकाभावात् स्यादित्याशङ्कं निर-
स्यति—आर्धधातुकस्येति । लाभो न स्यादिति । न च वाक्यभेदालाभः ।
तथा सति गौरवापत्तेः । एवमेव च कारणे लाघवातिशयाच्च । पशुना यजेतेति
वदिति । यथा वाक्यान्तरेण प्राप्तं यागमनूय पशोर्विधानात् पशुगतमेकत्वं विवक्षितमत
एव तत्रानेकपशुकरणकयागानुष्ठानान्नादृष्टसिद्धिरेवं विधेयगतं विशेषणं विवक्षितमेवेति
नियमो मीमांसायां स्थितः । सोऽपि शाब्दिकमते नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—
रदाभ्यामिति । ननु तत्र चकारकरणाद्वाक्यभेद एव सूत्रकृतोऽभिमत इति लभ्यते

१. संख्या च तन्वा° D., D₃. २. ग्रहं D₃, D₃. ३. °ग्रहं D₃, D₃. ४. °विधानापत्तेः A.

न स्यात् । 'आद्रुणः' इत्यादावेकत्वविवक्षयैवोपपत्तौ 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यत्रैक-
ग्रहणवैयर्थ्यापत्तेश्चेति भावः । शब्दार्थस्तु संख्याया लक्ष्यानुरोधात् तन्त्रातन्त्रे
यतो मते अतः पश्चेकत्वाधिकरणोक्तहेतूनामाश्रयणं नास्मत्सिद्धान्तसिद्धमिति ।
आदिना ग्रहैकत्वसंग्रहः ॥ ५५ ॥

इति नकारद्वयलामो निराबाध एवेत्यत आह-आद्रुण इत्यादाविति । वैयर्थ्या-
पत्तेरिति । यदि विधेयविशेषणं नियमेन विवक्षितं स्यात् तदा पूर्वपरयोः स्थानिनेरे-
कस्यैव गुणाद्यादेशस्य सिद्ध्या एकग्रहणवैयर्थ्यं स्पष्टम् । तस्मात् पाणिनेर्विवक्षैवेति नियमो
नाभिमत इति भावः । एवमविवक्षैवेत्यपि न नियमः । 'उपेयिवान्-' इत्यत्र सूत्र उपे-
त्यस्याविवक्षाया नञ्प्रभृतेष्व विवक्षाया दर्शनादित्यपि बोध्यम् । तन्त्रातन्त्रे विव-
क्षाविवक्षे । प्रतिपादनेच्छा विवक्षा । संख्या विवक्षाविवक्षयोर्हेतुः । लक्ष्यानुरोधा-
दिति । पश्चेकत्वाधिकरणेति । तत्र हि समानप्रत्ययोपात्तत्वप्रत्यासत्त्या विभक्त्यर्थे
संख्यायास्तको याग इति बोधादर्थकारके एवान्वयः । तत्रारुणाधिकरणन्यायेन विभक्त्य-
र्थस्य प्रथमतः क्रियान्वयः पश्चात् प्रकृत्यर्थेन । इत्थं च पश्चेकत्वोभयकरणको याग इति
बोधः । किं गतमेकत्वमित्येकत्वस्याश्रयाकाङ्क्षायामेकः पशुरिति पाष्णिनो मानसो बोध
इत्युक्तम् । ग्रहैकत्वविवक्षायां समागोद्देशेन ग्रहैकत्वयोर्विधाने वाक्यभेदापत्तिः । तथाहि
प्राजापत्या नव ग्रहा इत्यादिवाक्यविहितग्रहानुवादेन समागोर्विधाने ग्रहं समाधिं न
चैकमिति वचनव्यक्तौ वाक्यभेदः स्पष्ट एव । उक्तं हि वाक्यपदीये-

'ग्रहास्त्वन्यत्र विहिता भिन्नसंख्याः पृथक् पृथक् ।

प्राजापत्या नवेत्येवमादिभेदसमन्विताः ॥

अङ्गत्वेन प्रतीतानां समागौ त्वङ्गिनां पुनः ।

निर्देशं प्रति या संख्या सा कथं स्याद्विवक्षिता ॥ '

इति । परे तु उत्पत्तिवाक्ये नवत्वादिसंख्याश्रवणाद्विधेयगतत्वेन नवादिशब्दोपात्तत्वेन
तस्याः संख्याया विवक्षणात् तत्संख्यावैशिष्ट्येनैवानुभूतग्रहाणां ग्रहराब्देन तत्त्वात् संख्या-
विशिष्टानामेव स्मृतौ तेषु विभक्त्यैकत्वबोधने उपक्रमस्थसंख्याबाधलक्षणो वा भेदः
स्यात् । मीमांसकोक्तवाक्यभेदश्चायमेवेति स्पष्टमेतद्धारिकारिकाव्याख्याने हेलाराजीये ।
यद्वोत्पत्तिवाक्यगतसंख्ययैतद्वाक्यगतसंख्याया विरोधाद्वाक्यद्वयस्य भेदापत्तिः । न च
ग्रहानुवादेन समागौ विधेयः । संयुज्यमानग्रहानुवादेनैकत्वं विधीयतामिति वाच्यम् ।
एकपदोपस्थापितयोरुद्देश्यविधेयभावेनान्वयासंभवात् । समागोस्त्योद्देश्यकोटौ प्रवेशासंभ-
वाच्च । वाक्यभेदादवस्थ्याच्चेत्याहुः ॥ ५५ ॥

ननु विधेयविशेषणविवक्षावश्यकी । अन्यथानन्तनकाराद्यापत्तेर्भिन्नमित्यत्र नकारद्वयवदन्येषामप्यापत्तेः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यत्रैकग्रहणं च स्थानिभेदादादेशभेदवारणायेत्याभिप्रेत्याह—

विधेये भेदकं तन्त्रमन्यतो नियमो न हि ।

ग्रहैकत्वादिहेतूनामाश्रयणमनाकरम् ॥ ५६ ॥

भेदकं विशेषणं तन्त्रं विवक्षितं विधेयविशेषणं विवक्षितमित्यस्तु । तथाप्यन्यतः अनुवाद्यस्य नियमो न हि । क्वचित् तन्त्रं क्वचिन्नेत्यर्थः । ग्रहैकत्वादौ यो हेतुर्वाक्यभेदादिस्तस्यात्राश्रयणमनाकरम् । एकत्वविशिष्टं धातुं वलादित्वविशिष्टमार्धधातुकं चोद्दिश्य प्रत्ययेडागमादेर्विधिसंभवादिति भावः ॥ ५६ ॥

अनन्तयकाराद्यापत्तेरिति । सुध्युपास्य इत्यादौ 'इको यणचि' इति सूत्रेणानन्तयकारादिकं स्यादित्यर्थः । पूर्वोक्तामेकग्रहणवैयर्थ्यापत्तिमुद्धरति । 'एकः पूर्वैति । आदेशभेदेति । इदं सूत्रकाराशयवर्णनमात्रम् । वस्तुतस्त्वनयोः फलयोः कटं कुर्वित्यत्र द्वित्वविशिष्टफलसंबन्धकेकटकरणप्रतीतिरिव पूर्वपरयोरिति द्वन्द्वनिर्देशेनोभयोः स्थाने एकवाक्यतयैकगुणादिविधानान्नानेकगुणादिप्रसङ्गः । विधेयगतसंख्याया अविवक्षायां हेत्वभावादिति प्रत्याख्यातमेव 'एकः पूर्वपरयोः' इति सूत्रभाष्ये विस्तरेणेति स्पष्टं भाष्यकैयटादिग्रन्थविदाम् । वाक्यभेदादिरिति । वाक्यभेदस्तु वर्णितः । आदिपदेन ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्य संस्कार्यत्वलक्षणं प्राधान्यं प्रतीयते । एवं च प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिरिति न्यायेन विनिगमनाभावेन च सोमावसेकनिरसनप्रयोजनकसंमार्गस्य सकलग्रहैरपेक्षणाच्च सर्वत्र संमार्गसिद्ध्या विवक्षाफलाभावरूपहेतुपरिग्रहः । पश्चादिविशेषणवत् । क्रियाङ्गत्वाभावेन तद्वैकल्पप्रयुक्तक्रियावैकल्पप्रसक्तिरपि नेति भावः । जैमिन्याचार्येणापि 'एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्' इति पूर्वपक्षानन्तरं 'सर्वेषां लक्षणत्वादविशिष्टं लक्षणम्' इति सिद्धान्तसूत्रं व्यरचि । तदर्थस्तु सर्वेषां संमार्गकार्यः ग्रहत्वजातैर्द्रव्यलक्षणत्वाद्व्यवबोधकत्वाद्व्यव्यलक्षणं द्रव्यबोधनं यत इति शब्देन बोध्यमानजात्या व्यक्तिराक्षिप्यत इत्यविशेषात् सर्वव्यक्तिबोधनमिति पर्यवसितोऽर्थः । अनाकरम् । आकरग्रन्थासिद्धं तद्विरुद्धं वा । ननु ग्रहैकत्ववद्भातोऽस्त्यत्रैकत्वस्य 'आर्धधातुकस्येडुलदेः' इत्यादौ वलादित्वादेरप्यविवक्षा स्यादित्याशङ्क्याह—एकत्वविशिष्टमिति । चोद्दिश्येति । तथा च तत्रैकत्वादिति विशिष्टानुवादसामर्थ्यादेकत्वा-

१. D₁ has अन्यथा सुध्युपास्य इत्यादावनन्तयकाराद्यापत्तेः भिन्न इत्यत्र &c.; Com. also.
२. भिन्न इत्यत्र D₃. ३. गृहै° D₃. ४. गृहै° D₃.

नन्वेवं भिन्न इत्यत्र नकाराद्वयलाभो न स्यादित्यत आह—

रदाभ्यां वाक्यभेदेन नकारद्वयलाभतः ।

क्षतिर्नैवास्ति तन्त्रत्वे विधेये भेदकस्य तु ॥ ५७ ॥

विवक्षासंभव इति भावः । नन्वेकत्वविवक्षायामेकस्मादेव धातोः प्रत्ययः स्यान्न तु धात्वन्तरादिति चेन्न । सर्वेषां प्रत्येकमेकत्वाद्विनिगमनाविरहेण व्यक्त्यन्तरेभ्योऽपि प्रत्ययोत्पत्तिसिद्धिसंभव इत्याशयात् उक्तरीत्या प्रहेकत्वविवक्षाया यथा संभवस्तथोक्तम् । परे तु धातुत्वपर्याप्त्याधिकरणात् प्रत्यय इत्यर्थेनैवेष्टसिद्धिसंभवे एकत्वविवक्षाया न प्रयोजनम् । किं चैवमेकस्मादेव कस्माच्चिद्धातोरेव प्रत्ययः स्यान्न धात्वन्तरात् । सर्वेषा-
मित्यादिकं तु न युक्तम् । तथा सत्येकं ब्राह्मणं भोजयेदित्यादावप्यनेकब्राह्मणभोजनापत्ते-
रित्याहुः । विस्तरतु समर्थसूत्रादिस्थविवरणादावनुसंधेयः । ननु विधेयगतसंख्यावि-
वक्षायां किं मानमिति चेदत्राहुर्मीमांसकाः । संख्यायाः समानप्रत्ययोपात्तत्वप्रत्यासत्त्या
कारके एवान्वयः न तु प्रकृत्यर्थे विभक्त्यर्थस्य चारुणाधिकरणन्यायेन क्रियाविशेषणत्वम् ।
एवं च पक्षेकत्वोभयकरणको याग इति बोधः । एकः पशुरिति तु पार्णिक्तो मानसः सः ।
एवं चैकत्वस्य शब्देनैवायागाङ्गत्ववगमात् तद्विवक्षावश्यकीति तदपरे न क्षमन्ते ।
यतः प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थे एवान्वये साधुत्वं न त्वन्यत्रान्वये । किं च स्वादिसूत्रस्य
'कर्मणि द्वितीया' इत्यादिभिः 'द्वयेकयोः—' इत्यादिभिश्चैकवाक्यत्वे एकस्मिन्
कर्मणि द्वितीयैकवचनमित्याद्यर्थेऽन्यत्रैकत्वस्यान्वयेऽसाधुत्वं स्पष्टमेव । अपि च भिन्न-
पदोपात्तक्रियान्वयापेक्षया समानपदोपात्तत्वेन प्रकृत्यर्थे एवान्वयस्योचित्यं तदन्वितस्यैव
क्रियाकाङ्क्षादर्शनात् । ननु 'स्वौजसमौट्—' इत्याद्युक्तसूत्रत्रयस्यैकवाक्यत्वेऽपि नैक-
त्वादेः कर्मादौ विशेषणत्वमुचितं किं तु विधेयतया प्रधाने एव गुणानां च परार्थत्वा-
दिति न्यायाच्च प्रातिपदिकात् कर्मणि एकत्वे च द्वितीयैकवचनमित्याद्याकारक एव
वाक्यार्थबोधो न तदाकार इति कर्मत्वस्य कारकान्वये न किञ्चिद्वाधकमिति चेन्न ।
एवमपि प्रत्यासत्तिन्यायेन परस्परसंबद्धार्यबोध एव तत्तदनुशासनेन तयोः साधुत्वबोधनं
विभक्त्यर्थस्य च प्रकृत्यर्थे विशेषणत्वमेवेति स्थितं मञ्जुषादौ । तस्मात् पशुनेत्यादा-
वेकत्वविशिष्टपशुविधानादेकत्वविवक्षेति युक्तं विशिष्टविधानादेव वाक्यभेदाप्रसक्तेः ।
विशिष्टस्य श्रुत्याङ्गत्वबोधनात् पशुत्वादिविशेषणवैकल्ये द्वैकत्ववैकल्येऽपि विशिष्टाननु-
ष्ठानाद्यागवैगुण्यमपि सिद्धम् । जैमिनिनापि 'तत्रैकत्वमयशाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात्'
इति पूर्वपक्षे 'शब्दवदुपलभ्यते दत्तागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषाम्' इति सिद्धान्त-
सूत्रं प्रणीतम् । शब्दवत् शब्दबोध्यं यथा भवति तथोपलभ्यते । एकत्वं हि यतस्त-

चकारसूचितं निष्ठातस्य नः पूर्वस्य दंकारस्य च न इति वाक्यभेदमादाय नकार-
द्वयलाभ इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

इति वैयाकरणभूषणसारे संख्याविवक्षानिर्णयः समाप्तः ॥

दागमे दृश्यते तस्याहत्वज्ञानं यथान्येषां विशेषणानां शब्दोपस्थितानां पशुत्वलौहित्यादी-
नामिति तदर्थः । एवं च जैमिनेरपि संख्याविशिष्टबोध एव तात्पर्यम् । हरिरप्याह—

‘यजेत पशुनेत्यत्र संस्कारस्यापि संभवे ।

यथा जातिस्तथैकत्वं साधनत्वेन गम्यते ॥’

इति । न केवला प्रकृतिरिति न्यायाद्विभक्तेः शब्दसंस्कारार्थत्वसंभवेऽपि जातेरिव तस्याः
क्रियासाधनत्वं विशिष्टस्यैवोपस्थितेरित्यर्थ इति हेलाराजः । अपि च संख्याया अमू-
र्तत्वात् साक्षात् क्रियासाधनत्वासंभवात् परस्परया क्रियान्वयः । तत्साधनत्वकल्पनापे-
क्षयोक्तयुक्तिभिः प्रकृत्यर्थान्वयस्यैव कल्पनोचिता । आरुण्यस्य तु प्रकृत्यर्थतयागत्या
परंपरया क्रियाकरणत्वमुचितम् । एवं च विधेयविशेषणं सर्वं विवक्षितम् । अविवक्षा-
निमित्तविरहात् । किं चैकेनैव पशुना यागसिद्धौ पश्वन्तरालम्भनं व्यर्थं तथापि मध्ये पश्व-
न्तरालम्भने प्रयोगविध्यवगतप्रयोगप्राशुभावबाधः स्यात् । उक्तं हि वाक्यपदीये—

‘प्रत्याश्रयं समाप्तायां जातावेकेन चेत्क्रिया ।

पशुना न प्रकल्पेत न स्यादेतत्प्रकल्पना ॥

एकेन तु प्रसिद्धायां क्रियायां यदि संभवात् ।

पश्वन्तरमुपादेयमुपादानमनर्थकम् ॥

यथैवाहितगर्भायां गर्भाधानमनर्थकम् ।

तथैकेन प्रसिद्धायां पश्वन्तरमनर्थकम् ॥’

इति विधेयगतसंख्याविवक्षां वर्णयन्तीत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारव्याख्याने संख्याविवक्षानिरूपणं समाप्तम् ॥

क्त्वाप्रत्ययादेरर्थं निरूपयति—

अव्ययकृत इत्युक्तेः प्रकृत्यर्थे तुमादयः ।

समानकर्तृकत्वादि द्योत्यमेषामिति स्थितिः ॥ ५८ ॥

तुमादयस्तुमुनादयः । प्रकृत्यर्थे भावे । आदिना क्त्वादेः संग्रहः । भाव इत्यत्र मानमाह । अव्ययकृत इति । 'अव्ययकृतो भावे' इति वार्तिकादित्यर्थः । ननु 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इत्यादिसूत्राणां का गतिस्तत्राह । समानकर्तृकत्वादीति । अयं भावः । भोक्तुं पचति भुक्त्वा व्रजतीत्यादावेकवाक्यता सर्वसिद्धा भोजनपाकक्रिययोर्विशेषणविशेष्यभावमन्तरेणानुपपन्ना । अन्यथा भुङ्क्ते व्रजतीत्यादाव-

क्त्वाप्रत्ययादेरिति । यद्यपि मूले तुमादय इत्युक्तं तथापि क्त्वाप्रत्यये बहुवक्तव्यत्वेन प्राधान्यद्योतनाय क्त्वाप्रत्ययादेरित्युक्तम् । वार्तिकादित्यर्थ इति । भाष्यकाराः 'तुमर्थे—' इति सूत्रे तुमर्थो भाव इति व्यवस्थाप्याग्रे तुमर्थ इत्यस्यानुवृत्तिमभ्युपगम्य 'अव्ययकृतो भावे' इति प्रत्याचक्षाणाः परं तु क्त्वातुमुनादेरसत्त्वभूत एव भावोऽर्थः पाक इत्यादाविव लिङ्गसंख्याननुभवात् । तथा च धात्वर्थानुवादक एव तुमुनादिरिति पर्यवसितम् । क्त्वादिभाव एवाभ्युपेयते । का गतिरिति । क्त्वाप्रत्ययस्य भावमात्रार्थकत्वाङ्गीकारे समानकर्तृकत्वादेस्तदर्थत्वासंभवात् तदुपादानवैयर्थ्यापत्तिरतस्तत्क्रियाकर्तृत्वाश्रयः क्त्वाप्रत्ययार्थो वाच्यः । अत एव रोटिकाः पक्त्वाहं भोक्ष्ये इत्यत्रास्मच्छब्दात् तृतीया न । क्त्वाप्रत्ययेन पाककर्तुरभिधानात् । पाककर्तुर्भोजनादौ स्वनिष्ठकर्तृतानिरूपकतासंबन्धेनान्वयात् समानकर्तृकत्वलाभः । अथवा कर्तृकत्वं तदर्थोऽस्त्वित्याशयेनायं प्रश्नः । समानकर्तृकत्वादेर्योत्यत्वं व्यर्थं तस्य प्रकृत्यर्थे विशेषणत्वस्य विशेष्यत्वस्य चाननुभवात् । समानकर्तृकत्वादिकं तु वस्तुसत् क्त्वादेः साधुत्वनियामकं स्यादत आह—अयं भाव इति । अयं वक्ष्यमाणः । सर्वसिद्धा । सर्वानुभवसिद्धा । अन्यथा विशेषणविशेष्यभावमन्तराप्येकवाक्यत्वे । भुङ्क्ते व्रजतीति । एककर्तृका वर्तमानकालिकी भुजिक्रिया एककर्तृका वर्तमानकालिकी व्रजनक्रियेति क्रियाद्वयमुख्यविशेष्यताको बोधोऽनुभवसिद्धो न तु तत्रैकमुख्यविशेष्यताशालित्वरूपमेकवाक्यत्वमनुभवसिद्धम् । मुक्त्वा व्रजतीत्यत्रापि भोजनमेककर्तृकं व्रजनं चेति समूहालम्बनात्मकबोधाङ्गीकारे एकवाक्यत्वानुपपत्तिः । कर्तृवर्चाच्यत्वाङ्गीकारे भोजनकर्तुः क्त्वावस्थ्याख्यातार्थकर्तृत्वमदान्वयसंभवेन पचति भवतीतिवदेकवाक्यता यद्यपि संभवति चैत्रेण भुक्त्वा गम्यते इत्यत्रापि भोजनकर्त्रमिन्नचैत्रकर्तृगमनकर्मेति बोधाभ्युपगमात् । अत एव समान-

प्येकवाक्यतापत्तेः । तथा च तयोर्विशेषणविशेष्यभावनिरूपकः संसर्गो जन्यत्वं सामानाधिकरण्यं पूर्वोत्तरभावो व्याप्यत्वं चेत्यादिरनेकविधः । तथा च भोक्तुं पचति भुक्त्वा तृप्त इत्यादौ भोजनजनिका पाकक्रिया भोजनजन्या तृप्तिरिति

कर्तृत्वघटकाभेदांशे न शक्तिः । निष्फलत्वात् । उक्तरीत्यापि तत्रैकवाक्यत्वसंभवे तथापि कर्तृत्वच्यत्वं सूत्रान्न लभ्यते इति ग्रन्थकृतैव वक्ष्यत इति संतोष्यम् । समान-कर्तृकत्वपूर्वोत्तरकालिकत्ववदन्यदपि संसर्गतया भासमानं क्त्वाद्योत्यं समानकर्तृकत्वयो-रित्यादेरुपलक्षणत्वादित्याशयेनाह-जन्यत्वमित्यादि । परे तु उपलक्षणत्वे माना-भावात् तन्मानान्तरगम्यत्वान्न क्त्वाद्योत्यमित्याहुः । भोजनजनिकेति । भुक्तं पचतीत्यत्र भोजनपचिक्रिययोर्जन्यजनकभावसंबन्धस्तुमुन्योत्यः । 'तुमुन्वुलौ क्रियायां क्रियार्थाम्' इत्युक्तेः । तादर्थ्यं च जन्यजनकभावरूपमिति भावः । तादर्थ्यवत् समानकर्तृकत्वमपि क्रिययोः संसर्गतया भासते शब्दशक्तिस्वभावादत एव विभिन्नकर्तृक-क्रियाद्वयतात्पर्यको भोक्तुं पचतीति न प्रयोगः । परे तुद्देश्यत्वनिरूपकत्वरूपं तादर्थ्यं तुमुनादित्योत्यं संसर्गतया भासते तच्च तदिच्छाधीनेच्छाविषयत्वम् । 'तुमुन्वु-गौ-इत्यत्र 'भविष्यति' इत्यनुवृत्तेर्भविष्यत्वमपि न द्योत्यम् । तथा च भवि-ष्यद्भोजनोद्देश्यको भोजनकर्तृकः पाक इति बोधः । तुमुंस्तु न कर्तरि । 'अव्यय-कृतो भावे' इत्युक्तेः । 'कर्तरि कृत्' इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः । अनिर्दिष्टार्थकेष्वे-तत्प्रवृत्तेः । एतेन तुमुनाख्यातार्थकत्रोः परस्परमभेदान्वयेनैव विभिन्नकर्तृकक्रिया-द्वयतात्पर्यकृतादृशप्रयोगापत्त्यभावेन समानकर्तृकत्वं न संबन्ध इत्यपास्तम् । भोक्तुं पच्यते भोक्तुं स्थीयत इत्यादौ तदसंभवाच्च । न च तत्रापि देवदत्तेनेत्यभ्याहारात् तृतीयार्थ-कर्तृभेदान्वयान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अध्याहारं विनापि वाक्यार्थबोधस्यानुभव-सिद्धत्वादिति दिक् । 'तुमुन्वुलौ-' इति सूत्रविहितो ण्वल् तु 'कर्तरि कृत्' इति कर्त-र्येव । संबन्धश्च क्रिययोः पूर्वोक्त एव । एवं च कृष्णं दर्शको यातीति वाक्यात् कृष्ण-कर्मकभविष्यदर्शनोद्देश्यकं दर्शनकर्तृकवर्तमानकालिकं यानमिति बोध इति वदन्ति । भुक्तं चेतत् । कृष्णदर्शनोद्देश्यकयानेन मार्गस्थजान्तरदर्शनोत्पादेऽपि जनं द्रष्टुं यातीति प्रयोगविरहात् । कृष्णं द्रष्टुं याति न यवनादिकमिति प्रयोगाच्च । अत एव नव्यतार्किकाः कर्तृकर्तृकत्वविशिष्टाधीनेच्छाविषयत्वस्य तुमुन्वाच्यतामनुमन्यन्ते । अत एव चतुर्थीकारके व्युत्पत्तिवादेऽत्र चाहर्तुमिति तुमुनन्तार्थः । स्वयमभिव्याहृतक्रियान्वयिस्त्वाप्रयोजनकत्वा-न्वयाहरणमित्युक्तम् । स्वार्थप्रयोजनकत्वस्य वाच्यतां विनान्वयीत्युक्तेरसंगतिः । अन्यथा तस्य इत्यनियामकतया तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया अप्रसिद्धया तच्चाविधप्रतियोगि-

ताकयवनादिगोचरदर्शनाभावस्य बोधयितुमशक्यत्वात् । उक्तसंबन्धेन यवनादिगोचरदर्श-
नविशिष्टगमनाश्रयत्वमवयवप्रथमान्तार्थो बोध्यत इति तु न । कृष्णं द्रष्टुं स्थीयते न यवनादि-
कमित्यादौ तदसंभवादिति दिक् । शाब्दिकनये तु सकलविशेषणविशिष्टमुल्यविशेष्यक्रियाया
एव सर्वत्र बोधस्वीकारान्नानुपपत्तिरिति ध्येयम् । भोक्तुमिच्छतीत्यादौ 'समानकर्तृकेषु-' इति
तुमुन् । इच्छार्थेषु तुमुन्प्रकृतिभूतधात्वर्थसमानकर्तृकार्यप्रातिपादकेषूपपदेषु धातोस्तुमु-
न्निति तदर्थः । क्रियार्थक्रियोपपदाभावार्थमिदम् । तुमुन्नर्थविषयित्वविशिष्टकर्तृकत्वसंबन्धेन
प्रकृत्यर्थस्येच्छायामन्वये तात्पर्यग्राहकस्तुमुन् । परमते तु तस्य तद्वाच्यं परकर्तृकभो-
जनेच्छायां भोक्तुमिच्छतीति प्रयोगवारणाय समानकर्तृकत्वस्यापि संबन्धमध्यनिवेशः ।
शक्नोति भोक्तुं धृष्णोति पठितुं जानाति पठितुमित्यादौ 'शकधृषहागलाघटरभलभक्रमसहार्हा-
स्त्यर्थेषु तुमुन्' इति तुमुन् । आद्ये सामर्थ्यापरपर्यायशक्तिरूपधात्वर्थे प्रकृत्यर्थस्य प्रयोजक-
त्वसंबन्धस्तुमुन्द्योत्यः । द्वितीये शङ्काराहित्यरूपप्रागल्भ्यघटकशङ्काया विषयित्वं संबन्धः
प्रयोजकत्वं बोक्तप्रागल्भ्यसंबन्धः । तृतीये विषयित्वं संबन्धः स्पष्ट एव । अत्रापि सर्वत्र
समानकर्तृकत्वमपि संबन्धे निवेद्यम् । अत्र यः संबन्धः स परमते तद्वाच्यः । अत्र
शक्नोतेरर्थे समभिव्याहृततत्तद्वात्वर्थोऽन्तर्भावनीयः । तथा हि गलाधःसंयोगानुकूलक्रि-
यायां व्यापारे शक्तौ च शक्नोतेर्द्युतिः । तत्र शक्तौ शक्त्याख्या इतरत्र लक्षणा । तत्र
तुमुन्प्रकृतिभुज्यादिस्तात्पर्यग्राहकः । एतादृशेऽर्थे द्युतिः कर्मप्रत्ययस्थले एव न तु कर्तृ-
प्रत्ययस्थले । प्रयोजनविरहात् । तत्र प्रयोज्यव्यापारजन्यगलाधःसंयोगानुकूलोदना-
श्रयिका क्रियेति बोधः । तार्किकनये तु तथाविधक्रियाश्रयतावानोदन इति बोधः ।
शक्तिश्च मीमांसकनये पदार्थान्तरं न्यायनये तत्कारणानुकूलासाधारणकारणकलापः ।
यथा प्रकृते प्रदीपजठरानलसंयोगादिः । अस्ति भवति विद्यते वा भोक्तुम् । अत्रात्ररूप-
प्रतीकसत्तायां जनकत्वसंबन्धेन तुमुन्प्रकृत्यर्थस्यान्वयः । शब्दसमर्थार्थसंभवरूपे वा-
स्त्याद्यर्थे विषयित्वसंबन्धेनान्वयः । पर्याप्तो भोक्तुं प्रवीणो भोक्तुं कुशलो भोक्तुम् ।
अत्र 'पर्याप्तवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन् । पर्याप्तिः पूर्णता तद्वाचिषु सामर्थ्यप्रति-
पादकेषूपपदेषु तुमुन् भवतीति तदर्थः । अत्र प्रयोजकत्वं विषयित्वं वा प्रकृत्यर्थस्य
कौशल्यादिनिष्ठं तुमुन्द्योत्यम् । पर्याप्तो भोक्तुमित्यादौ पर्याप्तादिशब्दः समर्थार्थः ।
अत्र प्रथमपदानुपादाने अलं भुक्त्वेत्यत्रातिप्रसङ्गः । अत्रालंशब्दोऽलं कंसं हन्तुं
कयूर इत्यत्र 'पर्याप्तवचन-' इति प्राप्तिः । द्वितीयपदानुपादाने पर्याप्तं भुङ्क्ते
इत्यत्रातिप्रसङ्गः । तदुपादाने तु नैव दोषः । अदनीयगतप्रभूतारूपपर्याप्तिरेव तत्र
गम्यमानत्वात् न तु सामर्थ्यस्येत्यलम् । कालः समयो वेला वा भोक्तुम् । अत्र
'कालसमयवेलास्तु तुमुन्' इति तुमुन् । अत्र कालनिष्ठो योग्यतालक्षणो भोजनस्य

बोधः । अत एव जलपानानन्तर्यस्य तृप्तौ सत्त्वेऽपि पीत्वा तृप्त इति न प्रयोगः ।
सामानाधिकरण्यस्यापि संसर्गत्वेनार्थात् समानकर्तृकत्वमपि लब्धम् । भुक्त्वा
व्रजतीत्यादौ पूर्वोत्तरभावः सामानाधिकरण्यं च संसर्ग इति भोजनसमानाधि-

संबन्धस्तुमुन्योत्यः । अत्र प्रैषादिग्रहणानुवर्तनात् प्रैषादिविवक्षायामेव तुमुन् नानुवादे
भूतानि कालः पचतीत्यादावित्यलमतिविस्तरेण । प्रकृतमनुसरामि । भुक्त्वा तृप्त इति
वाक्यजं बोधमाह-भोजनजन्येति । अयं भोजनजन्या या तृप्तिस्तदाश्रय इत्यर्थः ।
'गत्यार्थाकर्मक-' इति सूत्रेण कर्तरि क्तप्रत्ययविधानात् । नन्वानन्तर्यसमानकर्तृक-
त्वयोरेव तत्र संसर्गतया भानमस्तु किं गुरुशरीरजन्यत्वस्य संसर्गतया भानस्वीकारे-
णत्यत आह-अत एवेति । जन्यत्वस्य संसर्गतया भानस्वीकारादेवेत्यर्थः । न प्रयोग
इति । भोजनजन्यतृप्तौ जलपानजन्यत्वाभावादिति भावः । समानकर्तृकत्वमपीति ।
भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र व्रजने भोजनाधिकरणवृत्तित्वस्य भाने क्रिययोरधिकरणनिष्ठैक्यस्या-
प्यर्थसिद्धत्वात् सामानाधिकरण्यस्य तदैक्यं विनानुपपद्यमानत्वात् । 'मत्प्रसूतिमनाराध्य
व्रजेति त्वां दाशप सा' इत्यत्र स्थितस्येत्यध्याहारात् स्थितिक्रियासमानकर्तृकत्वादि-
कमस्तीति क्त्वाप्रत्ययस्य नानुपपत्तिः । पूर्वोत्तरभाव इति । पूर्वकालवृत्तित्वेऽपि
भुक्त्वा व्रजतीति प्रयोगापत्तिः । सामानाधिकरण्यस्य तथात्वानभ्युपगमे भिन्नकर्तृक-
तथाविधक्रियायुगलाभिप्रायेण तदापत्तिरित्युभयोः संसर्गत्वानुसरणम् । पूर्वोत्तरभावेऽव्य-
वधानांशोऽपि निवेश्यः । अन्यथा पूर्ववर्षोत्पन्नं श्वशुरगृहे भोजनमेतद्वर्षाधिकरणकं
व्रजनं चादाय श्वशुरगृहे भुक्त्वा व्रजतीति प्रयोगापत्तिः । नन्वेवं दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट
सोमेन यजेतेति वाक्ये न दर्शपूर्णमासोत्तरकालः सोमो विधीयते इति मीमांसकसिद्धान्ता-
संगतिः कालस्यावाच्यत्वादिति चेन्न । उत्तरकालत्वसंबन्धेन दर्शपूर्णमासवैशिष्ट्यं विधीयत
इत्यभ्युपगमेनाक्षतेः । तावतापि दर्शपूर्णमासाभ्यां प्राक् सोमानुष्ठाने प्रत्यवायसिद्धेः दर्शा-
दिकरणे सोमाकरणे च तत्सिद्धेः । प्रकृत्यर्थेति । प्रकृत्यर्थश्च क्रिया चेति द्वन्द्वः । अथवा
क्त्वाप्रत्ययस्य समभिव्याहृतप्रत्ययस्य च प्रकृतिर्ग्राहेति नासंगतिः । स्वशब्देनोपाप्तेति ।
इह कस्मान्न भवति पूर्वं भुङ्क्ते । अव्यवधानं तु तात्पर्यवशात् क्वचिद् दण्डेन क्वचिन्मुहूर्तेन
क्वचित् प्रहरादिना यथायथं ग्राह्यम् । दण्डादिना व्यवधानं च स्वप्रागभावाधिकरणदण्डा-
दिप्रागभावानधिकरणत्वं स्वं समभिव्याहृतव्रजनादिक्रियाविशेषः । भोजनोत्तरं दण्डोत्तरं
गमनस्थले तु भोजनाधिकरणक्षणादेस्तत्र व्रजनप्रागभावाधिकरणदण्डप्रागभावाधिकरण-
तया न तथाविधप्रयोगप्रसङ्गः । अथ भुक्त्वा श्वो गन्ता मार्गशीर्षे उद्वाह्य पौषे काशीं गत
इत्यादिस्थले दिनमासादिनोक्तव्यवधानाभावो विवक्षित इति नानुपपत्तिः । प्रागभावा-

करणा तदुत्तरकालिकी मजनक्रियेति बोधः । अधीत्य तिष्ठति मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादौ चाध्ययनव्यादानयोरभावकालेऽप्रयोगाद्यदा यदास्य स्थितिः स्वापश्च तदा तदाध्ययनं मुखव्यादानं चेति कालविशेषावच्छिन्नव्याप्यत्वबाधाद् व्याप्यत्वं सामानाधिकरण्यं च संसर्गः । एवं चान्यलभ्यत्वाच्च सूत्रात् तेषां वाच्यतालाभ इति युक्तम् 'अव्ययकृतो भावे' इति । एवं च प्रकृत्यर्थक्रिययोः

नभ्युपगमे तु स्वाधिकरणक्षणोत्पत्तिकृष्वसप्रतियोगिदण्डाधिकरणकोत्पत्तिकृष्वसाप्रतियोगित्वमव्यवधानं तदधिकरणसमयोत्पत्तिकृष्वसप्रतियोगित्वं तत्पूर्वत्वम् । परं तु प्रकृते एतन्निवेशानावश्यकता पूर्ववदवसेया । कालविशेषेति । तत्कालावच्छिन्नस्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकमुखव्यादानत्वादिमत् सामानाधिकरण्यरूपं व्याप्यत्वमित्यर्थः । कालविशेषावच्छिन्नेत्यत्र कालः क्षणादिरूपः सूक्ष्मकालो ग्राह्यः । नातः स्थूलकालावच्छिन्नव्याप्यत्वमादाय मुखव्यादानोत्तरं मुखव्यादानशून्यकालिकस्वाप्यक्त्यभिप्रायेण तत्काले मुखं व्यादाय स्वपितीति प्रयोगापत्तिः । अत एव निरन्तराध्ययनशालिन्वेवायमधीत्य तिष्ठतीति प्रयोगो न तु कदाचिदध्ययनकर्तरीति व्यवस्थोपपद्यते । तत्राप्युक्तव्याप्यत्वस्य संबन्धतया भानान्निरन्तराध्ययनविरहिपुरुषस्थितौ अध्ययनव्याप्यत्वाभावात् तादृशप्रयोगाप्रसङ्गात् । परं तु स्वसमानाधिकरणेत्यत्र स्वशब्देन तत्पुरुषीयनिर्द्रादिशून्यकालिकस्थितिसामान्यं ग्राह्यं नात उक्तदोषतादवस्थम् । मुखं व्यादायेत्यत्र तु स्वपदेन तु ततः स्वापव्यक्तिप्राप्त्या नातो व्यादानशून्यकाले तादृशप्रयोगापत्तिर्व्यादानकाले तादृशप्रयोगोपपत्तिश्चेति प्रतिभाति । स्थादिधातुरपि तादृशस्थितित्वाद्यवच्छिन्नपरः । नात उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन तादृशव्याप्यत्वान्वयानुपपत्तिः । यद्यप्येतादृशव्याप्यत्वभागेनैवातिप्रसङ्गनिरासे सामानाधिकरण्यस्य संबन्धताभ्युपगमो निरर्थकस्तथापि सामानाधिकरण्यघटिताव्याप्तिः संबन्धतया स्वीकार्येति सूचनाय सामानाधिकरण्यं च संसर्ग इत्युक्तम् । अथवोक्तव्याप्तौ सामानाधिकरण्यं न प्रवेश्यमिति यथाश्रुतमेव रमणीयम् । अथवा कालिकसंबन्धावच्छिन्नं व्याप्यत्वं संबन्ध इत्येव कालविशेषावच्छिन्नेत्यादिग्रन्थतात्पर्यार्थः । एवं च कादाचित्काध्ययनकर्तृपुरुषस्थितेरपि पुद्गलान्तरीयाध्ययननिरूपितोक्तव्याप्यताश्रयतयाधीत्य तिष्ठतीति प्रयोगापत्तिरतः सामानाधिकरण्यस्यापि संबन्धत्वपुरस्कारः । स्वसमानाधिकरणेति स्वशब्दः पूर्वोक्तार्थक एवातो न पूर्वोक्तदोषावकाशः । तत्कालविशेषगर्भस्वसमानकालिकत्वे न सामानाधि-

करण्यसहितेन तादृशस्थितित्वाद्यवच्छेदे बान्वयो लाघवात् स्वीकर्तुमुचित इति चेद्यदीय-
 स्वापकाले बहुधा मुखव्यादानं यदीयास्थितिकाले तथाध्ययनं तत्रैव तादृशप्रयोग इष्यते
 न तु कादाचित्कं यदीयस्वापादिसमये मुखव्यादानादिकं तत्रेत्यतोऽतिप्रसङ्गवारणायोक्त-
 व्याप्यत्वभानानुसरणमिति प्रतिभाति । यदि तूक्तस्थलेऽपि स प्रयोगः प्रामाणिकस्तदेदमे-
 वोचितं प्रकृतग्रन्थस्याप्यत्रैव तात्पर्यमिति वास्तु । अध्ययनमुखव्यादानोत्तरमपि स्वाप-
 स्थितिसत्त्वेन पूर्वकालत्वादेः संबन्धस्य सत्त्वान्न क्तवः साधुत्वानुपपत्तिः । स्पष्टं चेदं
 प्रकृतसूत्रभाष्ये । न च भुज्जाने भुङ्क्ते इति प्रयोगवारणाय समभिव्याहृततत्फलविशेषानु-
 कूलयावत्क्रियावधिकपूर्वत्वस्यैव ग्राह्यतया कथमुक्तरीत्या मुखं व्यादाय स्वापितीति प्रयोग
 इति वाच्यम् । तत्र फलभेदकल्पनया मुखव्यादानोत्तरसुखविशेषादिफलकव्यापारसामान्य-
 पूर्वकत्वस्य मुखव्यादाने संभवेनादोषात् । भुक्त्वा भुङ्क्ते इति प्रयोगस्य तु नोक्तस्थले
 उत्तरीत्यापत्तिः । तत्र तावद्व्यापारजन्यतृप्तिरूपफलैक्यविवक्षणात् विवक्षायाः प्रयोगा-
 नुसारित्वात् । मध्याह्ने भुक्त्वा रात्रौ भुङ्क्ते इति प्रयोगस्तिव्यत एवोत्तरीत्योपपद्यते च । तात्पर्य-
 सत्त्वे एकभोजनस्थलेऽपि ओदनं भुक्त्वा रोटिकां भुङ्क्ते इत्याहुः । अत्र केचन नेयाधिकाः
 प्रागभावावच्छिन्नकालवृत्तित्वरूपं पूर्वकालिकत्वं कर्ता च क्तवार्थः । तत्र पूर्वकालवृत्तित्वे
 पूर्वकाले तद्वटकप्रागभावे एव शक्तिर्चा । कर्तरि तु शक्तिर्निरुद्धलक्षणा वा । प्रथमपक्षे पूर्व-
 कालवृत्तित्वस्याश्रयत्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थभोजनादावन्वयः । द्वितीयपक्षे पूर्वकालस्य कालिक-
 संबन्धावच्छिन्नाधेयत्वं संसर्गः । तृतीयकल्पे प्रागभावस्य स्वाधिकरणकालवृत्तित्वं संसर्गः ।
 पक्षत्रयेऽपि समभिव्याहृतव्रजनादिक्रियायाः प्रतियोगित्वसंबन्धेन प्रागभावे प्रकारता ।
 प्रकृत्यर्थभोजनादेः क्तवार्थे कर्तरि स्वनिष्ठकर्तृत्वनिरूपकत्वसंबन्धेन विशेषणत्वम् । तदर्थ-
 कर्तरि व्रजतीत्याख्यातोपात्तकर्तृत्वस्याश्रयतया विशेषणत्वमिति व्रजनप्रागभावा-
 वच्छिन्नकालवृत्तिभोजनानुकूलकृतिमान् व्रजनकर्तृत्वाश्रय इति बोधः । पक्त्वा भुज्यते
 ओदन इत्यत्र तूक्तविधपाककर्तुः क्तवान्तार्थस्य भुजघातवर्थव्यापारे स्वनिष्ठकर्तृकता-
 निरूपकत्वसंबन्धेनान्वयः । तथा च भोजनप्रागभावावच्छिन्नकालवृत्तिपाककर्तृकर्तृक-
 व्यापारजन्यगलाधःसंयोगानुकूलक्रियाश्रय ओदन इति बोधः । यत्क्रियाव्यक्तौ क्तवार्थ-
 कर्तुः साक्षात् कर्तृत्वद्वारा बान्वयस्तत्क्रियाव्यक्तेरेव क्तवार्थप्रागभावेऽन्वय इति व्युत्प-
 त्यङ्गीकाराबान्वयकर्तृकव्रजनपूर्वकालवृत्तिकस्वकर्तृकव्रजनोत्तरकालिकभोजनकर्तरि भुक्त्वा
 व्रजतीति प्रयोगप्रसङ्गः । चैत्रो भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र तु चैत्रे आख्यातार्थान्वित-
 क्तवार्थकर्तृरभेदेन विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा । चैत्रस्य भुक्त्वा व्रजनमित्यत्र चैत्रकर्तृकं
 यद्व्रजनपूर्वकालिकभोजनं तत्कर्तृकर्तृकं व्रजनमिति बोधः । व्रजने तथाविधभोजनकर्तुः

स्वनिष्ठकर्तृतानिरूपकत्वं संबन्धः । चैत्रो न भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र न आवर्तमानव्रजन-
कर्तृत्वविशिष्टव्रजनपूर्वकालिकभोजनकर्तृभेदश्चैत्रे प्रत्याख्यते । तेन यदा चैत्रो भोजनं
करोति न तदुत्तरं गमनं तदा गमनं करोति न तु तत्पूर्वं भोजनं तदा च तादृशप्रयोग-
निर्वाहः । येन पुरुषेण कदापि भोजनोत्तरं गमनादिकं न कृतं तत्तात्पर्यकोऽयं भुक्त्वा न
व्रजतीति प्रयोगोऽभ्युपपद्यते । एतेन चैत्राभिन्ने उक्तविधभोजनकर्तरि वर्तमानव्रजन-
कर्तृत्वाभावबोधोऽभ्युपेयत इति निरस्तम् । उक्तस्थलेऽनिर्वाहादिति दिगित्याहुः । अपरे
पुनस्ताकिंका एवं वर्णयांचक्रुः । प्रागभावशक्यः कर्ता लक्ष्यः प्रागभावे प्रकृत्यर्थस्य स्वाधि-
करणकालवृत्तित्वसंबन्धेन कालिकसंबन्धावच्छिन्नवृत्तित्वसंबन्धेन वान्वयः । कर्त्रेकदेशकृतौ
त्वनुकूलत्वविषयित्वरूपसंबन्धद्वयेनोक्तसंबन्धेन प्रकृत्यर्थान्वितप्रागभावस्योत्तरक्रियायां
प्रतियोगितया विशेषणत्वम् । भोजनकर्तुः स्वनिष्ठकर्तृतानिरूपकत्वसंबन्ध उत्तरक्रियायां
विशेषणताघटकः तावदेव समानकर्तृकत्वलाभः । इत्थं च चैत्रो भुक्त्वा व्रजतीति वाक्या-
च्चैत्राभिन्नभोजनकर्तृकर्तृकभोजनाधिकरणकालवृत्तिर्भोजनवृत्तिर्वा यः प्रागभावस्तत्प्रति-
योगि व्रजनंतत्कर्तृत्ववांचैत्र इति बोधः । प्रथमान्तपदासमभिव्याहारे तु व्रजनकर्तृत्वमुख्य-
विशेष्यक एव बोधः । चैत्रेण भुक्त्वा व्रजनमित्यादौ तु व्रजनादिमुख्यविशेष्यक एव सः ।
क्त्वार्थद्वयस्यैकक्रियाव्यक्तावेवान्वय इति नियमान् पुरुषान्तरकर्तृकव्रजनप्राक्कालिकस्व-
कर्तृकव्रजनोत्तरकालिकभोजनकर्तरि तादृक्प्रयोगापत्तिः । चैत्रो न भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र तथा-
विधव्रजनकर्तृत्वाभाववांचैत्र इति बोध इति । इत्यादिमतानि नाश्रयितुं योग्यानीत्याह-
एवं चेति । एवं पूर्वकालत्वादीनां संसर्गत्वपुरस्कारेऽन्यलभ्यत्वाद्भूतिं विनैव संसर्गविधया
भानसंभवात् । अन्यथान्वयमात्रे शक्तिस्वीकारापत्तेरिति भावः । आद्यपक्षे व्रजनपूर्वकालिक-
भोजनकर्तृत्वादिक्रमेण बोधस्वीकारेऽनुभवसिद्धस्य पूर्वक्रियाप्रकारोत्तरक्रियाविशेष्यक-
बोधस्यानुपपत्तिरूपमपि दूषणं द्रष्टव्यम् । अत एव मणिकारैः पूर्वकालत्वस्य वाच्यत्व-
पक्षे पूर्वक्रियाविशेष्यक एव बोधः स्यान्न तत्तरक्रियाविशेष्यकस्तथा चानुभवविरोध इति
दूषणमभिधायानन्तरमस्य क्त्वावाच्यत्वमङ्गीकृतम् । न च पूर्वकालत्वस्य वाच्यत्वेऽपि तस्य
निरूपकतासंबन्धेनोत्तरक्रियायामन्वयोपगमेनानुभवसिद्धो बोधो निर्वहत्येवेत्याशङ्क्य
न भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र निरूपकत्वस्य वृत्त्यनियामकतया तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया
अप्रसिद्धतया तादृशप्रतियोगिताकाभावस्य बोधयितुमशक्यत्वम् । आश्रयत्वसंबन्धाव-
च्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधाभ्युपगमे भोजनोत्तरं गमनकर्तृर्यपि न उच्येतप्रयोगापत्तिः ।
आनन्तर्यस्य तु आश्रयत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः प्रत्याययितुं शक्यत एवे-
त्यपि तैरभ्यधाधि । अन्यलभ्यत्वादेवोत्तरकालत्वादेवोत्तरकालत्वादेस्तत्संबन्धतयैव नव्य-

संसर्गे तात्पर्यग्राहकत्वरूपं द्योतकत्वं क्त्वादीनाम् । अत एव 'समानकर्तृकयोः' इति सूत्रे 'स्वशब्देनोपात्तत्वाच्च' इति भाष्यप्रतीकमादाय 'पौर्वापर्यकाले द्योत्ये क्त्वादिर्विधीयते न तु विषय इति भावः' इति कैयटः । यत्तु 'समानकर्तृकयोः' इति सूत्रात् समानकर्तृकत्वं क्त्वावाच्यमन्यथौदनं पक्त्वा अहं भोक्ष्य इत्यत्र मयेति तृतीयाप्रसङ्गश्च । न चाख्यातेन कर्तुरभिधानाच्च सेति वाच्यम् । भोजनक्रियाकर्तुरभिधानेऽपि पाकक्रियाकर्तुस्तदभावात् । अनभिहिते भवतीति पर्युदासाश्रयणात् । अत एव प्रासाद आस्त इत्यत्र प्रासाधनक्रियाधिकरणस्या-

तार्किकैरपीत्यभाणि गुरुचरणैश्चष्टके इत्यलं पल्लवितेन । नन्वेवं दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टा सोमेन यजेतेति वाक्येन दर्शपूर्णमासोत्तरकालः सोमो विधीयत इति मीमांसकसिद्धान्तासंगतिः । कालस्यावाच्यत्वादिति चेन्न । उत्तरकालत्वसंबन्धेन दर्शपूर्णमासवैशिष्ट्यं विधीयत इति स्वीकारेणाक्षतेः । तावतापि तत्सिद्धान्तफलस्य दर्शपूर्णमासाभ्यां प्राक् सोमानुष्ठाने प्रत्यवायस्य सिद्धेः दर्शादिकरणे सोमाकरणे च तत्सिद्धेः । प्रकृत्यर्थेति । प्रकृत्यर्थश्च क्रिया चेति द्वन्द्वः । अथवा क्त्वाप्रत्ययस्य समभिव्याहृतप्रत्ययस्य च प्रकृति-प्रीत्येति नासंगतिः । स्वशब्देनोपात्तेति । इह कस्मान्न भवति पूर्वं भुङ्क्ते पश्चाद्भजतीति पूर्वपक्षस्य समाधानमुक्तं स्वशब्देनेत्यादि । द्योत्ये इति । अनेन पूर्वकालत्वोत्तरकालत्वादौतकत्वमेव क्त्वादीनां न तु वाचकत्वमिति स्पष्टमेव सूच्यते तेन संसर्गतयैव भानं कैयटाभिमतमिति भावः । परिमलकारादिमतं दूषयति-यत्स्त्विति । सूत्रादिति । समानकर्तृकयोरिति धर्मपरं द्विवचनं तु क्रियाद्वयरूपाश्रयगतद्वित्वारोपनिमित्तकमिति भावः । अथवा धर्मिपरमेव तत् क्रियारूपधर्मिणो धातुत एव लाभात् समानकर्तृकत्वे कर्तयैव वा शक्तिः सूत्रबलात् कल्प्यत इति भावः । तस्यावाच्यत्वे बाधकमाह-अन्ययेति । तृतीयेति । क्त्वाप्रत्ययेन कर्तुरनभिधानादिति भावः । अभिहिते तृतीया न भवतीति प्रसज्यप्रतिषेधमभ्युपेत्याह-न चेति । क्रिया कर्तुरभिधानेऽपीति । क्रियाकर्तृत्वविशिष्टस्याभिधानेऽपीत्यर्थः । क्रियाकर्तृत्वविशिष्टस्याभिधानेऽपीत्यर्थः । क्रियाकर्तृत्वशक्तेरिति पर्यवसितोऽर्थः । क्रियाद्वयस्यैक एव कर्तेति यथाश्रुतस्यासंगत्यापत्तेः । एवमग्रिमस्यापि क्रियाकर्तुरित्यस्यार्थः । पर्युदासाश्रयणात् प्रसज्यप्रतिषेधे तु अभिहिते न भवतीत्यर्थात् तिष्ठा कर्तृत्वशक्तेरभिधानान्न मयेति तृतीया पत्तिः । पर्युदासाश्रयणे तु अभिहितमिन्ने भवतीत्यर्थादनभिहितमुजिक्रियानिरूपितकर्तृत्वशक्तिमादाय तृतीयापत्तिर्द्वैवेति भावः । लाघवात् पर्युदासाश्रयणमेव युक्तम् ।

भिधानेऽप्यस्तिक्रियाधिकरणस्यानभिधानात् सप्तमीति भाष्ये स्पष्टम् । तस्मात् क्त्वाप्रत्ययस्य कर्तृवाचित्वमावश्यकमिति तन्न । सूत्रात् तस्य वाच्यत्वालाभात् । समानकर्तृकयोः क्रिययोः पूर्वकाले क्त्वेत्येव तदर्थत् । अन्यथा समान-कर्तरीत्येव सूत्रन्यासः स्यात् । तृतीयापादनं त्वाख्यातार्थक्रियायाः प्रधानभूतायाः कर्तुरभिधानात् प्रधानानुरोधेन गुणे कार्यप्रवृत्तेर्न संभवति ।

उक्तं च वाक्यपदीये —

‘प्रधानेतरयोर्न द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।

शक्तिगुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥

प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते ।

यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते ॥’

प्रसज्यप्रतिषेधे हि असमर्थसमासो वाक्यभेदश्चाश्रयणीयः स्यात् । तदाश्रयणे फलम-
प्याह-क्रियाधिकरणस्येति । प्रसीदत्यस्मिन्नित्यधिकरणे ‘हलश्च’ इति घञ्
प्रत्ययः । क्रियाधिकरणस्येति कर्तुरिति वद् व्याख्येयम् । भाष्ये स्पष्टमिति । अस्या-
नभिहिते इत्यादिः । वस्तुतस्तु शक्तेः साधनत्वमिति सिद्धान्तपक्षे घञा प्रकृत्यर्थ-
निरूपितशक्तेरभिधानेन तस्यां वाच्यायां सप्तमीनिषेधे पटि आसनक्रियानिरूपिता-
धिकरणत्वशक्तौ वाच्यायां निषेधाभावेन प्रासादे आस्ते इत्यत्र सप्तमीसिद्धिर्निष्प्रत्युहैव ।
स्पष्टं चेदं कैद्यद्योते । एवं चात्र लाघवादेव पर्युदासाश्रयणमिति तत्त्वम् । उपसंहारात् ।
तस्मादिति । समानकर्तृकयोरिति समान एकः कर्ता ययोः क्रिययोरिति
क्रियारूपेऽन्यपदार्थे बहुव्रीहिः । पूर्वकाल इत्यपि पूर्वः कालोऽस्येति बहुव्रीहिः । तथा
च समानकर्तृकयोः क्रियारूपार्थयोर्मध्ये पूर्वकालवृत्त्यर्थाभिधाथिनो धातोः क्त्वाप्रत्ययो
भवतीत्येव सूत्रार्थः । एवं च कर्तृवाच्यत्वं कथमपि न लभ्यत इति भावः । ननु
पूर्वोक्तरीत्या तल्लभ्यत एवेत्याशङ्क्याह-अन्यथेति । पूर्वोक्तक्रमेण कर्तृवाच्यत्वे
विवक्षिते समानकर्तरि इति समानपदोपादानं क्तवार्थकर्तुः समभिव्याहृतक्रियाकर्तर्य-
भेदान्वयः पूर्वोक्तरीत्येति बोधनायेति बोध्यम् । न्यासः स्यात् । न्यासः कृतः स्यात् ।
अपि च पूर्वोक्तरीत्या वाक्यार्थवर्णनं न समञ्जसमिति बोध्यम् । ननु तृतीयादर्शनमेव
पूर्वोक्तार्थकल्पनद्वारा कर्तृवाच्यत्वे मानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तृतीयादर्शनस्यान्यथा-
सिद्धिमाह-तृतीयापादनं त्वित्यादिना । प्रधानेतरयोरिति कारिकाद्वयं प्राग्व्या-

१. A. drops क्रिययोः. २. पूर्वकालात् A. ३. समाने कर्त० D₂. ४. A. and D. drop कर्तुः.

इति । किं चान्यथा कर्मणोऽपि क्त्वार्थतापत्तिः । पक्त्वौदनो मया भुज्यत
इत्यत्र द्वितीयायाः प्रकारान्तरेणावारणादित्यास्तां विस्तरः ॥ ५८ ॥

इति वैयाकरणभूषणसारे क्त्वाद्यर्थनिर्णयः समाप्तः ।

ख्यातम् । इमे च हरिकारिके 'स्वादुमि णमुल्' इति सूत्रस्य भाष्यार्थानुवादिन्या-
विति स्पष्टं शोखरादौ । ननु किमित्येवं वर्ण्यते तृतीयावारणार्थात् क्त्वादेः
कर्तरि शक्तिरेवाभ्युपगम्यतामत एव 'समानकर्तृकयोः' इति सूत्रकारोक्तिः
सप्रयोजना । अन्यथा जन्यत्वादिसंबन्धवदेतस्यापि संबन्धस्यानुभवबलादेव लाभो
भविष्यतीति व्यर्था सोक्तिरित्याशङ्क्याह-अन्यथेति । प्रकारान्तरेणेति ।
कर्तरि शक्त्यङ्गीकारेऽपि कर्मणोऽनभिधानादोदनपदाद् द्वितीयापत्तिर्दुर्वारैव ।
कर्मण्यपि शक्तिस्वीकारे तु गौरवं मानाभावश्च । उत्तरीत्यनुसरणे तु तिङन्तोपात्त-
प्रधानमुज्जिक्रियानिरूपितकर्मशक्तेस्तिङाभिधानाद्गुणभूतपचिक्रियानिरूपितायास्तस्या अन-
भिधानेऽपि न द्वितीयापत्तिरिति समुदिततात्पर्यार्थः । अपि च वाचकत्वपक्षे क्त्वादीनां
जन्यत्वव्याप्यत्वाद्यनेकार्थकत्वापत्तिः । जन्यत्वादीनां वाच्यत्वे प्रत्ययार्थतया तेषां विशेषे-
भ्यत्वापत्त्या भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र 'आभीण्ये द्वे वाच्ये' इति द्वित्वानापत्तिः ।
क्रियाप्राधान्यविरहात् । विशेषणीभूतक्रियामादाय तत्प्रवृत्त्यङ्गीकारे तु पाचक इत्यादावपि
तदापत्तिः । एवं धातुसंबन्धाधिकारबाधापत्तिश्च । न च प्रत्ययार्थद्वारकः संबन्धोऽक्षत
एवेति बोध्यम् । छुनीहि छुनीहीत्येवायं छुनातीत्यादौ धात्वर्थयोः साक्षात्संबन्धदर्शनेन
'यथाविध्यनुप्रयोगे' इत्यादौ संबन्धपदेऽनुवृत्तेः साक्षात् संबन्धतात्पर्यकताया एव निर्ण-
येन परम्परासंबन्धस्य तदर्थकत्वाभावनिश्चयात् । गौरवादपि न परम्परासंबन्धस्य तदर्थ-
कत्वमिति तद् ध्वनयन्नाह-आस्तां विस्तर इति । परे तु समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयो-
र्मध्ये पूर्वकालविशिष्टार्थबोधकाद् धातोः क्त्वेति सूत्रार्थात् पूर्वकालः क्त्वाप्रकृत्यर्थे प्रकारः
आनन्तर्यं च धात्वन्तरार्थे तादृशप्रकृत्यर्थस्य प्रकारताघटकः संबन्धः । अत एव भाष्ये ।
पूर्वं भुङ्क्ते पश्चाद्भ्रजतीत्यत्र क्त्वाप्रत्ययशङ्का पूर्वशब्दोऽत्र पूर्वकालार्थो न तु धातोस्तत्र
वृत्तिरित्यर्थकेन स्वशब्देनोक्तत्वादित्यनेन समाहिता । उक्तार्थानामिति न्यायपरत्वं तु
न तस्य तथा सतीह कस्मान्न भवति आस्यते भोक्तुमिति शङ्कापरभाष्यस्यासंगत्यापत्तेः ।
तत्रापि तुमुना तदुद्देश्यत्वरूपसंबन्धं बोधयतासने पूर्वकालत्वस्य द्योतितत्वेन तदप्राप्तेः ।
तत्र पूर्वकालानवगमे तु कथं शङ्का पदं निदध्यात् । वासरूपन्यायेन लटा साधनमित्यन्यत् ।

१. क्त्वार्थतापत्तिः D₁. २. इत्यर्थेऽत्र A. ३. प्रकारान्तरेण वारणात् D₃. ४. इति
रङ्गाणिमष्टात्मजकौण्डभट्टविरचिते वैया P. ५. D₁ drops समाप्तः.

‘यदा त्वासेः कृत्वा भवति तदा भुजेस्तुमुन्न भवति अनभिधानात्’ इति कैयटग्रन्थः ।
 पूर्वं भुक्त्वा पश्चाद्ब्रजतीत्यत्र त्वन्येभ्यो भोक्तव्यः पूर्वं भुक्त्वान्येभ्यो ब्रजितुभ्यः पश्चा-
 द्ब्रजतीत्यर्थ इति साधनान्तरक्रियावधिकमेव पूर्वकालत्वं प्रतीयत इति नास्य सूत्रस्य
 विषयः किं तु ‘विभाषाग्रे प्रथम—’ इत्यस्येति स्पष्टमत्र भाष्ये । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यत्र
 त्वानन्तर्यसंबन्धेन पूर्वकालिकदर्शनादिवैशिष्ट्यं सोमे प्रतीयत इति न तत्र दोषः । एवं च
 पूर्वकाल इति कर्मधारयः । एवं च षष्ठीवत् कृत्वादिरपि समानकर्तृकत्वादिसंबन्धवाचक
 इति वक्तुं शक्यमिति प्राहुः । अत्र पूर्वकालत्वं प्रागभावावच्छिन्नकालत्वं प्रागभावे ब्रजन-
 क्रियायास्तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वसंबन्धेनान्वयः । आनन्तर्यं च तदधि-
 करणसमयध्वंसाधिकरणमुद्घर्तादिध्वंसानाधिकरणत्वविशिष्टतदधिकरणसमयध्वंसाधिकरण-
 क्षणवृत्तित्वम् । तेन न पूर्वोक्तदोषः । ईश्वरो ज्ञात्वा तिष्ठतीत्यत्रेश्वरज्ञानध्वंसाप्रसिद्धया
 तदध्वंसो नानन्तर्ये निवेशितः । इदमत्र बोध्यम् । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा ब्रजतीत्यत्र
 ब्रजनक्रियावधिकपूर्वकालत्वमादायैव सर्वत्र कृत्वा न तु भोजनादिक्रियावधिकं तदादाय ।
 तथा सति ‘तस्यापत्यम्’ इत्यादावेकत्वादेरेव प्रकृते समानकर्तृकयोरिति द्विवचनोपा-
 त्तस्य द्वित्वस्याविवक्षायामप्यमीषां ब्राह्मणानां पूर्वं आनीयतामित्युक्ते सर्वपूर्वं एव आनी-
 यते न तु यत्किञ्चित्पूर्वो मध्यमस्तथात्रापि स्नातरेव कृत्वाप्रत्ययः स्यान्न तु भुज्यादेः ।
 एवं च स्नानक्रियाया भोजनक्रियायाः पानक्रियायाश्च ब्रजनक्रियायामेवान्वयो न तु
 स्नानादिक्रियाया भोजनादौ । अत एव तत्र भुक्त्वा स्नात्वा पीत्वा ब्रजतीति विपरीत-
 प्रयोगोऽप्युपपद्यत इति स्पष्टं भाष्ये इति शिवम् ॥

इति श्रीवैयाकरणभूषणसारव्याख्याने तुमुत्कृत्वार्थनिर्णयः समाप्तः ॥

वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः ।

साधुशब्देऽन्तर्गता हि बोधका न तु तत्स्मृताः ॥ ५९ ॥

यद्यपि वर्णस्फोटः पदस्फोटो वाक्यस्फोटोऽखण्डपदवाक्यस्फोटौ वर्णपदवाक्य-
भेदेन त्रयो जातिस्फोटो इत्यष्टौ पक्षाः सिद्धान्तसिद्धा इति वाक्यग्रहणमनर्थकं
दुरर्थकं च तथापि वाक्यस्फोटातिरिक्तानामन्येषामप्यवास्तवत्वबोधनाय तदु-
पादानम् । एतदेव ध्वनयन्नाह । अतिनिष्कर्ष इति । मतस्थितिर्वैयाकरणानां
महाभाष्यकारादीनाम् । तत्र क्रमेण सर्वास्तान् निरूपयन् वर्णस्फोटं प्रथममाह ।
साधुशब्द इति । साधुशब्दान्तर्गता वाचका न वेति विप्रतिपत्तिः । विधि-
कोटिरन्येषां नेति वैयाकरणानां साधुशब्दे पचति राम इत्यादिप्रयुज्यमानेऽ-
न्तर्गतास्तिब्रुविसर्गादय एव बोधका वाचकास्तेषामेव शक्तिव्यवस्था-
पितत्वाच्च तु तैः स्मृता लादयः स्वादयश्चेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सिद्धान्त इति । प्रागुक्तप्रकृतिप्रत्ययावर्थविचारस्यावास्तवत्वं ध्वनयितुं स्फोटस्यैव
वाचकत्वमिति सिद्धान्तनिष्कर्षमाहेत्यर्थः । स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मात् स्फोट इति
व्युत्पत्त्यर्थबोधकशब्दः स्फोट इति पर्यवसन्नम् । अनर्थकमिति । इतरस्फोटानामपि
स्वीकृततया व्यावर्तकत्वात् । दुरर्थकम् । अनभिहितवर्णस्फोटादिव्यावृत्तिप्रतिपादकम् ।
विचाराङ्गभूतां विप्रतिपत्तिमाह—साधुशब्देति । संशयि यथावत्कोट्युपस्थापकं वाक्यं
विप्रतिपत्तिः न तु संशयजनकवाक्यम् । शब्दस्य नव्यताकिंकेः संशयजनकत्वानङ्गीका-
रात् । तदङ्गीकर्तृमते तु तदेव विप्रतिपत्तिपदप्रतिपाद्यमस्तु । साधुशब्दान्तर्गतानां धका-
रादीनां घटादिशब्दघटकानां परैरपि वाचकत्वाङ्गीकारात् साधुशब्दान्तर्गतत्वं पक्षतावच्छे-
दकमनुसृतम् । अन्येषां प्राचीननैयायिकादीनाम् । ननु साधुशब्दाघटकेषु वर्णेषु बोधकत्व-
व्यावृत्तिसिद्धावपि वाचकत्वव्यावृत्तिर्न सिद्ध्यत्यत आह—बोधका वाचका इति । बोधक-
पदाद्वाचकत्वलाभः कथमित्याशङ्क्यामाह—तस्यैवेति । बोधकत्वस्यैवेत्यर्थः । शक्तिः
पदार्थान्तरमिति मतेऽपि बोधकत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिबोधकत्वसमनियतेति
साधुशब्दान्तर्गतेषु बोधकत्वाभावे सिद्धे शक्त्यभावावोऽप्यर्थात् सिध्यतीति बोध्यम् ।

१. ध्वनयन्निति D., D₁, D₂. २. इति प्रयु^० P., A., D₂. ३. °स्तस्यैव D₁, D₂,
Com. ४. शक्तिव्यवस्था D₁. ५ K. has श्रीगणपतये नमः before it.

यत्तु प्रयोगान्तर्गतास्तिवाद्यो न वाचकास्तेषां बहुत्वेन शक्त्यानन्त्यापत्तेः ।
एधांचक्रे ब्रह्मेत्यादावादेशभूतलुगादेरभावरूपस्य बोधकत्वासंभवाच्च । किं तु तैः
स्मृता लकाराः स्वादयश्च वाचका लत्वस्य जातिरूपतया शक्ततावच्छेदकत्वौ-
चित्यात् । अव्यभिचाराच्च । आदेशानां भिन्नतया परस्परव्यभिचारित्वात् ।
'लः कर्मणि' इत्याद्यनुशासनानुगुण्याच्च । न ह्यादेशेष्वर्थबोधकमनुशासनमुप-
लभामह इत्याहुस्तान् स्वसाधकयुक्तिभिर्निराचष्टे—

परमतं दूषयितुमुपन्यस्यति—यत्त्विति । तेषां तिवादेशानां बहुत्वेन लादिरूपादेय-
पक्षया बहुत्वेन । शक्त्यानन्त्येति । शक्ततावच्छेदकत्वमपि बहुव्यादेशनिष्ठानुपूर्वीषु
कल्पनीयमित्यपि दूषणमत्र पक्षे बोध्यम् । स्थानिनो वाचकत्वपक्षेऽपि शाब्दबोधपूर्व-
मनेकस्मृतिकल्पनायां लाघवानवकाश इत्यतो दूषणान्तरमाह—एधांचक्रे इति ।
अत्र 'आमः' इत्यनेन लिटो लृक् । अभावरूपस्येति हेतुगर्भविशेषणं
यतोऽभावरूपत्वमतस्तद्बोधकत्वासंभवः । तस्याः भावनिष्ठत्वादभावे न क्वचिदपि
बोधाजननादिति भावः । एधांचक्र इत्यत्रानुप्रयुज्यमानधातूत्तरश्रूयमाणतिडादेशेनैव
कालकारकाद्यनुगम इति स्पष्टं निबन्धेषु तदर्थकालान्वयस्य यद्यपि अनुप्रयुज्यमान-
कृत्राद्यर्थे एव तथाप्यभेदेन तदर्थान्वयेधत्याद्यर्थेऽपि तस्यार्थिकं भानं संभवत्येव ।
स्पष्टं चेदं प्रकृतसूत्रभाष्ये । अत एव 'कृच् चातुप्रयुज्यते' इति सूत्रे कौमुद्यां
तेषां क्रियासामान्यवाचित्वादाम्प्रकृतीनां विशेषवाचित्वात्तदर्थयोरभेदान्वय इत्युक्तम् ।
अभेदान्वयश्चेत्तम् । एधादयस्तत्तत्फलानुकूलव्यापारार्थकाः । कृजुत्पत्त्यनुकूलव्या-
पारार्थः । भवस्ती सत्तानुकूलव्यापाराभिधायिनौ । उत्पत्त्यादिकमाम्प्रकृत्यर्थ-
फलनिष्ठमेव प्रत्यासत्तेः । इत्थं चैधांचक्र इत्यत एककर्तृकृद्बन्धनकूलव्यापारा-
भिन्नपरोक्षानयतनभूतोत्पत्त्यनुकूलव्यापार इति बोध इत्याहुः । एवमादेशानां
वाचकत्वपक्षेऽपि नात्र दोष इत्यतो ब्रह्मेत्यस्यानुस्मरणम् । स्थानिनो वाचकतापक्षे
शक्ततावच्छेदकलाघवमप्यस्तीत्याह—लत्वस्येति । जातिरूपतयेति । दन्तवायु-
संयोगजन्यतावच्छेदकतयागुगतप्रत्ययनिर्वाहकतया च तस्य जातित्वमिति भावः ।
परमते त्वानुपूर्वीणां शक्ततावच्छेदिकानां नानात्वं स्पष्टमेव । युक्त्यन्तरमप्याह—

व्यवस्थितेर्व्यवहृतेस्तद्धेतुन्यायतस्तथा ।

किं चाख्यातेन शस्त्राद्यैर्लडेव स्मार्यते यदि ॥

कथं कर्तुरवाच्यत्ववाच्यत्वे तद्विभावय ॥ ६० ॥

व्यवस्थानुरोधात् प्रयोगान्तर्गता एव वाचका न तु तत्स्मृता इत्यर्थः । तथा हि पचतीत्यादौ लकारमविदुषां बोधान्न तस्य वाचकत्वम् । न च तेषां तिङ्शु शक्तिभ्रमाद् बोधः । तस्य भ्रमत्वे मानाभावात् । आदेशिनामपि तत्तद्वैयाकरणैः स्वेच्छया भिन्नभिन्नानामभ्युपगमात् कः शक्तः को नेति व्यवस्थानापत्तेश्च ।

अव्यभ्रीति । कर्त्रार्थज्ञानाधिकरणे तज्ज्ञानपूर्वसमये नियमेन लकारज्ञानसत्त्वादित्यर्थः । तथा च न स्वमते व्यतिरेकव्यभिचारः । परमते तु सोऽस्तीत्याह-आदेशानामिति । भिन्नतया । परस्परप्रतियोगिकभेदवत्तया । अनेकतयेति यावत् । न चैवं मूल इत्यतोऽपि बोधः स्यादिति वाच्यम् । समभिव्याहारविशेषस्य कारणत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा तव मतेऽपि भूःप्रति इत्यादेरपि बोधापत्तिः । आदेशिज्ञानविधुराणां बोधस्तु शक्तिभ्रमादुपपद्यते अपभ्रंशेषु तथाकल्पनादिति भावः । अथैवं शत्राद्यन्तस्थले कर्तृकर्मबोधो न स्यात् लकारस्य तव मते कृतिकर्मत्वमात्रवाचकत्वादिति चेन्न । लकारस्य कृत्यादिमात्रवाचकत्वेऽपि शत्रादेः कर्त्रादिवाचकत्वाभ्युपगमात् कर्तरि कृदित्यनुशासनात् । नामार्थयोरभेदान्वयानुरोधात् तत्र लकारस्यैव कर्त्रार्थ इति न कोऽपि दोषः । एवं च श्रूयमाणमात्रवृत्तिवाचकताविरहाद् वर्णस्फोटो न युक्त इति भावः । स्वसाधकेति । स्वपक्षसाधकेत्यर्थः । अत्र संप्रदायविद इत्थं वर्णयन्ति स्म । आदेशानां वाचकत्वे राम इत्यादौ विसर्ग एकत्वस्य वाचक इति व्यवस्था भवति स्मृतानां वाचकत्वेऽप्यवस्था स्यात् । तथा हि राम इत्यत्र विसर्गेण किं सुः किं वा रुः किं वा सिः स्मर्तव्यः । पाणिनीयैः सुः । अन्यै रुः । कालापतन्त्राभिज्ञैः सिः । यस्तु सकलतन्त्राभिज्ञस्तस्य विनिगमनाविरहेण प्रतिबन्धात् कस्यापि स्मरणं न स्यादिति । तत्तु न युक्तम् । अनेकलिपिज्ञानसत्त्वेऽपि यथा एककालेन शब्दोपस्थिति-प्रतिबन्धस्तथा सकलव्याकरणाभिज्ञस्य वादेशिस्मृतिबन्धः । अपि तु सर्वेषां स्मृतिस्तथाचार्योपस्थितिरविलक्षणैवेत्यभ्युपगमाच्च । अत एव घटकलशाद्यनेकपर्यायेभ्योऽप्यविलक्षणबोध उपपद्यतेऽतोऽन्यथा व्याचष्टे-तथाहीत्यादिना । बोधादिति । तथा च बोधानापत्तिरेवात्राव्यवस्थापदार्थ इति भावः । मानाभावादिति । तैसा बोधोद-

सर्वेषां शक्तत्वे गौरवं व्यभिचारश्चास्त्येवादेशानां प्रयोगान्तर्गततयानियत-
त्वाद्युक्तं तेषां शक्तत्वम् तथा चादेशिस्मरणकल्पना नेति लाघवम् ।
साधकान्तरमाह । व्यवहृतेरिति । व्यवहारस्तावच्छक्तिग्राहकेषु मुख्यः । स च
श्रूयमाणतिङादिष्वेवेति त एव वाचका इत्यर्थः । किं च—तद्वेतुन्यायत
इति । लकारस्य बोधकत्वे भूल इत्यतोऽपि बोधः स्यात् । तादृशे बोधे पचतीति
समभिव्याहारोऽपि कारणमिति चेत् तैर्ह्यावश्यकत्वादस्तु तादृशसमभिव्या-
हारस्यैव वाचकत्वशक्तिः । अन्यथा लकारस्य वाचकत्वं समभिव्याहारस्य

येन तत्र वाचकत्वस्याबाधितत्वादिति भावः । विनिगमनाविरहात् सर्वेषामपि स्थानिनां
वाचकत्वं भवतीत्याशङ्कयामाह—सर्वेषामिति—व्यभिचारश्चास्त्येवेति । तथा
च यद्वादादेशानां वाचकत्वपक्षपरित्यागस्तौ दोषौ स्थानिनो वाचकत्वपक्षेऽपि दुष्परिहृ-
रावेत्येत्यर्थः । आदेशानां तिबादीनामाधिक्यात् तत्पक्षापेक्षयात्र पक्षे बहु गौरवमित्य-
नुशयान आह—तथा चेति । मुख्य इति । शक्तिग्रहे जननीये शक्तिग्राहकान्तरान-
पेक्षत्वरूपमुख्यत्वम् । व्याकरणादीनां तु न तथात्वम् । तथाहि ‘तस्यापत्यम्’ इत्यादिना-
णादिप्रत्ययस्य शक्तिग्रहेऽपत्यादिशब्दशक्तिग्रहोऽपेक्ष्यते स चेच्छब्दान्तरेण तस्यापि
शब्दान्तरेणैव शक्तिग्रह इत्यभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गोऽतो व्यवहारस्यापत्यादिशब्दशक्ति-
ग्रहसंपादनद्वारा तिङापेक्षणादिति भावः । त एव । तिङादय एव । एवकारेण स्थानिभू-
तलकारादिव्यवच्छेदः । ननु व्यवहारात् तिङ्बु गृह्यमाणापि शक्तिर्लोघवादादेशिनि
व्यवस्थाप्यते न तु तिङ्बु गौरवात् यथा व्यवहाराद्वाक्ये गृहीतापि शक्तिर्लोघवात्
तत्तत्पदे कल्प्यते तद्वत् । अनेकस्मरणकल्पनागौरवं तु फलमुखत्वान्न दोषायेत्याशङ्क-
मानो मूले साधकान्तरमाह—तद्वेतुन्यायत इति । तद्वेतुन्यायपदयोः कर्मधारयः ।
व्याख्यायां किं चेति । अस्य साधकान्तरमाहेति शेषः । पूर्वफक्किकास्थस्यानुषङ्गो वा
बोध्यः । न्यायं व्युत्पादयति—लकारस्येति । तादृशे बोधे एककर्तृकवर्तमानकालिक-
विक्रित्यनुकूलो व्यापार इति वा इत्यर्थः । पचतीति समभिव्याहारोऽपीति ।
अव्यवहितोत्तरस्वसंबन्धेन पचधातुविशिष्टशक्तिविशिष्ट इतिशब्दरूपः समभिव्या-
हार इत्यर्थः । वाचकत्वशक्तिः वाचकत्वरूपा शक्तिरित्यर्थः । समभिव्याहारस्य
वाचकत्वे सिद्धेऽपि साधुशब्दान्तर्गतवर्णत्वावच्छेदेन न तत्सिद्धमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह—

कारणत्वं चेत्युभयं कल्प्यमिति गौरवं स्यात् । तथा च तादृशसमभिध्याहारः समभिध्याहृता वर्णा वेत्यत्र विनिगमनाभावात् प्रयोगान्तर्गता वर्णा वाचका इति सिध्यतीति भावः । अपि च लकारस्यैव वाचकत्वे कृततिङोः कर्तृभावना-वाचकव्यवस्था त्वंसिद्धा न स्यादित्याह—किं चेति । आदेशानां वाचकत्वे तिङ्त्वेन भावनाया मानत्वादिना कर्तरि शक्तिरित्युपपद्यते विभाग इति भावः । न च शानजादौ कृतिर्लकारार्थ आश्रयः शानजर्थ इत्यस्तु 'कर्तरि कृत्' इत्यनुशासनादिति शङ्क्यम् । स्थान्यर्थेन निराकाङ्क्षतया शानजादौ कर्तरीत्यस्या-प्रवृत्तेरन्यथा वजादावपि प्रवर्तते ॥ ६० ॥

देवदत्तः पचमान इत्यादिसामानाधिकरण्यानुरोधाच्छानचः कर्ता वाच्यः स्यादित्याशङ्क्याह—

तथा चे त्यादिना । सिध्यतीति । विनिगमनाविरहात् प्रत्येका वृत्तिः समुदाया-वृत्तिवाच समभिध्याहृतवर्णानामेव वाचकत्वम् । न च द्वित्ववत् प्रत्येका वृत्तित्वेऽपि समुदायवृत्तित्वेऽपि समुदायवृत्तित्वसंभवः । द्वित्वस्यापि प्रत्येकं वृत्तित्वस्वीकारादित्याहुः । वृत्तिकृतस्तु रथाङ्गेषु प्रत्येकं गमनानुकूलशक्तिविरहेऽपि तत्समुदायरूपे रथे तत्समुद्रव इत्यर्थवत्सूत्रे दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः । यथा तर्हि रथाङ्गानि विहृतानि प्रत्येकं ब्रजिकियां प्रत्यसमर्थानि तत्समुदायश्च रथः समर्थ इति रथाङ्गवदिति भाष्यकारै-रभिहितं तद्वत् प्रकृतेऽपि संभव इति विनिगमनाविरहेण समभिध्याहृतवर्णानामपि वाचक-त्वमित्येव युक्तमित्याहुः । समभिध्याहृतावद्वर्णवृत्तिर्वाचकतेत्यभ्युपगमाच्च तद्वटकै-कैकादिवर्णात् तत्तदर्थबोधापत्तिरिति बोध्यम् । कर्तृभावेनेति । कृतः कर्तृवाचकत्वं तिङो भावनावाचकत्वमिति विभागो न स्यादित्यर्थः । न स्यादिति । शत्रादिरूपे कृति कर्तृवाचकत्वस्यासंभवात् तस्यापि लादेशत्वाविशेषणवाचकत्वासंभवात् स्थानिभूत-लकारस्य तु भवन्मते भावनामात्रवाचकत्वादिति भावः । निराकाङ्क्षतयेति । अर्थाशे इति शेषः । कर्तरीत्यस्येति । कर्तरि कृदित्यस्येत्यर्थः । अप्रवृत्तेरिति । आका-ङ्क्षितविधानस्यैवोचितत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

इत्यादिसामानाधिकरण्येति । इत्यादौ सामानाधिकरण्यानुरोधात् अभेदान्वयानुरोधादित्यर्थः । इति कर्ता शानजर्थो न स्यात् तदा चैत्रः पचमान इत्यादावनन्वयः स्यादभेदस्य बाधितत्वात् । आधाराधेयभावसंबन्धेनान्वयस्य नामार्थयोरिति व्युत्पत्ति-विरोधेनासंभवात् । कर्तृवाचकता स्यादिति । अस्य तिङामित्यादिः । पचतितरां

१. °समभिध्याहार पच A., D₈. २. °वाचकत्वव्यवस्था D₈. ३. त्वत्सिद्धान्तसिद्धा न स्यादित्याशयेनाह P.; सिद्धा न स्यादित्याह A. ४. वाचकत्वे च तिङ्त्वेन D₉, D₈. ५. भावनायां A.

तरबाद्यन्ततिङ्क्ष्वस्ति नामता कृत्स्वव स्फुटा ।

नामार्थयोरभेदोऽपि तस्मात् तुल्योऽवधार्यताम् ॥ ६१ ॥

पचतितरां मैत्रः पचतिकल्पं मैत्र इत्यादिषु नामार्थत्वाभेदान्वययोः संभव एवेति कर्तृवाचकता स्यादिति भावः । न च पचतिकल्पमित्यत्र सामानाधिकरण्यानुरोधात् कर्तरि लक्षणा पचमान इत्यत्राप्यापत्तेरिति 'लः कर्मणि—' इत्यनुशासनं च लाघवाय कल्पिते लकारे कर्त्रादिवाचित्वं कल्पितमादायेत्युक्तम् ॥ ६१ ॥

इति स्फोटवादे वर्णस्फोटनिरूपणम् ।

मैत्र इत्यत्रातिशयितविक्रियनुकूलक्रियानुकूलभावनाया नामार्थत्वेन मैत्रेण सहाभेदान्वयासंभवात् । एवं पचतिकल्पं मैत्र इत्यत्रेपदसमाप्तथाविधक्रियानुकूलभावनाया नामार्थत्वेनाभेदान्वयासंभवात् कर्त्राख्यातस्य कर्तृवाचकत्वं स्यात् तच्च परमतेऽनिष्टमिति भावः । इत्यत्राप्यापत्तेरिति । शानचोऽन्यत्र शक्त्यनिर्णयेन शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा न संभवतीति न शङ्क्यम् । प्रथमान्तपदासमभिव्याहृताख्यातवदितरासमभिव्याहृतपचमान इति प्रयोगे शानचोऽपि भावनायां शक्तिनिर्णयसंभवात् । अथवा तत्स्थानिनो लकारस्य तत्र लक्षणापत्तिर्बोद्ध्या । न च नामार्थयोरिति व्युत्पत्तौ नामपदं सत्त्वप्रधानपरं तिङन्तप्रकृतिकतरबाद्यन्तप्रतिपाद्या भावना त्वसत्त्वभूतैवेति न दोषः । किं च नामार्थयोरित्यादिव्युत्पत्तेर्नामजन्यप्रतीतिविशेष्ययोरैवान्वयः । स चाभेदेनैवेति शरीरमेवं च भवन्मतेऽपि पचतितरां देवदत्तः पचतिकल्पं देवदत्त इत्यत्र कथं देवदत्तस्य विशेषणीभूतेन तिङर्थकर्त्रा सहान्वयः । तव मते व्युत्पत्तेस्तत्र संकोच इति चेन्मयापि सोऽनुस्रियत इति वाच्यम् । नामपदेन प्रातिपदिकमात्रस्य सुबन्तमात्रस्य वा ग्रहणं नामजन्यप्रतीतिविशेष्ययोरैवेत्यादिनियमे मानाभावश्चेत्याशयात् । न च तथाविधनियमानभ्युपगमे नित्यो घट इत्यस्य वाक्यस्य घटत्वे नित्यपदार्थान्ययसंभवात् प्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम् । घटत्वस्य पदार्थैकदेशतया पदार्थः पदार्थेनान्वेतीत्यादिव्युत्पत्तिविरोधेन तत्र तदन्वयासंभवेनोक्तवाक्यस्य प्रामाण्यापत्तेरभावात् । कर्तुः पदार्थैकदेशत्वाभावेन पचतिकल्पं देवदत्त इत्यादावन्वयोपपत्तिस्त्वक्षतैव । तस्मात् समभिव्याहृतवर्णानामेव वाचकत्वमिति वर्णस्फोटो निष्प्रत्यूहः । ननु तिबाद्यादेशानां वाचकत्वे 'लः कर्मणि—' इत्याद्यनुशासनविरोधस्तेन स्थानिनामेव वाचकत्वबोधनादित्याशङ्क्याह—'लः कर्मणि—' इत्यनुशासनमिति ॥

इति वर्णस्फोटनिरूपणम् ॥

१. इति रङ्गोजिमहात्मजकौण्डमहविरचिते वैयाकरणमूषणसारे स्फोटवादे वर्णस्फोट° P. २. P. adus समाप्तम्; A. and D. drop स्फोटवादे.

अथादेशा वाचकाश्चेत् पदस्फोटस्ततः स्फुटः ॥ ६२ ॥

एवमादेशानां वाचकत्वे सिद्धे पदस्फोटोऽपि सिद्ध एवेत्याह—अथेत्यादि ।
आदेशास्तिब्रुविसर्गादयः । अयं भावः—समभिग्याहृतवर्णानां वाचकत्वे सिद्धे
तादृशवर्णसमभिग्याहाररूपपदस्य वाचकता सिध्यति । प्रतिवर्णमर्थस्मरणस्या-
नुभवविरुद्धत्वात् प्रत्येकं वर्णानामर्थवत्त्वेन प्रातिपदिकत्वापत्तौ 'न लोपः
प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यादिभिर्धनं वनमित्यादौ नलोपाद्यापत्तेश्च । एतच्च चरम-

समभिग्याहृतवर्णानाम् । तत्तत्पदघटकयावतां समभिग्याहृतवर्णानामित्यर्थः ।
वाचकत्वे सिद्धे इति । तावतां वर्णानां वाचकत्वं विना वक्ष्यमाणस्वरूपपदस्य
वाचकत्वं नोपपद्यते । अतः पदस्य वाचकत्वसिद्धिस्तावतां वर्णानां वाचकत्वसिद्धयधीनेति
भावः । एवं च पूर्वग्रन्थेन सहास्य ग्रन्थस्योपजीव्योपजीवकभावसंगतिः सूचिता ।
ननु तथापि वाचकता प्रतिवर्णं विश्राम्यतु नाम नैतावता पदं वाचकमित्यभिमतसिद्धिरि-
त्याशङ्क्याह—प्रतिवर्णमिति । समभिग्याहाररूपेति समुदायरूपेत्यर्थः । नलो-
पाद्यापत्तेश्चेति । सुपः श्रवणं तु नापादितं समुदायात्मकप्रातिपदिकावयवत्वेन 'सुपो
धातुः' इति लुक्संभवात् । समासप्रहणस्य भेदे सति पदार्थयोः परस्परं संसर्गस्था-
विधार्थवत्समुदायस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैवेति नियमार्थतया प्रकृतसमुदाये प्राति-
पदिकत्वस्य निष्प्रत्युहत्वात् । प्रदीपोद्योतकृतः—प्रतिवर्णं संख्यार्थकत्वाभावाच्च तद्-
द्योतकविभक्त्युत्पत्तिः । एतादृशस्थले एव संख्योत्पत्तेः । संख्या च समुदायस्यैवार्थो न
प्रत्येकवर्णानामेकत्वं संघातस्यार्थ इति 'अइउण्' सूत्रस्थभाष्यस्वरसात् । तथा च तत्र
भाष्यं संघातस्यैकाभ्यात् सुबभावो वर्णोदित्यादिप्रकृत्यंशे वर्णव्यत्ययोपजनयोः सत्त्वेऽपि
संख्यान्तरानवगमात् संख्यासमुदायस्यैवार्थ इति तदाशयः । न चाव्ययेभ्य इवैकवचनं
दुर्वारमिति वाच्यम् । संख्याशून्यार्थके एव भाष्यप्रामाण्यात् तथाकल्पनेऽपि न
तद्युक्तार्थकेनाभिधायकत्वाद्युत्पत्तिः कल्पनार्हा मानाभावात् । गमकसत्त्वे एव
तत्कल्पनाच्च । एवं चैषां प्रत्ययोद्देश्यत्वरूपं प्रकृतिवमेव नेति न केवलेति न्यायस्यापि
नवतारः । एवं च न नलोपाद्यापत्तिरिति ग्राहः । एवं चानुभवविरुद्धार्थस्मरणपत्त्या
वर्णव्यत्ययोपजनादिसत्त्वेऽपि तर्कुः रज्जुरित्यादौ धात्वर्थान्तरानवगत्या गौरवेण
च न वर्णानां प्रत्येकमर्थवत्त्वमित्येव ज्यायः । स्पष्टं चेदम् 'अइउण्' सूत्र-
भाष्ये । एतच्चेति । समभिग्याहारवाचकत्वसमर्थत्वं चेत्यर्थः । चरमवर्ण एवेति ।

वर्ण एव वाचकत्वशक्तिः शक्तेर्व्यासज्यवृत्तित्वे मानाभावात् । पूर्वपूर्ववर्णानुभव-
जन्यसंस्काराश्चरमेणार्थधीजनने सहकारिण इति न तन्मात्रोच्चारणादर्थधीरिति
वर्णस्फोटवादिनां मत्तान्तरस्य दूषणायोक्तं रामोऽस्तीति वक्तव्ये रामित्यनन्तरं
घटिकोत्तरमकारोच्चारणेऽर्थबोधोपापस्या तादृशानुपूर्व्या एव शक्ततावच्छेदकत्वौ-
चित्यादिति दिङ् ॥ ६२ ॥

प्रकृत्यादिघटकचरमवर्ण एवेत्यर्थः । प्रथमादिवर्णे तु न शक्तिः । तन्मात्रोच्चारणादर्थ-
प्रत्ययापत्तेः । उत्तरवर्णानुभवजन्यसंस्कारस्य तदानुत्पादनेन प्रथमवर्णानुभवस्योत्तरोत्तर-
वर्णानुभवजन्यसंस्काराणां सहकारिसंभवात् । उत्तरोत्तरवर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत-
प्रथमादिवर्णानुभवजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वे तु विनिगमनाविरहेण तावद्वर्णसमुदाये शक्ति-
सिद्धयापत्तिरिति भावः । व्यासज्यवृत्तित्वे । अनेकवर्णपर्याप्तत्वे । मानाभावा-
दिति । चरमवर्णानुभवोत्तरमेवार्थबोधोदयेन तत्रैव वाचकत्वविश्रान्तिरिति भावः ।
नन्वेवं चरमवर्णमात्रोच्चारणेऽप्यर्थबोधोपापतिरत आह—पूर्वपूर्वेति । अत एव नेतरवर्ण-
नैरर्थक्यम् । दूषणायेति । दूषणायापि । अपिना पूर्वोक्तपक्षदूषणसमुच्चयः । अथवा
पूर्वोक्तपक्षस्यानेकपूर्वोक्तदोषपराहतत्वादेवैतत्पक्षदूषणस्यैवोद्देश्यतया दूषणायैवेत्यर्थः ।
आनुपूर्व्या एवेति । न तु चरमवर्णमात्रवृत्तितद्वयशक्तित्वादेः । ननु घट इत्यादौ घोट-
रावणोत्तरटकारोत्तरावणत्वादिरूपानुपूर्व्याश्चरमे वर्णे एव वृत्तेर्न तावद्वर्णसमुदायवृत्तित्व-
मिति कथं पदस्य वाचकत्वरूपमवदभिमतसिद्धिरिति चेन्न । आनुपूर्व्या पदार्थान्तरत्व-
वादिमीमांसकमते एतद्दोषासंस्पर्शात् । पूर्वोक्तरूपानुपूर्वीति मतेऽपि घाव्यवहितोत्तरावर्ण-
त्वस्यावर्णे तदव्यवहितपूर्वघटत्वादिरूपानुपूर्व्यास्तत्पदघटकसकलवर्णेषु विश्रान्तेरक्षतेः ।
एतासां नानात्वेन गौरवान्न शक्ततावच्छेदकत्वमिति चेन्न । अगत्या स्वीकारात् ।
अव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन पूर्वपूर्ववर्णसंश्लिष्टोत्तरोत्तरवर्णसमुदायत्वस्यानुपूर्वीरूपत्वाद्वा ।
अथवा चरमवर्णमात्रविश्रान्तानुपूर्वीं विषयिता व्यापकविषयताप्रतियोगित्वरूपानुपूर्वी-
घटकत्वं तेन संबन्धेनानुपूर्वीवाशक्ततावच्छेदिकेत्यङ्गीक्रियतां पदभेदघटकवर्णानां
भेदेऽपि घटत्वावच्छिन्नविषयितात्वेन वर्णविषयितानां तादृशानुपूर्वीविषयितान्याय-
कत्वं विवक्षणीयमिति नाव्यापकत्वासंभवादोष इत्यलं पक्षवितेन । ननु तादृश-
ानुपूर्व्याः सहकारित्वादेवोक्तातिप्रसङ्गवारणेऽलं तस्याः शक्ततावच्छेदकत्वकल्पनयेत्यत
आह—दिगिति । तदर्थस्तु समुदायस्यार्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकत्वानापत्तिः ।
अर्थबोधजनने सहकारित्वमात्रेण समुदायस्य प्रातिपदिकत्वस्वीकारेऽपि चरमवर्ण-

सुप्रतिष्ठन्तं पदमिति परिभाषितपदस्य वाचकत्वस्वीकर्तृणां मतमाह—

घटेनेत्यादिषु न हि प्रकृत्यादिभिदा स्थिता ।

वस्तुसादाविवेहापि संप्रमोहो हि दृश्यते ॥ ६३ ॥

घटेनेत्यादौ 'घटे' इति प्रकृतिर्नेति प्रत्ययः । घट इति प्रकृतिरेनेति प्रत्यय इति विभागस्य 'सर्वे सर्वपदादेशाः' इति स्वीकारे विशिष्य प्रकृतिप्रत्यययोर्ज्ञानासंभवाच्च वाचकत्वमित्यर्थः । वैयाकरणैर्विभागः सुज्ञेय इत्यतो दृष्टान्त-

मात्रस्यापि प्रातिपदिकत्वात् ततोऽपि प्रत्ययोत्पत्त्यापत्तिः । एवं चरमवर्णस्यैव वाचकत्वे तदर्थे विभक्त्यर्थान्वयो न स्यात् । तस्याप्रकृतित्वात् । समुदायस्य प्रकृति-त्वेऽपि प्रकृतार्थस्य तद्वृत्त्यनुपस्थित्या न तदर्थत्वाभावात् । किं च पङ्कजादिपदे समुदाये शक्त्यभावे यौगिकयोगरूढादिविभागोच्छेदापत्तिः । पाचक इति वक्तव्ये पाच इत्यनन्तरं घटिकादिव्यवधानेनाक इत्युच्चारणेऽपि पाककर्त्रेति बोधापत्त्या सर्वत्र समुदायानुपूर्व्या एव सहकारितयावयवानुपूर्व्या एव यत्र सहकारित्वं तत्र यौगिकमित्यादेर्वस्तुमशक्यत्वात् । ननु यत्स्वघटप्रकृत्यादिचरमवर्णशक्त्यैवाथोपस्थापकं तद्यौगिकं यथा पाचकादिपदं यत् स्वचरमवर्णशक्त्यैवाथोपस्थापकं तत् केवलरूढं यथा डित्यादिपदं यत्र स्वघटकप्रकृत्यादिचरमवर्णशक्त्या स्वीयचरमवर्णशक्त्या च पृथगुपस्थितयोरर्थयोः परस्परमन्वयस्तद्योगरूढं यथा पङ्कजादिपदमित्येवं विभागः संभवत्येवेति चेन्न । पाचकादिपदघटकप्रत्ययचरमवर्णे स्वचरमवर्णत्वस्यापि सत्त्वेन निरुक्तयौगिकत्वस्यासंभवापत्तेः । एवं गोपदे केवलरूढत्वं न स्यात् तच्चरमवर्णस्य तदघटकप्रत्ययचरमवर्णाभिन्नतया स्वचरमवर्णशक्त्यैवोपस्थित्यभावादित्यादिर्बोध्यः ॥ ६२ ॥

परिभाषितपदस्येति । तस्यैवेत्यर्थः । अर्थवत्पदत्वेनाभिमतप्रकृतिप्रत्ययव्युदासः । सुबन्तादेरेव प्रयोगेण व्यवहारात् तत्रैव शक्तिप्रहादिति भावः । अन्ये तु परिभाषितपदस्यापीत्यर्थे इत्याहुः । तादृशपदस्य वाचकत्वेऽन्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति मूले घटेनेत्यादिष्विति । तद्व्याचष्टे-घटेनेत्यादाविति । नेति प्रत्यय इति । अस्त्येति विभागस्य तत्रान्वय इति विभागस्य ज्ञानासंभवादिति योजना । निर्णयासंभवादित्यर्थः । विशिष्य ज्ञानासंभवादिति । वर्णयोरदेश इति पक्षे एकाररूप आदेशः । पूर्वावयवो वा परावयवो वेति संशयाहितस्तत्संशयः संभवति । सर्वे सर्वपदादेशा इति पक्षे तु वस्तुसादाविव संप्रमोहाद्विभागज्ञानमेव न संभवतीति भावः । कश्चिदत्र प्रकृतिभागः

व्याजेनाह—वक्षसाविति । ‘बहुवचनस्य वस्नसौ’ इति समुदायस्यादेश-
विधानान्नात्र तद्विभागः संभवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

सुपतिङन्तचयरूपवाक्यस्यापि तदाह—

हरेऽवेत्यादि दृष्ट्वा च वाक्यस्फोटं विनिश्चिनु ॥

अर्थं विशिष्य संबन्धाग्रहणं चेत् समं पदे ।

लक्षणादधुना चेत् तत्पदेऽर्थेऽप्यस्तु तत् तथा ॥ ६४ ॥

हरेऽव विष्णोऽवेत्यादौ पदयोः ‘एङः पदान्तादति’ इत्येकादेशे सति न
तद्विभागः सुज्ञानस्तथा च प्रत्येकपदाज्ञानेऽपि समुदायशक्तिज्ञानाच्छाब्दबोधात्
समुदायेऽप्यावश्यकं शक्तिः । एवं प्रकृतिप्रत्ययेषु विशिष्याज्ञायमानेष्वपि
समुदायव्युत्पत्त्या बोधात् तत्राप्यावश्यकैव शक्तिरिति भावः । वस्तुतः पदैः

स्यादिति ज्ञानं संभवत्येवेत्यतो विशिष्येत्युक्तम् । अयं प्रकृतिभागोऽयं कश्चित् प्रत्यय-
भागः इति ज्ञानासंभवादित्यर्थः । विभागः संभवतीति । तथा च यथा वैयाकर-
णानामपि वस्नसादौ विभागज्ञानं न संभवति तथा ‘सर्वे सर्वपदादेशाः’ इति पक्षे
रामेणेत्यादावगीति भावः । अत्र पक्षे टास्थानेनादेशं विदधतो भाष्यकारमतेऽपि वैया-
करणानामपि विभागज्ञानं न सुशक्यमिति बोध्यम् । एवं सत्यपि रामेणेत्यतो रामाभिन्नः
कर्तेत्यादिरूपबोधान्यथानुपपत्त्या सुबन्ताद्यात्मकपदस्य वाचकत्वमास्थेयमिति भावः ।
यत्र प्रकृत्यादिविभागकल्पना न संभवति तस्यैव पदस्य वाचकत्वं यत्र तु तथा
कल्पनासंभवस्तत्र प्रकृतिप्रत्यययोरेव वाचकत्वमित्याहुः । भाष्यतत्त्वविदस्तु एतादृशस्थले
पदस्य वाचकत्वे कृते सर्वत्रैव पदस्य वाचकत्वमन्यथार्धजरतीयतापत्तेर्व्यवहारात्तत्रैव
शक्तिग्रहाच्चेत्याहुः । एवं वाक्यस्फोटेऽपि मतद्वयं बोध्यम् ॥ ६३ ॥

तदाह । वाचकत्वमाहेत्यर्थः । पदयोरेङिति । वर्णयोरादेशपक्षे पदावयवचरण-
योरित्यर्थः । ‘सर्वे सर्वपदादेशाः’ इति पक्षे तु यथाश्रुतमेव साधु । तद्विभागः ।
पूर्वपदोत्तरपदविभागः । हरेऽवेत्यादावित्यादिपदाद् विष्णोऽव कृष्णावेत्यादिसंग्रहः ।
आदेशोनापहरो न प्रकृतिप्रत्ययभागयोर्यथा लिहं लिहौ लिह इत्यादौ तत्रापि समुदाय-
शक्तिरवश्यमप्युपेयेत्याह—एवं प्रकृतीति । मूले वाक्यस्फोटमिति । वाक्यं वाचक-
मित्यर्थः । ननु यत्र विभागज्ञानं न संभवति तथा वाक्यस्य वाचकत्वसिद्धावपि न सर्व-
वाक्येषु तस्मिन्निरत आह—वस्तुतः इत्यादिना । पदैः । घटादिप्रातिपदिकैः सुबन्तैर्वा

पदार्थबोधवद्वाक्येन वाक्यार्थबोध इति पदार्थशक्तिः पदेष्विव वाक्यार्थशक्ति-
र्वाक्येऽभ्युपेयेति पदस्फोटवाक्यस्फोटौ व्यवस्थितौ । अन्यथा घटः कर्मत्वमान-
यनं कृतिरित्यादौ तादृशव्युत्पत्तिरहितस्यापि बोधप्रसङ्गः । घटमानयेत्यत्रैव
पदार्थानामुपस्थितौ सत्यपि तात्पर्यज्ञाने बोधाभावाच्च । तत्रैव घटकर्मकमान-
यनमिति बोधे घटार्थकप्रातिपदिकोत्तरं कर्मत्ववाचकविभक्तेस्ततो धातोस्तत

यथा घटादिरूपार्थो बोध्यते तथा घटोऽस्तीत्यादिवाक्यैर्वाक्यार्थः प्रत्याप्यते परं तु प्राप्त-
विवेकेन संसर्गे सा शक्तिः पर्यवस्यतीति बोध्यम् । अन्ये तु विभक्त्यैव क्रिया-
कारकभावसंबन्धस्याभिहिततया तदंशे वाक्यशक्तेरसंभवेऽपि विशेष्यविशेषणभावे
वाक्यशक्तिः । विभक्तिप्रकृत्यर्थगतविशेषणत्वस्य विभक्तिशक्यत्वेऽपि विशेष्यनिष्ठमितर-
पदार्थविशेषणताप्रतियोजिकं विशेष्यत्वं तच्छक्यं बोध्यं विषयताया अपि शाब्दबोधे
मानमावश्यकमिति 'अर्थवत्—' सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तथा प्रातिपदिकार्थसूत्रे 'षष्ठी
शेषे' इति सूत्रे च भाष्ये । तत्र हि वीरः पुरुष इत्यादौ विशेषणविशेष्यभाववरूपं पदा-
धिक्यं स वाक्यार्थ इत्युक्तम् । आधिक्यमित्यत्र स्वार्थस्येति प्राहुः । वाक्ये शक्त्यकल्पने
बाधकमाह—अन्यथेति । तादृशव्युत्पत्तीति । घटः कर्मत्वमित्यादिवाक्यं घट-
कर्मकानयनबोधजनकमिति ज्ञानरहितस्येत्यर्थः । बोधप्रसङ्ग इति । घटकर्मकमानयन-
मिति बोधप्रसङ्गः । घटादिपदशक्तिग्रहवत् इति शेषः । तथा च घटमानयेत्य-
त्रेवात्रापि पदार्थोपस्थित्यादिघटितसामग्रीसत्त्वात् तथाविधबोधप्रसङ्ग इत्यर्थः ।
तादृशव्युत्पत्तिमतो बोध इष्ट एवेति तादृशव्युत्पत्तिराहित्यानुसरणम् । ननु घटः कर्म-
त्वमित्यादिवाक्यं स्वरूपायोग्यमेवेति न ततो बोधापत्तिः । घटेऽप्यवहितपूर्व-
वर्तित्वसंबन्धेनामुपदवत्त्वस्थामुपदे व्यवहितोत्तरवर्तित्वसंबन्धेन घटादिपदवत्त्वस्याकारे
आनयुपदवत्त्वस्यानयुपदेऽकारवत्त्वस्य वाकाङ्क्षात्वाद् घटः कर्मत्वमित्यादौ च
तादृशाकाङ्क्षाभावात् । घटपदे कर्मत्वपदवत्त्वादेशाकाङ्क्षात्वाभावात् शाब्दबोधजनक-
समभिव्याहारस्यैवाकाङ्क्षात्वादित्यत आह—घटमानयेत्यत्रैवेति । अत्रापि तादृश-
व्युत्पत्तिरहितस्येत्यनुषज्यते । बोधाभावाच्चेति । वाक्यशक्त्यनङ्गीकारे तु तज्ज्ञानेतर-
सकलकारणकलापसत्त्वाच्छाब्दबोधापत्तिरित्यर्थः । तत्रैव । घटमानयेत्यत्रैव । इति
ज्ञानवतो बोधादिति योजना । घटार्थकप्रातिपदिकेति । तेन कलशादिपदसंग्रहः ।
कर्मत्ववाचकेति । एतत्तु स्पष्टार्थम् । घटादिपदोत्तरामुपदस्य कर्मत्ववाचकत्वाव्य-

१. पदार्थबोध P., A., D. २. यत्र घटमानयेति प्रयोगस्तत्रैव घट° D_३. ३. घटार्थक-
पदोत्तरं D_१, D_३. ४. °वाचकामविभक्ते° D_१.

आख्यातस्य समभिव्याहारः कारणमिति कार्यकारणभावज्ञानवतो बोधात् तज्ज्ञानमपि हेतुरिति चेत् तर्हि सिद्धो वाक्यस्फोटः । घटादिपदार्थबोधे बोधकतारूपपदार्थशक्तिज्ञानकार्यकारणभावस्येव विशिष्टवाक्यार्थबोधे पदसमभिव्याहाररूपवाक्यनिष्ठबोधकतारूपवाक्यशक्तिज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनात् । अर्थोपस्था-

भिचारात् । क्वचित् कर्मत्ववाचकविभक्तैरित्येव पाठः । कर्मत्ववाचकविभक्तित्वेनौशसोः संप्रहः । तथा च घटकलशादिपदभेदेनामादिवचनभेदेन च न कार्यकारणभावबाहुल्यमिति भावः । धातोरित्यनन्तरं विकरणस्येति क्वचिद्वोच्यम् । परन्तु विकरणस्य सर्वत्र न निवेशः । ओदनं पपाचातीत्यादौ तदसत्त्वात् । यद्यप्यानयेत्यादावाख्यातस्यापि न श्रूयमाणत्वमनुसंधानं चोभयत्र समानमेव तथाप्याख्यातस्यार्थोपस्थित्यर्थमनुसंधानमावश्यकं विकरणस्य त्वनर्थकतया तदनावश्यकमिति नाभिहितम् । अथवा विकरणस्य निरर्थकत्वरूपप्राधान्यं सूचयितुं विकरणानभिधानम् । तज्ज्ञानमपीति । तथाविधकार्यकारणभावज्ञानमपि । हेतुरिति । तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यामेतादृशाकाङ्क्षाज्ञानहेतुत्वेनैवोपपत्तौ वाक्ये शक्तिसद्भावे मानाभाव इति भावः । सिद्धो वाक्यस्फोट इति । वाक्यस्य वाचकता सिद्धेत्यर्थः । विशिष्टवाक्यार्थबोधे । वाक्यार्थविशेषबोधे । घटकर्मकमानयनमित्याद्याकारकबोधे इति यावत् । पदसमभिव्याहारेति । उक्तपूर्वापरीभावान्न पदसमुदायरूपं च तद्वाक्यं चेत्यर्थः । इदं च घटमानयेति वाक्यादेव बोध इत्यभिप्रेत्य । यदि तु आनय घटमिति विपर्यस्तादपि वाक्यात् तथाविधबोधोऽनुभवसिद्धः । अत एव समर्थसूत्रे भाष्ये उक्तम् । यथेष्टमन्यतरेणाभिसंबन्धो भवति वाक्ये राज्ञः पुरुषः पुरुषो राज्ञ इतीत्युच्यते तदोक्तसमभिव्याहारमिव विपरीततिङन्तसमभिव्याहारमादाय तन्निष्ठप्रकृतिवाक्यार्थबोधकत्वग्रहस्यापि तथाविधबोधे कारणत्वं बोध्यम् । ननु तादृशकार्यकारणभावज्ञानमभ्युपगन्तव्यमन्यथा घटविषयकवृत्तिज्ञानात् पदादिविषयकबोधापत्तिः । एवं विषयभेदेन कार्यकारणभावभेदावश्यकत्वे हेतुत्वकल्पनेऽपि वाक्ये शक्तिः कथं सिद्धेत्यत आह—अर्थोपस्थापकेति । अर्थोपस्थापकं यज्ज्ञानं तद्विषयो यः शब्दस्तद्वृत्ति यज्ज्ञाननिरूपितकारणत्वं तस्येत्यर्थः । घटमानयेति वाक्यनिष्ठघटकर्मकानयनरूपवाक्यार्थज्ञानकारणत्वज्ञानस्य शक्तित्ववारणायाथोपस्थापकेति । प्रकृतार्थोपस्थापकेत्यर्थः । तेन तत्तद्दोषतादवस्थ्यम् । तथा च परमते या आकाङ्क्षा सेवास्माकं वाक्यशक्तिरिति नाधिक्यमिति भावः । ननु तद्विषयकशब्दबोधे तद्विषयकवृत्तिज्ञानस्य हेतुत्वप्रयोजनाभावेन संबन्धरूपविषयं निवेद्य कार्यकारणभावकल्पना

पक्षज्ञानविषयशब्दवृत्तिज्ञानकारणत्वस्यैव शक्तित्वात् । युक्तं चैतद्विषयतासंबन्धेन शाब्दबोधमात्रे वृत्तिज्ञानस्य लाघवेन हेतुत्वसिद्धेः । विवेचितं चैतद् भूषणे ।

तदंशे शक्त्यनभ्युपगमेऽपि तद्बोधोपपत्तिसंभव इत्याशङ्क्याह—युक्तं चैतदित्यादिना । विषयतासंबन्धेनेति । तथा च न विषयभेदेन कार्यकारणभावबाहुल्यमिति संबन्धांशे शक्त्यनभ्युपगमे तद्बोधानिर्वाहात् तत्र शक्तिस्वीकार आवश्यक इति भावः । ननु घटमानय घटमानयेत्यादि समभिव्याहारानन्त्याच्छत्तयानन्त्यं स्यादिति चेत् तवापि मते तत्तत्समभिव्याहारभेदेन कार्यकारणभावानन्त्यं स्यादिति गौरवस्य तुल्यत्वात् । यदि घटप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति घटार्थकपदोत्तरविभक्त्यादिजन्योपस्थितिर्हेतुः कार्यकारणतयोरवच्छेदकः संबन्धो विशेष्यता एवं विशेष्यतासंबन्धेन कर्मत्वप्रकारकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति कर्मत्वार्थकविभक्तिप्राग्वर्तिपदजन्योपस्थितिर्विशेष्यतासंबन्धेन हेतुः । इदं च कर्मत्वस्य द्वितीयाद्यर्थस्य प्रकृत्यर्थे विशेषणत्वाभ्युपगमे तु प्रकारतासंबन्धेन कर्मत्वविशेष्यकशाब्दे कर्मत्वार्थकविभक्तिप्राग्वर्तिपदेऽन्योपस्थितिर्विशेष्यतासंबन्धेन हेतुरिति विषयविशेषमनिवेश्य सामान्यत एव कार्यकारणभावः सर्वत्राभ्युपेयते तदा वाक्यशक्तिस्वीकारे तदानन्त्यापत्तिरतिरिच्यते इति चेत्तदा ममापि मते घटमानय पटमानयेत्यादिसकलवाक्यनिष्ठैकैव शक्तिरभ्युपेयते वाक्यार्थविषयिण्यास्तु निरूपितत्वादेः कर्मत्वादिसंबन्धस्यैक्यत्वात् । घटमानयेत्यत्र पटस्य पदादुपस्थित्यभावादेव न पटकर्मकबोधापत्तिः । वस्तुतस्तु घटप्रकारकशाब्दबोधे घटपदोत्तराम्पदजन्योपस्थितिर्हेतुरिति विशिष्यैव तत्तत्पदमन्तर्भाव्य हेतुहेतुमद्भावकल्पनमावश्यकम् । अन्यथा निराकाङ्क्षघटपदाद् घटोपस्थितौ कलशपदेऽगृहीतशक्तिकपुंसः कलशमानयेति वाक्याद्बोधापत्तेरिति बोध्यम् । एतत्सूचनायैव भूषणे यदि घटप्रकारकेत्यत्र यदित्युक्तम् । तत्तत्पदमन्तर्भाव्य तदुक्तौ तु नोक्तापत्तिः । तत्पदघटिताकाङ्क्षाज्ञानसहकृततत्तत्पदजन्योपस्थितेरेव सामग्रीमध्ये निवेशात् । ननु तथापि वाक्यनिष्ठबोधकतायाः शक्तित्वे किं मानमिति चेच्छाब्दबोधे संबन्धमानान्यथानुपत्तिरिति गृहाण । शाब्दबोधीयविषयताया वृत्त्या पदजन्योपस्थितिविषयत्वनियतत्वात् विषयतासंबन्धेन शाब्दबोधपदार्थोपस्थित्योर्विषयमनिवेश्य सामान्यत एव हेतुहेतुमद्भावकल्पनात् तत्पुरुषीयत्वं त्ववच्छेदककोटौ निवेश्यम् । अन्यथा पुरुषान्तरस्योपस्थितिसत्त्वे तच्छून्यस्यापि पुरुषस्य शाब्दबोधप्रसङ्गः । विषयं निवेश्यात्मानिष्ठप्रत्यासत्त्या तयोर्हेतुहेतुमद्भावकल्पनायां पुरुषापेक्षया विषयाणामाधिक्यादधिककार्यकारणभावापत्तिरन्यथा गृहीतशक्तिकघटादिपदाक्षराद्युपस्थितघटादेरापि शाब्दबोधापत्तिः । ननु सांसर्गिकविषयतातिरिक्तविषयतासंबन्धेनैव कार्यकारणभाव

करीक्रियतेऽतो न संबन्धे शक्तिस्वीकारावश्यकतेति चेदत्राहुः—ज्ञानरूपाया विषयताया
विशेष्यादित्रयसाधारण्या ऐक्यात् तथा निवेशनासंभवात् । अतिरिक्तविषयतापक्षेऽपि
तस्या ऐक्येनैवोपपत्तौ तत्त्रैविध्यानभ्युपगमात् । विषयस्वरूपा विषयतेति पक्षे त्रैविध्य-
संभवेऽपि सांसर्गिकविषयताभेदनिवेशे गौरवादित्यादिकं भूषणतोऽनुसंधेयम् । तदेतदभि-
प्रेत्याह विवेचितं चैतद् भूषणे इति । परे त्वन्वयांशे वाक्यशक्त्यनङ्गीकारे तं शाब्द-
यामीत्यनुव्यवसायानुदयापत्तिः । शाब्दसंबद्धबोधस्यैव तथानुव्यवसायविषयत्वात् ।
शब्दप्रयोज्यत्वस्यैव तथाविधानुव्यवसायभियामेकत्वे धूमपदोपस्थितधूमलिङ्गिकाया बहुध-
नुमितेरपि शब्दप्रयोज्यतया तादृशानुव्यवसायापत्तिः । ननु शाब्दत्वजातिरेव तथाविधानु-
व्यवसायहेतुः । सा च जातिराकाङ्क्षाज्ञानादिघटितसामग्रीजन्यशाब्दबोध एव न
तन्नुमितान्विति नोक्तापत्तिरिति चेत् तथापीमे वाक्ये परस्परं संबद्धे इति व्यवहारो विली-
येत शब्दानामर्थद्वारकसंबन्धस्यैवाङ्गीकारेण वाक्ययोस्तदविरहात् । न च प्रयोजनरूप-
बोधविषयद्वारको वाक्ययोरपि संबन्धः संभवत्येवेति वाच्यम् । ईदृशसंबन्धस्य संबद्ध-
व्यवहारनियामकत्वाभावात् । अन्यथा जन्यजनकभावादिसंबन्धासत्त्वे माथुरपाठलिपुत्रक-
योरपि संयुक्तसंयोगादिरूपपरम्परासंबन्धस्य स्वनिष्ठद्रव्यत्वादिमत्त्वस्य च सत्त्वेनेमौ
संबद्धाविति व्यवहारापत्तेरित्यलमिति प्रादुर्हित्यलं पल्लवितेन । इदं तु बोध्यम् । बहुषु स्थलेषु
पदस्फोटवाक्यस्फोटयोर्व्यवस्थितत्वेऽपि यत्र वाक्यस्यैव शास्त्रेण संस्कारस्तत्र वाक्या-
देवार्थबोधो न पदात् यथा षट् सन्त इत्यादौ । अत एव 'डः सि धुट्' इति सूत्रे भाष्ये
धुडादयः पूर्वान्ता एव किं न कृता इत्याशङ्का धृत्वापादनेन समाहिता । अन्यथा शक्त-
तावच्छेदकानुपूर्वीभेदापत्त्या सन्त इत्यतः स्वार्थबोधानुपपत्तिः स्यादिति परा-
दित्वस्यावश्यकत्वेन स विचारोऽसंगतिमापद्येतेति वन्दति । सर्वत्र श्रूयमाणानु-
पूर्व्येव शक्ततावच्छेदिका न तु स्मर्यमाणानुपूर्वी श्रूयमाणादेव बोधानुभवात्
स्थान्यादेशभावग्रहविधुराणां तत्स्मरणासंभवाच्च । एतेषु षट् सन्त इत्यत्रागम-
रहितानुपूर्व्येव तत्तदर्थशक्ततावच्छेदिका । अत एव सन्तः पूज्या इत्यादि-
वाक्यघटकं सन्त इत्यतः स्वार्थोपस्थापकं भवत्यतो न भाष्यस्थविचारसंगति-
रिति दूषणं निरस्ताम् । एवमेव घटेनेत्यादौ ढानुसन्धानपूर्वक एव शाब्दबोधः ।
तस्यैव नाम त्यागो दुहेत्यनुरोधेन कल्पनात् । एवं च स्थानिनः क्वचिदपि न श्रूयमाणता
यथा लकारादेस्तस्यैव न वाचकत्वमित्यपि निरसनीयम् । स्थान्यादेशभावज्ञानविधुरस्य

ननु वाक्यार्थस्यापूर्वत्वात् कथं तत्र शक्तिग्रह इत्याशङ्क्याह—अर्थ इति । वाक्यस्येति शेषः । वाक्यस्य वाक्यार्थं विशिष्य शक्त्यग्रहणं चेत् तर्हि पदेऽपि समम् । पद एवान्वयांशे शक्तिरिति पक्षेऽपि तद्ग्राह्यसंभवेऽस्तुल्य इत्यर्थः । यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञातान्वयांशे चाज्ञातोपयुज्यत इति कुब्जशक्तिवादस्तदा ममापि वाक्यशक्तिरज्ञातैवोपयुज्यत इति वादाभ्युपगमस्तुल्य इति भावः । ननु वृद्धव्यवहारं पश्यतो मनसा पदार्थवद्वाक्यार्थेऽपि तद्ग्रह इति चेत् तुल्यमित्याह—
लक्षणादिति । लक्ष्यते तर्क्यतेऽनेनेति लक्षणं मनस्तस्मात् । अपिः पदपदोत्तरं बोध्यः । पदेऽपि लक्षणात् तद्ग्रहश्चेत् तर्ह्यस्तु वाक्येऽपीति शेषः । वस्तुतस्तु समुदितार्थं विशिष्टवाक्यस्यैव प्रथमं तद्ग्रहः । आवापोद्वापाभ्यां परं प्रत्येकं तद्ग्रह इति बोध्यम् ॥ ६४ ॥

श्रूयमाणादेव बोधोदयेन तस्य वाचकत्वावश्यकत्वादिति दिक् । अपूर्वत्वात् । सर्वत्र शाब्दबोधात् प्रागज्ञानात् । तेन क्वचिदिन्द्रियेण तज्ज्ञानसंभवेऽपि नासंगतिः । तद्ग्राह्यसंभवः । अन्वये पदशक्तिग्रहासंभवः । वादाभ्युपगम इति । अज्ञातशक्तेरनुपयोग इत्यतोभ्युपगम इत्युक्तम् । तथा चात्र पक्षेऽनिर्भरः सूचितः । अत एव पक्षान्तरं मूले उक्तम् । तदवतारयति—नन्वित्यादिना । पदार्थवदिति । सप्तम्यन्ताद्वतिरुपमेय-वाक्यार्थे इति सप्तमीदर्शनात् । वाक्यार्थेऽपि । अन्वयेऽपि । तद्ग्रहः । पदशक्ति-ग्रहः । पदेऽर्थेऽप्यस्त्वित्यत्र वाक्यार्थपरार्थपदोत्तरवर्तिनापिशब्देन पदार्थसमुच्चयेऽसंग-त्यापत्तिः पदार्थे शक्तिग्रहस्याप्रतिक्षेपादत आह—अपिः पदपदोत्तरमिति । तद्ग्रहत्वे-दिति वाक्यार्थे शक्तिग्रहश्चेदित्यर्थः । एतावता ग्रन्थेन पूर्वं पदार्थे शक्तिग्रहस्तत्प्रयुक्त-पदार्थोपस्थितौ सत्यां पश्चान्नमनसोपस्थितसंबन्धे शक्तिग्रह इत्युक्तम् । अधुना तु व्यवहारदर्शनसहकृतमनसा वाक्यार्थे एव शक्तिग्रहः । पश्चादेवावापोद्वापाभ्यां तत्तत्पदस्य तत्तदर्थे शक्तिग्रह इत्याह—वस्तुतस्तित्वेति । अत्रापि वृद्धव्यवहारं पश्यत इत्यनु-षजनीयम् । तेन कोशादितो वाक्यशक्तिग्रहात् पूर्वं पदशक्तिग्रहेऽपि न क्षतिः । क्वचिदुप-देशेन वाक्ये विशिष्टवाक्यार्थनिरूपितशक्तिग्रहः पूर्वं भवति पश्चात्तद्वधटकपदशक्तिग्रहः । एतादृशस्थले षट् सन्त इत्यादौ च पदार्थज्ञानपूर्वक एव वाक्यार्थबोध इत्यस्य भङ्ग इत्याहुः । क्वचित् पदेभ्यः पदार्थानामुपस्थितौ सत्यामाकाङ्क्षासावित्र्याद्वाक्यार्थोपस्थितौ तदैव शक्तिग्रहो बोधश्च मूलभूतवाक्यार्थोपस्थितौ वृत्तिजन्यत्वाभावाच्छाब्दबोधादरः । न च पदानामेवान्वितत्वायै शक्त्यैवोपपत्तौ वाक्ये शक्त्यकल्पनं व्यर्थमिति वाच्यम् ।

इयमेव मीमांसकानां वेदान्तैकदेशिनां च गतिरित्याह—

सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति ये विदुः ।

भाट्टास्तेऽपीत्येवाहुर्लक्षणाया ग्रहे गतिम् ॥ ६५ ॥

भाट्टा इति तदनुयायिनां वाचस्पतिकल्पतरुप्रभृतीनामुपलक्षणम् । स्पष्टमेतत् । ननूक्तपक्षद्वयमनुपपन्नमुत्पत्तेरभिव्यक्तैकदासंभवेन वर्णसमूहरूप-पदज्ञानासंभवात् । तथा च सुतरां तत्समूहरूपवाक्यार्थज्ञानासंभव इति चेन्न । उत्तरवर्णप्रत्यक्षसमयेऽव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेनोपस्थितपूर्ववर्णवस्त्वं तथा तदुत्तर-प्रत्यक्षकाल उपस्थितविशिष्टतद्गर्णवस्त्वं तस्मिन् सुग्रहमिति तादृशानुपूर्वीघटित-पदत्वस्येव वाक्यत्वस्यापि सुग्रहत्वात् ॥ ६५ ॥

अन्वये शक्तिस्वीकारेऽप्यन्वयविशेषबोधनिर्वाहाय समभिव्याहारे तद्बोधकारणत्वमभ्यु-पेयम् । तथाकारणत्वाग्रहवतो बोधवारणाय तद्ग्रहस्यापि हेतुत्वमुपेयमिति वाक्यशक्तेर्नि-ष्प्रत्यूहत्वात् पदानामन्वये शक्तिकल्पनायां गौरवापत्तेश्चेत्याद्यन्यत्र विस्तरः । नन्वेवं पदार्थवद्वाक्यार्थस्य स्मृतिरेव स्यान्न त्वनुभव इति चेदत्राहुः । वाक्यार्थबोधस्यानुभव-रूपत्वाभावात् स्वर्गादिकं शृण्वतोऽपि स्वर्गादिकमनुभवामीत्यप्रतीतेः । किं तु शान्दत्वं ज्ञानत्वव्याप्त्यो जातिविशेष इति ॥ ६४ ॥

उक्तपक्षद्वयम् । पदं वाचकं वाक्यं वाचकमिति पक्षद्वयम् । अनुपपत्तिं स्पष्टयति—उत्पत्तेरिति । वर्णानां जन्यत्वमते उत्पत्तेरिति नित्यत्वमते त्वभिव्यक्तेरिति । एकदासंभवेनेति । यथेकदोत्पत्तिः स्यात् तदा युगपदुत्पन्नरूपरसादीनामिव प्रत्यक्षं स्यात् । एवमभिव्यक्तिर्नानावर्णानां युगपद्भवेत्तदा पदप्रत्यक्षवाक्यप्रत्यक्षोपपत्तिर्भवेत् । न चैकदा तत्संबन्धः । अभिव्यञ्जकतत्तत्स्थानानुयोगिकवायुसंयोगादेः क्रमिकत्वात् । उत्पत्तेरपि क्रमिकत्वेन आशुतरविनाशिनां क्रमिकाणां मेलनासंभवात् तावद्गर्णसमूहरूपपद-वाक्यप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति समुदितार्थः । तस्मिन् । उत्तरवर्णे । उपस्थितेति । स्मृते-त्यर्थः । पूर्ववर्णवस्त्वमिति । अस्य सुग्रहमित्यनेनान्वयः । उपस्थितविशिष्टेति । उपस्थितो यः प्रथमवर्णविशिष्टो द्वितीयो वर्ण इत्यर्थः । एवं चतुर्थादिवर्णप्रत्यक्षसमये उपस्थितप्रथमवर्णविशिष्टद्वितीयविशिष्टतृतीयवैशिष्ट्यं सुग्रहमिति रीत्या चरमवर्णप्रत्यक्षं पदवाक्यघटक्यावद्गर्णविषयकं संपद्यते इति न पदार्थबोधवाक्यार्थबोधयोरनुपपत्तिरिति प्रघट्टकार्थः । पदत्वस्येवेति । वाक्यशक्त्यनभ्युपगमेऽपि पदस्य वाचकत्वमभ्युपगम्यत

इदानीमखण्डपक्षमाह—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ ६६ ॥

पदे पचतीत्यादौ न वर्णाः नातो वर्णसमूहः पदमिति शेषः । दृष्टान्तव्याजे-
नाह—वर्णेष्विति । एकारौकारलकारककारादिवर्णेष्ववयवाः प्रतीयमाना अपि
यथा नेत्यर्थः । क्वचिदित्येव पाठः । एवं वाक्येऽप्याह—वाक्यादिति । पदा-
नामपि वाक्याद्विवेको भेदो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः—वाक्यं पदं वाखण्डमेव
न तु वर्णसमूहः । अनन्तवर्णकल्पने मानाभावात् । तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभि-
मतवायुसंयोगनिष्ठं तत्तद्वर्णजनकताया व्यञ्जकताया वावच्छेदकं वैजात्यमादा-
यैव ककारो गकार इत्यादिप्रतीतिवैलक्षण्यसंभवात् । स्पष्टं हि भामत्याम्—
'तारत्वादि वायुनिष्ठं वर्णेष्वारोप्यते' इत्युक्तं देवताधिकरणे । न चेवं वायु-
एव तन्निर्वाहोपयोगिपदत्वप्रकारकप्रत्यक्षोपपत्तिरुक्तीत्यैवाभ्युपेतव्या । एवं च वाक्य-
शक्त्यभ्युपगमपक्षे वाक्यत्वप्रकारकप्रत्यक्षमपि तथैव रीत्योपपद्यत इत्यर्थः । एकस्मृत्युपा-
रूढानां वर्णानामर्थबोधकत्वे संभवतीयं गुरुभूतरीतिर्नोपास्येति न शङ्क्यम् । आनुपूर्वी-
ज्ञानाभावेनार्थबोधानुपपत्तेरनुभवक्रमेणैव स्मरणमिति नियमाभावेन सरोरस इत्यादाववि-
लक्षणबोधोपपत्तेश्च ॥ ६५ ॥

इदानीम् । सखण्डपदस्फोटवाक्यस्फोटनिरूपणानन्तरसमये । तथा च प्रसङ्गोऽवसरो
वासङ्गतिरिति सूचितम् । अखण्डपक्षमाहेति । अघवादिति शेषः । ननु वर्णेष्वव-
यवा न चेति प्रकृतानुपयुक्तमित्याशङ्कां परिहर्तुमाह—दृष्टान्तेति । दृष्टान्तमिषेणेत्यर्थः ।
प्रतीयमाना अपि यथा नेति । सा प्रतीतिस्तु तत्तदुच्चारणविशेषव्यङ्ग्यतत्तद्वर्ण-
समानाकारध्वनिविशेषोपरागौपाधिकी भ्रान्तिरेवातो नार्थसाधिका । एकारादाववयवकल्पने
गौरवापत्तेः । क्वचिदित्येवेति । वर्णेष्ववयवा इति पाठ इत्यर्थः । अस्मिन् पाठे
दृष्टान्तता स्पष्टैव । प्रविवेकपदार्थमाह—भेद इति । विचिरं पृथग्भावे इति धात्वर्थानु-
सारात् । प्रविवेकपदं भेदार्थकमिति भावः । ककारादिप्रतीतिवैलक्षण्यान्यथानुपपत्तिरेव
मानमित्याशङ्कमपाकरोति—तत्तद्वर्णोत्पादेति । तत्तद्वर्णोत्पादकत्वेनाभितो यो वायुसं-
योगस्तन्निष्ठमित्यर्थः । जनकताया इति । जनकतानिरूपितं व्यञ्जकतानिरूपितं वा
यदवच्छेदकत्वं तद्वदित्यर्थः । प्रतीतिवैलक्ष्येति । वायुसंयोगगतं यत् कत्वादि तेन
रूपेण स्फोटो विभासत इति ककारः खकार इत्यादिविलक्षणप्रतीतिनिर्वाह इत्यर्थः ।
भामत्याम् । वाचस्पतिप्रण्ये । वर्णेष्वारोप्यत इति । अत एव तारो मन्द इति

संयोग एव वाचकोऽपि किं न स्यादिति वाच्यम् । प्रत्यक्षोपलभ्यमानककारादेरेव वाचकत्वस्यानुभवसिद्धत्वात् । तथा च वाचकत्वान्यथानुपपत्त्या तदेवेदं वाक्यं सोऽयं गकार इति प्रतीत्या च स्फोटोऽखण्डः सिध्यति । एतेन गौरित्यादै

एकवर्णविषयप्रतीतिव्यवहारयोरुपपत्तिः । अन्यथा विरुद्धधर्मद्वयस्यैकत्रानुत्पत्त्या न तद्वर्णभेदापत्तेः । एकस्मिन्नापि वर्णे किञ्चिदपेक्षया तारः किञ्चिदपेक्षया मन्द इति व्यवहारस्तु सकलजनसिद्ध एव । आरोपाभ्युपगमं तु नायं दोषः । अनारोपितस्यैव विरुद्धधर्मद्वयसंबन्धस्याश्रयभेदप्रयोजकत्वात् । प्रत्यक्षोपलभ्यमानेति । प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानो यः ककारादिः कत्वादिविशिष्टः कत्वादिप्रकारकप्रत्यक्षविषयस्येत्यर्थः । एवं शृणोमीत्यनुभवानुरोधेन च स्फोट आवश्यकः । संयोगस्य श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाभावात् । तदेवेदमिति । इत्यादित्रयस्य प्रतीत्येत्यत्रान्वयः । तदेवेदं पदमित्याद्याकारकप्रतीत्येत्यर्थः । न च व्यक्तिभेदेऽपि तदेवेदमौषधं तदेवेदं नखं त एवेमे केशा इत्यादिप्रतीतिवत् सा जात्यवलम्बनोक्तप्रतीतिरिति वाच्यम् । तज्जातीयमिदं पदमित्यादि व्यवहारस्याप्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । तदेवेदं पदमित्यादिव्यवहारस्यैवेष्टत्वात् । एवमेकं पदमेकं वाक्यमिति बुद्धिरपि तत्साधिका बोध्या । न चैकसमुदायविषयत्वात् सेनावनादिवदेको धान्यराशिरितिवचोपपत्तिरिति वाच्यम् । वनराश्यादेरप्यतिरिक्तस्याङ्गीकारात् । अपि चैकदेशस्थत्वादिरूपोपाधेरैकत्वेनैको धान्यराशिरित्यादिप्रतीतिस्तादृगुपाधिविषयत्वेनोपपत्तावपि प्रकृते चोपाध्यसंभवेन तदसंभवात् । न चैकार्थमुख्यविशेष्यकबोधहेतुत्वं तथा । व्याससमाससमुदायेऽतिप्रसङ्गात् । न चायं किञ्चित्पदार्थाविशिष्टत्वं निवर्त्यम् । समासेऽप्याप्तेः । घट इति प्रकृत्यंशोऽतित्यासेश्च । एकार्थबोधहेतुत्वेनैकत्वसिद्धावेकत्वेनैकार्थबोधहेतुत्वासिद्धिरित्यन्योन्याश्रयापत्तश्चे । अर्थबोधाभावेऽपि अप्रासङ्ग्यार्थकपदश्रवणे एकं पदमिति प्रतीतिश्च । न चैकबुद्धिविषयत्वालम्बनैककर्तृकं पदमित्यादिप्रतीतिरिति वाच्यम् । अनेककर्तृकोच्चारणविषयेऽपीदमेकं घटपदमिति प्रत्ययस्येष्टस्यानुपपत्तेः । न च तत्रैकबुद्धिविषयत्वाभावात् तत्र नेष्यत एवेति वाच्यम् । तस्यैक एव शब्दोऽनेकक्रतुष्वाविर्भवतीत्यादिसरूपसूत्रभाष्यासिद्धत्वात् । न चैकजातीयबुद्धिविषयत्वं तत्र निमित्तमिति वाच्यम् । पदादिरूपविषयैक्याधीनं बुद्धीनामेकजातीयत्वमेकजातीयबुद्धिविषयत्वनिबन्धनं च विषयैक्यमित्यन्योन्याश्रयत्वात् । न चैकजातीयत्वमेकाकारत्वं तच्च विषयैक्यं विनाप्युपपन्नमिति नान्योन्याश्रय इति चेत् पदादिरूपावयविनोऽप्यतिरिक्तस्य सिद्धयनापत्तेः । एकः पट इति व्यवहारोऽतिरिक्तावयविसाधक इत्युपेत्येते तर्हि प्रकृते स न पाणिपिहितः । न चैक इन्द्रशब्द इत्यस्यैकजातीय

गकारौकारविसर्गादिव्यतिरेकेण स्फोटाननुभवाच्छ्रयमाणवर्णानामेव वाचकत्व-
मस्त्वित्यपास्तम् । तेषां स्फोटातिरिक्तत्वाभावात् । यत्तु वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे
प्रत्येकत्वे प्रत्येकादर्थबोधापत्तिः । समुदायस्य तु क्रमवतामाशुतरोत्पन्नानां
तथैवाभिव्यक्तानां वा ज्ञानमसंभवेव । पूर्वपूर्ववर्णानुभवसंस्कारसहकारेणै-
कदा समूहालम्बनरूपसकलज्ञानसंभवस्तु सरोरसोजराराजनदीदीनादिसाधारण
इत्यतिप्रसङ्ग इति स्फोट एवाखण्डो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचक इति कैयटः ।
तत्तुच्छम् । पदज्ञानसंभवस्योपपादितत्वाद्गणानां प्रत्येकं व्यञ्जकत्वं समुदितानां
वेत्यादिविकल्पप्रासाच्च । ननु त्वम्भतेऽप्येष दोषः । तत्तद्गणोत्पादकत्वेनाभिमत-

इन्द्रशब्द इत्यर्थ इति वाच्यम् । अनेकशब्दकल्पनापेक्षया तदेकत्वस्यैवोचितत्वात् ।
एकजातीयत्वावलम्बनायाः पञ्चादिघटेष्वपि एको घट इति प्रतीतेरापत्तेश्च । एकजातीय
इन्द्रशब्द इत्यव्यवहाराच्चेति कृतं पल्लवितेन । वर्णानामेवेति । तावद्गणविषयकप्रत्यक्षं तु
प्रागुपपादितमेवेति भावः । तेषां वर्णानां स्फोटातिरिक्तत्वाभावादिति व्यञ्जकवायुसंयोग-
गतगत्वादिना स्फोटस्यैव भानादिति भावः । वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वं तत्समुदायस्य
वेति विकल्प्य नाद्य इत्याह-वर्णानां प्रत्येकमिति । नान्य इत्याह-समुदायस्य
त्विति । एतस्य ज्ञानमित्यनेनान्वयः । आशुतरोत्पन्नानामिति आशुतरविनाशिना-
मित्यस्याप्युपलक्षणम् । एतेनाशुतरोत्पन्नानामपि क्रमवतां चिरस्थायिनां पदार्थानां ज्ञानं
संभवत्येवेत्यसंभवेत्युक्तिरसंगतेत्यपास्तम् । तथैव । क्रमेणैव । तथा च वर्णानां
जन्यत्वपक्षे तत्समुदायस्यैवासंभवात् । तज्ज्ञानासंभवः नित्यत्वपक्षे समुदायसंभवेऽपि
तज्ज्ञानासंभव इति भावः । संस्कारेणेति । एतत्सहकारः श्रोत्रेन्द्रिये चरमवर्णानुभवे
वा बोध्यः । तथा च चरमवर्णविषयकानुभवस्तथाविधसंस्कारवशात् तज्जन्यस्मृति-
वशाद्वा तावद्गणविषयकः । तथाविधसंस्कारसहकृतचरमवर्णानुभवेन स्वजन्यसंस्कारद्वारा
तावद्गणविषयकं समूहालम्बनरूपं स्मरणं वा जन्यते तेनार्थबोध इति भावः । साधारण
इति । उभयत्रापि समूहालम्बनस्य समनियतविषयताकत्वात् । न च येन क्रमेणानुभवे
विषयभानं तेनैव क्रमेण स्मरणेऽपीति न विशेष इति वाच्यम् । तादृशनियमासिद्धेः ।
येन क्रमेणानुभवस्तद्विपरीतक्रमेणापि स्मरणस्यानुभवसिद्धत्वात् । न च वर्णानुभवस्मरण-
योरेव तथा नियम इति वाच्यम् । मानाभावात् । सरोरस इत्यादावर्थबोधवैलक्षण्यानु-
रोधात् तथा कल्प्यत इति चेन्न अतिरिक्तस्फोटकल्पनयापि तदुपपत्तेः । त्रिचतुरादिपदा-
द्यनुभवे तद्विपरीतक्रमेण स्मरणानुभवाच्च । विकल्पेति । यदि प्रत्येकं व्यञ्जकत्वं तर्हि

प्रथमवर्णेनैव व्यञ्जनसंभवे इतरवर्णवैयर्थ्यम् । समुदितानां व्यञ्जकत्वं त्वसंभवि । चरम-
वर्णस्य व्यञ्जकत्वेऽपि तदितरवर्णवैयर्थ्यम् । पूर्वपूर्ववर्णानुभवजसंस्कारसहितचरमवर्णानु-
भवस्य व्यञ्जकत्वे तस्यैवार्थप्रत्यायकत्वमस्त्वलमातिरिक्तस्फोटाङ्गीकारेणेति भावः । परे तु
उक्तीत्या पदज्ञानसंभवोपपादनं न युक्तम् । अयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिभाषासंभवात् ।
तादृशाभिभाषभावे 'इको यणचि' इत्यादिशास्त्राणामसंगत्यापत्त्येष्टापत्तेरयोगात् ।
मन्मते तु नानारञ्जनसाधनद्रव्याहितनानावर्णोपरागेण पटादेर्मानवदुच्चारितवर्णक्रमेणैव तत्त-
द्गर्णगतकत्वादिना स्फोटाभिव्यक्तिस्तत्रैव बुद्धिविषये पौर्वापर्यव्यवहारसंभवः । अत एव
सरो रस इत्यत्र विलक्षणार्थबोधोपपत्तिः । नष्टविद्यमानयोरव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धस्य कालिक-
संबन्धवद्भक्तुमशक्यत्वाच्च । एतेन नष्टविद्यमानपुरुषयोरयं पूर्वोऽयं पर इति व्यवहारवद-
त्रापि पौर्वकालिकत्वादिनिबन्धनः स व्यवहार उपपद्यत इति परास्तम् । तथापि तयोः
संबन्धानुपपत्तेर्जागरकत्वात् वक्तुमशक्यत्वाच्च कालिकसंबन्धवत् । एवं पदप्रत्यक्षोपपादने-
ऽपि तत्र वृत्त्याश्रयत्वज्ञानासंभवाच्च पदस्याविद्यमानत्वादविद्यमानेऽप्याश्रयत्वोपगमेऽ-
तीतघटो जलवानिति प्रत्ययापत्तिः । अबाधितार्थकतया तज्ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिश्च ।
नन्विदानीमीतीते वृत्त्याश्रयत्वाभावेऽपि पूर्वकालावच्छेदेन वृत्त्याश्रयत्वं तत्र सुघटमेवातीत-
घटे रूपाद्याश्रयत्ववदिति चेन्न । वर्णसमुदायात्मकपदस्य पूर्वमप्यसत्त्वात् । घटस्य
पूर्वसत्त्वेन तत्र तदा रूपाद्याश्रयत्वमुपपद्यते एवेति स्पष्टम् । नन्वतीतघटो जलवानिति
प्रत्ययो नापादयितुं शक्यः । मतुपा वर्तमानसंबन्धस्यैवाभिधानात् । 'तदस्यास्त्यस्मिन्'
इति सूत्रेण तथैव बोधनात् । एवं च बुद्धिविषयार्णसमुदायात्मकपदे वृत्त्याश्रयत्वाङ्गीकारं
न किञ्चिद्बोधकम् । अत एवातीतघटं जानामीति प्रयोग उपपद्यते । अन्यथातीतघटे
इदानीन्तनज्ञानाद्याश्रयत्वाभावात् तदनुपपत्तिः स्पष्टैवेति चेन्न । एवमपि पदवाक्ययोरभा-
वेन शब्दार्थसंबन्धस्यैव हानिः । तदुक्तं वाक्यपदीये—

‘अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्’ इति ।

पदसमुदायरूपवाक्यवद्गर्णसमुदायरूपपदस्यापि विरहादर्थसंबन्धस्योभयत्राप्यसत्त्वादिति
तद्भावः । एवं तदेवेदं कृष्णपदमेकं पदमेकं वाक्यमिति बुद्धेरनुपपत्तिश्च । उपपादितं तत्त्व-
मेतत् । किं त्वेवमुच्चारणभेदमिन्नशब्देषु शक्तिप्रहासंभवः । व्यक्तिवादवदानन्त्यव्यभिचार-
प्रसरात् । गृहीतशक्तिकादेव बोध इति नियमे व्यभिचारोऽवगन्तव्य इति दिक् । एवं च
कैयटोक्तमेव सम्यगिति प्राहुः । स्फोटश्च परापश्यन्तीमव्यमावैखरीतिचतुर्विधवाङ्मन्ये
या मन्थमा वाक् तस्या यो नादांशस्तदात्मकः । विस्तरस्तु हरिप्रण्यादवगन्तव्य
इति मञ्जूषायां स्पष्टम् । स चाखण्ड एकवर्णस्वीकारपक्षे यद्यप्येकैकवर्णेनाभिव्यज्यते

वायुसंयोगानां प्रत्येकं व्यञ्जकत्वं समुदितानां वेति विकल्पगणसंभवादिति चेदु-
च्यते । प्रत्येकमेव संयोगाभिव्यञ्जकाः परं तु कचिद्वेन केचिदौत्वेन केचि-
द्विसर्गत्वेनेत्यनेकैः प्रकारैरत एव वर्णानां तदतिरेकास्वीकारोऽप्युपपद्यते । एवं

तथापि नेतरवर्णवैयर्थ्यमन्त्यवर्णाभिव्यक्तस्यैव तस्य बोधहेतुत्वात् । न च तथापि तदि-
तरवर्णवैयर्थ्यं दुर्वारमेवेति वाच्यम् । पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्काराणामपि सहकारित्वात्
संस्काराणां च स्थिरतया नोक्तोपपत्त्यसंभवः । अनुभवश्च तदानन्तन उपादेयः । नातो देव-
दत्तादिपदे दकारादिवर्णानां सार्थक्यं दुरुपपादम् । कालान्तरीयताद्वर्णानुभवजनितसंस्का-
राणां सत्त्वादिति दूषणावकाशः । संस्कारोद्बोधनार्थं चारिताश्याच्च । उद्बुद्धसंस्काराणामेव
सहकारित्वात् । न चेवं स्फोटवैयर्थ्यम् । दत्तोत्तरत्वात् । 'परः संनिकर्षः-' इति सूत्र-
भाष्येऽप्युचरितप्रवृत्तानां वर्णानां संनिकर्षः पौर्वापर्यं चानुपपन्नमिति शङ्कापनोदायोक्तम्

‘ बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्त्वन्नीतिः ।

शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ॥

बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम् । इह य एष मनुषः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यत्य-
स्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्योऽस्मिन्तावच्छब्देऽयं तावद्वर्णस्ततोऽयं ततोऽयमिति ।
तत्त्वन्नीतिः सकलविषयकज्ञानवान् । धीरः पाण्डित्यभाक् बुद्धावन्तः करणे चेष्टाः कण्ठाय-
भिघातव्यापारजन्यशब्दान् प्रतिबिम्बितान् कृत्वा शब्देनेति साहित्यं तृतीया तथा च
तत्साहिततद्वाच्यार्थान् बुद्धावुपदेशे दृष्ट्वा तत्रैव पौर्वापर्यव्यवहारं कुर्यादिति तदर्थः ।
बुद्धिविषयमित्यस्य बुद्धिस्थशब्दविषयमित्यर्थः । य एष इत्यादिना वक्तृबुद्धिस्थत्वोप-
पादनं तु शास्त्रस्य वक्तृदेशेनैव प्रवृत्तेस्तस्यैव धर्मफलश्रवणाच्चेति बोध्यम् । बुद्धिगतपौर्वा-
पर्यस्य वर्णेष्वारोपपरमिदं भाष्यमिति तु न युक्तम् । बुद्धीनामपि क्रमिकोत्पन्नाशुविनाशि-
तया पौर्वापर्यासंभवात् । एवमयमिति प्रत्यक्षविषयमात्रपरामर्शकेदमाभिलाषासंभवोऽपि
स्फोटानङ्गीकारे बोध्यः । तदङ्गीकारे तु स्वमात्रश्रव्यसूक्ष्मोच्चारणव्यङ्ग्यत्वेन तदुप-
पत्तिरिति भावः । एष दोष इति । विकल्पात्मको दोष इत्यर्थः । तमुपपादयति-तत्त-
द्गर्णेति । प्रत्येकं व्यञ्जकत्वमिति । तथात्वे च तदितरवायुसंयोगोपादाननैरर्थक्या-
पत्तिरिति भावः । नाभिप्रदेशादुद्गतवायोस्तत्तत्स्थाने क्रमेणैव संयोगोत्पत्त्या समुदितानां
वायुसंयोगानामसंभवो बोध्यः । प्रत्येकं संयोगानामभिव्यञ्जकत्वेऽपि कश्चन गत्वेन
कश्चनौत्वेन कश्चिद्विसर्गत्वेन रूपेण स्फोटमभिव्यनक्ति । तथा च तावद्रूपवैशिष्ट्येनाभि-
व्यक्तस्यैव तस्यार्थबोधकत्वमिति न कस्यापि वायुसंयोगस्य वैयर्थ्यमित्याशयेन समाधत्ते
-प्रत्येकमवेति । अत एव । वायुसंयोगानां स्ववृत्तिगत्वादिनाभिव्यञ्जकत्वादेव ।
तदतिरेकास्वीकारोऽपि । स्फोटातिरिक्तास्वीकारोऽपीत्यर्थः । वायुसंयोगस्य

चाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन घटत्वं टकारे गृह्यते । एतादृशपदज्ञानकारणताया
अविवादात् । परं त्वव्यवहितोत्तरत्वं स्वज्ञानाधिकरणक्षणोत्पत्तिकज्ञानविषयत्वं
वाच्यमत एव धैज्ञानानन्तरटज्ञानविषयत्वरूपापुर्व्वीत्यादिनैयाधिकवृद्धानां
व्यवहारः । एवं च न कश्चिदोषः । एतेन पर्यायस्थलेष्वेक एव स्फोटो नाना वा ।
नायः । घटपदे गृहीतशक्तिकस्य कलशपदाद्वोधप्रसङ्गात् । न च तत्पर्याया-
भिव्यक्ते शक्तिग्रहस्तत्पर्यायश्रवणेऽर्थधीहेतुरिति वाच्यम् । एवं सति प्रतिपर्यायं
शक्तिग्रहावश्यभावेन तत्तत्पर्यायगतशक्तिग्रहहेतुताया उचितत्वात् । तथा सति
शक्तिग्रहत्वेनैव हेतुत्वे लाघवाच्च । अन्यथा तत्पर्यायाभिव्यक्तगतशक्तिग्रहत्वेन
गत्वादिनाभिव्यक्तत्वानुपगमे तु तथाभिव्यक्तयेऽतिरिक्तवर्णस्वीकार आवश्यको भवेदिति
भावः । ननु वायुसंयोगानां पूर्वोक्तदिशा यौगपद्यासंभवेन कथं युगपत्तद्रूपेण स्फोटा-
भिव्यक्तिसंभव इति चेन्न । नाभिप्रदेशादुद्गतवायोः स्थूलतया युगपदेवानेकस्थानेषु
नानासंयोगोत्पत्तिसंभवेनोक्तदोषानवकाशात् । नन्वेवमपि पदाभावेन पदज्ञानस्यार्थधी-
कारणतासंभवदुक्तिकेवेत्याशङ्कामपनुदति-एवं चेति । वायुसंयोगगततत्तद्रूपेण स्फोटा-
भिव्यक्तौ चेत्यर्थः । गृह्यत इत्यस्य यत्रेति शेषः । तथा च यत्र ज्ञाने घटत्वं टकारे
भासते तादृशयत्पदज्ञानं तत्कारणताया इत्यर्थः । अविवादादिति । सर्वगतत्वादित्यर्थः ।
ननु धैत्वटत्वादिना भासमानस्य स्फोटस्य नित्यतया स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षण-
ध्वंसानधिकरणत्वविशिष्टस्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणत्ववान् यः क्षणस्तदुत्पत्तिकत्वरूप-
मव्यवहितोत्तरत्वमसंबन्धीत्यत आह-परं त्वव्यवहितोत्तरत्वमिति । स्वज्ञानेति ।
त्वं घत्वे भासमानः स्फोटः । एतादृशाव्यवहितोत्तरनिवेशो न दृष्टवर इत्याश-
ङ्क्याह । अत एवेति । परिमलोक्तं स्फोटखण्डनं दूषयति-एतेनेति । उक्तवक्ष्य-
माणहेतुभिरित्यर्थः । घटपद एवेति । घटपदाभिव्यक्ते एवेत्यर्थः । कलशपदादिति ।
कलशपदाभिव्यक्तादित्यर्थः । बोधप्रसङ्गादिति । स्फोटस्यैक्ये न घटपदाभिव्यक्ते
तत्र शक्तिग्रहस्य कृतत्वात् कलशपदाभिव्यक्तादपि ततोऽर्थबोधप्रसङ्ग इत्यर्थः । वर्णसमु-
दायरूपपदस्य वाचकत्वमते तु नायं दोषः । तेन शब्देन बोधे जननीये तच्छक्तिग्रहस्य
हेतुत्वात् । अर्थधीहेतुरिति । तत्पर्यायश्रवणजाभिव्यक्तिस्तत्पर्यायाभिव्यक्तशक्तिग्रह-
सहकृतार्थधीहेतुरित्यर्थः । तत्पर्यायश्रवणेन स्फोटाभिव्यक्तिद्वारार्थबोधे जननीये
तत्पर्यायाभिव्यक्तिशक्तिग्रहः सत्यकारणमिति वार्थः । तत्तत्पर्यायगतशक्तिग्रहहेतुताया
उचितत्वे हेतुमाह-तथा सतीति । शक्तिग्रहत्वेनैवेति । तत्तत्पर्यायगतशक्तिग्रहत्वे-
नैवेत्यर्थः । अथवा उपधायकतासंबन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विषयतासंबन्धेन
शक्तिग्रहत्वेनैवेत्यर्थः । लाघवाच्चेति । चो हेतौ । कारणतावच्छेदकलाघवादित्यर्थः ।

तत्त्वे गौरवात् । न द्वितीयः । अनन्तपदार्थानां तेषां शक्तिं चापेक्ष्य कृत्वर्ण-
ध्वेव शक्तिकल्पनस्य लघुत्वादिति परिमलोक्तमपास्तम् । पर्यायेष्वनेकशक्ति-
स्वीकारस्य सर्वसिद्धत्वात् तदवच्छेदकानुपूर्व्याः प्रागुपपादनादिति दिक् । शब्द-

तत्त्वे । हेतुत्वे । परिमलोक्तमिति । परिमलाद्युक्तमित्यर्थः । आदिना न्यायरक्षा-
मणिपरिग्रहः । सर्वसिद्धत्वादिति । स्फोटानभ्युपगन्तुमतेऽपि पर्यायभेदेन शक्ति-
भेदस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । ननु स्फोटस्य नानात्वे गौरवमेकत्वे कथं शक्तिभेद
इत्याशङ्क्याह-तदवच्छेदकेति । तथा च स्फोटस्यानभ्युपगमस्यैक्येऽपि शक्तिताव-
च्छेदकानुपूर्वीभेदाच्छक्तिभेदः । शक्यतावच्छेदकभेदेन तद्भेदवदिति भावः । स्फोटा-
तिरिक्तवर्णानामभावेन घटपदे एव गृहीतशक्तिकस्येत्यादिदोषानवकाशः । नन्वतिरिक्त-
वर्णानभ्युपगमेऽपि घटत्वादिनाभिव्यक्त एव गृहीततत्तच्छक्तिकस्य पुंसः कलशत्वा-
दिनाभिव्यक्तादपि स्फोटाच्छाब्दबोधापत्तिरूपो दोषस्तदवस्थ इति चेन्न । तत्तदनुव्यव-
च्छिन्ने शक्तिग्रहस्य तत्तदानुपूर्वीप्रकारकज्ञानेन बोधे जननीये सहकारित्वात् ।
वर्णानामतिरिक्तानामभ्युपगमपक्षेऽपि तत्तद्वर्णगतरूपरूपितस्यैवार्थे संकेतग्रहान्न घटशब्दे
एव गृहीतशक्तिकस्य पुंसः कलशादिपदश्रवणे बोधापत्तिरित्याहुः । स च स्फोटात्मकः
शब्दो वस्तुत एकोऽपि तत्तद्वर्णविषयकसंस्कारैः प्रतिबिम्बिततत्तद्रूपोजन्तरूपतामिवापन्न
इति सर्वपदरूप इति बोध्यम् । स्फोट एव कत्वादिना व्यज्यते इति 'एओङ्' सूत्रभाष्ये
ध्वनितम् । तत्र हि नरसिंहवज्रात्यन्तरवर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्त इति मते कृत्
इत्यत्र 'कृपो रोलः' इति रत्वं न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य 'अथबोभयतः स्फोटमात्रं
निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति' इत्युक्तम् । अत्रेदमाकृतं भाष्यकृतम्-वस्तुतो यद्गतं
रत्वं तादृशो न कश्चिद्वर्णः किं तु तद्रूपेण स्फोटस्यावभासमात्रमतो रत्वावभासमानस्फोट-
प्रसङ्गे लत्वावभासमानस्फोटो भवति इत्यर्थो वर्णनीयः । अन्यथा कल्पत इत्यादावपि
न प्रवर्तते । एवं कृपावपि रेफावभासात् क्लृप्त इत्यादावपि लत्वं सिद्धम् । एवं दीर्घाकारादौ
ह्रस्वप्रयुक्तकार्यातिप्रसङ्गस्तु न तत्र ह्रस्वावभासविरहादिति । अन्तर्भूतानन्तर्भूतसाधारण-
जातिनिर्देश इत्येतत्परिमिदं भाष्यमिति तु न पेशलम् । अन्तर्गते रत्वजातिसत्त्वे माना-
मावात् । नरसिंहवज्रणीन्तरमिति स्वोक्तिविरोधाच्चेति विस्तरेण निरूपितं विवरणादौ
सूरिमिः । किं चैवं स्फोटानङ्गीकारे द्रुतमध्यमविलम्बितवृत्तिषु प्रयत्नभेदेन चिराविरकालो-
च्चारणजन्यत्वाद्-ह्रस्वाकारस्यापि कालभेदेन यत्किञ्चिदेकवृत्तौ तत्परकरणे तदन्यवृत्तौ अतो
मिस ऐसनापत्तिः । तदङ्गीकारे तु न क्षतिः । तदभिव्यक्त्यनन्तरं जायमानो यो वैकृतध्वनि-
स्तेन चिरकालं चिरतरकालं मध्यमायां विलम्बितायामुपलब्धिर्भवति । एवं चोपलब्धेरेव

कौस्तुभे तु वर्णमालायां पदमिति प्रतीतेर्वर्णातिरिक्त एव स्फोटोऽन्यथा कपाला-
तिरिक्तघटासिद्धिप्रसङ्गश्चेति प्रतिपादितम् ॥ ६६ ॥

कालभेदो न तु स्फोटे इति वक्तुं शक्यत्वात् । तमेवायं द्रुतमुच्चारितवानन्यो विलम्बितमिति
प्रत्यभिज्ञानसत्त्वात् । ह्रस्वदीर्घादौ त्वेवं न प्रत्यभिज्ञेति तपरकरणेऽपि न ह्रस्वप्रयुक्तस्य
कार्यस्य दीर्घादावापत्तिः । अन्यत्वे तु वर्णानामाशुतरविनाशित्वाभ्युपगमाच्चिरमुपलब्धि-
दुर्घटैव स्यादिति बोध्यम् । तदुक्तं तपरसूत्रे भाष्यकृद्भिर्वृत्त्यन्तरे ऐसोऽनापत्तिरित्याशङ्काया
अपनुत्तये “ एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः । कथम् । यथा मेर्या हन्ता मेरीमा-
हत्य कश्चिद्विशतिपदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत् कश्चित्त्वारिंशत् स्फोटस्तावानेव भवति
ध्वनिकृता वृद्धिः ।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ॥ ”

इति । स्फोटः शब्द इति । श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटनामकः पदार्थः स्फोटाभिव्यक्तयुतं
जायमानवैकृतध्वनिध्वनिपदेनात्र विवक्षितः । स च स्फोटात्मकस्य शब्दस्योपकारकत्वा-
द्गुणः । मेरीमाहत्येत्यस्य तं शब्दमुपलभमान इति शेषः । ध्वनिकृतेत्यत्रापि ध्वनिपदं
वैकृतध्वनिपरम् । ध्वनिः स्फोटश्चेत्यस्य स्त इति शेषः । शब्दानां शब्दसंबन्धी ध्वनिः ।
वैकृतध्वनिस्तु केषांचिदल्पोऽल्पकालमुपलब्धिजनकः । केषांचिन्महान् बहुकाल-
मुपलब्धिजनको लक्ष्यते । तत्र प्रमाणमावेदयति—उभयं तत्स्वभावतः इति । सिद्धमिति
शेषः । हरिरप्याह—

“ स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ।

स्वभावतस्तु नित्यत्वाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ॥

प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥ ”

इत्याद्यन्यत्र विस्तरः । स्फोटसाधिकां कौस्तुभोक्तयुक्तिमाह—कौस्तुभे त्विति ।
वर्णमालायाम् । वर्णसमूहे । पदमिति प्रतीतेः । इदमुपलक्षणं वाक्यमिति प्रतीते-
रित्यस्य । अतिरिक्त एव । वर्णातिरिक्त एव । समुदायस्य समुदाय्यतिरिक्तत्वात् ।
अन्यथा पदमित्यादिप्रतीत्यनुपपत्तेः । वर्णानां प्रत्येकपदरूपत्वाभावात् । उक्तरीत्या एकं
पदमिति प्रतीत्यनुपपत्तेश्च । अन्यथा । अतिरिक्तस्फोटानङ्गीकारे । कपालातिरिक्तेति ।
पदमिति प्रतीतेर्बुद्धिस्थतावद्वर्णविषयकत्वेनोपपादने घट इति प्रतीतेरपि घटसमवायित्वे-

नन्वेवं शास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गः पदस्याखण्डत्वात् । शास्त्रस्य च प्रकृतिप्रत्ययान्भ्यां पदव्युत्पादनमात्रार्थत्वादित्याशङ्कां समाधत्ते—

पञ्चकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता ।

उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः ॥ ६७ ॥

उपेयप्रतिपत्त्यर्था इत्यन्तेनान्वयः । अयं भावः । यथा भृगुवल्क्यामन्नप्राणमनो-
विज्ञानानन्दात्मककोशपञ्चकव्युत्पादनं शुद्धब्रह्मबोधाय यथा वानन्दवल्क्यां कोश-
पञ्चकव्युत्पादनं वास्तवपुच्छब्रह्मबोधनाय एवं प्रकृतिप्रत्ययादिव्युत्पादनं वास्तव-

नाभिमततावत्कपालैरेवोपपादनसंभवात् कपालाद्यतिरिक्तषटादेः पराभिमतस्यासिद्धि-
प्रसङ्ग इत्यर्थः । परमाण्वतिरिक्तषटासिद्धिप्रसङ्गस्तु नोक्तः । तथा सति महत्त्वाभावेन
प्रत्यक्षानुपपत्तेः । इदमुपलक्षणं कपालादेरपि त्र्यणुकाद्यतिरिक्तस्यासिद्धिप्रसङ्गस्येत्यलम-
तिविस्तरेण ॥ ६६ ॥

एवमतिरिक्तस्फोटस्यैव वाचकस्याङ्गीकारे । शास्त्राप्रामाण्येति । व्याकरण-
शास्त्राप्रामाण्येत्यर्थः । उपेयप्रतिपत्त्यर्था इत्यन्तेनेति । एषा कल्पना प्रकृतिप्रत्यया-
दिकल्पना उपेयप्रतिपत्त्यर्थेत्यन्वयः । उपेयप्रतिपत्त्यर्थेत्यत्र वचनविपरिणामो लिङ्गवि-
परिणामश्च बोध्यः । इत्येतद्रूपो योऽन्तस्तेनेत्यर्थः । उत्तरत्र इत्यच्याहार्यम् । यतो
हेतोरुपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अनवस्थिता भवन्तीत्यन्वयः । उपेयस्य प्राप्यस्य प्रति-
पत्तिः प्राप्तिः ज्ञानं वार्थः । पञ्चकोशादिवदित्याद्युपपादयति—अयं भाव इत्या-
दिना । भृगुवल्क्यामुपनिषदि । शेषे आनन्दवल्क्यामुपनिषद्दिशे । अन्नप्राणेति ।
आनन्दश्चान्तो द्वन्द्वः । ततः प्राचुर्याद्यर्थे मयद् । तस्य प्रत्येकं संबन्धः ।
द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमिति न्यायात् । तथा चान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्द-
मयात्मका ये कोशास्तत्पञ्चकव्युत्पादनमित्यर्थः । वास्तवेति । वास्तवं कालत्रयाबाधितं

१. भृगुवल्क्याम् “भृगुर्वै वारुणिवंशं ब्रह्म पृष्ठवार । स उवाचात्रम्” इति तत्स्रोतपत्त्यादिकं
बुद्धां पृष्ठे प्राणमनोविज्ञानानन्दात्मकपञ्चकोशोपदेशोत्तरं “ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा” इति ज्ञेयं ब्रह्म
प्रतिपादितम् । तत्र कोशपञ्चकव्युत्पादनं शुद्धब्रह्मबोधनाय यथा वानन्दवल्क्यस्य पञ्चकोश-
व्युत्पादनं वास्तवशुद्धब्रह्मबोधनाय यथानन्दवल्क्यामन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयात्मककोशपञ्चक-
व्युत्पादनं वास्तवपुच्छब्रह्मबोधनाय एवं प्रकृति P. D, has—यथानन्दवल्क्यामन्नप्राण-
मनोविज्ञानानन्दमयात्मकपञ्चकोशव्युत्पादनं वास्तवपुच्छब्रह्मबोधनाय यथा वा भृगुवल्क्यां कोश-
पञ्चकव्युत्पादनं शुद्धब्रह्मबोधनाय एवं &c. २. पञ्चकोशव्युत्पादनं D₂. ३. बोधनाय
A., D₂. ४. यथा वानन्दवल्क्यामन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयात्मकपञ्चकोशव्युत्पादनं &c. D.

स्फोटव्युत्पादिनायैवेति । ननु प्रत्यक्षस्य स्फोटस्य श्रवणादितोऽपि बोधसंभवाच्च शास्त्रं तदुपाय इत्यत आह—उपाया इति । उपायस्योपायान्तरादूषकत्वात् । तथा च व्याकरणाभ्यासजन्यज्ञाने वैजात्यं कल्प्यते मन्त्रजन्यमिवाथैस्मरणे वेदान्त-जन्यमिव ब्रह्मज्ञाने तस्य च ज्ञानस्य यज्ञादीनामन्तःकरणशुद्धाविव शरीरा-

यत् पुच्छं जगदाधारभूतं ब्रह्म तद्बोधनायेत्यर्थः । एतस्य वास्तवत्वोक्त्या पञ्चकोशाना-मवास्तवत्वमावेदितम् । तच्च शारीरकभाष्यादौ स्पष्टमेव । अत्र केचिदित्यं व्याचक्षते—तथा हि भृगुर्वारुणिवरुणं पितरं ब्रह्म पप्रच्छ । वरुण उवाच अन्नमिति । अस्यो-त्पत्त्यादिकं समीक्ष्य पुनः पप्रच्छ । तत उत्तरयावभूत्—प्राणो ब्रह्मेति । तस्यातथा-त्वावधारणानन्तरं पुनः प्रश्ने पुनराह—मन इति । तस्यापि “अशितमन्नं त्रेधा भवति यत् स्थूलं तत्परीषं यन्मध्यमं तन्मांसं यदणीयस्तन्मनः” इति श्रुतावुत्पत्तिश्रवणात् पुनः प्रश्ने आह—विज्ञानमय इति । तस्यापि वृत्त्युपहितत्वेनातथात्वं बुद्ध्वा पुनः पृष्ठवान् । तत आनन्दो ब्रह्मेत्युत्तरिते वस्तुतत्त्वं प्राप्य स्थितो भृगुरिति । तत्र पेशलम् । पञ्चमस्य तत्रानुपायत्वात् । अकोशत्वाच्च । तस्माद्भृगुवल्ली नोदाहरणं किंवानन्दवल्ली तत्रत्यान पञ्चानामप्युपायत्वात् । आनन्दमयपदं हि तत्र सन्न मुख्यब्रह्मपरमपि तु जीवपरम् । “ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा” इत्यत्र श्रूयमाणं ब्रह्मपदमेव तु मुख्यब्रह्मसमर्पकम् । अत एव जगदाधारत्वार्थकपुच्छशब्दोपपत्तिः । लाङ्गलात्मकमुख्यार्थस्य तत्र बाधात् । “आनन्द-मयोऽभ्यासात्” इति व्याससूत्रं तु तत्रत्यानन्दमयशब्दस्य तद्वाक्यशेषे श्रूयमाण-ब्रह्मपदे तात्पर्यात् संगमनीयमित्यादि भगवच्छङ्करपादप्रभृतिभिः प्रपञ्चितम् । एतत् सर्वमभिप्रेत्येह तद्व्येवोदाहृता । क्वचिद्दूषणसारपुस्तके भृगुवल्क्यामित्यादिग्रन्थो दृश्यते । स तु न युक्तः । उक्तहेतुभ्याम् । अथवोक्तास्वरसादेव भृगुवल्क्यपन्यासानन्तरमानन्द-वल्क्यपन्यास इति योजना विधेया । ननु व्याकरणज्ञानं विनोत्पन्नस्फोटज्ञाने व्यभिचारोऽत आह—तथा च व्याकरणेति । वैजात्यं कल्प्यत इति । तथा च कार्यतावच्छेदक-भेदान्न व्यभिचारः । मन्त्रेति । मन्त्रेणार्थस्मृतिः । प्रकारान्तरेणापीति व्यभिचार-वारणाय मन्त्रजन्यार्थस्मृतौ वैजात्यं मीमांसकैः कल्प्यते तद्वदत्रापीति भावः । मन्त्र-जन्यमित्यस्य मन्त्रजन्यतावच्छेदकमित्यर्थः । वेदान्तेति । यच्छृण्वणजन्यतावच्छेदकम् । अन्यथा भाषाग्रन्थश्रवणेनापि ब्रह्मज्ञानस्योत्पत्तेर्व्यभिचारापत्तिरिति वेदान्तिभिस्तत्र वैजात्यं यथा कल्प्यते तथेति भावः । तस्य च ज्ञानस्येति । शास्त्राभ्यासजनितस्फोटज्ञान-स्येत्यर्थः । शरीरादिशुद्धावुपयोग इति । एवं च न शास्त्रवैयर्थ्यमिति भावः ।

विशुद्धावुपयोगः साक्षात् परम्परया वा स्वर्गमोक्षादिहेतुत्वं च । तदुक्तं वाक्यपदीये—

“ तद् द्वारमपवर्गस्य बाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमार्गाणामजिह्वा राजपद्धतिः ॥
अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यसि ॥”

इति । न चालीकया प्रकृतिप्रत्ययकल्पनया कथं वास्तवस्फोटबोधः । तस्यालीकत्वासिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात् । एवं रेखागवयन्याय आदिना गृह्यते ॥ ६७ ॥

ननु स्फोटस्य वर्णजातीनां च नित्यतया ककार उत्पन्न इति न स्यात् । वायुसंयोगनिष्ठजातेः स्फोटे भाने कादिप्रतीतीनां भ्रमत्वापत्तिश्चेत्यत आह—

कल्पितानामुपाधित्वं स्वीकृतं हि परैरपि ।

स्वरदैर्घ्याद्यपि हान्ये वर्णेभ्योऽन्यस्य मन्वते ॥ ६८ ॥

परम्परया वेति । यज्ञाद्यनुष्ठानद्वारा वेत्यर्थः । उक्तार्थे वाक्यपदीयं प्रमाणयति— तदुक्तमिति । चिकित्सा संजाता यत्रेत्यर्थः । बाङ्मलानामपनयहेतुरिति पर्यवसितोऽर्थः । अधिविद्यमिति । विभक्त्यर्थेऽन्यथीभावः । सर्वविद्याव्यापकमिति पर्यवसितोऽर्थः । अतीतेति । अतीतो विपर्यासो भ्रमो यस्येत्यर्थः । केवलाम् । पराख्यां वाचम् । कथं वास्तवेति । अलीकजलादेर्वास्तवतृडादिनिवृत्तिजननादर्शनादलीकप्रकृत्यादिकल्पनया वास्तवस्फोटप्रतीतिर्न संभवतीति भावः । वक्ष्यमाणत्वादिति । अनेकव्यक्त्यभिग्यङ्ग्येत्यादिप्रत्ययेन पञ्चकोशादिवत् सदसद्वैलक्षण्यस्य सूचयिष्यमाणत्वात् । आदिना । पञ्चकोशादीत्यादिपदेन ॥ ६७ ॥

वर्णजातीनाम् । वर्णवृत्तित्वेनाभिमतकत्वादजातीनाम् । उत्पन्न इति न स्यादिति । इति प्रतीतिर्न स्यादित्यर्थः । जातीनां नित्यत्वाभिधानं शिखी ध्वस्त इति-वद्विशेषणीभूतजातिविषयकतयैवोत्पन्नः ककार इत्यादिप्रतीतिनिर्वाह इत्यस्य निराकरणाय । इदमुपलक्षणं विनष्टः ककार इति प्रतीतिरिति बोध्यम् । आविद्यको धर्मविशेषो जातिरिति मते नोक्तप्रतीत्यनुपपत्तिरित्यत आह—वायुसंयोगेति । परैरपीति । मूले परशब्दो भीमोत्कर्षः । मूले स्वरदैर्घ्याद्यपि हान्ये इत्यत्राद्योऽन्यशब्दोऽपि

स्वीकारस्थलमाह—स्वरदैर्घ्याद्यपीति । आदिनोत्पत्तिविनाशादिसंग्रहः । उदात्त-
त्वादि न वर्णनिष्ठं तस्यैकत्वाच्चित्यत्वाच्च । तच्च स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात् ।
न च गत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावस्तद्विषयो व्यक्त्यंशाभेदस्यापि भास-
मानस्य विना बाधकं त्यागायोगात् । न चोत्पत्तिप्रतीतिर्बाधिका । प्रागसत्त्वे
सति सत्त्वरूपाया उत्पत्तेर्वर्णेष्वनुभवविरुद्धत्वात् । अत एव वर्णमुच्चारयतीति
प्रत्ययो न तूपादयतीति प्रत्ययो व्यवहारश्च । उच्चरितत्वं च तात्वोष्टसंयोगादि-
जन्याभिव्यक्तिविशिष्टत्वम् । किं च व्यञ्जकध्वनिनिष्ठोत्पत्त्यादेः परम्परया वर्ण-
निष्ठत्वविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्न सातिरिक्तवर्णसाधिका । परम्परया वर्णनिष्ठत्वा-

तत्परः । स स्वरदैर्घ्यादीत्यत्र स्वरशब्देनोदात्तत्वादिस्वरो ग्राह्यः । विनाशादीत्यादि-
पदेन प्रागभावसंग्रहः । तस्यैकत्वात् । स्फोटात्मकवर्णस्यैकत्वादित्यर्थः । तथा च विरुद्धो-
दात्तत्वाद्यनेकधर्मसमावेशानुपपत्तिः । न चोदात्तादीनामविरोध एवेति वाच्यम् । अग्नि-
मित्यकारोऽनुदात्तः । यज्ञस्येत्यादिस्थलीयोऽकार उदात्त इत्यादिप्रतीत्यनापत्तेः । ननु
तस्यानित्यत्वमङ्गीक्रियत इति नोक्तप्रतीत्यनुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—तस्य नित्यत्वा-
च्चेति । न च गत्वावच्छिन्नेति । तथा च पूर्वकालैतत्कालभगवत्कारयोः परस्परं तद्व्यक्ति-
त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदेऽपि गत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदो न गत्वावच्छिन्ने
गकारे इति तादृगभेदाभावोऽक्षत इति भावः । तद्विषयः । स एवायं गकार इति
प्रत्यभिज्ञाविषयः । एवं च वर्णानामनेकत्वे न क्षतिरिति नोदात्तादिप्रतीत्यनुपपत्तिरिति
भावः । व्यक्त्यंशाभेदस्येति । एतत्कालवृत्तिव्यक्तावतीतकालवृत्तिव्यक्तेस्तद्व्यक्ति-
त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभावस्येत्यर्थः । त्यागायोगादिति । अन्यथा पदार्थ-
मात्रस्य क्षणिकत्वापत्तिरिति प्रत्यभिज्ञाया उक्तरीत्यैवोपपत्तिरिति भावः । अनुभवेति ।
उत्पन्नो गकार इत्यस्य त्वभिव्यक्तो गकार इति तात्पर्यम् । ननूत्पन्नो घट इतिवदुत्पन्नो
गकार इति प्रतीतेः प्रागसत्त्वविशिष्टसत्त्वरूपोत्पत्तिरेव विषयो वाच्यः । समानाकारप्र-
तीत्यैर्विभिन्नविषयत्वस्यानुचितत्वादित्याशङ्क्याह—किं चेति । उच्चरितत्वं तात्वो-
ष्टपुटसंयोगजन्यत्वमेवेत्युत्पत्तिप्रतीतिर्जागर्त्यैवेत्याशङ्क्यामाह—उच्चरितत्वं चेति ।
परम्परया । स्वाश्रयव्यङ्ग्यत्वरूपपरम्परासंबन्धेन । उत्पत्त्यादेरित्यादिपदेन
नाशपरिग्रहः । तस्य तु स्वप्रतियोगिव्यङ्ग्यत्वरूपः संबन्धो बोध्यः । वर्णनिष्ठ-
त्वेति । इत्थं च पूर्वानुभूतेनेदानींतनानुभूतस्याभेदसिद्धौ “तावत्कालस्थिरं चैनं कः

भ्युपगमाच्च न भ्रमत्वम् । साक्षात्संबन्धांशे भ्रम इत्यवशिष्यते । तदपि सोऽय-
मित्यत्र व्यक्त्यभेदांशे तव भ्रमत्ववस्तुल्यम् । परं तु ममातिरिक्तवर्णतत्प्रागभाव-
ध्वंसकल्पना नेति लाघवमतिरिच्यते । न च वर्णस्थले ध्वनिसत्त्वे मानाभावः ।
तदुत्पादकशङ्क्याद्यभावेन तदसंभवश्चेति वाच्यम् । ककाराद्युच्चारणस्थले
तत्तत्स्थानस्य जिह्वाया ईषदन्तरपाते वर्णानुत्पत्तेर्ध्वन्युत्पत्तेश्च दर्शनाजिह्वा-
भिघातजवायुकण्ठसंयोगादेर्ध्वनिजनकत्वकल्पनात् । तस्य च वर्णोत्पत्तिस्थलेऽपि
सत्त्वात् तवैव प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावकल्पना निष्प्रामाणिकी स्यादिति गौरवं
विपरीतमेवं परस्परविरोधादुदात्तत्वानुदात्तत्वद्वयस्वत्वदीर्घत्वादिकमपि न वर्णनिष्ठ
पश्चान्नाशयिष्यति ” इति न्यायेन वर्णानां नित्यत्वं सिद्धमेवेति भावः । साक्षात् संब-
न्धांशे इति । उत्पत्त्यादेः साक्षात्संबन्धेनोत्पन्नो गकार इति साक्षात्संबन्धांशे प्रतीति-
स्तस्याभ्रमत्वरूपं दूषणमवशिष्यत इत्यर्थः । व्यक्त्यभेदांशे इति । व्यक्त्यभेदाव-
गाहिनी या स एवायं गकार इति प्रतीतिस्तस्या अभेदांशे इत्यर्थः । तव भ्रमत्व-
वदिति । तस्याः प्रतीतेर्यथा तव मते भ्रमत्वं तथा साक्षात्संबन्धेनोत्पत्त्यादिप्रतीतेर्मम
मते भ्रमत्वं तुल्यमित्यर्थः । एकप्रतीतेर्भ्रमत्वापत्तिरूपं दूषणं मतद्वयेन समानमिति पर्य-
वसितोऽर्थः । ननु पक्षद्वये दूषणसाम्ये नित्यनानावर्णपक्षापेक्षा निर्वीज्येत्याशङ्क्याह—
परं त्विति । लाघवमतिरिच्यत इति । परमते तूक्तगौरवात् तत्पक्षेपेक्षेति भावः ।
वर्णस्थले ध्वनिनैयत्यं यदि स्यात् तदा परंपरासंबन्धेनोत्पत्त्या प्रतीतिनिर्वाहस्तत्र ध्वनि-
सत्त्वे एव तु न मानमित्याशयेन शङ्कते—न चेति । ननु गकार उत्पन्न इत्यादिप्रती-
त्यन्यथानुपपत्तिरेव तत्र मानं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—तदुत्पादकेति । ध्वन्युत्पादक-
सामग्र्यभावेन तदसंभवः । न ह्यन्यथानुपपत्तिरेव कार्योत्पादिका सामग्रीं विनान्यथानु-
पपत्तिशतमपि कार्योत्पादनसमर्थं न दृष्टचरमिति भावः । समाधत्ते—ककाराद्युच्चा-
रणेति । ककाराद्युच्चारणस्वरूपयोग्ययन्नादिसत्त्व इत्यर्थः । ईषदन्तरेति । ईषद्विभ्लेषे
सतीत्यर्थः । जिह्वेति । जिह्वातत्तत्स्थानयोर्योऽभिघाताख्यसंयोगस्तज्जन्यो यो वायुकण्ठ-
संयोगादित्तस्येत्यर्थः । ध्वनिजनकत्वेति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तविधवायुतत्स्थान-
संयोगादेर्ध्वनिजनकत्वकल्पनादित्यर्थः । तस्य । तादृशवायुसंयोगादेः । सत्त्वादिति ।
तथा च सामग्रीसत्त्वेन वर्णोत्पत्तिस्थलेऽपि ध्वन्युत्पादोऽक्षत एवेति भावः । वर्णोत्पादक-
सामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वान्न वर्णोत्पत्तिस्थले ध्वन्युत्पादसंभव इत्याशङ्कते—तवैवेति ।
एवमुक्तरीत्या वर्णानां नित्यैकत्वरूपत्वे । दीर्घत्वादिकमपीत्यपिनोत्पत्त्यादिपरि-

१. वर्णानुपपत्ते° D₂. २. निष्प्रामाणिकी or का P.; निष्प्रामाणिकी A., D₂; नि-
प्रामाणिकी D₃. ३. विपरीतं गौरवं P.

युक्तमिति तेषामभिप्रायः । एवं चोत्पत्त्यादिप्रतीतीनां तत्प्रमात्वस्य च निर्वाहः
परेषामपि समान इति प्रतिबन्धेवोत्तरमिति भावः ॥ ६८ ॥

इत्थं पञ्चव्यक्तिस्फोटाः ॥

जातिस्फोटमाह—

शक्यत्व इव शक्तत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम् ।

औपाधिको वा भेदोऽस्तु वर्णानां तारमन्दवत् ॥ ६९ ॥

अयं भावः—वर्णास्तावदावश्यकता उक्तरीत्या च सोऽयं गकार इतिवद्योऽयं

ग्रहः । तथा चोत्पत्त्यादिवद्दीर्घत्वादिकमपि न वर्णनिष्ठं विरोधादिति भावः । तेषां मीमां-
सकानां प्रमादादिपूर्वकोच्चारितशब्दात् प्रयोक्तृनिष्ठप्रमादजन्यत्वानुमानानुपपत्तिस्तु न
शङ्कनीया । एतन्मते तदनुमापकस्य तत्तदुच्चारितशब्दे वैजात्यस्यैवावेऽपि प्रमादादि-
जन्यतावच्छेदकतात्वोष्ठसंयोगादिगतवैजात्यस्य वर्णेष्वापेण प्रमादादिजन्यत्वानुमानो-
पपत्तेः । धूमत्वेन ज्ञायमानपदार्थान्तरेणापि बह्व्यनुमितेर्दृष्टत्वात् । न च सेयं गुर्जरी
सेयं दीपकलिकेति प्रत्यभिज्ञावशात् तेषामपि नित्यत्वं स्यात् । गुर्जरी रागविशेष
इति वाच्यम् । तत्र मानान्तरेण नाशप्रतियोगित्वसिद्धौ अगत्या प्रत्यभिज्ञाया भ्रमत्वस्य
साजात्यावलम्बस्य वाङ्मोक्षकारात् । वर्णानामेकत्वे घटिक इत्यत्र ह्यज्जलक्षणघट्
घटेन तर्तीत्यर्थे आवृत्तिगतद्वित्वसंख्यामारोप्य निर्वाहः । एवं घटेनेत्यादौ ‘सावे-
काचः—’ इति विभक्त्युदात्तत्वमपि आवृत्तिगतद्वित्वसंख्ययैकत्वस्य बाधाद्वारणीयम् । स्पष्टं
चेदं सर्वं प्रत्याहारादिके भाष्यादौ इत्यास्तां विस्तरः । प्रतिबन्धेवोत्तरमिति । क्वचित्
प्रतिबन्धेरप्युत्तरत्वमिति भावः । एतादृशस्थले प्रतिबन्धेरनुत्तरत्वे परसिद्धान्तस्यैव भङ्गापत्तेः ।
पञ्चेति । वर्णपदवाक्यस्फोटान्नयः । चरमयोः सखण्डस्वाखण्डत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति
व्यक्तिस्फोटानां पञ्चविधत्वमिति भावः ॥ ६८ ॥

इति व्यक्तिस्फोटनिरूपणम् ॥

वोपदेवरीतिमवलम्ब्य जातिस्फोटमाह—मूले शक्यत्व इवेति । ननु अखण्डस्फोट-
वादिना वर्णानामनङ्गीकारादशयं विना जातेरसंभवात्जातेर्वाचकत्वमसंभवदुक्तिकमित्या-
शङ्कामपाकर्तुमाह—अयं भाव इत्यादिना । उक्तरीत्येति । वर्णानङ्गीकारसहितः स्फोटा-
ङ्गीकार इत्युक्तरीत्येत्यर्थः । नन्वेतन्मते योऽयं गकार इत्यादिप्रतीतिरिष्टैव । अद्वैतवादिमते

गकारः श्रुतः सोऽयं हकार इत्यपि स्यात् । स्फोटस्यैकत्वात् । गकारोऽयं न हकार इत्यनापत्तेश्च । किं च स्फोटे गत्वाद्यभ्युपेयं न वा । आद्ये तदेव गकारोऽस्तु वर्णनित्यतावादिभिरतिरिक्तगत्वानङ्गीकारात् । तथा चातिरिक्तस्फोटकल्पन एव गौरवम् । अन्त्ये गकारादिप्रतीतिविरोधः । वायुसंयोगवृत्तिध्वनिवृत्ति वा वैजात्यमारोप्य तथा प्रत्यय इति चेन्न । प्रतीतेर्विना बाधकं भ्रमत्वासंभवात् । अस्तु वा वायुसंयोग एव गकारोऽपि तस्यातीन्द्रियत्वं दोष इति चेद् धर्म-

योऽयं देवदत्तः स यज्ञदत्त इतिवदित्यत आह—गकारोऽयं नेति । नन्वारोपितभेदावलम्बनो गकारोऽयं न हकार इति प्रत्यय उपपद्यते वेदान्तिनये परस्परं जीवभेदप्रत्ययवदित्यनुशयानो दूषणान्तरमाह—किं चेति । गत्वादीति । अनारोपितं गत्वाद्यभ्युपेयं न वेत्यर्थः । आरोपितस्य परेणाप्यङ्गीकाराद्यथाश्रुतासंगतेः । तदेव । गत्वाद्येव । गत्वादेर्गकारादिरूपत्वे हेतुमाह—वर्णनित्यतेति । अतिरिक्तेति वर्णातिरिक्त्यर्थः । गत्वानङ्गीकारादिति । गत्वाद्यनङ्गीकारादित्यर्थः । अनेकव्यक्तीनामनुगतप्रतीतिरेवातिरिक्तजात्यभ्युपगमः । वर्णानां नित्यत्वमते तु गकारादिव्यक्तेरैक्येनाननुगमाप्रसक्त्या गकाराद्यातिरिक्तगत्वाङ्गीकारस्य निष्प्रयोजनत्वादिति भावः । तथा च । स्फोटे गत्वाद्यभ्युपगमे च अथवा गकारादेर्गत्वादिरूपत्वे चेत्यर्थः । अतिरिक्तस्फोटेति । गत्वाद्यतिरिक्तस्फोटकल्पने इत्यर्थः । गौरवम् । अतिरिक्तस्फोटात्मकधर्मिकल्पनागौरवमित्यर्थः । अन्त्ये । स्फोटे गत्वाद्यनभ्युपगमपक्षे । प्रतीतिविरोध इति । गत्वाद्यभावे गत्वादिप्रकारकोक्तप्रतीत्यनुपपत्तिरित्यर्थः । आरोप्य तथा प्रत्यय इति । गत्वादेः स्फोटावृत्तित्वेऽपि वायुसंयोगादिवृत्तिगत्वादिप्रकारकारोपे बाधकाभाव इति भावः । आरोप्येत्यस्य स्थितस्येत्यध्याहारेणोपपत्तिः । अन्यथा प्रतीतिभवनसमानकर्तृकत्वाभावेन क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तेः । पौर्वकालिकारोपानुसरणं तु तथाविधप्रत्ययमूलकस्य व्यवहारस्योपपत्तये । एवं च प्रत्यययोर्व्यवहार इत्यर्थः । यद्वा समानकालिकत्वं प्रत्ययभवने संबन्धतया भासत इति यथाश्रुतार्थकमेव प्रत्ययपदमस्तु । वायुसंयोग एवेत्येवेन स्फोटव्यवच्छेदः । गकारोऽपीति । तथाविधप्रत्ययविषयोऽपीत्यर्थः । एवं च प्रतीतेर्न भ्रमत्वप्रसक्तिः । अपिना । ककार इत्यादिप्रत्ययविषयसंग्रहः । तस्य । वायुसंयोगस्य । अतीन्द्रियत्वं दोष इति । संयोगप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वमभ्युपेयम् । अन्यथा घटाकाशसंयोगप्रत्यक्षापत्तेः । तथा च वायोरप्रत्यक्षत्वेन वायुतत्तत्स्थानसंयोगस्यातीन्द्रियतया गकार इत्यादिप्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । धर्मवदिति । बाधुधर्मस्य स्पर्शवदित्यर्थः । यथा वायोरतीन्द्रियत्वेऽपि वायुस्पर्शस्त्वाचप्रत्यक्षविषयस्तथा तात्वाद्यनुयोगिकवायुसंयोग ऐन्द्रियिको भविष्यति बहिर्द्व्यग्राहकेन्द्रियजन्यसंयोगः प्रत्यक्षे एव यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वाङ्गीकारादिति

बहुपपत्तेरिति कृतं स्फोटेन । तस्मात् सन्त्येव वर्णाः परं तु न वाचका गौरवात् ।
आकृत्यधिकरणन्यायेन जातेरेव वाच्यत्ववद्वाचकत्वस्यापि युक्तत्वाच्च । इदं
हरिपदमित्यनुगतप्रतीत्या हर्युपस्थितित्वावच्छेदेन हरिपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात्
तदवच्छेदकतया च जातिविशेषस्यावश्यकल्प्यत्वात् । न च वर्णानुपूर्व्यैव प्रती-
त्यवच्छेदकत्वयोर्निर्वाहः । घटघटत्वादेरपि संयोगविशेषविशिष्टमृदाकारादिभि-
श्चान्यथासिद्ध्यापत्तेः । तस्मात् सा जातिरेव वाचिका तादात्म्येन तदवच्छेदिका

भावः । अथवा गगने शब्द इतिवद्वायुसंयोगे गत्वमिति संयोगविशेषणकं संयोगोपनीत-
मेव गत्वादिविशेष्यकं तदंशे लौकिकप्रत्यक्षमस्तु । संयोगलौकिकप्रत्यक्षे एव यावदा-
श्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात् । तदेव प्रत्यक्षं गकार इति शब्देनाभिलप्यत इति भावः ।
एतत्प्रत्यक्षे धर्मवदतीन्द्रियगगनादिधर्मवदिति व्याख्येयम् । कृतं स्फोटेन । अलं
स्फोटेन । तत्तद्वायुसंयोगैरेव तत्तदर्थबोधनिर्वाहादिति भावः । तत्तत्संयोगसमुदाय एव
इदमेकपदमित्यादिप्रतीतिविषय इति हृदयम् । वस्तुतस्त्वेतत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यातिरि-
क्तस्फोटाङ्गीकार आवश्यक इत्याहुः । निरूपितं चैतत् पूर्वम् । आकृत्यधिकरणेति ।
तत्र हि यथा आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां व्यक्तिर्न शब्दवाच्या किं तु जातिरित्युक्तम् । तथा
शब्दगता जातिरेव वाचिकेति स्वीकारः समुचिततुल्यहेतोरित्यर्थः । ननु वर्णवृत्ति-
जातीनामपि नानात्वात् कथं वाचकत्वनिर्वाह इत्याशङ्क्याह—इदं हरीति । ननु
नानुगतप्रतीत्या जातिसिद्धिः संमता तान्त्रिकाणामपि तु कारणत्वावच्छेदकतया कार्यता-
वच्छेदकतया वेत्यत आह—हर्युपस्थितीति । तदवच्छेदकतया । हेतुतावच्छेदक-
कोटिप्रविष्टतया । वर्णानुपूर्व्यैवानुगतप्रतीतिनिर्वाहः सैव च हेतुतावच्छेदिका भविष्यतीति
कृतमतिरिक्तजातिस्वीकारेणेत्याशङ्कते—न चेति । अन्यथासिद्ध्यापत्तेरिति ।
संयोगविशेषविशिष्टमृदादिभिरेव घट इत्याद्यनुगतप्रतीतेर्दण्डादिकार्यतावच्छेदकत्वस्य
च निर्वाहाद् घटत्वादिजातिरपि न सिध्येत् । संयोगविशेषावच्छिन्नमृदादिकं प्रति
दण्डादेः कारणत्वस्य वक्तुं शक्यत्वादिति भावः । एवं घटादिरवयव्यपि न सिध्येत् ।
घट इत्यादिप्रतीतेः । संयोगविशेषविशिष्टमृदादिविषयकत्वेनैवोपपत्तेरित्यर्थः । आकारोऽ-
नुगतसंस्थानविशेषः । यद्यवयवसंयोगानामननुगमाद् घटत्वादिजात्यभ्युपगम आवश्यक
एवं संयोगविशेषविशिष्टानामवयवानां नानात्वाद् घट इति प्रतीतेस्तद्विषयकत्वे गौरवमेको
घट इति प्रतीत्यनुपपत्तिश्चेति घटघटत्वाद्याश्रयणमिति चेत् प्रकृतेऽपि तुल्यमित्याशयेनाह—
तस्मादिति । उक्तरीत्या जातिस्वीकारादित्यर्थः । ननु पदादिवृत्तिजातेरेव वाचकत्वे
तद्वृत्तिधर्मस्य सकलघटादिपदसमवेतत्वविशिष्टघटपदाद्यतिरिक्तासमवेतत्वरूपस्य वाचक-
तावच्छेदकत्वमुरुरीकर्तव्यं तथा चातिगौरवमित्यत आह—तादात्म्येनेति । अव-
च्छेदिका । वाचकतावच्छेदिका तादात्म्यस्य वृत्त्यनियामकत्वेऽप्यवच्छेदकतावच्छेदक-

चेति । ननु सरो रस इत्यादौ तयोर्जात्योः सत्त्वादर्थभेदबोधो न स्यादित्यत आह—औपाधिको वेति । वा त्वर्थे । उपाधिरानुपूर्वीं सैव जातिविशेषाभि-
व्यञ्जिकेति भेदः कारणीभूतज्ञानस्येति नातिप्रसङ्ग इति भावः । उपाधिप्रयुक्त-
ज्ञानवैलक्षण्ये दृष्टान्तमाह—वर्णानामिति ॥ ६९ ॥

ननु जातेः प्रत्येकं वर्णेष्वपि सत्त्वात् प्रत्येकार्थबोधः स्यादित्यत आह—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ।

कैश्चिद्व्यक्त्य एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ॥ ७० ॥

अनेकाभिर्वर्णव्यक्तिभिरभिव्यक्तैव जातिः स्फोट इति स्मृता । योगार्थतया
बोधिकेति यावत् । एतेन स्फोटस्य नित्यत्वात् सर्वदार्थबोधापत्तिरित्यपास्तम् ।

त्वस्य नानुपपत्तिः । स्वाधिकरणसंबद्धत्वस्यैवावच्छेदकतायां तन्त्रत्वादिति भावः ।
जात्योः सत्त्वादिति । पदद्वयेऽपि आश्रयीभूतानां तेषामेव वर्णानां सत्त्वाद्विनिगमना-
विरहेणैकस्मिन् जातिद्वयसत्त्वाविशेषादित्यर्थः । वाशब्दस्य विकल्पार्थकत्वेऽर्थसंग-
तिरत आह—वा त्वर्थे इति । त्वर्थश्च प्रकृतेऽवधारणमित्याशयेनाह—सैवेति । भेदः
कारणीभूतेति । तथा चोभयत्र वर्णानामभेदेऽप्यानुपूर्वींभेदस्य जागरूकतया तत्त-
दानुपूर्वींविशेषेण एकैव जातिरभिव्यज्यते एकत्र अन्यत्रान्यैव जातिरभिव्यज्यत इति
तत्तज्जातिज्ञानरूपकारणभेदात् सरो रस इत्यत्र विलक्षणबोधरूपकार्योपपत्तिरित्यर्थः ।
व्यञ्जिकेतीति । इति हेतोः । कारणीभूतज्ञानस्य भेद इति योजना । अतिप्रसङ्गः ।
अविलक्षणबोधस्यातिप्रसङ्गः । उपाधिप्रयुक्तेति । बलवदुच्चरितत्वादिकं तत्रोपाधिः ।
तेन यथा तारो मन्द इति प्रतीतिवैलक्षण्यं तद्वदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

जातेरिति । घटपदादिवृत्तित्वेनाभिमतजातेः । स्फुटति बोधविषयो भवत्यस्मादर्थ
इति व्युत्पत्त्या स्फोटपदं बोधकपरमित्याह—योगार्थतयेति । अपास्तमिति । जातेः
सर्वदा सत्त्वेऽप्यभिव्यक्तिविशिष्टाया असत्त्वेन नोक्तदोषः । अभिव्यक्तिविशिष्टाया
एव जातेर्बोधकत्वादिति भावः । नन्वेवमपि पदघटकव्यादिवर्णभ्योऽर्थबोधो दुर्वार
एवाभिव्यक्तिविशिष्टजातेः सत्त्वात् । न च पदघटकयावद्वर्णैरेव जातेरभि-
व्यक्तिरित्यभ्युपगमान्न दोष इति वाच्यम् । तथा सति पदस्फोटे वाक्यस्फोटे

अयं भावः—यद्यपि वर्णस्फोटपक्षे कथितदोषोऽस्ति तथापि पदवाक्यपक्षयोर्न तत्र तस्या व्यासज्यवृत्तित्वस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वादिति कैश्चिद्व्यक्तयो ध्वनय एव ध्वनिवर्णयोर्भेदाभावादीत्यभ्युपेयन्त इति शेषार्थः । उक्तं हि काव्यप्रकाशे—“बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः” इति ॥ ७० ॥

ननु का सा जातिस्तत्राह—

सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।

सत्यं यत् तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः ॥ ७१ ॥

प्रतिभावं प्रतिपदार्थं सत्यांशो जातिरसत्या व्यक्तयः तत्तद्व्यक्तिविशिष्टब्रह्मैव

वा पर्यवसानेनैतत्पक्षे वर्णस्फोटोच्छेदापत्तेरित्याशङ्कामपाकर्तुमाह—अयं भाव इति । कथितदोषः यत्किञ्चिद्वर्णादर्थबोधापत्तिरूपो दोषः । पक्षयोर्नैत्यत्र कथित दोष इत्यनुकृष्यते । तत्र व्यासज्यवृत्तित्वस्य पदादिघटकयावद्वर्णसमुदायवृत्तित्वस्य वर्णस्फोटपक्षे तु नैवं वक्तुं शक्यम् । प्रत्येकावृत्तेस्तदनतिरिक्तावद्वर्णसमुदायवृत्तित्वस्यासंभवात् । समुदायस्यातिरिक्तत्वे तु पदस्फोटो वाक्यस्फोट एव वा सिध्येत् वर्णस्फोट इति भावः । पदवाक्यपक्षयोः । तयोः । धर्मिग्राहकेति । धर्मी जातिरूपस्तद्ग्राहकं मानमिदं हरिपदमित्याद्यनुगतप्रतीत्यादिरूपं तदसिद्धत्वात् । तथा च वर्णस्फोटोऽस्मिन् पक्षे दुष्टत्वाच्चाभ्युपेयत इति भावः । मूले व्यक्तय एवास्या इति । अस्या जातेर्व्यञ्जिकेति शेषः । शेषार्थः । कैश्चिद्व्यक्तय इत्याद्युत्तरार्थस्यार्थः । वर्णव्यक्तीनां कैश्चिद् ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यपेक्षायामाह—उक्तं हीत्यादिना । स्फोटव्यञ्जकस्येति । वर्णव्यक्तीनां स्फोटव्यञ्जकतया तत्र ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यर्थः । अद्वैतसिद्धान्ते “आत्मैवेदं सर्वम्” “नेह नानास्ति किञ्चन” इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मातिरिक्तपदार्थमात्रस्यासत्यतया कथं जातेः सत्यत्वमित्याशङ्क्याह—तत्तद्व्यक्तिविशिष्टं ब्रह्मैवेति । आधेयतासंबन्धेन तत्तद्व्यक्त्युपहितं ब्रह्मैकजातिरूपमिति तस्या नित्यत्वं नानुपपन्नमिति भावः । विशेष्यान्वयिविधेयानन्वयी व्यावर्तक उपाधिः । विशेष्यान्वयिविधेयानन्वयी व्यावर्तको विशेषणम् । कर्णशङ्कुत्यवाच्छिन्नं नभः श्रोत्रकमित्यत्र कर्णशङ्कुल्युपाधिः । श्रोत्रत्वरूपविधेयानन्वयात् । विधेयानन्वयाच्च रूपविशिष्टो घटोऽनित्य इत्यत्र रूपं विशेषणम् । प्रकृते च तत्तद्व्यक्तेरुपाधित्वमेव । जातित्वरूपविधेयानन्वयादिति बोध्यम् । एतच्च

जातिरिति भावः । उक्तं च कैयटेन — “असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्य-
शब्दवाच्यामित्यर्थः” इति । “ब्रह्मतत्त्वमेव शब्दस्वरूपतया भाति” इति च ।
कथं तर्हि ब्रह्मदर्शने च गोत्वादिजातेरप्यसत्त्वादित्यत्वम् । “आत्मैवेदं सर्वम्”
इति श्रुतिवचनादिति कैयटः संगच्छताम् । अविद्याविद्यको धर्मविशेषो वेति
पक्षान्तरमादायेति द्रष्टव्यम् ॥ ७१ ॥

तदेव सत्यांशं स्पष्टयति—

इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्त्वं निरञ्जनम् ।

ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः ॥ ७२ ॥

अयं भावः—“नामरूपे व्याकरवाणि” इति श्रुतिसिद्धा द्वयी सृष्टिस्तत्र रूप-
स्येव नाम्नोऽपि तदेव तत्त्वम् । प्रक्रियांशस्त्वविद्याविजृम्भणमात्रम् । उक्तं च
वाक्यपदीये—

“शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते ।

समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम् ॥”

इति । ब्रह्मैवेत्यनेन “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः” “तमेव भान्तमनु भाति

“संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रवक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥”

इति वाक्यपदीये उक्तम् । अस्त्येति । पस्पशादिके “द्रव्यं नित्यम्”
इति भाष्यमुपादायेदं कैयटे उक्तम् “ब्रह्मतत्त्वमेव” इति । प्रत्याहारादिके
“चन्द्रतारकवत् प्रतिमाण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः” इत्यत्रायं कैयटग्रन्थः । इति कैयट
इति । अयमपि कैयटग्रन्थ “आकृतिरनित्या” इति पस्पशस्थभाष्यस्यो द्रष्टव्यः ।
अविद्येति । अत्र “धर्मविशेषः” इत्यत्र जातिरित्यनुषज्यते । स्पष्टं चेदं कौस्तुभे । मूले
निरञ्जनमज्ञानरहितमित्यर्थः । समारम्भ इति । भावानां दृश्यमानघटादिपदार्थानां

१. P. has at the end of the last Kārikā—(इति भट्टोजिदीक्षितविरचित-
कारिकासु पदादिस्फोटनिरूपणम् । समाप्तः स्फोटवादः)—इति भट्टोजिदीक्षितविरचितवैया-
करणसिद्धान्तकारिकाः समाप्ताः ।

सर्वम्” “तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” इति श्रुतिसिद्धं स्वपरप्रकाशत्वं सूचयन् स्फुटत्वथोऽस्मादिति स्फोट इति यौगिकं स्फोटशब्दाभिधेयत्वं सूचयति । निर्विघ्नप्रचयान्ते मङ्गलं स्तुतिनैतिरूपमाह—पूर्णात्मन इत्यादिना ।

अशेषफलं दातारमपि सर्वेश्वरं गुरुम् ।

श्रीमद्भूषणसारेण भूषये शेषभूषणम् ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारौपरीणधुरीणरङ्गोजिभट्टात्मजकोण्डभट्टकृते
वैयाकरणभूषणसारे स्फोटवादः समाप्तो ग्रन्थश्च ॥

समारम्भ उत्पत्तिरित्यर्थः । अनादीति । प्रागभावाप्रतियोगीत्यर्थः । शाश्वतमित्यनेन ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम् । तथा च प्रागभावाप्रतियोगित्वविशिष्टं ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपं नित्यत्वं लब्धम् । निर्विघ्नप्रचयान्ते मङ्गलमिति । कारिकावलीरूपग्रन्थान्ते इत्यर्थः । शिष्टाचारानुगृहीताद् “ग्रन्थादौ ग्रन्थमन्वये च ग्रन्थान्ते मङ्गलं चरेत्” इत्यभियुक्तवचनाद् ग्रन्थान्ते मङ्गलमाहेत्यर्थः । स्तुतिनतीति । ‘नमः’ इत्यनेन नतिः ‘संपूर्णात्मने’ इत्यनेन स्तुतिः प्रतिपाद्यते । पूर्णत्वमप्रतिहतेच्छत्वं समाप्तकामत्वेन निरिच्छत्वं वा “सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय” इत्यनारोपितैव तत्रेच्छेति न विरोधः । स्वीयसुखेच्छावदन्यत्वं वा पूर्णत्वम् । स्पष्टं चेदं “पूर्णाय परमात्मने” इति दीधितिर्व्याख्याने गदाधरीये इत्यलमतिविस्तरेणेति शिवम् ।

योऽभूत् पण्डितमण्डलीपरिणतः श्रोताब्जिसारङ्गता—

मासो वेदविदां वरः परिवृढैर्भूमेः सदा वन्दितः ।

श्रीमद्भैरवशङ्करीपदरजःसेवासपूर्णार्थकः

श्रीमत्केशवदीक्षितः समभवत् तस्यात्मजोऽभूद्भरिः ॥

१. यत्स्फुटत्यर्थो A. २. यौगिकस्फोट D. ३. °नुति° for °नति° P., A., D. ४. °भूषा° for °फल° A., D. ५. विश्वेश्वर A., D. ६. P. has after this verse—इति रङ्गोजिभट्टात्मजकौण्डभट्टविरचिते वैयाकरणभूषणसारे स्फोटवादे पदादिस्फोटनिरूपणं समाप्तम् । समाप्तश्च स्फोटवादः । ७. पारावारपारीण D. ८. वारीण P. ९. कौण्ड P., D. १०. विरचितो P., विरचिते D. ११. सारः P. १२. समाप्तः P.; समाप्तोऽयं ग्रन्थश्च D. १३. D. has after ग्रन्थः । श्लोकसंख्या १३७५; D. has शुभमस्तु after ग्रन्थश्च.

६०८ वैयाकरणभूषणसारे काशिकोपेते पदादिस्फोटनिरूपणम् ।

रामान्तः शिवपाळिते शिवपुरे श्रीकाशिशब्दाभिधे
तेनेयं खलु निर्मिता कृतिवरा श्रीभूषणे काशिका ।

श्रीमद्भैरवपादसेवनवपुःश्रीकण्ठपादेऽर्पिता
मोदे सन्तनुतां सदाप्रविदुषां सद्युक्तिभाजां चिरम् ॥

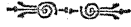
धनराजानुजः श्रीमान् सखीदेव्यास्तु गर्भजः ।
व्याख्यांचक्रे भूषणस्य यथामति शिवास्तये ॥

युगभूतदिगीशात्म (१८५४) संमिते वत्सरे गते ।
मार्गशीर्षशुक्लपक्षे पौर्णमास्यां विधोर्दिने ॥

रोहिणीस्थे चन्द्रमसि वृश्चिकस्थे दिवाकरे ।
समाप्तिमगमद् ग्रन्थस्तेन तुल्यतु नः शिवः ॥

इति श्रीमत्कालोपनामकेशवदीक्षितात्मजहरिरामदीक्षितविरचितायां
भूषणसारव्याख्यायां स्फोटनिरूपणग्रन्थश्च समाप्तिमगमत् ॥

NOTES.



Page 2. **फलव्यापारयोः**—According to the theory of grammarians a root signifies two things :—(1) Fruit of an action and (2) An action. Verbal terminations signify (1) the substratum of fruit, that is, object and (2) the substratum of action, that is, agent. When the action and the fruit reside in the same substratum, the root is intransitive ; and when they reside in different substrata, the root is transitive (**फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः । धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥**). Fruit is an attribute of action. It is subservient to action which is qualified by it. The senses of verbal terminations are (1) agent, (2) object, (3) number, and (4) time. These form attributes ; the agent is an attribute of action, the object, of fruit, the number, of the agent when the verbal termination is subjective, and of the object when it is objective ; for both the senses, (1) number and (2) agent or object are expressed by the same terminations ; and time is an attribute of action. Thus **देवदत्तस्तण्डुलं पचति** is equal to **देवदत्ताभिन्नैककर्तृकस्तण्डुलाभिन्नकर्मवृत्तिविक्रियतुकूलो वर्तमानकालिको व्यापारः**. The root **पच्** expresses the action of cooking (**व्यापारः**). It is transitive because the action resides in Devadatta, the doer of it, and the fruit, **विक्रिति** or complete softening, in rice. The substrata of action and fruit are thus different (**फलव्यापारयोर्धर्मिभेदः**). **विक्रियतुकूलो व्यापारः** shows that the fruit **विक्रिति** is an attribute of the action expressed by the root **पच्**, **देवदत्तकर्तृकः पाकः** and **तण्डुलकर्मवृत्तिः विक्रितिः** show that the subject **देवदत्तः** is an attribute of the action **पाकः**, and that the object **तण्डुलम्** is an attribute of **विक्रिति** or fruit of the action. **एककर्तृकः** shows that the idea of singularity (**एकत्व**) expressed by **पचति** forms an attribute of the subject **देवदत्तः**; because the termination **ति** is subjective. In **देवदत्ताभिन्नैककर्तृक** and **तण्डुलाभिन्नकर्मवृत्ति** the word **अभिन्न** is used to show the grammatical connection by identity between a **नाम**, a noun or an adjective, and its sense, i. e. between a crude form and a grammatical form (**नामार्थयोरभेदेनान्वयः**, i. e. **प्रकृत्यर्थस्य विभक्त्यर्थेन सहाभेदान्वयः**). In the passive construction **देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते**, the sense is **देवदत्ताभिन्नकर्तृका तण्डुलाभिन्नैककर्मनिष्ठा या विक्रितिस्तदनुकूला भावना**.

The Naiyāyikas explain **देवदत्तस्तण्डुलं पचति** to be equal to **तण्डुलवृत्तिविक्रियतुकूलव्यापारावकूलकृतिमानेकत्वविशिष्टो देवदत्तः** and **देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते** as **देवदत्तसमवेता या कृतिस्तज्जन्या यो व्यापारस्तज्जन्या या विक्रितिस्तदाश्रय**

एकत्वविशिष्टस्तण्डुलः. A नैयायिक is therefore known as प्रथमान्तार्थविशेष्यक-बोधवादी; for with him the sense of the Nom. forms becomes predominant in sentences, and not action as with the grammazian who is क्रिया-प्रधानवादी.

Thus fruit and action favourable to it are the senses of roots; for the Bhāṣyakāra gives these two senses of the root पच् ("सर्वेषां धातूनां कर्तुं तद्वृत्तौ व्यापारार्थ इति सिद्धान्तः । 'व्यर्थः पचिः' इति भाष्योक्तः" शब्दार्थ-रत्न p. 63.).

Now what does व्यापार mean? व्यापार, भावना, उत्पादना, and क्रिया are all synonyms ('व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया' p. 26 of the text). व्यापार is defined by भर्तृहरि to be all kinds of action, whether accomplished or unaccomplished, that are expressed as being accomplished, because it is made up of parts in successive order. The parts in successive order make up a collection, are subordinate to it (गुणीभूत), and are to be regarded as one by the sense of summing up parts into one whole (संकलनात्मिकया एकत्वबुद्ध्या). Even though the action may have only one part, the idea of collection is attributed to it and thus even at the time of the action of cooking having proceeded to the stage of simply putting the cooking-pot on fire (अविश्रयण), the use of पचति is justified. पचति and पश्यति are instances of unaccomplished action expressed as being accomplished, while अपाक्षीत् is an instance of accomplished action expressed as being accomplished. The action of cooking is made up of parts beginning with अविश्रयण or placing the cooking pot on fire, सन्तापन, फूत्कार i. e., heating, blowing, &c. and ending with अधःश्रयण or taking the cooking-pot down the hearth. भावना is thus in brief साध्यत्वेन अभिधीयमाना क्रिया. साध्यत्व is असत्त्वरूपत्व or अद्रव्यत्व, and द्रव्य is लिङ्ग-संख्यान्वित. पाकः is a द्रव्य; because it has gender and number. पचति has no gender and number. It is therefore असत्त्वरूप. The difference between पचति and पाकः, करोति and कृतिः, &c. is this. Though both the words express the sense of a root, the forms पाकः, कृतिः, &c. have expectancy of another action (क्रियान्तराकाङ्क्षा) as पाकः भवति, पाकं करोति, कृत्या पीडयति, &c., while the forms पचति, करोति, &c. have no expectancy of another action (क्रियान्तरानाकाङ्क्षा). Thus the fact that the forms पचति, करोति, &c. have no expectancy of another action, while the forms पाकः, कृतिः, &c. have such expectancy is a proof that all action, whether accomplished or unaccomplished, is expressed as being accomplished. पचति is साध्यत्वेनाभिहित, while पाकः is सिद्धत्वेनाभिहित. In पचति भवति, which means पाको भवति, पचति is क्रिया, be-

cause it is असत्स्वरूप. The Bhāṣhyakāra gives चेष्टा, ईहा, व्यापार, and क्रिया as synonyms and defines it as such as cannot be seen at all and cannot be described as a whole. It can only be grasped by inference—
'क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा । अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं यथा गर्भो निर्लुङ्घितः । सासावदुमानगम्या । कोऽसावदुमानः । इह सर्वेषु साधनेषु संनिहितेषु कदाचिच्च पचतीत्येतद्भवति कदाचिच्च भवति । यस्मिन् साधने संनिहिते पचतीत्येतद्भवति सा नूनं क्रिया ॥' Dr. Kielhorn's edition of the Mahābhāṣya, p. 254.

In the S'abdakaustubha, Bhaṭṭoji Dikshita explains क्रिया as under:—
'का पुनः क्रिया । उच्यते । करोत्यर्थभूता उत्पादनापरपर्याया उत्पत्त्यनुकूलव्यापार-
रूपा भावनैव क्रिया॥' p. 444 of शब्दकौ० on भूवादयो धातवः. The sense of every root is explained by करोति or is arrived at by answering the question किं करोति. Thus पचति is equal to पाकं करोति or is an answer to किं करोति. The question here arises that if this were accepted as the definition of क्रिया, it would be too narrow and be inapplicable to अस्ति, भवति, विद्यते, which cannot be explained by करोति. This objection is refuted by stating that अस्ति, भवति, and विद्यते are equal to स्वरूपधारणं करोति and that धारण means connection with the future time (उत्तरकालसंबन्ध). The objection that अस्ति cannot be a reply to the question किं करोति is thus refuted. If the question किं करोति were asked in regard to some thing of which the destruction is near, the reply अस्ति would be acceptable to all theorists ('आसन्नविनाशं किञ्चिद्विश्य किं करोतीति प्रश्ने अस्तीत्युत्तरस्य सर्वसंमतत्वात् । इतरत्र तु दृश्यतया निश्चिते किं करोतीति प्रश्नः पाकादिविशेषगोचर एवेत्यवधारणादस्तीति नोचरम् ॥' शब्दकौ० on भूवादयो धातवः, p. 447). Hari also expresses the same view—'आत्मानमात्मना विभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते ।' वाक्यपदीय ३-४७ p. 120. Bhaṭṭoji Dikshita in शब्दकौ० on भूवादयो धातवः quotes a verse which he ascribes to Bhaṭṭi, though it is not found in the Bhaṭṭikāvya, to show that all roots are explained by करोति. The verse runs as follows:—

विभज्य सेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरंदरोऽथ ।

नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून् ॥

अस्ति is one of the six modifications of objects as described by Vār-
shayāṇi—'पञ्च भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वाष्पायणिर्जायते अस्ति विप-
रिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति ।' Mahābhāṣya p. 258. The same
modifications are mentioned by Yāska in his Nirukta. Nāgesa
quotes the Bhāṣhyakāra in his Laghu Mañjūshā for the explanation
of अस्ति—'अस्तीति चोत्पन्नस्य सत्त्वस्य सत्तावतस्तादृशस्थूलरूपस्यावधारणं
धारणमाचष्ट इति भाष्यकृतः ।' लघुम० p. 52.

The Naiyāyika view and its refutation —The Naiyāyikas hold that the लकार's express the sense of action and not of subject (कृतावेव शक्तिर्लकाराणां न तु कर्तरि); for thus there would be conciseness (लाघव), and as action (कृति) must have a substratum (आश्रय), the idea of the agent (कृतिमत् or कर्तु) would be derived from it. Thus when we say देवदत्तः पचति, देवदत्त is the principal word or a substantive (विशेष्य) qualified by the attribute यत्न or effort expressed by the root and आश्रयत्व or the state of being the substratum of action is the relation between देवदत्तः and पचति. Thus the sentence देवदत्तः पचति means that Devadatta is the substratum of an action favourable to the effort of cooking ('अत्र नैयायिकाः—लकाराणां कृतावेव शक्तिः। लाघवात्। न तु कर्तरि। कृतिमत् कर्तृत्वेन तत्र शक्तौ गौरवात्। प्रथमान्तपदेनैव तद्धाभाच्च। देवदत्तः पचतीत्यत्र हि देवदत्तो विशेष्यः यत्नो विशेषणमाश्रयत्वं तु संसर्ग इति' ॥ मनोरमा उत्तरार्ध p. 2 (Benares Pothi Edition).

The view is not proper, argues the grammarian. When we say पचति, our natural expectancy (आकाङ्क्षा) is who is पाककर्ता and it is supplied by a word like देवदत्तः. Hence it is proper to take the expressive power of लकार's to be कर्ता and not कृति. If we take the sense of पचति to be पाकावकूलकृतिः, our expectancy would be 'in whom?' (कस्मिन्) or 'of whom?' (कस्य). But such is not the case; for our expectancy when we say पचति is कः, not कस्मिन् or कस्य. But says the Naiyāyika, 'The sense of पचति according to your view is एककर्तृका पचिक्रिया. Thus there is no expectancy for कर्ता.' 'No', replies the grammarian, 'though we know that the action has an agent and it is one, we do not know what particular agent it is. We have knowledge of the agent in general; but the expectancy of the particular agent remains ('कर्तृ-सामान्यबोधे सति क इति कर्तृविशेषाकाङ्क्षायां बाधकाभावात्' तत्त्वबोधिनी. See Siddhāntakaumudī, N. S. Press, p. 318). Nor can the Naiyāyika object that even after knowing that the action of cooking has Devadatta as its agent (देवदत्तकर्तृका पचिक्रिया), the expectancy 'in whom' (कस्मिन्) or 'of whom' (कस्य) still remains; for the action of cooking means an action favourable to softening (विह्वलित्ति) which is its fruit; the substratum of this action, namely Devadatta, is its agent and when the substratum of the action is decided, the expectancy 'in whom' or 'of whom' does not arise.

Another objection to the Naiyāyika view is this— In पचन्तं देवदत्तं पश्य, पचमानस्य देवदत्तस्य द्रव्यम्, the कृत् suffixes (शतृ in पचन्तं and शानच् in पचमानस्य) must like the तिङ् suffixes express the sense of action

(कृति); for both तिङ् and कृत् are equally the substitutes (आदेश's) of लकार's. Thus in the forms पचन्तं and पचमानस्य the sense would be that of कृति or action only. Nor can the Naiyāyika urge, "this result is favourable to me (इष्टापत्तिः); because the connection as stated by me between action (कृति) and agent (कृतिमत्) is that of substratum (आश्रय), hence the sense would be पाकावकूलकृत्याश्रयं देवदत्तं पश्य and thus there would be nothing wrong." "No" rejoins the grammarian, "as with me, so with you, the accepted theory (सिद्धान्त) is that the grammatical connection between a noun or an adjective and its sense is by identity (नामार्थयोरभेदेनान्वयः) and in पचन्तं and पचमानस्य this theory would be subverted, there would be नामार्थयोर्भेदेनान्वयः; since the substratum of action is the sense of the adjectives पचन्तं and पचमानस्य while the real senses are those of कर्म and संबन्ध.

Moreover, the Naiyāyika will have to give up his theory that a स्थानी or that for which a substitute is made has the power of expressing the sense and not its आदेश or substitute for the sake of succinctness ('स्थान्येव वाचको लघवात् न त्वादेशो गौरवात्; मनोरमा उत्तरार्धे p. 2.); since he considers the कृत् suffixes शतृ, शानच्, &c. which are substitutes for लट्, a लकार, to be expressive of agent. If to obviate this evil, the Naiyāyika were to accept the theory of the grammarian that in all cases substitutes have the power of expressing sense (सर्वत्रादेशा एव वाचकाः), then in instances like घटं, घटेन, हरेऽव, विष्णोऽव, he will have to accept पदस्फोट and वाक्यस्फोट, which would be contrary to his theory; for he does not accept स्फोट at all, his argument being that since the sense of a word is suggested (व्यङ्ग्य) by a knowledge of its last letter in conjunction with the impressions left on the mind by preceding letters, there is no necessity for accepting स्फोट ("पूर्वपूर्ववर्णगोचरसंस्कारसहितश्रमवर्णोपलम्भ एव स्फोटव्यञ्जकः" इति शाब्दिकैः स्वीकरणीयम् । तथा च नैयायिकमतेऽपि तादृशश्रमवर्णोपलम्भेनैवार्थप्रत्ययोपपत्तावच्छेदोऽस्तीति न्यायः मञ्जु" न्यायकोश p. 961 foot note).

Thus, according to a grammarian a root expresses fruit and action and the आख्यात or तिङ् suffixes express their substratum, i. e., an object and an agent. 'But what is his authority for saying so?' say a Mīmāṃsaka and a Naiyāyika. For the sense of the substratum can be arrived at by आक्षेप or लक्षणा. According to the Mīmāṃsakas आक्षेप means अर्थापत्ति, while according to the Naiyāyikas it means अनुमान. As in पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्के the पीनत्व of देवदत्त can be explained only by assuming his eating his meals at night; it would be otherwise im-

possible, so is action without an agent *impossible*, and therefore to make the idea of action possible, its substratum, *viz.*, an agent is assumed by अर्थापत्ति. The Naiyāyika does not consider अर्थापत्ति to be a separate means of proof, but takes it as a केवलव्यतिरेकी अनुमान. According to him the fatness of Devadatta not eating his meals during the day can be arrived at thus—देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाभुजाने सति पीनत्वात् यन्नेवं तन्नेवं यथा दिवा रात्रौ चाभोजी । When thus the sense of the agent &c. can be arrived at by आक्षेप or by implication (लक्षणा), and when we have a noun in the nominative case expressing it, it is not proper to arrive at the idea of the agent by शक्ति or expressive power, for अनन्यलभ्यः शब्दार्थः—the expressive sense must be such as cannot be arrived at by another means. This is how the Mīmāṃsaka argues :—‘आख्यातात् तावत् कर्ता कृतिरेकत्वादिकं प्रतीयत इत्यविवादम् । तत्रानेकार्थबोधकपदे सर्वत्रैव एकत्र शक्तिरपरत्राक्षेपादीत्यपि तथैव । इतरथानेकशक्तिकल्पनापत्तेः । तत्र च नियामकापेक्षायां प्रधानेन गुणभूतस्य लोके आक्षेपदर्शनात् प्राधान्यं तावन्नियामकम् । तच्च यथा ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि’ इत्यनया स्मृत्या कृदन्तादिनामसु सत्त्वरूपस्य कर्तुरेव प्राधान्यावगमाद्वाच्यत्वं न कृतेः लक्षणादिनापि तत्प्रतीत्युपपत्तेः । एवमाख्याते ‘भावप्रधानमाख्यातम्’ इति स्मृत्या भावनाया एव प्राधान्याद्वाच्यत्वं नाश्रयस्य कर्तृकर्मादेः लक्षणयापि तत्प्रतीतेः॥’ पूर्वमीमां० दर्श० pp. 320-21 (Mysore Edition). The grammarian refutes this view as under :—If agent &c. are not the *expressive* sense of the तिङ् suffixes, there would be no arrangement for forms expressive of different persons (पुरुषव्यवस्था न स्यात्); for according to the Sūtras ‘युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः’ १।१।१०५ ॥, ‘अस्मद्युत्तमः’ १।१।१०७ ॥, and ‘शेषे प्रथमः’ १।१।१०८ ॥ the different persons युष्मद्, अस्मद्, and तद् must be in apposition to (समानाधिकरण) the Kāraka, agent or object expressed by तिङ् suffixes. But when the sense of the Kāraka is not expressed by them, युष्मद्, अस्मद्, &c. can have no सामानाधिकरण्य or state of apposition to it. This being the case, in देवदत्तः पचति &c., the agent देवदत्त will be used in the instrumental case; for it is unexpressed (अनभिहित) by the suffixes and in पच्यते तण्डुलः &c., the object तण्डुल would be in the accusative case; for the sense of the object is unexpressed by the suffixes. Nor will it do to say that the suffix तिङ् expresses the number residing in the agent and hence the agent (‘कर्तृविशिष्टसंख्या-भिधानात् कर्तुरभिधानम्’ इति भट्टपादाः) and thus there would be apposition between the persons युष्मद् &c. and that which agrees with or has grammatical concord with the number expressed by तिङ्; for there is no certainty as to where the number expressed by तिङ् is grammatically connected. Moreover, number is not expressed by कृत् and तद्धित suffixes and by compounds; thus in देवदत्तः पाचकः, the कृत् suffix प्बुल् in पाचक

does not express number and if it does not consequently express agent, the agent being unexpressed by पाचकः, देवदत्तः, the agent, would be in the instrumental case. Similarly in पक्त्व्यस्तण्डुलः, जल्यः शक्तिकोऽथः, प्राप्नोदको घ्रायः, the number being unexpressed, the sense of the object is unexpressed and so the Sūtra 'कर्मणि द्वितीया' would be applicable and we should have the accusative case in place of the nominative case which is the correct one.

Bhaṭṭoji refutes the Mīmāṃsaka view in brief as under in his S'abda-kaustubha on भूवादयो धातवः see pp. 444-5—Action (भावना) cannot be the expressive sense of terminations; for in भोक्तव्यम् &c. the sense is understood even without the आख्यात suffix. Moreover, there also there is expectancy of a कारकः; and it is also a reply to the question किं कर्तव्यम्. If भावना were to be taken as the sense of आख्यात affixes we can have according to the theory of the Mīmāṃsakas, the प्रयोग-घटं भवति as we have घटं भावयति; since both the sentences will have the same meaning. In both घट is the object, it being the substratum of fruit which is the sense of the root (धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वसत्त्वात्). In घटं भावयति, णिच्, the causal termination, expresses the sense of the action of the potter, while in घटं भवति the आख्यात affix will express the same sense. If it be advanced that णिच् expresses the sense of the action of the प्रयोजक or causal agent, while the आख्यात suffix expresses the sense of the agent and thus there is no similarity between the example (दृष्टान्त) घटं भावयति and what is explained by it (दीर्घान्तिक), viz., घटं भवति, it is not proper; because if by कर्तुं is understood the agent who sets to action the whole circle of objects that are connected with the action (कारकचक्रप्रयोक्तु), then घट is not such an agent. If, on the other hand, you (Mīmāṃsaka) too consider the agent to be the substratum of or that principal thing which has the action expressed by the root, then what will be the sense of the आख्यात suffixes; it cannot be action, since it has already been expressed by the root—'यदि तु 'धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते' इति भर्तृहरि-प्रतिपादितरीत्या प्राधान्येन धातुपातव्यापारवत्त्वरूपं कर्तृत्वं तत्रापि संमतं कस्तर्हीदानीमाख्यातार्थः । व्यापारस्य धातुनैवाभिहितत्वात् ॥' p. 445.

The Sūtra 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' is the Sūtra which is held up by the Vaiyākaraṇa as his authority for taking तिङ् suffixes to express the sense of the agent and the object of an action. In this Sūtra 'कर्तरि' is to be supplied from 'कर्तरि कृत्' by the force of the word च. But the Naiyāyika who is जातिवादी (i. e., holds that by expressive

power of a word, it has the sense of जाति) urges that the words कर्तृ and कर्म in the Sūtra mean कर्तृत्व or कृति and कर्मत्व or फल. This will not do, says the Vaiyākaraṇa; for action and fruit are the senses of a root and it is not therefore proper to conceive that the तिङ् suffixes &c. have the power of expressing the same senses that have already been arrived at from the root. But it might be argued that with the Mīmāṃsakas fruit is the sense of a root and not action (विक्रियादि फलमेव धात्वर्थो न व्यापारः। आख्यातेन भावनाभिधीयते कर्ता तु तदविना-भूतोऽर्थात् प्रतीयते), hence there is nothing improper in the लकार's ex-pressing the sense of action. No, says the Vaiyākaraṇa; for then the कृति suffixes also would not express the sense of agent and object. The Sūtras 'कर्तरि कृत्' and 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' must both ex-press the same sense of the word कर्तृ; and if the कृति suffixes do not express the sense of the agent and the fruit, the expressions देवदत्तः पाचकः, पक्वव्यस्तण्डुलः &c. would not be possible.

An objection is raised by the Mīmāṃsakas to the sense of agent and object being expressed by तिङ् suffixes according to the Sūtra 'लः कर्मणि च'. They say that the Sūtras 'लः कर्मणि च', 'तिप्तसङ्गि' and 'द्वेकयोर्द्विवचनैकवचने' must be understood as forming एकवाक्यता, one syntactical whole. Thus the sense would be that when the singularity of the agent is to be expressed, the suffixes तिप् &c., substitutes of लकार's in the singular number, should be used. The Sūtra consequently does not express the sense of the agent &c. but its number. The grammarian refutes this objection as follows:—The Saṃjñās एकवचन, द्विवचन, and बहुवचन relate to the substitutes तिप् &c.; therefore the Sūtra 'द्वेकयोः' forms one syntactical whole only with the Sūtra 'तिप्तसङ्गि', not with 'लः कर्मणि', and there is no such word as कर्तरि in the विधिसूत्र 'तिप्-तसङ्गि', which word may somehow or other be connected with द्वि and एक as adjectives of द्वित्व &c. The Sūtra 'तिप्तसङ्गि' predicates sub-stitutes तिप् &c. for the लकार's taught by the Sūtra 'लः कर्मणि'. How then can the word कर्तरि qualify संख्या; for the Sūtra 'लः कर्मणि' where the word कर्तरि is to be supplied has no word showing number; there-fore the explanation कर्तरि यदेकत्वं तत्र तिप् कर्तरि यद् द्वित्वं तत्र तस्य &c. given by Bhaṭṭapāda for the Sūtra 'लः कर्मणि' is quite improper ('लः कर्मणि' इति विहितलकारावुवादेन तिवाद्यादेशविधेः प्रवृत्तत्वात्। तथा च लविधौ श्रूयमाणं कर्तृग्रहणं कथं संख्यां निश्चिनष्टु। न हि यत्र कर्तृग्रहणं तत्र संख्योपस्था-पकमस्ति। लकारस्य द्विवचनादिसंज्ञाविनिर्मुक्तत्वात्। ततश्च कर्तरि यदेकत्वमिति व्याख्या कथमपि न संभवत्येव' तत्त्वबोधिनी N. S. Edition, p. 319).

Now of the two senses, that of the root (धातु) and of तिङ् suffixes (आख्यात), since the root is the प्रकृति or base, the sense of the suffixes should be predominant and that of the root which is the base subordinate, as is generally the case according to the rule प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्. But in this case the sense of the root is predominant and that of the तिङ् suffixes subordinate. This is in accordance with Yaska's statement 'भावप्रधानमाख्यातम्'. आख्यात is to be taken here in the sense of आख्यातान्त or a verb, to suit the remaining portion 'सत्त्वप्रधानानि नामानि'. Bhāṣyakāra also favours the same view in his Bhāṣya on 'भूवादयो धातवः'. If the sense of the आख्यात or तिङ् suffixes were to be taken as predominant, since it will have grammatical connection by identity (अभेदान्वय) with a word in the nominative case, the sense of the nominative would be predominant; and this being the case 'पश्य मृगो धावति' will not form one sentence as established by the Bhāṣyakāra. मृगो धावति would then be equal to धावनकर्ता मृगः; the nominative मृगः would be विशेष्य and the action धावन would be its विशेषण. मृग being then the object of the action of seeing would be in the objective case. In 'पचति भवति', 'पचसि भवति', 'पश्यति भवति' &c. the Bhāṣyakāra takes the action of cooking to be the subject of भवति ('पचादयः क्रिया भवतिक्रियायाः कर्त्र्यो भवन्ति' p. 256 Mahābhāṣya.). In another place the Bhāṣyakāra says, 'क्रियापि कृत्रिमं कर्म क्रियाया हि क्रियेप्सिततमा भवति' p. 330 Mahābhāṣya. Similarly the action of running becomes an object of the action of seeing.

Page 21. उद्गासिका आस्यन्ते हतशायिकाः शय्यन्ते—

तिङ् suffixes in भूयते, आस्यते, &c. express the sense of भाव, in other words, they only repeat the sense of the root (धात्वर्थोऽनुवादको एव). The संख्या (number) in this case has no grammatical connection (अन्वय); for in भावे construction, तिङ् suffixes do not express the sense of कर्तृ or कर्म which has a grammatical connection with संख्या. How then does the idea of संख्या arise? संख्या comes from the general rule (उत्सर्ग). It cannot be said that संख्या agrees with भावना; for भावना is incapable of having a grammatical connection with लिङ्ग and संख्या (लिङ्गसंख्या-न्वयायोग्या भावना). This is what is meant when it is said that a verbal form (तिङन्तपद) expresses असत्त्वभूतभावना. Hari says, 'असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते'. पचति expresses भाव and पाकः also expresses भाव; but the difference is that in पाकः, the भाव is सत्त्वभूत i. e., लिङ्गसंख्या-न्वयायोग्य, while in पचति, पच्यते, भूयते &c. the भाव is असत्त्वभूत, i. e., लिङ्गसंख्यान्वयायोग्य. The number in पचति, पच्यते, and भूयते-कर्तरि, कर्मणि,

and भावे forms—does not reside in भाव ; in the forms पचति and पच्यते it resides in the कर्ता and कर्म respectively, which are expressed by the suffixes ति and ते; while in भूयते it comes from उत्सर्ग. The base cannot be used alone. The use of the singular number is the general rule and that of the dual and the plural is an exception. This is well explained in the Bhāṣya on the रूपः Sūtra (५।३।६६)—‘एकवचनसुत्सर्गः करिष्यते । तस्य द्विवचनार्थयोर्द्विवचनबहुवचने अपवादो भविष्यतः ॥’ ते in भूयते &c. does not express कर्ता or कर्म which has grammatical connection with संख्या, and hence the संख्या in ते is अनन्वित. It cannot be connected with भावना expressed by the root ; for भावना is संख्यान्वयायोग्या. Why then is the singular number used in भावे forms and not the dual or the plural? संख्या has no अन्वय here ; some termination, either ते, or इते, or अन्ते (in the 3rd per.), must be used for the sake of correctness of form, for the Sūtra ‘परश्च’ (३।१।२) shows that the base alone cannot be used—न केवलं प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, and the singular is used because it comes first (प्रथमोपस्थितत्वात् साधुत्वार्थमेकवचनम्). The same is the case with अव्यय’s which are incapable of number, having one invariable form. On the भाष्य on the रूपः Sūtra, Kaiyata well observes—‘एकत्ववत्यर्थे (i. e., in क्रिया which is one—एका क्रिया । द्विवचनबहुवचनानि तु न क्रियापेक्षाणि साधनापेक्षान्येतानि कर्तृकर्मपेक्षाणीत्यर्थः) अभेदैकस्त्वति च संख्यारहितेऽव्ययायर्थे चावस्थितमेकवचनम् ॥’ p. 66 (of the 5th Adhyāya), Pothi Edition, Benares.

Then how is the plural in उद्गासिका आस्यन्ते and हतशायिकाः शय्यन्ते to be accounted for? The plural cannot be used in भावे forms. These instances must be held to be correct ; because they are used by the Bhāṣyakāra.

Bhaṭṭoji Dikshita has a long note upon this. The meaning of उद्गासिका आस्यन्ते and हतशायिकाः शय्यन्ते is as follows. Camels sit in different ways and those who are killed on the battle-field lie down there in a variety of postures. The meaning then is that persons sit in a variety of ways like camels and lie down in different postures like men killed on battle-fields whose bodies lie there in various postures. Just as there is a plurality of postures in the sitting of the camel and the lying down of the killed on the battle-field, so the action expressed by the verbal form appears multiform and is therefore used in the plural number. Thus उद्गासिकाः and हतशायिकाः are accusative plural forms, they being attributes of the क्रिया expressed by आस्यन्ते and शय्यन्ते respectively. They are not used in the neuter singular as other adverbs are, since they are feminine forms, ति being a feminine suffix (स्त्रियां क्तिन्) and the

neuter form is used only in the case of adjectives as in **सुदृ पचति** ('सामान्ये नपुंसकम्' इत्यस्यानियतलिङ्गविषयत्वात्)—("तत्र कर्तृकर्मणी वदन् तिङ् तन्निष्ठां संख्यामपि प्रतिपादयतीति कर्तृकर्मणोर्द्वित्वे बहुत्वे च द्विवचनबहुवचने भवतः । भावे लसु असत्त्वावस्थापन्नां धात्वर्थभृतां क्रियामेवाभिधत्ते शोतयति वेति तत्र प्रथमपुरुषैकवचनमेव भवति न मध्यमोत्तमौ । युष्मदस्मन्सामानाधिकरण्याभावात् । नापि द्विवचनबहुवचने । द्वित्वबहुत्वयोरप्रतीतिः । एकवचनं तु उत्सर्गः करिष्यते इति भाष्याद्ववति । अत्र बहुवचनं नेत्यप्युत्सर्गः । उट्रासिका आस्यन्ते हतः शायिकाः शय्यन्ते इत्यत्र भाष्ये तदभ्युपमात् । उट्राणां हि आसिकाः स्वरूपत एव विलक्षणाः हताश्च नानाप्रकारं शेरते उत्ताना अवताना विकीर्णकेशा विस्रस्तवक्षा इत्यादि । तत्साम्यादाख्यातवाच्यस्यापि भावस्य स्वरूपगतभेदावभासाद्बहुवचनं भवत्येव । इवशब्दप्रयोगमन्तरेणापि इवार्थावगतिर्भवति परत्र परशब्दः प्रयुक्त इति न्यायात् । तदयमर्थः । यादृशानि हतानामनेकप्रकाराणि शयनानि तादृशानि देवदत्तादिभिः क्रियन्ते इति । एवं चेह आसिकाः शायिका इति द्वितीयाबहुवचनान्तं क्रियाविशेषणत्वेन कर्मत्वात् । न चैवं ह्रीवत्वमेकवचनत्वं च स्यादिति वाच्यम् । 'क्षियां क्तिन्' इत्यधिकारात् स्त्रीत्वावधारणेन 'सामान्ये नपुंसकम्' इत्यस्याप्रवृत्तेः । बहुत्वावधारणेन च एकवचनाप्रवृत्तेरिति दिक् ॥". शब्दको० on सविधातुके यक् pp. 871—72.

The idea of plurality in the **उपमान** is owing to the force of its plural form, ascribed to the sense of the verbal form which is the **उपमेय** here. 'हतशयनसदृशानि शयनानीत्यर्थके उपमाने बहुत्वोपादानसामर्थ्येनोपमेये तिङर्थ-क्रियारूपे उपमानगतबहुत्वारोपेण बहुवचनम् ।'. लघुशब्देन्दुशेखर, p. 447 (Benares Edition).

Others explain the forms differently. They take **उट्रासिकाः** and **हनशायिकाः** to be Nominative plural forms and **आस्यन्ते** and **शय्यन्ते** to be कर्मणि forms. According to them the forms are similar to **गोदोहः सुप्यते**. This view is not proper. The idea of similarity involved will not come out in that case.

Kaiyata's note on the Bhāṣhya—'तिङ्भिहिते चापि तथा भावे बहुवचनं श्रूयते । तद्यथा । उट्रासिका आस्यन्ते हतशायिकाः शय्यन्ते इति' on the Sūtra—'सविधातुके यक्' (३११६०) is as under:—'अत्राश्रयाणामुट्राणां भेदादनेकप्रकारयुक्तान्यासनानि भिन्नानि तत्सामानाधिकरण्याच्चाख्यातवाच्यभावभेदादास्यन्ते इति बहुवचनमित्यर्थः । इवशब्दप्रयोगमन्तरेणापि चेवार्थावगतिर्भवति । तदयमर्थः । यादृशान्युट्राणामनेकप्रकाराण्यासनानि तादृशानि देवदत्तादिभिः क्रियन्ते इति । भवद्विरास्यते इत्यत्राश्रयभेदादाश्रितभेदादाश्रितभेदस्य प्रतिपन्नत्वात् प्रयोजनाभावाद् भावो भेदो नोपादत्त इत्येकवचनमेव भवति यथा तान्नः पलाशेषु बभूव राग इति । न च सर्वत्राश्रयभेदादाश्रितभेदस्य प्रतीतिः । यटाञ् पचतीत्यादौ पाकस्याभिन्नस्यैवावगमात् ॥' p. 41 (3rd Adhyāya), Pothi Edition of Benares.

This view is not endorsed, as it must have been clearly seen, by Kondaḥḥatta; for according to his view भावना is लिङ्गसंख्यानव्यायोग्या and the sentences उद्भासिका आस्यन्ते and इतशायिकाः शस्यन्ते are correct simply because they are pronounced by the Bhāṣyakāra (मुनीनां वचन-प्रामाण्यात्). The singular number is used, for correctness of the form, because the Sūtra परश्च shows that प्रकृति cannot be used alone.

Page 26. कृत्रोऽकर्मकतापत्तेः—The Naiyāyikas hold that यत्न or effort is the sense of आख्यात suffixes; for their sense is explained by करोति and करोति implies effort. पचति is explained by पाकं करोति. Life experience (व्यवहार) shows that bearing in mind that a piece of cloth can be made by effort and not a sprout (यत्नजन्यत्वमनुसंधाय) we say पटः कृतः, and अङ्कुरः अकृतः. Thus with them कृति or यत्न is the sense of आख्यात suffixes and कृति is called भावना by the Mīmāṃsakas:—‘कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया । यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सेव भावना ॥’ Here परस्मिन् is equal to मीमांसकमते. This view is improper; for we say रथो गमनं करोति, बीजादिना अङ्कुरः कृतः where यत्न is not the sense.

When व्यापार or action is not the expressed sense of a root, फल or fruit comes to be the expressed sense; and since in roots करोति &c. यत्न or effort is implied, यत्न becomes the expressed sense. Now as the root यत् is intransitive all the roots would be intransitive and the division of roots into transitive and intransitive would be meaningless.

Here the difference between व्यापार and कृति is this according to the Naiyāyikās:—If व्यापार be taken to be the expressed sense, in the case of पचति it would show placing fuel, blowing fire, putting a cooking pot on fire, &c. Thus there would be many distinguishing properties of the expressed sense. अधःसन्तापनत्व, फुत्कारत्व, बुद्ध्युपरिधारणत्व, &c. would all be शक्यतावच्छेदक properties; while if कृति (प्रवृत्ति or making an effort) were to be taken as an expressed sense, कृतित्व would be शक्यतावच्छेदक property and thus would be succinctness as argued by the Naiyāyikas.

Another way of explaining ‘कृत्रोऽकर्मकतापत्तेः’ is as under:—

The first half of the verse व्यापारो भावना &c. is given to establish that व्यापार is the expressed sense of roots; while the second half is given to establish the remaining sense of roots, viz., फल; and in doing so Bhaṭṭoji Dīkṣita refutes the doctrine of the Naiyāyikas that in जानाति, करोति, &c. simple knowledge and effort &c. are the expressed sense. अकर्मकतापत्तेः in the Kārikā must be understood to mean यत्नार्थकतापत्तेः. It

cannot be taken in its literal sense ; for the root कृ is intransitive in instances like वायुर्विकुरुते, सैन्धवा विकुर्वते.

Page 31. किं तृत्पादनमेव—Thus कृ or by उपलक्षण (implication of some thing else in addition to what is expressed—स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणम्) all roots convey the expressed sense of यत्न or व्यापार combined with the fruit, not simple यत्न or simple व्यापार. It is because a root has the expressed sense of व्यापार and not यत्न, that we have a sentence like क्रियते घटः स्वयमेव just as we have पच्यते ओदनः स्वयमेव. These are कर्मकर्तरि forms. When the speaker does not mean to express the action of the agent in order to suggest that the action is performed with great ease, then other Kārakas also obtain the name of agent; because they are independent in the performance of their own functions, the function of the agent being intended to be unexpressed ('स्वतन्त्रः कर्ता'). Thus in देवदत्तोऽसिना छिनत्ति, देवदत्त is the agent and असि, the instrument; if to show that the action of cutting is performed with extreme ease, the action of Devadatta is intended to be unexpressed, we have असिच्छिनत्ति. This is a करणकर्तरि form. Similary स्थाली पचति is an अधिकरणकर्तरि form. When the object performs the action of the agent we have a कर्मकर्तरि form; and by the Sūtra 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः', (when the agent expresses an action equivalent to that which resides in the object, it becomes like the object) we have in कर्मकर्तरि construction the same कार्य, i. e. the affixing of यक्, आत्मनेपद, &c. as in कर्मणि construction. Thus देवदत्त ओदनं पचति and देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति is the कर्तरि construction and पच्यते ओदनेन and भिद्यते ओदनेन, the कर्मकर्तरि construction. This construction is allowed when the result of the action is perceptible in the object (कर्मस्थभावकानां धातूनाम्) and not when it is perceptible in the subject (कर्तृस्थभावकानां धातूनाम्); for कर्मणा in the Sūtra is equal to कर्मस्थक्रियया. In the actions of cooking and breaking, the result is perceptible in the objects cooked and broken (ओदन and काष्ठ). We cannot consequently have कर्मकर्तरि construction in the case of roots expressing knowledge, motion &c. where the fruit of the action resides in the agent. There we have the same form as in the कर्तरि construction. Thus

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्धधाति च

is equal to शास्त्रार्थः स्वयमेवाधिगमनविषयो भवति &c. We cannot say यत्यते घटः स्वयमेव, for यत्न abides in the agent and not in the object. Now if कृ expresses यत्न, we cannot say क्रियते ओदनः स्वयमेव, which is a correct प्रयोग just as we do not say दृश्यते or ज्ञायते घटः स्वयमेव.

Pag 32. निर्वर्त्ये च विकार्ये च—

But an objection is raised here as follows :—Like the root कृ &c., ज्ञा &c. also must by its expressive sense denote the fruit, such as the breaking &c. of the cover which encloses the object; for otherwise ज्ञा &c. would not be transitive. Therefore the forms ज्ञायते घटः स्वयमेव, ग्रामो गम्यते स्वयमेव are admissible. It is to meet this objection that the Kārikā is given.

कर्म and its varieties—कर्म is defined as that which is the most desired to be obtained by the agent by action (‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’). The Bhāṣyakāra thus justifies the use of the affix तम in ईप्सिततमः—If कर्म were defined as ‘कर्तुरीप्सितं कर्म’, in अग्निर्माणवकं वारयति, माणवक would be अपादान by the Sūtra ‘वारणार्थानामीप्सितः’, and if it be argued that the Sūtra ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ १।१।४९ being subsequent to the Sūtra ‘वारणार्थानामीप्सितः’ १।१।२७, would make it ineffective and thus कर्मसंज्ञा would invalidate अपादानसंज्ञा in माणवक, it would in that case invalidate अपादानसंज्ञा in अग्नि also, for both अग्नि and माणवक are the desired objects of the agent. The question as to how अग्नि is the desired object is answered by stating that अग्नि also is the desired object; because a man wards off Mānavaka from it. The objection that कर्मसंज्ञा would invalidate अपादानसंज्ञा in the case of अग्नि is met by saying that since तम is used in ईप्सिततम, माणवक is ईप्सिततम and not अग्नि. कर्मसंज्ञा does not therefore apply to अग्नि.

कर्म is either ईप्सिततम or otherwise. ईप्सिततम कर्म is divided into निर्वर्त्ये, विकार्ये, and प्राप्ये; while the other into उदासीन, द्वेष्य, अकथित, and अन्यपूर्वक. An object which, if unexisting, is created by the action of the agent, or if existing, is brought to light by the action of the agent is called निर्वर्त्ये; e. g. कटं करोति, पुत्रं प्रसूते. An object which is reduced to another condition, its former form being destroyed or modified by the action of the agent is called विकार्ये; e. g. काष्ठं भस्म करोति, सुवर्णं कुण्डलं करोति. An object which is neither created (निष्पन्न, निर्वृत्त) now modified (विकृत) by the agent by his action, but is simply reached (प्राप्त) by the action of the agent is called प्राप्ये; it is an object in which the result of the action of the agent in the form of modifications made in the object is neither perceived now inferred; e. g. ग्रामं गच्छति. In ग्रामं गच्छन् वृणं स्पृशति, वृणस् is an उदासीन object. In विषं भक्षयति, विषम् is a द्वेष्य object. Both उदासीन and द्वेष्य are अनीप्सित and कर्मस्व in their case is sanctioned by Pāṇini’s Sūtra ‘तथायुक्तं चानीप्सितम्.’ अनीप्सित is to be taken as ईप्सितादन्यत् (नञ् is not प्रसज्यप्रतिषेधवाचक, but पशुशस-

वाचक). Hence द्वेष्य and उदासीन objects are both अनीप्सित. 'पर्युदासोऽयं यदन्यदीप्सितात् तदनीप्सितमिति । अन्यच्चैतदीप्सितायत्रैवप्सितं नाप्यनीप्सितमिति' भाष्य. In गां पयो दोग्धि, अन्ववरुणद्धि गां व्रजस् etc. गाम् &c. are अकथित objects; because they are कारक's, not intended to be expressed as अपादान, अधिकरण, &c.; for if the speaker desires to express them as such, he can say गोः पयो दोग्धि, अन्ववरुणद्धि गां व्रजे, &c. An object which has been declared to be another कारक by a preceding Sūtra is अन्यपूर्वक; e. g. क्रमभिक्षुष्यति, क्रमभिक्षुह्यति. This is in accordance with the Sūtra 'कुघट्टुहोरुपसृष्टयोः कर्म १।२।३८. Here संप्रदानत्व is declared by preceding Sūtra 'कुघट्टुहोर्प्यासूयार्थानां ये प्रति कोपः' १।१।३७. Similarly in अक्षान् दीव्यति अक्षान् is अन्यपूर्वक. Here अक्ष is optionally कर्म by the Sūtra 'दिवः कर्म च' १।१।४३. करणत्व is declared by the preceding Sūtra 'साधकतमं करणम्' १।१।४२॥

Now the Kārikā निर्वर्त्ये च विकार्ये च &c. means that when the object is निर्वर्त्य or विकार्य the Sūtra 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' is applicable; and not when the object is प्राप्य. This is the established and correct view. In घटं पश्यति, and ग्रामं गच्छति. on looking at the objects घट and ग्राम, it is not possible to know or infer that the pot is seen by some one or that the village is approached by some one; just as when we say घटं करोति, छनोति सोमम्, &c., it is possible to know on looking at the निर्वर्त्य object घट that it is done by some one, and at the विकार्य object सोम that it is extracted by some one. Thus घट and ग्राम are प्राप्य objects, and it is wrong to say ज्ञायते घटः स्वयमेव and ग्रामो गम्यते स्वयमेव.

Thus a root must express the fruit in addition to action; and it is on this account that the Bhāṣhya द्वयर्थः पचिः can be explained—'अथेह कथं भवितव्यम् । तण्डुलानोदनं पचतीति । आहोस्वित् तण्डुलानामोदनं पचतीति । उभयथापि भवितव्यम् । कथम् । इह हि तण्डुलानोदनं पचतीति द्वयर्थः पचिः । तण्डुलान् पचनोदनं निर्वर्तयतीति । इहेदानीं तण्डुलानामोदनं पचतीति द्वयर्थश्च पचिर्विकार्ययोगे च षष्ठी । तण्डुलविकारमोदनं निर्वर्तयतीति' भाष्य. 'On कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (१।१।४९), p. 332. Here तण्डुलान् is विकार्य, and ओदनम्, निर्वर्त्य object, and the root पच् has two senses उत्पत्ति and विकृति; of which उत्पत्ति is the व्यापार and विकृति fruit. This Bhāṣhya would be meaningless if fruit is not the expressed sense of roots.

Page 42. तस्मात् करोति?—

The Mīmāṃsakas hold that action (भावना) is the expressed sense of तिङ् suffixes or आख्यात and not of roots, and that when पचति is explained as पाकं करोति, the word करोति explains the sense of तिङ्

suffixes. It is not proper to say that करोति explains the sense of roots; for there is no argument for proving that it explains the sense of roots and not of आख्यात (there being no विनिगमना or एकतरपक्षपातिनी युक्ति: = Argument favouring one side more than the other). According to our view action must be the predominant idea in the sense of a sentence (भावनाविशेष्यकः बोधः) and if it be not the expressed sense of आख्यात, this will not be possible. Of the senses of a base and terminations affixed to it, the sense of terminations is predominant. It will not do to object that भावना being the expressed sense of आख्यात, it will not be comprehended when Kṛit suffixes are added to a root; for it will be comprehended there on account of its being inferred from the Kārakas which are the expressed sense of roots. पक्वान् and पक् express the sense of the subject and the object and these senses are not possible if भावना or action is not implied.

This Mīmāṃsaka; view is refuted by this Kārikā. करोति is an explanation of the sense of a root and not of तिङ् suffixes; for if we take it to be the sense of suffixes, there would be no grammatical connection (अन्वय) between the senses of Kārakas in पक्वान् which is equal to पाकं कृतवान् and पक्म् which is equal to पाकः कृतः. It is established by the Mīmāṃsakas in अरुणाधिकरण that all the Kārakas have a grammatical connection with action (कारकाणां क्रियायामेवान्वयः). In अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति a question is raised as to how purchase can be made by the quality redness which has no form or shape, for purchase is generally made by means of a cloth, gold, &c., i.e. objects which have a form ('अरुणाशब्दोऽरुणिमानं गुणमाचष्टे ।तस्य चारुणिमगुणस्य तृतीयाश्रुत्या सोमक्रयसाधनत्वं प्रतीयते तच्चातुपपन्नम् । अमूर्तस्य गुणस्य बासोहिरण्यादिवत् क्रयसाधनत्वासंभवात्' जैमि० न्याय० विस्त० p. 113). The solution there given is that अरुण expresses a quality and though a quality is formless on incorporeal, it qualifies the substance cow and through this substance, the quality redness is grammatically connected with the action of purchase ('यद्यप्यमूर्तो गुणस्तथापि हायनवदक्षिवच्च गोद्रव्यमवच्छिनत्ति । तच्च द्रव्यं साधनमिति तद्द्वारा गुणस्य क्रयेणान्वयो भवति' जैमि० न्याय० विस्त० p. 113). Thus it is established in the अरुणाधिकरण that all the Kārakas are grammatically connected with action.

पक्वान् is equal to पाकं कृतवान्. Here पाक is a कर्म Kāraka and the sense of the Kṛit suffix कृतु (तवत्) is a कर्तृ Kāraka; and their grammatical connection is impossible according to the principle established by the Mīmāṃsakas that all the Kārakas must be connected with action

and when their mutual grammatical connection is impossible, there is no question as to which of the two senses, the sense of the base (प्रकृति) and the sense of the suffix (प्रत्यय), is predominant. The truth is that the maxim 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' is to be taken as generally true, not invariably. It does not mean that whatever sense is predominant is the sense of the suffix or that what is the sense of the suffix is necessarily predominant. The apprehension of sense arises in different ways to different schools. The grammarian makes action predominant; he is therefore क्रियाविशेष्यवादी. The Naiyāyika regards the sense of the nominative to be predominant; he is therefore प्रथमान्तविशेष्यवादी. In गङ्गायां घोषः, where गङ्गा means गङ्गातीर by implication (लक्षणा), the properties that characterize the लक्ष्य sense, the लक्ष्यतावच्छेदकधर्म's as they are called, are the same that characterize the शक्य sense (the primary sense), शक्यतावच्छेदकधर्म's. This is the view of the Ālankārikas. In गङ्गायां घोषः, तीर, the लक्ष्य sense, is understood as गङ्गा and so the properties of coolness, holiness &c. are suggested. In the same way in the verse जाता लता हि शैले &c. where, by साध्यवसान लक्षणा, लता means शरीरयष्टिः and शैलद्वयम् means स्तनद्वयम्, लता and शैल are understood as having लतात्व and शैलत्व as their characteristic properties and not as having शरीरयष्टित्व and स्तनत्व as their characteristic properties; for otherwise there would be no apprehension of the reversion of things described in the second half of the verse, viz. the growth of a pair of hills on a golden creeper. The Naiyāyikas, on the contrary, understand the लक्ष्य sense by लक्ष्यतावच्छेदक properties and they advance the verse 'कचतलस्यति वदनं' in support of their theory. Here the word कच conveys the idea of Rāhu by लक्षणा or the power of implication and the idea of ब्राह्म or fear does not come out if कच is understood as कच. It comes out only when कच is understood as राहु. So according to the Naiyāyikas the लक्ष्य sense is grasped by लक्ष्यतावच्छेदक properties and not शक्यतावच्छेदक properties as is understood by the Ālankārikas. Different schools have thus different ways of understanding the sense of a sentence. We have thus to depend upon the manner in which they comprehend the sense, their व्युत्पत्तिग्रह as it is called. Hence Pāṇini says 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' (The maxim that the sense of the suffixes is predominant should not be taught; because the sense of words is established by another means of proof, namely worldly usage). Bhaṭṭoji Dikshita explains it in the Śabdakaustubha as follows:—'प्रत्ययार्थः प्रधानमित्येवं रूपं वचनमपि अशिष्यम् । कुतः । अर्थस्य लोकेत एव सिद्धेः । आख्यातस्य क्रियाप्रधानतया व्यभिचाराच्चेत्यर्थः'

p. 424. आख्यातस्य here means धातोः. In Yāska's 'भावप्रधानमाख्यातम्' which, if any regulator of sense (अर्थनियामक) were required is advanced by Vaiyākaraṇas, आख्यात is explained as धातु; as further on Yāska quotes Śākatāyana 'नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः,' and there also आख्यात means धातु 'सर्वं नाम धातुजमाह व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'—in this Bhāṣya also, which has the same import as the above sentence 'नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः' आख्यात seems to have been taken in the sense of धातु. Nāges'a, the author of the Mañjūśā takes आख्यात to mean a verbal form, तिङन्तान्त. He says that in the Vārtika आख्यातमाख्यातेन, the sense is आख्यातान्त or तिङन्तान्त, not धातु. Moreover, Yāska begins by enumerating पद's as नाम, आख्यात, उपसर्ग, and निपात ('चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च') and in the Bhāṣya of it 'भावकालकारकसंख्याश्चत्वारोऽथा आख्यातस्य तत्र भावः प्रधानम्,' (Vide नामेश's लघुमञ्जूषा, p. 77.) आख्यात distinctly means a 'तिङन्तान्त'; so also in 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्,' a Vārtika on 'समर्थः पदविधिः' p. 369.

Page 44. तदागमे हीत्यादि—

'शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषाम्' is a Jaimini Sūtra. In 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', the question is whether the singularity expressed by पशुम् is to be taken as subsidiary to याग, expressed by आलभेत. The पूर्वपक्ष is that as soon as the word पशुम् is pronounced, the ideas of पशु and its singularity (एकत्व) are apprehended by hearing the word (श्रुति) without a reference to any other word. The idea of याग arises from the sentence (वाक्य) and since श्रुति is more powerful than वाक्य, the idea of singularity does not become subsidiary to याग and so it is possible to perform the sacrifice by two or more पशु's. Vide जैमि० न्याय० विस्त० p. 222. This पूर्वपक्ष is answered as under :—Though पशुम् is one word, its base expresses an animal, and the suffix अम्, the state of its being a Kāraka and singularity. Now the idea of singularity is first connected with the Kāraka which is nearer than the verb with which the Kāraka is connected. Now Kāraka means the cause of action. Thus the suffix अम् denotes through the Kāraka the relation of the word पशुम् to a verb which denotes action. The particular action here is that of sacrifice denoted by the verb आलभेत. Thus the idea of singularity is connected with or subservient to sacrifice; and being itself incapable of performing a sacrifice on account of its being incorporeal, qualifies the object, animal; and it being thus subservient to sacrifice, it is proved that the sacrifice is not to be performed by two or three animals. Vide जैमि० न्याय० विस्त० p. 222.

S'abarasvāmin explains the Sūtra as under :— When we say पशुमानय, the sentence conveys the sense of bringing characterized by singularity and an animal ; and when we say पश आनय, it conveys the sense of bringing characterized by duality and an animal. There the idea of singularity goes away and duality comes in. When the singular termination comes in, the idea of singularity arises and therefore singularity is the sense. Similarly when we say अश्वमानय, the bringing of a horse is comprehended and when we say गामानय, the bringing of a cow is comprehended; here the idea of a horse disappears and that of a cow arises, so it is known that 'a horse' is the sense of अश्व and 'a cow' of गो. ('यस्य चागमे यदुपजायते स तस्य अर्थ इति गम्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषां शब्दानाम्' मीमांसा-दर्शनम्, Calcutta Edition, p. 486). As when the singular termination is heard, the idea of singularity arises and therefore singularity is the sense, so when the आख्यात termination in पचति &c. is heard, the idea of the व्यापार (पचन) arises, and is therefore the sense.

Page 45. असूर्यपश्या इत्यादौ.....असमर्थसमासत्वानापत्तेः—

By 'समर्थः पदविधिः' (२।१।१॥) a compound takes place when there is सामर्थ्य or mutual grammatical connection between words which are compounded. सामर्थ्य is either व्यपेक्षा or एकार्थीभाव. एकार्थीभाव means oneness of sense as in compounded words and other वृत्ति's or complex formations. 'स्वार्थे पर्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशायः परस्परसंबन्धः सा व्यपेक्षा' तत्त्वबोधिनी, N. S. Press Edition, p. 154. In the sentences पश्य देवदत्त कष्टं श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम् and भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य, no compound can be formed of कष्टम् and श्रितः and राज्ञः and पुरुषः ; because there is no grammatical connection between them. Thus the word समर्थः in the Sūtra 'समर्थः पदविधिः' must be used. Then the question arises that even if समर्थ is used, how do you prevent a compound in cases like महत् कष्टं श्रितः. The answer is 'सापेक्षमसमर्थं भवति'. महाभाष्य p. 360. कष्टम् is असमर्थ ; because as it is connected with महत्, it is सापेक्ष. But then there would be no compound in cases like राजपुरुषोऽभिरूपः and राज-पुरुषो दर्शनीयः. No ; in such cases compounds are allowed, because the word which is सापेक्ष is the principal word. In राजपुरुषः, पुरुषः, is the principal word and राज्ञः the subordinate; and the principal word पुरुषः is connected with (सापेक्ष) अभिरूपः and दर्शनीयः and therefore the compound is admissible—'प्रधानमत्र सापेक्षं भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः'. महाभाष्य p. 360. In देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, &c. and किमोदनः शालीनाम् (केषां शालीनामोदनम्), सत्त्वादकमापणयिनाम्, कुतो

भवान् पाटलीपुत्रकः, the वृत्ति—a compound or a complex formation—takes place because the compounds are गमकः, i. e. they convey the sense which words uncompounded do. 'यत्र गमको भवति भवति तत्र वृत्तिः। तदथा। देवदत्तस्य गुरुकुलं देवदत्तस्य गुरुपुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति'. महाभाष्य p. 361. Hence in commenting upon instances like श्रुतदेहविसर्जनः पितुः, Mallinātha says 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः'. असूर्यपश्यानि सुखानि (सूर्य न पश्यन्तीत्यसूर्यपश्यानि, where नञ् is connected with पश्य, not with सूर्य), अपुनर्गोयाः श्लोकाः, अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः, अलवणभोजी ब्राह्मणः are sanctioned; because they are गमकः. They are all instances of असमर्थसमासः. Pāṇini has himself used the असमर्थ compound असूर्य in 'असूर्यललाटयोर्दक्षितयोः' (३।२।३६॥)—असूर्यमित्यसमर्थसमासः। दक्षिणा नञः संबन्धात्।'. Siddhanta-kaumudī. As Pāṇini pronounces अनपुंसकस्य in 'सुडनपुंसकस्य।' (१।१।४३॥) where he could have said 'सुड स्त्रीपुंसयोः', this is a ज्ञापक that a नञ्समास is possible even when नञ् is प्रसज्यप्रतिषेधवाची, i. e. is connected with a verb. " 'सुड स्त्रीपुंसयोः' इति वक्तव्ये अनपुंसकस्य " इति सूत्रयतः प्रसज्यप्रतिषेध एव संमतः। गौरवं च प्रामाणिकम्। एतेन हि केचिन्नञ्समासा असामर्थ्येऽपि साधव इति ज्ञाप्यते। तेन अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इत्यादि सिद्धं भवति' शब्दकौ० p. 234. But अकिञ्चित्कुर्वाणम्, अमासंहरमाणम्, and अगाधादुत्सृष्टम् are not held to be correct compounds. In the S'abdakaustubha, Bhaṭṭoji Dikshita says, 'नञ्समासा अपि केचित् साधवः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति यथा। केचितु न साधवः। अकिञ्चित्कुर्वाणमिति यथा। किञ्चिदप्यकुर्वाणमित्यर्थः'. शब्दकौ० p. 580.

Page 46. करोतिः क्रियमाणेन—भावनाविदः.

These verses are quoted from the Tantravārtika, a commentary by Bhaṭṭa S'ri Kumārilasvāmin on the S'ābarabhāṣya on the Pūrvā Mīmāṃsāsūtras.

According to the Mīmāṃsakas भावना is the sense of आख्यात terminations. The sense of roots is of two kinds, it is characterized by what is accomplished or what is to be accomplished. When we say पचति all understand the sense to be पाकं करोति. Here the sense of the root which is expressed by words like पाकः, पचनम्, पक्तिः, and which is capable of having gender, number, and case, is of the first kind; that is, it is सिद्धस्वभावः; while the sense of the root which is expressed by करोति and which has no gender &c. is of the second kind, that is साध्यस्वभावः. Here just as वञ् and other suffixes are added to the root to suggest its nature as characterized by something accomplished, so are आख्यात affixes added to the root, to suggest its nature characterized by something to be accomplished. This sense of the आख्यात affixes is here in the case of पचति

favourable to the creation of rice; and is expressed by the causal word **भावना**, it being the action of a person who works upon **ओदन** which exists; for one can work upon what actually exists or is capable of existing, not upon what has no existence or possibility of existence like **खपुष्प**. The **भावना** expressed by **लिङ्**, **लेट्**, **लोट्**, and **तव्य** affixes is **शब्दभावना**; while that expressed by all **आख्यात**'s is **अर्थभावना**. Vide **जैमि० न्याय० विस्त०** p. 63.

Bhattachapāda explains that the **लिङ्** affixes attached to some roots express action consisting only in the existence of the agent. **अस्ति**, **भवति**, and **विद्यते** are such roots. While the **लिङ्** suffixes attached to other roots, make us comprehend that the agent exists and that his action is concerned with the existence of some thing else. **यजति**, **ददाति**, &c. are such roots. Now in the case of roots **अस्**, **भू**, **विद्**, the **कर्ता** depends for its own existence upon another and cannot therefore engage itself in bringing about the accomplishment of another thing. In **वटः भवति**, **वट** depends upon a potter for its existence, it cannot therefore engage itself in bringing about the existence of another thing and not being engaged in it, the sense of the affix cannot be expressed by **करोति**. Therefore in **वटः अस्ति** we cannot express the sense of the **आख्यात** affix by **करोति**, as we do in the case of **पचति** which is equal to **पाकं करोति**. Now the root **कृ** being transitive, its sense is incomplete so long as some thing which is being done, that is, the object of the verb, is not used. Accordingly, the agent of what is expressed by the root **भू** becomes the object of the root **कृ**; for what does not exist or has no possibility of existing cannot be worked upon. **खपुष्प** or **आकाश** has no existence and consequently it cannot be worked upon (“**करोतेः नित्यं सकर्मकत्वाद्यावत् क्रियमाणं न लभ्यते न तावदर्थः पर्यवस्यति !.....तन्नात्रयव्यतिरेकाभ्यामिदमवगतं भवति क्रियायाः कर्ता करोतेः कर्म संपद्यत इति । तथा हि—नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता । न तस्य क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥ य एव हि प्रवृत्तभवनः संभावितभवनो वान्येन प्रयुज्यते स एव क्रियमाणत्वेनावधार्यते नान्यः । तथा च न कश्चित् खपुष्पमाकाशं वा कुर्वन्नुपलभ्यते ॥” तन्त्रवार्तिक**). The agent of the sense of **कृ** is one who sets to action what comes into existence; and what is to come into existence becomes in connection with **प्रयोजक** (the employer) that which is set to action or employed (**प्रयोज्य**). Now **भू** and **कृ** have different expressive powers as **विक्रिड्** and **पच्**; but they invariably express the action of the **प्रयोजक**. In some cases as **वटं करोति**, **ओदनं पचति**, only the action of the **प्रयोजक** is intended to be expressed, the action of the **प्रयोज्य** being gathered of itself or from the expressive power of the object which is be-

ing expressed. Thus in घटं करोति, करोति expresses the action of the प्रयोजक, the action on मृद् or clay being gathered from the expressive power of the object घट; for there can be no jar unless clay were worked upon. Sometimes the action of the प्रयोजक is left to be gathered and the action of the प्रयोज्य alone is expressed; as in घटो भवति, विक्रियन्ति तण्डुलाः. Sometimes both the actions are kept separate in one sentence, as करोति कटं देवदत्तः स च भवति. When it is intended to express the action of the प्रयोजक in such a way that the action of the प्रयोज्य is expressed by a part of the same word and is subordinate to the action of the प्रयोजक, a nother suffix णिच् is added ("भवतिकरोत्योः शक्तिभेदाद् विक्रिदिपचत्योरिव नियतं प्रयोजकव्यापारवचनत्वम् । तत्र च कदाचिदभिधीयमानकर्मशक्त्याक्षिप्त-प्रयोज्यव्यापारो वा स्वयमेवाक्षिप्तप्रयोज्यव्यापारो वा केवलं प्रयोजकव्यापार एव विवक्ष्यते कटं करोति ओदनं पचतीति । कदाचिदाक्षिप्तप्रयोजकव्यापारं प्रयोज्यव्यापारमात्रं घटो भवति विक्रियन्ति तण्डुला इति । कदाचिदुभौ भिन्नौ समुच्चित्य प्रयोगः करोति कटं देवदत्तः स च भवति । । कदाचित् पुनः समानपदैक-देशोपात्तोपसर्जनीभूतप्रयोज्यक्रियः प्रयोजकव्यापारो विवक्ष्यते तदा च करोतिपचत्योस्तादात्म्येनाशक्तिरप्रयोगाद् भूविक्रियोश्च केवलप्रयोज्यक्रियानिष्ठत्वान्न साक्षात् प्रवर्तितुं शक्तिरस्तीति वाचकत्वेन द्योतकत्वेन वा णिजपरः प्रयुज्यते भावयति विक्रे-दयतीति च ॥" तन्त्रवार्तिक).

'प्यन्ता एव प्रयुज्यन्ते तत्प्रयोजककर्मसु' is the reading in the तन्त्रवार्तिक and शब्दकौस्तुभ in place of 'तत्प्रयोजककर्तृषु'. Vide शब्दकौ० p. 444.

It will thus be seen that the expressive powers of all actions are natural to them; no inquiry is to be made about reasons thereof; for causative forms have different powers from primitive forms; and bases and affixes have different expressive powers. Thus the sense of all आख्यात suffixes is explained by करोति; and consequently the sense of भावयति is the established sense of all the आख्यात's. ओदनं पचति is accordingly equivalent to तण्डुलानोदनं भावयति. ("न च तेषामप्यन्तानामशक्तिरिति अन्येषामशक्त्या भवितव्यम् । अन्येषां वा शक्तिरित्येषामपि तद्वद्वितव्यम् । कुतः । शक्तयः सर्वभावानां नानुयोज्याः स्वभावतः । तेन नाना वदन्त्यर्थान् प्रकृतिप्रत्ययादयः ॥ एवं करोत्यर्थद्वारेण सर्वाख्यातेषु भावयत्यर्थः सिद्धः ॥" तन्त्र०). Thus those who know the exact sense of भावना define भावना to be the action of the employer (of different कारक's or instruments of action) of a thing which is the substratum of existence. घटं करोति is equal to घटो भवति तं भावयति. भूतिषु means भावेषु.

The verse तेन भूतिषु &c. shows clearly that according to the Mīmāṃsaka view भावना is an action of प्रयोजक or कारकचक्रप्रयोक्तृ—the man who sets to action all the instruments of action, on what is the substr-

tum of existence. In घटं करोति कुम्भकारः, कुम्भकार is the कर्ता, and घटम्, कर्म; but in घटो भवति घट is the कर्ता, and कुम्भकार the प्रयोजक; with reference to the प्रयोजक, घट is प्रयोज्य.

Now Bhūṣhaṇakāra's objection is this. If भावना is the action of प्रयोजक and if it is the sense of आख्यात suffixes, in घटो भवति, the suffix ति expresses भावना or the action of the प्रयोजक (the potter) and since this action does not reside in घट, घट cannot be कर्ता and consequently in the nominative case. On the other hand, घट is the object (कर्म), it being the substratum of fruit which is the sense of the root (धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपकर्मत्वसत्त्वात्) and should therefore be in the accusative case and we should therefore have घटं भवति as we have घटं भावयति.

Page 48. सर्वनामाव्ययादीनाम्—

The Sūtra 'भूवादयो धातवः' (१।३।१॥) shows that roots express action. The first question here is why Pāṇini has pronounced 'भूवादयः' instead of 'भूवादयः' or 'भूआदयः' if no sandhi is to be made. Kātyāyana gives a Vārtika to solve this question,—'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' (the व् after भू &c. is used to signify auspiciousness). The next question is why आदि is used. Pāṇini in other places as in 'मृडमृदुधकुप-द्विशब्दवसः क्त्वा' (१।२।७॥) actually enumerates the roots and does not make use of आदि. If then the roots are mentioned, there is no use of आदि. If they are not mentioned, then too आदि is useless; for it cannot point them out. Thus it is clear that the roots are enumerated outside the Sūtras and the word 'धातु' applies to that list ('एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रादिति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । पाठेन धातुसंज्ञेत्येतदुपपन्नं भवति ॥' आप्य p. 253).

Now the question is whether the fact that a root expresses action comes from the Sūtra or from outside. In other words, whether the definition of a root is गणपठितत्वं (Its having been mentioned in the धातुगण) or गणपठितत्वं क्रियावाचकत्वं च. The compound may in the first place be solved thus—भूरादियेषामिति भूवादयः. The augment व् comes from निपातन; because it is so pronounced by Pāṇini and Pāṇini's object in giving this big term is to show that it is significant; whatever bears or signifies action is a root ('अथवा भूरादियेषामिति विग्रहः । निपातनादुगागमः । महासंज्ञाकरणं तु दधति क्रियामिति धातव इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानार्थम् ॥' शब्दकौ० p. 444). In the second place, the word आदि may be taken in two senses—व्यवस्था (order, arrangement, class) and प्रकार (quality). The Bhāṣyakāra brings out these two senses from examples. When we say 'देवदत्तादय आनीयन्ताम्', देवदत्त and others who are sitting with him are brought;

कत्वं च । पठतीत्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी । पञ्चशब्दो हीयते पञ्चशब्द उपजायतेऽतिशब्दोऽन्वयी । अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी । विक्रिन्तिहीयते पठिक्रियोपजायते कर्तृत्वं चैकत्वं चान्वयी । ते मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो योऽर्थो हीयते यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयी ' भाष्य, p. 255). Next the question arises as to how we are to know that this is the sense of the प्रकृति and this is the sense of the प्रत्यय. In other words, why cannot both the senses belong to प्रकृति or to प्रत्यय? The solution is that such may be the case when the words are of a general nature; पञ्च and पठ are not of such a nature and therefore the sense of प्रकृति is different from that of प्रत्यय and both the senses cannot belong to one, either प्रकृति or प्रत्यय (' तत्र कुत एतदयं प्रकृत्यर्थोऽयं प्रत्ययार्थ इति न पुनः प्रकृतिरेवोभावर्थो ब्रूयात् प्रत्यय एव वा । सामान्यशब्दा एत एवं स्युः । सामान्यशब्दाश्च नान्तरेण प्रकरणं विशेषणं वा विशेषेष्ववतिष्ठन्ते । यतस्तु खलु नियोगतः पञ्चतीत्युक्ते स्वभावतः कस्मिंश्चिद्विशेषे पञ्चतिशब्दो वर्ततेऽतो मन्यामहे नेमे सामान्यशब्दा इति । न चेत् सामान्यशब्दाः प्रकृतिः प्रकृत्यर्थे वर्तते प्रत्ययः प्रत्ययार्थे ॥ ' भाष्य, pp. 255-56).

Page 49—

अन्योन्याश्रयः—It means what is usually known as अन्योन्याश्रय or इतरेतराश्रय, mutual inter-dependence. If action (क्रिया) is defined as the sense of a root (चात्वर्थ), then the characteristics of action, which is the sense of a root, would be comprehended only when the sense of a root is comprehended; and the sense of a root would be comprehended when the characteristics of action would be comprehended. Thus there would be mutual inter-dependence.

To prevent this, क्रिया should be defined as in the Bhāṣhya as व्यापार-सन्तान, a collection of actions.

अन्योन्याश्रय accordingly means यत्र पूर्वापेक्षयोत्तरस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिः स्थितिर्वा उत्तरापेक्षया पूर्वस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिः स्थितिर्वा स अन्योन्याश्रयः. It is one of the five varieties of तर्क, the other four being आत्माश्रय, चक्रक, अनवस्था, and प्रमाणबाधितार्थप्रसङ्ग.

वस्तुतस्तु—अनुगमात्—

अनुगम means a property which explains the sense of the whole class of objects in which it exists. घटत्व is thus the अनुगम of all घट's. अनुगतप्रवृत्तिनिमित्तमनुगमो यथा घटत्वं सर्वेषां घटानामनुगमः ।

Page 50. सत्कार्यवादिनां विवरणम्—

The Sāṅkhyas and the Vedāntins are called सत्कार्यवादिन्; since they believe that the cause and the effect are the same and that the effect

is either a modification of the cause or an illusory form, unreal appearance, the real thing being the cause. They are thus either परिणामवादिन् as the Sāṅkhyas and the Vedāntins of the Rāmānuja school, believing that the cause turns into effect and that both are real—कारणमेव कार्यात्मना परिणमते इति कार्यकारणयोरनन्यत्वं सत्यत्वं च, or विवर्तवादिन् like Sāṅkarāchārya, believing that the cause alone is real and not the effect, it being a mere figment of fancy owing to the prevalence of nescience—कारणमेव सत् कार्यं तु विवर्तरूपम्. परिणाम is thus विकार and the difference between विकार and विवर्त is very well expressed in the following couplet—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदाहृतः ।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः ॥

विकार or परिणाम being a तात्त्विक अन्यथाभाव of the cause, while विवर्त being अतात्त्विक, the cause alone being तात्त्विक. The Naiyāyikas and the Vedāntins of the Madhva school are known as असत्कार्यवादिन्; for they believe in the duality of things; that the effect is a different thing altogether from the cause; that it is non-existing before it is produced, and that it comes into existence by the action of causes. पूर्वमसदेव पश्चात् कारणसामग्रीवशादुत्पद्यते. They are also called आरम्भवादिन्, आरम्भ being equivalent to उत्पत्ति.

Page 51. कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः—

On the Sūtra अकथितं च ॥१॥५१॥ Kātyāyana gives a Vārtika काल-भावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणां देशश्च. Bhartṛihari says that the Vārtika is not necessary; for in the case of all roots, whether transitive or intransitive, words signifying time, verbal action, the road to be traversed, and countries become objects in connection with another action of pervading which is understood. मासमास्ते &c. being equal to मासं व्याप्यास्ते &c. (‘अतश्च क्रियान्तरापेक्षया तेषां [कालाध्वभावदेशानाम्] कर्मत्वं सिद्धमेवेति किमुपसंख्यानम् । तथा च मासमास्ते गोदीहमास्ते क्रोशं स्वपिति कुरुन् स्वपितीत्यादौ मासादीन् व्याप्यास्ते इति व्याप्त्यङ्गायामासनादिक्रियायां बाहु-द्वैतः । व्याप्त्यादिक्रिययामुपिष्यमाणत्वात् कालादीनां स्फुटमेव कर्मत्वमिति यत्नान्तरेण नार्थः’ हेलाराजवृत्ति, Benares Edition, p. 216). The question that next arises is that these roots then become transitive and so लकार's and the Kṛit suffixes (कृत्यक्तखलर्याः प्रत्ययाः) can be added only in the sense of the object (कर्मणि), not in the sense of भाव; for they are no longer intransitive. We cannot thus say मासमास्यते देवदत्तेन, मासमासितव्यम्, मासमासितम्, or स्वासं मासम्. The solution is as follows:—कर्म is either अन्तरङ्ग or बहिरङ्ग. The connection of a word signifying substance with a

verb is prior to that of words signifying time, verbal action, the road to be traversed, and countries with a verb. द्रव्यवाचक कर्म is therefore अन्तरङ्ग, while a कालादिवाचक कर्म is बहिरङ्ग. Now it is but proper that the term सकर्मक should be applied to a root which has an अन्तरङ्ग object. आस, स्वप् &c. being not such roots, लकार's and Kṛit suffixes can be added to them in the sense of भाव. Moreover, when the अन्तरङ्ग object is not used, these terminations can be affixed to roots in the sense of the बहिरङ्ग objects, काल &c. Bhaṭṭoji Dikshita expresses his view as under in the Śābdakaustubha on the Sūtra अकथितं च—"इह च कर्मणि भावे च लकारे देवदत्तेनास्यते मासो मासं वेति रूपद्वयमपीष्टम् । स्यादेतत् । 'भावे चाकर्मकेभ्यः' (i. e. referring to the Sūtra 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः') इति वचनान्मासादिकर्मकात् कथं भावे ल इति चेत् । उच्यते । 'अकर्मकेभ्यः' इत्यनेनान्तरङ्गं द्रव्यकर्म व्युदस्यते न तु बहिरङ्गं कालादिकर्म । 'कर्मणि' इत्यत्र तु व्यक्तिपक्षाश्रयणादन्तरङ्गासंनिधौ बहिरङ्गे कालादिकर्मण्यपि प्रतिरविच्छेदा । जातिव्यक्तिपक्षयोर्लक्ष्याहरोधेन व्यवस्थेति सिद्धान्तात् ॥" (p. 555). In these instances मासम्, गोदोहम्, क्रोशम्, कुरुन् &c. are प्राप्य objects and since they are connected with the action of pervading which is understood here, being comprehended under the action denoted by roots आस and स्वप्, they are ईप्सिततम Kārakas, i. e. Kārakas most desired to be obtained by the agent by his action. They are therefore प्राकृत objects and not अकथित ('अत्र क्रियान्तरस्य व्याप्ति-लक्षणस्याप्यास्यादिधातुभिरङ्गीकृतत्वाद् व्याप्तिक्रियाविषयभावोपगमनेन मासादिः प्राप्यं कर्मेप्सिततममेवेति प्राकृतमेवेतत् कर्म यथा घटं करोति शकटं करोतीति भाष्य उक्तम्' हेला० on वाक्य०, p. 217). Bhaṭṭoji Dikshita explains it in the same way in the Śābdakaustubha:—"यद्वा आस्यादयस्तत्पूर्वकं व्यापने वर्तन्ते तथा चोत्सर्गेणैव सिद्धम् । मासमासनेन व्याप्नोतीत्यर्थात् । तथा च द्वितीये भाष्यम् प्राकृतमेवेदं कर्म इति ॥", p. 554. In this verse the word अकर्मकैः is an उपलक्षण for सकर्मकैः also. Hence Helārāja comments upon it as follows:—"सर्वैरेवाकर्मकैः सकर्मकैश्चापि धातुभिर्योगे प्राकृतमेव कर्मत्वमुपजायत इति नैषां कर्मसंज्ञोपसंख्येयेत्यर्थः" वाक्य०, p. 217. Thus the word अकर्मकैः in the Kārikā is useless—"एवं चोपसंख्यानस्य प्रत्याख्यानानादकर्मग्रहणमनर्थकं सकर्मकाणामपि मासमोदनं पचतीत्यादौ मासादेर्व्याप्तिविषयत्वेन कर्मतासिद्धिः ।" वाक्य०, p. 217. Kaiyata is also of the same view—"अकर्मकैरिति त्वविवक्षितमिति कैयटोऽप्येवम्'.

It has been mentioned above that of the two objects, one denoting a substance &c. (द्रव्यादि कर्म), and the other denoting time &c. (कालादि कर्म), the former is principal (प्रधान and अन्तरङ्ग), while the latter is subordinate (अप्रधान and बहिरङ्ग). To show how this is known Hari gives

the Kārikā—‘आधारत्वमिव प्राप्तास्ते पुनर्द्रव्यकर्मसु। &c.’ वाक्य० ३।६८, p. 217. Time &c. become as it were a substratum of objects signifying a substance and are therefore subsequent objects of a different kind. In ‘क्रोशमयीते स्वाध्यायम्’, ‘कुरुन् पञ्चालान् वाधीते स्वाध्यायम्’ the connection of the word signifying substance &c., i. e. of स्वाध्याय with the action of studying is direct and prior to that of क्रोश, कुरु, and पञ्चाल which are as it were the substratum of the द्रव्यकर्म स्वाध्याय; since the study of the Vedas takes place during the time that the क्रोश, कुरु, or पञ्चाल is traversed (‘क्रोशमयीते स्वाध्यायं कुरुन् पञ्चालानधीते इत्यध्ययनप्रचयापचयोप-पत्तावध्वदशयोर्बुद्धिहासाविति विप्रकृष्यते कालादि क्रियासंबन्धं प्रति द्रव्यकर्मा-पेक्षया। अत एवात्तरकालभवमेतेषां कर्मत्वम्। समस्तसाधनसंबन्धे हि वृत्तेः क्रियायाः परिच्छेदकाः कालादयोऽपेक्ष्यन्ते इति भिन्नकक्ष्यास्ते ‘अकथितं च’ इति उत्तरेण योगेन कर्मसंज्ञां लभन्ते नेप्सिततमत्वेन ईप्साप्रकर्षाभावात्॥’ हेला० on वाक्य०, p. 218). In the लघुशब्देन्दुशेखर, Nāges’a explains why कालकर्म is बहिरङ्ग in the same way:—“तत्र कालादिकर्माप्रधानं द्रव्यकर्म तु प्रधानं कालस्याधारत्वेन द्रव्यद्वारा क्रियासंबन्धात्। किं च कठिनपाकस्य महापरिमाणस्य बहुसंख्यस्य च चिरेण पाकोऽन्यस्याचिरेणति द्रव्यधर्मं पर्यालोच्य क्रियासु कालयोग इति स च बहिरङ्गः। अपि च साधनसंबन्धे जाते क्रियायाः परिच्छेदकवाद्यकालाकाङ्क्षेति स बहिरङ्गः॥” When the principal and the subordinate objects are both used, it is but proper that the principal should be connected with the process that may take place. Hence लकार’s and कृत suffixes are in such cases when added to roots, expressive of the sense of the principal object. We have accordingly ‘मासमोदनः पच्यते पक्वः पक्तव्यः स्रपचः’, ‘क्रोशमयीतेऽनुवाकः’ and so on.

As words signifying time &c. become objects of a different kind and in connection with all roots, Hari says, ‘अतस्तैः कर्मभिर्धातुर्गुक्तो द्रव्यै-रकर्मकः—’. That is, wherever there is द्रव्यकर्म, कालादि कर्म being subordinate to it, लकार’s and कृत suffixes, do not, when affixed to roots, express the sense of the subordinate object. When, however, there is no द्रव्यकर्म, these लकार’s and कृत suffixes are added to roots in the sense of कालादि कर्म. The word अकर्मकः in the Kārikā is used to signify roots which have no द्रव्यकर्म or principal object.

Pages 51-52. मासं पचतीत्यादिसंग्रहाय सर्वैरिति वार्तिके—

वार्तिके seems to be the reading of most of the Mss.; only T. drops the words from वार्तिके to न्यायेन. This reading does not seem to be correct; for सर्वैः occurs in Hari’s Kārikā and not in any Vārtika.

Page 52. कचियेऽकर्मका इति भाष्येणैव—

The passage referred to occurs in the Bhāṣhya on the Vārtika ‘अत्यन्तसंयोगे कर्मवद् लाघर्यम्’ on the Sūtra ‘कालाध्वनोरत्यन्त-

संयोगे' १२।३।९॥. The sense of the Vārtika is that when there is close connection between words signifying time and way and action, words signifying time and way are to be looked upon as objects; and hence we have आस्यते मासः, शय्यते क्रौशः, where the लकार expresses the sense of the object. We have भावे construction also, owing to the use of वत् in कर्मवद् लाघर्त्यम्. We have consequently आस्यते मासम्, and शय्यते मासम् also. The Bhāṣhyakāra rejects the Vārtika and says that 'अकर्मकेभ्यः' in 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' means roots which are generally intransitive. All roots are transitive when they take objects of time, space &c. Hence those roots are to be understood, which are intransitive when words expressive of time &c. are not used as objects. The Bhāṣhyakāra puts it in three ways as under:—"अकर्मकाणामित्युच्यते न च केचित् कालभावाध्वभिरकर्मकाः । त एवं विज्ञास्यामः । क्वचिद्येऽकर्मका इति । अथवा येन कर्मणा सकर्मकाश्चाकर्मकाश्च भवन्ति तेनाकर्मकाणाम् । न चैतेन कर्मणा कश्चिदप्यकर्मकः" p. 338 or pp. 445-6 (*i. e.* roots having no द्व्यकर्म which cannot be used with all verbs, but is used with some only, and cause verbs to be called transitive and intransitive by their presence and absence) 'अथवा यत् कर्म भवति न च भवति तेनाकर्मकाणाम् । न चैतद् कर्म क्वचिदपि न भवति (*i. e.* अकर्मक by not having द्व्यकर्म)।' p. 338 or 446. The Vārtika is rejected, but not the Sūtra; for the Sūtra is necessary for sentences like क्रौशं कुटिला, where close connection is expressed with a word कुटिला which does not signify action.

The same passage of the Bhāṣhya is found on the Vārtika 'सिद्धं तु कालकर्मणामकर्मकवद्वचनात्' on the Sūtra "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थं" १।४।९२॥. This Vārtika is rejected on the same grounds, the word अकर्मक in the Sūtra having been explained in the very same way.

In the 'Sābdakaustubha' on 'गतिबुद्धि' Bhaṭṭoji Dikshita explains the word अकर्मक in the same way—"अकर्मकग्रहणेन तु येषां कालादिभिर्ज्ञं कर्म न संभवति ते गृह्यन्ते । न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि । तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं सिद्धं देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ च न भवति ॥" p. 557.

Page 58. साक्षादव्यभिचारेण—

This is a verse from the Tantravārtika. Kumārilabhaṭṭa defines transitive and intransitive verbs in it. His own gloss on the verse is as under:—"आसनशयनादौ हि न नियमेनानन्तर्येण वेदं तदिति वा कर्म निरूप्यते तेनाकर्मका अभिधीयन्ते । पचिगम्यादीनां तु विवक्षितत्वं तस्य युज्यमानसाक्षात्-संबन्धिकर्मोव्यभिचारात् सकर्मकत्वं न तु भावनाविशेषणे कश्चिद्विशेषः ॥"

What is meant is that there is no difference whatsoever in the action (सावना) expressed by both transitive and intransitive roots. Roots

like आस्, शी &c. have not some object represented invariably or directly connected with them and are therefore called intransitive; while roots like पच्, गम् &c. have invariably an object connected directly with the action, viz. that which is softened, joined &c. and are therefore called transitive.

The view of Helārāja seems to be almost the same. He says that some actions have connection with the agent alone; they have no expectancy for an external result of the action. Such are the actions expressed by शी, आस् &c. Here the भाव्य or the result of action is not different from भावना, and hence आस्ते is equal to आसनं करोति and शेते to शयनं करोति and there is no expectancy expressed by the question 'what' (किम्) connected with an external result of action. Where there is such an expectancy, there the verb becomes transitive owing to its having an object consisting of an external result of action.

Bhūṣhanakāra criticizes this view as under:—If निरूप्यते means 'is used' (प्रयुज्यते), then the definition is open to the fault of mutual inter-dependence (अन्योन्याश्रय); for it comes to this, that when the object is used, the verb is transitive and a transitive verb is that which has an object used. If निरूप्यते were taken to mean आकाङ्क्ष्यते, and a verb is called transitive or otherwise according as there is invariable expectancy or no invariable expectancy of an object, the definition would be open to the fault of अव्याप्ति; for the roots गम् and पत् which are transitive have no expectancy of an object. पत् is transitive; because accusative तत्पुरुष compound is sanctioned with पतित by the Sūtra 'द्वितीया श्रितातीतपतित'.

Nāges'a also criticizes the Mīmāṃsaka view in his Laghu Mañjūṣhā and gives his own view that a transitive root is that which has got an object according to the rules of grammar:—

“यद्वातृचारणे कर्माकाङ्क्षा नियता स सकर्मक इति तु न युक्तम् । गच्छत्यादिषु तदाकाङ्क्षाभावात् । केत्येव हि तत्राकाङ्क्षा । अकर्मकभित्तत्वं सकर्मकत्वमित्यपि न । सकर्मकाणामप्यर्थान्तरेऽकर्मकत्वेनासंभवापत्तेः । एतेन सकर्मकधात्वन्वयतमत्वं सकर्मकत्वमित्यप्यपास्तम् । वस्तुतस्त्वेतच्छास्त्रीयकर्मसंज्ञकार्थान्वय्यर्थकत्वं सकर्मकत्वम् । तदनन्वय्यर्थकत्वमकर्मकत्वम् । तेनाध्यासिता भूमय इत्यादिसिद्धिः । अत्र 'अधिशीङ्स्थासाम्' इत्यनेनाधारस्य कर्मत्वम् । अन्वयश्च पृथग्बुद्धेन संसर्गरूपः । अन्वयपदस्य तत्रैव व्युत्पत्तेः । तेन जीवत्यादिषु न दोषः । तत्र प्राणादिरूपकर्मणो चात्वार्थात् पृथगबोधात् ॥”

Thus according to Bhaṭṭoji Dikṣhita सकर्मक and अकर्मक are पारिभाषिक terms, having the meanings given in the Kārikā 'कलव्यापार-

योरकः' While according to Nāges'a the terms are यौगिक, having an etymological meaning—कर्मणा सह वर्तते स सकर्मकः, and नास्ति कर्म यस्य सोऽकर्मकः. कर्म is equal to शास्त्रीयं कर्म; hence in 'प्रासादोऽधिश्च्यते' we have कर्मणि लकार.

अंकर्मक roots are collected in the following traditional Kārikā:—

वृद्धिक्षयभयजीवितमरणं लज्जासत्तास्थिति जागरणम् ।
शयनकीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥

Page 59. आख्यातशब्दे भागाभ्याम्—

If action not in the form of a द्रव्य—a word having gender and number (लिङ्गसंख्यानवितं द्रव्यम्)—were to be the sense of a root, the same idea would come out in a वचन्त word like पाक also; and this would be in contradiction with the words of the Bhāṣyakāra that action expressed by कृत् suffixes appears like a द्रव्य. To meet this objection the Kārikā आख्यातशब्दे &c. is given. The sense is that just as in words ending in तिङ् suffixes there are two parts, साध्य and साधन, so are there two parts in the same order in words ending in वच् &c. साध्य is that with which other words have a grammatical concord as Kāraḥ; while साधन is a Kāraḥ which has a grammatical concord with another word. In पश्य सृगो धावति, पश्य is साध्य (दर्शनक्रिया is साध्यक्रिया) and धावति, साधन (धावनक्रिया साध्यक्रिया), धावति being the object of पश्य. In पचति &c. the base consisting of the root expresses its sense as साध्य; while the suffix तिङ् expresses its sense as साधन. Similarly in a वचन्त word like पाक, the root is साध्य and the affix साधन. The difference between the action expressed by वच्नादि suffixes and that expressed by a तिङन्त is this that the former has gender and number and agrees with another word viz. a Kāraḥ or with another word as a Kāraḥ; while the latter has no concord of gender and number but agrees with another word viz. a Kāraḥ or with another word as a Kāraḥ as in पचति भवति. In ओदनस्य पाकः for instance, the वचन्त word पाकः agrees with the Kāraḥ ओदनस्य the genitive being objective in sense. It will not do to say that ओदनस्य agrees with भवति which is understood here, the sense being पाकः ओदनस्य भवति; for in that case there will be no genitive joined with a कृदन्त as subject or object. The Sūtra 'कर्तृकर्मणोः कृति' teaches the use of the subjective or the objective genitive, joined with a कृदन्त. Moreover, the genitive cannot agree with a verb which is understood; for the Sūtra 'न लोकाव्यय' prohibits the use of the genitive with the substitutes of लंकार's (लदेश's). It is because a root expresses साध्य क्रिया and वच् expresses

सिद्ध क्रिया that we have काष्ठैः पाकः where काष्ठैः is the instrument of विक्रिप्ति, the फलांश of the क्रिया expressed by the root पच् in पाकः; and because the फलांश of the क्रिया expressed by the root is साध्य or असत्त्व-भूत, that we have शोभनं पाकः and स्तोकं पाकः as we have शोभनं पचति and स्तोकं पचति.

Page 60. साध्यत्वेन क्रिया तत्र—

This Kārikā is given to further elucidate the sense of the preceding Kārikā. The meaning is that the action in a वचन्त word, which is साध्य or असत्त्वभूत depends upon or is expressed by the root portion of it; while that which is सिद्ध or सत्त्वभूत is expressed by वच्नादि suffixes. In other words, the root portion of a वचन्त word like पाकः expresses साध्य क्रिया and we have स्तोकं पाकः when स्तोक agrees with fruit which is the sense of the root and is therefore in the Acc. case and neuter by 'सामान्ये नपुंसकम्,' and we have also स्तोकं पाकः when स्तोक agrees with भावना expressed by the root; here also स्तोकम् is neuter by 'सामान्ये नपुंसकम्' though the nominative is possible. But when स्तोक agrees with the sense of वच्, we have स्तोकः पाकः. Here the क्रिया that वच् expresses is सिद्ध; for we have पाको भवति, पाको नष्टः where the word पाकः has expectancy (आकाङ्क्षा) of another क्रिया. Hence it is necessary that वच् must have a separate expressive power, for without it we cannot explain स्तोकः पाकः.

तिङ् and कृत् suffixes, both express भाव and the difference between the भाव expressed by तिङ् and that expressed by कृत् is well represented by the Bhāṣhyakāra in the Bhāṣhya on 'सार्वधातुके यक्' as under:—

1. The भाव expressed by a कृत् suffix is like a द्रव्य, that is, it has a grammatical connection with a क्रिया, it becomes a साधन in the accomplishment of the action. We have accordingly पाको वर्तते. It is not like a क्रिया which has no grammatical connection with another क्रिया. Just as we cannot say पचति पठति, it is not that we cannot say पाको वर्तते.

“अस्ति खल्वपि विशेषः कृदभिहितस्य भावस्य तिङ्भिहितस्य च । कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति । किमिदं द्रव्यवदिति । द्रव्यं क्रियया समवायं गच्छति । कं समवायम् । द्रव्यं क्रियाभिनिवृत्तौ साधनत्वमुपैति । तद्व्यास्य भावस्य कृदभिहितस्य भवति । पाको वर्तते इति । क्रियावन्न भवति । किमिदं क्रियावदिति । क्रिया क्रियया समवायं न गच्छति । पचति पठतीति । तद्व्यास्य भावस्य कृदभिहितस्य न भवति । पाको वर्तते इति ॥”

Here Kaiyata's note is very valuable. He says that one क्रिया is connected with another as its agent or object. What is meant is that

one क्रिया is not connected with another in any other Kāraka relation (such as करणत्व &c.) than that of कर्तृ and कर्म. It is correct to say पचति भवति; but not पचति पठति because भवति expresses general action and any particular action can be its subject, पचति भवति being equal to अयुक्तकर्तृकपाककर्तृकं भवनम्. In पश्य मृगो धावति, धावन क्रिया is the object of दर्शनक्रिया. Kaiyata's note is as under:—

“द्रव्यवदिति। द्रव्यत्वेन प्रसिद्धो यो वृत्तादिस्तद्वदयं भावो भवति। लिङ्गसंख्या-साधनसंबन्धप्रतिपत्त्या। तत्र वस्तूपलक्षणं यत्रेति द्रव्यलक्षणयोगेऽपि प्रसिद्धयप्रसिद्धयपेक्ष उपमानोपमेयभावः। क्रिया क्रिययेति। ननु भवति पचति पश्य मृगो धावतीति कर्तृकर्मभावेन क्रिया क्रियया संबध्यते एव। एवं तर्हि करणादिरूपेण समवायं न गच्छतीति विवक्षितम्। ननु साध्यत्वाद् क्रियायाः कथं क्रियान्तरं प्रति कर्मकर्तृभावः। विषयभेदादेकस्याप्यर्थस्य साध्यसाधनभावसंबन्धसंभवाददोषः। तदुक्तं हरिणा

‘तत्र यं प्रति साध्यत्वमसिद्धा तं प्रति क्रिया।
सिद्धा तु यस्मिन् साध्यत्वं न तमेव पुनः प्रति ॥
मृगो धावति पश्येति साध्यसाधनरूपता।
तथा विषयभेदेन सरणस्योपपद्यते ॥’ इति।

तत्र कर्तृकर्मत्वमाख्यातवाच्यस्य भावस्य न विरुद्धम्। तथा च भवतिक्रियापेक्षमेव तस्य कर्तृत्वम्। सर्वत्रार्थः स्वेन रूपेण भवतीति भवने कर्तृत्वमुपपन्नमेव। कर्मापि क्रियाफलत्वात् प्रधानमिति कर्मत्वमपि तस्योपपद्यते। करणत्वादीनि तु सर्वात्मना गुणभावमन्तरेण नोपपद्यन्त इति प्राधान्येनात्यन्तविरोधात् तस्य नोपपद्यन्ते ॥”.

In the Bhāṣya on ‘भावे’ ३।३।१८॥ the Bhāṣyakāra states that कृ, भू, and अस्ति express action in general, while other roots express particular action:—‘कृश्चस्तयः क्रियासामान्यवाचिनः क्रियाविशेषवाचिनः पचादयः।’ Hence it is correct to say पचति भवति and पचति करोति; but not correct to say पचतिः पठति.

2. The भाव expressed by a तिङ् suffix suggests time and person; the भाव expressed by a कृत् suffix does not do so. (‘अस्ति खल्वपि विशेषः कृदाभिहितस्य भावस्य तिङ्भिहितस्य च। तिङ्भिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते कृदाभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते।’—Kaiyata's note on पुरुष and उपग्रह is as under:—‘पुरुषशब्देन तदर्थः प्रत्यक्त्वापरभावोच्यते। उपग्रहोऽनेकप्रकारः स्वार्थपरत्वादिकः।’).

3. The भाव expressed by तिङ् has a कर्ता, while that expressed by कृत् has not (‘अस्ति खल्वपि विशेषः कृदाभिहितस्य भावस्य तिङ्भिहितस्य च। तिङ्भिहितो भावः कर्त्रा संप्रयुज्यते कृदाभिहितः पुनर्न संप्रयुज्यते।’ Kaiyata's note is worth reading:—‘कृदाभिहित इति। ननु कृदाभिहितस्यापि भावस्य

भवति कर्त्रा योगः । यथा ब्राह्मणानां प्रादुर्भाव इति । तत्राहुः । एकपदवाच्येन कर्त्रा न युज्यते यथा पचतीति कर्ता वाच्यो नैव पाक इति । शुद्धस्यैव भावस्य प्रत्यायनात् । अथवा घञादिभिः सिद्धरूपता भावस्याभिधीयत इति तेन रूपेण कर्त्रा योगाभावो वातुरूपप्रतिपाद्यतया तु साध्यतया कर्त्रा योगो भवति । अथवापलक्षण-भावेन भावः कर्त्रा युज्यते कृत्स्न पाचक इति तिङ्शु पचतीति साध्यमानतया प्राधान्येन । तत्र कृत्स्न प्राधान्येन कर्त्रा योगो नास्तीत्ययमत्रार्थः ।’)

Page 64. संबोधनपदं यच्च-तथा सति—

A word in the vocative case forms a part of the same sentence, being an attribute of the action denoted by a verb in it. In ब्रजानि देवदत्त, जानीहि must be taken as understood; for then alone can the word देवदत्त which is in the vocative case be grammatically construed with a verb. It is not connected with ब्रजानि directly. It is connected with जानीहि directly and through it with ब्रजानि. The word is thus a क्रियाविशेषण.

Some divide क्रियाविशेषण's into two kinds, those that are in apposition with the verbs they modify and those that are not in apposition. 'क्रियायाश्च विशेषणं कदाचित् सामानाधिकरण्येन भवति । यथा सुष्ठु करोति शोभनं करोतीति । अत्र करोत्यर्थस्य सुष्ठुत्यादिविशेषणविशिष्टस्यैव पतीतेः सुष्ठुत्यादीनां करोत्यादिक्रियाया सामानाधिकरण्यम् । वैयधिकरण्येनापि विशेषणं भवति यथा ब्रजानि देवदत्तेति । अत्र हि देवदत्त ब्रजानीति देवदत्तस्य ब्रजनक्रियायाश्च सामानाधिकरण्यं नास्ति । केवलमामन्त्र्य देवदत्तं ब्रजत्यप्ताविति देवदत्तामन्त्रणविशेषिता केवला या विलक्षणा ब्रजनक्रियेत्याख्यातं सविशेषणमेवेति वाक्यलक्षणसद्भावात् प्रवर्तते एव निघातः ।’

It is because ब्रजानि देवदत्त is one sentence, देवदत्त being a क्रियाविशेषण of ब्रजानि, that देवदत्त is निघात by 'आमन्त्रितस्य' and the Vārtika 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः'. Similarly पचति भवति देवदत्त (एककर्तृका पचिक्रिया भवति हे देवदत्त) is one sentence and देवदत्त is अनुदात्त. By the Sūtra 'तिङ्ङतिङः' भवति is not निघात in पचति भवति; because it is preceded by the तिङन्त पचति. The Bhāṣyakāra has rejected the word अतिङः in 'तिङ्ङतिङः' because समानवाक्य is to be supplied and in a समानवाक्य there cannot be two तिङन्त words. "अतिङ्वचनमनर्थकं समानवाक्याधिकारात् । अतिङ्वचनमनर्थकम् । किं कारणम् । समानवाक्य इति वर्तते । न च समानवाक्ये द्वे तिङन्ते स्तः ॥" How then is पचति भवति देवदत्त to be explained as one sentence? एक in the Vārtika 'एकतिङ् वाक्यम्' is to be understood in the sense of प्रधान; and so पचति भवति देवदत्त is one sentence. Nāges'a's note on 'एकतिङ् वाक्यम्' is important:—"इदं स्वशास्त्रकायाप्योग्येकवाक्यत्वलक्षणं तेन पश्य मृगो धावतीत्यादौ लौकिकैकवाक्यत्वव्यपि नाव्याप्तिः । लौकिकवाक्यत्वं च 'सुप्रतिङन्तचयी वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्यमरेणोक्तं वाशब्दश्चेदर्थे कारका-

नितिकिया चेद् बोध्येति शेषः । तत्र सूत्रन्तचयो देवदत्तेन शयितव्यम् । द्वितीयं पचति भवतीत्यादि । तृतीयं चैत्रः पचतीत्यादि । ओदनं पचेत्यादि । समर्थपरिभाषा तत्र न प्रवर्तते । एकार्थीभावविषये एव तत्प्रवृत्तेरिति भावः ॥". It should be noted, however, that Pāṇini has not accepted समानवाक्यता as an अधि-कारसूत्र and so अतिङ् in 'तिङ्ङतिङ्' is quite appropriate—"नन्वतिङ्ग्रहणं व्यर्थं 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः' इत्युक्तत्वात् एकस्मिन् वाक्ये तिङन्तद्वयादिति चेत् सत्यम् । सूत्रकारेण समानवाक्याधिकारो न कृत इत्यतिङ्ग्रहण-मकारि । भाष्ये तु अतिङ्ग्रहणं प्रत्याख्यातम्" तत्त्वबोधिनी.

Page 66. यजतिषु येयजामहं करोति नाड्यागेषु—

According to the Mīmāṃsakas भावना is the sense of तिङ् affixes. भावना is defined as भवितुर्भवनाडुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः that is, a particular activity on the part of the producer or agent, which is favourable to bringing about the existence of a thing which is capable of existence (भवितु, i. e. not of आकाश or खपुष्प which is incapable of production). This particular activity is in ordinary worldly language a particular intention subsisting in the speaker; while in the Vedic language, as there is no speaker, it exists in words having terminations like लिङ्. It is, therefore, known as शाब्दी भावना.

Now just as a विधिवाक्य like स्वर्गकामो यजेत sets a man towards the performance of a sacrifice, so does a निषेधवाक्य like न कलङ्गं भक्षयेत् bring about a man's withdrawal from eating कलङ्ग, intimating that eating it will lead to a great evil. Now let us see how a निषेधवाक्य brings about withdrawal (निवर्तना). Here the sense of a root (धात्वर्थ) is not connected with the sense of नञ्; because though it is not separated from that of नञ्, the two words भक्ष् and न being immediately close; still it is subordinate to भावना which is the sense of the termination and what is subordinate does not agree grammatically with another word; otherwise in राजपुरुषमानय, the word राजन् which is subordinate to पुरुष would be construed with आनय. It is, therefore, the sense of the termination that is connected with that of नञ्. In भक्षयेत् there are three elements—धात्वन्त, आख्यातान्त, and लिङ्श. The अर्थी भावना expressed by आख्यात is subordinate to that (शाब्दी भावना) expressed by लिङ्, which is principal. The very nature of the word नञ् is to express what is antagonistic to that with which it is logically connected. When we say घटो नास्ति, नञ् expresses non-existence which is antagonistic to existence (सत्त्वविरोध्यसत्त्वबोधको नञ्). Similarly in न कलङ्गं भक्षयेत् नञ् expresses withdrawal (निवर्तना) which is antagonistic to

setting about (प्रवर्तना), the sense of लिङ्. Thus, according to the theory of the Mīmāṃsakas, in all negative sentences withdrawal from action is the sense (निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः).

If, however, there is an obstacle to the sense of the termination being connected with नञ्, then the sense of the root is connected with it. There are two cases of obstacles. In 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' which occurs in the duties which a स्नातक has to perform, withdrawal or turning away from something cannot be the sense of the sentence; for the sentence occurs in the chapter on vows (व्रत) and the traditional sense of व्रत being what should be done (कर्तव्य), the meaning of the whole sentence must be something that should be done and not something from which one should turn away. Thus नञ् by लक्षणा intimates determination not to see, which is antagonistic to what is expressed by the root (धात्वर्थः ईक्षणं तद्विरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते). The sentence thus means 'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्'.

Another case of the obstacle is यजतिषु येयजामहं करोति नाहुयाजेषु. यजति and जुहोति mean याग and होम. These two words have thus a generic sense. They are used in Manusmṛiti in the following verse:—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजत्तिक्रियाः ।
अक्षरं त्वक्षयं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥

मनु० २।८४.

In the above sentence if the sense of नञ् were connected with that of the लिङ् suffix, then there would be a prohibition of the mantra येयजामह in अहुयाज, i. e., it would mean that one should not pronounce येयजामह mantra in अहुयाज. But a prohibition (प्रतिषेध) must be preceded by what is sanctioned (प्राप्तस्यैव प्रतिषेधः). यजतिषु येयजामहं करोति shows that the utterance of the येयजामह mantra is sanctioned by शास्त्र. Now, when what is sanctioned by the Śāstra (one scriptural passage) is prohibited by another, only option (विकल्प) can hold in the case of the former, there can be no sublation (वाध) of it by the latter. This option is not proper; because it would bring about a partial inauthoritativeness (अप्रामाण्य) of the passage. Here therefore नञ् is not used in the sense of प्रतिषेध; but it must be taken in the sense of पर्युदास. By लक्षणा it intimates 'other sacrifices than अहुयाज'; and the sentence means one should pronounce the mantra येयजामह in sacrifices other than अहुयाज or secondary sacrifices.

This is the Mīmāṃsaka view. According to grammarians न here is not connected with अहुयाजेषु, but it is connected with करोति. न has no

सामर्थ्य or expectancy for connection with अनुयाजेषु. It is therefore समासायोग्य, not fit to be compounded with it. It is प्रसज्यप्रतिषेध as in 'सुडनपुंसकस्य', not पर्युदास. Nāges'a has a good note on this in the Laghumañjushā as under :—

“यत्तु नानुयाजेष्वित्यादौ पर्युदास एव न प्रसज्यप्रतिषेधः। शास्त्रीयविहितप्रतिषिद्ध-
त्वाद्विकल्पापत्तेर्वाक्यभेदापत्तेश्च। तथा हि क्रियायाः कारकाकाङ्क्षत्वेन विनिगमना-
विरहात् सकलकारकविशिष्टां भावनां प्रतियोगिभूतासुद्दिष्टाभावस्य विधिस्तत्र
वाच्यः। एवं चोद्दिष्टस्य प्रतियोगिनः प्रसिद्धयर्थं प्राप्तिसापेक्षता प्रतिषेधस्य। प्राप्तिश्च
क्वचिद्रागतो यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति। तत्र हि रागेण कलञ्जभक्षणादेरिष्टसाधनत्वा-
वगत्या प्रसक्त्याः कलञ्जभक्षणभावनाया निषेधशब्देन निवृत्तिविषयत्वेऽवगतेऽर्था-
त्तद्विषयकलञ्जभक्षणादेरनिष्टसाधनत्वाक्षेपाविरत्यं ततो निवृत्तिः। प्रकृते च येयजा-
महशाजत एव सा। सा च प्रमारूपेत्युपजीव्येति च तस्या अत्यन्तवाधायोगाद्विकल्प
एव प्राप्नोति। विकल्पे च.....अथै वा दोषा इति तत्र। निषेधशब्दानालोचने
सामान्यशब्दालोचनमात्रेण भ्रमात्मकप्रतियोगिप्रसिद्ध्याभाववचोपसंभवेन विकल्पा-
प्राप्तेः॥”

Page 71. नानृतं वदेत्—जज्ञभ्यमानोऽनुव्रयान्मयि दक्षकतू इति—

In the दर्शपूर्णमास chapter there is a S'ruti—नानृतं वदेत्. A doubt here arises as to whether this prohibition applies to the sacrifice or to a person. Is it क्रतुधर्म or पुरुषधर्म? The Mīmāṃsaka argues as under:—The पूर्वपक्ष is this. According to the chapter in which the passage occurs (प्रकरण), it is क्रतुधर्म, but according to the श्रुति वदेत्, it is पुरुषधर्म; for the verbal form वदेत् expresses the sense of the agent and वदन being a पुरुषधर्म, its prohibition is also a पुरुषधर्म. Now the Mīmāṃsaka rule is that श्रुति is more powerful than प्रकरण. Therefore the prohibition is a पुरुषधर्म.

The सिद्धान्त of the Mīmāṃsakas is as under:—The तिङ् suffixes express the sense of action, not of the agent or the object. The sense of the agent or the object is inferred, not expressed. This being the case, how can the sense of the agent which does not arise directly from the word, but is implied, be more powerful than the sense which arises from प्रकरण? Vide शाबरभाष्य.

Wherein lies the difference, if in either case the sense is that one should not tell a lie? The difference is in the expiation enjoined. According to the पूर्वपक्ष, not telling a lie is a पुरुषधर्म. It is therefore a fault of the man, not of the sacrifice. The expiation here is what is enjoined in the Smṛitis. According to the सिद्धान्त, it is क्रतुधर्म; and the expiation is what is presented in the यजुर्वेद (“आह यदा उभयोरपि पक्षयो-

नानृतं वदितव्यं तदा को विचारेणार्थ इति । उच्यते । पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषधर्मस्तत्र भ्रंशे स्मार्तं प्रायश्चित्तम् । सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासधर्मस्तत्र भ्रंशे याजुर्वेदिकं प्रायश्चित्तम् ” शाव० भा०).

In the chapter on the दर्शपूर्णमास sacrifice there is a श्रुति—“प्राणो वै दक्षः । अपानः क्रतुः । तस्माज्जन्म्यमानो ब्रूयात्—मयि दक्षक्रतू इति प्राणापाना-वेवात्मन्ययत्ता” । जन्म्यमान is explained as ‘गात्रविनामेन विदारितमुखः पुरुषः’.

Here the पूर्वपक्ष is that this being a sentence uttered by a जन्म्यमान पुरुष is more powerful than a chapter (वाक्यं प्रकरणाद्वलीयः). This is therefore पुरुषधर्म.

The सिद्धान्त is that there is no opposition here between a वाक्य and a प्रकरण—‘कतावपि जन्म्यमानपुरुषसंभवेन वाक्यप्रकरणयोर्विरोधाभावे सत्युभाभ्यां क्रतुयुक्तपुरुषसंस्कारत्वावगमात् ॥’ जैमि० न्या० वि०.

The view of grammarians is that तिङ् suffixes express the sense of agent &c. and that they are adjectives (तिङ्र्थस्तु विशेषणम्). Thus though the agent is the expressed sense of the तिङ् suffix in नानृतं वदेत्, action being predominant and the agent being subordinate, the भावना consisting of the prohibition of telling a lie does not relate to the person. Expectation (आकाङ्क्षा) having thus arisen as to what it relates to the chapter teaches that it relates to the sacrifice.

Page 73. वर्तमाने परोक्षे &c.—

The six लकार’s ending in ङ् are dealt with in this Kārikā. Their senses are given in order. ‘वर्तमाने लङ्’ is the Sūtra that gives the sense of लङ्. Here there are two things to be considered, (1) the meaning of वर्तमान and (2) whether लङ् expresses or suggests the sense वर्तमानत्वम्. वर्तमान is explained as what is begun, but not finished. वर्तमान is a tense (काल). What is काल? काल is nothing more than a collection of activities; it is made up of activities, it is क्रियात्मक. It simply shows a difference in activities (क्रियाभेदाय कालः). But if वर्तमानत्व means the state of having begun and not ended, how are the forms आत्मा अस्ति and पर्वतास्तिष्ठन्ति to be explained; for here there is no idea of beginning, and when there is no beginning, there can be no ending. Here the idea of the present tense is to be brought out according to the Bhāṣyakāra by taking the actions or activities of kings of those times. तिष्ठन्ति पर्वताः is explained by taking actions of the present kings to be the substratum of the standing of mountains; तस्थुः पर्वताः and स्थास्यन्ति पर्वताः are similarly explained by taking the activities of past and future kings (“इह भूतभविष्यद्वर्तमानानां राज्ञां याः क्रिया-

स्तास्तिष्ठतेरधिकरणम् । इह तावत् तिष्ठन्ति पर्वता इति संप्रति ये राजानस्तेषां याः क्रियास्तासु वर्तमानाः । स्थास्यन्ति पर्वता इतीत उत्तरं ये राजानो भविष्यन्ति तेषां याः क्रियास्तासु भविष्यन्तीषु । तस्युः पर्वता इतीह ये राजानो बभूवुस्तेषां याः क्रियास्तासु भूतासु ॥” भाष्य) . Similarly though the activities of the agent आत्मा are नित्य (eternal) and have consequently no beginning, it will have a beginning when it is characterized by the activities of kings of that time. As Kaiyata says, the state of kings varies, it is भूत, भविष्यत्, and वर्तमान, owing to kings that are gone, or are to come, or are in existence. It is this difference in their states that causes a difference in the state of mountains &c. It is thus that time is but a collection of activities (कालः क्रियारूपः) .

Another view of काल is that it is क्षण which is but a very momentary modification of प्रकृति. When this क्षण develops, we have लव, पल, घटी, सुहर्त, up to परार्ध. (“ननु कोऽसौ कालो यस्य वर्तमानादिभेदेन त्रैविध्यमिति चेदुच्यते । प्रकृतेः परिणामस्यातिभङ्गरस्याविभोः क्षणस्य कालत्वात् । तस्यैव च क्षणस्य प्रचयविशेषैर्लवपलघटीसुहर्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्तव्यवहारः ॥” लघुमञ्जू) . Those who hold this view explain the word क्रिया occurring in the Bhāṣya on तस्युः पर्वताः, स्थास्यन्ति पर्वताः, तिष्ठन्ति पर्वताः &c. as meaning the measurer of activities of tangible or corporeal (मूर्त) objects. Nāges'a in his Mañjūśā observes—“न च ‘वर्तमाने लट्’ इति सूत्रभाष्ये तस्युः पर्वताः स्थास्यन्ति पर्वतास्तिष्ठन्ति पर्वता आत्मास्ति एकोऽहं वै नारायण आसीदित्युपपत्तये भूतभविष्यद्वर्तमानानां राज्ञां याः क्रियास्तास्तिष्ठतेरधिकरणमित्युक्तम् । यद्यपि पर्वतादेः स्थितिसत्त्वारूपा व्यापाराः सदृशावयवत्वाद् दुरवधारभेदा इति तत्र कालभेदाभावस्तथापि राजक्रियाविसदृशसन्तानतयावधृतभेदा यथाधिश्रयणादिविसदृशस्वभाववयवक्रियाः प्रसिद्धकालभेदा इति सहचरिताभिस्ताभिः पर्वतादिस्थितिर्भियते राजक्रियाः पर्वतादिस्थितिभेदकत्वेनाश्रीयन्ते इति तदाशयस्तदसंगतिरिति वाच्यम् । तत्र क्रियापदस्य तत्परिच्छेदककालपरत्वेन तदीयकालस्य पर्वतादिस्थितावात्मसत्तायां चारोप इत्याशयात् ॥” On ‘कालाः परिमाणानि’ the Bhāṣya explains काल as that which measures the development and the decay of corporeal objects. ‘येन मूर्तानामुपचयाश्रपचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुस्तस्यैव कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति रात्रिरिति च भवति । कया क्रियया । आदित्यगत्या । तयैवासकृदावृत्त्या भास इति संवत्सर इति च भवतीति ॥’ Nāges'a remarks :—“अत्रोपचयादिहेतुत्वेन लक्षितस्यैवाधिकभेदकथनात् स्पष्टमेवावच्छिन्नक्षणाधारूपत्वमुक्तम् । अत एव देवीपुराणे—‘विभुर्नित्योऽस्थिरः कालोऽवस्था तस्य तु हेतुजा’ इत्युक्तम् ॥” अस्थिरत्वेन क्षणरूपतोक्ता ।

Kātyāyana gives five Vārtikas to explain the meaning of वर्तमानत्वम्. Of these the first is ‘प्रवृत्तस्याविरामे शिष्या भवन्त्यवर्तमानत्वात्’—भवन्ती is

the name given to लट् by ancient grammarians (‘भवन्तीति लटः पूर्वो-चार्यसंज्ञा’). लट् should be taught to express non-cessation of what is begun; for non-cessation does not relate to the present alone; it is concerned with the future time also. In ‘इह अधीमहे’, ‘इह वसामः’ the action of studying and of dwelling goes on to futurity, it is not confined to the present time alone. The second Vārtika is given to show that वर्तमानत्वं should be explained as नित्यप्रवृत्तत्वं, the state of always going on, and to apply to instances like तिष्ठन्ति पर्वताः, स्रवन्ति नद्यः. Here there is no division of time in regard to the standing of mountains and the flowing of rivers. The position being constant, there is nothing to be accomplished and therefore no action and consequently no time. The notion of the present time is opposed to that of the past time and the future time; but here the actions know neither past time nor futurity. The Vārtika runs as—‘नित्यप्रवृत्ते च कालविभागात्’. The Bhāṣyakāra observes—‘इह भूत-भविष्यत्प्रतिद्वन्द्वो वर्तमानः कालो न चात्र भूतभविष्यन्तो कालौ स्तः’. The third Vārtika is given to justify the use of the present tense in such instances—“न्याय्या खारम्भानपवर्गात्.” The Bhāṣhya on this is ‘एष नाम न्याय्यो वर्तमानः कालो यत्रारम्भोऽनपवृत्तः’. Thus the present tense rightly applies to what is begun and not ended (‘प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं वर्तमानत्वस्य’). Moreover, in instances like भुङ्क्ते देवदत्तः, where there is no doubt whatever about the use of the present tense, the action is not constant; for while eating Devadatta might do a number of minor acts, such as smiling, prattling &c. (‘सोऽपि ह्यवश्यं भुञ्जानो हसति वा जल्पति वा पानायं वा पिबति’). Thus we have the fourth Vārtika—‘अस्ति च भुक्तसंशये विरामः’. Lastly, even in तिष्ठन्ति पर्वताः, divisions of time may be explained as shown above by thinking the activities of the present, the past, and the future kings to be the substratum of the action of mountains. Hence we have the fifth Vārtika—‘सन्ति च कालविभागाः’.

The second question to be considered is whether लट् expresses or suggests the sense वर्तमानत्वं. In other words, whether the sense that arises from लट् is the expressed (वाच्य) or the suggested sense (द्योत्य). If वर्तमानत्वं were the expressed sense of लट्, कर्तृत्वं &c. cannot be its expressed sense. This being the case, there can be no dual and plural number; since duality and plurality reside in the agent &c. Moreover, कर्ता being unexpressed (अनभिहित) by the तिङ् suffixes the substitutes of लट्, the instrumental would be used instead of the nominative in instances like चैत्रमैत्रौ पठतः. There can be no शप् &c. which have the sense of the agent (‘कर्तरि शप्’). Thus वर्तमानत्वं cannot be the

expressed sense of लट्. It is therefore proper to take it as the suggested sense. But the other view, viz., that वर्तमानत्वं is the expressed sense of लट् can also be upheld as under:—The present tense is the expressed sense of लट्; for we have the Sûtra 'वर्तमाने लट्' on our side; and काल is described by Hari as the distinguisher of action ('क्रियाभेदाय कालस्तु'). Moreover, since the idea of action arises even without लट्, it being the sense of a root, the suggested sense is only the वर्तमानत्वं residing in action. Then this too will have to be taken as the expressed sense of a root; and it would be better to take लट् to have the power of expressing the sense वर्तमानत्वं than to assume a number of roots to have that expressive power. For thus there would be succinctness (लाघव). But then it might be advanced that if we take वर्तमानत्वं to be the expressed sense of लट्, कर्तृत्वं &c. cannot be its expressed sense by the rule that a general rule is sublated by a particular rule and there would consequently arise the above mentioned undesirable results. This objection is not valid; because the rule of the sublater and the sublated cannot hold here; since both the senses are possible. Moreover, if the rule were applicable here, the Sûtra 'लः कर्मणि च भावे' would have no scope; for in other places विधि and other senses would sublate the कर्तृत्वं &c. Being rendered without scope the Sûtra becomes doubly powerful ('आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्').

Both these views are well elucidated in the Manoramâ by Bhattoji Dikshita in his notes on 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणा'—

“पक्षद्वयस्यापि भाष्यादौ स्वीकृतत्वादिति भावः । तत्राद्ये उपपत्तिं ब्रूमः । विध्यादीनां प्रत्ययार्थत्वं नोचितम् । तथा हि सति कर्त्रादीनां लकारान्तरे चरितार्थानां विध्यादयोऽर्था बाधकाः स्युः । तथा च लिङां कर्त्रादीनामभिधानं न स्यात् । ततश्च द्विवचनबहुवचने न स्याताम् । शब्दादयश्च न स्युः । पुरुषव्यवस्था च न स्यात् । अभिहितत्प्रत्युक्तस्तृतीयादिविरहश्च न सिध्येदिति । द्वितीये त्वित्युपपत्तिः । विध्यादिभिः कर्त्रादयो न बाध्यन्ते विरोधाभावात् । 'लः कर्मणि—' इत्यत्र सर्वलकारसंग्रहार्थं 'लः' इति बहुवचननिर्देशाच्च । किं च कर्त्रादयोऽपि निरवकाशाः । न च लडादयोऽनवकाशाः । न्यायसाम्येन विध्यादिवर्तमानत्वभूतत्वादेरपि तत्सङ्गकारवाच्यत्वात् । न चैवं धात्वर्थं प्रति वर्तमानत्वादेः प्रत्ययार्थतया विशेष्यत्वं स्यादिति वाच्यम् । ननु प्रत्ययार्थप्राधान्यमौत्सर्गिकमप्याख्याते त्यज्यते इति चेत् तर्हि तत एव नोक्तदोषावकाश इति दिक् ॥” (The Benares Pothei Edition).

Of the two views, viz. (1) that the senses of लकार's are expressed by them, and (2) that they are suggested by them, the latter view or the द्योतकतापक्ष is superior to the former one or the वाचकतापक्ष. In the former view वर्तमानत्वं &c. are the senses of

लकार's or तिङ् suffixes which are their substitutes. By the maxim, of the senses of the base and affixes, that of affixes is predominant (प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्), the senses of तिङ् suffixes would be predominant or substantives qualified by attributives (विशेष्य); but we know that they are attributes of भावना, which is the sense of roots. Thus to avoid this undesirable result the maxim will have to be narrowed. While, in the other alternative (शोतकतापक्ष), the suggested sense is an adjective in accordance with the Bhâshya on 'हेतुमति च' and so there is no occasion for the above maxim. This view is therefore held to be the better of the two.

Bhattoji Dikshita is more in favour of the senses of लकार's to be expressed (वाच्यतापक्ष). In his S'abda-Kaustubha on 'हेतुमति च' he observes—"इह यद्यपि फलव्यापारयोर्धातुवाच्यत्वाद्विक्लियुक्तकूलव्यापारत्वस्य च प्रेषणादावपि सुलभत्वात् तस्यापि पच्यर्थतामाश्रित्य णिचो शोतकतेति वर्णितं भाष्यादौ तथापि प्रौढिवादमात्रमेतत् । तथा हि अधिश्रयणादिरेव व्यापारविशेषः पच्यर्थः । न तु ततः प्राचीनोऽपि । क्रयणाद्यवस्थायां पचतीत्यप्रयोगात् । अन्यथा-तिप्रसङ्गात् । काचित्कप्रयोगस्य भाक्तत्वेनाप्युपपत्तेश्च । पचतिपाचयत्योरर्थवैलक्षण्य-स्यानुभवसिद्धत्वाच्च । अपौ कर्तुणौ कर्मत्वमित्यादिव्यवस्थाभ्युपगमाच्च । प्रणाययति अभिषावयतीत्यादावुपसर्गस्य प्रकृत्यर्थगतिविशेषाद्योतकत्वे णत्वषत्वे स्तः । णिचा संबन्धे तु नेत्यष्टमे स्फुटत्वाच्च । अतोऽत्र पक्षे नातीवामिनिवेद्यम् ॥" शब्दकौ०, The Benare's Edition, pp. 818—9.

लिट् is used to express पारोक्ष्य, i. e., the state of actions being imperceptible. A doubt is here raised as under:—If क्रिया is completely invisible (अत्यन्तापरिदृष्टा) or completely incomprehensible by perception (the reading here being अत्यन्तापरिदृष्टा, अत्यन्तं परेण प्रधानेन प्रत्यक्षप्रमाणेनान्यन्तमदृष्टा) as the Bhâshyakâra says, then what is the meaning of पारोक्ष्य—imperceptibility of action, which is the sense of लिट्? The solution is that though action is imperceptible and thus the word परोक्षे would seem meaningless, what is meant here is the imperceptibility of means (साधन) of actions, which go to accomplish action. Hence लिट् is used even if some of the means which do not go to accomplish action are perceptible. Thus we say अयं पपाच.

The Perfect in the 1st person has a peculiar sense. It shows that the speaker is either sleeping or infatuated. 'सुप्तमत्तयोरुत्तम इति वक्तव्यम् । सुप्तोऽहं किल विललाप । मत्तोऽहं किल विललाप ।' or even in the waking state if a man's mind is distracted, he does not see what is taking place before him. Thus in the 1st person the perfect signifies that the speaker through distraction does not know what he has uttered ; but infers it from

the result, as in 'बहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाहम्.' The Bhāṣya-kāra gives an instance of S'ākaṭāyana who, though standing on the way in a wakeful condition, did not notice the carts that went that way, his mind being engaged elsewhere—"अथवा भवति वै कश्चिज्जाग्रदपि वर्तमानं कालं नोपलभते । तद्यथा । वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गमासीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलभे । किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानं कालं नोपलभते । मनसा संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलब्धौ कारणानि भवन्ति मनसोऽसांनिध्यात् ॥" भाष्य Vol. II., p. 120.

How is the word परोक्ष formed? अक्ष्णः परं परोक्षम्. अक्षि is derived अक्ष् to pervade by affixing the ङणादि suffix सि in the sense of instrument. अश्नुतेऽनेनेत्यक्षि. पर is changed to परो, or अ of अक्षि may be taken to have been changed to उ, or the word परोक्ष may be taken to be correct, because it is so pronounced in the Sūtra 'परोक्षे लिट्' by Pāṇini (by निपातन). The following verse given in the Bhāṣya embodies all these views:—

‘परोभावः परस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम् ।

उत्वं वादेः परादक्ष्णः सिद्धं वास्मान्निपातनात् ॥’

लुट्—The two Vārtikas giving the sense of लुट् are worth noting. It is used in the sense of लुट् when the idea of lamentation is involved. The Vārtika runs thus:—‘परिदेवने श्वस्तनी भविष्यन्त्यर्थे’—श्वस्तनी and भविष्यन्ती are the names of लुट् and लृट् respectively, used by old grammarians. The instances given by the Bhāṣyakāra to illustrate the Vārtika are—‘इयं तु कदा गन्ता येवं पादौ निदधाति’ and ‘अयं तु कदाध्येता य एवमनभियुक्त इति ।’ Another sense is that इव is used with the form in लुट् to show excess of time—‘कालप्रकर्षोत्पमानम्’. The instances are ‘गन्तेवेयं गन्ता । नेयं गमिष्यति । अध्येतेवायमध्येता । नायमध्येष्यते ॥’ भाष्य Vol. II., p. 143.

लोट् has the same senses that लिङ् has, viz., विधि, निमन्त्रणा, &c. or to use one word which comprehends विधि, निमन्त्रणा, &c., लोट् has the sense of प्रवर्तना, which is explained as a property favourable to action, being a means to achieve the desired object. A question is raised in the Mañjūshā as to what then is the difference between the senses of लोट् and णिच्; for they both mean प्रवर्तना. The answer is that हेतु is one that sets the agent to action, while णिच् is used when the root expresses action of the हेतु consisting of प्रवर्तना or employing the agent. Thus the sense of णिच् is action characterized by the activity of the employed; while simple action not characterized by the activity of the employed is the sense of लोट्. लोट् is affixed to प्रच्छ् &c. to signify the agent of a substance, a द्रव्य to suggest direction; while णिच् is affixed when we employ one characterized by activity. (‘प्रवृत्तक्रियस्य द्रव्यमात्रस्याप्रतिष्ठापकत्वं-

भावस्य कर्तृत्वार्थ एव प्रैषे योत्ये लोडुपदिश्यते । पृच्छयत्तुज्यादेर्धातोः परः प्रत्ययः कर्त्रादिकारके बाच्ये । प्रवृत्तिक्रियस्य तु विरामाशङ्कायां मा विरंसीरित्यभि-
संधाय कर्तुंरेव स्वतन्त्रस्य प्रयोजकहेतुव्यापारे णिज् वाचक उपदिश्यते ।' हेलाराज
on the following verse of the Vākya-padīya :—

द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छयादेर्लोड् विधीयते ।

सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः ॥ ३२ ॥

Vide वाक्यप०, the Benares Edition, p. 259.

Again a primitive form with लोट् suggests the direction or employment of the speaker; while a णिजन्त form suggests the direction of a person other than the speaker—"प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहिता प्रवृत्तिर्णिजर्थः । केवला तु लोट् इति विवेकः । उक्तं च

द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छयादेर्लोड् विधीयते ।

सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः ॥

इति । किं च प्रयोक्तृधर्मः प्रयुक्तिलोडर्थः । अनियतकर्तृका तु णिजर्थः । पचेति हि वक्तुंरेव प्रेरणा गम्यते । पाचयतीत्यत्र तु वक्तृभिन्नस्य ॥" शब्दको०, The Benares Edition, p. 819.

लिङ् expresses the senses of विधि (injunction, command), निमन्त्रण (Invitation, Directing a person to do what is necessary), आमन्त्रण (Permission to do as one chooses to do), अधीष्ट (Activity preceded by proper reception)—these four senses are comprehended under the word प्रवर्तना, संपन्न (Determination as to whether one should do this or that—तद्वा कर्तव्यमेतद्वेति विचारः), and प्रार्थना (Entreaty). Now what does प्रवर्तना mean? It means a property favourable to action, a means to accomplishing what is desirable. The knowledge that the performance of a sacrifice will lead to what is desirable becomes, प्रवर्तक, i. e., sets a man to action or engenders activity in him. Thus the knowledge of a certain thing being a means of accomplishing what is desirable is determined to be the cause of activity in general, and consequently it is proper to take setting to action, the means of achieving what is desirable, as the expressed sense of लिङ्. Similarly, Jaimini in his Sūtra 'शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तद्वक्षणत्वात्'—३।७।१८ defines विधि as तद्वक्षणः, i. e., प्रयोक्तृफल-साधनतालक्षणः. In स्वर्गकामो यजेत it is clear that the enjoyer of heaven and the performer of a sacrifice should be one ('स्वर्गभोक्तुर्यागकर्तृश्च सामानाधिकरण्यादेकत्वं गम्यते') and hence the पूर्वपक्ष is that the whole sacrificial ceremony should be performed by the यजमान. The सिद्धान्त is given in the next Sūtra 'उत्सर्गे तु प्रधानत्वात्'—that even though the यजमान may not actually perform the whole sacrifice, he is a प्रयोजक, an employer of sacrificial priests (ऋत्विज्), to perform a sacrifice and therefore he is

held to be the performer of the whole sacrifice ('निखिलावुष्टानाभावेऽपि प्रयोजकतया यजमानस्य सर्वकर्तृत्वमस्ति । । यदि स्वेनैव सर्वमवुष्टीयेत तदानीमृत्विजां परिक्रियो वृथा स्यात् । तस्माद् यजमानेन त्यागमात्रं कार्यम् ॥' जैमि० न्याय० वि० p. 146).

Page 99.

आश्रयोऽवधि—Substratum is the sense of the Accusative, the Instrumental, and the Locative cases. The Accusative is used to denote the sense of the object according to the Sūtra 'कर्मणि द्वितीया.' Now कर्मन् or the object is defined as the most desired to be obtained by the agent. It is thus the substratum of the fruit signified by a root; because it is the object that is the most desired to be obtained by the agent since it possesses the fruit caused by action. It is therefore that when the fruit is accomplished, the desire of the agent ceases, not otherwise. Thus the object is the substratum of the fruit. Now since the element fruit can be obtained from another than the Accusative; viz. a root (for 'फल-व्यापारयोर्धोतुः'), substratum alone is the sense of the Accusative.

The following from the commentary 'Kānti' on the sense of the root ज्ञा is worth perusal:—

'वस्तुत आवरणभङ्गावकूलो व्यापारो ज्ञानात्मको जानातेरर्थो वक्तुमशक्यस्तथा सति जानातेः कर्मस्थकियकत्वापत्तेस्तथा हि यत्र कर्तृकर्मसाधारणधर्मरूपं फलं येन धातुसंज्ञकशब्देन प्रतिपाद्यते स कर्तृस्थभावको यथा घटं पश्यति घामं गच्छतीति । अत्राग्रे विषयतासमवायाभ्यां ज्ञानमुभयनिष्ठमन्त्ये संयोग उभयनिष्ठः । न हि आवरण-भङ्गो विषयता बोधयति । यत्र तु कर्मवृत्तिधर्मरूपं फलं धातुना प्रतिपाद्यते स कर्मस्थभावको यथा भिनत्तीति । न हि द्विधाभवनरूपं फलं कथमपि कर्तृनिष्ठं प्रतीयते । अत एवोक्तम्—'क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकल्पिता' इति । स्वयमपि ज्ञानावकूल आत्ममनःसंयोगरूपो जानात्यादेरर्थ इति धात्वर्थनिर्णयेऽभिधानात् पूर्वा-परविरुद्धत्वादतीतानागतयोरपि बुद्धयुषारोहात् फलबालित्वमित्यास्तां तावत् । विभ्वोः संयोगानङ्गीकारेऽपि मनसोऽणुत्वाङ्गीकारात् संयोगोपपत्तिः । परमार्थतस्त्वाश्रयतैव व्यापारः । ईश्वरो जानातीत्याद्यदुरोधादित्युक्तं प्राक् । एतेन यत्र कर्मणि क्रियाकृतो विशेष उपलभ्यते स कर्मस्थभावको यत्र च कर्तरि क्रियाकृतो विशेष उपलभ्यते स कर्तृस्थकिय इति निरस्तम् । पक्षत्यादिकर्तर्यपि श्रमादिरूपविशेषदर्शनेन तस्यापि कर्तृस्थकियकत्वापत्तेः । चिन्तयतिपश्यत्यादिकर्तरि क्रियाकृतविशेषावुपलम्भेन कर्तृस्थभावकत्वानापत्तेश्चेत्यलम् ॥' (Ms. of कान्ति in the Dec. Coll. Library).

Page 107.

धर्मैरभ्युद्यतेः शब्दे—

धर्मैः in this verse refers to the properties of the agent mentioned in the two verses प्रागन्यतः शक्तिलाभात् &c. given on p. 108. The meaning of these verses is that the agent desirous of securing the fruit of his action

procures the instrument and other accessories of action. He is thus independent unlike the accessories which depend for their independence of action on the agent; thus the agent has its power of action before the instrument and other accessories of action (‘फलकामो हि कर्ता करणादीन्युपार्जयते । तथा च पूर्वमेव शक्तिमान् स्वतन्त्रः । करणादीनां तु कर्तृविनियोगादेव स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यं तत्स्वन्यतः’ हेलाराज on वाक्यप०, The Benares Edition, p. 243). Thus the agent makes all accessories of action dependent upon himself (न्यग्भावापादनात्). The instrument &c. are dependent upon the agent for their action and cessation from action (तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तित्वात्); for it is the agent that employs the accessories; the accessories have no power of employing the agent. Moreover, in the case of the accessories, a substitute may be found, as in the absence of ब्रूहि, a sacrifice may be performed by means of नीवार. But the agent has no substitute; when he is changed, we have a change of action. The agent is seen even in the absence of other instruments of action as in the case of the actions denoted by भवति, अस्ति, विद्यते &c. (‘प्रविवेके च कारकान्तराणामभावे इश्यते कर्तरि क्रिया अस्ति भवति विद्यत इत्यादौ’ हेला० on वाक्यप०, The Benares Edition, p. 243). Though in the accomplishment of the action, the proximity of the instrument is closer than that of the agent; for it is the instrument that directly accomplishes or effects the action and the agent only puts the instrument to work and thus distantly effects the action (‘साधनान्तराणां प्रयोक्तारः कर्तारो विनिश्चिक्तासाधनान्तरव्यापारव्यवधानेन क्रियां दूरादेव साधयन्ति । करणव्यापारसमनन्तरमेव तु क्रियासिद्धिः ॥’ हेला० on वाक्यप०, The Benares Edition, p. 239), still the agent is to be independent owing to the causes mentioned above which make him predominant. (‘एतेन हेतुकलापेन कर्तुः करणापेक्षया क्रियासिद्धौ विप्रकृष्टोपकारकत्वेऽपि स्वातन्त्र्यं प्राधान्यनिबन्धनमुच्यते इति तस्यैव कर्तृसंज्ञा न तु करणादेः स्वव्यापारे स्वतन्त्रस्यापीत्यर्थः । एतेन चेदं भाष्यं व्याख्यातम्—‘यत् सर्वेषु साधनेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति’ इति” हेला० on वाक्यप०, The Benares Edition, p. 243).

Owing to these properties being essential in an agent, an inanimate object cannot be an agent. It is to remove this doubt that the verses धर्मैरभ्युदितैः &c. are given (‘अचेतनविषये तद्धैवविधधर्मकलापात् कर्तृता न प्राप्नोति इत्याशङ्क्याह-धर्मैरिति” हेला० on वाक्यप०, introducing the following verse :—

धर्मैरभ्युदितैः शब्दे नियमो न तु वस्तुनि ।
कर्तृधर्मविवक्षायां शब्दात् कर्ता प्रतीयते ॥

वाक्यप० ३, १०१). The rule that the agent must have the properties mentioned in प्रागन्यतः शक्तिभात् &c. is to be applied to words and not objects. If the speaker desires that these properties should belong to the agent, then the agent is comprehended from words as having these properties. Vide Helârāja on the verse धर्मैरभ्युदितैः, p. 244. Thus, since the independence of the agent depends upon the desire of the speaker, in instances like 'हन्त्यात्मानमात्मना', one and the same object becomes three Kārakas, viz. कर्तृ, कर्म, and करण. One and the same object is imagined to be different by intellect and consequently assumes the nature of the object, the instrument, or the agent. Vide Helârāja on the following verse :—

एकस्य बुद्ध्यवस्थामिमेदे च परिकल्पिते ।

कर्मत्वं करणत्वं वा कर्तृत्वं बोधजायते ॥

वाक्यप० ३, १०२, p. 244.

Page 109.

क्रियायाः परिनिष्पत्तिः—

These two verses from the Vākyapadīya explain what करण means. Of all the accessories of action that which is intended to be described is one the immediate operation of which leads to the accomplishment of action. Really speaking, it is not possible to say that this is करण and this is not करण; for though स्थाली is an अधिकरण of cooking, the speaker may desire to express it as an instrument, and we may have the प्रयोग-स्थाल्या पच्यते instead of स्थाल्यां पच्यते. Vide Helârāja on the verse :—

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।

विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम् ॥

वाक्यप० ३, ८९, p. 237.

The commentary कान्ति has the following on वस्तुतस्तु तदनिर्देश्यम्—

“तदनिर्देश्यं तत् करणादि वस्तु अनिर्देश्यम् । इदं करणमेवेति निर्देष्टुमशक्यम् । तत्र हेतुमाह—न हीति । अत एव दात्रायानादरेण बलस्य तत्त्वं विवक्षायां बलेन लुनातीत्यादि भवति । निश्चिताधिकरणत्वापि स्थाली तदुत्तरकपालत्वाच्छीघ्रतरपाकसाधनत्वेन वैवक्षिकं करणत्वं चाह भवति ।” (The Ms. of कान्ति in the Dec. Coll. Library).

In the commentary upon the Sūtra ‘सायकृतमं करणम्’ the Bhāṣyakāra questions the use of तम्. He argues—When we say अभिरूपाय-कन्या देया, what is intended to be expressed is अभिरूपतमाय कन्या देया; for no one gives his daughter to one who is not अभिरूप or handsome.

(‘लोकेऽभिरूपायोदकमानेयमभिरूपाय कन्या देयेति न चानभिरूपे प्रवृत्तिरस्ति तत्राभिरूपतमायेति गम्यते’ The Mahābhāṣya, Bom. Sans. Series, p. 331). Similarly when साधकं करणम् is said, what is meant is साधकतमम्; for all the कारक’s are means of accomplishing action; and one does not set about securing what does not lead to the accomplishment of the action which he has undertaken. Thus the sense of तर comes out even when it is not used. Pāṇini then must have some object in using it. The object is this. In ascertaining an अपादान, it is not necessary that there should be actual physical separation as when we say गामादागच्छति; even mental separation or that which can be conceived will do as in सांकाश्य-केभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः. So in the case of अधिकरण it is not necessary that the substratum of action should be wholly pervaded as in तिलैर्बु तैलम् or दधि सर्पिः. A word is called अधिकरण even if the object denoted by it is a partial substratum as in गङ्गायां गावः or कूपे गर्गकुलम्. This is called औपश्लेषिक अधिकरण. Vide the Bhāṣya on ‘साधकतमं करणम्’ ॥ ११४४॥ The Mahābhāṣya, Bom. Sans. Series, Vol. I, pp. 331—32.

Page 109.

कर्तृकर्मव्यवहिताम्—

In the science of grammar अधिकरण is said to be that which is a substratum of action indirectly through the medium of the agent or the object and which goes to help the accomplishment of the action. In कटे आस्ते and स्थात्यां पचति, कट and स्थाली are indirectly the substratum of the actions of sitting and cooking through the medium of the agent Mānavaka or some other person and rice or some other food respectively (‘कटे आस्ते स्थात्यां पचतीति कर्तृकर्मधारणात् तत्समवेतायां क्रियायाश्चकारक-मधिकरणं पारम्पर्येण’ हेला० on वाक्यप०, p. 277.). तिलैर्बु तैलम् is प्रधान or principal अधिकरण; while कटे आस्ते and मोक्षे इच्छास्ति are instances of गौण or subordinate अधिकरण. The first is called अभिव्यापक; because oil pervades all grains of sessamum. कटे आस्ते is an instance of औपश्लेषिक अधिकरण; because Mānavaka sits only on a part of a mat. मोक्षे इच्छास्ति illustrates what is called वैषयिक अधिकरण, the sense being मोक्ष-विषया इच्छास्ति.

The Bhāṣyakāra has done away with the Sūtra संहितायाम् ॥ ६ । १ ७२ ॥ by taking अधिकरण to be of three kinds as mentioned above and consequently explaining अचि in इको यणचि to be equal to अचि उपलब्धस्य. The Bhāṣya runs as follows:—“अयं योगः शक्योऽवबुद्धम् । कथम् । अवि-

करणं नाम त्रिप्रकारं व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति । शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसंबन्धो भवितुमर्हत्यन्यद्गत उपश्लेषात् । इको यणचि [६।१।७७ ॥] अच्छुपश्लिष्टस्येति । तत्रान्तरेण संहिताग्रहणं संहितायामेव भविष्यति ॥". The Mahābhāṣya, B. S. S., 2nd edition., Vol. III., p. 51.

Page 110.

अपाये यदुदासीनम्—

अपादान is defined as a Kāraka which expresses a limit when separation is to be accomplished. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२४ ॥ ध्रुवम् is explained as अवधिभूतम् or supplying a limit from which separation is to be effected. The Vārtikakāra first takes ध्रुव in its literal sense of निश्चल and questions the application of the term अपादान to a word which denotes motion. In अश्वात् त्रस्तात् पतितः, रथात् प्रवीतात् पतितः, and सार्थाद् गच्छतो हीनः, अश्व, रथ, and सार्थ are अध्रुव. How then is the ablative to be explained? For this the Vārtikakāra gives the Vārtika—न वाध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्. The Bhāṣyakāra comments upon it as under:—"नात्राध्रौव्यं विवक्षितम् । किं तर्हि । ध्रौव्यम् । इह तावदश्वात् त्रस्तात् पतित इति यत्तदश्वेऽश्वत्वमाश्रुगामित्वं तद् ध्रुवं तच्च विवक्षितम् । यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं ये त्वेतेऽत्यन्तगतिशुक्तास्तत्र कथम् । भावतः पतितः । त्वरमाणात् पतित इति । अत्रापि न वाध्रौव्यस्याविवक्षितत्वादित्येव सिद्धम् । कथं पुनः सतो नामाविवक्षा । सतोऽप्यविवक्षा भवति तद्यथा । अलोमिकैडका । अतुदरा कन्येति । असतश्च विवक्षा भवति । सद्यद्रः कुण्डिका । विन्ध्यो वर्धितकमिति". The Mahābhāṣya, Bom. Sans. Series, Vol. I., p. 327. The Bhāṣyakāra shows that it is possible to do away with the Sūtras:—'भीत्रार्थानां भयहेतुः', 'पराजेरसोदः', 'वारणार्थानामीप्सितः', 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति', 'आख्यातोपयोगे', 'जनिकर्तुः प्रकृतिः', and 'ध्रुवः प्रभवः'; for in all these cases the Sūtra 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' will do; since it is possible to conceive separation or the going of the mind to and returning from what is termed अपादान, बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तनम् as it is called.

The meaning of the term अपादान is explained by Hari in the verses अपाये यदुदासीनम् &c. The purport of these verses is as under:—When separation is to be expressed, an object, whether movable or immovable, which is not the substratum of the act of separation, is necessarily ध्रुव, since it is not the substratum of an action which causes separation and is called अपादान. In other words, अपादान is that which is the substratum of separation, at the same time that it is not the substratum of an action which is the cause of separation. Thus in वृक्षात् पर्णं पतति—a leaf is separated from a tree—, both a leaf and a tree are the substratum

of the act of separation; but a leaf is also the substratum of an act (viz. falling) which is the cause of separation. पर्ण is therefore not अपादान. वृक्ष, on the other hand, is the substratum of the act of separation at the same time that it is not the substratum of an act of falling which is the cause of separation. It is therefore अपादान and used in the ablative case. In धावतोऽश्वात् पतति, though अश्व is the substratum of an action, viz. that of running, it is not the substratum of an action (viz. the action of falling) which is the cause of separation. अश्व is thus ध्रुव, since it is not the substratum of the act which causes separation (अतदावेशात्, that is, विस्लेपहेतुक्रियानाश्रयत्वात्). ध्रौव्य or immovableness is not here meant to be a property of an object; what is meant is, that when separation is to be effected, what is not affected by separation is ध्रुव. In the instance 'कुल्यात् पततोऽश्वात् पतति', कुल्य or a wall is ध्रुव in regard to a horse and अश्व in regard to a person; for the horse though falling, is not the substratum of an action, viz., the falling of a man, which is the cause of the separation of a man from a horse. In 'परस्परस्मान्मेपाव-पसर्पतः', each goat must be understood to be ध्रुव in regard to the action of the other.

Bhattoji Dikshita's note on ध्रुवम् in the S'abdakaustubha is worth reading:—"ध्रुवमित्यत्र ध्रु गतिस्थैर्ययोरित्यस्मात् कुटादेः पचायच् । ये तु ध्रुव स्थैर्ये इति पठन्ति तेषामिदुपधलक्षणः कप्रत्ययः । ध्रुवतीति ध्रुवं स्थिरमेकरूपमिति यावत् । ध्रुवमस्य शीलमिति यथा । तथा चापायै साध्ये यदेकरूपमित्युक्ते प्रकृत-धातूपात्तगत्यनाविष्टत्वे सति तदुपयोगीति लभ्यते । तच्चार्थादवधिभूतमेव पर्यवस्यति । तेन धावतोऽश्वात् पततीत्यादौ क्रियाया विशिष्टस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तक्रियां प्रत्यवधित्वं न विरुध्यते । तथा परस्परस्मान्मेपावपसरत इत्यत्र स्वधातुना गतिद्वय-स्याप्युपादानादेकमेषानिष्टां गतिं प्रत्यपरस्यापादानत्वं सिध्यति ।पर्वतात् पततोऽश्वात् पततीत्यत्र तु पर्वतावधिकपतनाश्रयो योऽश्वस्तदवधिकं वेदस्ताश्रयं पतनमर्थः । पञ्चमी स्ववधौ शक्ता । तत्रामेदेन संसर्गेण प्रकृत्यर्थो विशेषणम् । प्रत्ययार्थस्तु क्रियायां विशेषणम् । कारकाणां क्रिययैव संबन्धात् । " शब्दकौ०, Benares Editon, pp. 527—8. The latter portion of this note shows how the sense (बोध) of a sentence in which the ablative case is used, arises according to grammarians. भूतले घटो न is explained in two ways by the Naiyâyikas:—भूतलाधेयत्वाभावविशिष्टो घटः or भूतलाधेयत्वविशिष्टो घटाभावः. The grammarians call this wrong; for in both the ways the Kâraka case is wrong; since it is not connected with a verb ("उभयथापि क्रियानन्वये कारकविभक्तिरसाधुत्वात्" शब्दकौ०, p. 528); and if this be the accepted sense, since there is absence of an object, there must result an Avyayibhâva compound which is in this case

necessary and constant ("अर्थाभावेऽव्ययीभावापत्तेश्च तस्य नित्यसमासत्वात्" शब्दकौ०, p. 528). If against this the Naiyāyikas were to allege that the sense they give arises in the minds of those who are trained in the Nyāyadarsana ("अस्मदुक्तोऽपि बोधोऽस्मदर्शनव्युत्पन्नानामनुभव-साक्षिकः" शब्दकौ०, p. 528), the grammarians reply that it is true, that they do not urge that the sense does not arise; but that the sense which arises in the form in which they understand is incorrect ('न हि वयं बोध एव नोदेतीति ब्रूमः । सर्वे सर्वार्थबोधनसमर्था इत्यभ्युपगमात् । किं तु तस्मिन्नर्थेऽसाधुताम् । एवं च कस्माद्वाक्यात् कीदृग्बोध इति प्रश्ने यो यथा व्युत्पन्नस्तस्य तादृगेवेति स्थितिः । कीदृशे बोधे साधुत्वं कुत्र नेति परं विचारविषय इति तत्त्वम् ॥ शब्दकौ०, p. 528).

It must be remembered that the word denoting the limit of separation must be a कारक; otherwise, it cannot be अपादान. We have thus वृक्षस्य पर्णं पतति where the sense intended to be expressed is that a leaf connected with a tree falls; no separation of a tree is intended to be expressed. Hari says:—

गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति गम्यते ।

वृक्षस्य पर्णं पततीत्येवं भाष्ये निदर्शितम् ॥

वाक्यप० ३.८, p. 271.

On this Helārāja remarks:—"वृक्षसंबन्धिनः पर्णस्य पातो वाक्यार्थो विवक्षित इति वृक्षस्यावधिना विवक्षात्र नास्ति । तथा चापायोऽर्थं न भवति । अपायत्वेनावध्यपेक्षारूपेणाविवक्षितत्वादित्यत्रापादानता वृक्षस्य न भवति । यदि त्वपायोऽत्र विवक्ष्यते तदा वृक्षस्यावधित्वात् वृक्षात् पर्णं पततीति भवति ॥". The Vākyapadīya, Benares Edition, p. 271.

अपादान is of three kinds:—1 निर्दिष्टविषय, where the root itself expresses separation, as in अश्वात् पतति, 2 उपात्तविषय, when the root expresses its own sense to which the sense of another root is subordinate, as in बलाहकाद्व्योतते ज्योतिः which means बलाहकान्निस्य ज्योतिर्विद्योतते, कुसूलात् पचति, i. e. कुसूलादादाय पचति, and ब्राह्मणात् शंसति, which signifies ब्राह्मणाद् गृहीत्वा शंसति, and 3 अपेक्षितक्रिय, where the action is not expressed, but understood, as in कुतो भवान्, पाटलीपुत्रात्, where आगतः is to be supplied in both the sentences.

In the compound ब्राह्मणाच्छंसी, Kātyāyana considers the ablative in the sense of the accusative, while the Bhāṣyakāra considers this as an instance of उपात्तविषय अपादान ("पञ्चमीप्रकरणे 'ब्राह्मणाच्छंसिन उपसंख्यानम्' इत्यल्लङ् । तत्र वार्तिककारस्य द्वितीयार्थे पञ्चम्येषाभिमतम् । । भाष्यकारस्तु ब्राह्मणाद् गृहीत्वा आहत्य शंसतीत्याहरणाङ्गे शंसने शंसिर्वर्तते इत्युपात्तविषय-मेवापादानं मन्यते ॥" हेलो०. Vide the Vākyapadīya, Benares Edi., p. 268),

Page 112.

उद्देश्यः संप्रदानचतुर्थ्यर्थः—

संप्रदान is the sense of the Dative and संप्रदान is defined as 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्'. It means that the Kāraka which the agent desires to obtain by the instrumentality of कर्म is संप्रदान. The Bhāṣyakāra explains the propriety of each of the words in the Sūtra. If कर्मणा were omitted and the Sūtra to read 'यमभिप्रैति स संप्रदानम्', the object would be संप्रदान. If यम् and स were omitted, the Sūtra would read 'कर्मणाभिप्रैति संप्रदानम्'. In this case that which wishes would be संप्रदान ('अभिप्रयत एव संप्रदानसंज्ञा प्रसज्येत'. The Mahābhāṣya, B. S. S., Vol. I., p. 330). If अभिप्र were omitted and if the Sūtra were to be 'कर्मणा यमेति स संप्रदानम्', संप्रदान would be concerned with the present tense only. There would be no संप्रदान संज्ञा in sentences like उपाध्यायाय गामदात्, उपाध्यायाय गां दास्यति. When अभि and प्र are used, there will be no such fault; for अभि refers to the future time and प्र to the past time ('भभिराभिमुख्ये वर्तते प्रशब्द आदिकर्मणि । तेन ये चाभिप्रैति ये चाभिप्रैष्यति ये चाभिप्रागादाभिमुख्यमात्रे सर्वत्र सिद्धं भवति'. The Mahābhāṣya, B. S. S., Vol. I., p. 330).

On this Sūtra there is a वार्तिक, viz., 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्'. This Vārtika is given to explain instances like पत्ये ज्ञेते and इदया संनह्यते. In the case of intransitive roots like ज्ञी they having no object, the agent cannot desire to obtain any thing through the instrumentality of the object which does not exist; thus there is no संप्रदान and hence the Vārtika ('पत्ये ज्ञेते इत्यकर्मकधातुविषये कर्मणोऽभावात् तेनाभिप्रीयमाणस्य संप्रदानता न सिध्यतीति क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति वार्तिकेऽभिहितम् ॥ हेला० on the Vākyapadiya, Benares Edition, p. 265). This Vārtika is required by the Bhāṣyakāra on the ground that the word कर्मणा in the Sūtra may be taken to mean क्रियया. In popular language कर्म is used in the sense of क्रिया; and to obviate the Paribhāṣhā 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति' it is advanced that क्रिया is also कृत्रिम कर्म or grammatical object satisfying the conditions of the Sūtra कर्तुरीप्सिततमं कर्म. An action also may be desired to be obtained by the agent by an action; for no action can be executed and its fruit achieved unless a man performs the act of thinking about it in this mind, soliciting it, and resolving to do it—'क्रियापि कृत्रिमं कर्म । न सिध्यति । कर्तुरीप्सिततमं कर्म [१।४।४९] इत्युच्यते । कथं च नाम क्रियया क्रियेप्सिततमा स्यात् । क्रियापि क्रियेप्सिततमा भवति । कया क्रियया । संदर्शनक्रियया वा प्रार्थयति-क्रियया वाध्यवस्यतिक्रियया वा । इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स इदया

तावत् कंचिदर्थं संपश्यति संदष्टे प्रार्थना प्रार्थनायामध्यवसायोऽध्यवसाय आरम्भ आरम्भे निर्देष्टिर्निर्देष्टौ फलवाप्तिः । एवं क्रियापि कुत्रिमं कर्म ॥'. The Mahābhāṣya, B. S. S., Vol. I., pp. 330-1. The commentary कान्ति explains पश्ये शेते as under:—‘संदर्शनजन्यप्रार्थनजन्यव्यवसायजन्यारम्भक्रियानिरूपितं कर्मत्वं शयनक्रियायामादाय कर्मीभूतशयनक्रियया संबन्धुमिष्यमाणत्वात् पत्युः संप्रदानत्वं कर्मणा यमभिप्रैतिसूत्रेणैवेति संप्रदानकर्मारम्भकर्मीभूतं पञ्जीकर्तृकं शयनमिति बोधः ॥'. MS., The Dec. Coll. Lib.

The Vṛttikāra takes the word संप्रदान as significant (अन्वर्थ) and implying one to whom some thing is well given. Hence according to his opinion there is no संप्रदान in instances like रजकस्य वस्त्रं ददाति and व्रतः पृष्ठं ददाति; for here दा is not used in its literal sense. The Bhāṣyakāra, however, does not accept this view; for he uses खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति, न शूद्राय मतिं दद्यात् &c. In रजकस्य ददाति, the genitive रजकस्य is to be explained by the Sūtra ‘शेषे पठौ’ (‘अत्र वृत्तिकाराः—अन्वर्थसंज्ञेयं सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत् संप्रदानमिति । तेनेह न । रजकस्य वस्त्रं ददाति । व्रतः पृष्ठं ददाति । इह हि ददातिगौणः न तु वास्तवं दानमस्तीत्याहुः ॥ भाष्ये तु नैतत् स्वीकृतं खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति । न शूद्राय मतिं दद्यादित्यादिप्रयोगात् । रजकस्य ददातीति तु शेषत्वविवक्षायां बोध्यम् ॥’ कौस्तुभ, Benares Ed., p. 534).

Helārāja explains well the difference between संप्रदानार्थे चतुर्थी and तादर्थ्ये चतुर्थी. In विप्राय गां ददाति, we have दानक्रियार्थः विप्रः, not विप्रार्था दानक्रिया as in मुक्तये हरिं भजति where we have मुक्तयर्था भजनक्रिया. (‘ननु च दानस्य तदर्थत्वात् तादर्थ्ये चतुर्थीप्रयोगात् किमर्थं संप्रदानसंज्ञा । नैतन्न्याय्यम् । दानक्रियार्थं हि संप्रदानं न तु दानक्रिया तदर्थं कारकाणां क्रियार्थत्वात् संप्रदानार्थं तु दीयमानं कर्मेति वाक्यार्थभूताया दानक्रियाया अतादर्थ्यात् तादर्थ्ये चतुर्थ्या अप्राप्ते तदर्थो संज्ञा न्याय्या ॥’). The Vākyapadīya, Benares Ed., p. 262).

संप्रदान is of three kinds:—1 अनिराकर्तृ, i. e., that which does not reject what is given, as in सूर्याय अर्घ्यं ददाति. Here the Sun neither solicits worship nor does he permit it, nor reject it. 2 प्रेरकम्, i. e., that which incites some one to give any thing, as in विप्राय गां ददाति, where a Brahmin incites the giver to give him a cow (‘विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितो ददाति’ कान्ति) and 3 अनुमन्तृ, i. e., that which permits a person to give him something, as in उपाध्यायाय गां ददाति, where the priest permits the giver to give him a cow, (‘उपाध्यायो न प्रार्थयते अपि त्वनुमन्यते’ कान्ति).

Page 113.

पठौ शेषे—शेष means senses other than कर्मादि, i. e., the object, the instrument &c. But senses other than these are not possible; for in राज्ञः

पुरुषः राजन् is the कर्ता and पुरुष, संप्रदान, it being explained as राजा पुरुषाय द्रव्यं ददाति ततोऽसौ पुरुषस्य स्वामी भवति; in वृक्षस्य शाखा, वृक्ष is the अधिकरण of शाखा and so on. Objects which have the nature of things accomplished are not connected with one another except through action denoted by verbs. ('द्रव्याणां हि सिद्धस्वभावानामयःशलाकाकल्पानां परस्परसंबन्धाभावात् क्रियाकर एव सः। क्रिया हि निःश्रयणीव द्रव्याण्युपलभ्ययति। तथा च भाष्यम्। प्रातिपदिकाथानां क्रियाकृतविशेषा उद्भवन्त कर्म करणभित्त्यादि' देहा० on वाक्यप०, Benares Edi., p. 283.). Thus the relation of words is either directly with a verb, in which case the relation is called कारक, or indirectly through a verb, i. e., when the कारक relation is not desired to be expressed by the speaker. The commentary Kānti is very explicit in its exposition on this point:—
'अश्रूयमाणक्रियारूपतानवगमः सिद्धस्वभावानां द्रव्याणां क्रियां विना परस्परसंबन्धासंभवादश्रूयमाणविषये राज्ञः पुरुष इत्यादौ राजा पुरुषाय ददातीति दानक्रियया राजपुरुषौ कर्तृसंप्रदानरूपौ पूर्वमभूतामिति तन्मूलकस्वत्वामिभावस्येदानीं प्रतीतौ कर्त्रादिविशेषरूपतानवगमः सिद्धस्वभावानां द्रव्याणां क्रियां विना परस्परसंबन्धासंभवादश्रूयमाणानां दानादिक्रिया संबन्धलक्षणकार्यानुपपत्त्याहुमीयमाना संनिहितेति तन्मुखेन समन्वयः। क्रिया हि सोपानपरंपरेव संबन्धं करोति। एवं च संबन्धिनोरपि अनुमीयमानक्रिया निमित्तत्वरूपकारकत्वमस्ति एवं श्रुतक्रियाविषये मातुः स्मरतीत्यादौ क्रियाकर्मत्वमूलक उक्तसंबन्धः॥'. The Ms. of Kānti in the Dec. Coll. Lib.

शेष is explained as meaning कर्मादीनामविवक्षा शेषः. The संबन्ध may be either स्वत्वामिभावसंबन्ध as in राज्ञः पुरुषः, or अवयवावयवविभावसंबन्ध as in वृक्षस्य शाखा, or जन्यजनकभावसंबन्ध as in पितुः पुत्रः, &c. It may be of various sorts. The Bhāṣhyakara says 'एकशतं षष्ठ्यर्थः' in the Bhāṣhya on षष्ठी स्थाने योगा. The Mahābhāṣhya, B. S. S., Vol. I., p. 118. The relation which the genitive case denotes is accordingly other than the Kāraka relation, but it is a relation which is preceded by a relation of a noun and a verb and the verb is either expressed or understood. Hari says:—

संबन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।

श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते॥

वाक्य० Benares Edi., p. 283.

In राज्ञः पुरुषः, the verb is understood; in मातुः स्मरति it is expressed.

Though a relation always exists between two things, the genitive is used only after an attributive word like राजन् in राज्ञः पुरुषः. According to the rule प्रन्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यम्, राजन् is an attributive to संबन्ध, the sense of the genitive. संबन्ध again is an attributive to पुरुषः. Thu

the sense is राजसंबन्धी पुरुषः. In this connection the following passage from the Bhāṣhya is worth noting:—‘प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृता विशेषा उपजायन्ते तत्कृताश्चाख्याः प्रादुर्भवन्ति कर्म करणमपादानं संप्रदानमधिकरणमिति । ताश्च पुनर्विभक्तीनामुत्पत्तौ कदाचित् निमित्तत्वेनोपादीयन्ते कदाचित् । कदा च विभक्तीनामुत्पत्तौ निमित्तत्वेनोपादीयन्ते । यदा व्यभिचरन्ति प्रातिपदिकार्थम् । यदा हि न व्यभिचरन्त्याख्याभूता एव तदा भवन्ति कर्म करणमपादानं संप्रदानमधिकरणमिति । यथैव तर्हि राजनि स्वकृतं स्वामित्वं तत्र पश्येवं पुरुषेऽपि स्वामिकृतं स्वत्वं तत्र पृथी प्राप्नोति । राजशब्दादुत्पद्यमानया पृथ्याभिहितः सोऽर्थ इति कृत्वा पुरुषशब्दात् पृथी न भविष्यति ॥’ महाभा०, B. S. S., Vol., p. 464.

Page 115.

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः—

The Naiyāyikas and the Mimāṃsakas have recourse to लक्षणा to explain the senses of cases. In घटं जानाति, for instance, the root ज्ञा has the sense of ‘knowing’; ‘relating to’ or ‘the state of being the subject of’ is the sense of the accusative, the sense of the base (प्रकृति) is grammatically connected with the sense of the accusative, as being contained in it; while the sense of the accusative is connected with the sense of the root as ‘representing it.’ Thus घटं जानाति means knowledge, representing the state of being the subject, contained in a jar, or knowledge, representing the object, jar—‘ज्ञानमात्रं घात्वर्थः विषयता द्वितीयार्थः प्रकृत्यर्थस्य तत्रायेयतयान्वयस्तस्याश्च घात्वर्थे निरूपकत्वेनान्वयस्ततश्च घटं जानातीत्यादौ घटनिष्ठविषयतानिरूपकं ज्ञानमिति तन्मतम् (i. e. नैयायिकादीनां मतम्)’. The Ms. of कान्ति in the Dec. Coll. Lib.

To rebut this view of modern Naiyāyikas (for ancient Naiyāyikas are at one with grammarians) the Vārtika on the Sūtras ‘बहुषु बहुवचनम्’, ‘द्वयैकयोर्द्विवचनैकवचने’ is given. The Bhāṣhya on the Sūtra ‘बहुषु बहुवचनम्’ runs as under:—What does बहुषु qualify? It qualifies अर्थेषु, i. e., the plural number is used when many objects are to be denoted. If it be so, the plural number would be used even in the case of वृक्षः, प्लवः, &c. Why? Because a tree denotes many objects—a branch, leaves, fruits, &c. Then let the sense be, the plural number is used when the plurality of the senses of cases are to be predicated (‘येष्वर्थेषु स्वादयो विधीयन्ते तेषु बहुषु’ महाभा०, B. S. S., Vol. I., p. 321). In what senses are the case terminations added? In the senses of object &c. No. Object &c. are not senses of cases. What then are the senses of cases? Singularity &c. (‘एकत्वादयः’ महाभा०, p. 321). Object &c. are to be connected with singularity &c. Thus the singular is used when the oneness of object

&c. is to be denoted, and the dual and the plural when the duality and the plurality of object &c. are to be denoted 'कर्मणो एकत्वे कर्मणो द्वित्वे कर्मणो बहुत्वे इति' p. 321). If it be so, the reading of the Sūtra should be changed. It should read बहुत्वे बहुवचनम्. No. It is not necessary. Even without an abstract affix, the abstract sense may be denoted ('अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः' p. 321). How? When we say पदः शुक्लः, the property (गुणः) and its substratum (गुणी) are in apposition and the word denoting property is attributive to the word expressive of its substratum ('यदा तावद्गुणो गुणविशेषको भवति पदः शुक्ल इति तदा सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनोः' p. 321). When, however, we say पदस्य शुक्लः, the word expressing property is not subordinate to any word and then the sense of the property is expressed without an abstract affix ('यदा तु गुणिना गुणा व्यपदिश्यन्ते पदस्य शुक्ल इति स्वप्रधानस्तदा गुणो भवति । तदा द्वयं घटी । तदान्तरेण भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः' p. 321). Thus what is meant is कर्मादीनामेकत्वे एकवचनं द्वित्वे द्विवचनं बहुत्वे बहु वचनम्. Again, by using the word बहुषु in 'बहुषु बहुवचनम्' Āchārya Pāṇini indicates that the word बहु expressive of many places is meant and not that which has the sense of 'much' ('कथं बहुषु बहुवचनमिति । एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो नानाधिकरणवाची यो बहुशब्दस्तस्येदं ग्रहणं न वैपुल्यवाचिन इति' p. 321). Thus we have बहुरोदनः, बहुः सप्तः. Now since the सप् terminations are added to all प्रातिपदिक's (crude forms of all except roots) without any distinction and the तिङ् affixes to all roots without distinction and since we have accordingly sentences like अक्षीणि मे दर्शनीयानि, पादा मे सुकुमाराः, the Sūtras 'बहुषु बहुवचनम्' and 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' must be taken as नियमसूत्र's i. e. restrictive Sūtras. ('सुप्तिङामविशेषविधानाद् दृष्टविप्रयोगाच्च नियमार्थं वचनम्' p. 322). Thus the Vārtika 'सुप्तां कर्मादयोऽप्यर्थाः' &c. means that object &c. (कर्म, करण, संप्रदान, &c.) are the senses of सुप् terminations and so is number their sense. Similarly, agent, object, and number are the senses of तिङ् affixes. The restriction there is the well known restriction in regard to sense, i. e., अर्थनियम. अर्थनियम is explained clearly in कान्ति as 'अर्थस्य कर्मादिविभक्त्यन्तरसंबन्धनिवर्तको नियम इत्यर्थः'. By taking the Sūtras 'स्वौजसमौद्', 'कर्मणि द्वितीया', 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' &c. 'लस्य', 'तिपुतसञ्ज्ञि', 'तान्येकवचनद्विवचन—' &c. to form one syntactical whole sentence, we get this अर्थनियम, viz., कर्मणि द्वितीयैव, करणे तृतीयैव, अभिहिते प्रथमैव, एकत्वे एकवचनमेव, &c. Taking this restriction of sense, case terminations may be added to indeclinables which are thus regarded as पद's (कर्मत्वादिशून्यार्थकाव्ययादपि विभक्तिसिद्धिः). Or since Pāṇini orders the dropping of आप् and सुप् suffixes after indeclinables,

it is clear that he indicates that case-terminations are added to indeclinables ("अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयत्युत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्यः स्वादय इति यदयम् 'अव्ययादापस्रपः' इत्यव्ययाङ्गकं शास्ति" p. 322). Or the restriction may be taken as शब्दनियम which is clearly explained by कान्ति as 'विभक्तिसंज्ञकशब्दस्य द्वितीयादेः प्रकृतार्थान्तरसंबन्धनिवर्तको नियम इत्यर्थः'. Thus the शब्दनियम or प्रत्ययनियम is द्वितीया कर्मण्येव, तृतीया करण एव, प्रथमा अभिहिते एव, एकवचनमेकस्मिन्नेव, &c. The वाक्यैकवाक्यता shown above gives us this advantage that we get कर्मादि and संख्या as the expressed sense of case-terminations and verbal suffixes.

In the Bhūṣhaṇasāra p. 468, the readings अर्थनियमः and शब्दनियमः on lines 4 and 5 are not so good as those of D. and D₂, given in the foot-note; for अर्थनियम and शब्दनियम are explained as above in the Brihad-Bhūṣhaṇa, Kānti, and the Mahābhāṣya. The readings adopted in the text are by no means wrong. If we take द्वितीया कर्मण्येव as अर्थनियम, it must be explained as अर्थस्य अर्थगतः नियमः अर्थनियमः, the restriction referring to the sense itself. If, however, द्वितीयैव कर्मणि be taken as अर्थनियमः, it must be explained as अर्थविषयकोऽर्थस्य विभक्त्यन्तरनिवर्तको नियमः, i. e., the restriction prohibiting the use of other cases in regard to sense. The first sense seems natural, though the other is meant in the Bhāṣya, Kānti, and Brihadbhūṣhaṇa. Bhattoji Dīkṣita also takes the same sense—'कर्मणि द्वितीयैव अभिहिते प्रथमैव एकत्वे एकवचनमेवेत्यादिरर्थ-नियमः । द्वितीया कर्मण्येवेत्यादिः प्रकृतार्थापेक्षो विभक्तिनियमः' शब्दकौस्तुभ, Benares Edi., p. 229.

Page 117.

एकं द्विकं त्रिकं &c.—

Prātipadikas or crude forms have five senses—1 Jāti, 2 Jāti and Vyakti, 3 Jāti, Vyakti and Liṅga, 4 Jāti, Vyakti, Liṅga, and Saṅkhyā, and 5 Jāti, Vyakti, Liṅga, Saṅkhyā, and Kāraka. All these five views are represented in the S'āstras.

Jāti or Genus is the sense of crude forms according to the view of the Āchārya Vājapāyana. The Bhāṣya on the सरूप Sūtra (१।२।६४) says:—'आकृत्यभिधानाद्वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याप्यं मन्यते । एकाकृतिः सा चाभिधीयत इति' महाभा०, B. S. S., Vol. I., p. 242. The arguments in favour of this opinion are as under:—

(1) Succinctness (कावच). If different व्यक्ति's (individualities) were taken to be the sense of a word, there would be the fault of the theory being very long (गौरव). The fault of length cannot be prevented by taking the expressive power in one व्यक्ति and the power of impli-

cation in other व्यक्ति's; for according to this view we arrive at another व्यक्ति by the following process—If व्यक्ति is the expressed sense of one word, say गो, we arrive at the जाति in it, i. e. गोत्व, by the relation of inherence (समवाय), and thence at another व्यक्ति, it being the substratum of that जाति. While, if जाति were the sense of a word, we arrive at व्यक्ति's, simply by the relation of inherence.

(2) Propriety. It is but proper that जाति is the sense of a crude form in accordance with the maxim नागृहीतविशेषणबुद्धिविशेष्यमवगाहते. Unless we comprehend the sense of दण्ड, we cannot understand what a दण्डी is. We should first grasp the idea of an attribute and then alone we can understand the sense of a word which possesses that attribute. Thus we can know what a गो means, when we know what the attribute गोत्व means; for गो is गोत्वविशिष्ट. Since the knowledge of जाति is essentially necessary according to the above maxim, it is good to take it as the sense of a word.

(3) One and the same form (the आकृति or जाति गोत्व in all cows) recognizable in all the व्यक्ति's by the relation of concomitance and non-concomitance (अन्वय and व्यतिरेक)—Wherever there is गोत्व, there is गोव्यक्ति and wherever there is no गोत्व, there is no गोव्यक्ति; and the idea of the आकृति arises in the mind before that of the व्यक्ति. Owing to these reasons it is proper that आकृति should be the sense of a word.

Helârâja well explains this view. He says जाति is the sense of a word and not द्रव्य according to the theory of Vâjapyâyana. Since जाति cannot reside without a substratum, the idea of a द्रव्य is comprehended. 'अनाश्रयाया जातिरनुपपत्तेः सामर्थ्यात् प्रतीतं द्रव्यम्' वाक्यप०, Benares Edi., 3rd Kânda, p. 6.

Bhartrihari states that in all objects two natures are to be found—the true and the untrue. The true is जाति and the untrue is व्यक्ति ('सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ । सत्यं यत् तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः ॥' वाक्य० ३। ३२, Benares Edi., p. 28). In all objects there is a certain material which is of a perishable nature, which admits of increase and decrease. It is the product of nescience and forms what is known as व्यक्ति. While, that which is imperishable, and does not change its nature, but is the same in all forms of duality, is called जाति by Advaitavâdins. Thus रुचक, स्वास्तिक, कुण्डल, &c. are modifications of सुवर्ण which alone is the true thing in them. Comparing सुवर्ण with other shining objects we find that they are all modifications of one thing, which alone is the true in them, viz. तेजस्. Proceeding further, we shall

finally come to Brahma as the one true thing in the universe. Thus, according to the theory of Advaitavādins, the only true जाति is the nature of Parabrahma. It is called महासत्ता and the minor जाति's, गोत्व &c., are the wrong forms (विवर्त's) of it. Vide Helārāja on सत्यासत्यौ तु यौ भावौ &c., Benares, Edii., pp. 28-9.

The verse in which Hari represents that it is this महासत्ता that is called जाति, when it looks different in different objects like गो through different relations, runs as under:—

संबन्धिभेदात् सतैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वं शब्दा व्यवस्थिताः ॥ ३। ३३, p. 29.

The different relations meant in this verse are described further on:—

आश्रयः स्वात्ममात्रा वा भावा वा व्यतिरेकिणः ।

स्वशक्त्यो वा सत्ताया भेददर्शनहेतवः ॥ ३। ४०, p. 33

The supreme genus, महासत्ता is one. What causes it to assume different forms is आश्रय &c. आश्रय means substratum. Just as one and the same face looks different in oil, water, a mirror, a diamond, and a sword, so the objects, a cow, an ox, a horse, &c. being different, the supreme genus सत्ता looks different in them as गोत्व, अश्वत्व, &c. Vide Helārāja, 'एकमपि मुखं &c.', p. 34. Or, the assumed parts, the lower genera गोत्व, अश्वत्व, &c., being themselves defined or of a definite nature, make the supreme genus which is undefined to be as it were defined. Difference is visible when parts are assumed, as in the case of the whole objects. Assumed difference is obvious in cases like आत्मानमात्मना हन्ति ('स्वात्मीया वा मात्राः कलाः परिकल्पिता भागा अंशा गोत्वादिसामान्यविषयाः परिच्छिन्नविषयाः सर्वविषयायाः सत्ताया विच्छिन्नावभासतां दर्शयन्ति येन तैरेव सा विच्छिन्नेवाविच्छिन्नाप्यवभासते । ...। दृष्टश्च स्वांशैरेव परिकल्पितैर्भेदावभासः । तद्यथा अवयविनः । ...। दृष्टश्च कालपक्वो भेदो यथा हन्त्यात्मानमात्मनेति ॥' हेला०, p. 34). Or, objects might appear different through the force of time, direction, or organs of sense. The same object might wear a different look at different times, or in different directions, or when the organs of sense are affected ("अर्थान्तरत्वेनावभासमाना वा देशकालेन्द्रियादयो भेददर्शनहेतवः । सत्ताया वा इहेदानीमिदमन्यवान्यदान्यदिति देशादिनिमित्तो वस्तुभेदः । तथा देशासत्तिविप्रकर्षकृतोऽन्यथावभासो वस्तुभासः । यथाहुः । दूरे यथा वा महत्सु महानल्पोऽपि दृश्यत इति । तथा रात्रौ नीलीष्पलादीनामन्यथावभासोऽन्यथाहनीति कालकृतो भेदः । तथा च कामलाशुपहतनयनानां शुक्ले शङ्खे पीतत्वावभास इतीन्द्रियनिमित्तो भेदः ॥" हेला०, p. 34). Or, finally it is the extraordinary power of Brahma or the Supreme Genus

by which it causes objects to look different. ('आत्मीया एव शक्तयो योग्यताख्याः सत्तायास्तथाविधाः सन्ति याभिर्विचित्रपञ्चं रचयति । तथा चिन्तामणिरर्थिनां यथासंशयमाकारनानात्वं दर्शयति तथानन्तशक्ति सन्मात्रं ब्रह्माविद्याविलसितसह सांसारिकप्रमादविषये नानारूपं चकास्तीत्यन्ते वस्तु सतत्त्वसुधादितम् ।' हेलारजा, p. 34).

Or व्यक्ति alone is the sense of words according to the view of Vyādi. The Bhāṣhyakāra says :—'द्रव्याभिधानं व्याहिराचार्यो न्याय्यं मन्यते द्रव्यमभिधीयत इति ।' महाभा०, Vol. I., p. 244. Vyādi's theory is well explained by Helārāja. द्रव्य or व्यक्ति is the sense of all words; because it alone is directly connected with action. Vārtikakāra says, 'चोदनाद्य तत्स्यारम्भात्'. All scriptural injunctions, though concerned with जाति, are carried out actually in connection with objects (द्रव्य). The Bhāṣhyakāra observes 'चोदनाद्य च तत्स्यारम्भान्मन्यामहे द्रव्यमभिधीयत इति । गौरुबन्धोऽजोऽग्निषोमीय इति । आकृतौ चोदितायां द्रव्य आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते ।' महाभा०, Vol. I., p. 344. In this view, though जाति is not the expressed sense of words, it is to be arrived at by what is called उपलक्षण, as in काकवन्तो देवदत्तगृहाः, काक is the उपलक्षण or mark of the house of Devadatta. In देवदत्तः पचति, the apposition between these two words is brought about by taking each to signify a द्रव्य. Action is subordinate; the sense of the verbal form is an object actuated by action. द्रव्य is here to be taken to mean what is capable of being grasped by the words 'this, that' ("व्याडिमते तु सर्वशब्दानां द्रव्यमर्थः । तस्यैव साक्षात्क्रियासमन्वयोपपत्तेर्वाक्यार्थोऽङ्गतया चोदनाविषयत्वात् । यथाह 'चोदनाद्य च तत्स्यारम्भात्' इति । एकजातिसमन्वयवशेन चात्र संकेतोपपत्तिः । अनभिधीयमानापि जातिरुपलक्षणीक्रियते शब्दार्थे यथा गृहादौ काकादि । आख्यातेऽपि च सा । भवनाधारद्रव्यप्राधान्यं व्याडिमते । देवदत्तः पचतीति द्रव्येणैव साक्षात् सामानाधिकरण्योपपत्तेः । क्रिया तु गुणभूतात्र । व्यापाराविष्टं हि द्रव्यमाख्यातार्थः । इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोगं चात्र द्रव्यमिति सार्वत्रिकीयं व्यवस्था ।' हेलारजा on the 3rd Kāṇḍa, 2 verse p. 7). Bhartṛhari says that even in the theory of द्रव्य being the sense of words, the properties of द्रव्य are the sense of all words. द्रव्य is said to be the sense of all words; because they are the substratum of the properties of द्रव्य—'द्रव्यधर्माः पदार्थे तु द्रव्ये सर्वार्थं उच्यते । द्रव्यधर्माश्चाद्याद् द्रव्यमतः सर्वार्थं इष्यते ॥' वाक्य० ३ । १३, p. 18. Helārāja comments upon this as under :—यावद्द्रव्येऽपि पदार्थे द्रव्यपदार्थपक्षेऽपि द्रव्यधर्माः सर्वार्थं उच्यते । कुतः । द्रव्यधर्माणामाश्रयणाद् द्रव्यमतः सर्वार्थं इष्यते । व्याप्तिरतः सिद्धा भवतीत्यर्थः । शब्देन योऽर्थ उच्यते सर्वोऽसौ द्रव्यधर्मयुक्त एवेत्यभिप्रायः ।.....। तत्र द्रव्यधर्मा इदं तदिति प्रत्यवमर्शयोग्यत्वं परिनिष्पन्नास्वातन्त्र्यं लिङ्गं संख्यायोगधेत्वेवमाद्यः ।' pp. 18-19. द्रव्य is thus defined by Bhartṛhari—

‘वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽथा भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥’

वाक्य०, 3rd Kāṇḍa, p. 141.

Helārāja's commentary explains this as under:—Pronouns are of two kinds. Some like सर्व signify all objects; while others like अन्यतर signify special objects. The former class defines द्रव्य; for द्रव्य is what is fit to be comprehended by pronouns in the form ‘this,’ ‘that’. ‘This’ signifies all near or cognizable objects, while ‘that’ signifies all distant objects known by other means of proof. Thus द्रव्य signifies all objects. Another definition of द्रव्य is भेद्यत्वेन विवक्षितोऽर्थः, that is, what is desired to be expressed as characterized by जाति and other accidental properties. Helārāja explains this as ‘सामान्यादिभिरुपाधिभिरवच्छेद्यत्वेन विशेष्यत्वेन वस्तु अभिप्रेतमित्यर्थः’ 3rd Kāṇḍa, p. 142. The commentary कान्ति is also very explicit—‘अत्र द्रव्यपदेन यो यः शब्देनोच्यते विशेष्यतया स सर्वोऽपि द्रव्यधर्मयुक्तो गृह्यते । स च कश्चिन्मुख्यतद्धर्मयुक्तः कश्चिदुपचरिततद्धर्मयुक्तः । वस्तूपलक्षणम् । इदंतदित्यादिसर्वनामपरामर्शयोग्यं वस्तु द्रव्यमित्यर्थः । लक्षणान्तरं भेद्यत्वेनेति । किञ्चिन्निरूपितविशेष्यत्वेनेत्यर्थः । विवक्षित इत्यनेन शब्दार्थमात्रस्येदं लक्षणमित्युक्तम् । एवं जात्यादेरपि विशेष्यत्वविवक्षायां द्रव्यत्वमेव ॥’

That व्यक्ति alone is the sense of words has its sanction in grammar; for as stated in the Vārtika ‘सर्वोऽण्यहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणाद्’ the use of अण् in the Sūtra ‘अणुदित् सर्वणस्य चाप्रत्ययः’ would be futile if under the theory of जाति alone being the sense of words we can get all सर्वण letters from the use of अवर्ण, इवर्ण, &c. (‘अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः’ भाष्य, Vol. I., p. 179.).

In sentences like घटमानय we see that immediately after they are pronounced, the person who is ordered (प्रयोज्य) does a certain action which pretains to the व्यक्ति and therefore it is but proper to take व्यक्ति alone to be the expressive power of words.

It may be said that this view will be open to the fault of endlessness; since there are endless व्यक्ति's. This objection is refuted by the fact that though there are endless व्यक्ति's there is only one जाति which is the उपलक्षण or mark of all व्यक्ति's as a crow of the house of Devadatta.

Another theory is द्विकं नामार्थः, that is, जाति and व्यक्ति are both the sense of words. This view is expressed in the Bhāṣhya on the सरूप Sūtra as under:—‘न आकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थिकस्य वाकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित् किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिदुपभूतम् । आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थिकस्य

द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिगुणभूता ॥.' महाभाष्य, Vol. I., p. 246. In other words, जातिविशिष्ट द्रव्य is the sense of words as Kōṇḍabhaṭṭa understands this Bhāṣhya. Others take it differently. Kānti observes :—
'अस्माच्च जातिव्यक्तयोरव्यतिरेको लभ्यते न तु विशिष्टपक्ष इति । वक्ष्यमाणमूलोक्त-
विशिष्टपक्षसाधकता नैतद्भाष्यस्येति सुधियो विभावयन्तु ।'. Ms. in the Dec.
Coll. Lib.

त्रिकं नामार्थः is another view. The त्रिक meant is जाति, व्यक्ति, and लिङ्ग. The following are the views in regard to लिङ्ग :—

The Bhāṣhyakāra discusses in his Bhāṣhya on the Sūtra 'लियाम्' ४।१।३ ॥ the meaning of लिङ्ग. He first gives the meaning of the word in popular language, viz., the characteristic marks of a male, a female, and a eunuch. He says—'यद्भोके दृष्टैतदवसायित इयं ह्ययं पुमानिदं नपुंसकमिति सा स्त्री स पुमांस्तन्नपुंसकमिति' महाभाष्य, Vol. II., p. 196. and then enumerates these marks in the following verse :—

'स्तनकेशवती स्त्री स्याद्भोमशः पुरुषः स्मृतः ।

उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥' Vol. II., p. 196.

It will not do to say that this view will not hold in grammar; for the form दारान् shows that दार is Mas.; while तटः, तटी, and तटम् shew that तट has all the genders. For, in such cases, it is possible to explain exceptional genders by आरोप, i. e., ascribing a gender which a word has not got according to the general rule 'स्तनकेशवती स्त्री स्यात्' &c. 'रात्राद्वाहाः पुंसि' and such other Sūtras mentioned by Pāṇini lend support to this view.

This view however, is not accepted by the Bhāṣhyakāra; for words signifying inanimate objects like खट्वा, दृक्ष, &c. have Masculine and Feminine genders ('खट्वादृक्षौ न सिध्यतः' भाष्य, Vol. II., p. 196.) and तट all the three genders ('तटे च सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति' भाष्य, Vol. II., p. 197.). Therefore, the conclusion is that it is impossible for grammarians to accept the popular distinction of लिङ्ग ('तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम् । अवश्यं च कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः' भाष्य, Vol. II., p. 197.). The Bhāṣhyakāra then proceeds to give his own कृतान्त or सिद्धान्त—'संस्थानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयं स्वकृतान्ततः' (भाष्य, Vol. II., p. 197.) स्त्री and पुंस are explained as 'स्थानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्' भाष्य, Vol. II., p. 198. Every object changes; it either grows and develops or decays and diminishes. When development of properties is desired to be expressed, the gender is masculine, when decay is desired to be expressed, the gender is feminine and, when neither, it is neuter. ('न हीह कश्चित् स्वस्मिन्नात्मनि शुद्धर्तमप्यवतिष्ठते ।

वर्धते वा यावदनेन वर्धितव्यमपायेन वा युज्यते । तच्चोभयं सर्वत्र । यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था । विवक्षातः । संस्त्यानविवक्षायां च प्रसवविवक्षायां पुमादुभयो-
विवक्षायां नपुंसकम् भाष्य, Vol. II., p. 198.). 'सामान्ये नपुंसकम्' means that when mere maintenance of properties (स्थितिमात्र), neither their development (उत्कर्ष) nor their decrease (अपकर्ष), is desired to be expressed, the neuter gender is used. The desire on the part of the speaker is the cause of the usage ('उपचयादीनां विवक्षैव व्यवहार-
निमित्तमिति तेषां मतम्' लघुमञ्जू, Benares Pothi Edition, p. 121.).

लिङ्ग pretains to objects (अर्थनिष्ठ); for usage in language shows this, since we have अयं पदार्थः इयं व्यक्तिरिदं वस्तु. The usage पुलिङ्गः शब्दः can be explained by attributing the property of objects to words (उपचार). Different words bearing the same sense have different genders, as पुण्यः, तारका, and नक्षत्रम् and the addition of a letter in a word changes the gender, as कुटी is fem; but कुटीरम् neu. ('एकार्थे शब्दान्यत्वाद् इष्टं लिङ्ग-
न्यत्वमवयवान्यत्वाच्च' भाष्य.) The commentary कान्ति takes लिङ्ग as अर्थनिष्ठ—"वस्तुतः अर्थनिष्ठं लिङ्गं तथा च भाष्यम्—'एकार्थे शब्दान्यत्वाद् इष्टं लिङ्गन्यत्वमवयवान्यत्वाच्च' इति । पुण्यस्तारका नक्षत्रमिति नानाशब्दत्वदर्शनालिङ्ग-
मर्थनिष्ठं कुटी कुटीर इत्यदावयवस्य रेफोपजनेऽपि लिङ्गभेददर्शनाच्चेत्यर्थः इति कैयटः । अत एव चोपक्रमभाष्ये रूपरसगन्धस्पर्शशब्दानां स्त्यानप्रसवौ लिङ्गमित्युक्तम् । न हि
रूपादयः शब्दगताः पुलिङ्गः शब्द इति तु वाच्यवाचकयोरभेदोपचाराद्". Ms. of Kānti, Dec. Coll. Lib.

Another view is that लिङ्ग pretains to words, and is therefore शब्दनिष्ठ. The objections set forth by those who hold this view are as under:—

The opposite properties of development and decrease (उपचय and अपचय) cannot reside in one and the same object; we cannot consequently explain instances like तटः, तटी, and तटम् where one and the same word admits of all genders. While those who mention that लिङ्ग is शब्दनिष्ठ can easily explain the different forms of the same word; for when the speaker desires to express the development of properties, he uses the masculine word; when he desires to express the decrease of properties, he uses the feminine form, and when he desires to express the state of equipoise (साम्यावस्था), he uses the neuter form. This is what is meant when Koṇḍabhatta says 'तमेव विरुद्धधर्ममादाय तदादिशब्दा भियन्ते,' when 'तमेव' means 'स्त्रीत्वपुंस्त्वादिरूपमेवेत्यर्थः' as Kānti explains it.

On the section लिङ्ग the following extract from शब्दकौस्तुभ is worth perusal. "नन्वचेतनानां देवतानां कथं पुंनपुंसकादिव्यवस्थेति चेत् । उच्यते । लोकप्रसिद्धमवयवसंस्थानविशेषात्मकलिङ्गं तावन्न व्याकरणेन आश्रीयते । दारा-
नित्यादौ नत्वाभावप्रसङ्गात् । तटस्तटी तटमित्यादौ यथायथं लिङ्गात् त्रितयनिबन्धन-

कार्याणामसिद्धिप्रसङ्गाच्च । किं तु पारिभाषिकमेव लिङ्गत्रयम् । तच्च केवलान्वयि । अयमर्थ इयं व्यक्तिरिदं वदति शब्दानां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्वात् । तत्र कश्चिच्छब्द एकस्मिन्नेव लिङ्गे शक्तः कश्चित् द्वयोः कश्चित् त्रिविधिति लिङ्गादुशासनादिभ्यो निर्णयम् । भाष्ये तु 'त्रियाम्' इति सूत्रे प्रकारान्तरमुक्तम् । संस्त्यान-प्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः । उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकमिति । संस्त्यानं स्त्री । सत्त्वरजस्तमोलक्षणाणां गुणानामपचयः । प्रसवौ गुणानामपचयः । स एव पुमान् । तयोरुपचयापचययोरभावे सति यदुभयोरन्तरसदृशं तन्नपुंसकम् । तथा च स्थितिमात्रं नपुंसकम् । स्त्रीपुमाननपुंसकमिति शब्दाश्च श्रुत्यादिशब्दवद् धर्मैर्धर्मिणि वर्तन्त इत्यवधेयम् ॥' pp. 436-37.

संख्या and कारक are also the additional senses of nouns, according to some.

But it may be said that लिङ्ग, संख्या, and कारक are the sense of terminations, and not of the base; for it is from terminations that लिङ्ग, संख्या, and कारक present themselves, and there is no authority for taking them to be the expressed sense of the base. This is true indeed. But since in instances like दधि, पश्य, &c. a knowledge of लिङ्ग, संख्या, and कारक arises even to those who do not know terminations, it is conceived that the expressed sense of लिङ्ग, संख्या, and कारक belongs to the base alone. Moreover, in the लिङ्गादुशासन, the base alone is described as having the expressive power. In his Laghumāñjūṣhā Nāgesa says that लिङ्ग is the sense of the प्रातिपादिक and not of the प्रत्यय; for we take it to belong to the प्रत्यय, it would be predominant; since, of the two senses, viz. that of the base and that of the termination, the sense of the latter is predominant. Moreover, from words like वाह, the knowledge of लिङ्ग arises even without a termination. Thus alone can be explained the language of the Sūtras—'स्वमोर्नपुंसकात्', 'हस्यो नपुंसके', and 'नपुंसकस्य झठचः'. In 'तस्माच्छसो नः पुंसि', पुंसि means पुलिङ्गशब्दस्य प्रकृतित्वे 'त्रियाम्' means तत्र वर्तमानात् प्रातिपदिकात्. In 'प्रातिपदिकार्थः' लिङ्ग means तत्र वर्तमानशब्द; for, if we accept the theory that लिङ्ग is the sense of the Nom. there would be no comprehension of लिङ्ग in forms like वदेन. But we do not insist upon one particular view. For the sake of succinctness it is better to take terminations to have the expressive power than the base to have it. Hari favours both the views when he says 'शोतिका वाचिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः.' लघुमञ्जूषा, Benares Pothi Edition, p. 120.

Page 125.

शब्दोऽपि यदि भेदेन &c.—

Word and sense are very intimately connected; for there is no idea in the world which is not connected with words or which can be com-

prehended without words. All knowledge appears as if pierced with, that is, closely associated with, words. When we say विष्णुबुधाय, the sense of the word विष्णु cannot be pronounced, विष्णु therefore must here be taken in the sense of the 'word विष्णु'. Word or शब्द is therefore the sixth sense of a प्रातिपदिक. अनुकरण means imitation and अनुकार्य that which is capable of being imitated. When the words of imitation and that of which they are the imitation are desired to be described as different, then शब्द is also the sense of a प्रातिपदिक. When they are not desired to be described as different, then, since words of imitation present themselves through the ear &c., the word comes up along with its sense. Hence, when अनुकार्य and अनुकरण are desired to be expressed as identical, words of imitation like गो in गवित्याह and भू in भू सत्तायाम् are neither प्रातिपदिक, for they have no meaning, nor पद; but still they are considered as correct forms.

There are two readings अर्थेऽवभासते and अर्थे व भासते. The first may be construed thus:—अर्थेऽवभासमाने शब्दोऽवभासते; or अर्थे व इवेत्यर्थः अवभासते, अर्थेवद् भासत इति यावत्. While the second means अर्थे इव भासते, व being equal to इव.

On this portion the following extract from the commentary वैयाकरण-मताममजनटीका, by वनमालिमिश्र is worth reading:—

‘एतदुक्तं भवति । अनुकरणे द्विनयी गतिः । अनुकार्यः शब्दो भिन्नः अनुकरण-
श्रानुकार्येणार्थवानिति अनुकार्यानुकरणयोरभेद इति वा । आयायामनुकरणाद्विभक्ति-
श्रवणम् । द्वितीयायां तु न । एकैव च सा शब्दव्यक्तिः साधिवति ।’ Ms. in the
Alwar Lib.

Page 134.

सुपां सुपा &c.—

The varieties of compounds described in this couplet are arrived at in the Bhāṣya from the Sūtra ‘सह सुपा’ २।१।४॥ by what is known as the योगविभाग process, that is, splitting up the Sūtra into two Sūtras सह and सुपा, of which the first सह is explained as ‘समर्थेन सह सुप् सुबन्तं समस्यते’, while the second as ‘सुपा च सह सुप् समस्यते’. The reason why the योगविभाग is resorted to is that सह used in the Sūtra ‘सह सुपा’ is not required. The Vārtikakāra tries to explain its propriety by giving the Vārtika—‘सहवचनं पृथगसमासार्थम्’. It means that the use of सह in the Sūtra shows that the term समास is not applicable to members of compounds; for, if it were applicable, we cannot have कृत्पादः. The word कृत् being at the end of a compound, it must take the समासान्त प्रत्यय by the Sūtra ‘कृत्पुरण्यः’ ६।४।७४॥

Similarly, in राजाश्च also, the words राज and अश्च being both compounds, both must have their final vowel, उदात्त, by the Sūtra 'समासस्य' ६।१।२२३॥. The sense of a sentence applies sometimes individually and sometimes collectively. In the Sūtras 'अदेह् गुणः' and 'वृद्धिरादैच्', the terms गुणः and वृद्धिः apply separately, that is, अत् and एह् are both called Guna, and आत् and ऐच् both Vṛiddhi. While in the sentence 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्', the fine is not imposed upon each of the Gargas separately, but upon the whole family collectively. Now, just as the Guna and the Vṛiddhi terms apply individually in the Sūtras as shown above without the use of प्रत्येकम्, so in this Sūtra the term compound would apply to the whole word and not to different members without the use of सह. The word सह is thus useless and to make it serve some purpose the Bhāṣyakāra says that it is given that we might resort to योगविभाग ('एवं तर्हि सिद्धे सति यत् सहग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनं योगाङ्गं यथा विज्ञायेत । सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते' भाष्य, Vol. I., p. 378).

The Bhāṣyakāra further on says that the Sūtra by its being split up into two should be regarded both as लक्षण and अधिकार. That is to say, compounds which cannot come under any of the recognized classes—अव्ययीभाव, द्वन्द्व, तत्पुरुष, and बहुव्रीहि—must be formed by the Sūtra 'सह सुपा' and known as सुप्सुप्तमास ('अधिकारश्च लक्षणं च । यस्य समासस्यान्यलक्षणं नास्तीदं तस्य लक्षणं भविष्यति ।' भाष्य, Vol. I., p. 378). Bhattoji Dikshita says precisely the same thing in his S'abdakaustubha—'येषां विशिष्य लक्षणं नास्ति ते समासाः सह सुपेत्याभ्यां सिध्यन्तीति स्थितम् ।' p. 507.

Page 135.

'अर्धं नपुंसकम्'—

This Sūtra is rejected by the Bhāṣyakāra in his Bhāṣhya on 'पर-वलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६॥. The compound अर्धपिप्पली is taken as a कर्मेधारय or समानाधिकरण compound ('कर्धमर्धपिप्पलीति । समानाधिकरण-समासो भविष्यति । अर्धं च सा पिप्पली चार्धपिप्पलीति' भाष्य, Vol. I., p. 479). But can there be सामानाधिकरण्य or apposition between अर्ध, a part, and पिप्पली, the whole? This objection is answered by the maxim that words which signify the whole may be used in the sense of parts also (समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्त इति न्यायात्). Moreover, when अर्ध means only a part, not the exact half, we have to take the compound as कर्मधारय, as in 'अर्धाहारः', 'अर्धहारः', 'अर्धजरतीयम्', 'अर्धवैशसम्', 'अर्धोक्तम्' &c. Nor will it do to say that the Sūtra 'अर्धं नपुंसकम्' is

given to prevent **पथीतत्पुरुष** in instances in which **अर्ध** means exact half; for the Bhāṣyakāra allows **पथीसमास** also with **अर्ध** in the sense of the exact half. He gives **अपूर्पार्धम्** and **ग्रामार्धम्** as instances ('इष्यते च पथीसमासोऽपि । तद्यथा । अपूर्पार्धं मया भक्षितम् । ग्रामार्धं मया दत्तमिति । भाष्य, Vol. I., p. 479). Kālidāsa has used such a compound in 'प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य'.

Some say that the fact that the word **अर्ध** is to be taken in the neuter gender—having been expressed by the use of the word **अर्धम्** in the neuter gender in the Sūtra, the word **नपुंसकम्** in the Sūtra is useless; and in order that it may not be useless it must be taken as a **ज्ञापक** that in the language of the Sūtras, the gender of the forms used has no particular meaning and thus the Sūtra '**तस्येदम्**' is to be applied to words of all genders and not of the Mas. gender only. ('अर्धमिति निर्देशादेव सिद्धं नपुंसकलिङ्गे सूत्रे लिङ्गनिर्देशो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं तेन 'तस्येदम्' इति लिङ्गत्रयेऽपि भवति।' शब्दको० p. 630). But as shown above, the Sūtra '**अर्धं नपुंसकम्**' is itself rejected by the Bhāṣyakāra who takes all **एकदेशी** compounds like **पूर्वकायः**, **अर्धपिप्पली**, &c. to be **कर्मधारय** compounds. Moreover, **अर्ध** in the sense of the exact half is not always used in the neuter gender; for, the Bhāṣyakāra himself uses it in the Mas. gender in his Bhāṣhya on 'एच इन्द्रादिदेशे' १।१।४८॥—'नैव लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्धं एकारोऽर्धं ओकारो वास्ति।' भाष्य, Vol. I., p. 117.

Page 139.

घटकुम्भौ कुम्भकुम्भौ &c.—

These two verses are quoted from the S'abdakaustubha on the Sūtra '**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**' and show that the Sūtra is given by Pāṇini to prevent three undesirable results. We know that sometimes words have more than one sense as **हरिणी** meaning (1) a roe, and (2) a green-lady and that sometimes one and the same sense is conveyed by different words as the sense of jar is conveyed both by **घट** and **कलश**. Now there is this view—(1) when a word is heard once, it has one sense (**सकृच्छ्रुतात् सकृदर्थप्रत्ययः**), and though when a word is repeated, it may have many senses; yet there is no restriction that the many senses that a word may have must always be expressed by repeating it. According to this view **हरिण्यौ** can express the sense of two roes or two green coloured ladies; it cannot signify a roe and a green-coloured lady. But the **एकशेष** in such a case is allowed and we have '**वासो न सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन्**' used by the S'rī Harsha. ('सकृच्छ्रुतात् सकृदर्थप्रत्यय इति मते शब्दसारूप्येऽपि द्वन्द्वः स्यात् । अथापि तन्त्रेणानेकार्थताम्युपगम्यते

एवमपि सर्वत्र तन्त्रेणैव बोधनीयमिति नियमाभावात् पाक्षिको द्वन्द्वो दुर्वारः शब्दकौ० p. 427) Thus in the absence of the Sûtra 'सरूपाणाम्' we must have recourse to alternative Dvānda in cases like घटश्च कुम्भश्च घटकुम्भौ and घटश्च घटवदौ. Similarly, we should have माता (जननी) च माता (धान्यमापशिषः) च मातृमातरौ. To prevent these three undesirable results the Sûtra 'सरूपाणाम्' is given. The Vārtikakara seems to take सरूपाणम् to mean समानरूपाणाम् and prevents Dvānda in cases like घटकुम्भौ where words having different forms have the same sense by the Vārtika 'विरूपाणानपि समानार्थानाम्'. But रूप in सरूपाणाम् in the Sûtra can be taken in the sense of 'form' and 'sense'. 'समानं रूपं स्वरूपं येषां ते सरूपाः। रूप्यते बोधयत इति रूपमर्थः समानं रूपमर्थो येषां ते सरूपाः। सरूपाश्च सरूपाश्च तेषां मित्येकशेषेण सरूपाणाम्'। शब्दकौ०, p. 428. It might be objected that to arrive at the form सरूपाणाम् in this double sense we have to resort to the very Sûtra 'सरूपाणाम्' and that it is not proper to apply the Sûtra to its own words ('न च साङ्गे स्वव्यापारयोगः वाक्यगणितसमाप्तिन्यायादिति वच्यम्' शब्दकौ० p. 428). The objection is not valid; for the Vārtikakara has applied his own Vārtika to मातृमात्रेः in 'मातृपदि हानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधः सरूपवात्' महाभाष्य, Vol. I., p. 236. The sense of this Vārtika is also arrived at from the Sûtra itself by supplying एव from the next Sûtra and understanding the Sûtra to mean 'one only is left out of the forms which are necessarily the same in the same case'. The word मातृ has two forms in the same case मातरौ (mothers) and मातरौ (measures). The Sûtra does not therefore apply to it. ('सूत्रमते तूत्तमसूत्रादेवकारोऽत्रातुकृष्यते। तेन एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येवेति व्याख्यानात् परिच्छेदनुवाचिनश्च 'अपठन्' इति सर्वनामस्थाने दीर्घविधानादसारूप्यादेकशेषाभावः' शब्दकौ०, p. 429).

Page 140.

जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे &c.—

In the Bhāṣya on the Sātra 'समर्थः पदविधिः' various views are set forth; but they all end in two views एकार्थीभाव and व्यपेक्षा or what is otherwise known as जहत्स्वार्था वृत्ति and अजहत्स्वार्था वृत्ति. समर्थ is first explained as पृथगर्थानां पदानामेकार्थीभावः. Now padas or grammatical terms bring out one meaning in a compound and have different senses in a sentence. Now it might be said that when one hears राजः पुरुष आनीयताम्, he does the same thing, viz., bringing a king's servant that he does when he hears राजपुरुष आनीयताम्. What then is the विशेष or difference between a sentence and a compound? The answer is:—'सुबलेषो व्यवधानं यथेष्टमन्तरेणाभिसंबन्धः स्वरसंख्याविशेषो व्यक्ताभिधानरूपसर्जनविशेषणं चयोगवा-

वचनानर्थक्यं च स्वभावमिद्वयत्' महाभाष्य, Vol I., pp. 362-64.—(1) In a sentence the case-terminations are not dropped as in a compound, e. g. राज्ञः पुरुषः, राजपुरुषः; (2) In a sentence two such words may have a third word intervening, e. g. राज इन्द्रस्य पुरुषः, but राजपुरुषः; (3) The words may be used in any order in a sentence, राज्ञः पुरुषः, and पुरुषो राज्ञः, but राजपुरुषः only; (4) A compound has a different स्वर. But it may be objected that these differences are the results of Pāṇini's own Sūtras, not of the oneness of sense (एकार्थ्यभावः); for Pāṇini gives the Sūtras 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः', 'उपसर्जनं पूर्वम्', and 'समासस्य'. Then other points of difference are mentioned—(1) Difference in number; e. g. राज्ञः पुरुषः, राज्ञोः पुरुषः, and राज्ञां पुरुषः; but in a compound, राजपुरुषः. (2) The clearness of sense in a sentence. The sense is not clear in a compound; e. g. ब्राह्मणस्य कम्बलस्तिष्ठति; in ब्राह्मणकम्बलस्तिष्ठति, however a doubt arises as to whether ब्राह्मण is in the vocative case or a part of the compound and therefore in the genitive case. But it might be retorted that sometimes what is indistinct in a sentence is distinct in a compound. As in अर्धं पक्षो देवदत्तस्य a doubt arises as to whether, half of the beastly Devadatta is meant or half of the beast of Devadatta; while there is no such doubt in the compound अर्धपशुदेवदत्तस्य; (3) In a sentence a subordinate word may have a qualifying adjective; but no such adjective can be used in a compound; e. g. क्रुद्धस्य राज्ञः पुरुषः, but राजपुरुषः only. It might be retorted that a subordinate word may have a qualifying adjective even in a compound; as in देवदत्तस्य गुरुकुलम्; देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्या. (4) च is used in a sentence, not in a compound; e. g. राज्ञो गौश्वानश्च पुरुषश्च (Here we have स्वचयोग or words signifying belongings connected by च) but in a compound, राज्ञो गवाश्चपुरुषाः; and देवदत्तस्य च यज्ञदत्तस्य च विष्णुमित्रस्य च गौः (We have स्वामिचयोग here, i. e., words implying owners connected by च), but in a compound, देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राणां गौः.

But a question here arises as to whether in this difference brought about by the oneness of sense, the signification of sense by words is natural or expressed by the Sūtras. One might say that it is natural; for the senses are not expressed by the Sūtras. But how do you say that the senses are not expressed by the Sūtras, for Pāṇini himself expresses it by his Sūtras—'अनेकमन्यपदार्थः', 'चाथे द्वन्द्वः', 'रक्ते', 'निर्दिष्टे', &c. The answer is that this is a mere repetition of sense when occasion has come, of words which are naturally used in these senses; as when we say कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः, अक्षे चन्द्रमसं पश्य, the way and the

moon are there naturally and we simply repeat the fact when there is occasion for it ('स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वे-
नान्वख्यानं क्रियते' महाभाष्य, Vol. I. p. 362).

But why are senses not taught? For conciseness. For one can express the sense of a word by another word, of that word by a third word, of that by the fourth, and so on, ad infinitum. There would thus be अवस्था. Moreover, it is impossible to express the sense of roots, crude forms, terminations, and Nipātas. There are many words of which the sense is conveyed by the twinkling of the eye, movement of arms, &c. without the use of words. There is, moreover, no object in repeating the sense that is already known; for what useful object does that man serve who says the Sun rises in the east and sets in the west, and molasses is sweet, &c. Vide the Mahābhishya, Vol. I., p. 363.

To say that a compound is optional has no meaning; for we have either वृत्ति or no वृत्ति, a compound or a sentence. Now in the case of a compound, it takes place necessarily, what is there then the sense of वा? It can only make the designation of the compound optional but this is not desired by the Bhāṣyakāra ('न च संज्ञाया भावाभावौ इत्येते' महाभाष्य, Vol. I., p. 364).

Now what does वृत्ति mean? It means परार्थाभिधान, that is, विशिष्टार्थाभिधान, expressing a compound sense. Is it जहत्स्वार्था or अजहत्स्वार्था? If it is जहत्स्वार्था, that is, if the component parts give up their sense, when we say राजपुरुषमानय, any person (whether belonging to a king or not) may be brought, and similarly when we say औपगवमानय, any child may be brought, not a descendant of उपगु. If, on the other hand, we take the वृत्ति to be अजहत्स्वार्था, as both the component words have a sense in this complex formation, we should use the dual number. Now which of the two वृत्ति's is just? जहत्स्वार्था is just; for we see in worldly life that a man engaged in another's work gives up his own work. A carpenter, for instance, engaged in his king's work, leaves off his own. It is similarly proper that the word राजन् being subservient to the word पुरुष should give up its own sense. But it has been said that when we say राजपुरुषमानय and औपगवमानय it might convey the sense of bringing any person and any child. No. The objection is not valid; for though the words राजन् and उपगु give up their sense, they do not give it up completely. They give up only that much of their sense that is antagonistic to the sense of other words; just as a carpenter engaged in the service of the king, gives up his own work of carpentry,

but not laughing, scratching, and hiccupping. The words राजन् and ज्वयु are attributes of पुरुष and अपत्य and being an attribute is not antagonistic to their own sense. They do not therefore give it up. Or the word समर्थ may be supplied before वृत्ति सामर्थ्य is either भेद or संसर्ग. When we say राज्ञः all belongings are likely to be implied and when we say पुरुषः, all lords are likely to be implied. But, when we say राजपुरुषः, the word राजन् turns away पुरुष from all other lords, and the word पुरुष also turns away the king from all other belongings. What comes to is this that the king alone is the lord of the man and the man alone is the king's belonging that is meant. Thus the sense of राजपुरुषमानय will not be that any person will be brought.

Or the वृत्ति may be taken as अजहत्स्वार्थः. It is proper that it should be so; for in practical life we see that when a beggar secures alms a second time, he does not give up what he secured at first. On the contrary, he sets about hoarding up alms. But, if both the words in a complex formation have a meaning, the dual number would be used. Of what case? Of the Nom. No. If we use Nom. Du., it would not show relation. The relation of principal and subordinate that subsists between राजन् and पुरुष would not be conveyed at all. Then the Dual of the Gen. should be used. No. In that case both the words being on equal plane, they should imply relation with another word. We say that the Nom. Du. should be used. But an objection has been set forth before. No It is not valid. Here the relation expressed has been comprised and has therefore become the sense of प्रातिपदिक. The fact is that in some cases the sense, though expressed, is not comprised anywhere as in राज्ञः ('कश्चिदर्थोऽभिहितोऽपि नान्तर्भूतः यथा राज्ञ इति षष्त्वा संबन्धोऽभिहितो न कुत्रचिदन्तर्भावः यानः' कैयट, Benares Pothi Edition, p. 314, on the Bhāṣya on 'समर्थः पदविधिः') in other cases, the sense, though comprised, is not expressed, as in राजसखाः. Here, though the sense राजा सखा अस्य सः is comprised, it is not expressed ('कश्चिदन्तर्भूतोऽपि नाभिहितः यथा राजसखा इति तत्पुरुषे राजा सखास्येत्यर्थोऽन्तर्भवति न त्वभिधीयते' कैयट, p. 314). In other cases, again, the sense is comprised and expressed both, but is not the sense of प्रातिपदिक, as in पचति. Here the sense of the agent though desired to be expressed, is comprised within, being subordinate to that of action. This is not however that of प्रातिपदिक ('तथा कश्चिदर्थोऽभिहितोऽन्तर्भूतः यथा पचतीति कर्ताभिधीयमानो गुणभावादन्तर्भूतो न त्वसौ प्रातिपदिकार्थः' कैयट, p. 316). But in राज्ञः पुरुषः, the sense of relation (संबन्ध) is expressed, but comprised, and has therefore become the sense of प्रातिपदिक. Thus Nom. Du. should be used according to rules. To

prevent this undesirable state of things the Vārtika 'संघातस्यैकार्थ्याभाव-यवसंख्यातः स्रष्टृत्पत्तिः' is given. The combination of words conveys singularity, therefore case-terminations will not be used from the number signified by the component parts.

Some are of opinion that सामर्थ्य in the Sūtra 'समर्थः पदविधिः' means mutual expectancy (परस्परव्यपेक्षा). But, what is the mutual expectancy of words? We do not mean mutual expectancy of words, but of sense. When we say राज्ञः पुरुषः, what is implied is that the king expects the man that he is his, and the man expects the king that he himself is his (of the king). This relation between the two words is signified by the genitive.

But how can the word सामर्थ्य imply both एकार्थीभाव and व्यपेक्षा? It can imply both. It may be taken to mean united by explaining it as संगतार्थः समर्थः or संसृष्टार्थः समर्थः. संगतं वृत्तम् or तैलम् means एकीभूतम्; and संसृष्टः अग्निः means एकीभूतः. It may again be taken to mean having mutual expectancy by explaining it as संश्लेषितार्थः समर्थः or संबन्धार्थः समर्थः, Vide the Mahābhāṣya, B. S. S., Vol. I., pp 364-65.

The difference between the two Vrittis is that in जट्टस्वार्था वृत्ति in राजपुरुषः, for instance, by the power of the compound it is possible to arrive at the comprehension of a man qualified by a king, and it is not therefore fit to conceive that the words राजन् and पुरुष again express the same sense; just as in वृषभ, the whole word has expressive power and not the part वृष. Otherwise, that is, if the component members of a compound have the power of expressing their sense, just as in the uncompounded words राज्ञः पुरुषः the word राजन् presents itself independently and we can consequently say ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः, so when the words are compounded, then also we would be justified in saying ऋद्धस्य राजपुरुषः.

What अजट्टवृत्ति implies is this. Compounds like राजपुरुष have no separate expressive power; for there is no reason which makes us conceive it. The meaning is that each member of the compound has expressive power and it is not necessary to assume the compound to have an additional expressive power; for there is no reason to assume it. Nor can it be argued that the reason why we assume the compound to have a special expressive power is that it gives us a knowledge of the relations of the first member like राजन् in राजपुरुष to the second; for when the coming out of the sense from words like राजन् in which the expressive power is conceived is possible, the conception would be

fraught with the fault of prolixity (गौरव). Moreover, the abandonment in a compound of the power which subsists in words before they are compounded would be unauthoritative. Therefore, the compound sense arises from the expressive power which has already been conceived in words from the force of expectancy &c. This very view is called by the Bhāṣyakāra as the theory of व्यपेक्षा. For the Bhāṣyakāra says 'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके इच्छन्ति.' An objection should not be raised that in this view an adjective like कदस्य might be used, having its grammatical connection with a member of a compound like राजपुरुषः, the meaning being कदस्य राजः पुरुषः; for to prevent such a combination of words as कदस्य राजपुरुषः, we have the Vārtika सविशेषणानां वृत्तिर्न. It might be said that the Bhāṣyakāra has rejected the Vārtika and solved the question of the propriety or otherwise of such combinations as कदस्य राजपुरुषः, देवदत्तस्य गुरुकुलम् &c. by the गमकत्व of sense. In other words, if the sense is clear, the compound is allowed, otherwise not. It is on this authority that Mallinātha justifies compounds like श्रुतदेहविसर्जनः पितुः. To those who favour the व्यपेक्षा or अजहत्स्वार्था वृत्ति view, words like पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः &c. are not impossible to explain; for they are open to अव्याप्ति and अतिव्याप्ति, they are not open to असंभव.

Both the Vṛttis are of these kinds on account of the three sorts of the वाच्य sense. Thus in राजपुरुषः, one expressed sense is अराजकीय-भिन्नः पुरुषः or राजभिन्नासंबन्धी पुरुषः. If भेद were not included in the expressed sense, राजपुरुषो देवदत्तस्य च would be correct just as राजपुरुषः सुन्दरः is correct. Another view is that राजपुरुषः first conveys the sense of राजसंबन्धवान् पुरुषः and that the sense of भेद arises afterwards. Therefore, संसर्ग must be included in the expressed sense. As both the senses are equally justifiable and there is no विनिगमना or argument inclining us to one view rather than to the other, and as one who has no lord is also राजभिन्नासंबन्धी (having no connection with one who is different from a king), and would be liable to be called राजपुरुषः, the expressed sense is taken to be both भेद and संसर्ग, so that राजपुरुषः means both अराजकीयभिन्नः and राजसंबन्धवान्.

Page 157.

समासे खलु भिन्नेव शक्तिः—

Of the two views—the एकार्थीवाद and the व्यपेक्षावाद, i. e., the compound having one sense and a separate expressive power for it and the mutual expectancy view—the view that each word in a compound has an

expressive power and the compound has no separate expressive power—of these two views, the **एकार्थीवाद**, the one-sense view is the correct view, since it is approved by the Bhāṣyakāra. The compound and other complex formations, must be taken to have a separate expressive power like the word **पङ्कज**. The word **समास** in the Kārikā means **वृत्ति** which is of five kinds—**कृतद्धितसमासैकशेषसनायन्तो वातवो वृत्तिः**. It is a complex formation including (1) a word ending in a kṛit suffix, (2) a word ending in a Taddhita suffix, (3) a compound, (4) Ekas'esha, and (5) Secondary roots like the desiderative, the frequentative, &c. Just as in the case of the word **पङ्कज**, we must resort to **समुदायशक्ति** or **रुदि** to bring out the sense of a lotus; for we cannot arrive at it by **योग** or **अवयवशक्ति** (**पङ्के जायते इति पङ्कजम्**. By **योग** or etymological case, whatever grows in mud would be called **पङ्कज**, **रुदि** or a separate expressive power for the whole word is therefore necessary to imply the sense of a lotus); so the compound and other complex formations must be taken to have a separate expressive power. Similarly, the word **रथकार** must also be taken to have a **समुदायशक्ति** and to imply by it a man of mixed lineage (**'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' याज्ञवल्क्य**). The study of the Vedas is not prescribed to such a one. The keeping of a sacred fire is therefore forbidden to such a man and **'वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीत'** would thus be meaningless. In order that it may not be meaningless the Mīmāṃsakas say that the study of the Vedas must be prescribed to **रथकार**. Now if the word **रथकार** be taken to mean one who makes a chariot, by the **योग** or **अवयवशक्ति** attaching to the word, it might imply a Brahmin also and the Mīmāṃsaka Siddhānta—that the study of the Vedas which is **अपूर्व** or not prescribed by the S'āstras to **रथकार** (An offspring of a mixed lineage) is to be assumed—would be wrong. **"आधाने श्रूयते 'वर्षासु रथकार आदधीत' इति । तत्र रथं करोतीति व्युत्पत्त्या त्रैवर्णिको रथकार इति चेन्मैवम् । संकीर्णजातिविशेषे रुदत्वात् । वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्यः । शूद्रायां वैश्यादुत्पन्ना करणी । तस्यां करण्यां माहिष्यादुत्पन्नो रथकारः ।.....तस्य च रथकारस्याधानकालो वर्षर्तुः ॥" जैमि० न्या० वि०, p. 310.**

Moreover, the **एकार्थीभाव** view is resorted to, because if the other view, viz. the mutual expectancy view or **व्यपेक्षावाद**, were accepted, there would be **गौरव** or prolixity; for rules will have to be given for the non-connection of adjectives, gender, number, &c. to members of complex formations, words like **राजन्** in **राजपुरुषः**. If complex formations are not accepted to have a separate expressive power, as an adjective **ऋदस्य** is used in **ऋदस्य राजः पुरुषः**, so would it be used in complex formations.

also and we would be justified in saying कदस्य राक्षपुरुषः. Again, if the व्यपेक्षावाद is accepted, विभाषा or option must be taught to prevent the invariable use of compounds. The use of a sentence is known and a compound taught under such circumstances would prevent necessarily the use of a sentence (‘अवश्यं वाक्यप्रयोगे प्राप्ते आरभ्यमाणः समासो नित्यं वाक्यनिवर्तकः स्यात्’). In the एकार्थीभाव view, the अधिकारसूत्र ‘विभाषा’ need not be given; for where one sense is to be implied, a compound would be used and when व्यपेक्षा or mutual expectancy of words is implied, a sentence will be used. A compound and a sentence have each a separate scope and a compound would not thus forbid the use of a sentence. Similarly, the use of वा is not necessary in ‘समर्थानां प्रथमाद्वा’ and in desiderative formation. Hence it is that the Bhāṣhyakāra says ‘वावचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्.’ When we mean to express व्यपेक्षा, we use a sentence and when we mean to imply एकार्थीभाव or one sense, we use a compound. Nor would it be necessary to say ‘सविशेषणानां वृत्तिर्न’; for when the expressive power belongs to a whole complex formation, adjectives can have no syntactical connection with a part of the word. It is therefore that the Bhāṣhyakāra having made an exposition of the व्यपेक्षावाद mentions the defects attaching to it—‘अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः’ &c.

The वैयाकरणमतोन्मज्जन commentary by वनमालिभिः is short and very clear:—“समासे इति वृत्तिमात्रोपलक्षणम् । पराभिमतं इष्टान्तमाह—पङ्कजशब्दवदिति । पङ्कजशब्दस्य यथा पत्रे शक्तिर्न तु लक्षणा नियतोपस्थिते तथा न्यायसाम्याद्बहुव्रीह्यादेरप्यन्यपदार्थादौ शक्तिरस्त्विति भावः । अतिरिक्तशक्त्यनभ्युपगमे गौरवमित्याह—बहुनामिति । यद्यतिरिक्ता शक्तिर्नोरीक्रियते तदा बहुना वृत्तिधर्माणां वचनैः साधने गौरवम् । तथा च वार्तिकं समर्थसूत्रे ‘सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न’ इति न्यायसिद्धोऽर्थो वार्तिककारैरुपनिबद्ध इति तत्रैव सूत्रे महाभाष्यम्—‘अथैतस्मिन् व्यपेक्षायां सामर्थ्ये योऽसावेकार्थीभावकृतो विशेषः स वक्तव्यः’ इति । एतद्भाष्यस्य केयटः—‘यदि वृत्तावेकार्थीभावो नाभ्युपगम्यते तदा वाक्यवत् संख्याविशेषोपसर्जनविशेषणादीनां प्रसङ्गात् तदभावो वचनेन प्रतिपाद्यः । वावचनं च कर्तव्यं समानार्थस्य वाक्यस्य निवृत्त्यर्थम् &c.’”

The word अर्थे used in the Sūtra ‘इदौ च सप्तम्यर्थे’ is an indicatory sign (लिङ्ग) for proving that a compound has a separate expressive power—“‘इदौ च सप्तम्यर्थे’ इति सूत्रेऽर्थग्रहणं चातिरिक्तशक्तिसाधने लिङ्गम्” वैयाक० मतो०. On this Sūtra there is a Vārtika ‘मा वा पूर्वपदस्य भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम् ।’ वाप्यामश्रः वाप्यश्रः and नद्यामातिर्नद्यातिः are given as counter instances. On this Vārtika the Bhāṣhyakāra raises a doubt ‘अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति’ The solution of this doubt

is जहत्स्वार्थां वृत्तिरिति. On this Bhâshya the Pradîpa is very clear:—
 ‘समासस्यैवार्थवत्त्वात् पूर्वोत्तरपदयोर्वर्णवदानर्थक्यात् सप्तम्यर्थोऽत्र नास्तीत्यर्थः’.
 Thus according to the one-sense view (एकार्थीभावपक्ष) which is the
 Siddhânti-view, members of a complex formation have no sense, the
 whole formation alone has a sense. The Bhâshyakâra further on says
 that even if the other view—the अजहत्स्वार्थां वृत्तिः view—be taken, there
 is no fault; for there also the compound expresses a sense, or there is a
 collective sense—‘अजहत्स्वार्थायां च न दोषः । समुदायार्थोऽभिधीयते.’ The
 Kaiyâṭa on this is very good. It states that the first member of a
 compound expresses its own sense and that of the whole word, which is
 the predominant sense. It thus expresses the predominant sense com-
 bined with its own sense. Just as when water is mixed with dirt, the
 combination alone becomes the subject of cognition and not its com-
 ponent elements, so in a complex formation the collective sense is ex-
 pressed in a mixed form, i. e., in such a form that the sense of each
 member is mixed with it—‘वृत्तौ हि पूर्वपदं स्वार्थमप्यभिधत्ते प्रधानार्थमपीति
 स्वार्थसंसृष्टस्य प्रधानार्थस्याभिधानात् पांसदकवत् स्वार्थस्य विवेकानवगमात् समु-
 दायार्थो वृत्तौ संसृष्टरूपेणाभिधीयते ।’ That, however, the one-sense view
 is the correct view according to the Bhâshyakâra is distinctly said by
 Bhattoji Dikshita in his S’abdakaustubha—“यद्यपि वाक्यवत् समासेऽपि
 (In वाक्यः) लुप्तसप्तमीबलेनाधिकरणमात्रबोधः पश्चाद्वाक्यार्थतया संसृष्टबोध
 इति वक्तुं शक्यते तथापि सिद्धान्ते तावत् ‘समर्थः पदविक्रिः’ इति परिभाषादुरोधात्
 समासस्थले एकार्थीभाव एव सामर्थ्यं न तु व्यपेक्षा । अत एव उपसर्जने वि-
 शेषणान्वयो न भवति शक्यैकदेशत्वादिति द्वितीये वक्ष्यते ॥” Kaustubha, Bena-
 res Edition, p. 177.

Page 168.

चकारादिनिषेधोऽथ बहुव्युत्पत्तिभञ्जनम्—

The prolixity (गौरव) mentioned in the last Kârîkâ as attaching to
 the mutual expectancy view (व्यपेक्षावाद) is illustrated further on in
 this Kârîkâ and other faults respecting the view are also given in it.
 चकारादिनिषेधः is equal to चकारनिषेधादिः. In a Dvanda compound धव-
 खदिरौ, च is not used, though it has to be used, in the dissolution of
 the compound धवश्च खदिरश्च धवखदिरौ. In the mutual expectancy view
 the negation of the use of च in a compound will have to be expressed
 by a rule. Similarly, the negation of the use of इव in वनदयामः, क्रान्तः
 in निष्कौशाम्बिः, युक्तः in गौरथः, &c. will have to be taught. Moreover,
 there will be a great breach of proper interpretation or exposition
 (व्युत्पत्ति). For instance in Bahuvrîhi compounds like चित्रगुः, the

idea of another object, viz. of a master, is clear to all, but it will not come out according to the व्यपेक्षावाद. It will not do to resort to लक्षणा and say that the desired sense of the lord will come out by लक्षणा; for लक्षणा will not do in cases like प्राप्तोदको ग्रामः. Here प्राप्त is subjective in sense and means प्राप्तिकर्तृ, i. e., that which has obtained. Between an adjective and a noun qualified by it, there is अभेदान्वय, i. e. a syntactical connection of identity. Thus the sense of प्राप्तोदक is प्राप्तिकर्त्रभिन्न-उदकम्. If लक्षणा is now resorted to and the sense taken to be प्राप्तिकर्त्रभिन्नोदकसंबन्धी, even then the sense of the village being the object of the action of प्राप्ति of which the agent is water will not be arrived at, and thus there will be व्युत्पत्तिभङ्ग, i. e., no proper व्युत्पत्ति or exposition of sense. If प्राप्त which is subjective in sense in प्राप्तोदको ग्रामः were taken to be objective in sense by resorting to लक्षणा वृत्ति, then, because of the rule नामार्थयोरभेदान्वयः, that is, the syntactical connection of two crude forms in the same case (समानाधिकरणप्राप्तिपदिकार्थयोरभेदान्वयः) is by identity, the sense of प्राप्तोदकः would be प्राप्तिकर्माभिन्नउदकम्. If, finally, it be alleged that the expressed sense is उदकाभिन्नकर्तृका प्राप्ति-obtainment by the agent, water-and that by लक्षणा, the sense arrived at is उदकाभिन्नकर्तृकप्राप्तिसंबन्धी (ग्रामः), this too is not proper. For प्राप्ति or obtainment being the sense of a root, it cannot stand as a विशेष्य on predominant word to कर्तृ or agent which is the sense of the affix त in प्राप्त; for of the two senses, viz., that of the base and that of the affix, the sense of the affix is predominant (प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्). Moreover, if प्राप्ति were the predominant word in the explanation of the word प्राप्त, then it itself becomes नामार्थ and must be connected with उदक by identity (नामार्थयोरभेदान्वयः). But there can be no sense of identity between प्राप्ति and उदक. Similarly, according to the व्यपेक्षावाद, there will be no proper exposition of sense in compounds like ऊदरथः, उपहत-पशुः, &c. When, according to the एकार्थीभाववाद or the one-sense theory, we take a separate expressive power attaching to a complex formation, there will be no difficulty; for as घट means घटत्वविशिष्ट, so प्राप्तोदकः (ग्रामः) would mean उदककर्तृकप्राप्तिकर्मत्वविशिष्टः.

Page 176.

अपष्टयर्थबहुव्रीहौ—

In Bahuvrīhi compounds like चित्रगुः a separate expressive power belonging to the whole compound is quite necessary to bring out the sense of another object (अन्यपदार्थ) like स्वामी in the case of चित्रगु. It will not do to say that the same purpose will be served by लक्षणा and there-

fore it is not necessary that complex formations should have a separate expressive power. For in चित्रगुः, we cannot take लक्षणा on the word चित्र and say that by the force of this power it means चित्रस्वामी. Because if चित्र means the lord of what is diversified, it cannot bring out the sense of a diversified cow; it would bring out the sense of a lord, a cow on account of the rule that the sense of one word is to be construed with the sense of another word, not with a part of the sense of the word (पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन). चित्रस्वामी is according to your view, the sense of चित्र by लक्षणा, and गौः is the sense of गो. चित्रस्वामी then must be construed with गौः. You cannot construe the sense of चित्र which is not पदार्थ, but पदार्थैकदेश with गौः, another पदार्थ. It is similarly wrong to take लक्षणा on गो and understand it to mean गोस्वामी; for then the sense of चित्रगुः would be that the lord of cows is diversified—गोस्वामी चित्रः. Nor will it do to say that after having understood the syntactical connection of the senses, placed before our mind by the expressive power of चित्र and गो, we then take लक्षणा on चित्र, or on गो, or on both and thus understand the word to mean a lord of diversified cows (विशिष्टस्वार्थसंबन्धी, चित्रत्वविशिष्टगोस्वामी); for even then it will be impossible to bring out proper sense in Bahuvrhi's like प्राप्नोदको घामः as shown before. It will not do to say that लक्षणा must be taken to be on the last word उदक in प्राप्नोदक to avoid prolixity (गौरव) which would result if लक्षणा were taken on the former word प्राप्त, which being a यौगिक word, i. e. one of which the sense is etymological or which can be analysed into the base and the terminations, the लक्षणा on it depends upon our knowledge of the root, affixes, and their senses. लक्षणा cannot be taken on the last word उदक &c. in प्राप्नोदक &c., because unless this knowledge is obtained, it is impossible to decide what the speaker's intended sense is. Moreover, in words like शरणाः, where the first word of the compound is not a यौगिक word as in प्राप्नोदको घामः, there is no reason why we should take लक्षणा on the last word and not on the first. Nor will it be proper to say, as later logicians do, that लक्षणा must be accepted on the last word of the compound only; because it is nearer to the terminations to be applied to the whole compound, the rule according to them being that terminations express the sense of the word that immediately precedes them ('प्रत्ययानां संहितपूर्वपदार्थगतस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिः'). For if this view be accepted, there would be the impossibility of the Bahuvrhi compound; because it is prescribed by Pāṇini in cases where many words having case-endings are so compounded that they signify

another object (‘अनेकमन्यपदार्थे’). Again, if this be the correct view, in words like घट, the expressive power must be conceived to belong to the last letter only, the preceding letter being taken to be useful in making me comprehend the sense of the whole word. If it be argued that if this were the case, the sense of a word would arise as soon as we hear only the last letter, a similar argument might be advanced in the case of प्राप्नोदकः, that the sense of the whole compound would arise as soon as we hear only the last word, viz. उदक. Moreover, the rule of the later logicians that terminations express the sense of the word that immediately precedes them is not proper; because if it were true, in दधि इयती ददाति, the sense of वतुप्, -इयती would be syntactically connected with इयती and in दधि बहुपदुर्ददाति, the sense of the termination बहुच् would be syntactically connected with दधि and not connected with पदु. Therefore, in Bahuvrīhi compounds like प्राप्नोदकः not having the sense of the genitive, since your devices to bring out the desired syntactical connection fails, you have to conceive a separate expressive power and to abandon your persistence that you would bring out the desired connection by means of the powers attaching to the members of compounds—since you have to conceive a separate expressive power in the case of such Bahuvrīhi compounds, then why will you not conceive it in the case of all compounds?

The commentary वैयाकरणमतोन्मज्जन on अचङ्चयर्थ is as under :—

“लम्बौ कर्णौ यस्येत्यत्र क्रियाया अनावश्यकत्वान्मिथोऽभेदादन्यपदार्थे लक्षणयो-
पपत्तिरिति चेत्तसि कृत्वोक्तमचङ्चयर्थ इति ॥”

The Naiyāyikas and the Mīmāṃsakas do not accept compounds to have a separate expressive power. But, says the grammarian, this is not proper; for if a separate expressive power be not conceived as belonging to compounds, they would not be called प्रातिपदिक by the Sūtra ‘अर्थ-
वदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्’. It would not do to say that the term प्राति-
पदिक would be applicable to compounds by the Sūtra ‘कृतद्वितसमा-
साश्च’; for the word समास there is restrictive in sense. The Sūtra means that if the term प्रातिपदिक is to be applied to a collection of words having a sense, it must be restricted to a compound; it is not to be applied to a sentence. ‘समास एव अर्थवतां ससुदायानां प्रातिपदिकसंज्ञो
भवति नान्य इति’ is what the Bhāṣyakāra says. Moreover, if a compound has no expressive power, it can not have लक्षणा as the Naiyāyikas take; since लक्षणा is based upon a connection with the expressed sense. If, again, the Naiyāyika were to argue that there is no use of the two

Sûtras 'अर्थवदधातुः—' and 'कृत्तद्धित—', that there should be only one Sûtra 'अतिप्र प्रातिपदिकम्' which would apply to समास also; since it is different from words ending in तिप् प्रत्याहार (from तिप्तस्—° to ऋयोः सुप्), even then the adjective अर्थवत् is necessary to prevent the application of the term to letters constituting words, and when अर्थवत् is used, the Sûtra would mean अर्थवत् तिबन्तभिन्नं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्. Now since a compound has no sense according to the Naiyāyika who does not accept an expressive power as belonging to it, it will not be a प्रातिपदिक.

Moreover, unless a separate expressive power were accepted for compounds, the Mīmāṃsaka's beginning अरुणाधिकरण would be quite in appropriate. There is a S'ruti in connection with the Jyotishtoma sacrifice—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति.' Here the पूर्वपक्ष put forth by the Mīmāṃsakas is as under :—The word अरुण signifies the quality of redness. Now तृतीयाश्रुति, i. e. the direct statement of the instrumental after the word, shows that it is an instrument for purchase (क्रय). But only a corporeal (सूतं) object like a cloth, gold, &c. can be an instrument of purchase; a quality-being incorporeal—cannot be an instrument of purchase. Since the direct statement of the instrumental case cannot show us what to employ (विनियोजक), the प्रकरण or the whole chapter must be taken to be one that shows us what to employ. The chapter places redness in all substances, ग्रह, चमस, different pots used in the sacrifice. It should not be argued that on the same principle the words पिङ्गाक्षी and एकहायनी would be applicable to all substances like अरुणिमन्; because the latter is a Guna, while the two former words signify a द्रव्य or an object. Therefore, the sentence is to be construed thus. अरुणया forms a sentence by itself and being connected with all substances useful in the Jyotishtoma sacrifice, redness is meant to be prescribed for all such substances ('यानि ज्योतिष्टोमे साधन-द्रव्याणि तानि सर्वाण्यरुणानि कर्तव्यानि').

Now this पूर्वपक्ष would be quite inappropriate unless a separate expressive power is accepted for compounds; for if a compound has no separate expressive power, पिङ्गाक्षी and एकहायनी would signify पिङ्गत्व, अक्षित्व, एकत्व, and हायनत्व and these too being incorporeal like अरुणिमन् cannot be instruments for purchase. From this sentence we cannot consequently have an idea of something being an instrument of purchase and thus a doubt that अरुणिमन् must form a separate sentence will have no scope whatever.

Page 186.

आख्यातं तदितकृतोः—

The Mīmāṃsakas hold that the compound राजपुरुषः must be solved as राजा चासौ पुरुषश्च and not as राज्ञः पुरुषः and that the compound चित्रगुः must be dissolved as चित्राणां गवामयम् and not as चित्रा गावो यस्य सः; because if the compounds राजपुरुषः and चित्रगुः were dissolved as षष्ठी-तत्पुरुष and बहुव्रीहि, the sense of the dissolution would be different from that of the compound. In राज्ञः पुरुषः, the genitive signifies relation and आश्रय is the relation between two words, the sense being राज-संबन्धाश्रयः पुरुषः. In the compound राजपुरुषः, राजन् means राजसंबन्धी and the relation between two words is that of अभेद or identity; the sense being राजसंबन्ध्यभिन्नः पुरुषः. Similarly, in the dissolution चित्रा गावो यस्य सः, the sense is असुक्स्वामिकाश्चित्रा गावः, while the compound चित्रगुः means चित्राभिन्नगोस्वामी. The difference is this that in the compound चित्रगुः, the members of the compound are attributes of another word (अन्यपदार्थः), while in the sentence चित्रा गावो यस्य, the word चित्रगो is the principal word of which another word is an attribute.

The above Kārikā is given to controvert this view. The sense is that just as with the Mīmāṃsakas, the reversion of the relation of principal and subordinate in a verbal form and in a form ending in a कृत् or a तद्धित suffix does not cause any difficulty in the exposition of the sense of the verbal form and the form ending in a कृत् or तद्धित suffix; so the alternative form चित्रा गावो यस्य in place of the compound चित्रगुः should not be objected to. The Mīmāṃsakas consider भावना or action to be the predominant thing and कारक to be subordinate in the exposition of a verbal form (a form ending in तिङ्), while in a word ending in a कृत् or तद्धित suffix they consider the कारक to be predominant and action to be subordinate.

Page 186.

पर्यवस्यच्छाब्दबोधविदुः—

If, as stated before, a separate expressive power is to be taken to belong to all compounds, there would be no difference between a तत्पुरुष and a कर्मधारय compound and then it would be antagonistic to the Mīmāṃsaka's proving that निषादस्थपतिः must be taken for succinctness (लाघवः) as a कर्मधारय compound and not as a षष्ठीतत्पु०. The Kārikā answers this objection. There is no opposition to the Mīmāṃsaka chapter (अधिकरण) of निषादस्थपति, if we take लाघव as belonging to the moment immediately preceding the final comprehension of sense.

The sense is as follows:—According to the theory of grammarians that compounds and other complex formations have a separate expressive power, the word निषादस्थपतिः has by this expressive power the senses of निषादरूपः स्थपतिः (कर्मधारय), निषादानां स्थपतिः (षष्ठीतत्पु०), and निषादस्वामिकं पुरुषान्तरम् (बहु०). Now when a word has various senses, तात्पर्य (the speaker's wish) must be taken to decide the sense that is to be adopted. The sense of the word is therefore taken to be निषादरूपः स्थपतिः and the compound, कर्म० on account of succinctness. Just as in यष्टीः प्रवेशय, the Mimāṃsakas accept लक्षणा and take यष्टीः to imply यष्टि-धरान् by it, arguing that though there is no impropriety of syntactical connection in यष्टीः प्रवेशय, there would be impropriety of तात्पर्य (the speaker's intended sense), if यष्टि were taken to mean a stick; so in the compound निषादस्थपतिः, though there is no impropriety of syntactical connection when the compound is taken to be षष्ठीतत्पु०, there would be impropriety of तात्पर्य if we adopt the षष्ठीतत्पु०; and the compound is therefore taken to be कर्म०.

The निषादस्थपत्यधिकरण occurs in the 1st Pāda of the 6th Adhyāya of मीमांसादर्शन. In a रौद्रयाग, a sacrifice offered to रुद्र, there occurs a sentence 'निषादस्थपतिं याजयेत्'. Now here a doubt arises as to whether निषादस्थपति is one of those that are qualified to offer the sacrifice or not. The पूर्वपक्ष is that he is one of those that are qualified; for he is learned and keeps a sacred fire. The compound being षष्ठीतत्पु० means निषादानामधिपतिः, and a lord of the निषाद's may be one of the three castes and he may be learned ('निषादानामधिपतिः इति षष्ठीसमास-स्य त्रैवर्णिके संभवात् । तस्य चाधीतवेदत्वेन विद्यासंभवाच्च' जैमि० न्यायमाला० p. ३११). The सिद्धान्त is that 'स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्' [मीमां०, ६।१।५१]. निषाद himself must be स्थपति, through the force of words. The word निषाद designates निषाद by mere श्रुति or enunciation, and स्थपति or lord of निषाद's by लक्षणा; and of the two, श्रुति and लक्षणा, श्रुति is the more powerful. So the sense is that a learned निषाद having acquired knowledge by the instruction of his preceptor, should perform the sacrifice of रुद्र ('षष्ठीसमासे तु संकीर्णजातिविशेषवाचिना निषादशब्देन तत्संबन्ध उपलभ्येत । न त्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति । ततस्तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां संपाद्य धनिको निषादो रौद्रयागं कुर्यात्' जैमि० न्या० वि०, p. ३११).

Page 188.

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादि—

This Kārikā which explains the power of words is quoted by Bhaṭṭoji Dikshita from the Vākyapadiya. It means that just as organs of sense

have a natural (beginningless) capacity of comprehending their own objects, the eye recognising form, the ear sound, and so on; so have words a natural (beginningless) connection with sense, a connection which is a capacity for conveying sense. Thus the power of words is simply a cause of conveying a sense. अर्थबोधकारणतैव शब्दानां योग्यता सैव शक्तिः—Words convey sense naturally. The connection of words with sense is like that of organs of sense with their objects. The eye cognizes form naturally, that is, without any effort on our part, other organs of sense cognize their objects similarly. However much we may try, we cannot make any other organ of sense but the eye cognize the form, nor can we make any organ cognize what is the object of another organ of sense. Similarly, words have naturally the power of conveying a particular sense. The word घट, for instance, conveys the sense of a jar; it cannot convey the sense of a cow. The difference between organs of sense and words is this that organs being agents of action (कारक) convey a knowledge of objects of sense without themselves being cognized; while words, being instruments of knowledge, become the cause of the knowledge of another thing, *i. e.*, sense, by their own knowledge. 'यद्यपि चेन्द्रियाणि कारकत्वाद्ज्ञातान्येव ज्ञानं जनयन्ति शब्दस्तु ज्ञापकत्वात् स्वज्ञानिनान्यवीहेतुस्तथापि पुरुषप्रयत्नानपेक्षा शक्तिः साधारणीति साम्यम्' हेला०, p. 110. Thus the point of resemblance is simply this that the power of both organs of sense to cognize objects of sense and words to convey sense is natural and does not depend upon any effort on the part of man.

If words have no connection with objects, then there would be no remembrance of objects from words; but words do cause us a remembrance of objects. Thus Hari says in the Vākyapadiya that since words being the cause of the knowledge of a sentence, a connection of them with sense is explicable, it is inferred that words have a connection with sense—

‘सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्ध उपपद्यते ।

शब्दस्याथ यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥ ३ । ३७.

On this Helārāja notes—‘अर्थप्रत्यायनात् कार्यादस्ति संबन्धः शब्दार्थयोरिति निश्चीयते’ p. 114.

This connection of words with their sense is called वृत्ति. वृत्ति is either शक्ति, or लक्षणा, or व्यञ्जना. शक्ति is defined in मञ्जूषा as शक्तिर्नामेतरेतराध्यासमूले अभेदे सति तद्बोधहेतुत्वम्. Because we say अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचकः (this word is expressive of this sense) and अस्य शब्दस्यायमथा वाच्यः (this sense is the expressed sense of this word); because

the genitive here cannot be explained otherwise, it is inferred that the connection between words and sense is natural. Hence the essence of words and sense is designated by the relation of identity—

“अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते ।

योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥” वाक्य० ३।३।३॥

Helārāja remarks:—“अत एव स्वाभाविकात् संबन्धाच्छब्दार्थयोस्तत्त्वं गौरयमर्थ इत्यभेदेन व्यवह्रियत इत्यर्थः” वाक्य०, p. 99. Nāges'a notes in his Mañjūśā—
“पदपदार्थयोः संबन्धान्तरमेव शक्तिबोध्यबोधकभावापरपर्याया । तद्ग्राहकं चेतरे-
तराध्यासमूलं तादात्म्यम् । तच्च संकेतः ।...तदुक्तं पातञ्जले भाष्ये संकेतस्तु पदपदार्थ-
योरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्द इति ॥”
Benares Pothi Edition of Ṭṣumajjā, p. 2.

The Naiyāyikas hold that the power of words is not natural, but depends upon संकेत or convention. They put forth their view as follows:—
शक्ति is not the natural connection between words and sense; because there can be no such connection in the present-day words, that is, words which do not come down to us from times immemorial (अनादिभूत), but words like देवदत्त which are framed by us. Therefore संकेत is necessary; and it being so, it is better to take शक्ति to be संकेतज्ञान and not to be अनादिभूतं बोधकारणत्वम्. In proper names like देवदत्त the convention is that of the father; while in words like गो, the convention is that of God.

The grammarian refutes this view as under. Convention by itself or as such cannot be the cause of the knowledge of sense; for in a बहुव्रीहि compound, the sense is not known without the comprehension of its power to denote another object. Nor can the knowledge of संकेत as such be the cause; for in words like गो, संकेत is taken to mean ईश्वरेच्छा; but certain Mīmāṃsakas and Bauddhas do not believe in the existence of ईश्वर; they cannot therefore know संकेत and would not thus be able to know the sense of words like गो. But they do know the sense of such words; therefore शक्ति is not संकेतज्ञान, but it is अनादिभूतं बोधकारणत्वम्.

The commentary of वनमालिमिश्र on this is short and to the point. The following extract is given from it:—

“इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां स्वविषयेषु चाक्षुषप्रत्यक्षादिषु घटादिषु यथानादिर्योग्यता न चेदानीन्तनी तथायैवाच्यैः सह शब्दानामप्यनादिरेव योग्यतेत्यन्वयः । यावच्छब्दं सा च नित्याऽतो न घटशब्देन पटो बोध्यते । सा च सामर्थ्यात्मिका एवार्थानामनित्यत्वपक्षेऽपि नित्य एव शब्दार्थसंबन्धः । नन्वनियतपदार्थाभिधाने गौरवादीश्वरे-
च्छैव शक्तिरिति चेन्न । ईश्वरेच्छा भवन्मते नित्या इच्छा च प्रतिशब्दं ततः संकरप्रसङ्गः ।
किं चेच्छाज्ञानप्रयत्नानामिच्छैव शक्तिर्न पुनरन्यतममित्यत्र विनिगमकमुच्यताम् ।
इपाधिवशादिच्छैकापि भियतेऽतो न सांकर्यमिति चेत् न श्वं तव सिद्धान्तः ।.....
तस्माद्योग्यतैव साधुत्वम् ।”

Page 195.

असाधुरहमानेन—

But one might say that the knowledge of sense arises even from corrupt words like गावी, so it would be necessary to take शक्ति in such words also. It would not do to say that there is no शक्ति in such words because they are not given in glossaries; for though not found there, they have the sanction of old usage, upon which after all glossaries are based. Thus since corrupt words like गावी have a power of expressing sense just as correct words like गो, they would also be looked upon as correct. To meet this objection the above Kârikâ is given. It is also from the Vâkyapadiya of Bhartṛihari. The first half gives the view of the Naiyâyikas. The sense is:—Some, *i. e.*, the Naiyâyikas wish that words like गावी are expressive of sense; because they remind us of correct words. Therefore such words are incorrect; for the power of words is their capacity to directly cause the apprehension of sense, and not through something. अनुमान here means remembrance only. “अनुमानमत्र स्मृतिः । अह पश्चान्मानमिति व्युत्पत्तेः । न तु व्याप्तिज्ञानम् । तच्छून्यानामपि शाब्द-बोधदर्शनात्” (Marginal note in D₇). Vanamālimis'ra observes:—“साक्षादर्थ-प्रतीतिजननयोग्यत्वं शक्तिस्तदेव साधुत्वम् । पारंपर्येण प्रतीतिजननयोग्यत्वमसा-धुत्वमिति भावः ॥”.

शक्ति or the expressive power must be accepted in Sanskrit words only, not in words of different dialects; for they are many on account of different places to which they belong.

The grammarian does not accept the view of the Naiyâyikas and the Mīmāṃsakas that what has शक्ति or expressive power is correct. अपभ्रष्ट words have no expressive power; therefore they are incorrect. This view is refuted by the grammarian as under:—If अपभ्रष्ट words have no expressive power, they can convey no sense. It will not do to say that they remind us of correct words and hence we know their sense; because ignorant persons who do not know correct words know such incorrect words. Moreover, it is not correct to say that शक्ति resides in Sanskrit words alone and not in अपभ्रष्ट words, for there are many dialects owing to many places where they are. Like संस्कृत, महाराष्ट्री is one dialect.

Vanamālimis'ra notes that the second half of the Kârikâ is given to remove the doubt as to why the reverse of what is stated should not be taken as the rule. That is, the rule might be this, that words like गावी directly convey the sense and not गो—“नह गाव्यादिः साक्षात्प्रतीति-

जनको न । गवादिस्तु साक्षादित्यत्र वैपरीत्यमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याह-वाचक-
त्वेति ॥” The sense, is that though अपभ्रष्ट words like गावी have a
power of expressing sense, the rule of merit and demerit must decide
which word is correct and which incorrect. The rule that this word is
correct and this incorrect depends upon merit and demerit—“अयं साधु-
रेवायमसाधुरेवेति नियमः पुण्यपापयोरेतदुभयप्रयुक्त इत्यर्थः ॥” वैया० मतोन्म०.
As the commentator says further on शक्ति must be taken to mean the ca-
pacity to create merit and this must constitute the correctness of words.
A word which leads to prosperity in a sacrifice must be held to be cor-
rect; and the reverse of it, incorrect. “पुण्यजननयोग्यत्वं शक्तिस्तदेव साधु-
त्वं पापजननयोग्यत्वमसाधुत्वमिति तत्त्वम् । तत्रापि यज्ञेऽभ्युदयजननयोग्यः साधुर्वि-
परीतस्त्वसाधुः । तथा च प्रयोजनभाष्ये । आचारे नियमः । एतद्वार्तिकव्याख्यानभा-
ष्यम् । याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियम इति । याज्ञेऽभ्युदयजननयोग्यत्वं शक्ति-
रिति भावः । । अस्तु वा यथाकथंचिदर्थप्रतीतिजननयोग्यता शक्तिः । साधुत्वं
तु याज्ञे कर्मण्यभ्युदयजननयोग्यत्वं तद्विपरीतं त्वसाधुत्वमिति ” ॥ वैया० मतो०.

Page 196-7.

ये साधुष्वनुमानेन° and पारम्पर्यादपभ्रंशा°—

These Kārikās occur in the first Kāṇḍa of the Vākyapadīya,
Vide pp. 59-61. अपभ्रंश is defined as शब्दसंस्कारहीनः. It is not an
independent word, but has a Sanskrit word for its basis. Saṅgrahakāra
defines it therefore as ‘शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः’ Words like अस्वः and गोणी
are correct in a particular sense, अस्वः meaning one who has no wealth
and गोणी a cow that yields much milk. They are, however, अपभ्रंश’s
when used in place of the संस्कृतप्रकृति, namely, अश्व and गो. The first
verse ते साधुष्वनुमानेन° means that corrupt words remind us of correct
words and thus become a cause of giving us a comprehension of their
sense. They become identified as it were with correct words and thus
throw light upon their sense. The commentator पुण्यराज observes,
‘अक्षिनिकोचादिवदपभ्रंशा अपि साधुप्रनाडिकयार्थं प्रत्यायन्ति.’ p. 60.

न शिष्टे°—If they are synonyms of correct words, they would be defined
in the Smritis like correct words and would be used by the learned. But
they are neither so defined nor so used and are therefore not synonyms
of correct words. They do not consequently directly express any sense.

अम्बाम्बेति—When a child, that is taught to speak, pronounces वं वं व
for अम्ब अम्ब, those who know the correct word infer it from the indis-
tinct sound वं वं व. The commentator Harirāma’s reading वं वं वेति in
place of अम्बाम्बेति is clearly a better one.

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये—Thus a corrupt word is used in place of a correct one and it expresses some sense not directly but indirectly by reminding us of the correct word.

But in the view of some, a corrupt word is directly expressive of sense.

पारम्पर्यादपभ्रंशा—निर्गुणेषु is the reading in the वाक्यपदीय in place of विगुणेषु. The sense is this. Corrupt words are used by ladies, low caste people, and children, and also by careless people. They always deal in such words and have consequently become accustomed to them. Thus when such persons hear a correct word, they know its sense by remembering the corrupt form of it. To them corrupt words are directly expressive of sense; while correct words express a sense indirectly by bringing to mind their incorrect forms—‘ते तमेवासाधुं प्रत्यक्षपक्षेण वाचकं मन्यन्ते । साधुं त्वसाध्वनुमानेनेत्यर्थः’ । पुण्य०, p. 61.

दैवी वाग्—In old ages, just as men’s speech was not corrupted by falsehood, so was it not corrupted by speakers incapable of pronouncing it correctly by the fusion of corrupt words. Those who hold that words are perishable consider corrupt words to be expressive of sense; their intellect thus working in reverse order.

Page 199.

संबन्धशब्दे संबन्धो—

This Kārikā is also from Bhartṛihari’s Vākyapadīya. It is given to explain how the knowledge of योग्यता which is supersensuous is to be obtained and how the words संबन्ध and योग्यता, are to be understood. “ननु योग्यतातीन्द्रिया कथं साध्यवसेया योग्यताशब्दादो च का गतिरित्याशङ्क्याह—संबन्धशब्द इति ॥” वैया० मतो०. The sense of the Kārikā is that capacity is a kind of connection in the word संबन्ध, and योग्यता, in the word योग्यता. ‘संबन्धशब्दो योग्यतालक्षणं संबन्धं योग्यतयैव प्रदिपादयति’ हेला०, p. 111. Then what is the use of संकेत ? ‘संकेतस्य तर्हि नोपयोग इत्याह—समयात् इति’ हेला०, p. 111. The knowledge of योग्यता or the capacity of words to convey a particular sense is based upon or comes from समय or वृद्धव्यवहार—old usage; just as the sense of मातृ and पितृ, though supersensuous, is known from usage. The power of words to convey a particular sense is natural. Old usage shows us this natural capacity—“अनादिसिद्धार्थविषयव्यापारस्य शब्दस्य वृद्धव्यवहारस्य परम्परापरपर्यायात् समयात् स्वाभाविक्येव योग्यता निश्चीयते न तु समयमात्रादतथाभूते तथाभावः सशुचितः । न हीयमस्य पुत्रस्य मातेति जन्यजनकभावः सामयिको वस्तुसिद्धस्यैवैवं प्रतिपादनात् ॥” हेला०, pp. III-2. “इयं मातायं पितेति समयाद्यथा प्रतीयते इत्यर्थः । शक्तिः स्वमते योग्यता व्यवहार-

गम्यान्ता चेति । साधुत्वं याज्ञे कर्मण्यभ्युदयजननयोग्यत्वमदोविपरीतत्वमसाधुत्व-
मिति च स्थितम् । सत्त्वोपाधिविशेषसंवलित शक्तिः । सा च ब्रह्मात्मिकेति तु पर-
मार्थ इत्यवश्यम् ॥ ” वैया० मतौ०.

Page 201.

नञ्समासे चापरस्य—

In a negative Tatpuruṣa compound, the last word is the predominant word and नञ् suggests the sense of superimposition (आरोपितत्वम्). अ-ब्राह्मणः thus means आरोपितो ब्राह्मणः; hence the fact of his being different from a Brahmin comes as a natural inference (अर्थादायतम्—ब्राह्मणाभिन्नत्वबोधः आर्थः). The last member of the compound being not subordinate (अनुपसर्जन), असः, असर्वस्मै, अतस्मिन्, &c. are all pronominal forms. That the final member in a negative Tatpuruṣa compound is a predominant word is indicated by the word अनञ्समासे in the Sūtra (‘एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे इति’)—‘अत्र च लिङ्गम्—एतत्तदोरिति सूत्रेनञ्समास-ग्रहणम्’ शब्दको०, p. 635. This explains the forms अनेकम् in ‘अनेक-मन्यपदार्थे’ and अनेकया in ‘संब्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया’ from Māgha. How is then अनेके in ‘पतन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः’ to be explained? Here, really there is plurality; singularity is only superimposed—‘अध्यारोपितैक-त्वानां प्रकृत्यर्थतया तत्र वास्तवबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनं न विरुध्यत इति ।’ शब्दको०, p. 635.

Page 203.

अभावो वा तदर्थोऽस्तु—

One might say that in instances like घटो नास्ति, अब्राह्मणः &c., the sense of superimposition is opposed to general experience. Hence another view given in this Kārikā. Let the sense of नञ् be non-existence; because this seems to be the purport of the Bhāṣya on the subject. The Bhāṣya on the ‘नञ्’ Sūtra is निवृत्तपदार्थकः. The Bhāṣya on the Sūtra introduces निवृत्तपदार्थकः as under—If नञ्त्पुरुष compound has the final member as predominant, when we say ‘अब्राह्मणमानय’ the sense would be the bringing of any Brahmin. ‘अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणमात्रस्यानयनं प्राप्नोति’ (भाष्य B. S. S., Vol. I., p. 410.) This doubt is solved thus. When we say राजपुरुषमानय, how is it that any man is not brought? Here there is a difference. The word राजन् qualifies पुरुष. Here also नञ् (अ) qualifies ब्राह्मण—‘इहापि तर्हि नञ्विशेषकः प्रयुज्यते तेन नञ्विशिष्ट-स्यानयनं भविष्यति । कः पुनरसौ (i. e. नञर्थविशिष्टः) । निवृत्तपदार्थकः ॥’ (भाष्य, Vol. I., p. 411.) Here Kaiyata explains निवृत्तपदार्थकः to mean one of which the expressed sense is gone. अब्राह्मणः thus means one whose principal Brahminism is gone; a Kṣatriya. Kōṇḍabhatta

questions this explanation, saying that if superimposed Brahminism be the expressed sense of नञ्, सादृश्य &c. enumerated in the verse 'नत्सादृश्यमभावश्च' would also be the expressed sense of नञ्. Therefore, निवृत्त must be taken in the sense of निवृत्ति or अभाव, the termination त having been affixed in the sense of an abstract noun. अभाव is thus the sense of नञ्. The author of the Mañjushā defends Kaiyata and attacks Kondaḥbhatta—'यत्तु निवृत्तेति भावे कः निवृत्तमभावः पदार्थो यस्येति एतद्वाच्यार्थ इति तद् भान्यैवेति स्पष्टं भाष्यविदाम्' मञ्जुषा. Benares Poṭhi Edition, p. 64. नञ् is either विशेषण or विशेष्य with regard to its प्रतियोगिन् (that of which the अभाव is spoken). Since नञ् is an adjective, असर्व is a pronoun; for सर्व is here not a subordinate word (उपसर्जन). Similarly, when the word अनेक is used in the singular number, the singular form is correct; because नञ् is an adjective and एक the principal word in the compound. In forms like अत्वं भवसि, अनह भवामि, &c., because त्वम् and अहम् are principal words, नञ् being an adjective in regard to them, its प्रतियोगिन्'s, the forms भवसि and भवामि, are correct, agreeing as they do with त्वम् and अहम्. अत्वं भवसि is equal to भेदप्रतियोगित्वदभिवाश्रयिका भवनक्रिया, i. e., the action of being of which त्वद् is the substratum, त्वद् which is a counterpart of what is not त्वद्. Another view is to take नञ् as विशेष्य or the principal member of the compound. Though, according to this view, in असः शिवः, तद् becomes a subordinate member of the compound, it is a pronoun on account of the ज्ञापक 'अनञ्समासे' in the Sūtra 'एतत्तदोः सुलोपोऽक्रोरनञ्समासे हलि.' In असः शिवः, तद् is subordinate and therefore not a pronoun. But it is a pronoun because the Sūtra is not applicable to तद् and एतद् when अकच् is affixed to them ('अकोः'). अकच् is affixed to a pronoun ('अव्ययसर्वनाश्रामकच् प्राक् टेः'). If तद् being subordinate is not a pronoun in असः, the Sūtra 'एतत्तदोः' which applies to the pronouns एतद् and तद् would not be applicable to असः and in that case अनञ्समासे would be useless. That it may not be useless it becomes a means of proving that in असः, though तद् is subordinate, it is a pronoun. In 'अनेकमन्यपदार्थे', २११३ अनेकम् is singular, because it qualifies सुप् which is to be supplied from the preceding Sūtra 'सुवामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' २११२ and the substantive सुप् is singular. Moreover, if अनेक were used in the dual number, a Bahuvrīhi compound of more than two words will not be possible; and if it were used in the plural number, a Bahuvrīhi compound of two members will not be possible. The singular form अनेकम् makes room for the formation of a Bahu-

vrihi of two or more members and denotes a class (जात्याख्यायामेकवचनम्) or is used according to the उत्सर्ग or general rule that the singular form must be used. In 'सेव्यतेऽनेकया', अनेकया goes with योषया and is therefore singular. Moreover, each योषया is separately construed with the action of सेवा. In अत्वं भवसि &c., त्वद् conveys the लक्ष्य sense of त्वद्भिन्नः and नञ् is here योतक or suggestive of this लक्ष्य sense. अत्वं भवसि is equal to त्वद्भिन्नाश्रयिका भवनक्रिया. भवसि is in agreement with त्वस् in अत्वम्; because the sense of the termination सि, i. e., क्रियाश्रय or कर्ता, is in apposition with the sense of त्वद् which by लक्षणा is त्वद्भिन्न.

Page 205.

योतकाः प्रादयो येन &c.—

The Naiyāyikas hold that Upasargas are not expressive of sense, but are suggestive of it, while indeclinables like च, called Nipātas are expressive of sense and not suggestive of it. This distinction between them is improper in the view of the grammarians and this chapter is given to refute the view of the Naiyāyikas and to settle the sense of the Nipātas.

On the grounds by which the Upasargas are held to be suggestive of sense, the Nipātas, च and others, are also suggestive of sense. In ईश्वरमनुभवति, experience which is comprehended is not the sense of the root भू; for if it were so, the same sense would arise from भवति. Nor is it the sense of the Upasarga; for if it were so, it not being the sense of the प्रकृति (the base) to which the आख्यात (the affix ति) is applied, the sense of the आख्यात would not be syntactically connected with it; for the rule for the explanation of sense (व्युत्पत्ति) is that terminations express their own sense, syntactically connected with the sense of the base. Nor is experience the sense of the root conjoined with the Upasarga (उपसर्गविशिष्टधातोरयमर्थः). For, in that case, there would be prolixity. Therefore, the root भू which has the expressed sense of 'being' must be taken to have the लक्ष्य or the secondary sense, and the Upasarga makes us comprehend the तात्पर्य or purport of the लक्षणा. Since the root has the sense of existence as in वदो भवति, the लक्ष्य sense which is connected with the शक्य sense can be taken to belong to the root. The Upasarga cannot have the लक्ष्य sense; for it is never used alone by itself, it therefore conveys no sense and the लक्ष्य sense which is वाक्यसंबद्ध cannot belong to it. 'न निर्बद्धा

उपसर्गा अथान् निराहुरिति शाकटायनः । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति । यास्क's निरुक्तः. Śākatāyana holds that Upasargas are detached from verbs and nouns and used by themselves in a sentence (निर्वद्धाः नामाख्यातमध्यात् निष्कृष्य वद्धाः पदरूपेण रचिताः) ; but they add some particular sense to the sense of verbs and verbal nouns (action) and are thus suggestive of that particular sense (नामाख्यातयोरेव योऽर्थः कर्मक्रियेति यावत् तत्रैव कंचिद्विशेषस्युपसंयुज्य तद्योतका भवन्तीत्यर्थः). गार्ग्य, however, is of a different view. He says:—‘ उच्चावचाः पदार्था भवन्ति ’. The Upasarga is thus suggestive of sense and not expressive of it. The same is the case with the Nipātas; for in चैत्रमिव पश्यति, the secondary sense of चैत्र is चैत्रसादृश्यविशिष्ट and the word इव is suggestive of it. In उपास्येते हरिहरौ, उपासना or worship is not the sense of the Upasarga; for if it were so, आस being intransitive, लट् cannot be affixed to it in the sense of the object, i. e., the root cannot be used in the passive construction. To take उपासना to be the sense of the root conjoined with the preposition would be prolixity. Moreover, combination of अट् and झृ will not be called a धातु; since it is not mentioned in धातुमण; and if you say that the list of roots is not meant to be exhaustive, even then there will be a difficulty; for if the whole combination be a root, the process of reduplication in लिट् &c. would attach itself to the Upasarga and the augment अ or आ would be used before the Upasarga. Therefore, the Upasarga is suggestive of sense. In regard to the Nipātas, Yāska says:—‘ उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति ’. This must be taken as an etymological explanation (निर्वचन) of the word निपात. The following principal senses are then enumerated—‘ अट्युप-मार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः ’—They have thus the sense of similarity, combination of objects, and are expletives, filling up the Pada. Yāska does not enter into the question as to whether the Nipātas are expressive or suggestive of sense.

Page 206—

तथान्यत्र निपातेऽपि लकारः &c.—

Similarly, in forms like साक्षात्क्रियते, अलंक्रियते शिवः, where the निपात's साक्षात् and अलम् are used, the objective लकार can be explained by taking the sense to be that of ornamentation. Though the root कृ is transitive, and the passive construction is not therefore improper, still the same construction will not be in the sense of ornamentation. Otherwise, it would be possible even in instances when कृ is preceded by वि where it is intransitive (वायुर्विकुरुते and सैन्धवा विकुर्वते).

Moreover, if the Upasargas are expressive of sense, we should say भूयान् प्र and कीदृशो नि in place of भूयान् प्रकर्षः and कीदृशो निश्चयः. But this construction does not take place; because in our view the Upasargas have no sense; they are simply suggestive of sense. Adjectives are besides not conjoined to Upasargas and Nipātas. We do not say शोभनश्च द्रष्टव्यः (joining the adjective शोभनः to the Nipāta च in the sense of शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्यः).

On the word आदि in विशेषणाद्यद्योगः Vanamāli Mīśra observes:—‘आदि-शब्दादेतस्य प्रकर्ष इत्यादौ प्रकर्षशब्दादीनां यथा षष्ठीहेतुत्वमेवं प्रादीनां न भवति । एवं घटपटयोः समुच्चय इत्यादौ समुच्चयशब्दादीनां षष्ठीहेतुता एवं घटपटयोश्चेति चादीनां न भवति । तदेवमुपसर्गनिपातयोर्वैलक्षण्यं न दृश्यत इत्यर्थः ।’

Page 208.

पदार्थः सदृशान्वेति विभागेन &c.—

The sense of one word is connected with that of another in apposition, not in another case. Thus, to say that the rule, viz. the senses of two Prātipadikas in the same case are connected by identity—this rule does not apply to the Nipātas, is not authoritative. In our view the Nipātas are simply suggestive of sense, not expressive of it, and have therefore no connection.

Page 209.

शरैरुसैरिवोदीच्यान् &c.—

उसैरिव शरैः is equal to उस्ससदृशैः शरैः and रसानिव उदीच्यान् means रस-सदृशादुदीच्यान्. By लक्षणा इव is only suggestive of it. Otherwise, the rule that the terminations must express their own sense as connected with that of the base would be violated. For उसैः is the Instrumental case and is in the sense of करण; but उस्स is not करण. सदृश is the sense of इव and though उस्ससदृश is करण, this instrumentality (करणत्व) is not possible to be expressed by the Instrumental termination attached to उसैः; for उस्ससदृश is not the sense of the base to which the Instrumental termination is applied. The word इव being an indeclinable (असत्त्व), it is impossible to affix the case termination to it and if it be possible, it should be heard and the Instrumental termination used after उस्स would remain unconnected. On this the Mañjūśā is clear. It explains this verse as under:—“शरैरुसैरिवोदीच्यादुद्धरिष्यन् रसानिवेत्यादौ तु द्योतकता । अन्यथोस्ससदृशस्य करणत्वेऽप्युस्सस्याकरणत्वादुस्सपदोत्तरवृत्तीयनैरर्थक्यमसाधुत्वं च स्यात् । इवशब्दात् वृत्तीयाभावेन सदृशस्य करणत्वालाभश्च स्यात् । इवशब्दोत्तरं सर्वविभक्तिरुस्सत्वेऽपि न ताः सार्थिकाः ॥” pp. 58.

Page 210.

नञ्समासे चापरस्य द्योत्यं &c.—

Now a doubt arises. In accordance with the view of the grammarian, अव्राह्मणः would not be a तत्पुरुष compound; for the first member of the compound, नञ्, being a Nipāta, has no sense and thus the final member has no predominance of sense. Moreover, Upasargas having no sense are not Prātipadika and will have therefore no cases. To solve these doubts the above Kārikā is given. In negative Tatpuruṣa compound the predominance of the sense of the final member is to be explained by taking the suggested sense only, and taking the same sense the Upasargas must be considered to have a meaning and they being thus Prātipadikas will have case terminations.

Vanamālinis'ra's short commentary on this runs as under:—

“नञादिद्योत्यो योऽर्थस्तं प्रत्युत्तरपदार्थः प्रधानं तमेवार्थमादाय नामसंज्ञा प्रातिपदिकत्वमिति यावत् । ततः सुदृष्टपक्षिरित्यर्थः ॥”

Page 215.

निपातानां वाचकत्वमन्वयं—

A doubt arises. It is proper to take the Nipātas to be वाचक or expressive of sense; for their power of expressing sense is not sublated by any thing. Moreover, the opponent, *i. e.*, the Naiyāyika might say to the grammarian—According to your own way followed in the case of the Nipātas, in the case of पचति &c., take लक्षणा and let the root have by its power the sense of action qualified by the agent, तिङ् and other terminations would make us comprehend the purport of the लक्षणा. To solve this doubt, an alternative view is given in the Kārikā. It means that Nipātas must be taken to have the expressed sense by the rule of concomitance and non-concomitance, *i. e.*, by the fact that the expressed sense is found when the Nipātas are used and disappears when they are not used. We, however, do not agree with the Mīmāṃsakas that they are वाचक (expressive of sense) only. They are द्योत्यक (suggestive of sense) also.

The following are the views of Bhartrihari on the senses of the Upasargas and the Nipātas:—

In some places Upasargas suggest a sense to roots which they themselves do not convey, and which is quite apposite. When we say प्रपचति, प्रकर्ष, the sense suggested by the root, is possible in or fits well with the sense of पचति. Upasargas are in such cases specially suggestive—

‘कश्चित् संभविनो भेदाः केवलैरनिर्दिष्टाः ।

उपसर्गेण संबन्धे व्यज्यन्ते प्रपरादिना ॥’ वाक्यप० २।१८९.

Then the Upasargas are suggestive only of sense. No. They are expressive of it also.

The Upasargas are expressive of particular sense or are suggestive also, where there is a possibility. Or they are employed as helpers to roots by placing in them a power. In प्रतिष्ठते, the root signifies stoppage of motion (गतिनिवृत्तिवाचकत्वम्); while प्र signifies motion (गतिवाचकत्वम्). Hence it is said ‘धात्वर्थं बाधते कश्चित्’. The second alternative of a preposition suggesting a sense is explained above, in the instance प्रपचति. The third view is that the root and the Upasarga both together express a sense. Hence it is said ‘कश्चित् तमनुवर्तते’.

‘स वाचको विशेषाणां संभवाद् द्योतकोऽपि वा ।

शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते ॥’ वाक्यप० २।१९०.

These views are expressed in the following verse:—

‘धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते ।

तमेव विशिनष्टथन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥’

After having expressed these three views about Upasargas, Bhartṛhari gives the Siddhānta about them, viz., that they are suggestive only of sense.

Roots स्था &c. by themselves express stoppage of motion, not motion. Therefore we should infer that roots have many senses (अनेकार्था धातवः). Upasargas are only suggestive of this sense—

‘स्थादिभिः केवलैर्यच्च गमनादिर्न गम्यते ।

तत्रानुमानाद् द्विविधात् तद्धर्मी प्रादिरुच्यते ॥’ वाक्यप० २।१९२.

The two kinds of अनुमान mentioned in the verse are सामान्यतो दृष्टम् and विशेषतो दृष्टम्. Puṇjarāja explains the two kinds of अनुमान as under:— ‘तत्राविशेषेणोपसर्गाणां द्योतकत्वम् । तथा च प्रशब्दो धर्मी आदिकर्मद्योतक इति साध्यो धर्मः प्रशब्दत्वात् पूर्वोदितपच्यादिदृष्टप्रशब्दवदिति । विशेषतो दृष्टेनानुमानेन तद्धर्मप्रशब्दस्य समानधर्मा सर्वोऽपि प्रादिरुपसर्गो द्योतकत्वधर्मयुक्त उच्यते इति । धातुश्च सामान्यतो दृष्टेनानुमानेनानेकार्थः । यथा तिष्ठतिर्वर्मी अनेकार्थ इति साध्यो धर्मः धातुत्वात् उभयवादिसंमतानेकार्थयजत्यादिधातुवदिति । एवं सामान्यतो दृष्टानुमानात् तद्धर्मन्यो धातुरप्यनेकार्थ उच्यत इति योजना ॥’ Vide वाक्यप०, Benares Edition, p. 158.

In regard to Nipātas, some are suggestive, while some are expressive of a separate sense; while some are like augments, they express a sense, together with the words, to which they are attached—

‘निपाता द्योतकाः केचित् पृथगर्थोभिधायिनः ।

आगमा इव केऽपि स्युः संभ्युयर्थस्य वाचकाः ॥’ वाक्यप० २।१९४॥

Whether they are used before or after a word, they are equally suggestive of sense. They are not expressive only of sense; because च and other Nipâtas are never used by themselves, though they are Padas. Suffixes also are never used alone, but they are not Padas. Nipâtas are Padas and are never used by themselves; they cannot therefore be held to be expressive only of sense. ‘आगमा इव संभ्युयर्थस्य वाचकाः’ implies that some Nipâtas are meaningless—‘केचिदनर्थका एवेत्याह आगमा इवेति’ (मञ्जूषा, p. 57). Further on, the Mañjûshâ remarks:—‘प्रातिशाख्येऽपि नामाख्यातसुपसर्गो निपातश्चत्वार्याहुः पदजातानि शब्दाः । तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वं तदाख्यातं येन भावं स धातुः । उपसर्गो विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम् । इतरे निपाताः ।

क्रियावाचकमाख्यातसुपसर्गो विशेषकृत् ।

सत्त्वाभिधायकं नाम निपाताः पादपूरणाः ॥ इति

स धातुरित्यत्र वृत्तीयर्थे प्रथमा । इतराभ्यां नामाख्याताभ्यां सह । अर्थ-वाचका इत्यस्य मध्यमणिन्यायेन संबन्धः इतरे नामाख्यातोपसर्गोभ्योऽन्ये निपातास्तथा ज्ञेयाः । उपसर्गो विशेषकृदित्यनेन तेषां द्योतकत्वं दर्शयति । पादपूरणाः पादपूरणा अपीत्यर्थे इति तद्भाष्यम् ।’ मञ्जूषा, p. 57.

Page 217.

कृतद्धितसमासेभ्यो मतभेदः—

The Mimāṃsakas hold that ‘कृतद्धितसमासेभ्यः संबन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनान्यत्र रूढ्यभिन्नरूपाव्यभिचरितसंबन्धेभ्यः’ is a Vārtika. They are wrong. This is an extract from the commentary of Bhartṛihari on the Mahābhāshya. The meaning of the extract is as under:—In the words पाचक, औपगव, राजपुरुष, &c., the relation of action and its agent and of the sense of the genitive is included in the वृत्ति (the complex formation), and the same relation is the sense of the words, स्व, तल, and other abstract terminations are therefore added to them in the sense of relation. (‘पाचक औपगवो राजपुरुष इत्यादौ क्रियाकारकभावस्य विभक्त्यर्थसंबन्धस्य च वृत्तौ प्रवेशाच्छब्दप्रवृत्तौ तस्यैव निमित्तत्वाच्च तत्रैव स्वादयः ॥’ मञ्जू०, p. 203). Thus the connection of the base and the affix (अन्वय) in पाचकत्व is understood as the relation between action and its agent (क्रियाकारकभावसंबन्धः), in औपगवत्व as the relation between a child and its parent, and in राजपुरुषत्व as the relation between a lord and a servant. The rule that an abstract termination affixed to a word ending in कृत् or तद्धित suffix or to a compound expresses relation, has three exceptions. It is not applicable to रूढ words or words having a conventional sense, to adjectives, and to

words expressing जाति or a relation which is inseparable. दामोदरत्व and कृष्णसर्पत्व are instances of रुद्धि. Here a particular class (जातिविशेष) is signified. शुक्लत्व is an instance of अभिव्यक्ति. Here the affix मतुप् added by the Sūtra 'तदस्यास्त्यस्मिन्' is dropped by the Bhāṣyakāra's words 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः'. Thus though शुक्लः is a word ending in a तद्धित suffix, when we say घटः शुक्लः, the sense of अभेद or identity is conveyed. In शुक्लत्व therefore the guṇa is comprehended as a प्रकार. When we say घटः शुक्लः, the relation of भेद or difference between a गुण (property) and गुणिन् (the substratum of a property) disappears. The abstract termination in शुक्लत्व does not convey the sense of relation, but that of guṇa as a kind or प्रकार, शुक्लत्व being equal to शुक्लप्रकारः. सत्ता is an instance of the third exception or अव्यभिचारितसंबन्ध. The relation between राजन् and पुरुष is separable, while that between सत् and सत्ता is inseparable ('न हि सत्सत्तयोः संबन्धः कदापि व्यभिचारत इति बोध्यम्' मञ्जु.). Here the abstract termination signifies जाति.

The adjective मतभेदनिबन्धनम् in the Kārikā is given to show that the view expressed by Bhartṛhari holds when the expressed sense of a वृत्ति is taken to be संसर्ग and not भेद. In the Kārikā 30, three expressed senses are given, भेद, संसर्ग, or both. When the expressed sense is taken to be भेद, the view of Bhartṛhari does not hold. ('तत्र वृत्तौ भेदः संसर्ग उभयं वेति मतत्रयम् । मध्यमे पक्षे चैतदित्याह—मतभेदेति । आद्यचरमयोस्तु अपकृतभेदः पाकसंबन्ध इति बोधः 'वैया० मतो०'). Vanamāli Mīśra is as usual brief and to the point—'पाचकः दण्डी सुवास इत्यादौ विक्रियडकूलक्रिया-संबन्धाश्रयः दण्डसंबन्धाश्रयः शोभनवस्त्रसंबन्धाश्रय इत्यादि शब्दबोधात् संबन्धोऽपि कृततद्धितसमासार्थः । ततश्चामीभ्यस्त्वतलादीनां तस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् तस्यैव त्वतलाद्यर्थत्वात् तद्विशेष्यक एव बोधः । पकृतत्वं दण्डित्वं सुवासस्त्वं पाकदण्डसुव-क्षाणां संबन्धः ॥' वैया० मतो०.

Page 218.

अत्रार्थजरतरियं स्याद् &c.—

The Mīmāṃsakas hold that in words like दण्डी, the मतुप् termination signifies simply a substance and not relation. The idea of relation arises after the relation of the qualifier and the qualified is comprehended according to the sense of a sentence. Hence in पाचक also, relation is not the sense. The root पच expresses the sense of पाक, the affix अक, its agent; but the agent joined with पाक is the sense neither of the root, nor of the affix. In short, according to the Mīmāṃsakas, संबन्ध is not the sense of कृत or तद्धित affixes. This Kārikā is given to refute their views.

This action of the Mīmāṃsakas corresponds to अर्धजरतीयन्याय. This Nyāya is mentioned in the S'āṅkarabhāṣya on the Brahma-sūtras—'यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्थजरतीयं लभ्यम्' १।२।८. This is explained in the Ratnaprabhā by Govindānanda as follows:—'अर्थं सुखमात्रं जरत्या दृढ्यायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीयन्यायः.' Anandagiri explains it thus:—'न हि कुकुटादेरेकदेशो भोगाय पच्यत एकदेशस्तु प्रसवाय कल्प्यते विरोधात्.' It occurs in the Mahābhāṣya also—'न चेदानीमर्धजरतीयं लभ्यं दृढिमम भविष्यति स्वरो नेति । तद्यथा । अर्थ जरत्याः कामयन्ते अर्थ नेति ।'—The Bhāṣya on 'अणिञोरनार्थयोर्गुरुपोत्तमयोः प्यङ् गोत्रे' ४।१।७८। On this Kaiyaṣa notes—'अर्धजरतीयमिति 'समासाच्च तद्विपयात्' इति छप्रत्ययः । सुखं न कामयन्ते अङ्गान्तरं तु कामयन्ते जरत्याः ॥' Accepting any rule or principle half the way, not in its entirety, is thus अर्धजरतीय. If relation is not expressed in the word दृढी, it will not be expressed in दृढित्व also. 'दृढीत्यादौ संबन्धो न शक्यः दृढित्वमित्यादौ शक्य इत्यर्धजरतीयम्' वैया० मतौ०. The commentary notes further on—'नैयायिकानां त्व (तु ?) विलक्षणमर्धजरतीयम् । तथाहि वद्धिमत्त्वमित्यादौ वद्धिसंबन्धो भावप्रत्ययार्थः धूमवत्त्वादित्यादौ धूमादिः । अस्माकं तु यस्मिन् मते संबन्धो भावप्रत्ययार्थस्तस्मिन् पक्षे शक्य एव संबन्धः । यस्मिन् पक्षे संबन्धो वृत्तिशक्यो न तस्मिन् पक्षे संबन्धो भावप्रत्ययार्थ एव न । तच्चोक्तमेव 'मतभेदनिबन्धनम्' इति ॥"

Page 218.

प्रयोगोपाधिमाश्रित्य &c.—

This Kārikā gives the two established correct views on the abstract suffixes त्व, तल्, &c., mentioned in the two Vārtikas on the Sūtra 'तस्य भावस्त्वतलो'. The first Vārtika is 'यस्य गुणस्य भावाद् द्वये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलो'. It means—suffixes त्व and तल् are used to express that property, through the inherence of which in a substance, the substance gets a particular name. In other words, as mentioned in the first part of the above Kārikā, त्व and तल् express a property which appears like a प्रकार in the sense conveyed by the base to which they are affixed. Thus in words like रूप, the affixes signify जाति, in those like शुक, अशु, महत्, दीर्घ, &c., they express a property, in words like पाचक, they express action; while in those like वद, they express जाति. Vanamālini'sra explains this clearly:—'तत्र द्वयवाचकात् प्रत्यये सति गोत्वमित्यादौ जातिविशेष्या व्यक्तिविशेषणं गोनिष्ठा जातिरिति बोधः । गुणाभिधायिन्यः शुक्लादिभ्यो गुणनिष्ठायां जातो प्रत्ययः सा विशेष्या गुणो विशेषणं शुकत्वं शुकगुणनिष्ठा जातिरिति बोधः । गुणिपरस्यस्त्वमीभ्यो गुणे प्रत्ययः स विशेष्यः गुणी प्रकारः शुकत्वं वदादिनिष्ठः शुको गुणः ।...वदस्य रूपं पुरुषस्य शीतम्...इत्यत्र गुणप्रकारकस्तनिष्ठ-जातिविशेष्यको बोधः ।'

Another Vārtika is:—‘यद्वा सर्वे भावाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषां भावः’. It means that all words contribute to convey sense by their own sense as an instrument or purpose—‘भवन्ति वाचकत्वेन प्रवर्तन्त इति भावाः शब्दाः स्वेनार्थेन करणभूतेन हेतुभूतेन वा भवन्ति प्रवर्तन्तेऽर्थप्रत्यायनायेति शेषः । येन हेतुकरणान्यतरेण यतः कारणात् यः शब्दो यन्नार्थं प्रवर्तते स हेतुकरणान्यतरस्तस्य शब्दस्यार्थः प्रवृत्तिनिमित्ततयेति शेषः ।’ वैया० मतो०. Kaiyata explains the second Vārtika as under:—Words get currency on account of the sense which they express. Because words are used to make us comprehend some sense, sense is an instrument of words becoming current in usage. Now the sense is two-fold:—1. the expressed sense (वाच्यः); 2. the reason for words being current in that sense (प्रवृत्तिनिमित्तम्). The expressed sense is either a substance (द्रव्य) or a word (शब्द); while the reason for currency is जाति, वदत्व &c. in words signifying जाति, क्रिया in words like पाचक, संबन्ध in words like राजपुरुष, and संज्ञा in words like इत्थ.

The real sense is, however, as under:—All words get current on account of their respective senses, which thus become their प्रवृत्तिनिमित्त. The purport is that in a द्रव्य, even a word having sense is a प्रकार; because from words like Hari, Hara, Nala, &c., a knowledge that some one is expressed by these words is experienced by all and in this knowledge a word is a प्रकार. If it were not so, classes of medicinal herbs growing in a forest would convey no sense to persons living in cities. It is only such a knowledge that something is expressed by a word that comes to all from words of which the senses are not well known. In such words, a knowledge does not arise in the form of जाति, गुण, &c. as in words like वद, शुक्लत्व, &c. Thus both जाति &c. and शब्द are अवच्छेदक properties. In words of which the sense is known, one who understands their expressed sense cognizes it in the form of जाति &c. While the cognition of the expressed power, qualified by a word, does not expect particular knowledge. What is wanted is only this that this word has some expressed sense, because it is a correct or pure word. Thus शब्द also is the sense of the suffixes त्व, तल, &c. like जाति, गुण, &c.

The Mañjūśā gives another view in deciding the sense of त्व in कुत्व and other संज्ञा terms. कु and कुत्व are synonymous, त्व here has the sense of the base to which it is affixed—‘न चैवं कुस्मित्यादौ त्वाद्यवृत्तपत्तिः । प्रकृत्यर्थोत्तिरिक्तप्रत्ययार्थाभावादिति वाच्यम् । तत्र शब्दपरादर्थरूपे भावे प्रत्ययेनादोषात् ।’ p. 202. In कुत्व, त्व has no sense other than the base to which it is affixed, कु, and कुत्व being synonyms. How then is the Sūtra ‘तस्य भावस्त्वतलो’ to be applied? The solution is that here भाव is taken in the sense of ‘sense’.

Thus कृ and कुत्व are पर्याय words. Then it might be advanced that तस्य भावः is equally to तस्याभिप्रायः. To remove this doubt the first Vārtika is given—“यस्य गुणस्य भावाद्”. A doubt then arises that इत्थन्त्व will not be explained; because in it, no property other than the व्यक्ति इत्थ is cognized (‘ततो व्यक्त्यतिरिक्तधर्माभावाद्’). This doubt is solved thus that here व्यक्ति is itself the sense of त्व (‘प्रकारत्वावच्छिन्नव्यक्तिरेव त्वार्थः’). For another solution of it, another Vārtika is given—‘सर्वे शब्दाः स्वैवार्थेन’. This is thus explained in the Māñjūsha—‘शब्दस्य द्विविधोऽर्थो वाच्यः प्रवृत्तिनिमित्तभूतश्च तदन्यतराभिधाने त्वप्रत्यय इति तदर्थः । तत्र वदत्वमित्यादावन्त्यस्तत्र प्रकृतिरर्थपरैव । आद्यः कुत्वं इत्थत्वमित्यादौ । तत्र प्रत्ययार्थादुपपत्त्या प्रकृतिः शब्दपरा ॥’ p. 202. This view is given in Harirāma’s commentary.

Page 224.

प्रत्ययार्थस्यैकदेशे &c.—

In ऐन्द्रं हविः, the Taddhita suffix अण् is added in the sense of ‘साऽस्य देवता’ ‘इन्द्रो देवतास्य ऐन्द्रम्’. Here the sense of the suffix is देवता-विशिष्टं देयम् or देवतोद्देश्यकं देयम्, i. e., the substance that is offered as an oblation in regard to a particular deity. Now देयम् is a विशेष्य and देवता, a विशेषण, the relation between them being that of the qualifier and the qualified. The sense of the base is an adjective to देवता, which itself is an adjective to a part of the sense of the suffix—“देवताविशिष्टं देयं प्रत्ययार्थः । तत्र च देवता विशेषणं देयं विशेष्यं प्रत्ययार्थस्य विशिष्टस्य एकदेशे विशेषणीभूतायां देवतायां प्रकृत्यर्थो विशेषणम् । ततश्चाग्न्यभिन्नदेवतादेयं चर्वादीति बोधः । अत्र पक्षे देवता पदार्थैकदेशः ॥ ” वैया० मतो०.

Another view is expressed in ‘देवतायां प्रदेये च खण्डशः शक्तिरस्तु वा’. In this view देवता and देय are both the expressed senses of the suffix. In the first view विशिष्ट or देवताविशिष्टदेय is the sense of the suffix, देवता is a part of the sense; while here both देवता and देय are the senses.

But it might be said that the sense of देवता comes from प्रकृति, the base to which the affix is added, and that it is not necessary to get it by the expressive power. Hence the third view is given in the next Kārikā—‘प्रदेय एव वा शक्तिः &c.’ The sense of the suffix is only प्रदेय (the oblation that is to be offered.) The base should be taken to convey the sense of देवता by निरुदलक्षणा. निरुदलक्षणा is taken in order that no suffix may be added to the word which does not express the sense of a deity by रुदि or अनादिप्रयोग (usage from times without beginning), but expresses it simply by the संकेत or the connection of a particular person like Mānavaka. “प्रदेयमात्रं प्रत्ययार्थः प्रकृतेस्तु देवतायां निरुदा लक्षणेत्यन्वयः ।

गुणप्रधानत्वं प्राग्वत् । अस्मिन् पक्षे लाघवम् प्रथमान्ते । निरुद्धलक्षणया देवता-
वाचकः शब्दः अस्य इत्यर्थे प्रत्ययसुत्पादयतीति सूत्रार्थः । निरुद्धलक्षणेति किम् ।
अग्निप्रभृतिभ्यो माणवकादिसंकेतितेभ्यो मा भूत् प्रत्ययः ॥" वैया० मतौ०

Page 226.

अभेदैकत्वसंख्याया वृत्तौ &c.—

This Kārikā is given to show what number is understood in complex formations. Two views are given on the authority of the Vākyapadiya. According to one view in complex formations we have a comprehension of singularity in such a way that other numbers are conceived existing there without any distinction. Just as the juices of all medicinal plants, placing their power in the honey of flowers, exist there without distinction or without being separately cognized; so does the idea of all numbers exist in singularity without any distinction. Another view is that in complex formations we comprehend number in general and that we have no comprehension of any particular number. In compounds like राजपुरुषः, we have a जिज्ञासा (curiosity to know) whether the man belongs to one king, two kings, or many kings; and since there is a rule that a desire of knowing a particular thing is preceded by the knowledge of the thing in general, it is necessary to assume a शक्ति or expressive power for our knowledge of the thing (in this case, number) in general. In some cases, a particular number is also comprehended, as in द्विपुत्रः and पञ्चपुत्रः. Similarly, in तावकीनः, singularity is suggested by तवक्. Where a particular number is not cognized, singularity is comprehended and the idea of other numbers is inseparably mixed up with it as juices of flowers are mixed up in मधु. In 'वसन्ताय कपि-जङ्गलालभेत', only three birds are comprehended from the plural number; because the idea of three comes first and there is no authority for abandoning this idea and taking up another. Similarly, in complex formations where there is nothing which gives us an idea of a particular number there is no authority for giving up the idea of singularity which comes first.

Vaiyākaraṇa Matonmajjini is clear:— “कपिजङ्गलालभेतेत्यत्र चोदनायां बहुत्वस्य त्रित्वेनैव कृतार्थत्वाच्छास्त्रार्थस्य च निर्वृद्धतया फलावाप्तेर्न चतुष्टयादिव-
शिष्टालम्भः । एवं प्रक्रियायां वृत्त्यर्थं स्रवन्तस्यावश्यकत्वात् तस्य चैकत्वेनैव कृतार्थ-
त्वाद् द्वित्वादप्रतीतौ मानाभावः ॥”

The idea of four and more includes the idea of three; it cannot exclude it, as the idea of three can exclude that of four and more. Hence because the idea of three arises before that of four and more, and because the

sense of the S'ruti is explained by taking three कृपिञ्जल's, it would be a sin to slaughter more than three—"त्रित्वेनैव शाखस्य कृतत्वात् । यो हि चतुष्टादिसंख्यामुपादत्ते तेन न तदन्तर्भूतं त्रित्वं वर्जयितुं शक्यम् । त्रित्वमुपादानेन त्वन्तर्भूतं चतुष्टादिकं वर्जयितुं शक्यते । अतोऽवश्यंभाविस्त्वेन प्रथमभावित्वेन लाघवेन च त्रित्व उपात्ते शाखार्थसिद्धौ ततोऽधिकपक्षिर्हिसायां प्रत्यवायात् ॥" जैमि० न्याय-मा० वि०, p. 625.

Page 229.

लक्ष्याहुरोवात् &c.—

In सोमयाग there is a श्रुति—'दशपवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि'. Here the Mīmāṃsaka view is as follows:—The पूर्वपक्ष is expressed in the Sūtra 'एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्' ३।१।१३. ग्रहम् being singular, only one ग्रह is meant—'एकं हि द्रव्यं श्रूयते शब्दलक्षणे च हि कर्मणि यत् शब्द आह तदस्मार्कं प्रमाणम् ।' शाव० भा०, p. 247. The word ग्रहम् expresses singularity and therefore one ग्रह must be taken to be the sense, just as in पशुमालभेत, only one पशु and that a male one is sacrificed. Then follow two सिद्धान्त Sūtras. The first is—'सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम्' ३।१।१४. ग्रह expresses the sense of ग्रहजाति or ग्रहत्व and indicates, by लक्षणा, the substance ग्रह. With regard to this ग्रह, purification is predicated. No particular ग्रह is here cognized. Since we have the knowledge of ग्रह in general and of no particular ग्रह, we must understand all ग्रह's. "ग्रहजात्या द्रव्यं लक्षयित्वा संमार्गादि विधीयते । अवशिष्टं च लक्षणं सर्व-द्रव्येषु । तन्न न गम्यते विशेषः को ग्रहः संमार्ष्टव्य को न इति । सामान्यावगमाद्विशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः ।" शाव० भा०, p. 248. The second 'सिद्धान्त Sūtra 'चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयते' ३।१।१५ is given to meet the objection that ग्रहं संमार्ष्टि is like पशुमालभेत. The comparison is not proper. In पशुमालभेत, we have यागार्थः पशुः ; while in ग्रहं संमार्ष्टि we have ग्रहार्थः संमार्गः. Thus in ग्रहं संमार्ष्टि, ग्रह is the principal idea and purification is subordinate and by the rule that a subordinate thing must be repeated with every principal thing, the sense comes to be that as many cups as exist must be purified—"ग्रहं प्रति गुणः संमार्गः । 'प्रतिप्रदानं च गुण आवर्तनीयः' इति न्यायेन यावन्तो ग्रहाः सन्ति ते संमार्जनीयाः ।" जैमि० न्या० वि०, p. 136.

The Kārikā लक्ष्याहुरोवात् &c. means whether number is intended to be expressed or not expressed in attributive and predicative words depends upon particular instances (लक्ष्य). We cannot make it a rule just as the Mīmāṃsakas have done that in an attributive word number is not intended to be expressed, while in a predicative word it is intended to be expressed—"उद्देश्यविधेययोः संख्याविवक्षाविवक्षे लक्ष्याहुरोवात् ।

न तु गुणे संख्याविवक्षिता विधेये तु विवक्षितेति मीमांसकपन्था अस्माभिरादृत्यः ।
उद्देश्यविधेययोः संख्याया अविवक्षात्तद्वैपलब्धेः ॥" वैया० मत०.

In ग्रहं संमार्ष्टि, ग्रह is उद्देश्य and संमार्जन, विधेय. Here the संख्यारूपवि-
शेषण, i. e., the singularity in regard to the उद्देश्य ग्रह, is not intended to
be expressed and therefore what is meant is that all cups must be puri-
fied. Such is the view of the Mimāṃsakas. The grammarians do not
accept this view; because the singularity in 'धातोः' is intended to be
expressed; and this is approved even by Bhaṭṭapāda, the Vārtikakāra
on the Mimāṃsā in the verse 'उत्पद्येत समस्तेभ्यः &c.'. It means just
as the sense of all the members of the Dvandvā compound is qualified
by the sense of case terminations, number &c., so, if terminations are
affixed to a collection of roots, then the sense of all these roots would be
connected with that of the sense of these terminations. Similarly,
the adjective बलादेः in 'आर्धधातुकस्येद् बलादेः' is also desired to be
expressed.

Again the Mimāṃsakas hold that in पशुना यजेत, पशु is the predicate,
the sense being वागार्थः पशुः and the adjectives, the singular number and
the masculine gender, are desired to be expressed. Consequently, the
meaning is that only one beast and that a male one is offered as a sacri-
fice. The grammarian does not accept this नियम (restriction), viz.,
that adjectives of predicates are अविवक्षित (not intended to be expressed);
for if this view be accepted, the two नकार's in भिन्न according to the
Sūtra 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' would not take place; since नः is
in the singular number. Moreover, गुणः which is विधेय in 'आहुणः' is
singular and if singularity be intended to be expressed, the word एकः in
'एकः पूर्वपरयोः' would be meaningless.

Page 229.

विधेये भेदकं तन्त्रं—

But it might be said the adjectives of predicates must be taken
to be विवक्षित; otherwise in भिन्न, there would be endless नकार's; and एकः
in 'एकः पूर्वपरयोः' is given to prevent a different आदेश when there is
a different स्थानी. For the refutation of this objection the above Kārikā
is given. It means that adjectives in predicates are intended to be ex-
pressed; but there is no invariable rule (नियम) in regard to those of
the subject (उद्देश्य). In some places they are intended to be expressed
and in some they are not intended to be expressed. Thus in 'धातोः' and
'ङ्यापप्रातिपदिकात्', the singular is intended to be expressed; while in
'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' it is not intended to be expressed.

Page 230.

रदाभ्यां वाक्यभेदेन &c.—

But it might be said that if adjectives of predicates are intended to be expressed, the नः in 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' must be taken to be singular and thus in भिन्नः we cannot get two नकार's. To meet this objection the above Kārikā is given. It means that the two नकार's will be arrived at by वाक्यभेद, i. e., taking two different sentences in the Sūtra and this वाक्यभेद is suggested by the word च in the Sūtra. Thus there is no destruction of the rule that adjectives of the predicate are intended to be expressed (विवक्षित). It might again be urged that the idea of singularity can be arrived at from गुणः in 'आटुणः' and वृद्धिः in 'वृद्धिरेचि' and that therefore in the अधिकारसूत्र 'एकः पूर्वपरयोः', एकः would be meaningless. This objection can be answered by stating that एकः is rejected by the Bhāṣhyakāra in explaining the Vārtika 'न वा द्रव्यवत् कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिवृत्तिः'. The Bhāṣhyakāra says:—
 "द्रव्येषु कर्मचोदनायां द्वयोरेकस्याभिनिवृत्तिर्भवति । अनयोः पृथग्योः कटं कुरु । अनयोः सृष्टिपण्डयोर्वटं कुर्विति । न चोच्यते एकमित्येकं चासौ करोति ॥".
 Vol. III., p. 56.

Page 232.

अव्ययकृत इत्युक्तेः—

In भोक्तुं पचति, भुक्त्वा व्रजति, &c. we have एकवाक्यता or one sentence; and this oneness of the sentence cannot be arrived at unless we take the relation of the qualifier and the qualified between the two actions of cooking and eating and going and cooking. For, if oneness of the sentence is accepted without this relation, भुङ्क्ते व्रजति would also be one sentence. Thus the relation subsisting between two actions is that of the qualifier and the qualified and may be of various sorts:—(1) जन्यत्व, the relation of the producer and the produced; (2) सामानाधिकरण्य or the relation of apposition; (3) पूर्वोत्तरभाव or the relation of one taking place after another; (4) व्याप्यत्व or the relation of concomitance. भोक्तुं पचति and भुक्त्वा व्रजति are instances of the जन्यत्व relation; for the sense is भोजनजनिका पाकक्रिया and भोजनजन्या व्रजति. भुक्त्वा व्रजति illustrates the relations of सामानाधिकरण्य and पूर्वोत्तरभाव. The relation of सामानाधिकरण्य presupposes the sameness of the agent of both the actions. भुक्त्वा व्रजति consequently means that the actions of eating and going are performed by the same agent and that the action of going follows that of eating. अधीत्य तिष्ठति and मुखं व्यादाय स्वपिति are not used when study (अध्ययन) is not carried on or when the mouth is not opened; and the sense is whenever he stands or sleeps, he studies and opens his mouth.

Thus the relation here is that of व्याप्यत्व and also सामानाधिकरण्य. Thus the sense of these relations being obtained from another source (अन्यलभ्यत्वाद् वाक्यशक्तिरभ्यत्वादित्यर्थः), viz., from the expressive power of the sentence, the Sūtras should not be taken to express these senses. क्त्वा, तुम्, &c. only suggest this sense. 'एवं च वाक्यशक्त्योक्तसं-वन्धतात्पर्यग्राहकः क्त्वादयः' मञ्जूषा, p. 111. Their expressed sense is simply भाव or action—'तुमुनादीनामसत्त्वभूतो भाव एवार्थः। अव्ययकृतो भाव इत्युक्तेः। पाक इत्यादाविव तुमुनर्थे वैलक्षण्याननुभवात्। एवं चायं धात्वर्थादुवाचक एव।' मञ्जूषा, p. 110. भाव is to be understood here as साध्यावस्थापन and not सिद्धावस्थापन as in वचन्त words Vanamālimis'ra notes the purport of this Kārikā as follows:—“समानकर्तृकयोः पूर्वकाले इति सूत्रात् समानकर्तृकत्वं क्त्वावाच्यमिति वैयाकरणमतमिति नैयायिकानां भ्रमं निरसितुं क्त्वावर्थं निरूपयति—अव्ययकृत इत्यादि।... भुक्त्वा व्रजतीत्यत्र हि भोजनक्रिया व्रजनक्रियाया विशेषणं तयोः सामानाधिकरण्यं पूर्वोत्तरभावश्चेति संसर्गाशयोक्तकाः क्त्वादय इत्यर्थः ॥”. It is because क्त्वा suggests the sense of the form ending in it and the principal verbal form having the same agent &c., that Kaiyata, in explaining the passage from the Bhāshya—‘इह कस्मान् भवति। पूर्वं भुङ्क्ते पश्चाद्व्रजतीति। स्वशब्देनोक्तत्वात् भवति। न तर्हीदानीमिदं भवति पूर्वं भुक्त्वा ततो व्रजतीति। नैतत् क्रियापौर्वकाल्यम्। किं तर्हि। कर्तृपौर्वकाल्यमेतत्। पूर्वं ह्यसौ भुक्त्वान्येभ्यो भोक्तृभ्यस्ततः पश्चाद्व्रजत्यन्येभ्यो व्रजितृभ्यः।’ (Bhāshya, Vol. II., p. 172)—observes that क्त्वा and such other suffixes are applied to roots when the succession of actions is to be suggested, not when it is expressed.

An objection is raised that according to the Sūtra ‘समानकर्तृकयोः पूर्वकाले’ क्त्वा expresses the sense of the sameness of the agent; otherwise, in ‘ओदनं पक्त्वाहं भोक्ष्ये’, we would have to use मया instead of अहम्. It will not do to say that the sense of the subject having been expressed by the verbal suffix, the Instrumental case is not used; for though the agent of the action of eating is expressed, the sense of the agent of the action of cooking is not expressed; and the Sūtra ‘कर्तृकरणयोस्तृतीया’ teaches that the Instrumental is used when the sense of the agent is not expressed by the verbal form. It is thus that in प्रासादे आस्ते, though the place of action (अधिकरण) expressed by the root प्रसद्, (causal form) is expressed, the Locative is used because the place of the action expressed by आस् is not expressed. Therefore, it is necessary that the suffix क्त्वा must express the sense of the agent.

This objection, we say, is not valid; for the Sūtra does not teach us that an agent is the expressed sense of क्त्वा. The sense of the Sūtra is simply this:—When there are two actions having the same agent, क्त्वा

is affixed to a root denoting the action which precedes the action denoted by the other. Otherwise, the Sūtra would be only 'समानकर्तरि'. In 'ओदनं पक्त्वाहं न भोक्ष्ये' the Instrumental is not used; because the agent of the action denoted by the principal verb is expressed and action in regard to a subordinate verb is in consonance with that of the principal verb. Bhartṛihari says that when a termination expresses a power belonging to a principal action, then the action is to be understood in the same way in a subordinate verb, even though unexpressed by it. It is thus that we have in 'तेषां पक्त्वोदनो भुज्यते देवदत्तेन', ओदन used in the Nom.; the sense of the object is expressed by the principal verb भुज्यते and is therefore to be taken as expressed by पक्त्वा also.

Page 236.

वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्वे—

Whence does sense arise? Does it arise from letters or from words or from a sentence? It cannot arise from letters. For, if letters are expressive of sense, we might comprehend some sense from individual letters constituting a word. Thus since letters, taken singly, have no expressive power, they cannot have expressive power, when taken together. If each individual letter has no expressive power, the collection of such letters can have no expressive power. Moreover, letters are transient and cannot therefore form a collection. It will not do to say that the knowledge of the last letter accompanied by impressions made on the mind by preceding letters will make it possible for sense to be conveyed; for, if it were so, the present knowledge of only the last letter of a word accompanied by impressions of preceding letters made on the last day ought to convey sense. Nor will it do to say that after each letter of a word is cognized, the collection of letters makes an impression and when the impression of the collection of letters is remembered, sense arises; for, if this were the correct view, we cannot distinguish between words like नदी and दीन and राजा and जारा. It is on account of these reasons that grammarians assume स्फोट. The above reasons are expressed in brief in the following couplet:—

‘एकैकवर्णासामर्थ्यान्मेलकादुपपत्तिः ।

एकदुर्देर्नदीदीनसाम्यात् स्फोटः स च द्विधा ॥’

Thus grammarians accept स्फोट, which is different from letters and which is suggested by the knowledge of the last letter accompanied by impressions made by preceding letters. It is ध्वन्यात्मक, नित्य, and वक्षस्वरूप.

The same ideas are well put forth in Śeṣhakṛiṣṇa's Sphoṭatattvanirūpaṇa:-

‘न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः ।

अर्थस्य वाचका वर्णाः किं तु स्फोटः स च द्विधा ॥’

The sense is that letters do not convey sense singly; for, if they do, the first letter alone would do it and the remaining letters would be meaningless. Nor can letters convey sense jointly; for letters perish as soon as they are pronounced and thus there can be no collecting of them. Nor can they bring out sense, being cognized by the same act of memory; for, if it were so, there would be no distinction between words like नदी and दीन and रस and सर, since they come under the same act of memory, consisting as they do of the same letters. We must therefore accept स्फोट, which is suggested (व्यङ्ग्य) by letters, which is imperishable, and has no parts. The Sanskrit commentary on this is brief and clear:-‘तत्र वर्णा न प्रत्येकमर्थमभिदधति । प्रथमवर्णदिवार्थ-प्रतीतौ वर्णान्तरवैयर्थ्यापत्तेः । नापि मिलिताः । उच्चरितप्रध्वंसिनां क्रमिकाणां मेलनाभावात् । नाप्येकस्मृतिगोचराः । नदी रस इत्यादौ दीन सर इत्येकस्मृतिद्वि-षयत्वेनाविरोधापत्तेः । अतो वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटो वाक्यस्फोटो वानवयव एको नित्योऽर्थवाचकः ॥’ वादार्थसंग्रह, p. 1.

But it might be said that letters are imperishable; for we recognized them as the same and so their collection is possible. No. If they are held to be imperishable, because we recognize them, why should they not be held to be perishable, because we have a cognition—a letter is produced, it is destroyed, and so on—

‘वर्णानां प्रत्यभिज्ञानबलात् स्यान्नित्यता यदि ।

अनित्यतैव किं न स्यादुत्पादादिधियां बलात् ॥’

On this the following extracts from the commentary are worth perusal:—‘योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं सोऽहमिदानीं नमूननुभवामाति प्रत्यभिज्ञानबलादात्मनो नित्यत्वमिव स एवायं गकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञानबलाद् वर्णानां नित्यत्वम् । यद्यपि सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञास्ति तथाप्युत्पन्नो गकारो विनष्टो गकारस्तारो गकारो मन्दो गकार इत्याद्यनेकप्रतीतिबलेन भेदे भासमाने प्रत्यभिज्ञायास्त-जातीयत्वं विषयो न तु व्युत्पत्त्यभेदः ॥’ वादार्थसंग्रह, pp. 2 and 3.

It will not do, again, to say that sense arises from the cognition of the last letter accompanied by impressions made by the preceding letters; because it is but natural that an impression produced from the knowledge of a certain object should create remembrance of the same object (‘यो यद्विषयानुभवजन्यः स तद्विषयां स्मृतिं प्रसृत इति संस्कारस्य स्वभावः । अर्थप्रत्ययप्रसवे त्वसौ विपर्ययेत्’ वादा, p. 4). Impressions generated by the

knowledge of letters should consequently create a remembrance of letters only and not their sense—

‘पूर्वाभूतसंस्कारकूटान् नान्त्यस्पृशोऽर्थधीः ।

स्वभावस्य विपर्ययात् कल्पनेऽन्यस्य गौरवात् ॥’ स्फोटतत्त्वनिरूपण. p. ६.

But if imperishable स्फोट is suggested from letters, how is it that we have a cognition of different senses from the same letters? The reason is that just as one and the same face assumes different forms when viewed in a diamond, a sword, &c., so स्फोट is one and the same, but it seems different in different sounds—

‘यथा मणिकृपाणादौ मुखमेकमनेकथा ।

तथैव ध्वनिषु स्फोट एक एव विभियते ॥’ स्फोटः, p. ११.

How does स्फोट arise? If all the sounds are suggestive of स्फोट, it should arise from the first sound and the second and other sounds would be useless (‘ननु प्रत्येकमभिव्यञ्जकत्वे ध्वनीनां प्रथमादेव ध्वनेः स्फोट-प्रतीतेस्तन्मात्रनिवन्धनत्वाच्चार्थप्रतीतेरुपपत्तौ द्वितीयादीनामानर्थक्यम्’ Com., p. 9). To meet this objection S’eshakrishna says, the essence of स्फोट flashes upon the mind when the cognition of the last letter arises, accompanied by impressions made by the preceding letters. The case is similar to the examination of jewels; of which the essence cannot be known unless they are seen five or six times—

‘पूर्वपूर्वाभूज्जन्यभावनासचिवेऽन्तिमे ।

चेतसि स्फुरति स्फोटो रत्नतत्त्वमिव स्फुटम् ॥’ स्फोटः, p. १३.

The commentary on this is clear:—‘तथा च पूर्वपूर्ववर्णाभिव्यक्तिजनितसंस्कारसहितचरममुद्वौ स्फुटतरं चकास्ति स्फोटतत्त्वमिति प्रागनुस्पर्शायास्तदनन्तरमुत्पादोऽर्थधिय इति नोचरेपामानर्थक्यम् ।...यथा रत्नपरीक्षिणः पुनः पुन रत्नं वीक्षमाणस्य रत्नदर्शनानि प्रत्येकं रत्नस्वरूपमवगाहमानान्यपि न सहसैव समानासमानजातीयव्यावृत्तं तत्त्वमवभासयन्ति । किं तु पञ्चपददर्शनजनितसंस्कारसचिवे चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वम् ॥’.

Though there are eight varieties of स्फोट, viz., वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, अखण्डवाक्यस्फोट, वर्णजातिस्फोट, पदजातिस्फोट, and वाक्यजातिस्फोट and they are all accepted by grammarians and though consequently the word वाक्य in the Kārikā वाक्यस्फोटो &c. is not required, still it is given to show that all the स्फोटs other than the वाक्यस्फोट are not real. That वाक्यस्फोट is the very essence of all the स्फोटs is the view of the Mahābhāṣyakāra and other grammarians. Now Bhattoji Dikshita treats of all the varieties of स्फोट in order and first takes up वर्णस्फोट. In a correct word like रामः and पचति, विसर्गः,

तिप्, &c. are expressive of sense and not च and other case terminations and लकार which are remembered on account of them (विसर्ग and तिप्).

Page 237.

व्यवस्थितेर्व्यवहृते—

It might be said that तिप् &c. are not expressive of power; for they are many and consequently we shall have to conceive endless expressive powers. The लकार's therefore of which they are substitutes should be taken to have the expressive power. To this view the Sûtras 'लः कर्मणि' &c. are favourable. There is no Sûtra expressing the sense of substitutes. वर्णस्फोट is not therefore proper; because the letters which are heard, तिप् &c., have no expressive power. It is to meet these objections that the above Kârikâ is given. The sense is as follows:—If the letters तिप् &c. which are heard have no expressive power and if those of which they are substitutes, the लकार which are remembered, are taken to have the expressive power, there would be confusion. The confusion is generally explained as under:—For what is to be remembered from the Visarga in रामः? Should the सिः of students of the Kalâpa grammar be remembered, or the सु of followers of Pânini be remembered or the रु of other grammarians? One who has studied all these grammars does not know which of these is to be remembered; for there is nothing which would lead him to be disposed to one view rather than to others. This explanation, says Kondaḥḥaṭṭa, is wrong; for there is no harm if any one of them—सिः, सुः, रुः—is remembered. It is on this very account that there is no difference if we get an idea of a jar from the word बट् or कलशः. Therefore the sense should be this—that if लकार have the expressive power, one who does not know them would understand nothing from पचति &c. Or it might be explained to mean that in words like रामः, since those suffixes of which विसर्ग is the substitute are different (सिः, सुः, रुः) according to different theorists, there is nothing to determine which of these has the expressive power and which has no such power and hence there is confusion. The substitutes, विसर्ग &c., however, being certain and definite in all grammars, there is no such fault of confusion.

Another ground for taking substitutes to have the expressive power is that व्यवहार or usage is taken by all grammarians to be the best of those means which make us cognize the expressive power; and usage points

to तिङ् &c. which are heard and therefore तिङ् &c. have the expressive power and prolixity in this view is no defect.

Another ground for taking substitutes to have the expressive power is as follows:—If लकारs have the expressive power, we might understand some sense from भ्रुल; and if you allege that the utterance of पचति is a case of that knowledge of sense, then we say that the utterance of ति &c. which is quite necessary must be taken to have the expressive power. Otherwise, we shall have to conceive both the expressive power of लकारs and the utterance of ति as a cause and thus there would be prolixity. Thus there being no argument inclining us to either of the two alternatives more than to the other, the two alternatives being whether the collection of such letters or the letters so collected have the expressive power, we must take the letters actually used to have the expressive power.

Moreover, if the आख्यात suffixes तिप् &c. and the Kṛit suffixes शतृ &c. make us remember the लकारs, then what is the cause of the Mīmāṃsakas and the Naiyāyikas for trying to establish that the तिङ् suffixes do not express the senses of the agent but they express the senses of यत्न (effort) and भावना (action), while the suffix कृत् expresses the sense of the agent?—“आख्यातेन तिबादिना शत्रायैः कृद्भिश्च यदि लक्ष्म्यानि स्मार्यन्ते तर्हि आख्यातेन कर्ता न वाच्योऽपि तु यत्न-भावेन कृति कर्ता वाच्य इत्यर्थादुच्यते किं नीजमित्यर्थः ॥” वन० मि० वैया० मतौ०. Moreover, if the substitutes have the expressive power, the division that as तिङ् the expressive power lies in action, while as मान् &c. it lies in the agent is proper. It will not do to suppose that in शानच् &c. action is the sense of लकारs and the substratum (आश्रय) of action is the sense of शानच्; because the Sūtra ‘कर्तरि कृत्’ teaches us. This supposition is wrong; because the Sūtra ‘कर्तरि कृत्’ cannot apply to शानच् &c. without having any connection whatever with the sense of the स्थानी, that is, that (कृत्) of which शानच् is the substitute; for, if it were so, the Sūtra would apply to वञ्च् and other suffixes as well.

Page 238.

तरबाद्यन्तं—

But it might be said that in चैत्रः पचमानः, in order to support the relation of apposition which exists, कर्ता or the agent must be taken to be the expressed sense of शानच्. To meet this objection, the above Kārikā is given. A counter argument is put forth as under:—In पचतितरां मैत्रः and पचतिकल्पं मैत्रः, the syntactical connection of मैत्र with

the भावना expressed by पचतितराम् and पचतिकल्पम् is impossible and therefore to make it possible, कर्ता or agent must be taken to be the expressed sense of तिङ् also; because the rule that the sense of a noun and the sense of a root must be grammatically connected by the relation of identity. If it be alleged that a word ending in तरप् is a noun and not the suffix तरप्, it might as well be advanced that a word ending in शानच् is a noun and not the suffix शानच्. Nor will it do to say that in पचतिकल्पम्, लक्षणा must be resorted to, to arrive at the sense of the agent; for the same will have to be taken in पचमान also. It should not also be advanced that the suffix शानच् is not proved to denote any thing else than the agent by its expressive power; for just as the तिङ् suffixes denote action by their expressive power, so is पचमानः also conceived to express action and मान having no expressive power like तिप्, लकार is in both cases taken to have the लक्ष्य sense. Therefore it is proved that the letters mentioned together must be taken to have the expressive power. Now, finally, if it be alleged that the Sūtra 'लः कर्मणि' teaches that लकार has the expressive power, and there are no Sūtras that teach that तिङ् has the expressive power, it consequently follows that the लकार must be taken to have the expressive power and not तिङ् suffixes; तिङ् suffixes are the substitutes of ल and have therefore the senses of the agent &c.—if it be so advanced, we say, this is true; the power of expressing sense (बोधकत्वरूपशक्ति) is virtually in the suffixes तिङ् &c. and is assumed to exist for the sake of conciseness of teaching (अनुशासनलाघव) in the लकार which are conceived; and taking this power of expressing sense (बोधकत्वरूपशक्ति), ancient grammarians explain the sense and their explanation of sense is not therefore inconsistent.

Page 238.

अथादेशा वाचकाश्चेत् &c.—

Letters mentioned together having thus been proved to have the expressive power, पदस्फोट is also proved; and this is shown in the above Kārikā. If the substitutes have the expressive power, पदस्फोट is thereby clear. What is meant is this. The power favourable to giving us a knowledge of sense resides in the collection of letters and not in each letter. For if it resides in each letter, in धनं, वनम् &c. न would be dropped by 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'; for each letter having sense is proved to be a प्रातिपदिक, and न् is a पद ending in it. Moreover, सप् suffixes would have to be added to each letter and would be

consequently heard by us. Again, if each letter has the power of expressing sense, we would understand sense from each letter; for all letters have the power of expressing sense. It would again be useless to pronounce letters other than the first; for sense is conveyed by the first. If you advance an argument that each letter creates a remembrance of sense, while the last creates it clearly and it cannot be objected that such a difference is possible in प्रत्यक्षज्ञान or Perception, not in remembrance; for a difference must be accepted in remembrance also, there being nothing to prevent it and it is on this very account that निर्विकल्पकस्मरण (remembrance in which there is no attribute or प्रकार) is accepted—If you advance an argument like this, it is not proper. Remembrance of sense in regard to each letter is what is opposed to experience, is unauthoritative, and leads to prolixity (गौरव). Therefore the expressive power is to be taken as existing in regard to the base and the suffixes, in the collection and not in each letter; and this cannot be proved if the substitutes are taken to have no expressive power and hence this Kârikâ.

Page 239.

घटेनेत्यादिषु &c.—

In घटेन, what is the base and what is the suffix? There is nothing which would make us determine that घट is the base and एन is the suffix or घटे is the base and न is the suffix. But it might be said that according to the Sûtra 'दाडसिङ्गामिनात्स्याः' it can be easily said that in घटेन, न alone is the suffix and thus there is no impropriety; for grammarians can know it very easily. It is therefore that the second half of the Kârikâ is given. According to the Sûtra 'बहुवचनस्य वस्-नसौ', the substitutes वस् and नस् are here predicated of the whole collection, it is not possible to know here the base and the suffix.

Page 240.

हरेऽवेत्यादि द्वया च &c.—

In हरेऽव, विष्णोऽव &c. though the *padas* are not known clearly because the two vowels have here been combined into one according to the Sûtra 'एङः पदान्तादति', still we have knowledge of sense from the knowledge of the expressive power residing in the collection of words and hence the expressive power in the collection of words is quite necessary. Thus though the bases and the suffixes are not known distinctly, the sense is known through knowledge of the collection, the expressive

power in the collection of words is therefore quite necessary. Virtually speaking, just as we know the sense of words from words, so do we know the sense of words from a sentence also and consequently just as the expressive power of the sense of words is accepted in words, so is the expressive power of the sense of a sentence to be accepted in a sentence. We have accordingly both पदस्फोट and वाक्यस्फोट. If we do not accept वाक्यस्फोट even one who is devoid of the knowledge of the expressive power of a sentence (वाक्यशक्ति), which makes us acquainted with the connection of the senses of words (पदार्थसंसर्ग), would understand the sense of words like घटः कर्मस्वमानयनं कृतिः; for, though here as in घटमानय, the senses of words stand before the mind, there is no knowledge of the purport (तात्पर्य). If it be said that to a person who knows the relation of cause and effect, viz., that the mentioning together of the case-termination expressive of the object of a verb, after a crude form having the sense of a jar, then of the root, and then of the तिङ् suffixes understands the sense, viz. that of the action of bringing of which a jar is the object, and in understanding this sense, the knowledge which leads him to the sense subsisting in the mentioning together of words,—if you say so, then our theory of वाक्यस्फोट is proved. For just as we assume that in the knowledge of the sense of the word घट, the relation of cause and effect, viz., the knowledge of the power of words which makes us acquainted with the sense of घट is the cause, so in the knowledge of a sentence the knowledge of the power of a sentence which makes us acquainted with the sense subsisting in a sentence which consists of words mentioned together is a cause; and a शक्ति or power is nothing but the cause of the knowledge of the function of words which leads us to a knowledge giving us their senses.

But a doubt might arise, that the sense of a sentence being something unknown before (अपूर्व), how can the expressive power be taken there? To solve this the Kārikā-अर्थे विशिष्य° &c. is given. The sense is as under:—The same might be said in regard to the theory that the power resides in words and is favourable to or leads to the knowledge of the sense of a sentence. The truth is that even those who maintain that the sense of a sentence is secondary or implied (लक्ष्य) or that the expressive power resides in words connected together (अन्वित) will have the same difficulty; they too cannot accept the expressive power, because the sense of a sentence or of words connected (अन्वित) does not arise before. If you however say that after the senses of words are known from words, from the same words the sense of a sentence

is known through the help of आकाङ्क्षा (expectancy of words), योग्यता (propriety of words), and संनिधि (proximity of words), still since the sense of a sentence does not arise from a वृत्ति, the knowledge cannot be taken as शाब्द or arising from the expressive power of words and so in the midst of this we have to accept लक्षणा. The case is similar to this. A person who does not know the particular river Haridrā, if he hears हरिद्रायां नद्यां घोषः, understands just there (when he hears the sentence) that Haridrā is a particular river from its proximity with the word नदी, just as a knowledge of the bank of a river arises from its connection with it. If you advance such an argument, we might say that the same is the case in our theory also. If again you advance that the power resides in words connected (अन्वित), but that the power is unknown so far as the part अन्वय is concerned and that it is known in so far as the sense of words is concerned; then we might advance equally that the power of a sentence is unknown, while that of words is known.

If it be said that seeing the usage of the old, the mind gets the senses of words, it is the same in regard to the sense of a sentence. The truth is that the sense of a sentence arises first and then that of words, by आवाप (taking together) and उद्धाप (rejecting).

Vanamālinis'ra's brief notes are as follows :—‘वाक्यार्थेन सह वाक्यीय-संबन्धस्याग्रहणं चेत् तर्हि पदेऽपि समम् । पदस्यापि पूर्वं पदार्थे शक्तिर्न गृहीता । यथा साम्प्रतिकस्तव मते पदस्य शक्तिग्रहस्तथा मम मते वाक्यस्येत्यर्थः । एतदेवाह-लक्षणादिति । लक्षणादनुशासनात् सूत्रवार्तिकभाष्याणामन्यतमात् पदस्य पदार्थेऽधुना चेच्छक्तिग्रहणं तर्हि तच्छक्तिग्रहणमर्थे वाक्यार्थे तथा लक्षणाच्छक्तिग्रहणमित्यन्वयः । अखण्डं पदं समीक्ष्य रेखागव्यन्यायेनोत्प्रेक्षितप्रकृतिप्रत्ययागमाद्वक्षणेन बुद्ध्यारूढं कृत्वा यथा पदस्य पदार्थे शक्तिग्रहणमेवमखण्डं वाक्यं समीक्ष्य रेखागव्यन्यायेन स्वीकृततदवयवान् बुद्ध्यारूढान् कृत्वा वाक्यार्थे वाक्यस्य शक्तिग्रहणमित्युक्तं भवति ॥’

Page 241.

सर्वत्रैव हि वाक्यार्थः—

The followers of Kumārilabhaṭṭa hold that the sense of a sentence, everywhere, *i. e.* in a collection of words ending in सुप् and तिङ्, is लक्ष्य, and not शक्य; they too explain the same mode of taking लक्षणा. Having known the sense of words from the teaching of grammarians we must accept लक्षणा or the power of implication in understanding the sense of a sentence (‘अनुशासनात् पदं पदार्थं बुद्ध्यावारोह्य पश्चात् पदसमुदायस्य विशिष्टेऽर्थे लक्षणेत्यर्थः ।’ वन०). They should be asked why they do

not arrive at the sense of a sentence by the expressive power, the reasoning being the same in both the cases ('युक्तिसाम्यात् पदवद्वाक्यस्यापि शक्तिरेव कुतो नेति तु त एव ग्रहण्याः ।' वन०).

Page 249.

पदे न वर्णा विद्यन्ते &c.—

वाक्यस्फोट and पदस्फोट are of two kinds, अखण्ड and सखण्ड. The best view is that they are both अखण्ड; and this view is given in this Kārikā. Both पद and वाक्य are to be taken as a whole; not as a collection of letters or as a collection of words; because our knowledge arises in this form—The पद is one, the वाक्य is one; here in the collection of letters, we have a knowledge of पद as a whole and here in the collection of words, we have a knowledge of the sentence as a whole ('एकं पदमेकं वाक्यमिह वर्णमालायां पदमिह पदमालायां वाक्यमित्यादिप्रतीतिः' वैया० मत०). There is no authority for assuming numberless letters. The variety in the knowledge—this is ककार, this is गकार, &c.—can be explained simply by taking a variety in the characteristic property (अवच्छेदक) of producing or suggesting various letters, residing in the conjunction of the wind necessary for the production of different letters. The Bhāmatikāra says the same thing when he observes that the shrillness (तारस्व) &c. residing in the wind is superimposed upon letters.

Page 253.

पञ्चकोशादिवत् &c.—

But one might say that if अखण्डपदस्फोट and अखण्डवाक्यस्फोट be accepted, the S'āstras would be useless; because they teach how words are formed and how they are made up of the base and the suffixes. It is to remove this doubt that the above Kārikā is given. The sense is as follows:—In the Bhriguvalī it is mentioned that Varuṇa went to his father and asked him what Brahman was. The father replied, 'शरीर or अन्न is the Brahman'. Varuṇa thought for some time, understanding this to be correct. Having then seen the creation and the destruction of the body, he went to his father again and asked him what the Brahman was. The father then taught him that प्राण was the Brahman. Having found that प्राण also was perishable, he sought instruction from his father again and was then taught that मनस् was the Brahman. Having found that that too was perishable, he approached his father again and was then taught that knowledge or ब्रह्मपदित आत्मा was the Brahman; and this too having been found to be perishable, he was finally taught that आनन्द was the Brahman and he thus knew the real characteristics of

Brahman. Just as a knowledge of the five sheaths in the Vedānta is simply for the knowledge of the Brahman; so here too the knowledge of the base, the suffixes &c. is simply for the knowledge of the real स्फोट.

Koṇḍabhatta says that this explanation of the verse is not correct. The five sheaths mentioned in the Bhriguvalī are not to be taken here as instances; because there the fifth is not a means to approach the Brahman and is not therefore a sheath. It is Brahman itself. Therefore Ānandavallī and not Bhriguvalī should be understood here; for there all the five sheaths are means; there in the sentence ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, the word ब्रह्मन् which is heard, leads to the real Brahman. पुच्छ cannot be taken in the primary or expressed sense of a tail. It is to be taken in the sense of आधार. Śaṅkarācārya clearly explains this as under:—
 “एवं च कामोपशमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते । एवं चोत्कृष्यमाणस्यानन्दमयस्यात्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञानापेक्षया ब्रह्म परमेव यत् प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तलक्षणं यस्य च प्रतिपत्त्यर्थं पञ्चाद्यादिमयाः कोशा उपन्यस्ताः । यच्च तेभ्योऽभ्यन्तरं येन च ते सर्व आत्मवन्तस्तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।” तैत्तिरीयो-
 पनिषद्, p. 69.

The word आदि in पञ्चकोशादि is to be taken to mean शाखाचन्द्रन्याय, स्थूलान्धतीन्याय, &c. The second half of the Kārikā means—Many are the उपाय's and therefore they are not definite for the knowledge of the उपेय. उपाय's mean प्रकृति, प्रत्यय, &c. उपेय-पद, वाक्य (‘उपेयानां वस्तु-भूतानां पदवाक्यादीनामुपायाः प्रकृतिप्रत्ययादयः’ वैया० मतौ०).

उपेयप्रति° is given to answer the objection that a knowledge of स्फोट which can be arrived at by perception is possible through the sense of ear &c.; the Śāstra therefore is not a means of arriving at it. The answer to this objection is that one means does not render another faulty. Thus a variety of causes is assumed in the knowledge arising from the study of grammar; just as a knowledge arising from the Mantras is conceived to be a cause in the remembrance of sense or a knowledge arising from the Vedānta is assumed to be a cause of the knowledge of Brahman. Moreover, this knowledge is useful in the purification of the body &c. just as the knowledge of sacrifices &c. is useful in the purification of the heart and it leads to heaven and absolution directly or indirectly. Bhartṛhari well observes—‘तद् द्वारमपवर्गस्य &c.’—i. e., just as the science of medicine removes physical ailments, so does grammar destroy the impurity of speech. It is the holiest of all branches of knowledge and shines forth in all of them (‘सर्वो हि

विद्वान् स्वस्यां विद्यायां व्याकरणमनुगच्छति'). It is the first of the steps leading to absolution. It is a straight and royal road to absolution and one who has transcended the corrupt forms just as गायत्री &c. of गो: has a direct perception of शब्दब्रह्म. The D₇ Ms. has a marginal note:—"तथा चाग्रमन्त-गीतः श्लोकः—

‘आपः पवित्रं परमं प्रथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः ।

तेषां च सामर्ग्यजुषं पवित्रं महर्षयो व्याकरणानि चाहुः ॥’

इदं व्याकरणं नाम शास्त्रं मोक्षसिद्धिसौपानपर्वणां मध्ये प्रथमं पादस्थापनस्थलम् । अत्र व्याकरणरूपे राजमार्गे निवृत्तः गाव्यादिरूपविपर्ययो यस्य तथाभूतः सन् केवलं शुद्धस्वरूपां शब्दब्रह्मापरपर्यायां वाचं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥”

Page 255.

कल्पितानाशुपाधित्वं &c.—

Just as others superimpose उदात्तत्व, दीर्घत्व, &c. residing in ध्वनि upon letters, so have we attributed the authoritativeness of उपेय on the उपाय's. This Kārikā is given to remove the following doubt:—स्फोट being नित्य, we cannot say ककार उत्पन्नः; and if you say that in स्फोट we have a knowledge of the जाति subsisting in the conjunction of the wind, the knowledge of the letters क &c. would be delusion (भ्रम). The answer to this doubt is as under:—उदात्तत्व &c. does not reside in the letters; because it is one and imperishable. It arises from the recognition, this is the very letter. The knowledge that a letter is produced does not sublate the notion that स्फोट is नित्य; for in letters, उत्पत्ति, consisting of or in the sense of the coming to existence of a thing which had no existence before, is what is opposed to all experience. Hence it is that we have a knowledge in this form—a man pronounces a letter, not a man produces a letter. Usage also takes the same form. Pronunciation of a letter means its manifestation created by its conjunction with the palate, lips, &c. Nor can it be said that in the case of letters there is no authority for saying that there is ध्वनि and that ध्वनि is impossible because conches &c. which produce it are not found here. Because in pronouncing क and other letters, if the tongue is somewhat distant from their respective organs of pronunciation, letters are not produced, while ध्वनि or sound is produced in such cases; it is because this is the case that we conceive that the conjunction &c. of the throat &c. with the wind produced by the striking of the tongue there produces ध्वनि.

Page 256.

शक्यत्व इव शक्तत्वे &c.—

Having described व्यक्तिस्फोट's, the author takes up जातिस्फोट. We must accept the व्यक्ति's, गकार &c.; but the manner described before is

not good; for according to it, we might say 'यो मया हुकारः श्रुतः सोऽयं गकारः' (the हु that I heard is ग्) just as we say 'सोऽयं गकारः' (this is ग्), since the sense of one, unbroken word, consists of all letters or the स्फोट is one. Moreover, the question is whether गत्व &c. should be accepted in स्फोट or not. If it is to be accepted, let the same be गकार &c.; because there is no गत्व other than the letter ग् and this is given as a Siddhānta by Śaṅkarāchārya in expounding the theory of the imperishableness of letters. Thus there would be prolixity in assuming another स्फोट; and it being proper that the letters themselves are expressive of sense, there is no authority for assuming another स्फोट. If you take the other alternative that गत्व &c. should not be accepted in स्फोट, then the knowledge of गकार &c. would be inconsistent. Therefore, letters do exist; but they are not expressive of sense; for if we take them as expressive of sense, there would be prolixity. According to the principle set forth by the Mimāṃsakas in आकृत्यधिकरण, जाति alone must be taken both as वाच्य and वाचक, the word and its expressed sense. It is both शक्ता or वाचिका, i. e., the word and तदवच्छेदिका, its sense, by the relation of identity.

But it might be advanced that the same two जाति's पदजाति and अर्थ-जाति are found in सरः and रसः and thus there would be no difference in their conveying sense. To meet this objection, the second half of the Kārikā is given—'औपाधिको वा भेदोऽस्तु'. Let the order of letters which is the उपाधि here be the suggester of a particular जाति. Thus there would be a difference in the knowledge which is the cause of स्फोट. Thus a difference in जाति arises from उपाधि, just as a difference in ककार caused by different ध्वनि is called तार, मन्द, &c.

The commentary of Vanamālīmīśra is clear and to the point:—"यदादि-शब्दानां व्यक्तिनिष्ठा जातिर्वाच्या । लाघवात् । एवं वाचिकापि शब्दनिष्ठा जातिर-वास्तु । व्यक्तिस्फोटेऽपि जातिस्फोटसमं लाघवं दर्शयन्ति औपाधिको वेति । अय-मर्थः । येषां मते य एव नित्यः पदार्थः स एव तत्तद्ध्वन्युपहितः सन् तकारादिरुच्यते । शास्त्रान्तरसंमतं दृष्टान्तमाहुः तारेति । तादृशध्वन्युपहितः ककारादिस्तारमन्दा-दिरुच्यते । एवं नित्य एव पदार्थो विद्वज्जनध्वनिरूपोपाधिसंवलितः ककारादिः । न तु वर्णः पदार्थान्तरम्"

Page 257.

अनेकव्यक्त्यभिप्रेत्यङ्ग्या—

But since जाति exists in each letter, sense would arise from each letter. Hence this Kārikā is given. Though this defect is found in वर्णजातिस्फोट, it does not exist in the two remaining जातिस्फोट's, viz.,

पदजातिस्फोट and वाक्यजातिस्फोट; because जाति resides in the letters collectively. Thus the Jāti suggested by many वर्णव्यक्ति's is known as स्फोट in its etymological sense. Some accept व्यक्ति's as ध्वनि's.

Page 258.

सत्यासत्यौ तु यौ भागौ—

This is a Kārikā from Bhartṛihari's Vākyapadiya and explains the nature of जाति. It means that in every object there are two parts, the true and the untrue. The true part is what is known as जाति; while the untrue part constitutes व्यक्ति.

Helārāja observes on this verse that that must be called the true which is found in all objects and of which the true nature is not destroyed. Just as in ornaments of gold, the nature of gold runs all through and is therefore the true thing; so in all objects, Brahman is the true—‘तदेव हि सत्यं यस्मिन्स्त्वं न विहन्यते इत्यन्वयि रूपं भेदप्रत्ययेष्वबाध्यमानं सत्यं जातिरिति व्यवहृतमद्वैतवादिभिः । तथथा । रुचकस्वस्तिककुण्डलादयो विकाराः परस्पररोपमर्देन भवन्तोऽस्थिरप्रत्ययविषयाः । सुवर्णमित्येव तु समन्वयिविज्ञानादवत्तेयं सत्यत्वम् । एवमभेदान्तरविवक्षायां तेज इत्येव तु सत्यम् । तत्राप्यभेदस्तत्कारणमित्यन्या परा प्रकृतिः सत्या सर्वविकाराह्वयायिनी प्रशान्तकहोला चिदेक्यना ब्रह्मेत्यागमविदः । तदुक्तम् । पृथिवीधातौ किं सत्यम् । विकल्पः । विकल्पे किं सत्यम् । विज्ञानम् । विज्ञाने किं सत्यम् । ओं अथ तद् ब्रह्मेति ॥’ pp. 28-29.

It is the same entity, Brahman, that assuming different forms in गो, अश्व, &c., through a variety of objects, is called जाति—

‘संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥ वाक्यप० ३ । ३३.

Vanamālī Miśra notes :—“ संबन्धिनः पिण्डास्तेषां भेदाद्ब्रह्मसुत एकापि सत्ता गवादिषु पिण्डविशेषेषु भिद्यमाना सती गोत्वादिजातिरित्युच्यते इत्यन्वयः । एतेन सत्तातिरिक्तगोत्वादिसद्भावे न प्रमाणमित्युक्तम् ॥”.

Further on, in another Kārikā Hari distinctly states that in all Śāstras it is nesience that is described by different प्रक्रिया's (processes). All objects have a beginning; it is only Brahman that is imperishable. Hari thus shows that he was केवलद्वैतवादी or a strict non-dualist.

Bhatṭoji Dīkshita also winds up his work similarly by the following Kārikā :—

इत्थं निष्कृष्यमाणं &c. p. 259—

The reality of words which is to be thus drawn out is called by the learned Brahman, the indestructible, and the unmodified. Bow to that perfect Supreme Being.

Thus in the state of nescience जाति is the स्फोटः; while truly speaking, the Brahman is the स्फोट in its etymological sense of that from which the sense shines forth (स्फुटत्यर्थो यस्मात्).

All the eight varieties of स्फोट are well set forth in brief by Bhattoji Dikshita in his S'abdakaustubha as under:—

“वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा । तत्र चाष्टौ पक्षाः । वर्णस्फोटः । पदस्फोटः । वाक्यस्फोटः । अखण्डपदस्फोटः । तादृग्व्याक्यस्फोटः । इत्थं पञ्च व्यक्तस्फोटाः । वर्णपदवाक्यभेदेन त्रिविधो जातिस्फोट इति ॥

किञ्चिद्वर्णव्यत्यासादिना शक्तावच्छेदकादपूर्वाभङ्गस्य प्रतिपदमौत्सर्गिकत्वात् तत्र च केनचित् क्वचित् प्रथमं शक्तिग्रहात् केन कस्य स्मरणमित्यत्र विनिगमनाविरहात् वृशभो वृषभो वृष इत्यादाविव कर् कार कुर चकुर इत्यादीनां प्रयोगसमवायिनां सर्वेषामेव वर्णानां तत्तदाशुपुर्व्यवच्छिन्नानां वाचकतेति वर्णस्फोटपक्षः । कर्-प्रभृतयो वाचका न वेति चेह विप्रतिपत्तिशरीरम् ॥

रामं रामेण रामाय हरेये हरौ हरीनित्यादौ परिनिष्ठिते रूपे कियानंशो द्रव्यादि-वाचकः कियान्श्च कर्मत्वादेरित्यस्य विनिगन्तुमशक्यतया राममित्यादि परिनिष्ठितं पदमेव वाचकं कर्मत्वादिविशिष्टस्येति पदस्फोटपक्षः ॥

दयीदं हरेऽव विष्णोऽवेत्यादावपि विनिगमनाविरहतौल्याद्वाक्यमेव शक्तमिति वाक्यस्फोटः ॥

एकः पट इतिवदेकं पदं वाक्यं वेत्यबाधितप्रतीतिर्वणातिरिक्तमेव पदं वाक्यं बाखण्डं वर्णव्यङ्ग्यम् ।.....तस्मादखण्डं पदं वाक्यं वेति पञ्चापि व्यक्तस्फोटा-वान्तरभेदाः ।

जातिस्फोटवादिनस्तु योत्तरदृष्टवादिकं शक्तावच्छेदकतया आद्यपक्षत्रयेऽपि यथा-यथं वाच्यम् । अन्यथा सरो रस इत्यादावर्थविशेषप्रतिपत्त्यनापत्तेः । तत्रोपाधिरूपम् । उपाधिश्च परंपरासंबन्धा जातिरेव । सा च सर्वाधिष्ठानब्रह्मस्वरूपात्मिका । तथा च शक्यांश इव शक्तांशेऽपि न्यायसाम्येनाकृत्यधिकरणरीत्या ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहितं वाच्यं वाचकं च । अविद्याविशयकधर्मविशेषो वा जातिरिति पक्षे तु सैव वाचिका-स्त्वित्याहुः ॥” pp. 8-10.

APPENDIX I.

The Kārikās arranged alphabetically.

| | | | |
|-----------------------------------|-----|-------------------------------|-----|
| अ. | | क्रीडायां गस्तदस्यास्ती | 225 |
| अत एव गवित्याह | 131 | घ. | |
| अत्रार्थेजरतीयं स्यात् | 218 | घटेनेत्यादिषु न हि | 239 |
| अथादेशा वाचकाश्चेत् | 238 | च. | |
| अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्यां | 257 | चकारादिनिषेधोऽथ | 168 |
| अभावो वा तदर्थोऽस्तु | 208 | ज. | |
| अभेदैकत्वसंख्याया | 226 | जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे | 140 |
| अर्थे विशिष्य संवन्धा | 240 | त. | |
| अविग्रहा गतादिस्था | 69 | तथान्यत्र निपातेऽपि | 206 |
| अव्ययकृत इत्युक्तेः | 239 | तथा यस्य च भावेन | 67 |
| अपठ्यर्थबहुव्रीहौ | 176 | तरवाद्यन्ततिङ्श्वस्ति | 238 |
| असाधुरनुमानेन | 195 | तस्मात् करोतिर्धातोः स्यात् | 42 |
| अस्यादावपि धर्म्यशे | 50 | द. | |
| आ. | | द्योतकाः प्रादयो येन | 205 |
| आख्यातशब्दे भागाभ्यां | 59 | ध. | |
| आख्यातं तद्धितकृतौः | 186 | धात्वर्थस्य क्रियात्वं चेत् | 49 |
| आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः | 99 | न. | |
| इ. | | नञ्समासे चापरस्य द्योत्यं | 210 |
| इत्थं निष्क्रियमाणं यत् | 259 | नञ्समासे चापरस्य प्राधान्यात् | 201 |
| इन्द्रियाणां स्वविपर्ये | 188 | निपातत्वं परेषां यत् | 216 |
| उ. | | निपातानां वाचकत्वे | 215 |
| उत्सर्गोऽयं कर्मकर्तृ | 25 | निर्वर्त्ये च विकार्ये च | 32 |
| ए. | | प. | |
| एकं द्विकं त्रिकं चाथ | 117 | पञ्चकोशादिवत् तस्मात् | 253 |
| क. | | पदार्थः सदृशान्वेति | 208 |
| कल्पितानामुपाधित्व | 255 | पदे न वर्णां विपर्ये | 249 |
| किं कार्यं पचनीयं चे | 45 | पर्यवस्यच्छाब्दबोधो | 186 |
| किं तृत्पादनमेवातः | 31 | प्रत्ययार्थस्यैकदेशे | 224 |
| कृततद्धितसमासेभ्यः | 217 | प्रदेय एव वा शक्तिः | 225 |
| कृतोऽर्थाः क्त्वातुलुञ्जवत् स्युः | 69 | | |

१ वाक्यपदीय १।१९४ ॥ २ वाक्यप० ३।३।३० ॥ ३ वाक्यप० २।३०८ ॥ ४. तद्धिता-
र्थस्य यत्किंचि and गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः ॥ ४ वाक्यप० १।३।२९ ॥
५ वाक्यप० १।१९३ ॥ ६. वर्णेष्ववयवा इव.

| | | | |
|---------------------------|-----|--------------------------|-----|
| प्रयोगोपाधिमाश्रित्य | 218 | व्यवस्थितेर्व्यवहृते° | 237 |
| फ. | | व्यापारो भावना सैव | 26 |
| कणिभाषितभाष्यान्धेः | 1 | श. | |
| फलव्यापारयोस्तत्र | 24 | शक्यत्वं इव शक्तत्वे | 257 |
| ” योर्धातु° | 2 | शब्दोऽपि यदि भेदेन | 125 |
| ” योरेक° | 56 | शरैरुल्लेखिवीदीच्यान् | 209 |
| भ. | | स. | |
| भेद्यभेदकसंबन्धो | 70 | सत्यासत्यौ तु यौ भांगौ | 258 |
| भौतपूर्व्यात् सोऽपि रेखा° | 134 | समासस्तु चतुर्थेति | 134 |
| घ. | | समासे खलु भिन्नैव | 157 |
| यदि पक्षेऽपि वत्यर्थः | 69 | संबन्धशब्दे संबन्धो | 199 |
| र. | | संबोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः | 64 |
| रदाभ्यां वाक्यभेदेन | 230 | सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो | 241 |
| ल. | | सर्वनामाव्ययादीनां | 48 |
| लक्ष्यातुरोधात् संख्या च | 229 | साध्यत्वेन क्रिया तत्र | 60 |
| व. | | स्यान्महद्गौरवं तस्मात् | 157 |
| वर्तमाने परोक्षे श्वो | 73 | ह. | |
| वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे | 236 | हरेऽवेत्यादि दृष्ट्वा च | 240 |
| विधेयं भेदकं तत्र° | 229 | श्वो भूते प्रेरणादौ च | 97 |

APPENDIX II.

Names of Works and Authors Occurring in the Vaiyākaranabhūṣhana, arranged alphabetically.

| | | | |
|-------------------|---------------------------|--------------------|-----------------------------|
| अद्वैतसारोद्धार | 86 | न्यायरक्षामणि | 251, 252 |
| अहुव्याख्यान | 244, 245, 249 | न्यायसुधा | 47, 77, 224 |
| अप्पय्यदीक्षित | 232 | पञ्चशिखाचार्य | 94, 95 |
| अमर | 207, 212 | पतञ्जलि | 1, 54 |
| आख्यातवाद्शिरोमणि | 29 | पतञ्जलियोग | 96 |
| आचार्य | 26 | पराक्षर | 72, 179 |
| उदयनाचार्य | 90 | परिमल | 90, 282, 185, 186, 251, 253 |
| ऋषभ | 93 | पाणिनि | 1, 44, 48 |
| कर्कटी | 93 | पार्थसारथिमिश्र | 36, 187 |
| कलाप | 148, 237 | प्रभाकर | 78, 164 |
| कल्पतरु | 107, 165 | ब्रह्मोत्तर° | 93 |
| कल्पतरुकार | 90, 187 | भट्ट | 13, 37, 46, &c. |
| काव्यप्रकाश | 258 | भट्टोजि | 1 |
| काव्यप्रकाशकार | 119, 129 | भर्तृहरि | 2 |
| कुसुमाञ्जलि | 21 | भागवत | 91, 93, 94, 95 |
| कैयट | 62, 63, 67, 134, 137, &c. | भामती | 107, 232, 233, 249 |
| खण्डनकार | 55 | भाष्यकार | 2 &c. |
| गार्ग्य | 44 | भीमसेन | 46 |
| गीता | 88 | मण्डनमिश्र | 74, 39, 119 |
| शुरु | 90 | मध्व | 77 |
| गौतम | 1 | मनोरमा | 12, 132, 223 |
| जयतीर्थ | 189, 244, 248, 250 | महाभारत | 89 |
| जैमिनि | 70, 77, 189 | माधवाचार्य | 83, 108 |
| तत्त्वविवेक | 165, 247 | माध्व | 244 |
| दुर्गसिंह | 143, 150 | मिश्र | 188 |
| धातुवृत्ति | 108 | सुकुट | 178 |
| नयविवेकटीका | 164 | रङ्गोजि | 1 |
| नयविवेकवरदराजीय | 80 | रामकृष्णभट्टाचार्य | 27, 84, 234 |
| निरुक्त | 39, 44 | लीलावत्युपाय | 4, 202 |
| निरुक्तकार | 54 | वरदराज | 164 |
| नृसिंहाश्रम | 77, 78, 165 | वसिष्ठ | 93 |
| न्यायतात्पर्यटीका | 102 | वाक्यपदीय | 19, 20, 39, 50, 51, &c. |

| | | | |
|----------------|-----------------------|-----------------|---------------|
| वाचस्पतिमिश्र | 164, 185 | शास्त्रदीपिका | 144 |
| विवरण | 55, 191, 247 | श्रीधरस्वामिन् | 93 |
| विवरणाटिप्पण | 165 | संक्षेपशारीरकृत | 164 |
| विवरणाचार्य | 164 | सिद्धान्तकौमुदी | 77 |
| वेदान्तभूषणकृत | 164 | सिद्धान्तदेश | 21 |
| व्यास | 94, 107, 254, 258 | सुधा | 189, 245 |
| शंकराचार्य | 254 | स्कन्दपुराण | 94 |
| शबर | 185 | हरदत्त | 141, 143, 144 |
| शब्दकौस्तुभ | 1, 112, 184, 187, &c. | हरि | 4, 114, 235 |
| शाकटायन | 44 | हेलाराज | 52, 74, 112 |

APPENDIX III.

Names of Works and Authors Occurring in the Kārikā, alphabetically arranged.

| | | | |
|---------------------|--------------------|--------------------|--------------------|
| उत्तरमीमांसा | 265 | पार्थसारथिमिश्र | 278 |
| कल्पतरुकार | 376 | पुञ्जराज | 284, 328, 492 |
| कातन्त्रपरिशिष्टकार | 327 | प्रदीपोद्योत | 329, 336, &c. |
| कात्यायनि | 265 | प्रभाकर | 357 |
| कारकवादकृत् | 417 | बादरायण | 263 |
| कारिकावली | 607 | बृहच्छन्देन्दुशेखर | 411 |
| काव्यप्रकाश | 460, 551 | बृहद्भूषणकृत् | 280 &c. |
| काव्यप्रकाशकृत् | 504, 509, 529 | भगवद्गीता | 264 |
| काव्यप्रदीपोद्योत | 509 | भट्ट | 267, 276, &c. |
| कैयट | 284 &c. | भट्टि | 432 |
| कैयटोद्योत | 457 &c. | भर्तृहरि | 305, 428, &c. |
| कौस्तुभ | 289 &c. | भाट्ट | 279 &c. |
| कौस्तुभ | 266 &c. | भामती | 376, 588 |
| खण्डनकृत् | 364 | मञ्जूषा | 265, 274, &c. |
| गदाधरी | 607 | मञ्जूषाकार | 268, 550 |
| गुरु | 440, 568 | मणिकृत्, मणिकार | 425, 567 |
| गौतम | 265 | मण्डनमिश्र | 307, 319, 442 |
| चान्द्र | 420 | मनोरमा | 346, 416, &c. |
| जैमिनि | 263, 508, &c. | माघ | 289 |
| तर्करत्नाकर | 431 | मार्कण्डेय | 262 |
| तार्किकरत्नाकरकृत् | 417, 422, 424 | माधवाचार्य | 548 |
| दीधिति | 288, 520, 526, 607 | मिश्र | 428 |
| दीधितिकार | 359, 425, 526, 527 | मीमांसा | 447 |
| निबन्ध | 481 | राजवल्लभ | 469 |
| निबन्धकार | 484 | रामकृष्णमहाचार्य | 361 |
| निबन्धकृत् | 412 | रामायण | 414 |
| निरुक्त | 265, 266, &c. | लघुशेखर | 425 |
| न्यायप्रकाश | 277 | वाक्यपदीय | 272 &c. |
| पतञ्जलि | 265 | वाचस्पति | 376, 588 |
| पराशर | 342 | वार्तिककार-कृत् | 318, 510, 541 |
| परिमल | 593, 594 | वात्स्यायन | 358 |
| परिमलकार | 568 | विवरण | 276, 299, 466, &c. |
| पाणिनि | 262, 264, &c. | विश्व | 417 |

| | | | |
|-------------|---------------|----------------|---------------|
| दक्षिण | 416 | शाब्दिकरत्नाकर | 418 |
| वोपदेव | 601 | शारीरभाष्य | 263 |
| व्यास | 263, 597 | शेखर | 274, 380, 468 |
| शंकराचार्य | 263, 360, 597 | संक्षेपकाण्ड | 548 |
| शबरस्वामिन् | 281 | हरि | 271 &c. |
| शाकटायन | 266 | हेलाराज | 283 &c. |
| शाङ्करभाष्य | 388 | | |

Variations in the Readings of Mss. J., J₁, B., and B₁.

J. and B. have श्रीगणेशाय नमः in the beginning. B₁ has ओं नमः श्रीशंकरगुरुचरणकमलेभ्यः in the beginning.

- P. 1 L. 4 शेषरूपिणस् J. for शेषभूषणस्
 " L. 5 सुदा सदा J. for सदा सुदा
 " L. 12 श्रीकोण्डभट्टः J., B. for श्रीकोण्डभट्टः
 " L. 12 कुरुते for कुर्वेऽहं B,
 " L. 13 प्रतिबन्धकप्रत्यहोपशमनाय J.
 " L. 17 देवान्तरं B,
 " L. 18 नेष्टतमत्वा B,
 P. 2 L. 8 प्रायशः J., B. for प्रायः
 " L. 13 जनकत्वांशशक्तिं विनापि J., B.,
 " Ll. 14-15 B. drops कृतीष्टसाधनतावादे
 " L. 16 फलप्रयोजिका क्रिया J.
 " Ll. 18-19 दण्डेन पचतीत्यादौ J.
 " L. 20 कर्तृत्वेन B,
 " L. 20 नियमनात् B,
 P. 3 L. 5 कल्पयते B,
 " L. 9 प्रयोगापत्तिश्च J., B.
 " L. 14 नोक्तदोषात् B., B,
 P. 4 L. 2 प्रत्ययार्थतावच्छेदेऽपि B.
 " L. 4 कृत्कारादि B.
 " L. 12 शब्दबोधः J. for शब्दबोधः
 " L. 13 कारणताबोधः J. for कारणतावबोधः
 " Ll. 17-18 अश्वत्वादिनेव J.
 " L. 18 स एवा J. for समैवा
 " " कृत्कारस्त्वफलत्वादिनैव J.
 " L. 22 संतापनस्त्वफलत्वादिभिर्बोधः J.
 " L. 23 शक्यतावच्छेदकानां J., B,
 P. 5 L. 2 प्रकल्पिताभेदः B,
 " Ll. 2-3 प्रकल्पितोऽभेदो यस्य स च समूहः B,
 " L. 3 एकत्वं बुद्ध्या संवलनात्मिकया J.
 " " " संकलना..... B.
 " L. 5 यदा यस्य बुद्धिस्थः J.
 " " B. drops यो and तदैव
 " " B₁ has यो यदा यस्य बुद्धिस्थः
 " L. 7 धात्वर्थस्वाविवक्षणात् J., B.

- P. 5 L. 10 अयं प्रत्ययवाच्य एवे° J., B₁ for अयं प्रत्ययवाच्य एवे°
 " " B. drops किं तु
 " " अयं तु वाच्य एतद्विशेषः कृतिरिति J.
 " L. 16 कृतिविशिष्टवाचितृचः J., B.
 " L. 18 °मात्रमर्थं मीमांसका मन्यन्ते J.
 " L. 19 °लक्षणया चोपपद्यते J.
 " L. 22 मध्यमपुरुष इति व्यवस्थानवत् कर्तुरवाच्यत्वेन J.
 " " मध्यमपुरुष इति B.
 P. 6 L. 4 तथा च कर्तृप्रत्यये संख्याया B₁.
 " L. 5 तथा तथा शक्तेरबोधनात् J.
 " L. 7 तत्रैवं B., B₁.
 " L. 8 इत्यादिकृत्यपि B₁.
 " " पच्यमान इत्यादौ is dropped in J.
 " L. 18 कर्तृतत्संख्यान्यतरा° B₁.
 P. 7 L. 7 हेतुत्वपर्यवसाने B₁.
 " L. 13 इतराविशेषणकप्रथमान्त° J., B.
 " Ll. 19-20 कर्तुरनभिधानमिति B₁.
 P. 8 L. 1 तद्रीत्या J. for त्वदुक्करीत्या
 " L. 2 इतराविशेषणघटितत्वेन B.
 " " गौरवाद् J., B. for गुरुत्वात्
 " L. 3 °स्तदप्यावश्यक J. for °स्तवाप्यावश्यक
 " L. भावनासंभवे° B₁.
 " Ll. 18-9 पचतितरां चैत्रः पचतिकल्पं मैत्र B₁.
 " L. 25 } तथा सत्याचार्यकल्पा इतिवद् J.
 P. 9 L. 1 } कर्तृत्वादिविवक्षायामापत्तेः B₁.
 " " L. 3 नामार्थप्रकारकबोधे J.
 " L. 7 कारणमिति J., B. for हेतुरिति
 " L. 9 °बोधवक्ष्यमाण° J. for °बोधे वक्ष्यमाण°
 " L. 11 सिद्धा J. for श्रद्धा
 " L. 12 विशेष्यविशेषणमिति J.
 " L. 20 °लिङ्गस्ववत् J.
 " L. 21 देवदत्तः पचन्ती° J.
 P. 10 L. 1 °तावाख्यातार्थ° J.
 " " न चाधारतया B₁.
 " L. 2 °पदोपस्थितेहेतुत्वं J.
 " Ll. 2-3 अस्तु वाच कृतः J., B.
 " L. 7 पश्य नृत्यति नृत्यति भवति J., B., B₁.
 " L. 9 °प्रतिपादनाच्चानाख्यातार्थ° J.

- P. 10 L. 25 यादृशश्च गुणभूतः J.
 „ L. 26 शक्त्या गमयितुम् J., B.
 P. 11 L. 3 कर्तुर्वाच्यत्वे यथा कथंचिद्भावनाक्षेपमावश्यकमिति B_p.
 „ L. 9 कर्मप्रत्यये भावनाया J.
 „ L. 13 स्यादिति J., B., B_p.
 „ L. 19 धन्यनम् J., B., B_p. for दन्धनम्
 „ L. 22 सकलसाधारण्या J.
 „ L. 23 कर्तृविशेष्यबोधाभ्युपगमात् J.
 P. 12 L. 4 कर्मकृत्सु J. for कर्मकर्तृकृत्सु
 „ L. 6 तिङः स्थले B.
 „ L. 7 तिङः स्थले B.
 „ L. 8 शक्तिपरिच्छेदकस्य J.
 „ „ कर्तृग्रहस्यैवानुवृत्तेः J.
 „ L. 12 मन्नादायातीति J.
 „ L. 15 तर्हि वाक्यैकवाक्यता सा न तु B_p.
 „ L. 19 कर्तृवाच्यत्वं J.
 „ L. 24 क्रियया J. for क्रियमाण
 P. 13 L. 6 °स्यानर्थत्वात् B.
 „ Ll. 23-24 अर्थाक्षिप्तस्यैव शब्दाक्षेपकत्वात् J.
 P. 14 Ll. 2-3 °न्यलभ्यत्वसंभवोऽप्यगत्या J.
 „ L. 15 विरुद्धार्थविभक्तिराहित्यं J.
 „ L. 16 °नाभेदसंबन्धिकतन्नामार्थ° J.
 „ L. 17 °त्यकालक° B.
 „ L. 19 वाच्या J. for वा
 „ L. 25 °पस्थितेः कारणमिति J.
 P. 15 L. 1 °क्षिप्तकर्ता B.
 „ L. 3 लक्षणेति चेत् B_p.
 „ Ll. 6-7 °घटविशेष्यबोधनदण्डी इत्यादौ J.
 „ L. 12 बहुव्रीहिसमासोऽयं J.
 „ L. 16 °जन्यबोधप्रकार° J.
 „ L. 18 प्रकारत्वं J.
 „ L. 26 संबन्धप्रतीतिर्न J,
 „ L. 27 संबन्धेनाक्षेपादुपपत्तेः B_p.
 P. 16 L. 4 °रिति गौरवम् । B.
 „ L. 10 श्रुते for श्रुतेः B.
 „ L. 21 हायनं यस्या इति विग्रहे J.
 P. 17 L. 2 द्वितीयः पक्षः J.
 „ L. 3 व्यावर्तकताविशेषणत्वसंभवात् J.
 „ Ll. 8-9 दण्डीत्येकवचनं इण्ढिनीत्यादिलिङ्ग° B_p.

- P. 17 L. 9 प्रयोगाश्रोपपद्यन्ते B.
 „ L. 10 J. drops इति
 „ L. 16 एवान्वयासंभवात् B.
 „ L. 26 घटत्वस्यैव B.
 P. 18 L. 2 तत् उपास्थितिः । तेन B.
 „ L. 3 बोधार्थः B.
 „ Ll. 8-9 तदर्थे विहितबहुव्रीहेरपि J., B.
 „ L. 20 तादृशे च प्राधान्यसाम्ये J.
 P. 19 L. 3 सामानाधिकरण्यात् B., B.
 „ L. 11 J. drops इति
 „ L. 12 सुसंगतमेवेति J., B.; सुसंगममेवेति B.
 „ „ वाच्यत्वपक्षं चाश्रित्य J., B.; वाच्यत्वपक्षं वाश्रित्य B.
 „ L. 17 कर्तृकर्मादौ वाचकशब्दानां J.
 „ L. 28 कर्मादयोऽप्यर्थो J.
 P. 20 L. 9 B. has तस्याश्रोपलक्षणत्वं शक्तौ संसर्गतया तत्प्रतीतिसिद्धेरन्य-
 लभ्यत्वात् । न च तत्ताधिकरणन्यायप्रवृत्तिरित्याशुक्तप्रायम् ।
 before तस्मादेवदत्तः पचति &c.
 „ L. 11 व्यापारस्य च कर्तुरपि J.
 „ L. 13 पचतीत्यत्र पाचक इति J.
 „ L. 18 सुसारित्वेनार्थानिर्णायकत्वं J.
 „ „ इतरेतरद्वन्द्वं विवरणवद्वा J.; इतरेतरद्वन्द्वे विवरणवद्वा B.
 „ L. 22 स्तदर्थवत्त्वं दुर्वारं J.
 „ L. 24 नव (नैव ?) बोध्येतेति चेन्न J.
 P. 21 L. 7 तथैव स्थितिः B.
 „ „ कल्पते B.
 „ L. 8 अथवा द्विवहोर्द्विवचनबहुवचने इत्येव सूत्रं कर्तव्यं द्वित्ववि-
 वक्षायां बहुत्वविवक्षायां च द्विवचनबहुवचने भवत इत्यर्थः । J.,
 B.; अथवा द्विवहोर्द्विवचनबहुवचने प्राप्ते प्रथमोपस्थितत्वा-
 देकवचनमित्येव सूत्रं कर्तव्यं द्वित्वविवक्षायां बहुत्वविवक्षायां च
 द्विवचनबहुवचने भवत इत्यर्थः । B.
 „ L. 11 इत्यत्राभावे J.
 „ L. 15 तिङर्थः B.
 „ L. 16 तत्रापि कालाः । तत्रापि कर्तृकर्मणी &c. B.
 „ „ विशेषणं संख्या तु J.
 „ L. 23 व्यापारवर्तमानतादक्षायां B.
 P. 22 L. 2 पुरस्कृत्य for स्वीकृत्य B.
 „ L. 3 विद्यमानत्वावश्यतीति J.
 „ Ll. 5-6 जडीकृतयत्नस्तु J., B.
 „ L. 7 ननुत्थानं करोतीति । मतां B.

- P. 22 Ll. 8-9 यागायर्थे B.
 „ L. 11 अतिप्रसक्तव्यापारव्यावृत्त° J.
 „ L. 14 एवं त्यज्यादेरप्यवधेयम् J., B., B_p.
 „ L. 16 व्यापारेऽन्वयं J.
 „ L. 18 बोधः J, for बोध्यम्
 „ L. 24 परमक्षणं संवन्ध एव J.
 „ L. 25 इत्यप्यदीक्षिताः J.
 P. 23 L. 2 घटादौ B_p.
 „ „ प्रपूर्वदिननष्टे B., B_p.
 „ „ नङ्क्ष्यति for नश्यति B.
 „ L. 4 स्वरूप° for स्वय° B_p.
 „ L. 7 धातुभिन्नाप्रकृत्यर्थ° J.
 P. 24 L. 2 पश्य नृत्यतीति B_p.
 „ L. 3 विशेष्यताभ्युपगमे J.
 „ L. 13 कल्पते B_p.
 „ L. 20 तत्तदर्थपुरस्कारेणैव J.
 „ Ll. 20-21 कर्तरि शवित्यादिना शवादेरपि J.
 „ Ll. 22-23 चादादिञ्छोल्यादिषु च J.
 P. 25 L. 1 छत्रस्मृतं B_p.
 „ L. 4 कर्त्रर्थत्वावश्यकत्वं B.
 „ L. 7 चिणाद्य इत्यादिना for आदिना B_p.
 „ Ll. 7-8 B. omits कृषिरङ्गोः—स्वयमेवेत्यादौ ।
 P. 27 L. 12 लक्षणेत्यपास्तम् J.; निरुदलक्षणेऽप्यपास्तम् B.
 „ L. 16 प्रतिबध्यात् प्रकृते J.
 P. 28 L. 3 विभागभाने J.
 „ L. 4 संयोगबोधे न दोषप्रसङ्ग J.
 „ L. 6 इत्येतयोरविशेषापत्तिः J.
 „ L. 7 कर्मस्थभावकानामेव J.
 „ L. 13 घटादौ for पटे B.
 „ L. 14 घटः for पटः B., B_p.
 „ L. 15 तदेव for तदेव तु B_p.
 „ L. 16 कृत्वादिवदक्षतं B., B_p.
 „ Ll. 22-23 एवं तर्ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां J.
 P. 29 L. 2 केवल्यत्नवाचकत्वं J., B.
 „ L. 4 किं तूत्पत्त्यादिकमपीत्यर्थः J.
 „ L. 7 धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थ° J.
 „ L. 12 स्वार्थे फलसमाना° J.
 P. 30 L. 9 विष्णुर्यागविषय एवेति चेद् J.
 „ L. 11 हरिं B_p.

- P. 30 L. 12 कारणकर्मत्वे वाच्ये J.
 „ L. 13 °दसत्त्वेऽपि कर्मत्वे J., B., B_J.
 P. 31 L. 4 तत्त्वेऽन्योन्याश्रयापत्त्या J., B., B_J.
 „ L. 10 सूचितमिति चेन्न J.
 „ Ll. 14-15 मानाभावादौरवाच्च J.
 „ L. 16 °प्रकाशनपुरःसरकेवल° J.
 P. 32 L. 5 इत्यर्थः is dropped in J., B_J.
 „ L. 9 °निर्णये वक्ष्यमाणरीत्या J.
 „ L. 20 मनसि कृत्याह B_J.
 P. 33 L. 3 शक्त्यभ्युपगम एव J., B_J.
 „ L. 5 फलवाचकत्वे B_J.
 „ L. 6 °स्योभयफलहेतुत्वे न व्यापारद्वयार्थत्ववर्णनस्या° B_J.
 „ L. 7 एतद् is dropped in J., B_J.
 „ Ll. 7-8 सर्वेषामेवोभयवाचकत्वात् J.
 „ L. 8 वाच्यतावच्छेदकम् B_J.
 „ L. 24 लौकिकानां प्रयोगे J.
 P. 34 L. 14 अज्ञाताया J., B. for अगृहीताया
 „ L. 16 यथा नानार्थत्वं J.
 „ L. 22 ग्रन्थं विभावयामः J.
 P. 35 L. 5 पाकमित्यशब्दार्थकत्वं विवरण° J.
 „ Ll. 13-14 पाकमात्रबोधने चोपपत्तेः J.
 „ L. 15-16 तण्डुलप्रकारकबोधोपपत्तिरूपवाचकविशेष्यतासंबन्धेना° J.
 „ L. 16 निपातसुबादिजोपस्थिते° J.
 „ L. 21 °जन्योपस्थितिविषयतया J.
 „ L. 24 लक्ष्यमित्युक्तम् B_J.
 P. 36 L. 8 संबध्येत J., B., B_J.
 „ L. 10 वोच्यते B., B_J.
 „ L. 12 संबध्येत J.
 „ L. 16 साध्यापेक्षत्वादवच्छिन्न° B_J.
 „ L. 22 धात्वर्थे कारकसंबन्ध° J.
 „ L. „ विनैवाट्ट्याभिहितेनैव J.
 „ L. 23 सिध्येत् J. for संबध्यत
 P. 37 L. 2 यो राजसूयेन यजते इति वा J. for यो राजसूयेन यजते योऽश्व-
 मेधेन यजत इति च ।
 „ L. 4-5 इत्यभ्युपेयते तथैवा° B.
 P. 37 L. 10 न धात्वर्थस्य वा साध्यत्वं प्रतीयते J.
 „ L. 13 तत्परीहाराया° B_J.
 „ L. 15 °र्भावेनेत्यापत्तिः । यदि J.
 „ L. 21 पचतीत्यादावा° B_J.

- P. 38 L. 2 °कर्मतापत्तिः B_p.
 „ L. 3 यगादिकं न स्यादि° B.
 „ L. 4 कर्मस्थभावत्वाद्यगादिकं J.
 „ L. 12 सर्वत्रैवार्थे सकर्मकत्वापत्तिरिति J.
 „ L. 13 दुर्वारत्वात् for दुर्वचत्वात् B_p.
 „ L. 21 व्यापारवाचकत्वं B_p.
 P. 39 L. 1 °देवत्वादेः J.
 „ L. 7 गमनमित्यापत्तिश्च J., B., B_p.
 „ L. 9 प्रत्ययार्थव्यापारव्यधिकरणार्थवाचकत्वं J.
 „ L. 10 °समानाधिकरणार्थवाचित्वं J.
 „ L. 15-16 J. omits यथा मैत्रः पचतीत्यादौ मैत्रादेः
 „ L. 22 अत एव पच्यर्थभावनान्वया° J.
 P. 40 L. 2 लाघवापत्तेः J.
 „ L. 5 सकर्मकार्णामपि J.
 „ „ कालादिसंबन्धेन B_p.
 „ L. 11 शक्ततावच्छेदकशक्तिकल्पनागौरवापत्तिः J.
 „ L. 18 वाच्या J. for त्याज्या
 P. 41 L. 8 विद्धिच्युतकूलयत्नवानिति J.
 „ L. 9 आनुभविको लोकानां येन B_p.
 „ L. 22 सिद्धान्ते मूलत्वात् B.
 „ L. 23 लादेशयोगे षण्णामसंभवस्य J.
 P. 42 L. 5 अस्मन्मते च B.
 „ L. 15 निवर्त्यताम् J.
 P. 43 Ll. 20-21 स्वीकुर्वेती J.
 P. 45 L. 3 आक्षेपलब्धे B.
 „ L. 11 J. and B_p drop पक्षमित्यादौ
 „ L. 12 नापि तेषां कारकत्वं° J., B.
 P. 46 L. 4 ननु परसमवेतक्रियाजन्यधात्वर्थतावच्छेदकफलशालित्वं न घटस्य
 ध्वर्थक्रियायाः परासमवेतत्वादिति चेन्न । संज्ञैव द्वितीयोत्पत्तौ
 बीजं नैतदिति वक्ष्यमाणत्वात् । मण्डनमिश्रमते धातोः केबल-
 फलवाचकत्वेनोक्तासंभवाच्च । अथैवं प्रयोजकव्यापारो णिजर्थः
 &c. B_p.
 „ L. 6 कर्मसंज्ञाया वाधात् J., B., B_p for वाधात्
 „ L. 10-11 omitted in B_p.
 „ Ll. 12-15 The two verses in these lines are omitted in B.
 P. 47 L. 6 भाष्यविरोध एव B_p.
 „ L. 25 वकारोऽयं मङ्गलार्थः J., B., B_p.
 P. 48 L. 5 भवर्था वावादयः स्मृताः J., B., B_p.
 „ L. 10 षोपदेशलक्षणत्वं तत्त्व° J.

- P. 48 L. 14 शक्यम् B.
 „ L. 18 केचित्सूपदिष्टार्थं B.
 P. 49 L. 11 इत्यर्थे इति ग्रहपदं पूरयित्वा व्याख्येयम् । यथाश्रुते चान्योन्या-
 श्रयस्योत्पत्तौ ग्रहे वा प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमेनासंगतेः नह
 वास्तव्यः &c. B.
 „ L. 19 वस्तुतः क्रियावाचकत्वे सति गणपठितत्वं न लडादि° B.
 „ L. 23 बोधार्थे B.
 „ L. 24 न सूत्रं J. for सूत्रं
 P. 50 L. 1 °रुभयोरपि B.
 „ L. 2 अर्थस्यातत्तत्पुरस्कारेण° J.
 „ Ll. 7-8 प्रयोगदर्शनादिकल्पादिति J.
 „ L. 15 स्थित्युत्पत्तिद्वयर्थत्वात्
 „ L. 26 उभयत्र तुल्यत्वात् B., B.
 P. 51 L. 9 विशिष्टस्यात्मन J.
 „ Ll. 15-18 कथमन्यथा to मूलकृता is dropped in J., B.
 „ L. 20 एवं चास्त्यादा° J.
 „ L. 26 कर्मत्वमुपपद्यते B.
 P. 52 L. 1 J. and B. drop the portion from वार्तिक to न्यायेनः सर्वैरिति ।
 अकर्मकाणामिति वार्तिके कैयुतिक° B.
 „ L. 10 भिन्नकक्षं J.
 „ L. 12 कल्पते J., B., B.
 „ L. 19 निवृत्ते प्रेपणेपि J.
 P. 53 L. 10 °नृत्तादि° B.
 „ L. 22 B. drops तद्वातिवति.
 P. 54 L. 15 °क्रियोभयशक्तित्वात् J.
 „ L. 16 श्रितातीतपतितेति सूत्रे B.
 „ L. 19 J. and B. drop दृष्टव्यम्.
 „ „ J. and B. have इत्यादि for इति
 „ L. 21 प्रतिबन्धानु तथेति J.
 „ L. 24 भगवत्पतञ्जलिः B.
 P. 55 L. 1 तथोक्तं J., B. for तदुक्तं
 „ L. 5 एवेत्यर्थः । प्रतीति° B.
 „ Ll. 17-18 वदोऽघटं B., B.
 P. 56 L. 12 °च्छाब्दविशिष्टज्ञानसिद्धिः J.
 „ L. 13 °काव्यजसुखायुरोधेन J.
 „ L. 26 अकर्मको धातुरित्यन्वयः । यथा भ्यादिः । तयोरित्यादि J., B.
 P. 57 Ll. 2-12 सकर्मकत्वमिति भावः । तदुक्तं वाक्यपदीये
 ‘अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः’ इति । तेन आत्मान
 मात्मनेति पूर्वार्धेनोक्तकर्मणासावस्तिः सकर्मको न । अन्त

भावादस्त्यर्थेन क्रोडीकृतत्वादित्यर्थः । अत्रेदमवधेयम् &c.—
°समासोपपत्तिः । अथैवं जानातीच्छयादेः &c. J., B.

- P. 57 L. 8 °फलागमवाचकत्वादिकर्मकत्वम् J.
 „ L. 13 घटादिकर्मणा सकर्मकत्वं J., B.
 „ L. 23 °प्रसङ्गभियैव J., B.
 „ L. 24 तथा चाभावाधिकरणे भट्टैरुक्तम् J.
 P. 58 L. 16 तत्कर्मकत्वस्य J. for सकर्मकत्वस्य
 „ „ अविवक्षितकर्मणो B.
 „ „ वाविवक्षा° B₁.
 „ L. 17 भेदेनाकर्मकत्वं सकर्मकत्वमपि J.
 „ L. 22 पत्तेः J., B., B₁ for पत्तेः
 P. 60 L. 4 शंखपाक J. for गुण्ठीपाक.
 P. 61 L. 6 पुष्टिङ्गता वेति J.
 „ L. 7 J₁, B., and B₁ have before उक्तं च the portion contained
 in J. given in the foot-note 2 on p. 61.
 „ L. 19 यादृशः J. for तादृशः
 „ L. 25 लिङ्गानन्वयित्वं वाच्यं J.
 „ L. 27 साधनत्वेनेत्यु° B.
 P. 62 L. 3 मृडयति J., B. for मण्डयति
 „ L. 14 °समभिव्याहाराभावप्रयुक्तः J.
 „ L. 18 नश्यति वेत्यादि J., B₁
 „ „ पाकसाध्या क्रियान्तराकाङ्क्षा J.
 P. 64 L. 2 तस्मादुत्पाद्यत्वमेव करणादिकारकत्वेनानन्वयितावच्छेदककार-
 कान्वयितावच्छेदकं क्रियान्तरा° J., B.
 „ L. 4 °दाहताडुभवादङ्गीकार्यो J.
 „ L. 24 °वेकतिङ्गत्वाभावात् B.
 P. 66 L. 11 संशयेऽनुयाजशब्दसंबन्धे J.
 P. 67 L. 16 ननु for न तु B.
 „ L. 21 तस्यां गेयद्युतोत्तराग्रन्थे J., B.
 „ „ न त्वा वा अन्य B.
 P. 68 L. 2 °शमकत्व° B.
 The Ms. J₁ begins with Ll. 8-9 p. 70—भावनायां शक्ति-
 रित्याशङ्कायामाह.
 P. 69 L. 5 °मर्थमात्रं चेति J.
 „ L. 7 विहितानामिन्यादीनां J.
 „ Ll. 24-15 भोक्तुं पाको भुक्त्वा पाकः भुक्त्वा गन्तेत्यादौ J₁, B.
 P. 70 L. 10 °नियञ्जितम् J., J₁, and B for निबन्धनम्.
 „ L. 19 नन्वेतदर्थस्यैव J₁.
 „ L. 22 °कोशाप्तवाक्यव्यवहारतश्च J₁, B.

- P. 71 L. 1-2 °च्छक्तिग्रहार्थमेव प्रवृत्ति° J., B.
 " L. 2 प्रवृत्तिरेतस्येत्यादिकः J., J., B.
 " L. 6 समानायामर्थावगतौ J.
 " L. 8 इत्यसाधुरनुमानेत्यत्र वक्ष्यामः J.
 " L. 15 तद्वलात् पुरुषार्थत्वमेव B.
 " L. 17 सूत्राप्रामाण्यम्
 " L. 26 कतुयुक्तपुरुषार्थोऽयं प्रतिषेधः J.
 P. 72 L. 8 न पुरुषत्वम् J.
 " L. 12 विनिगमनाविरहाच्छाब्दान्त° J.
 P. 73 L. 7 किं बोध्यो वाच्यो वा J.
 " L. 10 किं च वर्तमानेऽपि लटस्तन्नाशकत्वे कर्तापि J.
 " L. 13 लटः सामान्यलकारार्थेन J.
 " L. 15 पक्षद्वयस्याप्याकरे B.
 " L. 23 इत्यर्थकं शङ्का° B.
 " L. 26 °शङ्कासङ्गतिः B.
 P. 74 L. 6 विकल्पते J., J., B.
 " L. 8 हेळाराजीये स्पष्टम् J.
 " Ll. 11-12 भविष्यत्वं J.
 " L. 15 भेदका J.
 " Ll. 16-17 स्वपरिच्छेयत्वं J.
 " L. 17 तन्निष्ठवर्तमानत्वमेव J.
 " L. 22 विशेषेण सामान्यबाधा° J.
 P. 75 L. 5 वाच्यम् J., for वाच्यमेव
 " Ll. 6-7 तुच्छेनापि J., J.
 " L. 15 परोक्ष्यस्यैव J.
 " L. 20 परोक्षत्वोपपादनस्य बहुतरमनः° J.
 " L. 21 °रचनात्मके ग्रन्थेऽनद्यतनातीतत्वयोश्च विस्तारक्रियाया° J.;
 " " °रचनात्मकग्रन्थविस्तार° B.
 P. 76 Ll. 5-6 लैडर्थमाह J.
 " L. 10 तदाहुः J., B.
 " L. 16 प्रवृत्तिसामान्यहेतुत्वावधारणेन J.
 P. 77 L. 15 ब्राह्मण्यबाधात् J.
 " L. 21 प्रवर्तकत्वात् B.
 " L. 26 मध्वकखण्डनं J.
 " L. 28 °दूषणतया दूषणासंगतिश्च J., B.
 " " तत्रातिप्रसक्तैरदूषण° J.
 P. 78 L. 7 संसर्गतया भावान्न J.; संसर्गतया भयान्न J.
 " L. 10 शक्त्यभावेनानुपपत्तिश्चेति वाच्यम् J.
 " L. 12 इत्याहुः J.

- P. 78 L. 16 कृतिसाध्ये प्रवृत्त्वभावश्च J_p.
 " L. 18 चिकीर्षासंभावात् J_p.
 " L. 24 गुरुवर्तनया प्रवृत्तिस्थले J_p.
 " L. 26 तद्ज्ञानं विना J.
 " L. 28 तन्निश्चयोऽपेक्षते J_p.
 " " परीहाराय B.
 P. 79 L. 1 इत्यन्यलभ्यम् J.
 " L. 11 जनकविघटकस्यापि J_p.
 " L. 18 शब्दबोधहेतुत्वात् J.
 " L. 21 नावगम्येत J., B., B_p.
 " L. 23 काम्यव्यवहितपूर्वमेव शक्यं J.
 " L. 24 विशेषणीभूतकृताश्रयाविषया° J.
 " Ll. 25-26 कृत्युद्देश्यत्वबोधनात् J_p, J., B.
 P. 80 L. 2 स्वर्गकामपदस्य J., B.
 " L. 4 यागविषयकत्वम् B.
 " " यागस्य तादृशकृतिविषयत्वे पुरुषस्याश्रयत्वे चा° J_p.
 " " कृतो विषयत्वे पुरुषस्याश्रयत्वे चा° J., B.
 " L. 15 तज्ज्ञानस्याव्यावर्तकत्वात् J_p.
 " L. 22 प्रवर्तते J_p, B.
 " L. 26 साक्षात् साधनत्वज्ञानासंभवेऽपि J_p.
 P. 81 L. 3 तच्चात्रापूर्वम् J_p, B_p.
 " L. 4 त्वत्सिद्धौपादानिक° J_p, B., B_p. स्वसिद्धौपादानिक° J.
 " L. 14 मुख्यं तत्साधनं B_p.
 " L. 15 ज्ञानासंभवात् कार्यतया° J., B.
 " L. 20 तस्य धात्वर्थनिष्ठप्रवर्तकत्वात् J_p.
 " " न त्वपूर्वस्य J.
 " L. 21 वक्तु° for निर्वक्तु° B_p.
 " L. 25 लिङादिस्त्रिञ्छाविषयतावच्छेदकशालिस्वर्गत्वादिवत् J_p.
 P. 82 L. 3 दिति चेदिष्टापत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् J.
 " " J_p adds the following before तस्मादिष्टसाधनताज्ञानस्य—
 किं च कृत्युद्देश्यमपूर्वमर्थ इति मतेऽपि यत्किंचित्कृत्युद्देश्यं बोध्य-
 कृत्युद्देश्यं वाऽर्थ इति तत्रापि दोषात् यत्किंचित्कृत्युद्देश्यमर्थ
 इत्यस्य ममापि संभवात् बोध्यकृत्युद्देश्यमर्थ इत्यस्य सर्वोद्देश-
 रहितानां संन्यासिनां बोधो न स्यादिति भवदुक्तदूषणग्रासात् ।
 P. 83 L. 5 इत्यत्रेवार्थवादत्वेन J_p.
 " L. 7 चेत् तस्या अपि J_p.
 " L. 11 धर्मान्तरप्राप्तास्यज्ञानप्रवर्तकत्वाभावाच्च J_p.
 " L. 23 साधनत्वाभिधाने तदन° J_p.
 P. 84 L. 5 स्थाल्या for स्थान्य J_p, B.

- P. 83 Ll. 10-11 °मिष्टत्वमव्यवस्थानिति B.
 „ L. 16 तत्तत्साधनत्वे शक्तिरिति J.
 P. 84 Ll. 18-19 °प्रतियोगितावच्छेदकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वसंबन्धेन J.
 P. 85 L. 1 व्यभिचारसंदेहो न प्रतिबन्धेन J.
 „ L. 5 यथा नृणारणि° B.
 „ L. 10 तद्गृहासंभवाच्च B.
 „ L. 15 बोध्यम् for ध्येयम् J., B.
 „ L. 19 °संभवात् for प्रसङ्गात् J.
 „ „ साध्येष्टकत्वमेव J., B.
 „ L. 27 गृहीतकारणतानिर्वाहार्थं J.
 „ „ पूर्वगृहीतकारणतानिर्वाहार्थं J., B.
 P. 86 L. 4 तत्तत्स्वर्गव्यक्तिं B.
 „ L. 5 प्रथमान्त एव for प्रथमत एव J.
 „ L. 6 कार्यत्व° for कार्य° J.
 „ L. 10 °कारणतया B.
 „ L. 11 प्रयुज्यताम् J.
 „ L. 12 कार्यतावच्छेदमति° J.
 „ L. 13 °द्वुत्पत्त्यापत्तेः । उत्पत्तौ च J., B.
 „ L. 16 परस्परविरहेऽपि J., J., B.
 „ L. 17 बोभयोर्हेतुता J., B., B.
 „ L. 18 कल्पयामि ते J., J., B., B.
 „ L. 21 तत्रैवापूर्वाख्यकार्यादुत्पत्ति° J., J.
 „ Ll. 21-22 वैजात्यकल्पनेन B.
 P. 87 L. 8 J. has for श्रुत्यदुरोधात् the following:—एवमुक्तमन्त्रस्यापि
 मन्त्रलिङ्गादुरोधात्
 „ L. 12 °होत्रजन्यापूर्व° J., B.
 „ L. 16 वयं तु for विभावयन्तु J.
 „ Ll. 18-P. 88-L. 15 The portion from यस्तु विधिदभ्यार्थविचार-
 काले to अतस्तद्भावेऽपि न निवृत्तिः is given in J. and B.
 after कल्पनौचित्यात् L. 18 p. 89.
 P. 88 L. 15 अतस्तद्भावेऽपि न निवृत्तिः J.
 „ L. 18 प्रवृत्त्यप्रसङ्गात् J.
 „ L. 20 पित्राद्यर्थ for पुत्राद्यर्थ J.
 „ L. 21 फलत्रैविध्यं B.
 „ L. 26 कल्पनाया एवासंभवात् J.
 P. 89 L. 1 नन्वेवमेव J.
 „ L. 3 °प्रवृत्तिलोपो दुर्वारः J.
 „ L. 5 तदीय सोमयागे J.

- P. 89 L. 18 after कल्पनौचित्यात् B. has तस्मात् कार्यतावच्छेदकधर्मस्वरूपं कार्यत्वमित्येव वाच्यं तत्रावच्छेदकाग्रहे दुर्ग्रहमेव । यस्तु विधि-
लभ्यार्थविचारकाले—दोषापत्तेः (L. 24 p. 87) । वस्तुतः
शक्तस्याननुष्ठाने अतस्तद्भावेऽपि न निवृत्तिः (L. 15 p. 88) ।
वस्तुतस्तु फलाधिक्यादिकल्पनपि न युक्तम् &c. (p. 89 L. 21).
- " Ll. 18-21 The portion from वस्तुतस्तु वैजात्या to नानर्थक्यम् is
dropped in J. and B.
- " L. 21 परमार्थतस्तु for वस्तुतस्तु J_p.
- " L. 26 इष्टा चान्यत्रापीयं J_p, J_p, B.
- " L. 28 प्रवृत्त्युपपत्तेरिति । यत्तु गुणकामपरत्वेन सर्वशब्दसंकोचो भीमां-
सकैरुक्तः तत्र । सर्वेभ्य इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । उक्तरीत्योपपत्तौ
संकोचे मानाभावाच्च । कामेभ्य इति समभिव्याहृतस्य तस्य
सकलतद्वाचकताव्युत्पत्तेश्च । संकोचापेक्षया शक्ताशक्तसुहि-
श्येतदिति वोच्यताम् । इष्टा चान्यत्रापीयं मर्यादा सर्वेषाम-
पीत्यलं पल्लवितेन J_p.
- P. 90 L. 3 J. drops अथमेधवदन्यादृत्तिग्रहेऽपि.
- " L. 5 यत्किञ्चिदेतत् for न किञ्चिदेतत् J_p, B_p.
- " L. 12 गतमिष्टसाधनशक्त्या J_p.
- P. 91 L. 5 °परिहार° B.
- " L. 8 J_p drops सति.
- " L. 12 नञः स्थले J_p, J.
- " L. 20 अथवालम्भनमत्र J.
- " Ll. 22-24 The portion from अत एव to संगच्छते is dropped in
J_p, J., B., B_p.
- P. 92 L. 1 स्तोत्रीयानकस्य J_p.
- " L. 5 वाक्यशेषवृत्तिरपि विकल्पेन J_p.
- " L. 13 विशसनविधायकवाक्या° J_p.
- " Ll. 16-17 °विधिविधेयत्वस्याननुष्ठान्वित्वव्याप्ततया J_p.
- P. 93 L. 1 तत्रत्यटीकास्था च माध्वी साध्वी J., B., B_p.
- " L. 14 ब्रह्मोत्तरखण्डऋषभोपदेशात् J_p.
- P. 94 Ll. 3-4 अत एवेष्टजनकाभावात् J_p.
- " L. 7 दशपापगणनायां J., B.
- " L. 8 इत्यविधान इत्यनेन J_p.
- " " हिंसा च पापजनकत्वे° J.
- " L. 11 एवं हि for एव J_p.
- " L. 12 °संचलने B_p.
- " L. 14 ग्राणभक्षणविधानेन B_p.
- " L. 18 °र्थज्ञादावपि प्रत्यवायः J_p.
- " L. 23 तत्तदुःखस्य B_p.

- P. 95 L. 1 संकोचाभावात् B.
 „ L. 6 पशुहिंसाजन्यप्रायश्चित्तस्य J.
 „ L. 9 वारणमहिषासुरादिभ्यो J.
 „ L. 17 एवं प्रत्यवायः J.
 „ L. 24 नैव विशुद्धं विदुः J.
 „ L. 26 बोध्यम् J, B. for ध्येयम्
 „ L. „ साङ्गं यागावुष्टानं J.
P. 96 L. 7 निषेधाप्रतीतिरुक्तत्वात् J.
 „ L. 8 तत्र पापस्य J.
 „ „ स्वल्पत्वकल्पनशुक्तम् J.
 „ „ 10 दुःखाजन्यत्वमपि J.
 „ „ 15 इति च वदन्ति J, J, B.
 „ „ 20 एतस्य प्रवर्तकत्वे बहुवित् J.
P. 97 L. 2 वेदे नरकाजनकत्वाभावबोधनेऽपि J.
 „ Ll. 17-18 भूत इति सूत्रात् J.
P. 98 L. 5 क्रमनियमश्च J.
 „ L. 7 लडादिनिर्णयः J.
P. 99 L. 1 सुवर्थात्रिरूपयति J.
 „ L. 2 शक्तिरेव च J.
 „ L. 3 विभक्त्यर्थः J, B.: यथायथे विभक्त्यर्थः J.
 „ L. 8 अथैवं चैत्रो J, J.
P. 100 L. 5 चेच्छत्यादेस्तत्र स्यात् J, B.
 „ L. 6 तदसंभव एवेति J.
 „ L. 12 J, drops द्विष्टः
 „ L. 14 J, drops इच्छति
 „ Ll. 19-22 J, and J. drop the portion from न च भावकार्यस्य to
 निमित्तकारणमात्रजन्यत्वम्.
P. 101 L. 17 नेयमप्यनुपपत्तिं J.
P. 102 L. 15 दनुशासनानामर्थान्तरे J, B.
P. 103 L. 3 द्वितीयान्तवृत्त्यन्योन्याभावः J.
 „ L. 9 पटबोधात् is dropped in B.
 „ L. 9 पटशक्तं भवति J.
 „ L. 26 फलवाचकतायां J.
P. 104 L. 7 तण्डुलः पचतीत्यतिप्रसङ्गः J.
 „ Ll. 9-10 J, drops तथा हेतुहेतुमद्भावासिद्धेः ।
 „ L. 11 कर्मत्वार्थपदजन्यो J.
 „ Ll. 16 17 स्वाधेयतावच्छिन्नः J.
 „ L. 17 पदोत्तर विभक्तिजन्यज्ञानत्वेन J.
 „ L. 25 कर्मत्वबोधकपदज्ञानत्वेन J, B.

- P. 104 L. 26 °पदोत्तरपदजज्ञानत्वेन J₁.
- P. 105 L. 4 समं तर्ह्यस्माकमपि J₁.
- " L. 17 यद्यन्नान्यपूर्वकम् J₁.
- " L. 20 यस्य नाश्रयते J₁.
- P. 106 L. 3 घटं करोति J.
- " L. 27 J. drops तत्र.
- P. 107 L. 8 प्रेत्याभिसंभावित्वास्मि J₁.
- P. 107 L. 11 कर्मकर्तृभावभेदेन J₁.
- " L. 13 ज्ञातव्यस्य for गन्तव्यस्य J₁, J.
- P. 108 L. 4 धातोः for कृधातोः J₁.
- P. 110 L. 12 तदेतुक्रियायाम् for विश्लेषहेतुक्रियायाम् J₁, J., B.
- " " विश्लेषहेतुभूतक्रिया° J₁.
- " " विश्लेषहेतुभूतक्रियानाश्रयत्वे J₁.
- " L. 25 After भावः J₁ and B. insert क्रिया चात्र धात्वर्थो न कर्म &c.
the same portion that is found in Tr.
- P. 111 L. 6 परसमवेतत्वविशिष्टलक्षणा J₁.
- P. 112 L. 9 द्वितीयानिर्दिष्टस्योद्देश्यत्वलक्षणं J.
- " Ll. 10-11 प्रत्यजाः शेषभूताः J₁.
- " L. 14 कौस्तुभे for शब्दकौस्तुभे J₁.
- " L. 18 न वातुमन्यते J., B.
- " L. 20 सिद्धेर्न तस्य संप्रदानत्वमिति चेन्न । B.
- " " व्यर्थ इति चेन्न J₁.
- " L. 23 सूचयति for सूत्रयति J₁, J., B.
- P. 113 L. 2 धर्मिपरतया J₁.
- " L. 4 चैवेति संगच्छत इति J., B.
- " L. 5 कर्त्रादिपदानि सर्वत्र J₁.
- " L. 7 देवताविशिष्टामिक्षावाचकेषु J₁.
- " " देवताविशिष्टामिक्षादिवाचकेषु J.
- " L. 9 J₁ drops सह.
- " L. 12 शेषे षष्ठीति सूत्रात् J₁.
- " L. 15 ब्राह्मणादिनार्यः । B.
- " L. 16 तस्मादाश्रयत्वादिकमेवार्थः J₁.
- " L. 18 कर्मणि द्वितीयादेः शक्ति° J₁.
- " L. 19 दृष्टेकयोर्द्विवचनैकवचन इत्याद्यनु° J₁, J., B.
- " L. 21 इत्येव प्रयोगेऽप्याश्रयबोधानुरोधा° J₁; इत्येव प्रयोगेऽप्याश्रय-
बोधानुरोधा° J. °प्राश्रयबोधात् B.
- P. 114 Ll. 3-4 °व्यवच्छेदकत्ववक्ष्यमाणरीत्या J₁.
- " L. 6 शक्तिरेवेति J₁.
- " L. 8 प्रवृत्तिनिमित्तं स एव J₁.

- P. 114 L. 12 षड्विभक्तीर्नातिवर्तते J.
 „ L. 14 °स्तत्प्रवृत्तेर्निबन्धनम् J.
 „ L. 15 तत्तच्छक्त्यनभिहित इत्यर्थः । B.
 „ „ for आख्यातार्थे-°व्यवस्था B. has आख्यातार्थोऽप्यत्र मते शक्ति-
 रेव शक्तिस्तद्वतोरभेदाच्च कार्यव्यवस्था ।
 „ L. 22 °दुभयसाधारणसाध्यत्वं J., J.
 „ L. 25 पाणिनिस्मृतिः J., J., B.
 P. 115 L. 1 एवं च सक्तुन् B.
 „ L. 4 भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हति ।
 „ L. 10 सक्तुभिस्तत्कलं भावयेदित्यर्थः । B.
 „ L. 11 वान्यशास्त्रमिति J.
 „ L. 13 तथाग्रिहोत्रेण J.
 „ L. 17 सुपां जानातीत्यादौ तिङां च B.
 P. 116 L. 4 शक्तप्रयोगे for शब्दप्रयोगे J.
 „ L. 8 लक्षणयासाधुः स्यात् J.
 P. 117 L. 5 सकारकाणि तानि J.
 „ L. 8 प्रत्येकव्यक्तिभिः° J.
 „ L. 8 एवं हि व्यक्त्यन्तरे B.
 „ L. 16 अखण्डत्वादेरेव J.
 „ L. 21 °श्चापेक्षिते न स्यात् J.
 P. 118 L. 12 एतस्मिन्नियमे मानाभावात् J.
 „ L. 19 Before अपि च J. and B. give किं च ज्ञाने पदानां शक्तिः
 &c. the portion found in Tr. and D.
 „ L. 22 गृहीतस्तत्रापि J.
 „ L. 23 गामानयेत्यादि J., J.
 P. 119 L. 1 विवक्षति J., B.
 „ L. 13 शाब्दविषयत्वात् J.
 „ L. 14 भानप्रसङ्गाच्च J.
 „ L. 21 जातिप्रकारकशाब्दजनक° J.
 „ L. 27 J. drops हस्तिमात्रादौ
 P. 120 L. 4 दण्डत्वेनोपस्थित्यर्थम् J.
 „ L. 7 विशिष्ट एव शक्तिग्रहात् J.
 „ L. 8 षट्शक्तिज्ञानकारणता J.
 „ L. 9 द्रव्यत्वबोधप्रसङ्गात् J.
 P. 120 L. 9 द्रव्यपदजन्योपस्थितित्वेनापि B.
 „ L. 10 तात्पर्योन्तरात्तथाबोधानापत्तेः J.
 „ L. 17 °स्याशक्तस्याप्युपस्थितौ J.
 P. 121 L. 1 J. drops शक्ति like D.

- P. 121 L. 3 अतो घटस्व° J.
 „ L. 7 उक्तं भाष्ये J₁.
 „ L. 18 ईशि for ईशादेशे B.
 P. 122 L. 1 तन्मानं निरस्य J₁.
 „ L. 7 वा अस्यस्य शक्य° B.
 „ L. 10 समावेशासंभवात् J₁.
 „ L. 20 उक्तमतद्वयेऽपि for किं चोक्तमतद्वयेऽपि J₁, J.
 „ L. 26 लौकिके लिङ्गे J₁.
 P. 123 L. 1 इत्यादिव्यवहारात् J₁, B.
 „ L. 2 आरोपे सति निमि° J., B.
 „ L. 6 माक्षिकादौ J₁.
 „ L. 13 नैकलिङ्गव्यवहारश्च J₁.
 „ Ll. 24-25 निर्णीतत्वाच्च तस्य पुंस्त्वाभावनिर्णयात् J₁.
 „ L. 27 मन्त्रेण छागस्येति J.
 P. 124 L. 1 संख्यावत् J₁.
 „ L. 2 सारस्वत्यै J₁.
 „ L. 3 दैवत्यं मिथुनम् J₁.
 „ L. 4 वेति वाक्ये B.
 „ L. 6 त्रियस्वेति B.
 „ „ निर्णयवत् B.
 „ L. 8 प्रागस्मा अग्नि J₁.
 „ „ अग्निगुप्रेषस्य J₁.
 „ L. 21 तथा चाग्निगुप्रेषश्च J.
 „ L. 23 प्रकृतिव्यक्तिगतै° J₁.
 „ L. 25 एकशेषस्यैवासंभवात् J₁.
 „ L. 28 गुणान्तरस्याधिकस्य विशेष्यपदोपस्थितलिङ्ग° J.
 P. 125 L. 2 साम्यावस्थायाः J₁.
 „ L. 11 संभवे देशोभयतोऽपि J.
 „ L. 19 प्यर्थो विभासते J.
 „ L. 21 प्रकाशते J.
 „ L. 23 शाब्दबोधासंगतेश्चेति J₁.
 P. 126 L. 3 कुत्रित्यादिस्थले J₁.
 „ L. 7 अर्थेव भासते । अर्थवद् भासते J₁.
 „ L. 8 शाब्दे बोध° B.
 P. 126 L. 8 कल्पते B.
 „ L. 23 धारारूपेण विशेष्य J₁.
 P. 127 Ll. 19-20 कश्चित् पदार्थ इत्याकारको J₁.
 „ L. 20 कवतिषु J.; कवतीषु B.
 P. 128 L. 3 प्राधान्येन बोधात् खलु J.

- P. 128 L. 10 °ज्ञानकार्यतावेदकं J₁.
- P. 129 L. 4 °दुद्धिनाख्येन यागेन J.
- „ L. 5 नास्ति for नास्ति B.
- „ L. 8 इति परिमले समाधिरे J₁.
- „ L. 10 न्यायात् for न्यायापातः B.
- „ L. 18 साध्यद्वयासंभवात् J₁.
- „ L. 20 Before अस्मन्मते च J₁ inserts—
किं च गुणविधौ प्रकृत्यर्थस्य वाक्यार्थान्वयोऽस्ति नामधेयत्वे च
स नेति जघन्या नामधेयता स्यादित्यलं ध्वनेन.
- „ L. 25 तादृशबोध इति काव्यप्रकाशकारोक्तं J₁.
- P. 130 L. 11 °मानयेति बोध इति भावः J₁.
- „ L. 14 शब्दस्य नियमेन J.
- „ L. 16 J₁ drops एवं च.
- „ L. 18 तात्पर्याकाङ्क्षावशात् J₁.
- „ „ वृत्त्यविषयस्यापि J.
- „ L. 21 प्रवर्तमानकालभासकत्व° J₁.
- P. 131 L. 6 °स्तत्रियमाभावात् J.
- „ L. 11 नानार्थेऽनुपपत्तिः J₁, J., B.
- „ L. 15 अभेदेऽप्यस्तु वा स्वस्मिन् J₁.
- P. 132 L. 1 च J., B. for वा.
- „ L. 9 भेदविवक्षाश्रयणेऽपि J₁.
- P. 133 L. 7 चात्र मतेऽनुकरणत्वम् J.
- „ L. 14 °प्यधातुप्रयुक्ता संज्ञा J₁.
- „ L. 15 °मान्नोच्छेदकं चेति बोध्यम् J.
- „ L. 23 इति वैयाकरणभूषणे J₁.
- P. 134 L. 4 षष्ठीसमासः J₁.
- „ L. 5 °सुस्तरपदं तु तिङन्तम् J₁, J.
- „ Ll. 17-18 सलक्षणस्याव्याख्यादिभिः J₁, J.
- „ L. 24 J₁ drops तथा
- P. 135 L. 16 स्वार्थे °प्यभि J.
- „ Ll. 19-20 रेखागवयादिवदिति भावः J₁.
- P. 136 L. 1 समर्थसूत्रं न कुर्यात् J.
- P. 136 L. 3 °स्पृशावित्यादावयमृतेनेत्यादे J₁.
- „ L. 10 श्रुतिर्हि J₁.
- „ L. 12 श्रुतिदीप्त्यपि स्यात् J₁.
- P. 137 L. 9 सुरया इव दुर्मदः J₁, J.
- „ L. 11 °परीहारव्याजेन J₁, J., B.
- „ L. 13 अहरहर्नयमानेत्यादौ J.
- P. 137 L. 14 अधिकरणं वर्तते पदार्थौ J₁.

- P. 137 L. 14 अधिकरणं वार्तौ पदार्थौ J.
 „ Ll. 17-18 तथा च षष्ठ्यलुग्विधायकानां J.
 „ L. 17 शब्दकौस्तुभादौ ग्रन्थकृतप्रभृतिभिर्व्युत्पादितत्वात् J.
 P. 138 L. 5 विभक्तेः पूर्वमेकशेष इति J.
 „ L. 8 विभक्तिपक्षेऽपि for न्यासपक्षेऽपि J.
 „ L. 14 तद्वोषकं चकारमादाय सः J_p.
 „ „ तेभ्यो for तत्र J., B.
 „ L. 16 J. drops अर्थ.
 „ L. 22 °पुस्त्वश्चश्रुत्वाद्यनेक° J_p, J.
 P. 139 L. 1 क्षमावत् तेषां मात्रोः सहभावे वा तात्पर्या° B.
 „ L. 1 °क्षमादंपत्तिमात्रे J_p, J.
 „ „ मातृज्ञात्रोः for भ्रातृमात्रोः J_p.
 „ „ मातृपित्रोः „ J.
 „ L. 6 J. drops च.
 „ L. 14 दुर्वारत्वेन J_p.
 „ L. 15 घटघटावितिवद् B.
 P. 140 L. 8 वृत्तिरिति for समास इति J_p.
 „ L. 12 नासंभाविनी° J_p, J.
 „ L. 23 वेति for चेति J_p, J.
 P. 141 L. 3 वृत्तिनिमित्तं मन्यमानानां J.
 „ L. 4 वृत्तयन्ति for वर्तयन्ति J_p.
 P. 142 L. 13 °प्यखण्डत्वापत्तेः । J_p.
 „ Ll. 13-14 अन्यथार्थेजरतीयापत्तेः J_p, B.
 „ „ „ यत्तापत्तेः J.
 „ Ll. 14-15 इति तत्रैव कैयटोक्तत्वा° J_p, J.
 P. 143 L. 7 राजपुरुषयोरुभयोरप्युभयार्थ° J_p.
 „ L. 8 विशेषणान्वयस्य राजपदे J_p.
 „ L. 13 समासनिष्ठतापत्तेश्च J.
 P. 144 L. 5 प्रथमग्रन्थाः B.
 „ L. 12 जहत्स्वार्थां न युक्ता J_p.
 „ L. 18 कवत्त्वन्तर्गतस्य कस्य J.
 P. 145 L. 3 कवतुजातीयाद्यन्तकवतुजातीयाद्यादुपूर्वी B.
 „ L. 6 °नासंभवित्वापत्तेः J_p, B.
 „ „ °नासंभावित्वापत्तेः J.
 „ L. 15 करणस्याप्यावश्यकत्वात् J_p, J.
 P. 145 L. 16 न्यायेनाकृतस्यैव लाघवौ°
 „ L. 25 मूलमसंगते स्यात् J.
 P. 146 L. 16 तत्करणं for किस्करणं J_p.
 „ L. 19 अय for अय् J_p, J., B.

- P. 146 L. 21 °परीहारसंभवात् J., B.
 P. 147 L. 5 °मित्याश्रित्य ह्रस्वकल्पनादेव सिद्धेः J.
 " L. 13 वृत्तावनर्थत्वं J.
 " L. 25 नियमान्न मध्ये J.
 " " तत्र तदसंभवात् J., J., B.
 P. 148 L. 2 J. drops मध्ये.
 " L. 8 संगच्छन्ते J.
 " L. 9 तन्मध्ये पतितं J.
 " L. 9 संभवादिति तु रामाश्रमस्वामिनः प्राहुः J.
 " L. 11 वाश्च शब्दे J.
 " L. 16 तदसंभवादन्न J.
 " L. 17 पङ्कजं चैत्रः पीताम्बरः J., B.
 " Ll. 22-23 वर्तमानत्वविवक्षायां J.
 " " पण्डितपुत्रवानित्यादौ for पण्डितपुत्रः, पुत्रवानित्यादौ B.
 P. 149 L. 3 कृतौ for कृतुसमूहे B.
 " Ll. 11-12 न योगार्थबोधानापत्तिं J.
 " Ll. 21-25 ओंकारस्थले चोमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति भगवद्वचनात् समुदाय-
 शक्तिवक्षरगतैकत्वस्यापि सिद्धेः प्रत्येकवर्णानामेवाभावाद् का-
 नर्थक्यापादनं शङ्कम् । न च समुदायैक्यमादायैकत्वं &c. J., B.
 P. 150 L. 13 °खिभिरभिदधत्तीं J., J., B.
 " Ll. 20-21 °प्रसङ्गवारणावश्यकत्वाद् J.
 " Ll. 23 त्र्यक्ष इत्यादौ J.
 P. 151 L. 15 पूर्वव्युत्पादिता J., J.
 " L. 25 समासः for सः J.
 P. 152 L. 4 वर्तते । अनयोः समासाभावे J.
 " L. 5 सूत्रादेव लाभो J., J.
 " L. 14 °माश्रित्यानुवृत्त्य J.
 " L. 19 इत्यभ्युपगमे J.
 P. 153 L. 1 °मुपपाय for °मुद्घात्य B.
 " L. 9 निरादीनां कान्त्यादौ J.
 " Ll. 10-11 °प्रयोगस्य संभवात् J.
 " L. 20 व्याख्यातत्वात् J.
 " L. 26 एवं च कृत्तं J.
 P. 154 L. 2 भस्य लोपो J.
 " L. 4 तामाक्षिपत् B.
 " L. 8 सर्वत्रेति तद्विहितान्तमात्रस्य J.
 " L. 15 पर्युदासादेव J.
 " L. 18 इत्तरस्यापीह J.
 " L. 21 केवलानां प्रयोगाभावेन J.

- P. 154 L. 24 प्रौढवानिति J_p.
P. 155 L. 19 परस्परान्वययोग्यतारूपा J_p.
" L. 22 राजसंबन्धी पुरुष इति J.
P. 156 L. 1 °मिति मत्वाह । उभयं वेति । J_p ; °मिति मते त्वाह । उभयं वेति । B.
P. 158 L. 2 J. drops समाहारे.
" L. 3 चेति for वेति J.
" L. 7 द्विवचनगमनादे° J_p, J., B.
P. 159 L. 2 पद्यरूपेण J_p.
" L. 5 तत्रापि for तथापि J.
" L. 8 नैव चित्रगु° B.
" L. 16 J. drops च.
" L. 27 विशेषणान्वयः B.
P. 160 L. 2 ध्येयस् J.
" L. 12 तत्र चानन्वयः पदार्थः J.
" L. 24 व्यपेक्षा हि J.
P. 161 L. 4 व्याचक्षते J.
" L. 7 सर्वं सिद्धम् । J.
" L. 10 पर्युदासे च J.
" L. 14 अन्यथैते देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुदत्ताः पण्डिता इत्यस्या° B.
" L. 15 छेदानान्वये J_p.
" L. 20 °मारोपितसंबन्धे शक्य° J_p ; °मारोपितसंबन्धशक्य° J.
" Ll. 26-7 तस्य प्रत्ययान्तत्वाभावात् J_p.
" L. 27 तथा चैतदु° J_p, J., B.
P. 162 L. 9 नियमार्थकमिति भावः B.
" L. 17 संपूर्णसूत्रस्य for समर्थसूत्रस्य J_p, J_p, B.
" L. 18 सखुदायस्य for पदसखुदायस्य J_p.
" L. 27 संज्ञावारणार्थवत्त्वादेरवश्यं J_p.
P. 163 L. 23 तत्रासंभाविनी J.
P. 164 L. 1 कथं पुनर्लक्षणात्वं J_p.
" L. 2 अन्यथावान्तरबोध° J.
" L. 3 गभीरगम्भीर° J_p ; गभीरादिपदानामपि J.
" L. 4 गुणप्रयोगादर्शनात् J.
" L. 6 गभीरपदे J.
" L. 9 गभीरपदे J_p, J.
" " °साधुत्वस्यान्याप्यत्वात् J
" Ll. 17-18 समत्वादिति B.
" L. 21 लक्षणपदत्वा° B.
P. 165 L. 12 ज्ञेयस् for ध्येयम् J.

- P. 165 L. 15 बोधापत्तेः J.
 " L. 18 चाध्याहृत्य J.
 " L. 21 °दोषपरिहाराया° J.
 " L. 24 कर्तव्या इत्यत्र J.
 " L. 25 समानार्थत्व° for श्रुतिसमानार्थत्व° J.
 P. 166 L. 16 °विशिष्टोपस्थितौ J.
 " L. 20 प्रथमो भक्ष्यः J.
 " L. 25 जहृस्वार्थास्वीकारात् J.
 " L. 26 तस्या असंभवेन J.
 P. 167 Ll. 3-4 न च भक्षाङ्गानां J.
 " L. 10 °मप्रकृतकार्यतां चापेक्ष्य J.
 P. 167 L. 22 in B. as in Tr. the passage from अथैवं सप्तदशा° to विधिर्न
 स्यात् comes after भावनोद्देशसंभवादिति दिक्.
 P. 168 Ll. 3-4 भक्ष्याहुवादेन J.
 " L. 5 तुचे कियत इत्यादौ J.
 " L. 14 शक्यं वक्तुम् B.
 " L. 22 कर्मधारयेऽपि तथात्वात् J.
 P. 169 Ll. 1-2 परं चोत्तर° J.
 " L. 4 J. drops चेत्.
 " L. 8 विशिष्टस्य संज्ञायामपि J.
 " L. 14 मध्यष्टात्तिविभक्त्य° J.
 " Ll. 14-15 मध्यष्टात्तिविभक्ति° J.
 " Ll. 16-17 प्रातिपदिकत्वाभावात् J.
 " L. 17 °प्रातिपदिकयोरित्यप्रवृत्तेः J.
 " L. 22 सिद्धेर्वावचनं J. B.
 P. 170 L. 2 लक्षणयानिर्वाह J.
 " " तत्र पूर्वोत्तर° J.
 " L. 11 वतुवर्थ° B.
 " L. 11-12 चतुर्थ्यान्वयापत्तेश्च J.
 " L. 25 कर्मतान्वयबोध° J.
 " L. 26 अवटमानयेत्यत्र B.
 P. 171 L. 4 पूर्वपदार्थप्राधान्यादव्ययी° J.
 " L. 9 ददाति दधि बहुपदुर्दधतीत्यादौ J.
 " " प्रकृतित्वासंभवाच्च J.
 " L. 13 पूर्वपदार्थविभक्त्यर्थान्वयो J.
 " L. 17 सिद्धान्तहान्यापत्तेः J.
 " L. 20 चावश्यैकेव J., J.
 P. 172 L. 1 °प्रकारकबोधं प्रति J.
 " L. 8 अस्मदीत्या च नायं दोषः J.

- P. 172 L. 23 करणत्वकर्मत्व° J_p, J.
P. 173 L. 6 अव्यवहितोत्तरत्वं J_p.
" Ll. 16-17 °तदनुकालीन° J_p.
" " चैत्रस्तदीयतदनुकालीन° J.
" L. 24 °शक्त्यभावे J. (i. e. it drops अपि)
P. 174 L. 6 लक्षणयापि न निर्वाहः J.
" L. 9 ओदनस्य पक्वे J_p.
" L. 18 °जन्योपस्थितिहेतुरिति J.
" L. 24 संबन्धिलक्षणयैवो° J_p, B.
P. 175 L. 5 °षष्ठ्यर्थत्वविशिष्टं J_p.
" L. 6 लक्षणायां कर्मधारयत्व° J_p.
" L. 11 कल्प्यत्वात् for कल्प्यतया J_p.
" L. 14 तथात्वेऽपि for तथात्वे वा J.
" L. 15 °दावश्यकैव J.
" L. 17 भावनायामेवान्वयात् J.
P. 176 L. 9 क्लृप्तव्युत्पत्तिभञ्जनं J_p.
" " वाक्ये क्लृप्तव्युत्पत्तिभञ्जनं J, B.
" L. 17 एवं च भिन्नव्यु° B.
" L. 18 रोचये for रोचयेः J_p, J.
" L. 20 व्युत्पत्त्यादिनामान्तरेण B.
P. 177 L. 1 °द्वितीयान्तायर्थक° J_p; द्वितीयार्थक° J.
" L. 10 कप्रत्ययस्य कर्त्रर्थकस्य J.
" L. 13 इत्यन्नाप्यन्वयापत्तेः J.
" L. 22 तल्लक्षणायां J.
" L. 27 कथंचिदन्यपदार्थोपयोगित्वेन J_p.
and 178 L. 1
P. 178 L. 6 अत एतद्व्युत्पन्नं प्रातिपदिक° J_p.
" L. 7 कस्याचिदवश्यं कल्प्यत्वादिति चेन्न J.
" L. 13 तस्मादावश्यकैव J_p, J.
" L. 18 भ्रमासंभवात्तस्यासकृदावेदितत्वात् J.
" L. 21 बोधादावश्यकी सद्युदायशक्तिः J.
" L. 25 तीरादिपदेभ्यो लक्षणया J.
P. 179 L. 7 वक्ष्यत अत एव J_p.
" Ll. 7-8 पूर्वपक्षस्यैवासंभवादसंभवापत्तेः J_p
" L. 8 J_p and J. drop तथाहि
" L. 9-10 संबध्यमानस्तृतीयायोगात् J.; संबध्यमानस्तृतीयान्त-
योगात् B.
" L. 17 वाक्याद् भेदेन J.
" L. 22 न हि करणतृतीया करणद्रव्याभिधायिनी J_p.

- P. 180 L. 3 श्रुतैकहायन्यवरुद्धे J₁; °द्रव्यनिवेशोऽपि न युक्त J₂; न युक्त-
 " " मित्युक्त° J₁.
 " L. 5 व्यर्थं च स्यात् J₁, B.
 " L. 9 द्रव्ये लक्षणाभ्युपगमेन J₁, B.
 " L. 11 निरस्तत्वात् शङ्कितुमशक्यत्वात् J.
 " L. 17 °रूपाधिकरणासंभव J₁; वायोगा° J.
P. 181 L. 12 कृत्वाचिन्तया नेयमिति J₁.
P. 182 L. 8 जातिशब्दतापत्तिः B.
 " L. 11 दानार्थत्वे J₁.
 " L. 19 द्वयोरन्यपदार्थत्वात् J.
 " L. 22 °द्वितीयाद्यन्तार्थबहुव्रीहिः J₁.
P. 183 Ll. 5-6 चित्रगोविशिष्टो देवदत्तादिः J₁.
 " L. 10 तथापत्तिः J.
 " L. 18 स्पष्टमेव for स्फुटमेव J₁, J₂; तथा च राज° J₁.
 " L. 24-25 विग्रहसमासयोरपि समानार्थत्व° J₁.
P. 184 L. 1 स्फुटत्वात् तदुपेक्ष्याह B.
 " L. 2 दुष्णप्रदर्शनम् J.
 " L. 12-13 ह्यलौकिकं प्रक्रियावाक्यं J₁.
 " L. 16 समाससंज्ञाया यदा J₁.
 " L. 19 एवमन्यत्राप्युच्यम् J₁.
 " L. 25 तदेव व्यापिन्यायेन J₁, B.
P. 185 L. 6 ब्रह्मणे जिज्ञासा J₁.
 " L. 8 पर्यवसितार्थतया J₁.
 " L. 10 प्रकृतिविकाराभावेऽपि J₁.
 " L. 11 बलिरक्षितवैयर्थ्यापत्ति° J₁; तुल्यम् for समम् J₁.
 " L. 14 यौगिकं नामेत्ययुक्तमेव J₁.
 " L. 20 गवामित्यस्यैव J₁.
 " L. 22 प्राप्तिकर्म इत्यस्यैव J₁.
 " L. 23 समासार्थबोधकवाक्या°
 " L. 25 बोध्यते B. for न बोध्यते.
P. 186 L. 7 गुणग्रन्थानभावस्य तत्र J.
 " L. 17 °स्थितेः J.
 " L. 26 पक्षीसमासे कर्मधारयवत् J₁.
P. 189 L. 6 °रभेदार्थस्यैवोक्तरीत्या J₁.
 " L. 17 बोध्यम् for ध्येयम् J₁.
P. 188 L. 8 शक्तित्वापत्तिः J₁.
 " Ll. 21-22 °मीशरोच्चारित्वात् B.
 " L. 22 तदुच्चारितत्वम् J, B.
 " L. 26 नामत्वेन तद्वाचकशब्द° J₁.

- P. 189 L. 7 न्यायसुधायां J.
 „ L. 8 संकेतित एव J₁.
 „ Ll. 25-26 न प्रत्यक्ष इति J.
 P. 190 L. 16 °भ्युपेतत्वाद् J₁.
 „ L. 21 प्रत्ययेन ज्ञानस्य कारणतायां J.; तज्ज्ञानकारणतायां J.; स्वरूप-
 सन्नेव हेतु° J₁.
 „ L. 24 °बोधनकत्वग्रहानन्तरमेव J₁.
 P. 191 L. 4 आधुनिकदेवदत्तादौ J₁.
 „ L. 16 सर्वेषां बोधकत्वापत्ते° J₁.
 „ L. 21 मूलकारः for ग्रन्थकारः J₁.
 „ „ स्मरणाभिमानप्रयोगखण्डने J.
 P. 192 L. 5 विना for चिनापि J.
 „ L. 9 गौरवं वेति J.
 „ L. 16 लक्षणाशङ्क्यन्यतरत्वं J₁, B.
 „ L. 17 कारणतावच्छेदकम् J₁.
 „ L. 19 शक्तिमत्त्वमपेक्ष्य J.
 P. 193 L. 3 स्मृतेरेतेषां कदाचित् J₁; शक्त्यग्रहे J.
 „ L. 8 घटजन्योपस्थितौ B.
 „ L. 13 एवं च स्व° J.
 „ L. 14 शक्यसंबन्धादेव J₁.
 „ L. 15 तवापि सममिति J₁.
 „ Ll. 23-24 क गौरवमिति वदन्ति J.
 „ L. 25 तद्बोधकत्वस्यावश्यकत्वात् J.
 P. 194 L. 1 तीरशक्तमिति J.
 „ L. 2 तद्घटितशक्ते° J.
 „ L. 7 न त्वङ्गुलशक्ते° J.
 „ L. 20 °श्रानेकार्थत्वं लाघवमूलकम् J₁; °श्रानेकार्थकल्पनं च लाघव-
 मूलकम् J.
 „ L. 24 भिन्नैवेति J.
 „ L. 25 न च कृत्वापीश्वरेच्छास्माच्छन्दा° J₁, J.
 „ L. 27 संबन्धत्वं कल्पनीय° J₁, J.
 P. 195 L. 7 सामर्थ्यं तस्य भिद्यते J₁.
 P. 196 L. 1 असंभवात् for अप्यसंभवात् J₁; तत्र शक्तिः J₁.
 „ L. 2 भिन्नतरत्वात् J.
 „ L. 3 °द्वोधापत्तेः J₁.
 „ Ll. 13-14 पराणां शक्त्यग्रहे कथं भ्रमः J₁.
 „ L. 15 तन्मूलकशक्तिभ्रमो J.
 „ L. 16 शक्यत्वसंबन्धरूपवृत्तेरपि J₁.
 „ L. 21-22 भ्रमे शक्तिमादाय J.

- P. 169 L. 23 व्याकरणादिनिष्पाद्यत्वं J.
 „ L. 25 व्युत्पादनं नाहुपपन्नम् J, B.
 P. 197 Ll. 1-2 नवकाव्यप्रयोगात् J.
 „ L. 5 J. drops तु.
 P. 198 Ll. 11-12 प्रयुक्ते इति व्याख्यानात् J.
 „ L. 17 द्वयक्षरं त्रयक्षरं वा स्पर्शमध्य^० J; द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा स्पर्श-
 मध्य^० J, B.
 „ L. सर्वत्र साधुता स्यात् J.
 P. 199 L. 4 विशिष्टार्थनिवेशितम् J; विशिष्टार्थनिवेशिनम् J.
 „ „ विशिष्टार्थनिवेशिनः B.
 „ L. 8 प्रतिबन्धकत्वस्य पूर्वं J.
 P. 200 L. 3 तत्र दृष्टान्तः J, J.
 „ L. 5 J, drops समाप्तः
 P. 201 L. 2 नव्समासे वापरस्य J.
 „ L. 7 तु संसर्ग इति J.
 „ L. 9 गौणत्वेन तन्निषेधात् J.
 „ Ll. 15-16 नास्तीत्यत्र वायुरूपाश्रिता आरोपिता या सत्ता आत्मधारणा-
 ख्यातदनुकूलो वर्तमानो व्यापार इति बोधः। नहु विशिष्ट^० J.
 „ L. 17 सत्ताया असिद्धेः J.
 „ L. 19 मेलनाप्रसिद्धि^० J.
 „ Ll. 20-21 तथाप्याहार्यप्रतियोगिप्रसिद्धिः J.
 „ L. 24 वैशिष्ट्यबोधात् तथा चात्र J.
 P. 202 L. 2 ^०स्यान्यत्रैव संभवात् B.
 „ L. 4 सत्तेत्यादिबोधः J.
 „ L. 21 प्रतियोगितासंबन्धेन J.
 „ Ll. 23 निर्विकल्पकात् J, B.
 „ „ घटाभावधी^० for घटधी^० B.
 „ L. 25 निःप्रकारकयट इति J, J., B.
 P. 203 L. 1 इदं तत्त्वादिना J.
 „ L. 2 निःप्रकारक^० J, J.
 „ L. 5 ^०संसर्गाग्रहस्तदापि J; यदि वोपस्थित^० B.
 „ L. 6 इत्यस्मद्गुरवः J.
 „ L. 22 नपुंसके भावे क इति कः J, J., B.
 P. 204 Ll. 1-2 अपि च सेव्यते B.
 „ L. 6 शुष्मदस्तद्विजलक्षणा J.
 „ L. 15 नञर्थनिर्णयः समाप्तः J.
 P. 205 L. 1 इति न्यायमते स्थिते वैषम्य^० J.
 „ L. 4 यतः for यथा J.
 „ L. 13 न च तथा बोधसंभावनापि J.

- P. 205 L. 17 तथा चोभयोर्विशिष्टत्वं कल्प्यम् J.
P. 206 L. 9-10 व्यापारवाचकत्वे पर्यवसितं B.
" L. 27 योतकत्वममीषामिति भावः J.
P. 207 L. 3 धात्वर्थकफला° J.
" L. 10 नमस्कारार्थत्वस्य J.
" L. 22 योत्यार्थमादाय J_p.
P. 208 L. 1 °स्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्ते° J.
" L. 4 भेदान्वयायोगात् J_p.
" L. 8 सत्त्वार्थत्वं for सत्त्वरूपत्वं B.
" L. 14 पूर्वोक्तदूषण° J.
P. 209 L. 1 तात्पर्यग्राहकत्वेनैवाश्रययोगात् J_p.
" Ll. 2-3 °रभेदेनान्वयः J_p, J.
" Ll. 4-5 दुष्परिहारात् J., B.
" L. 7 कल्पनागौरवात् for गौरवात् J_p.
" L. 19 अनन्वय एवेति बोध्यते J.
" L. 22 सुगतमिति भावः J_p.
P. 210 L. 3 °रीत्यैवान्वययोगात् J_p.
" L. 5 °शुत्तरपदेऽप्यवधेयम् J.
" L. 7 अयं भावः for अयमाशयः B.
" L. 9 °नन्वयादसत्त्वरूपत्वं J_p.
" L. 14 °रिवसदृशशरयोरपि J_p J., B.
" Ll. 15-17 लाभान्नेवादेरपि तत्र शक्तिकल्पनम् J_p.
" L. 15-17 The portion from अथवा to द्रष्टव्यम् is dropped in J., B.
P. 211 L. 2 तादृशार्थवत्त्वस्यावाचाद्भवति J_p, B.
" L. 3 द्व्येकयोरित्येषा° J.
" L. 5 हयवरद इति सूत्रे B.
" L. 12 °मुत्सर्गः for °मुत्सर्गतः B.
" L. 20-21 ज्ञापकत्वमङ्गुपेत्य J.
" L. 21 चादीनामपि विहारवत् J.
" L. 22 ग्रन्थकृतः for मूलग्रन्थकृतः J_p, J., B.
P. 212 L. 7 तौ हि वाचकः J.
" L. 9 बाळादभ्यः प्रतीयते J_p, B.
" L. 10 परिहारविहारवत् J.
" L. 26 लक्षणयैवोपपत्तौ J_p.
P. 213 Ll. 8-9 °भ्रमरानहगमापत्ति° J_p.
" L. 20 दुष्परिहारात् J.
" L. 22 तत्तदर्थकस्य घटत्वादिविशिष्टस्य J_p.
P. 214 L. 1 कारणभावग्रहणाल्लिपुष्पीयशान्दे J_p.

- P. 214 L. 1 कारणभावग्रहशालिपुरुषीयशाब्दे J.
 " L. 3 घटादिवच्छक्ति° J.
 " L. 5 तत्राख्यातान्वयो न स्यादित्यपास्तम् । J.
 " L. 11 नञसूत्रे भाष्ये ननेत्यत्राभावो J.
 P. 215 L. 24 तात्पर्यमात्रग्राहकत्वा° J.
 P. 216 L. 11 वाचकपदासमभिव्याहाराच्च J, J.
 " L. 17 J. drops समाप्तः.
 P. 217 L. 17 अत्र for अत्र तु J, B.
 " Ll. 18-19 संबन्धायभावात्त्रेदमिति रीत्या द्रष्टव्यम् B.
 " L. 19 J. drops रीत्या.
 " L. 20 चेति B.
 P. 218 L. 2 तद्वृत्तिजात्याह्वगमात् J, B.
 " L. 8 तत् कल्पते J.
 " L. 19 प्रकारतामापन्न इति शेषः । B.
 P. 219 L. 12 तच्च यथापि परेषां J.
 " L. 15 पटस्यापि प्रकारतापत्ति° J, J., B.
 " L. 24 अर्थजातौ B.
 P. 220 L. 5 शक्यत्वेन भानमिति वाच्यम् J.
 " L. 9 जातिगुणसाधारण्येनैकशक्तौ J.
 " L. 14 वैयाकरणानां भर्तु समर्थयन्ते J.
 P. 221 L. 6 पदेभ्यस्तत्तद्वाच्यो J.
 " L. 13 तेषां श्रवणापत्तेश्च J.
 " L. 14 उद्बोधकाधीनव्यवस्थायां J, J.
 " L. 17 फलकल्प्योद्बोधकवशादेव J.
 " L. 26 वरुणे पाशादिपदानां J.
 P. 223 L. 16 °भूषणे त्वप्रत्ययार्थनिर्णयः । J.
 P. 224 L. 19 तद्वित्तस्य चतुर्थीप्राबल्यं कथं J.
 P. 225 L. 2 सर्वपक्षाः B.
 " L. 9 लक्षणाया एव तत्त्वादिति भावः J.
 P. 226 L. 3 कपिञ्जलालाभवाक्येऽपि J.; कपिञ्जलालाभवाक्ये B.
 P. 227 L. 1 तथा चैकत्वस्य न्यायेनोपस्थितावपि J, J.
 " " संख्यायामङ्गत्वं J.
 " L. 5 बाध्येत J, J., B.
 " L. 7 प्रकल्पेत B.
 " L. 16 कपिञ्जलान्नयव्यतिरिक्ते B.
 " L. 19 कपिञ्जलान्नयव्यतिरिक्ता B.
 " L. 21 नैव शङ्कापि J.

- P. 227 L. 24 कपिञ्जलानालभेतैत्यत्र व्यक्ति° J.
 „ L. 26 फलविशेषार्थम् J_p, J.
 „ L. 27 ब्राह्मणभोजनादौ च श्रुत एव J_p.
 P. 228 L. 1 त्रयाणामेषामेवेति विनिगमना° J_p.
 „ L. 5 विधिनियेधयोर्विरोधवाचिनां J_p.
 „ „ कपिञ्जलात्रया° B.
 „ L. 10 कपिञ्जलान्याय उदाहृतः J_p, J., B.
 P. 229 Ll. 9-10 एवमेतयोरविवक्षैवेत्यपि न J_p.
 „ L. 23 °हेतूनामश्रयणमनाकरम् J_p.
 „ L. 25 °त्यत्रोद्देश्यगतमेकत्व° J_p.
 P. 230 L. 2 उक्तं वाक्यपदीये J_p.
 „ L. 8 प्रतिसंधानं गुणावृत्तिरिति न्यायात् J_p, J.
 „ L. 16 प्राधान्यापत्तेरिति J_p.
 P. 231 L. 1 मात्रालाघवेन वैयाकरणाः J_p.
 „ „ इति चेन्न को दोषः J.
 „ L. 4 J_p drops इति भावः
 „ L. 5 J_p drops समाप्तम्.
 P. 232 Ll. 7-8 भाव इच्छन्ति J_p.
 „ Ll. 16-17 अप्पदीक्षितैरुक्तं तन्निराचष्टे J_p, J.
 „ L. 24 पूर्वकालता प्रतीयते J_p.
 P. 233 L. 3 सिद्धान्तासंगतिः J_p.
 „ L. 4 प्रकरणबाधभिया J_p.
 „ L. 8 व्याकर्तृत्वेनाहुप्रविश्येति J_p.
 „ L. 17 पूर्वकालत्वमात्रं J_p.
 „ L. 24 सति च तात्पर्ये J_p.
 P. 234 L. 6 अन्वयापत्तेः J_p, J.
 P. 235 L. 1 °माशङ्क्याख्यातार्थः J_p.
 „ L. 14 बाधापत्तिः । न च J_p.
 „ L. 16 भावेऽनुशासनविधायका° J_p.
 „ L. 17 इति क्वाप्रत्ययभूषणं समाप्तम् J_p, J_p. क्त्वातुल्यनार्थनिरूपण-
 समाप्तम् । B.
 P. 236 L. 1 J. has सरस्वतीगणेशाभ्यां नमः before प्रागुक्त° &c.; B. has
 श्रीसरस्वतीगणेशाभ्यां नमः before प्रागुक्तस्य &c.
 „ „ प्रागुक्तविचारस्थ J.
 „ L. 19 पचतीत्यादि° for भवतीत्यादि° B.
 „ Ll. 19-20 समभिव्याहारस्य कारणत्वात् J_p.
 P. 237 Ll. 9-10 अप्रयोजकत्वादिति J_p.
 „ L. 27 तद्वेतोरिति न्यायेन J., J_p, B.

- P. 239 L. 3 °प्रातिपदिकान्तस्येत्यस्य दत्तपदत्वात् J., J.
 „ L. 9 मानाभावाद्गौरवाच्च J., J.
 „ L. 17 चावश्यिकैव J., J., B.
 „ L. 19 विनिगमकाभाव इति for नियामकाभाव इति J.,
 P. 240 L. 18-19 °भावादायो न युक्तः J.,
 P. 241 L. 2 लक्ष्यते अनेनेति J.,
 „ L. 4 सत्यामनन्तरा तदुपस्थिति° J.
 „ L. 6 वस्तुतस्तु तात्पर्य° J.,
 P. 242 L. 7 शाब्दबोधे for शब्दे J.,
 „ Ll. 17-18 °विशिष्टपदधातुपदयोर्विशिष्ट° J., J., B.
 „ L. 21 तत्कार्यकारणभावग्रहस्यैव J.,
 „ L. 23 घटप्रकारकशाब्दबोधे कर्मत्वार्थकमात्रे घटाथक् B.
 „ L. 24 कर्मतार्थक° J.
 „ L. 26 °मतिरिच्यते इति चेत् B.
 „ Ll. 26-27 घटमानय पटमानयेत्यादि वाक्ये J., J.
 P. 243 L. 12 बोधावच्छिन्ने J.,
 „ L. 15 तद्वोधकपदज्ञानत्वेन J.,
 P. 244 L. 3 विषयत्वादिव्रितय J.,
 „ L. 19 तृतीयद्वितीयचरणसमाप्ता° J.; तृतीयाध्यायद्वितीयचरण° J.
 „ L. 20 पूर्तौ J., J., B.
 P. 245 L. 1 °स्फोटस्यान्वयवाचकत्वस्य B.
 „ L. 4 drops च.
 P. 246 L. 7 °प्यन्वयविशेषनियमेन B.
 „ L. 10 व्याप्तिसंधानदशायामेव J.,
 „ L. 20 तथा सति for तथापि J.
 „ L. 23 इष्ट for इष्ट B.
 P. 247 L. 8 तत्सिद्धत्वज्ञानादिना J.,
 „ Ll. 7-8 °मजाते च तज्ज्ञाने तस्य ज्ञानं J., °मजाते च तज्ज्ञानं तस्य जात° J.
 J., has a marginal addition यत्तु पदानां पदार्थेष्विव वाक्यस्य वाक्यार्थे शक्तिपक्षे पदार्थानामिव वाक्यार्थस्य स्मरणमेव स्यान्नादुभवः । संबन्धिज्ञानतयैव पदज्ञानवत्तदुपयोगात्. J. inserts the above addition between इण्डु L. 10 and संयोगसाधारण्येका L. 10. B. has the portion given in J., (यत्तु &c. वाक्यार्थस्मरणमेव &c.—तदुपयोगात्) before माध्वास्तु L. 17.
 „ L. 9 प्रतिबन्धकत्वासंभवाच्च J.,
 „ L. 11 शब्ददिवावगत° J., J.

- P. 247 L. 21 भवेदेवस् for न भवेदेव J_p.
 " L. 24 छुद्रुशक्तिसंस्कारो B.
 " L. 27 लिङ्गस्येवानुमितौ B.
 P. 248 L. 8 °वशाब्दत्वानुभवा° J_p, J., B.
 " L. 12 शब्दत्वादिकं J_p.
 " L. 18 एवं तर्हि for एवं हि B.
 " L. 23 पूर्वैशुरनुभूतस्य स्मृतम् J_p.
 P. 249 L. 4 वर्णा न विद्यन्ते J_p.
 " L. 6 वर्णाः for न वर्णाः J_p.
 " L. 8 वाखण्डमेव B.
 " L. 15 सत्कार्यवादिनां° J.
 P. 250 L. 14 प्रतीतबाध एवेति B.
 " L. 15 मानत्वेनोपपत्तेरिति J_p.
 " L. 20 स्फोटाभावेऽप्येकार्थाभिव्यञ्जकत्वं° J., B.
 " L. 22 यस्त्वेकः प्रत्ययः B.
 " L. 24 चाखण्डवाचकमेकं स्फोट° J.
 P. 251 L. 3 प्राग्गृहीतशक्तिस्यैव J_p.
 " L. 6 एवोदितत्वात् B.
 " L. 16 करणत्वासंभवात् B.
 " L. 24 अस्मन्मते चाखण्डं वाचक° B.
 " L. 26 उक्तं च for तदुक्तं J_p.
 P. 252 Ll. 7-8 अथ त्वन्मतेऽप्यदोषः J_p.
 " Ll. 12-13 °कारणताया अविवादात् J_p, B.
 " L. 18 निश्चितौ for निश्चिन्वतो J_p.
 " L. 21 J. drops च.
 P. 253 L. 1 °जातिमानमुक्° B.
 " L. 2 Do. B.
 " L. 5 वाचकेन स्मर्यते B.
 " L. 6 पुनर्न जायत इत्युपपत्तेः J_p.
 " L. 9 J. and J_p drop च.
 " L. 13 कपालमालातिरिक्तवदा° J_p.
 " L. 24 इति for इति तु J_p.
 " L. 25 अकोषत्वाच्च J_p.
 P. 254 L. 5 अखण्डबोधनोपाय इति भावः J_p.
 " L. 22 चिकित्सकम् B.
 P. 255 L. 12 एवं दीर्घत्वमपि B.
 " Ll. 13-14 प्रहरात् पूर्वमनुभूयमानादधुनानुभूयमानस्य J_p, J.
 " L. 26 ग्रहणमातुषङ्गिकम् J_p.

- P. 255 L. 26 and P. 256 L. 1 वर्णं समुच्चारयतीति B.
P. 256 L. 9 विद्यमानवैजात्यं J.
" L. 13 अस्तु for अस्तु वा J.
" L. 26 गत्वादिरूपेणोत्पन्नेति J.
P. 257 L. 4 न चोक्तीति B.
" L. 6 °वर्णरूपकत्वाद् J.
" L. 7 किं च स्फोटो गत्वायतिरिक्त° J., J.
" " इत्यनापत्तेः J.
P. 259 L. 11 °मिति तु ध्येयम् J., B.
" L. 15 °संज्ञिकयति J.
" L. 16 लब्धवान् for प्राप्तवान् J.
" L. 23 B. drops भगवता.
" " °धूरीण° J.
" " कौण्डभट्टकृते J.
" L. 24 स्फोटवादः J., J., B.
" L. 25 इति वचनात् for इति श्रुतिवचनात् B.
" " °वडैरु° B.
" " °यतिश्रीमाध्व° B.
The Ms. B. has संवत् १८३२ after स्फोटवादः समाप्तः ॥

ERRATA.

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|--------|---------------------------------|-----------------------|
| 1 | 11 | वचोदूषये | वचो दूषये |
| 7 | 4 | भावनान्वयिन्येव | भावनानन्वयिन्येव |
| 9 | 24 | कृत | कृतः |
| 11 | 9 | मनुपपत्तेः । | मनुपपत्तेः |
| " | 23 | बोधाभ्युपगमात् | बोधाभ्युपगमात् |
| " | " | द्विशेष्यत्वा— | द्विशेष्यत्वा— |
| 15 | last | संबन्धवच्चेति यत्तु । | संबन्धवच्चेति । यत्तु |
| 22 | 2 | व्यापारो | व्यापारे |
| 28 | 3 | विभागभागे | विभागभागे |
| " | " | नियामकत्वाच्च । | नियामकत्वाच्च |
| 29 | 14-15 | Read—सकर्मकतानापत्तेरित्यर्थः । | |
| 30 | 6 | विष्णुयोगविषय | विष्णुर्योगविषय |
| " | 16 | धातोरकर्मत्वा° | धातोरकर्मकत्वा° |
| 31 | 15 | वागौरवाच्च | वागौरवाच्च |
| " | 21 | भ्यात् | भ्यात् |
| 41 | 13 | कुर्मोः | कुर्मो |
| 42 | 3 | तस्मादा | तस्मात् । |
| 43 | 15 | जातिव्यक्तयो° | जातिव्यक्तयो° |
| 46 | 8 | कत्वथा° | कत्वथा° |
| 48 | 18 | Read—केचित्त्रिष्टाथ° | |
| 49 | 10 | धातुत्वग्रहे | धातुत्वग्रहे |
| " | 13 | लडाद्युपपत्तौ | लडाद्युपपत्तौ |
| " | 20 | भावेनानुगमात् | भावेनाननुगमात् |
| " | 24 | मूत्रं धातोः | न मूत्रं धातोः |
| 50 | 6 | गणपठित्वा° | गणपठित्वा° |
| 55 | 1 | विवरणे | विवरणे |
| " | 4 | खण्डनकारो | खण्डनकारो |
| " | 7 | प्रतिपदिक° | प्रतिपदिक° |
| 56 | 6 | रोषस्ती | रोषसि |
| 59 | 25 | इत्यादिषष्ठी° | इत्यादिषष्ठी° |
| 62 | 14 | व्याहारभाव° | व्याहाराभाव° |
| 63 | 8 | कारकाङ्क्ष° | कारकाकाङ्क्ष° |
| 66 | 10, 16 | Read—येयजामहं and येयजामह° | |
| 67 | 13 | प्रावाजीदिति | प्रावाजीदिति |
| " | 19 | साधुत्वाख्यान | साधुत्वाख्यानं |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|------------|---|-------------------|
| 67 | 21 | स्वावामन्य | स्वा वाँ अन्य |
| 69 | 7 | मित्यादीनां | मिन्यादीनां |
| " | 22, 25, 27 | Read—कृत्वोऽर्थाः | |
| 71 | 17 | सूत्रप्रामाण्यम् | सूत्राप्रामाण्यम् |
| " | 24 | प्रकरणाभ्यां | प्रकरणाभ्यां |
| 72 | 5-6 | Read—ह्युपायमांसभक्षादिपुरुषार्थमपि श्रितः । प्रतिषेधः कर्तोरङ्गमिष्टः प्रकरणाभयात् ॥ इत्यत्रोक्तनियमे | |
| " | 22 | Read—कल्पितं सर्वत्र कल्पितं | |
| 74 | 15 | Read—भेदिका | |
| 76 | 19 | Read—लक्षणत्वाद्विधेः । | |
| 77 | 8-9 | Strike off—न भविष्यत्त्वं वा तदित्येतन्निराचष्टे । | |
| 79 | 15-16 | Read—मानाभावाच्चेति | |
| 80 | 3 | बोधः | बोधः |
| 81 | 13 | Read—तांशज्ञानं तथा । | |
| 85 | 19 | Read—साध्येष्टत्वमेव | |
| 90 | 15 | धैर्यम् | ध्यैयम् |
| 91 | 17 | ह्यालम्बनं | ह्यालम्भनं |
| " | 20 | Read—अस्तु वालम्भनं | |
| 92 | 16 | Read—विधिविधेयत्वस्या- | |
| 93 | last | Read—यत्तु | |
| 94 | 23 | Read—प्रयोजकत्वादि | |
| 95 | 2 | सप्रत्ययमर्षः | सप्रत्ययमर्षः |
| 98 | 7 | Read—लङ्कार्थनिर्णयः | |
| 102 | 5 | After—तस्मात् परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वमपि add क्रियाभेदेन भिन्नं वाच्यम् । एवं च परसमवेतयत्क्रि- याजन्यफलशालित्वं | |
| 108 | 8 | Read—माधवाचार्याः | |
| 109 | 2 | कारणं | करणं |
| 111 | 24 | विद्योतेन | विद्योतने |
| 113 | 1 | स्वरभङ्गा | स्वरसभङ्गा |
| 121 | 1 | Read—तत्तुच्छम् | |
| " | 17 | नेयीयः | नेयियः |
| 123 | 2 | शब्दे | शब्द |
| " | " | धर्मवत्त्वा | धर्मवत्त्वा |
| 126 | 21 | ग्राहकभावात् | ग्राहकाभावात् |
| 128 | 5 | वर्णानां | वर्णानां |
| 142 | 6 | बन्धविना | बन्धाविना |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|-------|-------------------------------------|------------------|
| 142 | 16 | Read—एवं वावचना° | |
| 146 | 8 | वृषणश्च | वृषणश्चः |
| 147 | 3 | °स्वदिता° | °स्वदिता° |
| 150 | 6 | प्रश्नोपनिषद्° | प्रश्नोपनिषद्° |
| 152 | 5 | सूत्रादेव | सूत्रादेव |
| 155 | | Foot-note Read—राजसंवन्यी पुरुष इति | |
| 159 | 24 | विशेषणाद्यान्वयो | विशेषणाद्यान्वयो |
| 168 | 23 | Read—तद्वाचित्वमवश्यं | |
| 169 | 19 | Read—°शक्तेर्लकारादाविव | |
| 170 | 24 | Read—छिन्दि | |
| 171 | 23 | सर्वक | सर्वक |
| 173 | 2 | चक्रिण | चक्रिणं |
| 174 | 1 | Read—तन्न | |
| 175 | 13 | अन्यथा समा— | अन्यथासमा— |
| ” | 22 | भीष्मत्वादि— | भीष्मत्वादी— |
| 176 | 7 | °कर्मजाया° | °कर्म जाया° |
| ” | 12 | पशुर्यत् | पशुर्यत्— |
| 181 | 6 | Read—°स्वरेणैव | |
| 188 | 1 | Read—यस्येति न | |
| ” | 26 | Read—स्वीकार्यमतो | |
| 186 | 12 | °निर्णायकत्वं च | °निर्णायकत्वं च |
| 188 | 1 | समर्थयतो | समर्थयते । |
| 193 | last | Read—तीरोपस्थितौ | |
| 211 | 3 | राम इत्यतोऽपि | रा इत्यतोऽपि |
| 212 | 13 | Read—निपातस्येत्यनेनै° | |
| 213 | 13 | Correct—गङ्गापदस्यातथात्वेऽपि | |
| 216 | 11 | वाचकपद° | वाचकपदा° |
| 217 | 19 | भेदः । | भेदः |
| 218 | 3 | Read—°कृण्डलत्व° | |
| ” | 6 | तच्छृणु | तच्छृणु |
| 220 | 7 | वटमित्यादौ | वटत्वमित्यादौ |
| 238 | 20 | Correct—तिङो वाचक° | |
| 239 | 9 | नाना° | माना° |
| 244 | 15 | °स्यार्थेन | °स्यार्थे न |
| ” | 19 | Correct—तृतीयाध्यायद्वितीयचरण° | |
| 245 | 24 | Correct—दापत्तिरस्माकं स शक्यो | |
| 249 | 22 | वर्णा— | वर्णा |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|-------|---|-----------------|
| 255 | 17 | भानाविशेष° | भानाद्विशेष° |
| 257 | last | एवास्याः | एवास्या |
| 262 | 27 | Correct—शेषपञ्चान्तस्य समासः | |
| ” | 28 | दृषणं | दृषणं |
| 264 | 17 | सञ्चितत्व | सञ्चितत्वं |
| 265 | 14 | Correct—पुरुषाकृतिकेत्यर्थः | |
| 266 | 15 | °भाजश्चै° | °भाजश्चे° |
| ” | 16 | अनेनेति | अनेन |
| ” | 17 | Correct—आधुनिकोत्प्रेक्षितत्व° | |
| 267 | 18 | °मुपयम् | °मुपेयम् |
| 273 | 22 | भावज्ञानो° | भावनाज्ञानो° |
| 275 | 18 | Correct—कर्त्रादिवाचित्वसिद्धिः । | |
| 277 | 21 | °शब्दार्थविवरणमशब्दार्थस्यापि | |
| 278 | 14 | करणभावनां | करणभावनां |
| 281 | 12 | Correct—सन्त्येवानेनैक° | |
| ” | 13 | ” —विधानात्तस्य वाच्यत्वं | |
| ” | 28 | Correct—तत्र...कर्तृकर्मणी.....विशेषणे | इत्यनुष- |
| | | ज्यते | |
| 285 | 4-5 | Correct—इत्यादिभिरेकवाक्यत्वे | |
| 285 | 4 | तदुपस्थितिपरं | तदुपस्थितिपदं |
| ” | 27-8 | Correct—इतराविशेषणता | |
| 285 | 27 | यत्र | अत्र |
| 286 | 11 | नेतरविशेषणत्वं | नेतराविशेषणत्वं |
| 287 | 18 | Correct—निरुक्तादिविरोध | |
| ” | 22 | वाचयती° | पाचयती° |
| 290 | 5 | Correct—तादृशोपस्थितिहेतुता° | |
| 291 | 6 | ” —निवेद्यम् | |
| 293 | 18 | ” —जम्बोपस्थितिः | |
| 297 | 22 | ” —अवाच्यत्वमेवेत्यर्थ | |
| 299 | 17 | पाठाङ्कुरयोः | पटाङ्कुरयोः |
| ” | 19 | Correct—तादृशप्रयोगादुपपत्तिरिति रथ इति | |
| ” | 24 | ” —अङ्कुरोऽकृत | |
| 301 | 7 | ” —संबन्धनिवेशाद् | |
| 308 | 19 | स्यन्द | स्पन्द |
| 313 | 22 | Correct—भूषणकारा° | |
| 314 | last | ” —परस्परमनन्वयात् | |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|-------|--|----------------|
| 315 | 14 | तथा समर्थ° | तथासमर्थ° |
| 318 | 22 | शिष्ये | शिष्ये |
| 320 | 21-22 | Correct—नन्वेवं 'कथं पुनर्ज्ञायते.....पचादय इति यदेषां.....नाधिकरण्यम्' इति क्रियावाचको धातुरिति | |
| 321 | 21 | वादिगण° | भ्वादिगण° |
| 324 | 17 | °करणटत्तित्व° | °करणाटत्तित्व° |
| 325 | 26 | Correct—प्रतीयमानार्थे एव कारकान्वयात् | |
| 326 | 6 | ” —कृदन्तेनास्यतो | |
| ” | 10 | तलपाक | नलपाक |
| ” | ” | तलकर्तृ° | नलकर्तृ° |
| ” | 23 | Read—°रपेक्षितेति | |
| 328 | 9 | सत्याम् | सत्याम् |
| ” | 19-20 | Read—सविशेषणमित्यनेन | |
| 333 | 13 | Read—पठितयोरेवेति | |
| 344 | 17-18 | Correct—'न्याय्या.....निमिषति च' इत्युक्तम् | |
| 345 | 4 | Read—कालत्वेन | |
| ” | 5 | ” —लङ्वाच्यता | |
| ” | ” | ” —नयतनत्वादे— | |
| 346 | 19 | °स्तद्वारात्मक | °स्तद्वारात्मक |
| 348 | 26 | Correct—व्यापारानाविष्ट° | |
| 351 | 22 | सत्त्व | सत्त्वं |
| ” | 23 | उत्पत्तो | उत्पत्तौ |
| 352 | 4 | द्योभूते | द्यो भूते |
| ” | 19 | दिवादि° | दिनादि° |
| ” | 21 | Correct—भृत्यादिप्रेरणायाः | |
| 354 | 5 | Correct—यागो तत्कृतिसाध्यो मत्कृति— | |
| 355 | 15 | यतन्ते | यतन्ते |
| 365 | 14-15 | Correct—पल्लवितेन | |
| 366 | 18 | ” —कर्तुरीप्सिततमम् | |
| 368 | 4 | गामस्यैव | ग्रामस्यैव |
| ” | 9 | Correct—फलारम्भकत्वासंभवाच्च | |
| 374 | 25 | Read—°श्वैत्रस्तण्डुलं | |
| 376 | 2 | Read—तथा चैतमिति | |
| ” | 3 | Read—कर्मकर्तृतायां | |
| 379 | 12 | फलाजनको | फलजनको |
| ” | 13 | °स्तद्वृत्ते° | °स्तद्वृत्ते° |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|-------|---|--------------------------|
| 380 | 14 | भाष्या | भाष्य— |
| 389 | 9 | दानस्यतु | दानस्य तु |
| 395 | 12 | षष्ठ्या | षष्ठ्या |
| 397 | 5 | श्वासो | श्वासौ |
| " | 6 | Read—बहुवचननिर्देशा— | |
| " | 16 | " —तद्घटकाहोरात्रश्च.....पर्यन्त— | |
| 400 | 9 | Read—धर्मिणि वा । | |
| 409 | 24 | Correct—तादृश— | |
| 410 | 16 | Correct— ^० द्वेतुस्वस्वेऽपि | |
| 411 | 17 | " —व्यापारोऽपि | |
| 412 | 19 | Correct—निर्देशस्तु तनादिक ^० | |
| 415 | 15 | प्रतिषिध्यते | प्रतिषिध्यते |
| 417 | 8 | प्रभावो | प्रभवो |
| 425 | 12 | अनया ^० | अनयो ^० |
| 436 | 13 | लुक्विशिष | लुक्विशेष |
| 440 | 24 | Read—व्यतिरेकाद् | |
| 441 | 3-4 | Read— ^० नोद्योदयेन | |
| " | 22 | केवलव्यक्तेः । | केवलव्यक्तेः |
| 442 | 3 | Read—काशात् । तस्यापि । | केवलव्यक्तिशक्तिपक्ष- |
| | | स्यापि । शास्त्रं | |
| " | 8 | Read—निश्चयोऽग्रे ^० | |
| 444 | 1 | Correct—भाष्याद्विशिष्टं | |
| 446 | 5-6 | Correct— ^० रभेदोपचारादर्शआयजन्तत्वाद्वा | |
| " | 15 | Correct—आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यप्यपायिनः । | |
| " | 18 | प्रत्यपीपदत् | प्रत्यपीपदन् |
| " | Last | प्रयोजयति | न प्रयोजयति |
| 447 | 22 | Read—मीमांसायामिति । | |
| 448 | 26 | पुंस्त्वादि ^० | पुंस्त्वादे ^० |
| 450 | 26 | Read—शक्यार्थत्वेऽपि | |
| " | " | —लक्षणारूपोऽस्तु | |
| 453 | 18 | — ^० शब्दानामर्थवत्त्वाभावोऽस्तु | |
| " | 23 | —निर्देशात् | |
| 456 | 17 | इतिः | इति |
| 467 | 17 | Read—तद्घटितं गृह्येत | |
| 468 | 7 | ब्राह्मणादि ^० | ब्राह्मणादि ^० |
| " | " | Correct— ^० भावात् शिष्टपदेन | |

| Page. | Line. | Incorrect. | Correct. |
|-------|------------|-------------|--------------------------|
| 469 | 7 | — बोध्यम् | |
| 471 | 6 | 3 | 32 |
| 473 | 12-13 | Correct— | बोधापत्तेरित्यर्थः |
| 474 | last | Correct— | पदार्थः पदार्थेनेति |
| 475 | 10 | सर्व° | स्वत्व° |
| 477 | 15 | Correct— | समुदायशक्त्यभ्युपगम° |
| 481 | 28 | — | सार्वत्रिकत्वेन |
| 483 | 24 | Strike off— | समासरूपसमुदायोत्तरमेवेति |
| " | 27 | Read— | समासरूप° |
| 484 | 26 | श्लिखौ | श्लौ |
| " | Foot-note— | Correct— | P., Com. २ अघट° |
| 487 | 21 | तयोरव | तयोरेव |
| 501 | 12 | Correct— | गौरवमिति |
| 502 | 7 | — | दुर्ग्रहत्वेन |
| 503 | 1 | — | शब्दबोधं |
| " | 16 | — | दुर्वारत्वात् |
| 504 | 12 | — | — |
| 621 | 24 | ओदनेन | काष्ठेन |
| 623 | 28 | — | द्वयर्थश्चैव |
| 670 | 35 | decayss | decays |
| 687 | 16 | fails | fail |
| 704 | paging | 404 | 704 |

BOMBAY SANSKRIT & PRAKRIT SERIES.

*Edited under the Superintendence of Prof. V. S. Ghate, M.A.,
and Dr. S. K. Belvalkar, M. A., Ph. D.*

| | Rs. a. |
|--|--------|
| Āpastambīya Dharmasūtra Part I., with Critical Notes and Index and various Readings of the Hiraṇyakes'ī-Dharma- sūtra, by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 44) | 1 6 |
| " " Part II., containing extracts from Haradatta's Commentary called Ujjava, by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 50) | 1 2 |
| Ātharvaṇa Upanishads and Commentaries, by Col. G. A. Jacob. (B. S. S. No. 40)— <i>Under revision</i> | 1 4 |
| Bhāṭṭī-kāvya with Mallinātha's Commentary, Vol. I., by R. B. K. P. Trivedi, B. A. (B. S. S. No. 56) | 9 0 |
| " " Vol. II., by R. B. K. P. Trivedi, B. A. (B. S. S. No. 57) | 6 0 |
| Concordance to the Principal Upanishads and Bhāgavadgītā, by Col. G. A. Jacob (B. S. S. No. 39) | 4 0 |
| Daśakumāracharita of Daṇḍin, Part I., with Critical Notes, etc., by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 10)— <i>Under revision</i> | ... |
| " " Part II., by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 42)— <i>Under revision</i> | 0 8 |
| Deśināmamālā, Part I., Text and Critical Notes, by Prof. Pischel and Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 17) | ... |
| Dvyāśraya-kāvya, Vol. I., by A. V. Kathavate, B. A. (B. S. S. No. 69) | 9 0 |
| Ekāvali of Vidyādhara, with the Commentary, Tarala, of Mallinātha, and Critical Notes, etc., by R. B. K. P. Trivedi, B. A. (B. S. S. No. 63) | 14 0 |
| Gāṇḍavaho, by Vākpati, by S. P. Pandit, M. A. (B. S. S. No. 34) | 3 0 |

| | Rs. | as. |
|---|-----|-----|
| Hand-book to Rigveda, Part I., by Dr. P. Peterson, (B. S. S. No. 41) | 1 | 8 |
| „ „ Part II., by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 43) | 2 | 8 |
| Harsha-charita, by Dr. A. A. Führer (B. S. S. No. 66) ... | 2 | 0 |
| Hitopadeśa of Nārāyaṇa, by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 33) | 0 | 14 |
| Hymns from the Rigveda, 3rd edn., by Dr. P. Peterson and S. R. Bhandarkar, M. A. (B. S. S. No. 36) | 2 | 4 |
| Hymns from the Rigveda (Second Selection), by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 58) | 4 | 0 |
| Kādambarī, Vol. I. (Text), by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 24) | 2 | 0 |
| „ Vol. II. (Introduction and Notes), by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 24) | 4 | 8 |
| Kīrti-kaumudī, by A. V. Kāthavate, B. A. (B. S. S. No. 25) — <i>Copy-right restored to the editor</i> | ... | ... |
| Kumārāpāla-charita, by S. P. Pandit, M. A. (B. S. S. No. 60) | 8 | 8 |
| Mr̥icchehhaṣṭika with two Commentaries and various Readings, by N. B. Godbole, B. A. (B. S. S. No. 52) | 3 | 8 |
| Mālavikāgnimitra, by S. P. Pandit, M. A. (B. S. S. No. 6), 2nd edition.— <i>Under revision</i> | 2 | 2 |
| Mālatī-Mādhava, with Critical Notes, etc., by Sir Dr. R. G. Bhandarkar (B. S. S. No. 15), 2nd edition | 4 | 4 |
| Mahābhāṣya of Patañjali, Vol. I., Parts I., II. and III. (together) 2nd edition, by Dr. F. Kielhorn (B. S. S. Nos. 18-20) | 4 | 8 |
| „ „ Vol. II., Parts I., II. and III. (together), 2nd edition, by Dr. F. Kielhorn (B. S. S. Nos. 21, 22 and 26) | 9 | 0 |
| „ „ Vol. III., Parts I., II. and III. (together), 2nd edn., by Do. (B. S. S. Nos. 28-30) | 9 | 0 |
| Mudrārākṣhaśa, with the Commentary of Dhundirāja, by K. T. Telang, M. A. (B. S. S. No. 27)— <i>Copy-right restored to the Editor</i> | ... | ... |

| | Rs. a. |
|---|--------|
| Mahānārāyaṇa Upanishad, by Col. G. A. Jacob (B. S. S. No. 35) | 0 7 |
| Naishkarmyasiddhā, with the Chandrikā of Jñānottama, by Col. G. A. Jacob (B. S. S. No. 38,) 2nd Edn. | 2 8 |
| Navasāhasāṅkacharita, Part I., by Vāmanashāstri Islāmpurkar (B. S. S. No. 53) | 1 10 |
| Nīti and Vairūgya Satakas, with Notes and extracts from two Commentaries, by K. T. Telang, M. A. (B. S. S. No. 11)— <i>Copy-right restored to the Editor</i> | ... |
| Nyāyakosha, by Mahāmahopādhyāya Bhīmāchārya Zaikiker (B. S. S. No. 49) | 6 0 |
| Pañchatantra, Book I., with Notes, by Dr. F. Kielhorn (B. S. S. No. 4) | 0 6 |
| „ Books II. and III., with Notes, by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 3) | 0 4 |
| „ Books IV. & V., with Notes by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 1) | 0 4 |
| Parāśara Smṛiti, Vol. I., Part I., by Vāmanashāstri Islāmpurkar (B. S. S. No. 47)... .. | 2 2 |
| „ „ Vol. I., Part II., by Do. (B. S. S. No. 48)... .. | 2 0 |
| „ „ Vol. II., Part I., by Do. (B. S. S. No. 59) | 4 0 |
| „ „ Vol. II., Part II., by Do. (B. S. S. No. 64) | 5 0 |
| „ „ Vol. III., Part I., by Do. (B. S. S. No. 67) | 4 0 |
| Paribhāshendus'ekhara, Part I., Text and various Readings, by Dr. F. Kielhorn (B. S. S. No. 2) | 0 8 |
| „ Part II., Translation and Notes, by Do. (Paribhāshās 1-37), (B. S. S. No. 7) | 0 8 |
| „ Part II., Translation and Notes, by Do. (Paribhāshās 38 to 69), (B. S. S. No. 9) | 0 8 |
| „ Part II., Translation and Notes, by Do. (Paribhāshās 70 to 122) (B. S. S. No. 12) | 0 8 |
| Pātāñjala Sūtrāṇi, with the Scholium of Vyāsa and Vāchaspati's Commentary, by Mahāmahopādhyāya Rājārām Shāstri Bodas (B. S. S. No. 46)... .. | 1 10 |
| Pratāparudrayasobhāshana of Vidyānātha, by R. B. K. P. Trivedi, B. A. (B. S. S. No. 65) | 11 0 |
| Raghuvamsa, Part I. (Cantos i-vi), with Mallinātha's Commentary and Notes, by S. P. Pandit, M. A. (B. S. S. No. 5) | 1 8 |

| | | | | | |
|--|-----|-----|-----|-----|-----|
| Raghuvams'a, Part II. (Cantos vii-xiii), with Mallinâtha's Commentary and Notes, by S. P. Pandit, M. A. (B. S. S. No. 8) | ... | ... | ... | 0 | 12 |
| " Part III. (Cantos xiv-xix), with Mallinâtha's Commentary and Notes, by Do. (B. S. S. No. 13) | ... | ... | ... | 0 | 8 |
| Râjataranginî, Vol. I., by Pandit Durgâprasâd (B. S. S. No. 45) | ... | ... | ... | 1 | 8 |
| " Vol. II., by Do. (B. S. S. No. 51) | ... | ... | ... | 1 | 4 |
| " Vol. III., by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 54) | ... | ... | ... | 1 | 2 |
| Rekhâganîta, Vol. I., by H. H. Dhruva, B.A. and R.B.K.P. Trivedi, B.A. (B. S. S. No. 61) | ... | ... | ... | 12 | 0 |
| Do. Vol. II., by the same (B. S. S. No. 62) | ... | ... | ... | 9 | 0 |
| S'ârîngadharapaddhati, Vol. I., by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 37) | ... | ... | ... | 3 | 0 |
| S'rîbhâshya, Vol. I., by Vâsudeva Shâstri Abhyankar (B. S. S. No. 68) | ... | ... | ... | 11 | 0 |
| Snhbâshitâvali of Vallabhadeva, by Dr. P. Peterson (B. S. S. No. 31) | ... | ... | ... | 2 | 8 |
| Tarka-kaumudî of Laugâkshi Bhâskara, by M. N. Dvivedi, B.A. (B. S. S. No. 32)— <i>Copy-right restored to the Editor</i> | ... | ... | ... | ... | ... |
| Tarka-samgraha, with two Commentaries and Notes, by Y. V. Athalye, M. A. (B. S. S. No. 55)... | ... | ... | ... | 0 | 8 |
| Vâsishtha-Dharmasâstra by Dr. A. A. Führer (B.S.S. No. 23) | ... | ... | ... | 10 | 0 |
| Vaiyâkaranabhûsha of Kônâbhata, by K. P. Trivedi, B.A. (B. S. S. No. 70)... | ... | ... | ... | ... | ... |
| Vikramânâkadevacharita, by Dr. G. Bühler (B. S. S. No. 14) | ... | ... | ... | ... | ... |
| — <i>Copy-right restored to the Editor</i> | ... | ... | ... | ... | ... |
| Vikramorvas'îya, with Notes, 3rd edn., by S. P. Pandit, M. A. and B. R. Arte, M. A. (B. S. S. No. 16) | ... | ... | ... | 2 | 0 |
| SANSKRIT PUBLICATIONS NOT INCLUDED | | | | | |
| IN THE BOMBAY SANSKRIT AND PRAKRIT SERIES. | | | | | |
| Amarakos'a, the Thesaurus of Sanskrit Words of Amara- Simha with the Commentary of Mahes'vara. Edited by Raghunath Shastri Talekar with Index... | ... | ... | ... | 0 | 13 |
| Atharvaveda-Samhitâ with the Commentary of Sâyanâchârya. Edited by S. P. Pandit, M. A., Vols. I., II., III., and IV., each at | ... | ... | ... | 10 | 0 |
| Kâvyaprakâs'a (2nd edition), edited by Vâmanâchârya Zalkikar— <i>Under revision</i> | ... | ... | ... | 5 | 4 |
| Pahlavi. | ... | ... | ... | ... | ... |
| Vendidad, complete in 2 Volumes | ... | ... | ... | 5 | 0 |